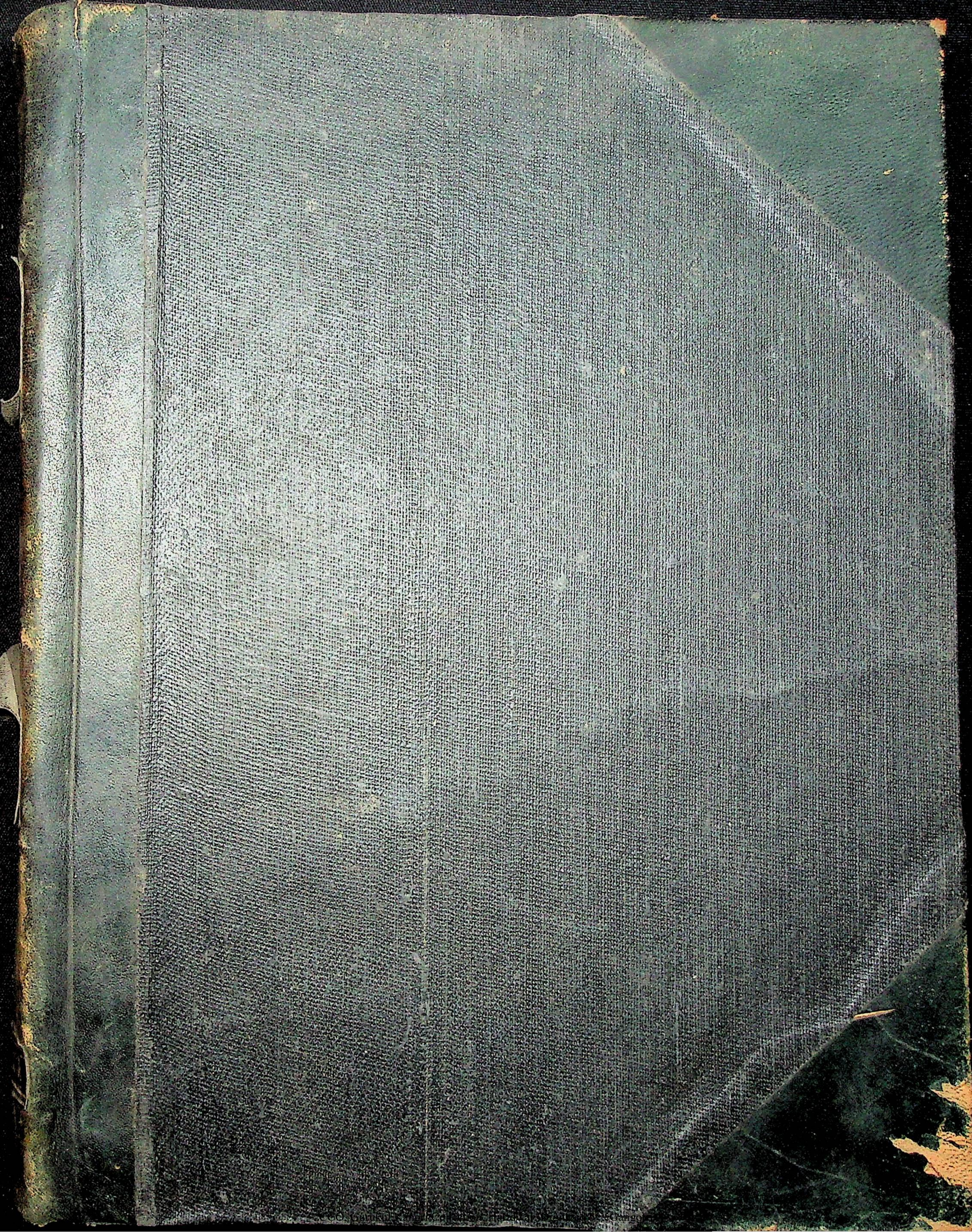
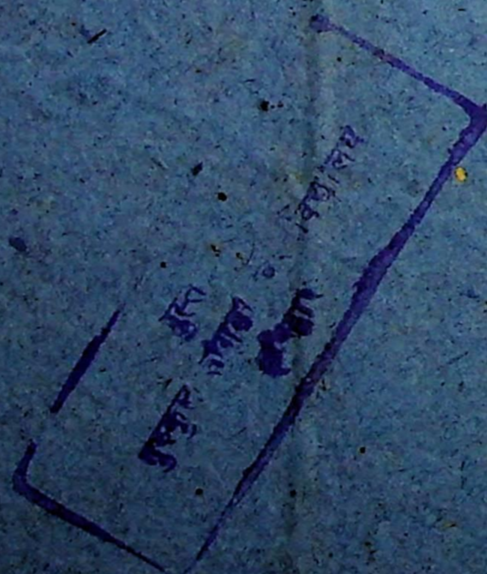
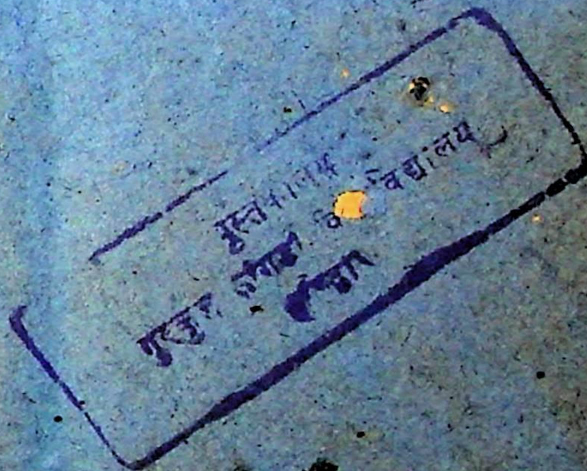




151395





REGISTERED. No. 1463

ॐ

वैदिक धर्म।

वैदिक तत्त्व ज्ञान प्रचारक मासिक पत्र।

संपादक— श्रीपाद दामोदर सातवळेकर

वर्ष ९

अंक १

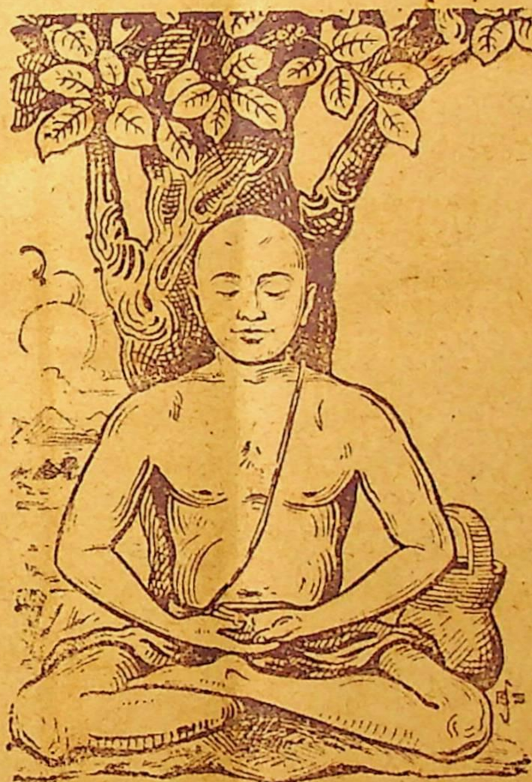
क्रमांक ९७

पौष

संवत् १९८४

जनवरी

सन १९२८



वार्षिक मूल्य— म० आ० से ४) वी. पी. से ४॥) विदेशके लिये ५)

विषयसूची ।

संस्कृत पाठ माला।

[चोवीस भागोंमें सब संस्कृत पढाई हो गई है।]

बारह पुस्तकोंका मूल्य म. आ. से ३) और वी. पी. से ४)

चोवीस पुस्तकोंका मूल्य म. आ. से ६) रु. और वी. पी. से ७)

प्रतिभाग का मूल्य ।-) पांच आने और डा. व्य. -) एक आना।

अत्यंत सुगम रीतिसे संस्कृत भाषाका अध्ययन करनेकी अपूर्व पद्धति।

इस पद्धतिकी विशेषता यह है—

१ प्रथम द्वितीय और तृतीय भाग।

इन तीन भागोंमें संस्कृत भाषाके साथ साधारण परिचय कर दिया गया है।

२ चतुर्थ भाग।

इस चतुर्थ भागमें संधि विचार बताया है।

३ पंचम और षष्ठ भाग

इन दो भागोंमें संस्कृतके साथ विशेष परिचय कराया गया है।

४ सप्तम से दशम भाग।

इन चार भागोंमें पुलिंग, स्त्रीलिंग और नपुंसक. लिंगी नामोंके रूप बनानेकी विधि बताई है।

५ एकादश भाग।

इस भागमें " सर्वनाम " के रूप बताये हैं।

६ द्वादश भाग।

इस भागमें समासों का विचार किया है॥

७ तेरहसे अठारहवें भाग तकके६ भाग।

इन छः भागों में क्रियापद विचार की पाठविधि बताई है।

८ उन्नीससे चौवीसवे [illegible] भाग।

इन छः भागोंमें वेदके स[illegible] कराया है।

अर्थात् जो लोग इस पद्धतिसे अध्ययन करेंगे उन को अल्प परिश्रमसे बडा लाभ हो सकता है।

स्वाध्याय मंडल, औंध (जि. सातारा)



वर्ष ९
अंक १
क्रमांक ९७

पौष
संवत् १९८४
जनवरी
सन १९२८

वैदिक धर्म।

वैदिक तत्त्वज्ञान प्रचारक मासिक पत्र।
संपादक— श्रीपाद दामोदर सातवळेकर।
स्वाध्याय मंडल, औंध (जि. सातारा)

एक और अनेक।

एक एवाऽग्निर्बहुधा समिद्ध एकः सूर्यो विश्वमनु प्रभूतः।
एकैवोषाः सर्वमिदं वि भात्येकं वा इदं वि बभूव सर्वम् ॥

ऋग्वेद. ८।५८।२

"एक ही अग्नि अनेक प्रकारसे प्रदीप्त होता है, एक ही सूर्य सब विश्वको (प्र भूतः) प्रभावित करता है। एक ही उषा इस सब संसार को (वि भाति) प्रकाशित करती है और (इदं एकं) यह एक ही ब्रह्म (सर्वं) सबमें (विबभूव) विशेष रीतिसे प्रकट हुआ है।"

द.

इस एक के आधार से अनेक रहते हैं इस लिये उसी एक अद्वितीय सत्य वस्तु की उपासना करनी चाहिये।

आत्म निवेदन।

नवम वर्ष !

आज इस अंकसे " वैदिक धर्म " मासिक का नवम वर्ष शुरू होता है। जिस परमात्माकी कृपासे गत आठ वर्षोंमें धर्म की सेवा हमसे हुई है, उस जगन्नियन्ता धर्म प्रवर्तक सच्चिदानन्द प्रभु का हम शतशः धन्यवाद गाते हैं और नम्रतासे प्रार्थना करते हैं कि वह इसी प्रकार धर्म की सेवा हमसे लेते रहें। धर्म ही सबका शासक है और धर्म की रक्षासेही आत्मरक्षा होती है, इसलिये हमारी हार्दिक इच्छा यही है कि, प्रभुकी कृपासे हमारे अंदर धर्म भावना सदा स्थिर रहे और अवशिष्ट आयुष्यमें धर्म का कार्य ही हमसे अधिकाधिक होता रहे।

मासिक की अवस्था।

"वैदिकधर्म" मासिक प्रथम इससे आधे आकार वाले (क्रौन १६ पेजी) अठतालीस पृष्ठोंका था, उस समय दूसरे छापाखानेमें मुद्रित होता था, इस कारण व्यय बहुत अधिक होता था, इसलिये आकार बढाना असंभव था। अब जबसे अपना यंत्रालय हुआ है तबसे दुगणे आकारके (क्रौन ८ पेजी) अठतालीस पृष्ठ हम आज दे रहे हैं अर्थात् हम बराबर दुगणा लेख दे रहे हैं और मूल्य पहिले की अपेक्षा केवल आठ आने ही बढा है, अर्थात् जो पहिले ३॥ [illegible] यह आज ४) रु. है। इसलिये इसमें पाठकों[illegible] लाभ कितना है यह स्वयं स्पष्ट हो जाता है।

वैदिक धर्मका विशेषांक.

वैदिक धर्मका १०० वाँ क्रमांक सौ पृष्ठोंका विशेष अंक होगा। इसमें अथर्व वेद सुबोध भाष्यके पृष्ठ आधे होंगे और विविध सज्जनोंके वेद विषयक लेखोंके लिये आधे पृष्ठ होंगे। यह चित्रोंके साथ बडा चित्ताकर्षक अंक होगा। जो ग्राहक इस वर्षका चंदा भेजेंगे उनको यह अंक विना मूल्य मिलेगा अन्योंके लिये इसका मूल्य १) रु. होगा और डाक व्यय।) होगा। पुराने और नये ग्राहक भी इस अंक को प्राप्त कर सकते हैं।

अथर्ववेद सुबोध भाष्य।

" वैदिकधर्म " मासिक का प्रारंभसे ही उद्देश्य था कि वेदका सुबोध भाष्य इसके द्वारा प्रकाशित हो। परंतु कई कारणोंसे इस समय तक वह उद्देश्य सिद्ध नहीं हो सका। गत वर्ष से वेद भाष्य मुद्रण करनेका प्रारंभ हुआ है और इस समय प्रतिमास २४ अथवा ३२ पृष्ठ दिये जाते हैं। पाठक बार बार लिखते हैं कि यह अथर्व वेद भाष्य वैदिकधर्म में अधिक पृष्ठ संख्या देकर शीघ्र पूर्ण किया जाय। कईयोंने यहां तक लिखा है कि चाहे तो एक या दो रु० मूल्य बढाकर भी इसकी पृष्ठसंख्या अधिक मुद्रित की जाय। हम इन सब उत्साही पाठकों का हार्दिक धन्यवाद करते हैं।

इसमें कठिनता विचारपूर्वक लिखनेकी ही है। यह अथर्ववेद का भाष्य बहुत शीघ्रता से लिखा नहीं जा सकता। इसमें हमारी असमर्थता है, जितना तैयार हो जाता है उतना मुद्रित कर देते हैं, यदि परमात्माकी कृपासे अधिक लिखना संभव हुआ त अधिक मुद्रित किया जायगा। परंतु वैसा संभव कम प्रतीत होता है, क्योंकि जितना प्रतिमास आवश्यक होता है उतना भी बडी कठिनतासे तैयार होता है।

ग्राहकसंख्या बढाइये।

थोडे ही दिन हुए हैं हमने वैदिकधर्म की पृष्ठ· संख्या बढाई है जिस कारण सवागुणा व्यय अधिक

हुआ है। यह व्यय भुगतानेके लिये यदि ग्राहक संख्या न बढी तो कार्य चलना कठिन है। पाठक इस आर्थिक कठिनतासे हमें बचानेके लिये ग्राहक संख्या बढाकर सहायता करें। अन्यथा सदा के लिये इतने पृष्ठ देना बडा कठिन है। आजकल हम कागज भी उत्तम बर्त रहे हैं। यदि पाठक इस बात का विचार करके ग्राहक बढानेद्वारा उचित सहायता करेंगे तो ही बिना विघ्न यह धर्म कार्य चल सकता है।

गोमेध।

वैदिक यज्ञ संस्थाका तीसरा भाग " गोमेध " (पूर्वार्ध) छपकर तैयार हुआ है और जिन्होंने यज्ञ विषयक शास्त्रार्थ की सहायता हमारे पास भेजी थी उनके नाम पर भेजा गया था। कईयोंके पते बदलने के कारण पूर्व पतोंपर भेजे हुए पुस्तक मालक न मिलनेके कारण हमारे पास वापस आगये हैं, उनका नया पता न होनेके कारण उनको हम भेज नहीं सकते, यदि वे अपने नये पते से हमें सूचित करेंगे तो उनके नाम वह पुस्तक भेजी जायगी।

जिनके पाससे शास्त्रार्थ सहायता तीन रु. से कम आगयी थी, उनको केवल दोही भाग भेजे थे, तीसरा नहीं भेजा है क्यों कि उनका चंदा समाप्त हुआ है। जिन के पाससे तीन रु. अथवा तीनसे अधिक रु. आगये थे, उनके नाम यह तीसरा भाग भेजा है।

संभवतः यह ग्रंथमाला कमसे कम पांच भागोंमें पूर्ण होगी ऐसा पहिले अंदाजा किया गया था, परंतु गोमेध पूर्वार्ध लिखनेके बाद गोमेधके ही दो भाग होंगे ऐसा अनुमान हो रहा है। इसके पश्चात् अन्य यज्ञोंके विषयमें लेख तैयार होने हैं। इसलिये पांचसे अधिक भाग इस माला के अवश्य होंगे।

इस यज्ञ संस्था के लिये करीब चौदह सौ रु. की सहायता आई थी, उनमें से ये तीन भाग सब मिलकर पांचसौंसे अधिक पृष्ठोंके प्रकाशित किये गये हैं। आगे गोमेध उत्तरार्ध की तैयारी चल रही है, यह भाग भी पूर्वार्धसे किंचित बडा ही होगी।

इन तीनों भागों की मिलकर करीब सातसौ पुस्तकें विना मूल्य हमारा डाकव्यय लगाकर भेजी गई हैं, इससे पाठक जान सकते हैं, कि यज्ञ की जो सहायता आगई थी उसका उपयोग किस रीतिसे किया गया है। इस फण्डमें अब हमारे पास चतुर्थ भाग के लिये मुद्रणव्यय के लिये धन नहीं है। इस लिये यदि ग्राहक ये पूर्वमुद्रित पुस्तकें खरीदेंगे तो उस धनसे आगेके भाग मुद्रित किये जा सकते हैं। इस विषयमें हम धनकी सहायता नहीं चाहते हैं, परंतु पुस्तक विक्रीमें सहायता चाहते हैं, अर्थात् पाठक इनके प्रचारमें सहायता करें।

अथर्ववेद सुबोध भाष्य।

प्रथम काण्ड ग्राहकोंके पास रवाना हुआ है। आगे द्वितीय काण्ड का मुद्रण शुरू है। द्वितीय काण्ड भी प्रथम कांडके इतनाही ग्रंथ होगा ऐसा हमारा ख्याल है। इस समयतक यह काण्ड लिख कर भी तैयार नहीं हुआ है, इसलिये इस समय ठीक अंदाजा कहना अशक्य है।

यजुर्वेद का मुद्रण।

इस समय तक यजुर्वेद के २०८ पृष्ठ छप चुके हैं और इसमें मूल यजुर्वेद १७० पृष्ठ, काण्वशाखाके पाठ विशेष ३४ पृष्ठ, ऋषि सूची चार पृष्ठ, सब मिल कर २०८ पृष्ठ छप चुके हैं। आगे देवता सूची और आठ पृष्ठोंमें देकर यह प्रथम भाग तैयार होगा और तैयार होते ही ग्राहकों के पास भेजा जायगा। ऋषि सूचीयां एक अक्षरानुक्रमसे तथा एक अध्यायानुक्रमसे ऐसी दो दी हैं, तथा देवता सूची भी अक्षरानुक्रमसे और अध्यायानुक्रमसे दी जायगी। इससे अभ्यास करनेवाले के लिये सब साहित्य इस में रहेगा।

इसके दूसरे भागमें यजुर्वेद की मंत्र पाद सूची, यजुर्वेद सर्वानुक्रम आदि पूर्ण रूपसे दिया जायगा और पश्चात् अथर्ववेद मूलका मुद्रण होगा।

मूल्य की सुविधा के लिये यजुर्वेद विना जिल्द, और सजिल्द दोनों प्रकार विक्रीके लिये रखा जायगा। विना जिल्द १॥) सजिल्द २) और 'रेशमी

जिल्द वालेका मूल्य २।) रु. होगा। पाठक मूल्यकी अनुकूलताके अनुसार जो चाहिये वह मंगावें। विनाजिल्द का डाकव्य. ।=) और सजिल्दवालेका डा. व्य. ॥) होगा। वी. पी. से ।) अधिक होगा।

इन्द्रशक्ति की वृद्धि।

मनुष्यमें इन्द्रशक्ति रहती है, इसकी वृद्धिसे मनुष्य बडा प्रभावयुक्त होता है। इसलिये इस की वृद्धिके लिये वेदादि सत्य शास्त्रोंमें बहुतसे अनुष्ठान कहे हैं, उनमें से सुकर अनुष्ठान पद्धति का वर्णन अत्यंत सुबोध रीतिसे इस पुस्तकमें दिया है। इसके लिये खानपान का पथ्य आसन प्राणायाम आदि जो बातें अत्यंत आवश्यक हैं उनका पूर्ण वर्णन पाठक इसमें देख सकते हैं। स्थायी ग्राहकोंके पास यह पुस्तक भेजा गया है और अन्य ग्राहकोंके लिये भी यह पुस्तक अब मिल सकता है। पाठक इसको एकवार अवश्य पढें। मूल्य ॥) डा. व्य. ।)है।

पोषक वर्ग।

इस वर्ष पोषक वर्गके स्थायी ग्राहकोंको वै. धर्म ४) महाभारत ११) इतर पुस्तकें ५) सं. पा. माला २) मिलकर करीब बाइस रु. की पुस्तकें भेजी हैं। हम आशा कर रहे हैं कि अगले वर्ष इस से अधिक रु. की पुस्तकें भेजीं जायगी, क्यों कि प्रतिवर्ष ग्रंथ प्रकाशन अधिकाधिक हो रहा है। इस लिये पोषक वर्गका १००) रु. चंदा भेजकर इस वर्गमें नाम दाखल करना पाठकोंके लिये अत्यंत लाभदायक है। जो पोषक वर्गका चंदा भेज देंगे, यदि वे पूर्व प्रकाशित ग्रंथ लेना चाहें, तो उनको पिछले प्रकाशित ग्रंथ पंद्रह रु. फी सदी कमिशनके साथ मिलेंगे। आगे प्रकाशित होनेवाले ग्रंथ तो उनको भेट होते ही रहेंगे।

"संपादक"

साहित्यान्दोलन।

१ मदर इंडिया का जबाब। (लेखिका= श्रीमती चन्द्रावती लखनपाल बी. ए. गुरुकुल कांगडी, जि० बिजनौर मू.॥।) मदर इंडिया नामक पुस्तक भारत वर्ष की अकारण निंदा करनेके लिये मिस मेयोने लिखी थी। हरएक विचार वान् स्त्री पुरुषने इस पुस्तक का निषेध ही किया है। इस पुस्तक में किये आक्षेपोंका उत्तर सभ्य भाषाद्वारा इस पुस्तक में दिया गया है। पुस्तक अत्यंत पढने योग्य है और विशेष कर इस पुस्तक के अंतिम भाग "अमरिकामें पापकी पराकाष्ठा" की ओर पाठकों का ध्यान हम आकर्षित करना चाहते हैं।

२ उपनिषदोंका वेदान्त। (ले० और प्र०- श्री. पं. प्रियरत्नजी आर्ष, सार्वदेशिक अनुसंधान कार्यालय, एस्प्लेनेड, देहली। मू. ≡)। तत्त्वमसि आदि महावाक्योंक अर्थ द्वैतपरक लगानेका यत्न इस पुस्तक में कियाहै।

३ मानवीय शक्तियोंका परिचय [ले.-पूर्वोक्त। मू. ।) ॥ मनुष्यकी मन आदि शक्तियोंका वर्णन पाठक इस पुस्तक में पढ सकते हैं।

४ मेरे फूल। [कवि—श्री. पं. वंशीधर विद्यालंकार। प्र. हिं. ग्रंथरत्नाकर हीराबाग, मंबई मू. ॥।) हरएक पृष्ठ अनुपम काव्यरससे परिपूर्ण भरा है। पाठक देखेंगे तो तल्लीन होंगे।

५ राजेश्वरी। (ले. श्री. पं. विद्याधर विद्यालंकार। प्राप्तिस्थान पं. अर्जुन देव वि. अ. रविवर्मा स्टील वर्क्स, अंबाला छा.। मू. ॥=) मनोरंजक और बोध प्रद कथाएं पाठक इसमें पढ सकते हैं।

६ अहिंसादर्पण। (ले०-श्री० हेतमुनिजी महाराज। प्र.-श्री. बा. धनपत सिंहजी. तीर्थराज गृही जैनश्वेताम्बर कारखाना बिहार। विना मूल्य) अहिंसा प्रतिष्ठाके लाभ इस पुस्तकमें बताये हैं, अ श्य पढिये।

७ देवीजीके नामपर घोर हिंसा। ले० प्र०- श्री० स्वा० जगदीश्वरानंद परिव्राजक, हाजीपूर मू.) ॥] महात्मा हेतुमुनिजीके अहिंसा विषयक बोधामृत जनताको हिंसासे अवश्य निवृत्त करेंगे।

८ संध्या। (ले० ग० हरिलाल गुप्त, रुर्की। मू.-) इसमें संध्या के गीत हैं।

संध्यासंगीत। (ले०म०मुन्शीराम जी. द. कालेज कानपुर। प्र. आर्य कुमार सभा कानपुर=) मूल्य संध्याके मंत्रोंका रसदार काव्यमें उत्तम अनुवाद। हरएक संध्या प्रेमीको अवश्य गाने योग्य है।

योगमार्ग से अरुचि या भयके कारण

(२)

क्या योगी अकर्मण्य हो जाता है ?

(ले० - श्री० देवशर्माजी विद्यालंकार)

अब हम कमर्ण्यता के विषय पर आते हैं। योग का अकर्मण्यता से संबन्ध जोडना तो एक दृष्टि से बडा हास्यास्पद है, क्योंकि संस्कृत दार्शनिक साहित्य से परिचित लोग जानते हैं कि योग का तो कर्म से घनिष्ठ संबन्ध है। सांख्य और योग ये दो समान तन्त्र हैं, इन में जो कुछ परस्पर भेद है वह यही है कि 'सांख्य' में जो ज्ञान विचार रूपमें कहा गया है उसका अनुभव क्रियात्मक रूप में 'योग' से किया जाता है। योग का अभ्यासी तो दिनभर कर्म ही करता है- बडे बडे कठिन और दुःसाध्य कर्म करता है। एक विधिवत् कर्म को बार बार करना ही अभ्यास कहाता है। योग तो चीज ही करने की है।

पर असल में जब हम 'योगी कर्म नहीं करते' ऐसा कहते हैं तो हमारा 'कर्म' से 'एक विशेष प्रकार का कर्म' मतलब होता है। हमारी दृष्टि में बहुत से ऐसे कर्म आये हुवे हैं (जिन्हें प्रायः हम करते भी हैं या करने का यत्न करते हैं) जिन्हें कि हम समझते हैं कि ये कर्म हर एक को करने चाहियें, येही लाभदायक उपकारक कर्म हैं। इन्हीं कर्मों को योगी नहीं करते दिखायी देते, अत एव हम उन्हें 'अकर्मण्य' की उपाधि देते हैं। नहीं तो कर्म तो योगी भी करते ही हैं। पर उनके ये कर्म हमें निरर्थक तथा व्यर्थ समय खोना प्रतीत होते हैं और इन्हें हम कर्म की गिनती में ही नहीं गिनते। अतः हम चाहते हैं कि योगी लोग भी 'आंख मीच कर बैठे रहने' जैसे अपने व्यर्थ कर्म या अकर्मको छोड देवें तथा हमारी तरह (प्रचार करने, व्याख्यान देने, लिखने जैसे) कर्म करें।

यह स्वाभाविक है कि मनुष्य को स्वयं जिस प्रकार के कर्म का अनुभव होता है, जिसे करने से उसे लाभ होता दीखता है वह उसे ही 'कर्म' शब्द से पुकारता है। उदाहरण के लिये एक ऐसे ग्रामीण किसान की कल्पना कीजिये जो पढने लिखने की बात से सर्वथा अपरिचित है, जिसे इस विषय का जरा भी ज्ञान नहीं है। वह यदि मुझे दिनभर काले धब्बों की पंक्तिओं से अंकित कागजों के बंधे समूह (अर्थात् पुस्तक) को देखते हुवे (अर्थात् पढते हुवे) तथा सफेद कागजों को नाना तरह काले करते हुवे (अर्थात् लिखते हुवे) देखे, तो यही समझेगा कि मैं व्यर्थ समय गँवा रहा हूं। मैं कोई बडा जरूरी या बडा लाभदायक कार्य कर रहा हूं यह उसकी समझ के बाहर है। वह तो हल चलाना, बैलों के पीछे डंडा लेकर चलना, बोना, नुलाना सींचना आदि खेती के कार्यों को (बल्कि हुक्का पीने कोभी) ही कर्म व काम समझता है। यदि मैं उसे कहूं भी कि यह कागज काला करना आदि नहीं है, इसका नाम "लिखना पढना" है, इससे सब दुनिया के काम चलते हैं, संसार की सब सरकारें इसी द्वारा हुकुमत चलाती हैं, खेती के कामों में भी बडे बडे परिवर्तन कराने में यही साधन होता है, इस से बडे बडे आन्दोलन किये जाते हैं संसार में बडे बडे युद्ध और क्रान्तियां हो जाती हैं, तो भी वह न मानेगा। मन में यही सोचेगा कि 'खेती से तो अनाज पैदा होता है उससे पेट भरता है, पर इस कागज काले करने से क्या बनता है। खेती के कामों में इससे कुछ भी परिवर्त्तन कैसे हो सकता है'।

यदि हमने इस उदाहरण को (जो कि केवल कल्पना नहीं है किन्तु कभी और कहीं वास्तविक बात है) तो हम देख सकते हैं कि कर्म कैसे कैसे होते हैं, इसके समझने में हम कितने भ्रम में रह सकते हैं। कर्म और अकर्म को समझना सुगम नहीं है। ' गहना कर्मणो गतिः ' कह कर श्रीकृष्णजीने इस विषय की जटिलता को प्रकट किया है। इस जगत में चूंकि बहुत वार कर्म भी अकर्म दीखता है तथा इसके विपरीत अकर्म कर्म दीखता है इसी लिये श्रीकृष्ण जीने कहा है कि कोई ' युक्त ' और ' मनुष्यों में बुद्धिमान ' हो अकर्म में (ठीक) कर्म को तथा कर्म में (वास्तविक) अकर्म को पहिचानता है। इस सब कथन का तात्पर्य यह है कि ऊपर से देख कर निर्णय करना कि कौन सत्य अर्थ में कर्म करता है कठिन है। क्या मालूम जब हम योगी के ' आंख मीच कर बैठने ' के कर्म को अकर्म कहते हैं तो हम भी उपरिवर्णित किसान की ही बात करते हों। संभव है कि उसके इस अकर्म (?) में इतना बडा भारी कर्म छिपा हो कि हमारे लिखाई पढाई के संसारमें भी बडे बडे महापरिवर्त्तन करने का वही कर्म कारण होता हो।

यह कैसे संभव है इसकी कुछझलक निम्नलिखित विवेचन से मिल सकती है।

ज्यों ज्यों मनुष्य उन्नत होता है त्यों उसका कर्म स्थूल की जगह सूक्ष्मसे प्रवृत्त होनेवाला होता जाता है। स्थूल से सूक्ष्म तक पहुंचाने वाले इस मार्ग पर वैसे तो बहुत से पडाव, पद या पर्व हैं, किन्तु विचार की सहूलियतके लिये मोटे तौर पर केवल चार भागोंमें इस मार्ग को विभक्त किये लेते हैंः—

१	स्थूल	शारीरिक कर्म	अन्नमय स्थूल शरीरसे किया जानेवाला
२	सूक्ष्म	वाचिक कर्म	स्थूल (वैखरी) वाणीसे किया जानेवाला
३	सूक्ष्मतर	मानसिक कर्म	मन आदि अन्तःकरणोंसे किया जानेवाला
४	सूक्ष्मतम	आत्मिक कर्म	आत्म शक्ति द्वारा किया जानेवाला

अतिस्थूल दृष्टि वाले लोग केवल शारीरिक कर्म (अर्थात् हाथ पैर आदि की चेष्टाओंसे किये जाने वाले कर्म) को ही कर्म समझते हैं। पर हम जानते हैं कि इससे सूक्ष्म किन्तु इससे बहुत प्रभावशाली वाणी का कर्म है। एक प्रबल वाणी रखने वाला पुरुष अपनी वाणी से हजारों लोगों के हाथ पैर हिलवा सकता है-उनके हाथ पैरों से बडा कर्म पैदा कर सकता है। इस वाणी के क्षेत्र को ' भाषा ' ने और भी बहुत अधिक विस्तृत कर दिया है। अत एव पढने लिखने का कर्म का और भी व्यापक प्रभाव होता है तथा जैसा कि ऊपर कहा है इससे सरकारें चलती हैं, एवं बडी से बडी क्रान्तियां हो जाती हैं। पर इस वाणी के जगत् के ऊपर इससे सूक्ष्म किन्तु इसकी अपेक्षा बहुत व्यापक मानसिक जगत् का राज्य है। संसार की वाणिओं को-संस्कार के सब मौखिक या लिखित साहित्य (Platform और Press) को प्रभावित करने वाला मन होता है- संसार के मनस्वी महापुरुषों का मन होता है। इन महापुरुषों की सोची हुई बातों का, इनकी भावनाओं का, इनके 'स्वप्नों ' का ही अन्त में संसार पर संसारकी बाणी द्वारा स्थूल प्रभाव घटित होता है। अतः हम यह भी समझ सकते हैं कि मानसिक कर्म वाचिक कर्म से भी अति अधिक प्रभावशाली है। इसलिये हम लोग भी मानते हैं कि ' Ideas rule the world या sentiment rules the world '.

मनुस्मृति में भी वाचिक जप और मानस जप का भारी भेद बतलाते हुवे यही कहा है कि वाचिक से मानस कर्म शतसहस्रगुना फलदायी होता है। (देखो मनु० २-८५) पर इसके भी पीछे अतिसूक्ष्म और अत्यन्त प्रभावशाली आत्मिक जगत है जो कि असल में सब कर्मों का स्रोत है। यह विचारों और भावों (Ideas और Sentiments) की भी अधिष्ठात्री शक्ति है। यही आत्मिक शक्ति (मानसिक वाचिक जगत द्वारा) सब संसारको वास्तव में हिलाती है। सिद्ध योगी का कर्म इसी शक्ति से होता है।

संसारपाठशाला के पहिली श्रेणी के लोग मुख्यतया स्थूल शारीरिक कर्म करते हैं और इसे ही सर्वोत्तम साधन समझते हैं। दूसरी श्रेणी के लोग वाणी की शक्ति से कर्म अपेक्षया अधिक करते हैं, इनमें साधारण शिक्षित जन आते हैं। मानसिक कर्म विशेषतया करने वाले तीसरी श्रेणी के हैं, ये कुछ असाधारण पुरुष होते हैं और सब साधक योगी लोग इनमें आजाते हैं। अन्त में सिद्ध लोग चौथी प्रकार के पुरुष हैं।

एवं देखने में तो बेशक प्रथम श्रेणी का मनुष्य ही बहुत कर्म करता दीखता है, क्योंकि चेष्टायें और स्थूल चेष्टायें - वहीं होती है। पर उसका कर्म वहीं खतम हो जाता है और कहीं उसका प्रभाव नहीं होता। इसके विपरीत वाणी का कर्म बहुत से शारीरिक कर्म को उत्पन्न और प्रभावित करता है, मानसिक कर्म संसार के वाचिक कर्मसमुदाय को प्रभावित करता हुवा फैलता है और आत्मिक शक्ति से हुवे कर्म अन्त में सब मनोमय जगत् को भी प्रभावित करते हुवे असल में सब जगत् को चलाते हैं। एवं ज्यों ज्यों कर्म सूक्ष्म अदृश्य होता जाता है अर्थात् उसमें चेष्टा और स्थूल गति कम होती जाती है त्यों त्यों उसका प्रभाव और शक्ति और विस्तार बढता जाता है (क्यों कि अगला अगला क्षेत्र भी निर्बाध और विस्तृत होता जाता है)।

वास्तव में चेष्टा का अधिक होना कर्म की कमी, कर्म की निर्बलता का ही चिन्ह होता है। लोक में भी यह प्रसिद्ध है। लौकिक कहावत 'अर्धजल गगरी छलकत जाय' इसी बात की सूचक है कि अपूर्णता के कारण ही गति या चेष्टा अधिक होती है। सब वाचिक शक्ति के विषय में भी कहावत है (जो गरजते हैं वे बरसते नहीं) अर्थात् जल से अपूर्ण शून्य होने पर ही गरजना होता है। जब मन पूर्ण (भरा) होता है तो वाणी की चेष्टा (जो कि शरीर की चेष्टा की अपेक्षा पहिले ही सूक्ष्म है वह भी) भी बन्द हो जाती है। Words are few, when heart is full' यह कहावत एक अंश में इसी सत्य की तरफ निर्देश करती है॥ पर स्पष्ट तौर पर ही हम देखते हैं कि गंभीर विद्वान पुरुष कम बोलने वाले होते हैं। अर्थात् वे वाचिक कर्म भी कम करते हैं, मुनि लोग अर्थात् जो मननरत, ध्याननिष्ठ होते हैं। उनके कर्म का नाम 'मौन' है (व्याकरण के अनुसार 'मौन' का अर्थ यही है। मुनेः कर्म = मौनम्।) पर उनका यह उच्च कर्म वाचिक कर्म के त्याग द्वारा किया जाता है अतः अब मौन का अर्थ ही "वाचिक कर्म का बन्द करना" हो गया है। आगे जब मनुष्य मन से ऊंचा उठता है तो उसे अपना आत्मिक कर्म करने के लिये मन की सूक्ष्म चेष्टाओं को भी-मानसिक कर्म को भी-रोकना होता है। तब वह जिस अवस्था में होता है उसका नाम 'अथर्व' है (अर्थात् चेष्टा या गतिरहित) अथवा 'स्थितप्रज्ञ' (जब कि प्रज्ञा भी ठहर जाती है, गति नहीं करती) अथवा जिसके विषय में अन्यत्र कहा है "बुद्धिश्च न विचेष्टते"। इस समय का कर्म सब से ही अधिक प्रभावशाली और अचूक होता है। पर आत्मा में भी शायद कोई अलक्ष्य सूक्ष्म गति हो, किन्तु अन्त में परम आत्मा तो जो कि सब के मूल में अपनी परम शान्त किन्तु अनन्त अगम्य क्रियाशक्ति द्वारा सब ब्रह्माण्डों को-उनके एक एक अणु को-हिला रहा है बिलकुल ही निश्चेष्ट है, अचल है, कूटस्थ है।

महात्मा गांधी जी सन् १८२१ के बडी हलचल वाले वर्ष के अन्त में जब सारे देश का दौरा समाप्त करके लौटे कि अब वर्ष के शेष दो महीने अपने स्थान पर ही स्थिर रह कर कार्य करेंगे तो 'नवजीवन' में उन्होंने जो "मुसाफिरी खतम" "शान्ति ही प्रवृत्ति है" आदि दो तीन बडी सारगर्भित टिप्पणियां लिखी थीं वे इस प्रकरण में पढने योग्य हैं। उन्होंने ने भी परमात्मा का दृष्टान्त देकर लिखा 'ईश्वर के मौन को कौन पहुंच सकता है। और साथ ही उसकी प्रवृत्ति को भी कौन पा सकता है' 'उसकी गति की तो सीमा ही कहां है' 'शान्ति रखते हुवे भी वह अधिक से अधिक काम करता है, इससे हम यह सबक क्यों न लें कि शान्ति में ही अधिक से अधिक शक्ति है। आगे "शान्ति का अर्थ" बताते हुवे उन्होंने लिखा 'इस दिव्य शान्ति का अर्थ जडता नहीं, मूढता नहीं, और कमजोरी भी

नहीं। यह तो शुद्ध चेतना, ज्ञान, शूरवीरता है। जो अपनी काया को पत्थर बनाकर रहता है वह एक ही जगह बैठा हुवा सारे संसार को हिलाया करता है। ' इसके आगे उन्होंने भारतवासिओं से या असहयोगियों से ऐसे ही ' चेतन पत्थर ' बनने की अभ्यर्थना (अपील) की है।

यहां स्मरण आता है कि जो भाई परमानन्द जी ने समाधिस्थ योगिओं को ' हिमालय के वृक्ष ' कहा है वह भी ठीक है, पर वहां भी इतना विशेष सा और लगालेना चाहिये कि वे ' चेतनामय वृक्ष ' हैं। अत एव वे उसी जगह अचल स्थिर ठहरे हुवे भी संसार को हिलाते हैं— उस अधिक से अधिक निश्चेष्ट अवस्था में होते हुवे अधिक से अधिक गति और प्रवृत्ति को चलाते होते हैं। उनकी इस महान गति को अनुभव करने के लिये हमें उनके नजदीक होना चाहिये-सूक्ष्म बनना चाहिये। क्योंकि उनके आत्मिक कर्म का सीधा प्रभाव उनके नजदीकी तीसरी श्रेणी के लोगों (अर्थात् जिन्होंने मानसिक शक्तिओं का विकास खूब प्राप्त कर रखा है) पर पडता है। उनके द्वारा संसार का वाचिक कर्म प्रभावित होता है और उसद्वारा फिर स्थूल जगत् में घटनायें होती जाती हैं-हाथ पैर हिलते हैं। यह है रीति जिससे कि योगी की आत्मिक शक्ति संसार को हिलाती है।

ये सिद्ध लोग अपने स्थूल शरीरों को बिलकुल बन्द कर के, सुला करके बल्कि बहुत वार बिलकुल छोड कर (मुक्त होकर) आत्मिक शक्ति से काम करते हैं। पर इस का यह मतलब नहीं कि वे स्थूल कर्म कर ही नहीं सकते या कभी करते नहीं। जरूरत होती है तो वे मानसिक वाचिक और बिलकुल कायिक कर्म भी करते हैं। सिद्ध योगी हल चलाते देखें जांय यह भी संभव है। पर उनके ये स्थूल कार्य भी सीधे अपनी आत्मशक्ति से प्रेरित होने के कारण अद्भुत प्रभाव रखते हैं। योगीश्वर श्रीकृष्ण वन में गौवें भी चराते फिरे थे। यह कायिक कर्म था। योगिवर व्यासजी ने महाभारत जैसे ग्रंथ रचने का बडा साहित्यिक कर्म किया। भगवान् बुद्धने उपदेश देते फिरनेका वाचिक काम किया। इत्यादि और बहुत दृष्टान्त हैं। पर हम जानते हैं कि उनके ये सब साधारण कर्म भी कितना आश्चर्यमय आकर्षण व शक्ति रखते थे। योगीश्वर कृष्णजी की छोटी पुस्तक गीता को देखिये जो कि हजारों वर्षों से लाखों मनुष्यों का जीवन पलटती आयी है और आगे भी न जाने कब तक पलटती रहेगी। महायोगी के स्थूल कर्म में भी ऐसी शक्ति होती है, क्यों कि वह आत्मशक्ति से प्रेरित (असल में आत्मिक कर्म ही) होता है। ऐसे योगिओं के इन स्थूल कर्मों का कभी तुरंत बडा प्रभाव न होता देख कर भी हमें भ्रम में नहीं पडना चाहिये, क्योंकि बहुतवार उनके महान कर्म इस विधिसे किये जाते हैं कि उनके अद्भुत फल शताब्दिओं बाद दृष्टिगोचर होते हैं। पर इसमें संदेह नहीं है कि इन आत्मशक्ति से कर्म करने वाले सिद्धों के स्थूल छोटे कर्म भी अन्त में अचूक तौर पर बडा भारी फल लानेवाले होते हैं।

एवं मानसिक शक्ति से प्रेरित कर्म करने वाले योगी वाचिक और शारीरिक कर्म भी किया ही करते हैं यह हम जानते हैं। पर उनके ये स्थूल कर्म भी उसी तरह उच्च शक्ति (मनः शक्ति) से प्रेरित होने के कारण बहुत अधिक प्रभाव शाली होते हैं।

अन्त में हम साधारण लोगों के कर्म वाणी या शरीर से ही प्रेरित होने के कारण अति तुच्छ होते हैं। वैसा आत्मा और मन तो हमारे भी हैं परन्तु हमारी आत्मा और मन बद्ध हैं (स्वाधीन नहीं है); अतः यद्यपि हमारे सब कर्म आत्मा और मन की शक्ति की सहायता से ही होते हैं, पर वे आत्मा व मन से प्रेरित नहीं होते। जो जितना ऊंचा गया है अर्थात् अपने उच्च स्वरूप की स्वाधीनता प्राप्त की है उसका कर्म (उसका स्थूल कर्म भी) उतने ही ऊंचे से प्रेरित होता है अतः उतनाही अधिक प्रभावोत्पादक होता है।

एवं स्थूल देह से भी काम लेने वाले पूर्ण योगी का शरीर संसार रूपी विराट् शरीर का पूर्णनमूना होता है। जैसे उसकी आत्मशक्ति के आधीन उसकी मानस क्रिया, तथा उसके आधीन वाचिक और

शारीरिक कर्म होते हैं, वैसे ही इस विश्व शरीर में आत्मिक शक्ति के स्थान पर विश्वके सिद्ध लोग हैं जिनके आधीन तीसरी और दूसरी श्रेणी के लोग (जो कि विश्व शरीर में क्रमशः मन और वाणी है) उनसे प्रभावित होकर कर्म करते हैं और अन्त में विश्वशरीर के स्थूल भाग पहिली श्रेणी के लोग हैं जो कि हाथ पैर की तरह उनके आधीन हिलते हैं। अब यह भी स्पष्ट है कि हम निचली श्रेणी के लोग बेशक अपने स्थूल, चेष्टापूर्ण बहुत से कर्म करते हुवे समझते हैं कि हम बडा काम कर रहे हैं पर हमें यह ज्ञान नहीं है कि हमारे ये कर्म स्थूल से ही प्रेरित होने के कारण जहां उतना ही थोडासा परिमित प्रभाव वाले हैं वहां ये कर्म परतंत्र भी हैं-(हमारे वासनाओं और कामनाओं से बद्ध होने के कारण चारों तरफ के उच्च जगत के नियमों से प्रभावित और परवश किये गये हैं। (अत एव वे कर्म हमें बांधते भी हैं) क्योंकि हम जो कुछ (सकाम) करते हैं वह दृश्य बहुत सी अवस्थाओं में तो जैसे शिवाजी के कार्यों केमूलमें श्रीरामदास की मानसिक या आत्मिक कर्म थे वैसे सब संसारके इतिहास में बहुत सी घटनाओं के प्रेरक कारण दृश्य महात्मा के रूप में ढूंढे जा सकते हैं। श्रीकृष्ण जी की प्रेरणा से अर्जुन का लडना, सिक्खों के महान कार्यों के मूल में उनके प्रारंभिक गुरु नानकजी का होना इत्यादि बहुत से दृष्टान्त पाठक स्मरण कर सकते हैं। या अदृश्य उच्च शक्तिओं से प्रभावित होकर और उनके नियमों के बन्धन में आये हुवे ही करते हैं। दूसरी तरफ योगी लोग जब सूक्ष्म जगत् में स्थित होकर कार्य करते हैं तो वे उनके स्वाधीन (अबद्ध) कर्म निचले लोगों को परवश कर उनके द्वारा स्थूल में प्रकट होते हैं, पूरे होते हैं। और जब वे अपनेही स्थूल शरीरों द्वारा अपने सूक्ष्मप्रेरित कर्म को स्थूलमें लाते हैं तब तो वे सीधे ही पूर्ण और अचूक कर्म होते हैं।

यहां यह भी लिख देना चाहिये कि योगी के कर्म संबन्धी इस सब कथन से कोई यह अशुद्ध परिणाम न निकाले कि हमें जैसे तैसे सब स्थूल कर्म छोड देना चाहिये। यह तो हम जानतेही हैं कि साधक को प्रारंभ में स्थूल कर्म ही बहुत करने होते हैं, क्योंकि सूक्ष्म कर्म करने के योग्य होने के लिये पहिले स्थूल देह का सिद्ध (तय्यार)होना आवश्यक है और यह स्थूलसिद्धि स्थूल कर्मों द्वारा (जिन्हें कि हठयोगके कर्म कह सकते हैं) ही प्राप्त की जाती है। पर जो इस मार्ग से नहीं चलते या जो उच्च (यहां तक कि सिद्ध) हो जाते हैं उन्हें भी स्थूल कार्य तो स्थूल कर्म द्वारा ही करने में सुगमता होती है। अत एव देखा जाता है कि मुक्त पुरुषों को भी स्वयं स्थूल कार्य संपन्न करने के लिये स्थूल देह ग्रहण करने पडते हैं। वैसे जब तक देह हैं (फिर देही चाहें सिद्ध जीवन्मुक्त हो या असिद्ध)तब तक स्थूल कर्म सर्वथा छूट नहीं सकते और नहीं यह वांछनीय होता है। अत एव अपने स्थान पर स्थूल कर्म पूरा महत्वशाली है, यहां यह कहने से कि सूक्ष्म कर्म का प्रभाव स्थूल से अपरिमित गुना अधिक होता है उस स्थूल का महत्व जरा भी नहीं घटता है। वहां वही सब कुछ है। अस्तु।

अब स्पष्ट है कि योगमार्ग पर चलनेवाला साधक साधना द्वारा अवश्य स्थूल कर्म की तरफ से सूक्ष्म कर्म की तरफ जाता है। अत एव यदि कहीं योगी के लिये कर्म त्याज्य भी लिखा हो-यद्यपि लेखक ने ऐसा कोई स्थल अभीतक देखा भी नहीं है-तो बहुत संभव है कि उसका अभिप्राय स्थूल कर्मोंका अधिकार समाप्त करके, उन्हें त्याग करके सूक्ष्म कर्मों में प्रवृत्त कराना होगा। "ततः क्लेशकर्मविनिवृत्तिः" इस योगसूत्र में व्यासजीप्रभृति सभी टीकाकार 'कर्म' शब्द का अभिप्राय कर्मवासना या सकाम कर्म लेते हैं। इसका अभिप्राय कर्म (क्रिया) का त्याग नहीं है। पर कर्म का परित्याग कभी नहीं करता। बल्कि उसके कर्म की शक्ति उत्तरोत्तर बढती जाती है। जब हम ऊपर यह देख चुके हैं कि योगमार्गावलंबी प्रारंभ से अन्त तक सच्चा परोपकार करता हुवा चलता है तो अब हम यूं कह सकते हैं कि योगका साधक प्रत्येक अवस्था में अधिक से अधिक लाभदायक (अर्थात् परोपकारक) कर्म करता हुवा उन्नत होता है और अन्त में सिद्ध होकर ऐसा परोपकार कर्म करता है। अपने वास्तविक स्थान आत्मतत्त्वमें पहुंचकर वहां की अपरिमित शक्ति द्वारा ऐसे सर्वमंगलकारक कर्म करता है-जो कि परिपूर्ण होते हैं, अबद्ध होते हैं और अत एव अपरिमित फलोत्पादक होते हैं।

२

तप ।

(ले० – श्री० उदयभानुजी)

(भाग २)

[इसका पहला भाग वै. ध. क्रमांक ८८में प्रकाशित हो चुका है।]

आर्य ग्रंथों में तप का वर्णन –

नमस्ते प्रवतो नपाद्यतस्तपः समूहसि ।
मृडया नस्तनूभ्यो मयस्तोकेभ्यस्कृधि ॥

अथर्व. १३। २

अन्वय— हे प्रवतः नपात् ? ते नमः । यतः (त्वं) तपः समूहसि । नः तनूभ्यः मृडय, तोकेभ्यः मयः कृधि । इसका अर्थ स्पष्ट है।

इसका भाष्य करते हुवे श्री० सातवले कर जी अपने अथर्व वेद के स्वाध्याय में लिखते हैं " हे उच्चतासे न गिराने वाली देवी ईश्वरी ? तू तपोमय जीवनको हमारे अंदर इकट्ठा करती है अर्थात् हमारे में तपः शक्ति बढाती है, उस तप से हमें तथा हमारे संतानोंको सुखी कर, तेरे लिए हम प्रणाम करते हैं।

"तप प्रत्येक शक्तिसे किया जाता है— वाणी का तप, मनका तप, शरीर का तप आदि । इन तपों का जितना बडा समूह होगा, उतना उच्च स्थान उस मनुष्य को प्राप्त होगा । अर्थात् तप के जीवन पर मनुष्य का महत्त्व अवलंबित है । "

" जिस कारण तपके प्रभाव से मनुष्य उच्च होता है, उसी कारण तप के प्रभाव से ही मनुष्य नहीं गिरता । इसी लिये इस द्वितीय मंत्र में उच्चता से न गिरने का हेतु तप का प्रभाव कहा है । "

" तपसा सपत्नान्प्रणुदामारातीः । "

महानारा. उप. २२-१.

तपसे शत्रुओं का पराजय किया जाता है।

' बलेन तपः । ' महाना. उ. २३-१.

बल से तप होता है । अर्थात् जो मनुष्य बलहीन हैं वे तप नहीं कर सकते । इसी कारण शारीरिक बल को बढाना भी एक प्रकार का तप है । भारतीय ग्रन्थों में स्वास्थ्य का इतना विचार किया जाता था कि स्वास्थ्य का संरक्षण एक आवश्यक एवं अनिवार्य कर्त्तव्य इसी कारण कहा है ' बलं वाव विज्ञानाद्भूयः " छां. उ. ७-८-१. विज्ञान से बल बढकर है।

' भृगूणामंगिरसां तपसा तपध्वम् । '

श. ब्रा.. १-१-२.१.

भृगु और अंगिराओं के तपसे पवित्र बनो ।

तपः श्रुतं च योनिश्च एतद्ब्राह्मणकारणम् ।

महाभाष्य २-३६. ३

ब्राह्मण बनने का तप एक साधन है।

तपका अर्थ–

तप् धातु का अर्थ है–वृद्धि को प्राप्त होना, अभ्युदय, द्वन्द्वों का सहना, पवित्र होना, ऐश्वर्य प्राप्त करना, उच्च बनना । जैसे अग्नि में सोना तपाया जाता है वैसे ही तप वह साधन है जिससे मनुष्य पवित्र, उच्च और उन्नत बनता है । अर्थात् तप वह साधन है जिससे मनुष्य सफलता प्राप्त करता है।

तपका कारण कर्म है–

तपश्चैवास्तां कर्म चान्तर्महत्यर्णवे ।
तपो ह जज्ञे कर्मणस्तत्ते ज्येष्ठमुपासत ॥
अ. ११-८-६

तप और कर्म महान् समुद्र में विद्यमान थे। निश्चय से तप कर्म से उत्पन्न हुआ। उन्होंने इस कर्म की बडी उपासना की अर्थात् महान् तप किया। अतः सिद्ध होता है कि वेदानुसार तप कर्म रूपही है

कर्म के दो प्रकार हैं। इसीलिए तप भी दो प्रकार का होता है- १ शारीरिक और (२) मानसिक जिसे आभ्यन्तर तप भी कहते हैं। शास्त्रों में आभ्यन्तर तप के ६ प्रकार हैं-

प्रायश्चित्त, वैयावृत्ति, स्वाध्याय, विनय, व्युसर्ग, और ध्यान ।

यहाँ पर कई लोग एक शंका कर सकते हैं कि जब वेद तपका अर्थ कर्म करता है तो यह सिद्ध होता है कि प्रत्येक समय हम तपही करते हैं; क्यों कि विना कर्मके मनुष्य एक पल भी नहीं रह सकता। इसके उत्तर में निवेदन है कि प्रत्येक कर्म तप नहीं कहा जा सकता। क्यों कि तप की व्याख्या पहले की जा चुकी है कि तप वह साधन है जिससे सफलता प्राप्त हो। इसी कारण तपके अन्दर इन तीन बातों का होना अत्यावश्यक है- ध्येय, आत्मिक उन्नति और प्रयत्न। जिस कर्म में इन तीनों में से एकका भी अभाव है वह तप कभी नहीं कहा जा सकता। इस सम्बन्ध में भगवान् कृष्ण चन्द्र का उपदेश मननीय है—

अशास्त्रविहितं घोरं तप्यन्ते ये तपो जनाः ।
दम्भाहङ्कार संयुक्ताः कामरागबलान्विताः॥
कर्षयन्तः शरीरस्थं भूतग्रामभचेतसः ।
मां चैवान्तः शरीरस्थं तान्विद्ध्यासुरनिश्चयान्॥

दम्भ और अहंकार के वशमें होकर आसक्ति और दुराग्रह के बलसे जो लोग शास्त्रविरुद्ध घोर तप करते हैं और शरीरस्थ पञ्चभूतों को तथा उनके भीतर रहने वाले आत्मा को भी कष्ट देते हैं, उनको आसुरी भाव वाले निश्चय से जानो ।

जो तप अपने उद्देश्यकी पूर्त्तिके निमित्त फल की आशा को छोडकर श्रद्धा और भक्ति के साथ किया जाता है, वही सात्विक तप होता है और उसी तप से सिद्धि, आत्मकल्याण और अपवर्ग मिलते हैं। किन्तु जो मनुष्य निरुद्देश्य, औरोंकी प्रेरणासे, श्रद्धा रहित, प्रशंसा के लिए, सम्मानके लिए, फल की कामनासे, अभिमानसे, औरों को बतलाने के लिए, या अपनी आत्मा के शासन के प्रतिकूल किया जाता है, वह सफलता की अपेक्षा अवनत और पतित करता है।

तपकी महिमा शास्त्रोंमें भरी पडी है। उनका परिचय आगे के भागोंमें क्रमशः दिया जायगा। इस समय यहाँ तप के विषयमें कुछ विचार किया जाता है।

हम कह चुके हैं कि तप सफलता का हेतु है। 'सत्यमेव जयते नानृतम्' अर्थात् सत्यसे ही विजय होती है—यह वैदिक सिद्धान्त है। अतः सिद्ध होता है सत्य ही तप है। सत्य शब्द के दो अर्थ होते हैं- १ मन, और कर्म की एकता (२) मन और वचन की एकता। हमारे मत में पहला तप है और दूसरा केवल सामाजिक नियम है। किसी विशेष अवस्था में सत्य का दूसरा अर्थ तप माना जा सकता है; पर सर्वदा और सर्व अवस्थाओं में उसे तप मानना हमारा अज्ञान और मूर्खता है। हमारी इस उक्ति को श्रवण कर कई वैदिक धर्मी भाई क्रुद्ध हो जायँगे पर मेरी उनसे बडी नम्रताके साथ प्रार्थना है कि वे मेरे कथन की पुष्टि को भी ध्यानपूर्वक पढें और निष्पक्षपात से विचार करें।

मन और कर्म की एकता को तप कहते हैं, क्यों कि उससे सफलता और अभ्युदय मिलता है। इसके प्रमाण वेद में कई हैं किन्तु यह विषय इतना सरल और निर्विवाद है कि अन्य प्रमाणों की अपेक्षा नहीं रखता। वैदिकधर्म में इस विषय पर पहले कई बार लिखा जा चुका है।

अब हम विवादास्पद विषय पर आते हैं। हमारा सिद्धान्त है कि मन और वचन की एकता रखना चाहिए पर यदि किसी अवस्था में वह हमारी सफलता का बाधक होता दिखाई दे तो इस नियम का उल्लंघन कर देना कोई पाप नहीं। इसकी पुष्टि में महाभारत का निम्नांकित उद्धरण पढिए—

"एक समय युधिष्ठिर महाराज रण संग्राम से भागकर चले आये। उस दिन युद्ध इतना घनघोर हो रहा था कि अर्जुनको रणक्षेत्र छोडना पडा। अर्जुनको लौटते हुवे देखकर धर्मराजने गाण्डीव धनुषकी तीव्र निन्दा करते हुवे अर्जुनको बहुत धिक्कारा। अर्जुन की यह प्रतिज्ञा थी कि जो कोई उस के गाण्डीव धनुषकी निन्दा करेगा; उसका नाश मैं स्वयं अपने हाथों से करूंगा। इस प्रतिज्ञाके अनुसार अर्जुन युद्धिष्ठिर को मार डालनेके लिए उद्यत हुआ परन्तु भगवान् कृष्णचन्द्रने अहिंसा का उपदेश देकर अर्जुन को शान्त कर दिया।"

पाठकगण? क्या आप इस कथाका मर्म समझे !! जिस भगवान् कृष्णने रणसे भयभीत हुवे अर्जुनको सहस्रों सम्बन्धियों को मार डालने के लिए बाध्य किया था, वे ही कृष्ण आज अर्जुन को अहिंसा का उपदेश देकर उसकी प्रतिज्ञा को भंग करवाते हैं।

इस का एक मात्र उद्देश्य यही था कि उस समय एक ओर आत्महनन था और एक ओर सत्य का हनन। एक ओर अर्जुन अपनी शक्ति का संहार कर रहा था और दूसरी ओर भगवान् उससे सत्य का संहार कराना चाहते थे। कृष्ण चन्द्र जैसे योगी थे वैसे ही राजनीति में भी निपुण थे। उन्होंने इस बात को भली भाँति समझा कि सत्यसे अहिंसा बढकर है और इस कारण यदि अहिंसा के लिए सत्यका बलिदान देना पडे तो सहर्ष दो।

इसी सिद्धान्तकी पुष्टि वेद भगवान् करते हैं—
असुर्या नाम ते लोका ... ...
... ...आत्महनो जनाः। यजुः ४०

अर्थात् अपना, या अपनी समाजका हनन करने वाला व्यक्ति घोर नर्क की रौरव यातना भोगता है।

भगवान् पतञ्जली मुनि भी अहिंसा को सत्यसे श्रेष्ठ बतलाते हैं—

अहिंसासत्याऽस्तेय ब्रह्मचर्य ... ...।
यो. द. २. ३०.

भारतवासियोंके इतिहास को जिन्होंने पढा है उन्हें ज्ञात है कि भारत का अहित इसी सत्य-अहिंसा के वास्तविक भेद को न जानने से ही हुआ है। भारत वासी अपना अहित कर सकता है, अपनी समाज और राष्ट्रका सर्वनाश कर सकता हैं पर सत्य से वञ्चित नहीं हो सकता। परन्तु खेद इस बातका है अभीतक इन्हें यह भी ज्ञात नहीं कि वास्तविक रूपमें सत्य क्या वस्तु है और सत्यका अन्य नियमों से क्या सम्बन्ध है।

सत्य बोलना और सत्य व्यवहार रखना चाहिये। इसमें सन्देह नहीं। पर यदि सत्य के लिए अहिंसा को छोडना पडे तो वह सत्य सत्य भी नहीं कहा जा सकता। अहिंसा की महिमा सत्य से कहीं बढकर है। इसी कारण वेद कहता है कि "दिल और दीमाग की एकता से ही धर्म जाना जा सकता है।" धर्म न केवल बातों में है, न केवल कर्ममें है और न केवल सिद्धांतों में है। धर्म का वास्तविक अर्थ ज्ञान और कर्म से ही जाना जा सकता है। अर्थात् सत्य वही है जो सफलता का साधन हो और उसी सत्य को तप कहते हैं।

लोगोंका विचार कुछ और ही है। मन और वचन की एकतासे चाहे हमारे गुप्त भेद दुश्मनोंको प्रकट हो जायँ, चाहे हमारी समाज का या हमारे धर्म का ही सर्वनाश हो जाय, चाहे हमें सफलता मिले या न मिले; परन्तु हमारा सत्य वही होगा जो मन के अनुकूल हो। यह बात ठीक भी है। मैं इस सिद्धांत का खंडन नहीं करता। किन्तु मेरा निवेदन यह है कि जहां अहिंसा और सत्य दोनों सम्मुख हों, जहां एक की रक्षा दूसरे की बलिदान माँगती हो, वहाँ क्या किया जाय। हमारे मतमें ऐसे समय में अहिंसा सत्य से कहीं बढकर है। और हमें उस की रक्षा करना चाहिये।

यह लेख तपशीर्षक है। अतः लोग यह पूछ सकते हैं कि कौनसा सत्य तप कहा जा सकता है। हमारी सम्मति में मन और कर्म की एकता करना ही सच्चा सत्य है, यही तप है और यही सफलता का सहायक भी है।

अगले भाग में हम तप के अन्य अंगों पर विचार करेंगे।

संग्रह करनेके लाभ ।

कई मनुष्य कहते हैं कि, हम कलामें प्रवीण नहीं हो सकते; वास्तविक बात यह है कि, हरएक मनुष्य किसी न किसी कलामें निपुण हो सकता है । परंतु मान लें कि कई नहीं हो सकते । ऐसे मनुष्य क्या करें ? यह प्रश्न यहां हो सकता है । इसके उत्तर में निवेदन है कि, क्या ये मनुष्य विशेष पदार्थों का संग्रह भी नहीं कर सकते ? मेरा एक मित्र है, वह आज तीस वर्षोंसे " शंखों का संग्रह " कर रहा है, इस समय सैंकडों की संख्यामें उसके पास विभिन्न जातीके शंख हैं। राई के आकार से लेकर बालक के सिर के समान बडे भी शंख उसके पास हैं । उनका निरीक्षण करते करते ॐकार के आकार का महत्त्व और ध्वनि की उत्पत्तिका तत्त्व उसके ध्यान में आ गया है और अब उनका शंखोंका संग्रह देखनेके लिये स्थान स्थान के लोग आते हैं । इसी प्रकार मेरा दूसरा मित्र भिन्न वनस्पतियोंके पत्तोंका संग्रह करता है, २० । २५ वर्ष पत्तोंका निरीक्षण करने से उसके ध्यानमें पत्तोंकी इडा और पिंगला नाडीका तत्त्व आगया है । तीसरा मेरा मित्र है कि, जो कृमि कीटोंका संग्रह करता है, सहस्रों कृमिकीट उसके पास मौजूद हैं। चौथा मेरा परिचित सज्जन है, वह फूलोंका संग्रह करता है, इससे उसको फूलों में " पुरुष फुल और स्त्रीफूल " होनेका पता लगा है। एक मेरा मित्र था, वह छोटे कंकर ही इकट्ठे करता था । १०।१५ वर्षोंमें इतने प्रकार के कंकर इकठे किये थे कि, वह घंटोंतक उनका व्याख्यान कर सकता था । इसी प्रकार कई और मेरे मित्र हैं कि जो प्राचीन ग्रंथोंके ढूंढने में लगे हैं; हर एकने ऐसे अमूल्य ग्रंथ सहस्रों की संख्यामें इकट्ठे किये हैं । ये सब महाराष्ट्रीय लोग हैं और इनके संग्रह हरएक देख सकता है । इस प्रकारके संग्रहोंके कारण भी बडा लाभ होता है, और संग्रह करने वालेको भी धन अथवा यश अवश्य मिलता ही है ।

खेलने कूदनेमें प्रवीणता ।

मान लीजिये कि आपसे कलामें प्रवीणता नहीं हो सकती और वस्तुसंग्रह भी नहीं हो सकता; तथापि आप हताश और उत्साहहीन न हूजिये । खेलने कूदने में, तैरने में, कुश्ती अथवा इसी प्रकार के व्यवसायोंमें,कुछ भी नहीं तो चलने और दौडनेमें भी तो आप प्रवीण हो सकते हैं । इसमें प्रवीणता प्राप्त होनेपर भी जगत्‌में सन्मान होता है। इसीऔंध ग्राममें एक मनुष्य है, जिसका वेतन १० । १२ रु. से अधिक नहीं है; उसने " दौडने और चलने में ऐसी प्रगति की है कि, उसके समान वेगसे दौडने और चलने वाला इस समय कोई भी नहीं है। इस कारण उसको चारों ओरसे इनाम और चांद मिल रहे हैं ।

तात्पर्य यह कि प्रत्येक मनुष्य किसी न किसी अच्छे व्यवसायमें प्रवीण हो सकता है और प्रवीण होनेसे उसको यश और धन भी प्राप्त हो सकता है। आत्मोन्नतिके लिये प्रवीणता की अत्यंत आवश्यकता है । इसलिये अपनी फुरसतके समय आप किसी न किसी अच्छे उपयोगी व्यवसायमें प्रवीण, कुशल और यशस्वी बननेका प्रयत्न कीजिये । इससे आपको आत्मविश्वास प्राप्त होगा, यश और धन मिलेगा, मनकी चंचलता दूर होकर उसी कार्यमें मन एकाग्र होगा और इसी एकाग्रता की सिद्धीके पश्चात् आप चाहे योगमें अपनी प्रगति कर सकते हैं ।

यह न समझिये कि चित्तकी एकाग्रता के साथ इन का कोई संबंध नहीं है । इसी लेख मालामें आगे बताया जायगा कि योग के साथ कलानैपुण्य

का कैसा संबंध है। यदि चित्तकी एकाग्रताका योग से संबंध है, तो कलानैपुण्यका भी योगसे संबंध अवश्य है।

साधनोंका अच्छा उपयोग।

आपके पास समय, स्थान और अन्य जो साधन हैं, उनका यदि आप उत्तम उपयोग करेंगे, तो आप किसी न किसी उत्तम व्यवसायमें नैपुण्य प्राप्त करके अपना और जातिका नाम प्रसिद्ध कर सकते हैं। देखिये सबसे पहिले आप अपने सब समयका उत्तमसे उत्तम उपयोग कर रहे हैं वा नहीं? यदि नहीं, तो कीजिये। पश्चात् अपने पास जो स्थान है, उसका उत्तम उपयोग हो रहा है वा नहीं? आपके कमरेमें कोई आ जाय तो उसका चित्त प्रसन्न होगा, अथवा वहां की अव्यवस्था देखकर उसको घृणा होगी; इस विषयमें सोचिये। पश्चात् जितने साधन आपके पास हैं, उनसे आप अपनी उन्नति कर रहे हैं, वा अवनतिके मार्ग में जा रहे हैं? इसका विचार कीजिये।

"क्रतुमयोऽयं पुरुषः" यह मनुष्य कर्मरूप है। जैसा करता है, वैसा ही बनता है। इसलिये "आप भी वैसे ही हैं कि, जैसा आपने अपने आपको बनाया है।" यह वैदिक धर्म का अटल सिद्धांत है।

कई पुकारते रहते हैं कि, हमारे पास उन्नतिके साधन नहीं हैं। परंतु देखा जाय, तो पता लगेगा कि, वे प्राप्त साधनोंका उपयोग ही योग्य रीतिसे नहीं करते। परमात्माकी इस दुनियामें साधनोंकी न्यूनता नहीं है; प्रत्युत "योजक मनुष्य की ही यहां न्यूनता है।" यही अवनतिका कारण है।

बहुत लोग कहते हैं कि पर्याप्त अन्न नहीं मिलता। परंतु देखा जाय तो उनका धन ऐसे व्यर्थ पदार्थोंमें खर्च होता है कि, यदि वे खर्च न किये जांय, तो खानेके लिये उनको पर्याप्त मिल सकता है। परंतु फुजूल खर्च बढाते हैं और योग्य स्थानमें खर्च नहीं करते और फिर रोते रहते हैं कि, खानेको नहीं मिलता। प्रत्येक स्थानपर अव्यवस्थासे हानि और सुव्यवस्थासे लाभ होते हैं। इसलिये आप न केवल अपने धन का बहीखाता बनाइये, परंतु अपने समयका तथा अन्य पदार्थोंका भी अलग अलग वहीखाता रखिये। उसका विचार कीजिये और पता लगाइये कि, किसमें किस प्रकार बचत हो सकती है।

कहते हैं कि, शादीमें खर्च बहुत हुआ, उसका कर्जा दससाल होनेपर भी दिया नहीं गया। परंतु वैदिक धर्मके अनुसार शादी की जाय तो दसपांच रु. के अंदर ही सब खर्च होगा। फिर आप अवैदिक रीतियोंमें व्यर्थ खर्च पहिले करते क्यों और पीछे रोते क्यों हैं? इसी प्रकार अन्यत्र हो रहा है। इस लिये सबका अलग अलग हिसाब रखना और सबके विषयमें ठीक सोचकर व्यवहार करनेका अभ्यास बढाना आवश्यक है।

खानेपीनेकी योग्य चीजें सस्ती ही हैं। व्यर्थ कितने पदार्थ खाये जाते हैं, जिनमें पैसा भी खर्च होता है और जिनसे रोग भी बढते हैं। दाल, रोटी और साक का खर्चा बहुत नहीं होता, परंतु तेवारोंके दिनोंमें मिठाइयां, प्रतिदिन के चा, काफी, सिगरट आदि हानिकारक पदार्थों में कितना खर्च होता है। अकेले बंबई शहरमें प्रतिदिन तमाखू पीनेमें एक लाख रु. खर्च होता है, चा कापी की तो कोई हद ही नहीं है। क्या यह पैसेका अपव्यय नहीं है? इस लिये खानपान के पदार्थोंका पूर्ण विचार करके जो अत्यावश्यक है, उतनाही लिजिये। ऐसा करनेसे जिह्वाकाभी संयम होगा और आरोग्य भी बढेगा।

खानेपीनेके पश्चात् कपडोलत्तोंमें व्यर्थ खर्च होता है। वेद कहता है कि अपना कपडा स्वयं बनाओ। इस विषयमें "वेदमें चरखा" पुस्तक देखिये। अपना कपडा स्वयं बनायेंगे, तो कोई विशेष खर्चा ही नहीं होगा और अच्छा कपडा घरमें तैयार मिलेगा। अपना पैसा बचेगा और देशभी दरिद्री नहीं होगा। यहां भी वेदके उपदेश का पालन नहीं होता, इसलिये कष्ट होते है। इसलिये निश्चय कीजिये और हाथका खद्दर ही पहनीये। अस्तु। इस प्रकार अपने साधनोंका विचार कीजिये।

अपना काम धंदा।

उक्त प्रकार साधनोंका योग्य विचार करनेके पश्चात् अपने काम धंदामें बडी तत्परता के साथ कार्य कीजिये। यदि आप अपना कार्य करते होंगे, तो जैसी तत्परता बतायेंगे उससेभी अधिक तत्परता दूसरेका कार्य करने के समय बतायेंगे, तो आपके लिये अधिक लाभ होगा। प्रायः लोग नौकरी करनेके समय उतनी तत्परता नहीं बताते, जितनी अपने कार्य में बताते हैं; परंतु यह ठीक नहीं है। यद्यपि नौकरी शूद्र का पेशा है, तथापि आपत्कालमें हरएक वर्णका मनुष्य करताही है। इसमें कुशलता, व्यवस्था और नेकी बतानेसे निःसंदेह अधिक लाभ होता है; इसके अतिरिक्त बेइमानी करनेसे जो अधार्मिक भाव मनमें उत्पन्न होते हैं वे गिराते हैं, इसलिये नौकरपेशा लोगोंकोभी- " आत्मोद्धार " करना है, तो बेइमानी कभी नहीं करनी चाहिये।

आत्मोद्धारकी यही कूंजी है। वैतनिक सेवकों के लिये इमानदारी और अवैतनिक सेवकों के लिये अपने कर्तव्य पूर्ण रीतिसे करनेका भाव सदा धारण करना चाहिये। अन्यथा " आत्मोद्धार " की आशा करना व्यर्थ है।

जो कार्य आप कर रहे हैं, उसके परिपूर्ण साधन इकठ्ठे करनेसे आप निर्विघ्नता के साथ वह कार्य कर सकेंगे। हमारा एक रसोइया था, वह साक पकाने लगा, तब उसके ध्यानमें आया कि नमक नहीं है। इस प्रकारकी नौकरी न कीजिये। जिस किसी स्थानमें रहते हुए आप कार्य कर रहे हैं, वहां पूर्ण धर्म भाव से कार्य कीजिये, फिर जो कोई कार्य आप करेंगे, उसीसे आपकी " आत्मोन्नति " होगी। यही आत्मोन्नतिका मूल मंत्र है।

व्यायाम और विश्राम।

व्यायाम के विषयमें पहिले कहा ही है। वैयक्तिक उद्धार के लिये व्यायामकी अत्यंत आवश्यकता है। परंतु कई लोग ऐसे धुंदमें रहते हैं कि जो वैयक्तिक अथवा सामाजिक कार्य करते करते अपने व्यायाम करनेको ही भूलते हैं। यह इतनी बडी गलती है कि इससे अधिक गलती नहीं हो सकती। यदिआप सामाजिक, राष्ट्रीय अथवा धार्मिक भी कार्य करते हों, तो आपका जीवन रहने के पश्चात् ही आपसे वे कार्य हो सकते हैं। इसलिये आपके स्वास्थ्य रक्षण करने की अत्यंत आवश्यकता है और स्वास्थ्य के लिये व्यायामकी आवश्यकता हैं। व्यायाम शुद्ध वायुमें करना चाहिये। इस उत्तम व्यायाम के लिये " योग के आसन " सबसे उत्तम हैं। व्यायाम भी होता है और " हृदयको विश्राम " भी मिलता है।

साथ साथ फेंफडों के व्यायाम के लिये " प्राणायाम " भी प्रतिदिन कीजिये। कोई कार्य करनेके पूर्व यदि आप एक दो प्राणायाम करेंगे, तो आपको आनंद के साथ वह कार्य उत्साहके साथ करनेकी शक्ति प्राप्त होगी। ऐसे समयमें बहुत कुंभक करने की आवश्यकता नहीं है।

व्यायाम अपनी शक्ति के अनुसार ही करना चाहिये, अधिक करनें से नुकसान है। व्यायाम के समान ही विश्राम की बडी आवश्यकता होती है। विश्राम के लिये परमात्माने निद्रा उत्पन्न की है।

निद्रामें ब्राह्मी स्थिति।

निद्रामें ब्राह्मी स्थिति होती है। उस समय अपना आत्मा परमात्मामें मग्न होता है। इसी प्रकार समाधि और मुक्तिमें भी होता है। "समाधि-सुषुप्ति-मुक्तिषु ब्रह्मरूपता।" इन तीनों अवस्थाओंमें ब्रह्मरूपता होती है। इसीका नाम पूर्ण विश्रांति है। परमात्मा की यही अतुल दया है कि, वह प्रत्येक प्राणीको निद्रा देकर उत्तम विश्राम देता है। मनुष्य प्रयत्न करके चित्तकी एकाग्रता करके समाधि सिद्ध कर सकता है और मुक्ति इसका श्रेष्ठ पुरुषार्थ है ही। यही " आत्मोद्धार" की परम सीमा है। हरएक को यहां तक जाना आवश्य ही है।

प्रत्येक मनुष्य मुक्ति के मार्ग में है। उसको मुक्ति और समाधि प्राप्त हो या न हो; जो निद्रा है अवश्य प्राप्त होती है और इस निद्रासे सब श्रम दूर हो जाते हैं और नवीन उत्साह प्राप्त होता है। इसलिये हरएक मनुष्य प्रतिदिन नियत समयमें अवश्य निद्रा लेनेका नियम रखे। सर्व साधारण मनुष्यों को ६।७

घंटे निद्रा आवश्यक है, परंतु बिलकुल गाढ निद्रा पांच घंटे भी पर्याप्त है । जो योग साधन बहुत करते हैं, उनका चित्त एकाग्र होनेके कारण उनको अत्यल्प निद्रासेभी पर्याप्त विश्राम मिल सकता है । इसलिये अपनी अवस्था के अनुकूल हरएक को इस विषयमें अपना योग्य नियम बनाना चाहिये ।

आप विचार करेंगे, तो आपको पता लग जायगा कि, दिन कार्य करनेके लिये और रात्री विश्राम के लिये है । दो दिनोंके बीचमें एक रात्री है, अर्थात् दो कर्मोंके बीचमें विश्राम अवश्य लेना चाहिये । एक दिनका कार्य पूर्ण करके दूसरे दिनका कार्य प्रारंभ करनेके पूर्व पांच छः घंटेका विश्राम लेनेका सर्व साधारण नियम है । एक कार्य समाप्त करनेके पश्चात् दुसरा कार्य प्रारंभ करनेके पूर्व थोडासा विश्राम के लिये समय अवश्य रखना चाहिये । विशेषतः यह विश्राम पूर्व आयुमें अधिक आवश्यक है । विद्यालयोंमें शिक्षाका समय विभाग इस नियमके अनुसार होना अत्यंत आवश्यक है । अन्य काम-धंदोंमें अपना सुविधाके अनुसार विश्राम का समय नियत रख सकते हैं । नियत समय विश्राम लेनेके पश्चात् कार्य करनेका उत्साह बढता है । यहां इस बातकी सूचना देता हूं कि, समय बचानेके लिये विश्राममें न्यूनता नहीं करनी चाहिये । जो लोग विना विश्रामके और विना निद्राके सप्ताह के सप्ताह कार्य करते जाते हैं, वे आगे बीमार होते हैं । इसलिये पहिले ही सावध रहना अच्छा है ।

मनोरंजन ।

" मनोरंजन " का तात्पर्य " दिलबहावा " है । मनुष्य सदाके लिये उग्र और गंभीर रहना कठिन है, और यदि वैसा रहा, तो अपवाद ही समझना चाहिये । हंसना और खेल कूद, दिलबहावा और मनोरंजन उसकी उन्नतिके लिये आवश्यक है । परंतु यह सदा परिमित रखना चाहिये और कदापि इस विषयमें अतिरेक नहीं होना चाहिये । मन एक ही कार्य करते करते थक जाता है, इसलिये मनोरंजन के द्वारा अल्प समय उसको दूसरा हलका कार्य देकर, नवीन उत्साह उसमें भर देना होता है । इस लिये अपने समय विभाग में इसको थोडासा समय रखना चाहिये ।

महोत्सव, तेहवार, यात्रा, जलसे, हरिकथा, भजन, नाटक, संगीत, आदि के द्वारा मनोरंजन होकर बोध भी मिलता है । यज्ञ जैसे बडे वैदिक कर्म में भी " माया-प्रयोग " अर्थात् हातचलाखीके जादुके प्रयोग किये जाते हैं । (देखिये शतपथ ब्राह्मण) इसका हेतु मनोरंजन का ही है । वेद और उपनिषद् के गंभीर विषय सोचते सोचते मन थक गया, तो इतिहास पुराणके हास्य पूर्ण प्रसंगोंसे मनोरंजन होना संभव है । इसप्रकार यह मनोरंजन आवश्यक है, परंतु इसका अतिरेक न हो ।

भक्ति और शांति ।

इसके पश्चात् प्रतिदिन " ईश्वरभक्ति और शांति " के लिये भी समय देना आवश्यक है । " आत्मोद्धार " के लिये इन दो बातों की अत्यंत आवश्यकता है । ईशभक्ति के लिये सबसे उत्तम समय प्रातः पांच बजेसे सात बजे तक का है, सायं-काल का भी पांचसे सात का समय बडा लाभकारी है । बडे प्रेमसे इस समय अपना हृदय परमात्मा के सामने खोलना चाहिये और उसके अंदर अपने आपको मग्न करना चाहिये । इतनाही इस लेखमें लिखना यहां पर्याप्त है ।

इसके अतिरिक्त मनको शांत और निर्विषय करनेके लिये भी दिनमें थोडा समय रखीये । इस समयमें मनसे संपूर्ण विचार दूर करनेका यत्न करना चाहिये और उसको विचाररहित अवस्थामें लानेका यत्न करना चाहिये । इससे मनमें अपूर्व शांति बढ जाती है । इस समय शरीरको भी अत्यंत ढीला बनाना आवश्यक है । जितना शरीर ढीला बनेगा उतना मन भी शांत होता जायगा ।

इस प्रकार "आत्मोद्धार " के विषय में मुख्य बातों का विचार किया गया है । इस विषयमें पाठक अधिक सोचकर योग्य सुधारणा करके अपनी आत्मोन्नति कर सकते हैं ।

151395

एक पूजनीय ईश्वर।

२

[ऋषिः— मातृनामा । देवता—गंधर्वाप्सरसः]

दिव्यो गन्धर्वो भुवनस्य यस्पतिरेक एव नमस्यो विक्ष्वीड्यः ।
तं त्वा यौमि ब्रह्मणा दिव्य देव नमस्ते अस्तु दिवि ते सधस्थम् ॥ १ ॥
दिवि स्पृष्टो यजतः सूर्यत्वगवयाता हरसो दैव्यस्य ।
मृडाद्गन्धर्वो भुवनस्य यस्पतिरेक एव नमस्यः सुशेवाः ॥ २ ॥
अनवद्याभिः समु जग्म आभिरप्सरास्वपि गन्धर्व आसीत् ।
समुद्र आसां सदनं म आहुर्यतः सद्य आ च परा च यन्ति ॥ ३ ॥
अभ्रिये दिद्युन्नक्षत्रिये या विश्वावसुं गन्धर्वं सचध्वे ।
ताभ्यो वो देवीर्नम इत्कृणोमि ॥ ४ ॥
याः क्लन्दास्तमिषीचयोऽक्षकामा मनोमुहः ।
ताभ्यो गन्धर्वपत्नीभ्योऽप्सराभ्योऽकरं नमः ॥ ५ ॥

अर्थ- (यः दिव्यः गन्धर्वः) जो दिव्य पृथिव्यादिका धारक देव (भुवनस्य एक एव पतिः) भुवनोंका एकही स्वामी (विक्षु नमस्यः ईड्यः च) जगत्में यही एक नमस्कार करने और स्तुति करने योग्य है । हे (दिव्य देव) दिव्य अद्भुत ईश्वर! (तं त्वा) उस तुझसे (ब्रह्मणा यौमि) उपासना द्वारा मिलता हूं । (ते नमः अस्तु) तेरे लिये नमस्कार हो । (ते सध-स्थं दिवि) तेरा स्थान द्युलोकमें है ॥ १ ॥ (भुवनस्य एकः एव पतिः) भुवनोंका एकही स्वामी यह (गन्धर्वः) भूमि आदिकोंका धारण कर्ता (नमस्यः सुशेवाः) नमन करने और सेवा करने योग्य है, वहही (मृडात्) सबको आनंद देवे । यही दिव्य देव (दिवि स्पृष्टः) द्युलोकमें प्राप्त होता है, (यजतः) पूज्य है और (सूर्य-त्वक्) सूर्य ही जिसकी त्वचा है अर्थात्

सूर्यके अंदर भी व्यापने वाला, तथा (दैव्यस्य हरसः) दैवी आपत्तिको (अवयाता) दूर करनेवाला है। इसी लिये सबको वह पूजनीय है ॥ २ ॥ (अन-अवद्याभिः आभिः) दोष रहित ऐसे इन प्राणशक्तियोंके साथ वह (उ सं जग्मे) निश्चयसे मिला रहता है और (अप्सरासु अपि) इन प्राणशक्तियोंमें भी (गन्धर्वः आसीत्) भूमि आदिकोंका धारक देव विद्यमान है। (आसां स्थानं समुद्रे) इनका स्थान अन्तरिक्षमें है, (यतः) जहांसे (सद्यः) शीघ्र ही ये (आ यन्ति) आती हैं और (परा यन्ति च) परे जाती हैं। यह बात (मे आहुः) मुझे बतायी है ॥ ३ ॥ (अभ्रिये दिद्युत) बादलोंकी विद्युत में अथवा (नक्षत्रिये) नक्षत्रोंके प्रकाशमेंभी (याः) जो तुम (विश्वा-वसुं गन्धर्वं) विश्वके वसानेवाले धारक देव को (सचध्वे) प्राप्त करती हो अथवा उसकी सेवा करती हो, इसलिये हे (देवीः) देवियो! (ताभ्यः वः) उन तुमको (इत् नमः कृणोमि) निश्चय पूर्वक मैं नमन करता हूं ॥ ४ ॥ (याः क्रन्दाः) जो बुलानेवाली या प्रेरणा करनेवाली, (तमिषी-चयः) ग्लानिको हटानेवाली, (अक्ष-कामाः) आंखोंकी कामना तृप्त करनेवाली, (मनो-मुहः) मनको हिलानेवाली हैं (ताभ्यः गन्धर्व-पत्नीभ्यः अप्सराभ्यः) उन गंधर्वपत्नीरूप अप्सराओंको-अर्थात् सर्व धारक आत्माकी प्राणशक्तियोंको (नमः अकरम्) मैं नमस्कार करता हूं ॥ ५ ॥

भावार्थ—पृथ्वी सूर्य चन्द्र नक्षत्र आदि संपूर्ण जगत् का धारण करनेवाला और संपूर्ण जगत् का एकही अद्वितीय स्वामी परमेश्वर ही है और वही सब लोगोंको पूजा और उपासना करने योग्य है। स्तुति प्रार्थना उपासनासे अर्थात् भक्तिसे उसकी प्राप्ति होती है। यह ईश्वर अपने स्वर्गधाममें है, उसीको सब लोग नमस्कार करें ॥ १ ॥ संपूर्ण जगत का एक स्वामी और सब जगत्का धारण और पोषण कर्ता परमेश्वर ही सब लोगोंको नमस्कार करने और उपासना करने योग्य है, उसी की भक्ति और सेवा सबको करना चाहिये, क्यों कि वही सबको सच्चा आनंद देनेवाला है। यही दिव्य अद्भुत देव स्वर्गधाममें प्राप्त होता है। सबसे अत्यंत पूजनीय ऐसा यही एक देव है, यह सबमें रहता है, यहां तक कि यह सूर्यके अंदर भी है, जब इसकी प्राप्ति होती है तब सब साधारण और असाधारण आपत्तियां हटजाती हैं ॥ २ ॥ इसके साथ जीवनकी

अनंत कलाएं हैं, इतना ही नहीं परंतु वह उन जीवन शक्तियोंके अंदर भी है। इन सबका निवास मध्यलोक—अंतरिक्ष—है, जहांसे ये सब शक्तियां प्रकट होती हैं और जहां फिर गुप्त हो जाती हैं ॥ ३ ॥ बादलोंके अंदर चमकने वाली विद्युत्में क्या और नक्षत्रोंके प्रकाशमें क्या यह सब जगत्का पालन कर्ता एक रस भरा है, और इसीकी सेवा संपूर्ण जीवनकी शक्तिरूप देवियां कर रही हैं, इस लिये उनको भी नमन करना योग्य है ॥ ४ ॥ ये प्राणशक्तियां सबको प्रेरणा करनेवाली, सबको चलानेवाली, थकावटको दूर करनेवाली, आंखोंकी कामना तृप्त करनेवाली और मनको हिलानेवाली हैं। यही आत्माकी शक्तियें हैं, इस दृष्टिसे मैं इनको नमस्कार करता हूं [अर्थात् वह इनको किया हुआ मेरा नमस्कार भी उस अद्वितीय ईश्वरको ही पहुंचेगा, क्योंकि ये शक्तियां उसीके आधारसे रहती हैं।] ॥५॥

पूर्व सम्बन्ध।

प्रथम सूक्तमें "गुह्य अध्यात्मविद्या" का वर्णन किया गया है, उस सूक्तमें जिस परमात्म देवका वर्णन किया गया है, उसीका वर्णन यहां "गंधर्व" शब्द से किया गया है। उस प्रथम सूक्तके द्वितीय मंत्रमें भी "गंधर्व" शब्द है, इससे पूर्व सूक्तका इस सूक्तके साथ संबंध स्पष्ट हो जाता है।

गन्धर्व और अप्सरा।

"गंधर्व" शब्दका अर्थ पूर्व सूक्तके स्पष्टीकरणके प्रसंगमें किया ही है। (गां+धर्वः) अर्थात् (गां) भूमि, सूर्य, वाणी, इंद्रियां, अंतःकरण—शक्तियां आदिकों का (धर्वः) धारण पोषण करनेवाला आत्मा यह इसका अर्थ है। भूमि, सूर्य तथा अन्यान्य चराचर स्थूल सूक्ष्म सब पदार्थोंका धारण पोषण करनेके कारण परमात्माका यह नाम है। उसी प्रकार लघु कार्य क्षेत्रमें शरीरके अंदर वाणी प्राणशक्ति इंद्रियशक्ति आदिकोंका तथा स्थूलसूक्ष्मादि देहोंका धारण करनेके कारण जीवात्मा का भी यही नाम है। इस सूक्तमें मुख्यतया परमात्माका वर्णन है, परंतु अल्प अंश से यह वर्णन अर्थका संक्षेप करनेसे जीवात्मामें भी घटाया जा सकता है। यह गंधर्वका रूप पाठक ठीक प्रकार स्मरणमें रखें। "गंधर्व" शब्द के अन्य अर्थ प्रथम सूक्तमें पाठक देखें।

गंधर्वपत्नीभ्यः अप्सराभ्यः ॥ (मंत्र ५)

गंधर्वकी पत्नी ही अप्सराएं हैं। गंधर्व एक है परंतु उसकी अप्सराएं अनेक हैं।

(अप् + सरस्) अर्थात् (अप्) जलके आश्रयसे (सरस्) चलनेवाली, यह नाम जलाश्रित प्राणका वाचक है। " आपोमयः प्राणः " — जलमय अथवा जलके आश्रयसे प्राण रहता है, यह उपनिषदोंका कथन है और वही बात इस शब्दमें है, इसलिये "अप्सराः" शब्द प्राण शक्तियोंका वाचक वेदमें है, श्वास और उच्छ्वास अर्थात् प्राण आयुष्यरूपी वस्त्रके ताने और बानेके धागे बुन रहे हैं ऐसा भी वेदमें अन्यत्र वर्णन है—

यमेन ततं परिधिं वयन्तोऽप्सरस उप सेदुर्वसिष्ठाः।

ऋग्वेद ७।३३।९

" (अप्सरसः वसिष्ठाः) जलाश्रित प्राण (यमेन ततं) यमने फैलाई हुई (परिधिं) तानेकी मर्यादा तक (वयन्तः) आयुष्यरूपी कपडा बुनते हैं।

" यम " = आयुष्यका ताना फैलानेवाला जुलाहा।
" ताना " = आयुष्यकी अवधि, आयुष्यमर्यादा।
" प्राण " = कपडा बुननेवाले जुलाहे।
" कपडा " = आयुष्य।

" मनुष्यका आयुष्य एक कपडा है जो मनुष्य देह रूपी खुंटीपर बुना जाता है, यहां बुननेवाले प्राण हैं। यहां " अप्सरस्" शब्द और "वसिष्ठ" ये दो शब्द प्राण-वाचक आये हैं। (अप्सरस्) जलाश्रयसे रहनेवाले (वसिष्ठ) निवासके हेतु प्राण हैं।

इससे भी अनुमान हो सकता है, कि जलतत्त्वके आधार से रहनेवाला प्राण जो कि आत्माकी धर्मपत्नी रूप है ऐसा यहां कहा है, वह प्राणशक्ति, जीवन की कला ही निःसंदेह है। गंधर्व यदि आत्मा है तो उसकी धर्मपत्नी अप्सरा निःसंशय प्राणशक्ति अथवा जीवन शक्ति ही है। आत्मा और शक्ति ये दो शब्द यहांके "गंधर्व और अप्सराः" के वाचक उत्तम रीतिसे माने जा सकते हैं। शरीर में छोटा प्राण और जगत् में विश्वव्यापक प्राण है, इस कारण गंधर्वका अर्थ आत्मा परमात्मा माननेपर दोनों स्थानोंमें अर्थकी संगति हो सकती है।

महान् गन्धर्व।

इस सूक्त में पहिले दो मंत्र बडे महान् गंधर्वका प्रेमपूर्ण वर्णन कर रहे हैं, यह वर्णन देखने से निश्चय होता है कि, यहां गंधर्व शब्द परमात्माका वाचक है। देखिये—

१ भुवनस्य एक एव पतिः— भुवनोंका एकही स्वामी। इसके सिवाय और कोई भी जगत् का पति नहीं है। यही परमेश्वर सबका एक प्रभु है। (मं. १,२)

२ एक एव नमस्यः— यही एक अद्वितीय परमात्मा सब को नमस्कार करने योग्य है । इसके स्थानपर किसी भी अन्य की उपासना नहीं करनी चाहिये । (मं. १,२)

३ दिव्यः गंधर्वः— यही अद्भुत है, दिव्य पदार्थ है, यहां मनकी गति कुंठित हो जाती है, और यही (गां) भूमि से लेकर संपूर्ण जगत् का सच्चा (धर्त्रः) धारक पोषक है । (मं. १)

४ विक्षु ईड्यः— सब जगत् में यही प्रशंसाके योग्य है ।

५ दिवि ते सधस्थं— स्वर्गधाम में, गुह्यधाममें, अथवा तृतीय धाममें उसका स्थान है (मं. १) । [इस विषयमें प्रथम सूक्तके मंत्र १,२ देखें, जिसमें इसके गुहामें निवास होनेका वर्णन है ।]

६ दिवि स्पृष्टः— इसका स्पर्श अर्थात् इसकी प्राप्ति पूर्वोक्त तृतीय गुह्य स्थानमें ही होती है । यह भी पूर्वोक्त शब्दोंका ही स्पष्टीकरण है । (मं. २)

७ सूर्यत्वक्— महान् सहस्ररश्मी सूर्य भगवान् ही इसका देह है, अर्थात् यह उस में भी है इतनाही नहीं, परंतु उसका बडा तेज भी इसीसे प्राप्त हुआ है । यह इसकी महिमा है (मं. २) । इसी प्रकार अन्यान्य पदार्थोंमें इसकी सत्ता देखनी चाहिये । यह शब्द एक उपलक्षण मात्र है ।

८ विश्वा-वसुः (गंधर्वः)— विश्वका यही निवासक है । (मं. ४)

ये लक्षण स्पष्ट कर रहे हैं कि यहांका यह गंधर्वका वर्णन निःसंदेह परमात्मा का वर्णन है । किसीभी अन्य पदार्थ में ये सब अर्थ पूर्णरूपसे सार्थ नहीं हो सकते । इसलिये पाठक इन लक्षणों का मनन करके अपने मनमें इस परमात्म देव की भक्ति स्थिर करें, क्योंकि यही एक सबके लिये पूजनीय देव है ।

ब्रह्मकी ब्राह्म उपासना ।

इस परमात्माकी प्राप्ति इसकी उपासनासे होती है । इस सूक्तमें इसकी "ब्राह्म उपासना" करनेका विधान बडा महत्त्वपूर्ण है ।

१ तं त्वा यौमि ब्रह्मणा । (मं. १)
२ नमस्यः । (मं. १,२) नमस्ते अस्तु । (मं. १)
३ विक्षु ईड्यः । (मं. १)
४ सुशेवाः । (मं. २)

ये चार मंत्र भाग इसकी ब्राह्म उपासना करने के मार्ग की सूचना दे रहे हैं । ब्राह्म उपासना का अर्थ "ब्रह्मयज्ञ" अथवा मन द्वारा करने की "मानस उपासना" ही

है। आत्मा बुद्धि चित्त मन आदि अंतःसाधनोंसे ही यह परमात्म पूजा होती है, इन शक्तियोंका नामही शरीर में ब्रह्म है। ब्रह्म शब्दका अर्थ मंत्रभी है और मंत्रका आशय "मनन" है। मननसे यह उपासना करनी होती है, मनके मनन से ही यह हो सकती है, किसी अन्य रीति से यह नहीं होती है, यह स्पष्टतया बतानेके लिये यहां "ब्रह्मणा" शब्द इस मंत्र में प्रयुक्त हुआ है। यह बात ध्यान में धारण करके उक्त चार मंत्र भागों का अर्थ ऐसा होता है-

१ **तं त्वा यौमि ब्रह्मणा**--उस तुझ परमात्माको मननसे प्राप्त होता हूं। [मनन]

२ **नमस्यः (नमस्ते)**—तू ही एक नमस्कार करने योग्य है। [नमन]

३ **विक्षु ईड्यः**-सब जगत्में तू ही प्रसंसा करनेके लिये योग्य है। [सर्वत्र दर्शन]

४ **सु-शेवाः**—तूही उत्तम सेवाके लिये योग्य है। [सेवन]

इन चार मंत्र भागोंके मननसे मानस पूजा की विधि ज्ञात हो जाती है। (१) प्रभुके गुणोंका मनसे मनन करना, (२) उसी को मनसे नमन करना, (३) प्रत्येक पदार्थ में तथा प्राणिमात्रमें उसका दर्शन करना और (४) सब कर्म उसकी सेवा करने के लिये करना, ये चार भाग उस प्रभुकी उपासना के हैं। इन चार भागोंमें से जितने भागोंका अनुष्ठान हुआ होगा, उतनी उपासना उतनेही प्रमाण से हुई है, ऐसा मानना चाहिये। पाठक विचार करें और अपनी उपासना की परीक्षा इस कसौटीसे करें। हर-एक मनुष्य अपने आपको परमात्मा का उपासक मानताही है, परंतु उससे जो उपासना हो रही है,वह इस वैदिक मानस उपासना की उक्त कसौटीसे किस सीढीपर गिनी जा सकती है, वह भी देखना चाहिये। इस दृष्टीसे ये चार मंत्र भाग विशेषही महत्त्व रखते हैं।

"मनन, नमन, सर्वत्र दर्शन और सेवन" ये चार नाम संक्षेप से मानस उपासना के चार अंगोंके दर्शक माने जा सकते हैं।

१ "**मनन**" से परमात्माके महत्त्वकी मनमें स्थिरता होती है। इस दृष्टीसे इसकी अत्यंत आवश्यकता है।

२ "**नमन**" जब मननसे उसका महत्त्व ज्ञात हुआ, तब स्वभावतः ही मनुष्य उस प्रभुके सामने लीन होता है। मननके पश्चात् की यह स्वाभाविक ही अवस्था है।

३ "**दर्शन**" मननसे ही उसकी सार्वत्रिक सत्ता का भी अनुभव होता है। स्थिर चरमें एक रस व्यापक होनेका साक्षात्कार होनेकी यह तीसरी उच्च

अवस्था है। जगत्के अंदर प्रभुका ही सर्वत्र साक्षात्कार इस अवस्था में होता है।

ये तीनों मानसिक क्रियाएं हैं। इसके पश्चात् यह भक्त अपने आपको परमात्माके परम यज्ञमें समर्पण करता है, वह सेवावस्था है।

४ " सेवन " यह इस अवस्थामें उसका सेवक बनता है। सेवन और " भजन " ये दोनों शब्द समान अर्थक ही हैं– सेवन और भजन एकही अर्थ बताते हैं। प्रभुके कार्यके लिये अपने आपको समर्पित करना, यही भक्ति या सेवा है।

" दीनों का उद्धार " करना, साधुओंका परित्राण करना, सज्जनोंकी रक्षा करना, दुर्जनोंको दूर करना, ये ही परमात्मा के कर्म हैं। इन कर्मों को परमात्मार्पण बुद्धि से करनेका नाम ही उसकी भक्ति या सेवा है।

नामस्मरण।

नामस्मरण का भी यही तात्पर्य है, जैसा " हरि " (दुःखोंका हरण करनेहारा) देव है, इसलिये मैं भी दुःखितोंका दुःख यथाशक्ति हरण करूंगा और दूसरों को सुख देने के कर्म से ईश्वर की सेवा करूंगा। " शम " (आनंद देनेवाला) ईश्वर है इस लिये मैं भी दीन दुःखी मनुष्यों या प्राणियोंकी पीडा दूर करने के यत्न द्वारा परमात्माकी भक्ति या सेवा करूंगा। " नामस्मरण " का यही उद्देश्य है। यद्यपि आजकल केवल नामका स्मरणही रहा है और उससे प्राप्त होनेवाले कर्तव्य का पालन नहीं होता है, तथापि वस्तुतः इससे महान् कर्तव्य सूचित होते हैं; यह पाठक विचार से जानें और परमेश्वर के इतने नाम कहनेका मुख्य उद्देश्य समझ लें। अनेक ग्रंथ पढने से जो कर्तव्य नहीं समझता, वह एक नाम के मननसे समझमें आता है, इसी लिये वेदादि ग्रंथों में परमात्माके अनेक नाम दिये होते हैं और वे सब बडे मार्ग दर्शक हैं, परंतु देखनेवाला और कर्म करनेवाला भक्त चाहिये।

अस्तु। ईश्वर उपासना के ये चार भाग हैं, इसका अधिक विचार पाठक करें और इस मार्गसे चलें। यही सीधा, सरल और अति सुगम मार्ग है।

ब्राह्म उपासना का फल।

पूर्वोक्त प्रकार मानस उपासना करनेसे जो फल प्राप्त होता है, उसका वर्णन भी इन मंत्रों में पाठक देख सकते हैं—

१ तं त्वा यौमि--परमेश्वरके साथ मिलना,ब्रह्मरूप अवस्था प्राप्त करना।(मं. १)

२ दैव्यस्य हरसः अवयाता-- परमात्मा सब महापीडाओंको दूर करनेवाला है, इस लिये सब पीडा उसकी प्राप्तिसे दूर हो जाती है। (मं. २)

३ मृडात--वह आनंद देता है। (मं. २)

इन शब्दोंके मननसे पाठकोंको पता लग जायगा कि, उपासना का फल परमानंद प्राप्ति ही है। वह प्रभु सच्चिदानंद स्वरूप होनेसे उसके साथ मिल जानेसे वही आनंद उपासकमें आ जाता है और जितनी उपासनाकी दृढता और पूर्णता होगी, उतना वह आनंद दृढ और पूर्ण होता है। यह फल प्राप्त करनेकाही पूर्वोक्त वैदिक मार्ग है।

यहां पहिले दो मंत्रोंका विचार हुआ। इसके पश्चात् के तीन मंत्रोंका वर्णन ठीक प्रकार समझमें आनेके लिये उस वर्णनको प्रथम अपने शरीरमें अनुभव करना चाहिये और पश्चात् वही भाव विशाल जगत्में देखना चाहिये--

अपने अंदरकी जीवन शक्ति।

इससे पूर्व बताया गया है कि, जलतत्त्वके आश्रयसे कार्य करने वाली प्राणशक्ति या जीवनशक्ति ही " अप्सराः " शब्दसे इस सूक्तमें कही है, देखिये इसका वर्णन--

१ क्रन्दाः-- पुकारनेवाली, बुलानेवाली, प्रेरणा देनेवाली। प्राण शक्ति अथवा जीवनशक्ति प्राणियोंको प्रेरित करती है, इस अर्थका वाचक यह नाम है।

२ तमिषी-चयः-- (तमिषी) ग्लानी अथवा थकावटको (चयः) दूर करनेवाली, थकावट को हटानेवाली प्राणशक्ति है। जो उत्साह प्राणिमात्र में है वह प्राणशक्ति का ही है, प्राणायाम से भी उत्साह बढने और थकावट दूर होनेका अनुभव है।

३ अक्ष--कामाः- (अक्षि+कामाः) आंखोंकी कामना पूर्ण करनेवाली । पाठक देखें की जबतक शरीरमें प्राण रहता है तभी तक शरीर आखोंको तृप्त कर सकता है । मुर्दा देख कर किसी मनुष्य के आंख तृप्त नहीं होते। इससे आखोंकी तृप्ति प्राण शक्तिसे होती है यह स्पष्ट है।

४ मनो-मुहः- मनको मोहित करनेवाली। इसका भाव भी उक्त प्रकार ही है।

ये चार शब्द शरीरमें प्राण शक्तियों अथवा जीवन की शक्तियोंके वाचक हैं। पाठक इन शब्दोंके अर्थोंका अनुभव अपने अंदर करें। इनको (मंत्र ५ में) "गंधर्व-पत्नी अप्सराः"

कहा है। गंधर्व इस शरीरके अंदर जीवात्मा है और उसकी पत्नियें जीवन शक्तियां अथवा प्राण शक्तियां हैं, प्राण जलतत्त्वके आश्रयसे रहता है, इस लिये जलाश्रित होनेके कारण (अप्+सरः) यह शब्द प्राणमें अत्यंत सार्थ होता है। इन प्राणशक्तियों को नमन पंचम मंत्रमें किया है। प्राणके आधीन सर्व जगत् है यह देखनेसे प्राणका महत्त्व जाना जाता है। पाठक भी अपने शरीरमें प्राण का महत्त्व देखें, प्राण रहने तक शरीर की शोभा कैसी होती है और प्राण जानेके पश्चात् शरीरकी कैसी अवस्था हो जाती है; इसका मनन करनेसे अपने शरीरमें प्राणका महत्त्व जाना जा सकता है। जो नियम एक शरीरमें है वही सब शरीरों के लिये है। इस प्रकार प्राणकी दिव्य शक्तिका अनुभव करके इस मंत्र ५ में उस प्राणको नमन किया है।

प्राण का प्राण।

यहां प्रश्न होता है, कि क्या यह पत्नियें स्वतंत्र हैं या परतंत्र ? " पत्नी " शब्द कहने मात्रसेही वह पतिके आधीन, पतिके साथ रहनेपर शोभा को बढाने वाली, पतिके रहित होनेसे दुःखी, पति ही जिसका उपास्य दैवत है, इत्यादि बातें ज्ञात होजाती हैं। वेदके धर्ममें पतिके साथ धर्माचरण करनेवाली सहधर्मचारिणी ही पत्नी होती है। इस लिये गंधर्व (आत्मा) और अप्सरा (प्राणशक्ति) उसी नातेसे देखने चाहिये। जिस प्रकार पतिसे शोभा प्राप्त करके पत्नी गृहस्थकार्य करती हैं, उसी प्रकार इस छोटे गंधर्व (जीवात्मा) से उसकी अप्सरा स्त्री (प्राणशक्ति) बल प्राप्त करके अपने गृह (शरीर) के अंदरके सब कामकाज चलाती है। इसलिये जो सौंदर्य अथवा शोभा धर्मपत्नीकी दिखाई देती है वह वास्तवमें पतिसे ही प्राप्त हुई होती है, इस लिये धर्मपत्नीको किया हुआ नमस्कार धर्मपत्नीके लिये नहीं होता है, परन्तु वह उसके पतिके लिये ही होता है, क्यों कि पति विरहित विधवा स्त्रीको अशुभ समझकर कोई नमस्कार नहीं करते। इसी प्रकार यहां बताना यह है कि प्राणशक्ति अथवा जीवनशक्ति जीवात्माके आश्रयसे कार्य करनेवाली हैं, उसके अभावमें वह कार्य नहीं कर सकती। इस लिये जो वर्णन, प्रशंसन या महत्त्व प्राणशक्तिका बताया जाता है वह प्राणका नहीं है, परंतु प्राणके प्राणका—अर्थात् आत्माका— है, यह बात भूलना नहीं चाहिये। इसी कारण यहांका प्राणशक्तिको किया हुआ नमन आत्माके ही उद्देश्यसे है, न कि केवल प्राणके लिये।

ऐसा क्यों कहा है ?

इतने लंबे ढंगसे यह बात क्यों कही है? यहां वेदको यह बताना है, कि संपूर्ण स्थूल विश्वके जो रंग, रूप, रस, आकार आदि हैं, वे सब आत्माकी शक्तिके कारण बने हैं, यदि जगत्से आत्माकी शक्ति हटाई जाय, तो न जगत् रहेगा और न उसकी शोभा रहेगी। जिस प्रकार पति रहित स्त्री विधवा होकर शोभा रहित होजाती है, उसी प्रकार आत्मा रहित शरीर मृत, मुर्दा और तेजोहीन हो जाता है, देखने लायख नहीं रहता। इसी प्रकार जगत्भी आत्मासे रहित होनेपर निःसत्त्व होगा। इस लिये जगत् की ओर देखनेके समय आत्मदृष्टि रखनी चाहिये, न कि स्थूल दृष्टि। जिस प्रकार किसी सुवासिनी स्त्री की ओर देखनेसे उसमें पतिकी सत्ता देखनी होती है, पतिहीन स्त्री दुर्वासिनी समझी जाती है; इसी प्रकार आत्मारहित शरीर और परमात्मारहित जगत् है।

गुलाब का फूल, आमका वृक्ष, सूर्यका प्रकाश, इसी प्रकार प्राणियोंका प्राण आदि सब देखते हुए सर्वत्र आत्माकी शक्ति अनुभव करनी चाहिये। वही सबका धारक "गंधर्व" सर्वत्र उपस्थित है और उसीके प्रभावसे यह सब प्रभावित हो रहा है, ऐसा भाव मनमें सदा जाग्रत रहना चाहिये। इस विचार से देखनेसे अप्सराओंको किया हुआ नमन गंधर्वके लिये कैसा पहुंचता है, यह बात स्पष्ट होगी और यह गंधर्व भुवनोंका एक अद्वितीय पतिही है, वही सब के लिये (नमस्यः) नमस्कार करने योग्य है; यह जो प्रथम और द्वितीय मंत्रमें कहा है उस विधान के साथ भी इसकी संगति लग जायगी। नहीं तो पहिले दो मंत्रोंमें यह परमात्मा (नमस्यः) नमस्कार करने योग्य है ऐसा कहा है, परंतु आगे चतुर्थ और पंचम मंत्रमें अप्सराओंको नमस्कार किया है। यह विरोध उत्पन्न होगा। यह विरोध पूर्वोक्त दृष्टिसे विचार करनेसे नहीं रहता है—

विरोधालङ्कार।

ताभ्यो वो देवीर्नम इत्कृणोमि ॥ (मं. ४)

ताभ्यो गंधर्वपत्नीभ्यः अप्सराभ्यः अकरं नमः ॥ (मं ५)

" उन गंधर्व पत्नी अप्सरा देवियोंको मैं नमस्कार करता हूं। " पहिले दो मंत्रोंमें " एक ही जगत्पालक गंधर्व नमस्कार करने योग्य है " ऐसा कहकर अंतिम दो मंत्रोंमें उसको नमन न करते हुए " उसकी धर्मपत्नीयोंको ही नमस्कार किया है। " यह विरोधालंकार है। पहिले कथन के बिलकुल विरुद्ध दूसरा कथन है। जो (नमस्यः) नमस्कार करनेयोग्य है उसको तो नमन किया ही नहीं, परंतु जिनके

नमस्कार योग्य होनेके विषयमें किसी स्थानपर नहीं कहा, उनको नमस्कार किया है । इस सूक्तमें विरोध भी समबल है। पहिले दोनों मंत्रोंमें गंधर्वके नमस्कार योग्य होने के विषयमें दोवार कहा है, इतनाही नहीं परंतु—

एक एव नमस्यः। (मं. १, २)

"यही एक नमस्कार करने योग्य देव है।" ऐसा निश्चयार्थक वाक्यसे कहा है, जिससे किसीको संदेह नहीं होगा। परंतु आश्चर्य की बात यह है, कि जिस समय नमस्कार करनेका समय आगया, उस समय उसी प्रकार दो मंत्रोंमें (मं. ४, ५ में) उसकी पत्नियों को ही नमस्कार किया है और विशेष कर पतिको नमन नहीं किया। यह साधारण विरोध नहीं है। इसका हेतु देखना चाहिये।

व्यवहारकी बात।

जिस समय आप किसी मित्रको नमस्कार करते हैं उस समय आप विचार कीजिये कि क्या आप उसके आत्मा को नमस्कार करते हैं, या उसके शरीरको, अथवा उसके प्राणोंको, या उसकी इंद्रियोंको करते हैं। आपके सामने तो उसका आत्मा रहता ही नहीं, न आप आत्माको देख सकते, न उसको स्पर्श कर सकते हैं, जिसको देख भी नहीं सकते उसको आप नमस्कार कैसा कर सकते हैं? विचार कीजिये, तो पता लग जायगा कि आपका नमस्कार आपके मित्रकी आत्मा के लिये नहीं है।

परंतु यदि " आत्माके लिये नमन नहीं है, " ऐसा पक्ष स्वीकारा जाय तो कहना पडेगा कि, कोई भी मनुष्य अपने मित्रके मुर्दा शरीरको—मृत शरीरको—नमस्कार नहीं करता। तो फिर नमस्कार किस के लिये किया जाता है? यह बात हमारे प्रतिदिनके व्यवहार की है, परंतु इसका उत्तर हरएक मनुष्य नहीं दे सकता। परंतु हर एक मनुष्य दूसरे को नमस्कार तो करता ही है।

जडचेतन का संधि—प्राण।

यहां वास्तविक बात यह है, कि स्थूल शरीर और उसकी इंद्रियां, प्रत्यक्ष दिखाई देती हैं, और प्राण यद्यपि अदृश्य है तथापि श्वासोच्छ्वास की गतिसे प्रत्यक्ष होता है, परंतु मन बुद्धि और आत्मा अदृश्य हैं। इनमें भी मनबुद्धी कर्मोंके अनुसंधानसे जानी जा सकती हैं, परंतु आत्मा तो सर्वदा अप्रत्यक्ष है। देखिये—

शरीर —— इंद्रियां —— "प्राण" —— मनबुद्धि —— आत्मा

दृश्य —— ० —— अदृश्य

*

प्राण ऐसा स्थान रखता है कि जो एक ओर दृश्य और दूसरी ओर अदृश्य को जोडनेका बिंदु है। इसीलिये स्थूल दृश्यसे सूक्ष्म अदृश्य तक पहुंचनेके लिये योगादि शास्त्रों में प्राणका ही आलंबन कहा है, क्योंकि यही एक प्राण है कि, जो स्थूल सूक्ष्म, दृश्य अदृश्य, जड चेतन, शक्ति पुरुष इनको जोड देता है। इस कारण यह भुवनका मध्य कहा जाता है। और आध्यात्मिक उन्नतिके साधन के लिये प्राणकाही आलंबन सबसे मुख्य माना गया है। क्योंकि यह अदृश्य होते हुए अनुभवमें आसकता है और इसीसे सूक्ष्मतत्त्वका अनुसंधान होता है।

साधारण अज्ञ लोग नमन तो स्थूलशरीर को देखकर ही करते हैं, उससे अधिक ज्ञानी प्राणका अस्तित्व जानकर करते हैं, उससे भी उच्च कोटीके ज्ञानी इसमें जो अधिष्ठाता है उसको देखकर उसे नमन करते हैं। यद्यपि नमन एकही है तथापि करने वाले के अधिकार भेदके अनुसार नमन विभिन्न वस्तुओं के लिये होता है।

स्थूलसे सूक्ष्मका ज्ञान।

इस में एक बात सत्य है और वह यही है, कि यदि जगत्में स्थूल शरीर–स्थूल पदार्थ–एकभी न रहा, तो चेतन आत्मा की कल्पना होना असंभव है; इस लिये चेतन आत्माकी शक्ति जाननेके लिये स्थूल विश्वकी रचना अत्यंत आवश्यक है। अतः स्थूलके आलंबन से सूक्ष्मकी कल्पना की जाती है और इसी लिये शरीर में कार्य करनेवाली प्राणशक्तियोंको (मंत्र ४,५)में नमन करके शरीरके मुख्याधिष्ठाता आत्मा तक नमन पहुंचाया है। यहां ध्यानमें धरने योग्य बात यह है कि जड शरीर को नमन नहीं किया; परंतु जडचेतन की संगति करनेवाली प्राणशक्तियोंको नमन किया है; अर्थात् स्थूलको पीछे रख कर जहां सूक्ष्मकी शक्तियां प्रारंभ होती हैं, वहां उन सूक्ष्म शक्तियों को नमन किया है। यहां बिलकुल स्थूल का आलंबन छोडनेका भी उपदेश मिलता है।

प्रत्यक्षसे अप्रत्यक्ष।

इस विवरणसे पाठक समझही गये होंगे कि प्रत्यक्ष वस्तुके निमित्तके अनुसंधानसेही अप्रत्यक्षको नमन किया जा सकता है। जो सब जगत्का एक प्रभु है वह सर्वव्यापक और पूर्ण अदृश्य है, वास्तवमें वही सबके लिये नमस्कार करने योग्य है, और कोई दूसरा नमस्कार के लिये योग्य नहीं है; तथापि जगत् के स्थूल–सूर्य चंद्रादि पदार्थों–के प्रत्यक्ष करनेसे ही उसके सामर्थ्य का कुछ अनुमान हो सकता है, जगत् के कार्य देखने से ही उसके अद्भुत रचना चातुर्य का अनुमान होता है, इस लिये जगत्में—हरएक

पदार्थमें-उसकी सत्ताका अनुभव करना चाहिये और प्रत्येक पदार्थ को देखकर प्रत्येक पदार्थका महत्त्व उसीके कारण है, यह जानकर उसमें उसको नमन करना चाहिये। तभी तो उसको नमन होसकता है। सूर्यको देखकर उसके प्रकाशका तेज परमात्मासे प्राप्त है, यह जानकर उसकी अगाध सामर्थ्यका उसमें अनुभव करते हुए अंतःकरणसे उसको नमन करना चाहिये। यही बात हरएक वस्तुके विषयमें होसकती है। यही बात इसी सूक्तके चतुर्थ मंत्रमें कही है—

अभ्रिये दिद्युन्नक्षत्रिये या
विश्वावसुं गन्धर्वं सचध्वे ॥ (मंत्र ४)

" मेघोंकी विद्युत्में क्या और नक्षत्रोंके प्रकाशमें क्या तुम विश्वके वसानेवाले सर्वधारक परमात्माको प्राप्त करती हैं। " इस मंत्रमें वही बात कही है कि, विद्युत् की चमकाहट देखनेसे या तेजोगोलकों को देखनेसे उस अद्वितीय आत्माकी सत्ताकी जागृति होनी चाहिये, उस परमात्माकी सामर्थ्य ध्यानमें आनी चाहिये, उस आदि देवका अद्भुत रचना चातुर्य मनमें खडा होना चाहिये। यही प्रभुको सर्वत्र उपस्थित समझना है, यही रीति है कि जिससे ज्ञानी उसका सर्वत्र साक्षात्कार करता है।

पाठक यहां देखें कि, प्रथम और द्वितीय मंत्रमें " वह प्रभु ही अकेला वंदनीय है" ऐसा कहा और नमन करनेके समय जगत्में कार्य करनेवाली प्राण शक्तियोंको (मत्रं ४, ५ में) नमन किया " इसकी संगति पूर्वोक्त प्रकार है। इस दृष्टिसे इसमें कोई विरोध नहीं है और विचार करनेसे पता लगता है कि यही सीधा मार्ग है। इसी उपासना मार्गसे जाना हर एक के लिये सुगम है। मेघोंमें चमकने वाली विद्युत्में तथा तेजो गोलकों के प्रकाशमें उस प्रभुकी सामर्थ्य देखना ही उसका साक्षात्कार करना है, यदि विश्वके अंतर्गत पदार्थोंका विचार करना ही छोड दिया जाय, तो उस प्रभुका सामर्थ्य कैसा समझमें आवेगा ?

यहां चतुर्थ और पंचम मंत्रोंका विचार समाप्त हुआ और इस विचार की प्रत्यक्षता हमने अपने अंदर देखी, क्योंकि यही स्थान है कि, जहां हमें प्रत्यक्ष अनुभव होता है। अब इसको जगत् में व्यापक दृष्टिसे देखना है, परंतु इसके पूर्व हमें तृतीय मंत्रका विचार करना चाहिये। इस तृतीय मंत्रमें दो कथन बडे महत्त्व पूर्ण हैं, वे अब देखिये —

प्राणोंका आना और जाना।

समुद्र आसां स्थानं म आहुर्यतः सद्य
आ च परा च यन्ति ॥ (मं. ३)

"समुद्र इनका स्थान है, ऐसा मुझे कहा गया है, जहांसे बार बार इधर आती हैं और परे चली जाती हैं।" इस मंत्रमें प्राणशक्तिका वर्णन उत्तम रीतिसे किया है। (आयन्ति, परायन्ति) इधर आती हैं और परे जाती हैं। प्राणकी ये दो गतियां हैं, एक "आना," और दूसरी "जाना" है। श्वास और उच्छ्वास ये दो प्राणकी गतियें प्रसिद्ध हैं। प्राण अपान ये भी दो नाम हैं। एक गति बाहरसे अंदर जानेका मार्ग बताती है और दूसरी अंदरसे बाहर जानेका मार्ग बताती है। ये दो गतियां सबको विदित हैं।

इन प्राणोंका स्थान हृदयके अंदरका मानस समुद्र है, हृदय स्थान है, इस सरोवर या समुद्रमें जाकर प्राण डुबकी लगाता है और वहां स्नान करके फिर बाहर आता है। वेदोंमें अन्यत्र कहा है कि—

एकं पादं नोत्खिदति सलिलाद्धंस उच्चरन्।
यदङ्ग स तमुत्खिदेन्नैवाद्य न श्वः स्यान्न रात्रीः
नाऽहः स्यान्न व्युच्छेत्कदाचन ॥

अथर्व. ११।४(६) २१

"यह (हं-सः) प्राण अपना एक पांव सदा वहां रखता है, यदि वह पांव वहांसे हटायेगा तो इस जगत्में कोई भी नहीं जीवित रह सकता। न दिन होगा और न रात्री होगी। (अथर्व० ११।४ (६) २१)" प्राण अंदरसे बाहर जाने के समय अपना संबंध नहीं छोडता, यदि इसका संबंध बाहर आनेके समय छूट जायगा तो प्राणीकी मृत्यु होगी। यही बात इस सूक्तके तृतीय मंत्रमें कही है। हृदयका अंतरिक्षरूपी समुद्र इस प्राणका स्थान है, वहांसे यह एक बार बाहर आता है और दूसरी बार अंदर जाता है, परंतु बाहर आता है उस समय वह सदाके लिये बाहर नहीं रहता; यदि यह बाहर ही रहा और अंदर न गया, तो प्राणी जीवित नहीं रह सकता। यह प्राणका जीवन के साथ संबंध यहां देखना आवश्यक है। यह देखनेसे ही प्राणका महत्त्व ध्यानमें आसकता है। और प्राण की शक्ति का महत्त्व जाननेके पश्चात् प्राणका भी जो प्राण है, उस आत्माका भी महत्त्व इसके नंतर इसी रीतिसे और इसी युक्तिसे जाना जा सकता है।

प्राणोंका पति ।

यह वास्तवमें एकही प्राण है तथापि विविध स्थानोंमें रहने और विविध कार्य करनेसे उसके विविध भेद माने जाते हैं । मुख्य प्राण पांच और उपप्राण पांच मिल कर दस भेद नाम निर्देशसे शास्त्रकारोंने गिने हैं, परंतु यह कोई मर्यादा नहीं है, अनेक स्थानोंकी और अनेक कार्योंकी कल्पना करनेसे अनेक भेद माने जा सकते हैं । प्राणको अप्सराः शब्द इस सूक्तमें प्रयुक्त किया है और वह एक गन्धर्वके साथ रहती हैं ऐसा भी आलंकारिक वर्णन किया है । इसी दृष्टिसे निम्न मंत्र भाग अब देखिये—

अनवद्याभिः समु जग्म आभिः
अप्सरास्वपि गंधर्व आसीत् ॥ (मं. ३)

"इन निर्दोष अनेक अप्सराओंके साथ वह एक गंधर्व संगति करता है और उन अप्सराओंमें वह गंधर्व रहता है ।"

यदि गंधर्व और अप्सराएं ये शब्द हटादिये और अपने निश्चित किये अर्थोंके अनुसार शब्द रखे, तो उक्त मंत्र भाग का अर्थ निम्न लिखित प्रकार होता है- " इन निर्दोष अनेक प्राण शक्तियोंके साथ वह एक आत्मा संगति करता है, संमिलित होता है और इन प्राणोंके अंदर भी यह सर्वधारक आत्मा रहता है ।"

यह अर्थ अति सुबोध होनेसे इसके अधिक स्पष्टीकरण करनेकी कोई आवश्यकता नहीं है क्योंकि इसके हरएक बातका विशेष स्पष्टीकरण इससे पूर्व आचुका है । इसलिये यह रूपक पाठक स्वयं समझ जांयगे । सब प्राण आत्मासे शक्ति लेकर शरीरमें कार्य करते हैं, और आत्मा भी प्राणों के अन्दर रहता है । इस विषयमें यजुर्वेद कहता है—

सो असावहम् । यजु. अ. ४०।१७

" (सः) यह (असौ) असु अर्थात् प्राणके बीचमें रहनेवाला आत्मा (अहं) मैं हूं । " अर्थात् प्राणोंके मध्यमें आत्मा रहता है और आत्माके बाहर प्राण या जीवन शक्ति रहती है और ये दोनों जगत् का सब व्यवहार कर रहे हैं ।

ब्रह्माण्ड देह ।

पाठक ये सब बातें अपने अंदर देखें । परंतु यहां केवल अपने अंदर देख कर और अनुभव कर के ही ठहरना नहीं है, जो बात छोटे क्षेत्रवाले अपने देह में देखी है वही बडे ब्रह्मांड देहमें देखना है, अथवा विराट पुरुष में कल्पना करना है । इस सूक्तमें विश्वव्यापक आत्माका वर्णन करना मुख्य उद्देश्य है । तथापि समझमें आनेके लिये हमने ये सब बातें

अपने अंदर देखनेका विचार किया, अब इसी ढंगसे ब्रह्मांड देहकी कल्पना करना चाहिये।

जिस प्रकार प्राणी के देहमें प्राण हैं उसी प्रकार ब्रह्माण्ड देह में विश्वव्यापक प्राण का महासमुद्र है। इसी महाप्राण समुद्रसे हम थोडासा प्राणका अंश लेते हैं। इस प्रकार अन्यान्य शक्तियां भी इस ब्रह्माण्ड देहमें बडी विशाल रूपसे हैं। दोनों स्थानोंमें शक्तियां एकही प्रकारकी हैं, परंतु अल्पत्व और महत्त्व का भेद है। इसीलिये अपने अंदर की व्यवस्था देखनेसे बाह्य व्यवस्था जानी जा सकती है।

सारांश

पाठक इस सूक्तमें परमात्माकी सर्वव्यापक सत्ता देख सकते हैं। वही एक उपास्य देव है, वही सबका आधार है। वह सबके दुःख दूर करता है और सबको सुख देता है।

इसकी प्राप्ती मानस उपासनासे करनी चाहिये। इसको सब स्थानमें उपस्थित मानकर, इसको नमन करना चाहिये। हरएक सृष्टिके अंतर्गत पदार्थमें इसका कार्य देखनेका अभ्यास करनेसे इसके विषयमें ज्ञान होने लगता है और इसके विषयमें श्रद्धा बढती जाती है।

इसके साथ प्राणशक्ति रहती है जो जगत्में किसी समय प्रकट होती है और किसी समय गुप्त छिपी रहती है। यह कहां प्रकट होती है और कहां छिपी रहती है, यह देखनेसे जगत्में चलनेवाले इसके कार्यकी कल्पना होसकती है।

यह जैसा मेघोंकी बिजुलीमें प्रकाश रखता है उसी प्रकार नक्षत्रोंमें भी प्रकाश रखता है। प्रकाशकोंका भी यही प्रकाशक है, बडोंमें भी वह बडा है, सूक्ष्मोंसे भी यह सूक्ष्म है, इस प्रकार इसको जानकर सब भूतोंमें इसका अनुभव करके इसको नमन करना चाहिये। इसके सामने सिर झुकाना चाहिये।

सब जगत् में जो प्रेरणा, उत्साह और प्रेम हो रहा है, वह इसकी जीवन शक्तिसे ही है। यह जानकर सर्वत्र इसकी महिमा देखकर इसकी पूजा करनी चाहिये।

"मनन, नमन, सर्वत्र दर्शन" करनेके पश्चात् इसकी सेवा करनेके लिये उसके कार्य में अपने आपको समर्पित करना चाहिये। "सज्जन पालन, दुर्जन निर्दलन" रूप परमात्माके कर्ममें पूर्वोक्त रीतिके अनुसार अपने कर्तव्यका भाग आनंदसे करना ही उसकी भक्ति करना है और यह करनेके लिये "दुःखितोंके दुःख दूर करनेके कार्य अपने सिर पर आनन्दसे लेने चाहिये।" ईशप्राप्तिका यह सीधा उपाय इस सूक्त द्वारा प्रकाशित हुआ है। पाठक इसका अधिक विचार करें।

आरोग्य-सूक्त।

(३)

[ऋषिः— अंगिराः । देवता—भैषज्यं, आयुः, धन्वन्तरिः ।]

अदो यदवधावत्यवत्कमधि पर्वतात् ।
तत्ते कृणोमि भेषजं सुभेषजं यथाससि ॥ १ ॥
आदङ्गा कुविदङ्गा शतं या भेषजानि ते ।
तेषामसि त्वमुत्तममनास्त्रावमरोगणम् ॥ २ ॥
नीचैः खनन्त्यसुरा अरुस्राणमिदं महत् ।
तदास्त्रावस्य भेषजं तदु रोगमनीनशत् ॥ ३ ॥
उपजीका उद्भरन्ति समुद्रादधि भेषजम् ।
तदास्त्रावस्य भेषजं तदु रोगमशीशमत् ॥ ४ ॥
अरुस्राणमिदं महत्पृथिव्या अध्युद्भृतम् ।
तदास्त्रावस्य भेषजं तदु रोगमनीनशत् ॥ ५ ॥
शं नो भवन्त्वप ओषधयः शिवाः ।
इन्द्रस्य वज्रो अप हन्तु रक्षस आराद्विसृष्टा इषवः पतन्तु रक्षसाम् ॥६॥

अर्थ—(अदः यत्) वह जो (अवत्-कं) रक्षक है और जो (पर्वतात् अधि अवधावति) पर्वतके ऊपरसे नीचेकी ओर दौडता है। (तत् ते) वह तेरे लिये ऐसा (भेषजं कृणोमि) औषध करता हूं (यथा सुभेषजं अससि) जिससे तेरा उत्तम औषध बन जावे ॥ १ ॥ हे (अंग अंग) प्रिय! (आत् कुवित्) अब बहुत प्रकारसे (या ते) जो तेरेसे उत्पन्न होने वाले (शतं भिषजानि) सैकडों औषधें हैं, (तेषां) उनमेंसे (त्वं) (अनास्त्रावं) घावको हटाने वाला और (अ-रोगणं) रोगको दूर करने वाला (उत्तमं असि) उत्तम औषध है ॥ २ ॥ (असु-राः) प्राणोंको बचानेवाले वैद्य

(इदं महत् अरुस्-स्राणं) इस बडे व्रणको पकाकर भर देनेवाले औषध को (नीचैः खनन्ति) नीचेसे खोदते हैं । (तत् आस्रावस्य भेषजं) वह घाव-का औषध है, (तत् उ रोगं अनीनशत्) वह रोग का नाश करता है ॥३॥ (उपजीकाः) जलमें काम करने वाले (समुद्रात् अधि) समुद्रसे (भेषजं उद्भरन्ति) औषध ऊपर निकालकर लाते हैं, (तत् आस्रावस्य भेषजं) वह घावका औषध है, (तत् रोगं अशीशमत्) वह रोगका शमन करता है ॥ ४ ॥ (इदं अरुस्-स्राणं) यह फोडेको पकाकर भरनेवाला (महत्) बडा औषध (पृथिव्याः अधि उद्भृतं) भूमीके ऊपरसे निकालकर लाया है । (तत् आस्रावस्य भेषजं) वह घावका औषध है, (तत् ऊ) वह (रोगं अनीनशत्) रोगका नाश करता है ॥५॥ (आपः) जल और (ओषधयः) औषधियां (नः) हमारे लिये (शिवाः शं भवन्तु) शुभ और शांति दायक हों । (इन्द्रस्य वज्रः) इन्द्रका शस्त्र (रक्षसः अपहन्तु) राक्षसोंका हनन करे । तथा (रक्षसां विसृष्टाः इषवः) राक्षसोंद्वारा छोडे हुए बाण हमसे (आरात् पतन्तु) दूर गिरें ॥ ६ ॥

भावार्थ—एक औषध पर्वतके ऊपरसे नीचे लाया जाता है उससे उत्तम से उत्तम औषधी बनती है ॥ १ ॥ उससे तो अनेकाअनेक औषधियां बनायीं जाती हैं, परंतु घावको हटाने अर्थात् रक्तस्राव को ठीक करनेके काम में वह औषधि बहुत ही उपयोगी है ॥२॥ प्राण को बचाने वाले वैद्य लोग इस औषध को खोद खोद कर लाते हैं, उससे घावको ठीक करने का औषध बनाते हैं जिससे रोग दूर हो जाता है ॥ ३ ॥ जलमें काम करने वाले भी समुद्रसे एक औषध ऊपर लाते हैं वहभी घावको ठीक कर देता है और रोग को शान्त कर देता है ॥ ४ ॥ यह पृथ्वीपरसे लाया हुआ औषध भी फोडेको ठीक करता है, घावको भर देता है और रोगका नाश करता है ॥ ५ ॥ जल और औषधियां हमारे लिये आरोग्य देनेवाली हों । हमारे क्षत्रियों के शस्त्र शत्रुओंको भगादेवें और शत्रुओंके हमपर फेंके हुए शस्त्र हम सबसे दूर गिरें ॥ ६ ॥

औषधि

इस सूक्तका " असु+र" शब्द "प्राण रक्षक" वैद्यका वाचक है न कि राक्षस का ।

पर्वत के ऊपरसे, समुद्रके अंदरसे, तथा पृथ्वीके ऊपरसे अनेकानेक औषधियां लायीं जाती हैं, और उन से सेकडों रोगोंपर दवाइयां बनायीं जाती हैं। इन औषधोंसे मनुष्योंके घाव, व्रण तथा अन्यान्य रोग दूर होकर उनको आरोग्य प्राप्त होता है। जल और औषधियोंसे इस प्रकार आरोग्य प्राप्त करके मनुष्योंका कल्याण हो सकता है।

इस सूक्तमें यदि किसी विशेष औषधका वर्णन होगा तो वह हमारे ध्यान में नहीं आया है।

सुविज्ञ वैद्य इस सूक्त का विशेष विचार करें। इस समय इस सूक्त में सामान्य वर्णन ही हमें दिखाई देता है।

शस्त्रोंका उपयोग।

क्षत्रियों के शस्त्र शत्रुओंपर ही गिरें अर्थात् आपसमें लडाई न हो, यह अंतिम मंत्र का उपदेश आपस में एकता रखने का महत्त्वपूर्ण उपदेश दे रहा है, वह ध्यानमें धरने योग्य है।

इस सूक्तके षष्ठ मंत्रमें "हमारे शूर पुरुषका शस्त्र शत्रुपर गिरे, परंतु शत्रुके शस्त्र हम तक न पहुंच जांय" ऐसा कहा है, इससे अनुमान होता है कि यह सूक्त विशेष कर उन रक्त स्रावोंके दूरीकरणके लिये है कि जो रक्तस्राव युद्धमें शस्त्रोंके आघातसे होते हैं। युद्ध करनेके समय जो एक दूसरे से संघर्ष होता है और उसमें चोट आदि लगने तथा शस्त्रोंसे घाव होने से जो व्रण आदि होते हैं, उनसे जैसा रक्त स्राव होता है, उसी प्रकार सूजन होना और फोडे उत्पन्न होना भी संभव है। इस प्रकारके कष्टोंसे बचानेके उपाय बतानेके लिये यह सूक्त है। परंतु ऐसी पीडा दूर करनेके लिये कौनसा उपाय करना अथवा किस युक्तिसे आरोग्य प्राप्त करना इत्यादि बातोंका पता इस सूक्तसे नहीं लगता है। इस लिये इस समय हम इस सूक्तका अधिक विचार करनेमें असमर्थ हैं।

जङ्गिड-मणि।

(४)

[ऋषिः— अथर्वा। देवता—चंद्रमाः, जङ्गिडः]

दीर्घायुत्वाय बृहते रणायारिष्यन्तो दक्षमाणाः सदैव।
मणिं विष्कन्धदूषणं जङ्गिडं बिभृमो वयम् ॥ १ ॥
जङ्गिडो जम्भाद्विशराद्विष्कन्धादभिशोचनात्।
मणिः सहस्रवीर्यः परि णः पातु विश्वतः ॥ २ ॥
अयं विष्कन्धं सहतेऽयं बाधते अत्त्रिणः।
अयं नो विश्वभेषजो जङ्गिडः पात्वंहसः ॥ ३ ॥
देवैर्दत्तेन मणिना जङ्गिडेन मयोभुवा।
विष्कन्धं सर्वा रक्षांसि व्यायामे सहामहे ॥ ४ ॥
शणश्च मा जङ्गिडश्च विष्कंधादभि रक्षताम्।
अरण्यादन्य आभृतः कृष्या अन्यो रसेभ्यः ॥ ५ ॥
कृत्यादूषिरयं मणिरथो अरातिदूषिः।
अथो सहस्वाञ्जङ्गिडः प्र ण आयूंषि तारिषत् ॥ ६ ॥

अर्थ— (दीर्घायुत्वाय) दीर्घआयुकी प्राप्तिके लिये तथा (बृहते रणाय) बडे आनंद के लिये (वि-स्कन्ध-दूषणं) शोषक रोग को दूर करने वाले (जङ्गिडं मणिं) जंगिड मणिको (अ-रिष्यन्तः दक्षमाणाः वयं) न सडने वाले परंतु बलको बढानेवाले हम सब (बिभृमः) धारण करते हैं ॥ १ ॥ यह (सहस्र-वीर्यः) हजारों सामर्थ्योंसे युक्त (जङ्गिडः मणिः) जंगिड मणि (जम्भारात्) जमुहाई बढानेवाले रोगसे, (वि-शरात्) शरीर क्षीण करनेवाले रोगसे, (वि-स्कन्धात्) शरीरको शुष्क करने वाले शोषकरोगसे

(अभि-शोचनात्) रोनेकी ओर प्रवृत्ति करने वाले रोगसे (विश्वतः) सब प्रकारसे (नः परि पातु) हम सबका रक्षण करे ॥ २ ॥ (अयं) यह जंगिड मणि (वि-स्कन्धं सहते) शोषक रोगसे बचाता है, (अयं) यह मणि (अत्रिणः बाधते) भक्षक भस्म रोगसे बचाता है । (अयं जंगिडः) यह जंगिड मणि (विश्व-भेषजः) सर्व औषधियोंका रस ही है, वह (नः अंहसः पातु) हमें पापसे बचावे ।।३ ॥ (देवैः दत्तेन) दिव्य मनुष्यों द्वारा दिये हुए (मयोभुवा) सुख देनेवाले (जंगिडेन मणिना) जंगिड मणिसे (विष्कन्धं) शोषक रोगको और (सर्वा रक्षांसि) सब रोगजंतुओंको (व्यायामे) संघर्ष में (सहामहे) दबा सकते हैं ॥ ४ ॥ (शणः च) सण और (जंगिडः च) जंगिड ये दोनों (विष्कंधात्) शोषक रोगसे (मा अभिरक्षताम्) मेरा बचाव करें । इन में से (अन्यः) एक (अरण्यात् आभृतः) वन से लाया है और (अन्यः) दूसरा (कृष्याः रसेभ्यः) खेतीसे उत्पन्न हुए रसोंसे बनाया है ॥ ५ ॥ (अयं मणिः) यह मणि (कृत्या-दूषिः) हिंसासे बचानेवाला है (अथो) और (अ-राति-दूषिः) शत्रुभूतरोगों को दूर करने वाला है (अथो) ऐसा यह (महस्वान् जंगिडः) बलवान् जंगिडमणि (नः आयूंषि तारिषत्) हमारे आयुष्योंको बढावे ॥ ६ ॥

भावार्थ— दीर्घ आयुष्य प्राप्त करनेके लिये और नीरोगताका बडा आनंद अनुभव करनेके लिये जंगिड मणिको शरीर पर हम धारण करते हैं, इस से हमारी क्षीणता नहीं होगी और हमारा बल भी बढेगा, क्यों कि यह मणि शुष्कता अर्थात् शोषक रोगको दूर करता है ॥ १ ॥ यह मणि साधारणतः हजारों सामर्थ्योंसे युक्त है, परंतु विशेष कर जमुहाई बढानेवाले, क्षीणता करने वाले, शरीरको सुखानेवाले, विना कारण आंखोंमें रोनेके आंसू लानेवाले रोगोंसे यह मणि बचाता है ॥ २ ॥ यह मणि शोषक रोग को दूर करता है और जिसमें बहुत अन्न खाया जाता है, परंतु शरीर कृश होता रहता है; इस प्रकार के भस्म रोगसे भी बचाता है । इस मणिमें अनेक औषधियोंके गुण हैं, इस लिये यह हमें पापवृत्तिसे बचावे ॥ ३ ॥ धीर पुरुषोंसे प्राप्त हुआ और सुख देनेवाला यह जंगिड मणि शोषक रोग और रोग बीज भूत रोगजन्तुओंसे हमारा बचाव करे ॥ ४ ॥

सण और जंगिड ये दोनों शोषक रोगसे हमारा बचाव करें। इनमें से एक वनसे प्राप्त होता है और दूसरा खेतीसे उत्पन्न हुए औषधियोंके रसोंसे बनाया जाता है ॥ ५ ॥ यह मणि नाशसे बचाता है और आरोग्यके शत्रु रूपी रोगों से दूर रखता है। यह प्रभावशाली मणि हमारा आयुष्य बढावे ॥ ६ ॥

सण और जंगिड।

इस सूक्तमें " सण " और "जंगिड" इन दो वस्तुओं का उल्लेख है (मं.५)। शण अथवा सण यह प्रसिद्ध पदार्थ है, भाषा में भी इसका यही नाम है। सण के विषयमें राजवल्लभ नामक वैद्यक ग्रंथमें यह वचन है-

१ तत्पुष्पं रक्तपित्ते हितं मलरोधकं च।
बीजं शोणितशुद्धिकरम् ॥ राजव. ३ प.
२ अम्लः कषायो मलगर्भास्रपातनः वान्तिकृत्
वातकफघ्नश्च ॥ राजनिघंटु व. ४.

" (१) शणका फूल रक्तपित्त रोगमें हित कारक है, मलरोधक है और उसका बीज रक्तकी शुद्धि करनेवाला है। (२) शणके ये गुण हैं--खट्टा, कषाय रुचीवाला, मल - गर्भ--रक्तका स्राव करानेवाला, वमन करनेवाला, तथा वात रोग और कफ रोगको दूर करनेवाला है। "

वैद्य लोग इसका अधिक विचार करें। यह सण (कृष्याः रसेभ्यः आभृतः) खेतीसे उत्पन्न होनेवाले रसोंसे बना है (मं.५)। यह वर्णन सण कौन पदार्थ है, इसका निश्चय कराता है। सण करके जो कपडा मिलता है उसीका धागा या कपडा या रस्सी यहां अपेक्षित है। रस्सी, धागा, या कपडा हो, हमारे ख्यालमें यहां सणका धागा अपेक्षित है; जो विविध औषधियोंके (रसेभ्यः ॥ मंत्र ५) रसोंमें भिगोकर बनाया जाता है। इस सण का नाम " त्वक्सार " है, इसका अर्थ होता है (त्वक्+सार) त्वचामें जिसका सत रहता है; इसलिये इसकी त्वचाका धागा बनाकर, उसको विविध औषधियोंमें भिगोकर हाथपर, कमरमें अथवा गलेमें यह धागा बांधा जाता है। व्यायाम करनेके समय जब पसीना आता है, तब उस पसीनेसे उक्त सणके धागेके औषधिके रस शरीपर लगते हैं और शरीर पर इष्ट प्रभाव करते हैं।

इस सणके धागेपर कौन कौनसे रस लगाये जाते हैं और किस प्रकार यह तैयार किया जाता है, इसका विचार सुयोग्य वैद्योंको करना उचित है। क्योंकि इस संबंधमें इस सूक्तमें कुछ भी कहा नहीं है।

शणः च मा जंगिडश्च अभिरक्षताम् ॥ (मं. ५)

"शण और जंगिडमणि मेरा एकदम रक्षण करें" यह पंचम मंत्रका कथन है, इस कथनसे स्पष्ट होजाता है कि, शणके धागेमें जंगिडमणिको ग्रथित करके गलेमें या शरीरपर धारण करनेका अभिप्राय इस सूक्तमें स्पष्ट है। उक्त प्रकार औषधिरसोंसे बनाया सणका धागा भी स्वयं गुण कारी है, और जंगिडमणि भी स्वयं गुणकारी है, तथा दोनों इकट्ठे होगये, तो भी उन दोनोंका मिलकर विशेष लाभ होना संभव है। जबतक विशेष खोज नहीं हुई है, तबतक हम यही यहां समझेंगे कि, सणके सूत्रमें जंगिड मणि रखकर शरीर पर धारण करनेसे मंत्रोंक्त लाभ प्राप्त हो सकते हैं।

जंगिड मणिके लाभ।

१ दीर्घायुत्वं— आयुष्य दीर्घ होता है। (मं. १)
आयूंषि तारिषत्—आयुष्य बढाता है। (मं. ६)

२ महत् रणं (रमणीयं) — बडा आनंद, बडा उत्साह रहता है, जो आनंद नीरोगतासे प्राप्त होता है वह इससे मिलता है। (मं. १)

३ अरिष्यन्तः— अपमृत्युसे अथवा रोगसे नष्ट न होना। (मं. १)

४ दक्षमाणः— (दक्षं) बल बढना, बलवान् होना। (मं. १)

५ विष्कंधदूषणः— शोषक रोगको दूर करना। जिस रोगसे मनुष्य प्रतिदिन कृश होता है उस रोगकी निवृत्ति इससे हो जाती है। (मं. १)

६ सहस्रवीर्यः— इस मणिमें सहस्रों सामर्थ्य हैं। (मं. २)

७ विश्व-भेषजः— इसमें सब औषधियां हैं। (मं ३)

८ मयोभूः— सुख देता है। (मं. ४)

९ कृत्यादूषिः—अपने नाशसे अथवा अपनी हिंसा होनेसे बचाने वाला यह मणि है। (मं. ६)

१० अराति- दूषिः— आरोग्यके शत्रुभूत जितने रोग हैं उनको दूर करनेवाला है। (मं. ६)

११ सहस्वान् — बलवान् है अर्थात् शरीरका बल बढाता है । (मं. ६)

इस जङ्गिड मणिसे निम्नलिखित रोग दूर होनेका उल्लेख इस सूक्तमें है वह भी यहां इस स्थानपर देखने योग्य है—

१२ जम्भारात् पातु-जम्हुहाई जिससे बढती है वह शरीर का दोष इससे दूर होता है । (मं. २)

१३ वि-शरात् पातु- जिस रोगसे शरीर विशेष क्षीण होता है, उस रोगसे यह मणि बचाता है । (मं २)

१४ वि-ष्कंधात् पातु- जिससे शरीर सूखता जाता है उस रोगसे यह बचाता है । (मं. २)

१५ अभि-शोचनात् - जिससे रोनेकी प्रवृत्ति हो जाती है उस बीमारीसे यह बचाता है । (मं. २)

१६ अत्त्रिणः बाधते- (अद्-त्रिन्) बहुत अन्न खानेकी आवश्यकता जिस रोग में होती है परंतु बहुत खानेपर भी शरीर कृश होता रहता है, उस भस्म रोगकी निवृत्ति इससे होती है। (मं ३)

१७ अंहसःपातु—पापवृत्तिसे बचाता है,अथवा हीन भावना मनसे हटाता है। (मं. ३)

१८ रक्षांसि सहामहे-- रोगबीज तथा रोगोत्पादक कृमियोंको रक्षस् (क्षरः) कहते हैं क्योंकि इनसे शरीरके पोषक सप्त धातुओंका (क्षरण) नाश होता रहता है। इन रोगबीजों या रोग जन्तुओंका नाश इससे होता है । (मं. ४)

ये सब गुण इस जङ्गिड मणिमें हैं । यहां रक्षस् शब्दके विषयमें थोडासा कहना है। [पाठक कृपा करके स्वाध्याय मंडल द्वारा प्रकाशित "वेदमें रोग जन्तु शास्त्र" नामक पुस्तक देखें, इस पुस्तकमें बताया है कि ये राक्षस अतिसूक्ष्म कृमि होते हैं, जो चर्मपर चिपकते हैं तथापि आंखसे दिखाई नहीं देते । ये रात्रीमें प्रबल होते हैं । इस वर्णन के पढनेसे पाठकोंका निश्चय होगा कि रोग बीजोंका या रोगजन्तुओंका नाम राक्षस है । इसीको रक्षस् कहते हैं। क्षर् (क्षीण होना) इस धातुसे अक्षरकी उलट पुलट होकर रक्षस् शब्द बनता है] फैलनेवाले रोगोंके रोगजंतुओंको यह मणि नाश करता है यह यहां भाव है, अर्थात् यह (Highly disinfectant) उत्तम प्रकारका रोगकी छूतके दोष को दूर करनेवाला है यह बात इस विवरणसे वाचकोंके मनमें आचुकी ही होगी ।

यह जंगिड मणि किस वनस्पतिका बनाया जाता है । यह बडा प्रयत्न करने परभी

पता नहीं चला । तथापि जो गुण उक्त मंत्रोंमें बताये हैं, उनमें से बहुतसे गुण वचा वनस्पतिके गुण धर्मोंके साथ मिलते जुलते हैं, इस लिये हमारा विचार ऐसा होता है कि यह मणि वचाका होना बहुत संभवनीय है, देखिये वचाके गुण–

१ वचागुणाः– तीक्ष्णा कटुः उष्णा कफामग्रंथिशोफघ्नी
वातज्वरातिसारघ्नी वान्तिकृत् उन्मादभूतघ्नी च ।

राजनिघण्टु व. ६

२ वचायुष्या वातकफतृष्णाघ्नी स्मृतिवर्धिनी ।
३ वचापर्यायाः " मङ्गल्या । विजया । रक्षोघ्नी । भद्रा । "

" (१) वचा के गुण––तीक्ष्णता, कटुता, उष्णता से युक्त, कफ आम ग्रंथि और सूजन का नाश करनेवाली । वात ज्वर अतिसार का नाश करनेवाली । वमन करानेवाली । उन्माद और भूतरोग का नाश करनेवाली यह वचा है ।

(२) वचासे आयुष्य बढता है,वात–कफ–तृष्णाका नाश करती है । स्मरण शक्तिकी वृद्धि करती है ॥

(३) वचा के पर्याय शब्दोंका अर्थ–(मंगल्या) मंगल करनेवाली, (विजया) विजय करने वाली, (रक्षो-घ्नी) राक्षसोंका नाश करनेवाली, पूर्वोक्त रोगोत्पादक कृमियोंका नाश करनेवाली, (भद्रा) कल्याण करनेवाली । "

यह वचाका वैद्यकग्रंथोक्त वर्णन स्पष्ट बता रहा है कि इसकी जंगिडसे गुणधर्मोंमें समानता है । पाठक पूर्वोक्त मंत्रोंके शब्दोंके साथ इसकी तुलना करेंगे, सो पता लग जायगा कि इनके गुण धर्म समान हैं । इस लिये हमारा विचार हुआ है,कि जंगिड मणि संभवतः इसका ही बनाया जाता होगा । यह समानता देखिये––

वैद्यक ग्रंथ के शब्द	––[वचाके गुण]––	इस सूक्तके शब्द
१ आयुष्या	—	१ दीर्घायुत्वाय (मं.१)
		आयूंषि तारिषत् (मं.६)
२ रक्षोघ्नी । भूतघ्नी	—	२ रक्षांसि सहामहे (मं.४)
३ वातघ्नी, उन्मादघ्नी	—	३ जम्भात् पातु (मं.२)
		अभिशोचनात् पातु । (")

४ मंगल्या, भद्रा	—	४ अरिष्यन्तः	(मं. २)
स्मृतिवर्धनी ।	—	दक्षमाणाः । सहस्रवीर्यः	"
५ विजया	—	५ अरातिदूषिः	(मं. ६)
६ अतिसारघ्नी	—	६ विशरात् (वि-स्रारात्) पातु	(मं. २)
७ शोफघ्नी, ज्वरघ्नी कफघ्नी, ग्रंथिघ्नी	—	७ विश्वभेषजः	(मं.३)

इस प्रकार पाठक देखेंगे तो उनको पता लग जायगा, कि वैद्यक ग्रन्थोक्त वचाके गुण धर्म और जंगिडमणि के गुणधर्म प्रायः मिलते जुलते हैं । इससे अनुमान होता है, कि संभवतः जंगिड मणि वचा से ही बनाया जाता होगा । केवल गुण साधर्म्यसे औषधि प्रकरणमें औषधियां नहीं बर्ती जातीं, अथवा नहीं बर्ती जानी चाहिये; यह हमें पूरा पता है, तथापि किसी औषधिके अभावमें उस स्थानपर जो औषधि लीजाती है वह गुणसाधर्म्य देख कर ही ली जाती है।

चरकादि ग्रंथोंमें जहां बडे बडे आयुष्य वर्धक और बलवर्धक रसायन प्रयोग लिखे हैं, वहां सोमादि दिव्य औषधियोंके अभावमें इसी प्रकार गुण साधर्म्यसे अन्य औषधि लेने का विधान किया है । इसलिये यदि जंगिड मणिका ठीक पता नहीं चलता, तो इस मणिके गुण धर्मोंके समान गुणधर्मवाली वनस्पतिका मणि बनाना और उसका धारण करना बहुत अयोग्य नहीं होगा । तथापि हम यह कार्य सुयोग्य वैद्योंपर ही छोड देते हैं, तथा इस विषयमें अधिक खोज होनी अत्यंत आवश्यक है यह भी यहां स्पष्ट कह देते हैं । सुयोग्य वैद्य इस महत्त्वपूर्ण विषयकी खोज अवश्य करें ।

मणि धारण ।

यहां कई पाठक कहेंगे कि यह क्या अंध विश्वासकी बात है,कि केवल मणि धारणसे रोग मुक्त होने का ही विधान किया जा रहा है ! क्या इससे तावीज, कवच, धागा, दोरा, आदिकी अंधविश्वास की बातें सिद्ध नहीं होंगी? इस प्रकारकी शंकाएं यहां उपस्थित होना संभव है; इस लिये इस बातका यहां विचार करना आवश्यक है—

इस सूक्तमें जो "जंगिडमणि" का वर्णन है वह तावीज या धागा दोरा या जादूकी चीज नहीं है । यह वास्तविक औषधि पदार्थ है । इसके पूर्वके तृतीय सूक्त में पर्वत, और पृथ्वीके ऊपर होने तथा समुद्रके तलेमें उत्पन्न होने वाली औषधि वनस्पतियोंका

वर्णन असंदिग्ध रीतिसे आया है, इस औषधिवनस्पतियोंकी अनुवृत्ति इस सूक्तमें है। ये दोनों सूक्त साथ साथ हैं और दोनोंका रोगनिवारण और आरोग्य साधन यह विषय समानही है। इसलिये यह औषधीका मणि है यह बात स्पष्ट है।

मणिपर संस्कार।

स्वयं यह मणि वनस्पतिका है अर्थात् वनस्पतिकी लकडीसे यह बनता है तथा यह जिस धागेमें बांधाजाता है वह भी विशेष गुणकारी वनस्पतिका धागा होता है, यह बात पूर्व स्थलमें बतायी है। विशेष गुणकारी धागा और विशेष गुणकारी मणि इनके मिलापसे शरीरपर विशेष परिणाम होना संभव है। इसके नंतर—

अरण्याद्न्य आभृतः।
कृष्या अन्यो रसेभ्यः॥ (मंत्र. ५)

" एक अरण्यकी वनस्पतिसे बनता है और दूसरा कृषिसे उत्पन्न हुए वनस्पतियोंके रसोंसे भरा जाता है। " यह पंचम मंत्रका विधान विशेष ही मनन करने योग्य है। इसमें " आ—भृतः " शब्द है, इसका धात्वर्थ, " (आ) चारों ओर से (भृतः) पूर्ण किया, चारों ओरसे भर दिया है, " ऐसा होता है। अर्थात् मणि और धागा अनेक वनस्पतियोंके रसों में भिगोकर सुखानेसे वे सब रस उस धागेमें और मणिमें भर जाते हैं अथवा जम जाते हैं और इन सब रसोंका परिणाम शरीरपर हो जाता है। इस लिये जंगिडमणिका धारण यह एक वैद्य शास्त्रका महत्त्वपूर्ण और सशास्त्र विषय है और इसमें अन्धविश्वासकी बात नहीं है।

आजकल जो तावीज, कवच, धागा, दोरा, जादूका पदार्थ है वह केवल विश्वास की चीज है अथवा भावनासे उसकी कल्पना है। वैसा जंगिड मणि नहीं है। इस में औषधियोंका संबन्ध विशेष रीतिसे शरीरके साथ होता है। यद्यपि शरीरके अंदर औषधि नहीं सेवन की जाती तथापि शरीरके ऊपरके स्पर्शसे लाभ पहुंचाता है।

हमने यह बातें देखी हैं, कि तमाखूके पत्ते पेटपर बांध देनेसे वमन होता है। [इसी प्रकार हरीतकी (हिरड) की एक तीव्र जाती होती है, उस को हाथमें धरनेसे दस्त होते हैं, ऐसा कहते हैं, परंतु यह बात अभीतक हमने देखी नहीं है।] इसके अतिरिक्त हमने अनुभव की हुई बातें भी यहां निर्दिष्ट करना योग्य है, कोल्हापुर रियासत के अंदर बावडा (गगन बावडा) नामक एक छोटी रियासत है। वहां के श्री० नरेश के पास वनस्पतिके जडके मणि मिलते हैं, इस मणिके धारणसे दांतकी पीडा दूर होती है। इस

विषयका अनुभव हमने कई बार अपने ऊपर लिया है और अपने परिचितों पर भी लिया है। यह मणि किसी वनस्पतिकी जडका बनाया जाता है,परंतु उस वनस्पतिका नाम अभीतक हमें पता नहीं है। इसके अतिरिक्त प्रवाल, सुवर्ण, ताम्र, विविध रत्न आदिके धारणसे बालकोंके शरीरोंपर विशेष प्रभाव होता है यह भी देखा है। इसलिये यदि रसी और मणि उत्तम वनस्पतियोंसे बनाकर उनको विशेष रसोंसे सुसंस्कृत करके धारण किये जांय तो रोगोंका दूर होना शास्त्रदृष्टिसे सुसङ्गत प्रतीत होता है।

वचा के विषयमें हमने कई वैद्योंकी संमती ली है, उनका कहना है, कि वचाका मणि उक्त प्रकार शरीरपर धारण किया जाय तो वह स्पर्शजन्य रोग (छूत से फैलनेवाले रोग) की बाधा से दूर रख सकता है, अर्थात् जो धारण करेगा उसको उक्त रोग होनेकी संभावना कम है। इस बातका हमने कई बार प्रयोग भी किया है और लाभही प्रतीत हुआ है।

इसी प्रकार ग्रंथिक सन्निपात रोगके दिनोंमें " इग्नीशिया " नामक वनस्पतिके बीज धारण करनेसे कुछ लाभ होनेकी बात कई डाक्तर कहते हैं, तथापि हमें इसका विशेष अनुभव नहीं है। परंतु मुंबईमें हमने देखा था कि उक्त रोगके प्रादुर्भावमें इसका धारण कई लोग करते थे।

इस थोडेसे अनुभवसे हम कह सकते हैं, कि जंगिड मणिका धारण भी एक शास्त्रीय महत्त्वका विषय है और इसमें कोई अंधविश्वास की बात नहीं है। अब विशेष खोज करनेवालों का यह विषय है कि वे जंगिडमणिकी ठीक सिद्धता करने की रीतिकी खोज करें और इसका उपयोग करके आरोग्य प्राप्त करनेका निश्चित उपाय सबके लिये सुप्राप्य करें। वैद्यशास्त्रोंके ग्रंथ देखनेसे बहुत कुछ पता लगना संभव है।

खोजकी दिशा।

यहां खोज करनेकी दिशाका भी थोडासा वर्णन करना अयोग्य न होगा। श्री० सायणाचार्यजीने अपने भाष्यमें लिखा है, कि काशी प्रांतमें जंगिड वृक्ष है इस वृक्षके विषयमें काशी प्रांतके लोग खोज करें और जो कुछ अनुभव हो वह प्रकाशित करें।

वचा उग्रगंधी वनस्पति या चीज है। इसकी गंधिसे अर्थात् उग्रवाससे जो इसके परमाणु हवामें फैल जाते हैं, वे रोगजन्तुओंका नाश करते हैं, तथा रोगके विषको भी दूर कर देते हैं। यही कारण है कि वचा का शरीरपर धारण करनेसे छूत से फैलनेवाले रोग दूर होते हैं, या उनकी बाधा नहीं होती है। प्रायः छूतसे फैलनेवाले रोग सूक्ष्म जंतुओं

द्वारा फैलते हैं, वे रोगजंतु वचा की उग्रगंधिके कारण तत्काल मर जाते हैं। ऐसे उग्रगंधी पदार्थ अजवायन, पूदीना, लसूण, कपूर, पेपरमींट आदि अनेक हैं। आर्य वैद्यक शास्त्रमें इन पदार्थोंका परिगणन किया है और इनको कृमिनाशक भी कहा है। यदि खोज करनेवाले पूर्वोक्त रोगनाशक वनस्पति की जड या काष्ठके मणिपर सुयोग्य उग्रगंधीवाले अनेक रसोंसे योग्य संस्कार करेंगे, तो इस प्रयत्नसे जंगिडमणि अथवा तत्सदृश मणि अब भी प्राप्त होना संभवनीय है। इसलिये हम सुयोग्य वैद्योंको इस विषयकी खोज करनेके लिये सानुरोध प्रार्थना करते हैं।

जंगिड मणिसे दीर्घ आयुष्य।

प्रथम मंत्रके प्रारंभमें ही " जंगिडमणिसे दीर्घायुष्य प्राप्त होनेकी बात " कही है। यह दीर्घायुष्य प्राप्ति किस प्रकार होती है, यह बात यहां विचार करके देखनी आवश्यक है। इस विचार के लिये प्रथम आयुष्य की अल्पता क्यों होती है यह देखिये।

रोग — आधि और व्याधि — यह मुख्य कारण है जिससे आयुष्य क्षीण होता है। जंगिडमणि रोगोत्पादक विषों और रोगवर्धक जन्तुओंको दूर करता है अथवा नाश करता है, इससे नीरोगता प्राप्त होने द्वारा जो स्वास्थ्य प्राप्त होता है वह आयुष्य वर्धन करता है।

कई लोग समझते हैं, कि आयुष्य की वृद्धि नहीं होती है। परंतु वेदमें सेकडों स्थानोंपर दीर्घ आयुष्यके उपाय कहे हैं, इसलिये वैदिक दृष्टिकोणसे आयुष्यकी वृद्धि होनेके विषयमें कोई संदेह नहीं है। यदि दीर्घायुष्य होता है वा नहीं, इस विषयमें हम आर्य वैद्यक की साक्षी देखेंगे तो हमें वह साक्षी अनुकूल ही होगी; क्यों कि आयुष्य वर्धन के कई रसायन प्रयोग वैद्यशास्त्रमें कहे हैं। इसलिये आर्ष ग्रंथोंकी संमति आयुष्य की वृद्धि होती है इस विषयमें निश्चित है। इसलिये जो सर्व साधारण जनताका विचार है, कि आयुष्य वर्धन नहीं होता वह अशुद्ध है और वैसा विचार वैदिक धर्मियोंको मनमें रखनेकी आवश्यकता नहीं है।

जंगिडमणि (Disinfectant) स्पर्शजन्य दोषको हटानेवाला होनेके कारण यदि वह शरीरपर धारण किया जाय, तो उससे रोग दूर होनेमें शंका ही नहीं हो सकती और इस प्रकार यदि नीरोगता की सिद्धता हुई और आयुष्य वर्धक अन्य ब्रह्मचर्यादि वैदिक उपायोंका अवलंबन किया तो निःसंदेह आयुष्य वर्धन होगा। इस लिये पाठक इस बातका विशेष मनन करें।

बडा रण।

प्रथम मंत्रमें " महते रणाय " शब्द हैं। इसमें जो " रण " शब्द है उसका वास्तविक अर्थ रमणीयता शोभा इत्यादि होता है। यह अर्थ पूर्व स्थानमें दिया ही है। परंतु कईयोंके मतसे यहांके रण शब्दका अर्थ युद्ध है। इस लिये " महत् रण " शब्द का अर्थ " बडा युद्ध " है। यह अर्थ लेनेसे प्रथम मंत्रके इस भाग का अर्थ निम्नलिखित होता है—

महते रणाय जङ्गिडं वयं बिभृमः॥ (मं १)

" बडे युद्धके लिये हम जङ्गिड मणिका धारण करते हैं। " अर्थात् बडे युद्धमें हमारा विजय हो इस लिये हम जङ्गिड मणिका धारण करते हैं। जङ्गिड मणिके धारण से हमारे शरीरमें ऐसा बल बढेगा, कि जिससे हम उस बडे युद्धमें विजयी बनेंगे। यह युद्ध कौनसा है? यह युद्ध अपना जीवनही है। मनुष्यका जीवन एक बडा भारी युद्ध है।

शताब्दीतक चलने वाला यह युद्ध है। सौ वर्ष इस युद्धमें व्यतीत होंगे। इस लिये यह साधारण युद्ध नहीं है। शरीर क्षेत्रमें जो कार्य आत्मा द्वारा चल रहा है, उसमें विविध रोग विघ्न डालते हैं और उनके साथ हमारा युद्ध चल रहा है। अपना आरोग्य स्थापित करनेसे ही इस युद्धमें हमें विजय प्राप्त होना है। जङ्गिड मणिसे रोगनिवृत्तिद्वारा आरोग्य प्राप्त होता है इस हेतुसे यह मणि इस बडे युद्धमें भी हमें सहायक है, ऐसा इस मंत्रमें जो कहा है वह योग्यही है।

बलवर्धन।

इस प्रथम मंत्रमें और दो शब्द बडे महत्त्वपूर्ण हैं, । अ-रिष्यन्तः । दक्षमाणाः " इन दो शब्दोंका क्रमशः अर्थ " अहिंसित होते हुए, बलिष्ठ होनेवाले " यह है। रोगादिके हमलोंके कारण अथवा अन्य दुष्ट शत्रुओंके आक्रमण के कारण हम (अरिष्यन्तः) हिंसित न हों अर्थात् हम क्षीण दुःखी त्रस्त अथवा नष्ट न हों, यह प्रथम पद का अर्थ है। परंतु थोडासा विचार करने पर पाठकोंके मनमें यह बात स्पष्टताके साथ आजायगी कि केवल क्षीण न होने अथवा नष्ट न होनेसे ही अर्थात् केवल जीवन धारण करनेसे ही जगत् में कार्य चलना और विजय प्राप्त होना अशक्य है। विजय प्राप्त करने के लिये यह निषेधात्मक गुण विशेष सहायक नहीं होगा। इस कार्य के लिये विधेयात्मक गुण अवश्य चाहिये। यह गुण (दक्षमाणाः) बलवान् इस शब्दद्वारा बताया

है । इसका अर्थ बलवान होना है । पाठक थोडासा विचार करेंगे तो उनके ध्यानमें यह बात आजायगी कि—

बल और विजय ।

इस गुणकी बडी आवश्यकता है । रोग नहीं हुए, अशक्त न हुआ, नष्ट नहीं हुआ तोभी कार्य नहीं चलेगा, विजयकी इच्छा है तो अपना बल सर्व दिशाओंसे बढानेका यत्न होना आवश्यक है । जितना बल बढेगा उतना विजय निश्चयसे प्राप्त होनेकी संभावना अधिक है । पाठक इन दो शब्दोंका परस्पर महत्त्व पूर्ण संबंध देखें और वेदकी शब्द योजनाकी गंभीरता अनुभव करें ।

दूषण ।

इस सूक्तमें " दूषण, दूषि " इन शब्दोंका प्रयोग विलक्षण अर्थमें हुआ है । देखिये–

विष्कन्ध दूषण— विष्कन्धको बिगाडनेवाला
कृत्या दूषि — कृत्याको दोष लगानेवाला
अराति दूषि — अराति को दोष लगानेवाला

पाठक सूक्ष्म दृष्टिसे देखेंगे तो उनको इस शब्द प्रयोग में यह बात स्पष्ट दिखाई देगी, कि " शत्रुमें दोष उत्पन्न करना" यहां सूचित किया है । कई कहते हैं कि शत्रुको मारो काटो या शत्रुका नाश करो । वेदमें भी शत्रुका नाश करनेका उपदेश कईवार किया है । परंतु यहां दूसरी बातका उपदेश शत्रुको दूर करनेके विषयमें किया है । शत्रु में दोष उत्पन्न करना, शत्रुमें हीनता उत्पन्न करना, शत्रुकी कार्यवाही में दोष उत्पन्न करना । जिस समय शत्रुका शीघ्र नाश नहीं होता है उस समय अनेक उपायोंसे शत्रुके अंदर दोषोंको बढानेसे शत्रुका बल घटता जाता है और अपना बल बढता जाता है । यह जितना व्यक्तिगत रोगोंके विषयमें सत्य है उतनाही सामाजिक और राष्ट्रीय शत्रुओंके विषयमें भी सत्य है, शत्रुमें दोष उत्पन्न करनेसे थोडेसे प्रयत्नसे शत्रुका पराभव होता है और अपने लिये विजय प्राप्त होता है ।

यह मणि शरीरपर धारण करनेसे शरीरके जो रोगादि शत्रु हैं उनकी शक्तिमें दोष उत्पन्न होता है, इससे उन शत्रुओंकी शक्ति क्षीण होती जाती है और अपना बल बढता जाता है ।

यह शरीरके क्षेत्रका उपदेश पाठक राष्ट्रके क्षेत्रमें देखेंगे तो उनको राजनीतिके शत्रुदमन विषयक एक बडे सिद्धांत का ज्ञान हो सकता है ।

अत्रि ।

वेद मंत्रोंमें " अत्रि" शब्द विभिन्न अर्थोंमें प्रयुक्त हुआ है। कई स्थान पर इसका अर्थ है ऋषि, कई स्थानपर राक्षस और इस सूक्तमें यह एक रोग विशेषका नाम है। इतने भिन्न अर्थोंमें इसका उपयोग होनेसे इसके विषयमें पाठकोंके मनमें संदेह होना संभव है, इस लिये इस विषयमें थोडासा लिखना आवश्यक है।

" अद् " (खाना) इस धातुसे यह शब्द बनता है इसलिये इसका अर्थ " भक्षक " है। दूसरा " अत् " (भ्रमण करना) इस धातुसे बनता है, इस समय इसका अर्थ भ्रमण करनेवाला होता है। पहिला अर्थ हमने इससे पूर्व दिया है। यहां यह अत्रि शब्द रोगवाचक होनेसे भक्षक रोग अथवा भस्म रोग ऐसा किया है, जिसमें रोगी अन्न बहुत खाता है परंतु कृश होता जाता है। दूसरा अत्रि शब्द " भ्रमण करनेवाला " यह अर्थ बताता है, यह अर्थ रोगवाचक होनेकी अवस्थामें पागल का वाचक हो सकता है। मूर्ख मनुष्य जो मस्तिष्क बिगड जानेसे पागल होजाता है, कारण के विना भी वह भटकता रहता है इस लिये इसका वाचक यह शब्द होसकता है। इससे यह भी सिद्ध होगा कि यह जंगिडमणि मस्तिष्क बिगड जानेके रोगमें भी हितकारी होगा। परंतु पाठक यहां स्मरण रखें कि यह केवल व्युत्पत्तिकी बात है, इस लिये वैद्यशास्त्रमें इसका बहुत प्रमाण नहीं होसकता, जबतक कि अनुभवसे जंगिड मणिका यह उपयोग सिद्ध न हो। तथापि यह अर्थ जंगिडमणिकी खोज करनेमें सहायक होगा इस लिये यहां दिया है। वचाके गुणधर्मोंमें स्मृतिवर्धिनी और उन्मादनाशनी ये दो गुण इस अर्थके साधक हैं, यह खोजके समय ध्यानमें धारण करने योग्य है।

इस प्रकार यह सूक्त महत्त्व पूर्ण अनेक बातोंका वर्णन कर रहा है। पाठक विचार करते रहेंगे तो उनको इस रीतिसे बडा बोध प्राप्त हो सकता है।



वैदिक धर्म के ग्रंथ।

(१) स्वयंशिक्षक माला।

वेदका स्वयंशिक्षक। १ प्रथम भाग ... मूल्य १॥)
" " २ द्वितीय भाग ... " १॥)

(२) योगसाधनमाला।

१ संध्योपासना। ... मूल्य १॥)
२ संध्याका अनुष्ठान। ... " ॥)
३ वैदिक प्राण विद्या। ... " १)
४ ब्रह्मचर्य (सचित्र)। ... " १।)
५ योगसाधनकी तैयारी। " १)
६ योगके आसन। (सचित्र) " २)
७ सूर्यभेदनव्यायाम सचित्र " ॥।)

(३) यजुर्वेद स्वाध्याय।

१ यजु. अ. ३०। नरमेध। मूल्य मूल्य १)
२ यजु. अ. ३२। एकेश्वर उपासना। " ॥)
३ यजु. अ. ३६। शांतिका उपाय। " ॥=)

(४) देवतापरिचय ग्रंथमाला।

१ रुद्र देवता परिचय। .. मूल्य॥)
२ ऋग्वेदमें रुद्र देवता। ... " ॥=)
३. ३३ देवताओंका विचार। " ≡)
४ देवताविचार। .... " ≡)
५ अग्निविद्या।... " १॥)

(५) धर्म शिक्षाके ग्रंथ

१ बालकधर्मशिक्षा। प्रथमभाग। मू. -)
२ बालकधर्मशिक्षा। द्वितीयभाग। " =)
३ वैदिक पाठमाला। प्रथम पुस्तक " ≡)

(६) उपनिषद् ग्रंथमाला।

१ केन उपनिषद् .... मूल्य १।)
२ ईश उपनिषद् " ॥।=)

(७) आगम-निबंध-माला

१ वैदिकराज्यपद्धति। ... मू. ।-)
२ मानवी आयुष्य। ... " ।)
३ वैदिकसभ्यता ... ... " ॥।)
४ वैदिक चिकित्साशास्त्र। ... " ॥)
५ वैदिक स्वराज्य की महिमा। " ॥)
६ वैदिक सर्प विद्या। .... " ॥)
७ मृत्युको दूर करनेका उपाय। " ॥)
८ वेदमें चर्खा। .... " ॥)
९ शिवसंकल्पका विजय। " ॥।)
१० वैदिक धर्मकी विशेषता " ॥)
११ तर्कसे वेदका अर्थ। .... " ॥)
१२ वेदमें रोगजन्तु शास्त्र। " ≡)
१३ ब्रह्मचर्यका विघ्न। .... " =)
१४ वेदमें लोहेके कारखाने। " ।-)
१५ वेदमें कृषिविद्या। " ≡)
१६ वैदिक जलविद्या। " =)
१७ आत्मशक्तिका विकास। " ।-)
१८ वैदिक उपदेश माला " ॥)

(८) ब्राह्मण-बोध-माला।

१ शतपथ बोधामृत। " ।)

(९) अन्य पुस्तक।

१ वैदिक यज्ञसंस्था प्रथम भाग " १)
२ " " द्वितीय " " १)
३ छूत और अछूत प्रथम भाग " १)
४ " " द्वितीय " " ॥।)

स्वाध्याय मंडल, औंध (जि० सातारा)

मुद्रक तथा प्रकाशक- श्री० दा० सातवळेकर, भारत मुद्रणालय, औंध (जि० सातारा)

REGISTERED. No. 1463

ॐ

वैदिक धर्म ।

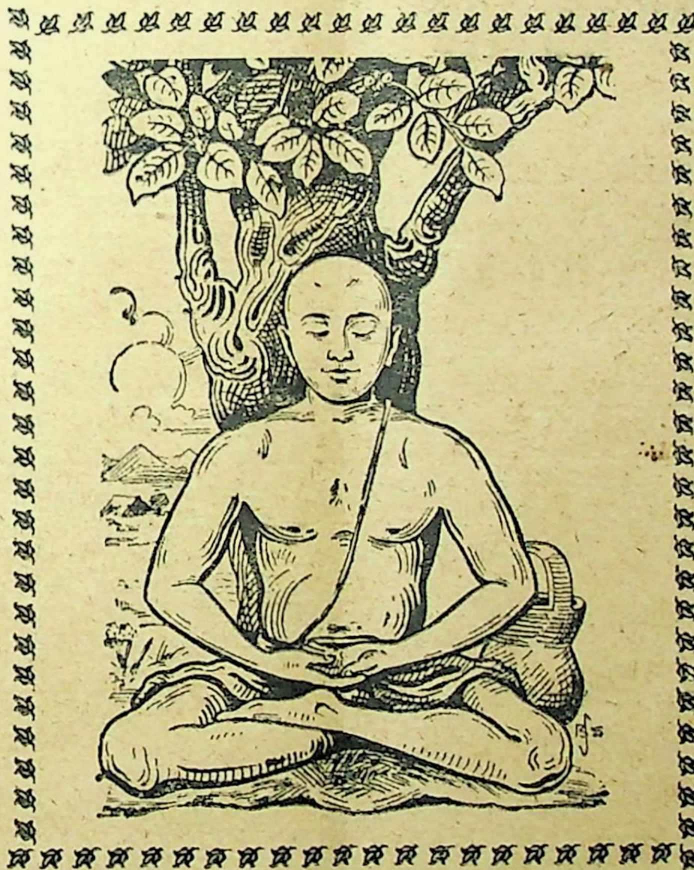
वैदिक तत्त्व ज्ञान प्रचारक मासिक पत्र ।

संपादक— श्रीपाद दामोदर सातवळेकर

वर्ष ९

अंक २

क्रमांक ९८



माघ

संवत् १९८४

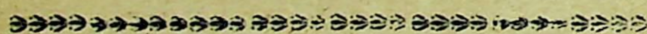
फरवरी

सन १९२८

वार्षिक मूल्य— म० आ० से ४) वी० पी० से ४॥) विदेश के लिये ५)

विषयसूची।







संस्कृत पाठ माला।

[चोवीस भागोंमें सब संस्कृत पढाई हो गई है।]

बारह पुस्तकोंका मूल्य म. आ· से ३) और वी. पी. से ४)

चोवीस पुस्तकोंका मूल्य म. आ. से ६) रु. और वी. पी. से ७)

प्रतिभाग का मूल्य ।-) पांच आने और डा. व्य. -) एक आना।

अत्यंत सुगम रीतिसे संस्कृत भाषाका अध्ययन करनेकी अपूर्व पद्धति ।

इस पद्धतिकी विशेषता यह है—

१ प्रथम द्वितीय और तृतीय भाग।

इन तीन भागोंमें संस्कृत भाषाके साथ साधारण परिचय कर दिया गया है।

२ चतुर्थ भाग।

इस चतुर्थ भागमें संधि विचार बताया है।

३ पंचम और षष्ठ भाग

इन दो भागोंमें संस्कृतके साथ विशेष परिचय कराया गया है।

४ सप्तम से दशम भाग।

इन चार भागोंमें पुलिंग, स्त्रीलिंग और नपुंसक. लिंगी नामोंके रूप बनानेकी विधि बताई है।

५ एकादश भाग।

इस भागमें " सर्वनाम " के रूप बताये हैं।

६ द्वादश भाग।

इस भागमें समासों का विचार किया है॥

७ तेरहसे अठारहवें भाग तकके ६ भाग।

इन छः भागों में क्रियापद विचार की पाठविधि बताई है।

८ उन्नीससे चौवीसवे भागतकके ६ भाग।

इन छः भागोंमें वेदके साथ परिचय कराया है।

अर्थात् जो लोग इस पद्धतिसे अध्ययन करेंगे उन को अल्प परिश्रमसे बडा लाभ हो सकता है।

स्वाध्याय मंडल, औंध (जि. सातारा)

अग्नि विद्या।

इस पुस्तक में निम्न लिखित विषय हैं।

१ अग्नि शब्दका भाव, २ अग्निके पर्याय शब्द, ३ पहिला मानव अग्नि, ४ वृषभ और धेनु, ५ अंगिरा ऋषि, ६ वैश्वानर अग्नि, ७ ब्राह्मण और क्षत्रिय, ८ जनता का केन्द्र, ९ सब धन संघका है, १० बुद्धिमें पहिला अग्नि, ११ मनुष्यमें अग्नि, १२ मर्त्योंमें अमर अग्नि, १३ वाणीमें अग्नि, १४ पुरोहित अग्नि, १५ शक्ति प्रदाता अग्नि, १६ हस्त-पाद-हीन गुह्य अग्नि, १७ वृद्ध नागरिक, १८ मूकमें वाचाल, १९ अनेकों का प्रेरक एक देव, २० जीवनाग्नि, २१ अग्निकी दस बहिनें, २२ देवोंके साथ रहनेवाला अग्नि, २३ यज्ञका झंडा, २४ गुहा निवासी अग्नि, २५ सात संख्याका गुह्य तत्त्व, २६ तनूनपात् अग्नि, २७ यज्ञ पुरुष, यज्ञशाला, मंदिर (चित्र), २८ परमाग्नि, २९ अग्नि सूक्त का अर्थ और व्याख्या।

हर एक विषयको सिद्ध करने के लिये वेद के विपुल प्रमाण दिये हैं। इस पुस्तकके पढने से अग्नि विद्या की वैदिक कल्पना ठीक प्रकार ज्ञात हो सकती है।

मूल्य १॥) रु. डाकव्यय =) है

मंत्री-स्वाध्याय मंडल, औंध (जि. सातारा)

महाभारत।

हिंदी भाषा—भाष्य—समेत

तैय्यार हैं।

१ **आदिपर्व** पृष्ठ संख्या ११२५ मूल्य म. आ. से ६) रु. और वी. पी. से ७) रु.

२ **सभापर्व** पृष्ठ संख्या ३५६ मूल्य म. आ. से २) और वी. पी. से.) रु. २॥)

३ **वनपर्व** पृष्ठ संख्या १५३८ मूल्य ८) रु. और वी. पी. से. ९) रु.

४ **विराटपर्व** पृष्ठसंख्या ३०६ मू० म. आ. से १॥) और वी. पी. से २) रु.

५ **उद्योगपर्व** पृष्ठ संख्या ९५३ मू. म. आ० से ५) रु. और वी. पी. से ६ रु.

६ **महाभारत समालोचना—**

१ प्रथम भाग। मू. म. आर्डरसे ॥) वी. पी. से ॥|=) आने।
२ द्वितीय भाग। मू. म. आर्डरसे ॥) वी. पी से ॥|=) आने।
महाभारतके ग्राहकोंके लये १२०० पृष्ठोंका ६) रु. मूल्य होगा।

मंत्री- स्वाध्याय मंडल, औंध, (जि. सातारा)



वर्ष ९
अंक २
क्रमांक ९८

माघ
संवत् १९८४
फर्वरी
सन १९२८

वैदिक धर्म।

वैदिक तत्त्वज्ञान प्रचारक मासिक पत्र।
संपादक– श्रीपाद दामोदर सातवळेकर।
स्वाध्याय मंडल, औंध (जि. सातारा)

गोमेध।

:o:

ब्राह्मणेभ्य ऋषभं दत्त्वा वरीयः कृणुते मनः।
पुष्टिं सो अघ्न्यानां स्वे गोष्ठेऽव पश्यते ॥१९॥
गावः सन्तु प्रजाः सन्त्वथो अस्तु तनूबलम्।
तत्सर्वमनुमन्यतां देवा ऋषभदायिने ॥२०॥

अथर्ववेद ९।४

"ब्राह्मणोंको बैल दान देनेसे दाताका मन श्रेष्ठ बनता है। वह दाता अपनी (गोष्ठे) गोशालामें (अ-घ्न्यानां) अवध्य गौवोंकी पुष्टि उक्त दान से हुई है ऐसा स्वयं देखता है ॥१९॥ घरमें गौवें बहुत रहें, घरमें संतान बहुत रहे और शरीरका बल बढ जाय। बैलका अथवा गौका दान देनेवाले दाता को यह सब देवोंकी कृपासे प्राप्त हो ॥२०॥"

यह गोमेध है। घरमें गौओंकी संख्या बढे तथा गौओंके गुण भी बढें अर्थात् उत्तम गुणोंसे युक्त गौवें बढें। संतानें भी बढें और शरीरका बल भी बढे। गोपालन के ये फल हैं। जिस घरमें गौवें पालीं जातीं हैं वहां शरीरका बल बढता है, संतान हृष्टपुष्ट होते हैं और आरोग्य भी प्राप्त होता है।

—o—

स्वाध्याय वृत्त ।

यजुर्वेद का मुद्रण ।

यजुर्वेद का मुद्रण समाप्त हुआ। अब उसकी जिल्द बन रही है। यह ग्रंथ इसी मासमें ग्राहकोंके पास भेजा जायगा। जिन्होंने रेशमी जिल्द के लिये खास कर लिखा है उनके पास रेशमी जिल्द भेजी जायगी, तथा जिन्होंने विना जिल्द मांगा है उनके पास विना जिल्द भेजा जायगा, अन्यों के पास कपडे की जिल्द भेजी जायगी। ग्राहक कृपया अपनी आवश्यकता अति शीघ्र सूचित करें।

विनाजिल्द यजुर्वेद	१॥)	सबके लिये डाकव्यय॥)
कपडेकीजिल्द ,,	२)	और (वी. पी. से२॥))
रेशमी ,, ,,	२।)	होगा ।

पेशगी मूल्य का लाभ जो ग्राहक लेना चाहें वे शीघ्र डाकव्यय समेत उक्त मूल्य म. आ. द्वारा भेज दें। पीछेसे मूल्य बढेगा और रेशमी जिल्दका तो अवश्य बढेगा। इस यजुर्वेद पुस्तक में निम्न लिखित विषयोंकी व्यवस्था है-

मूल ग्रंथ।

१ विस्तृत भूमिका (संस्कृतमें)	पृष्ठ १-८
२ मूल यजुर्वेद संहिता	१-१७०
३ काण्वशाखाके पाठविशेष	१७१-२०२
सूचियां।	
४ अकारादिक्रमसे ऋषिसूची	२०३—२०७
५ अध्याय क्रमसे ,, ,,	२०८—२१४
६ अध्याय क्रमसे देवतासूची	२१५—२२७
७ अकारादि क्रमसे ,, ,,	२२८—२३६
८ अध्याय क्रमसे विषयसूची	२३७—२३९

इस प्रकार यह ग्रंथ स्वाध्यायके लिये अत्यंत उपयोगी हुआ है। नित्यपाठ करनेवालों को तो यह एक उत्तम पुस्तक है, इस प्रकारका अलग अलग मंत्र मुद्रित किया हुआ पुस्तक कहांभी दूसरा नहीं है। आशा है कि पाठक इस से लाभ उठावेंगे।

वैदिक धर्म का विशेषांक।

वैदिक धर्मका यह क्रमांक९८वां है। इसका१००वां अंक विशेषांक होगा। यह सौपृष्ठोंका अंक होगा और इसमें अनेक विद्वानों के लिखे वेद विषयपर लेख होंगे। इसका मूल्य अन्योंके १) रु. होगा। वैदिकधर्म के ग्राहकों को तो यह विना मूल्य मिलेगा। ग्राहक अपना चंदा शीघ्र भेज कर इस अंकसे लाभ उठावें।

गोमेध

गोमेध की मांग बढ रही है। कई उत्साही ग्राहक इसका भाषांतर भारत वर्षकी अन्य भाषाओंमें करना चाहते हैं, उनसे निवेदन है कि वे भाषांतर करनेसे पूर्व हमें सूचित करें। गोमेध का " आंग्रेजी अनुवाद " करने और प्रकाशित करनेकी आज्ञा एक महाशयको हमने दी है इस लिये अब इसका आंग्रेजी अनुवाद दूसरा कोई न करे। तथा स्वाध्याय मंडलके " रुद्र देवता " विषयक पुस्तकोंका अनुवाद तामील भाषामें छपकर प्रकाशित भी हो चुका है। अनुवाद करनेवाले इसका स्मरण रखें। आसन, सूर्य भेदन, छूत अछूत इन पुस्तकों के गुजराती और मराठीमें अनुवाद प्रकाशित हुए हैं। कई महाशय स्वाध्याय मंडलके ग्रंथोंका अनुवाद कानडी, पंजाबी और बंगाली भाषामें करनेके कार्यमें लगे हैं। इस लिये अनुवाद करनेवाले महाशय यहां सूचना देनेके विना अनुवाद न करें। अन्यथा एक एक पुस्तक के कई अनुवाद बनेंगे जिससे प्रकाशकों को कठिनाई होगी।

अथर्व वेद का सुबोध भाष्य।

इस मास में कई ग्राहकोंकी चिठ्ठियां आगई हैं उनमें वे लिखते हैं कि " अन्य कार्य छोड कर अथर्व वेद के सुबोध भाष्यको ही सबसे प्रथम मुद्रित किया जावे। " इन ग्राहकोंका धन्यवाद है। परंतु कोई ऐसे कार्य हमने नहीं किये हैं जो एक क्षणमें छोडे जा सकते हैं। और छोड भी दीये तो भी अथर्ववेद का सुबोध भाष्य इतनी शीघ्रता से लिखा नहीं जायगा, जितनी शीघ्रतासे पाठक चाहते हैं। अथर्ववेद के सूक्तोंका विचारपूर्वक ही लेख लिखना चाहिये, शीघ्रतासे होनेवाली यह बात नहीं है। कमसे कम इस मासिक के संपादक से इस विषयमें अधिक शीघ्रता होना असंभव है। पाठक भी अधिक पढने की अपेक्षा अधिक मनन करेंगे, तो वेदके मंत्रोंसे अधिक लाभ प्राप्त कर सकते हैं।

हिंदुमुसलमानों का सख्य

और गोवध।

राष्ट्रीय महासभाने इस वर्ष इस हिंदुमुसलमानोंके मेलका प्रस्ताव नये ढंगसे किया है। नेता लोग अपने मनसे मानते हैं कि इस प्रस्ताव का परिणाम विशेष आशाजनक होगा। हम भी एकताके इच्छुक हैं इस लिये मनसे परमात्मा की प्रार्थना करते हैं कि, वह प्रभु हमारे नेता लोगोंकी इच्छा पूर्ण करे।

राष्ट्रीय महासभामें सदासे एक विशेषता दिखाई देती है और वह यह है कि, जो मुसलमान अपनी राष्ट्रीय महत्ता का हेतु बता कर सर्वत्र विशेष अधिकार चाहते हैं, वे अपने प्रतिनिधि विपुल संख्यामें राष्ट्रीय महासभामें कभी नहीं भेजते, इतनाही नहीं; परंतु राष्ट्रीय महासभाके ही समय अपनी अलग सभा भी करते हैं ताकि मुसलमान विशेष संख्यामें राष्ट्रीय महासभामें न जा सकें। मुसलमान इस राष्ट्रसभासे अलग भी रहे हैं। इस वर्ष की राष्ट्रीय महासभामें कुल सदस्योंकी संख्या पंद्रह हजार से भी अधिक हुई थी, परंतु इसमें सौ दोसौ भी मुसलमान न थे। ये लोग इस प्रकार अपने आपको अलग क्यों रखना चाहते हैं इसका विचार हिंदु-नेताओंको करना चाहिये। अपने आपको सदा के लिये अलग रखनेका यत्न करने वालोंसे तथा केवल लाभ के समयही अपने लिये बडा भाग चाहने वालों के साथ सख्य करना कितना कठिण है, इस का अनुभव गत पांच सात वर्षोंमें पर्याप्त प्रमाणमें आगया है और यदि उस अनुभव से नेता लोग दिलसे समझते हैं कि केवल इस प्रकारके प्रस्तावसे समझौता होगा तो हम समझेंगे कि नेता लोग और भी अनुभव लेना चाहते हैं। कोई हर्ज नहीं है, नेताओं की इच्छा तो बडी सात्विक है, इसलिये उनको साथ देना हमारा आवश्यक कर्तव्यह है।

मनकी शुद्धता होनेके विना मित्रता नहीं हो सकती तथा मनकी शुद्धता होनेके विना की हुई मित्रता लाभ की अपेक्षा अधिक हानिकारक ही होती है। सत्यकी निष्ठा बढने के विना मनकी भी शुद्धता नहीं हो सकती। मुसलमान नेताओंका तो हमें पता नहीं है, परंतु हिंदु नेता तो सच बोलने के समय बडे डरते हैं, सत्य के लिये समर्पित हुए नेता भी हिंदुमुसलमानोंकी समस्या के विषय में सत्य बोलने से पीछे हटते हैं और जहांतक हो सके वहांतक उत्तर देना टालतेही हैं। जहां इतना सत्यसे डर हो वहां उस असत्य व्यवहार से दिल सफाई कभी होनी नहीं है और मानसिक शुद्धता से प्राप्त होनेवाली एकता भी डरपोक नेताओंके प्रयत्नसे साध्य होना कठिन कार्य है।

हिंदुमुसलमानों की समस्या गत आठ दस वर्षोंसे बढ रही है। गौ और बाजा पहिले भी थे, परंतु पहले कभी झगडे नहीं हुए और आजकल हो रहे हैं। जहां झगडे पहिले कभी नहीं हुए थे वहां नये ढंगसे झगडे के अड्डे बन रहे हैं। महाराष्ट्रमें ही देखिये बाजोंका प्रश्न यहां कभी नहीं उठा था, परंतु कऱ्हाड, तळेगांव आदि स्थानों में मुसलमानोंने झगडों के अड्डे नये खडे किये हैं और वाद्योंका प्रश्न इसी सालसे खडा किया गया है। सरकार भी बाजा बंद करवा कर स्थान स्थानमें मुसलमानों की सहायता कर रही है। प्रतिवर्ष इस प्रकार झगडों के अड्डे नये ढंगसे नये स्थानोंमें बनाये जा रहे हैं। इसलिये हमें ऐसा प्रतीत होता है कि इसमें कोई विशेष हेतु होगा।

मुसलमानोंका कांग्रेससे अलग रहना और नये नये केन्द्रोंमें झगडे नये ढंगसे खडे करना यह कोई

निर्हेतुक बात नहीं है। यदि ये लोग किसी विशेष हेतुसे झगडों के नये केन्द्र बना रहे हैं, तो केवल ऐसे प्रस्तावोंसे मेल कैसा होगा यह हमारे समझमें नहीं आता।

वास्तविक गोवध और बाजेका कोई परस्पर संबंध नहीं है, परंतु मुसलमान नेता उसका अनिवार्य संबंध मानने लगे हैं !! तथा सिंधप्रांत अलग करना, सीमाप्रांत में शासन सुधार करना आदि विषय भी हिंदुमुसलमानों के मेलके साथ कोई संबंध नहीं रखते। परंतु मुसलमान नेता उसका घनिष्ट संबंध मानते हैं!!! जो बातें परस्पर संबंधित नहीं हैं, उनका घनिष्ट संबंध आग्रह से बताना-और विना हेतु दिये बताना-- मनकी ऐसी अवस्थाका दर्शक है जो संधि होनेके सर्वथा प्रतिकूल है। नेता लोग इसका विचार करें।

इतना अनुभव आचुकने पर भी हिंदु नेता दिल से समझते हैं कि यह प्रस्ताव बडा भारी परिवर्तन करेगा, इसलिये नेता लोगों के प्रतिकूल हम यहां कुछ भी लिखना नहीं चाहते। परंतु जब राष्ट्रमहासभा के भूत पूर्व प्रधान श्री. श्रीनिवास अयंगार गोवध के विषयमें कहते हैं कि—" गोवध के विषय में हिंदु व्यर्थ आवाज उठा रहे हैं क्यों कि हिंदुओं के धर्म ग्रंथोंमें गोवध की आज्ञा है। ' इत्यादि भाषण श्री. श्रीनिवास अयंगार महोदयजीने किया है।यह विधान सब अखबारों में प्रकाशित हो चुका है। इस भाषण के लिये हम व्याख्याता के वैदिकधर्म ग्रंथोंकी अज्ञानता की निंदा करें या अज्ञान होते हुए ऐसे भयानक विधान करनेके साहसकी प्रशंसा करें यह हमारे समझमें नहीं आता है! यदि वेदादि धर्मग्रंथ पढे नहीं हैं तो उन ग्रंथों के विषय में कुछ भी न बोलना ही योग्य है। परंतु न पढते और न समझते हुए ऐसे विधान ठोक देना एक बडा भारी साहस है, जो ऐसे बडे नेता के लिये बिलकुल सजता नहीं है।

मुसलमान नेता प्रायः अपने धर्मग्रंथ " कुराण " से परिचित रहते हैं, परंतु दुर्भाग्य के कारण हमारे हिंदु नेता वैसे अपने धर्मग्रंथोंसे परिचित नहीं होते, वेदकी बात तो दूर की है, परंतु अन्य ग्रंथोंसे भी वे परिचित नहीं होते। अंग्रेजीका ज्ञान रखना और बात है, वह ज्ञान धर्मग्रंथों के अज्ञान का दोष धो देनेमें समर्थ नहीं है। परंतु इतना गहरा अज्ञान होते हुए भी इन हिंदू नेताओं को अपने अज्ञान का पता नहीं है। इसलिये प्रसंग आनेपर अपने धर्म के विषय में ऐसे अज्ञानपूर्ण विधान करने से वे पीछे नहीं हटते। यह भेद है हिंदु और मुसलमान नेताओं में। इसलिये मुसलमान नेताओं के सन्मुख हिंदु नेता प्रायः दब जाते हैं। और एकता के लिये सब कुछ, जो वे कहें, वह मान जाते हैं।

एकता के लिये सब कुछ कुर्बान करनेकी हिंदु नेताओंकी प्रवृत्ति है और उनमें यह भी एक भाव है कि "हमें लोग उदार कहें ' इसलिये मुसलमान नेता जिस प्रबलतासे अपनी जातिके लिये यत्न करते हैं उतनी प्रबलतासे हिंदु नेता कर नहीं सकते, क्यों कि स्वधर्म ग्रंथोंके अज्ञानके साथ प्रमाणसे अधिक उदारता भी उनमें है।

हिंदुमुसलमानों के झगडे उत्तर भारत में अधिक और दक्षिण भारत में न्यून हैं। उत्तर से दक्षिण की ओर आते आते वे कम होते जाते हैं, इसलिये इन झगडों में जिस प्रकार उत्तरीय नेता अपने अनुभव की बात कह सकते हैं उस प्रकार मद्रासके नेता कह ही नहीं सकते। यदि श्री. श्रीनिवास अयंगार पंजाब में जाकर दस वर्ष निवास करेंगे तब कुछ उनको पता लग जायगा कि मुसलमानोंकी मनःप्रवृत्ति कैसी है। तथापि इस मुख्य विषयका अज्ञान रहते हुए भी अयंगार महाशय अपना मत देगें ही !!

" वेदादि शास्त्रोंमें गोवध की आज्ञा है इसलिये हिंदुओं की ओर से मुसलमानोंके गोवध के लिये प्रतिबंध होना नहीं चाहिये " यह इनका कथन है। यह ऐसे उत्तम विद्वान के मुखसे कैसा कहा गया यही हमारे समझमें नहीं आता !!!

वेद में गोवध की आज्ञा नहीं है, गोमेध में भी गौका वध नहीं है, इस विषयका पुस्तक थोडे ही समयके पूर्व स्वाध्याय मंडल द्वारा प्रकाशित हो चुका है। इस लिये यह विषय पुनः लिखनेकी बिलकुल आवश्यकता नहीं है।

वेद गोवधका पूर्ण निषेध करता है और गोमेधमें गौकी वृद्धि, संगोपन, पालन, पोषण और विद्वान ब्राह्मणोंको दान इतने ही विषय हैं। पाठक गोमेधके सूक्त देखेंगे तो उनको पता लग जायगा कि गोदान लेनेका अधिकारी कौन है और गोदान देनेसे लाभ क्या हैं, इत्यादि बातें उसमें लिखी हैं, यह उनको ज्ञात होगा। इसलिये वेदके सिद्धांत के विषयमें अब कोई संदेह ही नहीं है। यदि श्री० श्रीनिवास अयंगार महोदय के पास कोई मंत्र हो जिससे गोवध करनेकी आज्ञा प्रतीत होती हो तो वह जनता के सन्मुख रखें अन्यथा अपना कथन सार्वजनिक रीति से वापस लें। यदि वीरता है तो आगे आ जांय।

यह बात तो वेद के सिद्धान्तके विषय में हुई। अब रही बात अन्य ग्रंथोंके वचनोंकी, तो उस विषयमें इतना ही कहना है कि केवल किसी ग्रंथमें कुछ विधान होने से वह विधान धर्मसिद्धान्त नहीं होता। प्राचीन ग्रंथोंमें कई विधान हैं उनमें कई यहां देते हैं—

१ गर्भको खानेवाले लोक थे।

२ मनुष्य भक्षक लोग थे।

ये विधान किसी प्राचीन ग्रंथ में मिले तो क्या इन वचनों के बलसे आज किसीने किसी स्त्रीका गर्भपात कराके उस गर्भ को खाया, तो उसका संमान श्री. अयंगार महाशय करेंगे ? या निषेध करेंगे?

कई रीतियां आजकल बदल भी गई हैं और प्राचीन समय में भिन्न रीतियां थीं देखिये —

१ पति होते हुए वह संतानोत्पत्तिमें असमर्थ होने पर या पति मरनेपर, दूसरे पुरुषसे संतान उत्पन्न करने की रीति प्राचीन कालमें थी,

२ तथा पतिके जीते जी भी उसे छोड कर दूसरे के साथ विवाह करनेकी रीति थी।

क्या ये रीतियां थीं इसलिये आज ही इनरीतियों का पुनः प्रस्थापित करना संभव हो सकता है? क्या कोई एकदम मनुष्य ऐसा आज करे तो उसका व्यवहार समर्थनीय भी माना जा सकता है? ऐसी सेकडों रीतियां प्राचीन समयमें थीं, परंतु आज नहीं हैं। आज भी क्या और प्राचीन काल में भी क्या कई नियम सार्वभौमिक और कई प्रांतिक होते हैं। प्रांतिक नियमोंको सार्वभौमिक मानना भूल है, तथा एक समयके नियमों को सार्वकालिक मानना भी बडी भारी भूल है। देखिये—

आज मलाबार में स्त्री संतानके नाम से वंश की संपत्तिका अधिकार चलता है और भारत वर्षके अन्य भागोंमें पुरुष संतान के नामसे चलता है। यह प्रांतिक भेद विचार करने योग्य है। इसी समय हिमालयके कई हिस्सोंमें बहुपतित्वकी प्रथा है और कई प्रांतोंमें बहुपत्नीक पद्धति है। ये प्रांतिक भेद आज प्रचलित होते हुए भी क्या हम कह सकते हैं कि संपूर्ण हिंदुजाति बहुपतित्वको धर्म्य कर्तव्य मानती है? यदि संपूर्ण आर्य जाति इस समय कुछ मानती है तो एक पत्निव्रत और एक पतिव्रत ही अविरोध से मानती है, अन्य व्यवहार भेद स्थानिक और तात्कालिक वस्तुस्थितिके दर्शक हैं। इसी प्रकार गोवधादिके विषयमें समझना योग्य है अन्यथा अतिप्रसंग का दोष आजायगा। संपूर्ण सनातनधर्मी अथवा वैदिक धर्मी आर्य अविरोधसे गौको अवध्य ही मानते आये हैं। सनातन कालसेही गौको अवध्य मानते आये हैं। वेदादि शास्त्रोक्त यही परम सिद्धांत है। यदि किसी व्यक्तिने अपने मनके अनुसार उक्त सनातन धर्मके विरुद्ध कुछ मत चलाया हो तो वह स्थानिक, प्रांतिक या उस समय का मत हो सकता है, सार्वभौम और सार्वकालिक नहीं।

जिस समय धर्मग्रंथोंके या इतिहास पुराणोंके ग्रंथोंके वचनोंका विचार करना होता है, उस समय उनका विचार उक्त रीतिसे उन वचनोंका स्थान निश्चित करके करना चाहिये, अन्यथा प्रांतिक रीति सार्वदेशिक मानी जायगी और अर्थ का अनर्थ होगा।

महाभारतमें एक रन्तिदेवकी कहानी आती है उसमें लिखा है कि उसकी पाकशालामें कई हजार गौवें प्रतिदिन भोजनार्थ मारी जाती थी। एक पाकशालामें प्रतिदिन कई हजार गौवों का कट जाना स्वयं असंभव बात है, इस लिये यह कथा अपने ही प्रमाण से असंभव सिद्ध होती है, तथापि दुर्जन की संतुष्टिके लिये मान लें की रन्तिदेवकी पाकशालामें कुछ गौवें भोजन के लिये काटी जाती थीं। क्या

इससे यह सिद्ध होगा कि उस समयकी संपूर्ण आर्य जनता गोमांस भक्षक थी ? इतना अनुमान करनेके पूर्व देखना चाहिये कि रन्तिदेवका राज्य कितना बडा था और रन्तिदेवका समय कौनसा था ! पांडवोंका साम्राज्य सबसे बडा था, श्रीरामचंद्रजीका राज्य भी बडा था, परंतु ये राज्य आजकलके छोटेसे प्रांतके इतने भी विस्तारमें न थे। उस समय भारतवर्षमें बडे राज्य पचाससे अधिक थे और छोटे राज सैंकडों या हजारों थे। आजकल जैसे भारतवर्षमें सात सौ राजा महाराजा और नबाब हैं उसी प्रकार प्राचीन कालमें भी थे। उस समय के सम्राट केवल वार्षिक कर लेनेके अधिकारी ही होते थे, शेष सब राजालोक अपने राज्यमें पूर्ण स्वतंत्र थे। ऐसी अवस्थामें किसी एक स्वतंत्र राजाके घर की पाकशालामें कुछ भी हुआ तो क्या वह संपूर्ण आर्यजाती का धर्म हो सकता है। वह उस राजा का वैयक्तिक आचार होगा। वैयक्तिक आचार भला भी हो सकता है और बुरा भी हो सकता है। महाभारत इतिहास का ग्रंथ होनेसे उसमें उक्त कथा लिखी है, जो लेखक के समय प्रचलित थी। सब इतिहासिक कथाएं अथवा इतिहाससे भिन्न कल्पित कहानियां धर्मवचन का प्रामाण्य नहीं रखतीं। इतिहास केवल इतिहास ही है। " वैसा आचार उस व्यक्ति का था " इतनाही उससे अधिकसे अधिक सिद्ध होगा। इसी प्रकार अन्यान्य वचनों के विषयमें जानना चाहिये। वह सार्वभौमिक और सार्व कालिक सनातन धर्म नहीं है।

सनातन वैदिक आर्यधर्म का सार्वभौम सिद्धांत गोवध के लिये सर्वथा प्रतिकूल है। वेदसे जब गोवधकी आज्ञा साक्षात् मिल जायगी, तभी वह सिद्ध हो सकता है अन्यथा नहीं। इसीलिये वेदका धर्म सार्वभौमिक और अन्य ग्रंथवचन एकदेशी माने जाते हैं और वेदके विरुद्ध अन्य वचन कोई भी प्रमाण नहीं मानता।

म० श्रीनिवास अयंगार महोदय इस धर्मनिर्णय की प्राचीन रीतिका विचार करें और अपने वक्तृत्व की असत्यता जानें। भारतीय धर्मग्रंथोंका इतना विस्तार है कि यदि किसी संस्कृत ग्रंथके किसी एक वचन को पूर्ण प्रमाण माना जाय तो उससे महा अनर्थ हो सकता है, इसलिये सार्वभौमिक धर्मवचन और एकदेशी वचन का निश्चय करने के लिये मीमांसा शास्त्र निर्माण हुए हैं और उन्होंने धर्मनिर्णयके सर्वमान्य सिद्धांत निश्चित किये हैं। उन के अनुसार ही धर्म वचनों का निर्णय हो सकता है। अन्यथा अनवस्था होने में देरी नहीं लगेगी।

दूसरी बात भी यहां विचारमें लीजिये। यद्यपि हमारा पक्ष नहीं है तथापि क्षणभर के लिये प्रतिपक्षीकी संतुष्टि के कारण मान लें कि "प्राचीन काल में कई लोग गोवध किया करते थे। परंतु पश्चात् उन्होंने विचार करके वह प्रथा छोड दी और गोवध न करना अपना धर्म मान लिया," जैसा कि म० अयंगार मान रहे हैं, तो उस अवस्थामें प्राचीन काल की प्रथा के बलसे उन लोगोंको इस समय का मत बदलवानेके लिये बाधित करना क्या कभी योग्य हो सकता है? प्राचीन कालकी जो कोई प्रथा हो, आज हम गोवध अधर्म मानते हैं, इसलिये आज के लोगोंका विचार आजके उनके मतसे ही करना चाहिये।

सनातन धर्मका इतिहास कमसे कम बीसियों हजार वर्षोंका इतिहास है। इतने बडे कालमें कई प्रथाएं वैसी रहीं हैं और कई बदलभी गई हैं। इस लिये फलानी प्रथा प्राचीन समयमें थी इतना कहने मात्र से उसकी आजके दिन धार्मिकता सिद्ध नहीं हो सकती, वह आजभी मानी जाती हगी तो ही वह आज धर्म हो सकती है। इस लिये यदि किसी ग्रंथके किसी वचनसे प्रांतिक, सामयिक या वैयक्तिक कल्पनानुसार किसीने किसी समय गोवध किया भी होगा, तो वह बात, आजकी भारतीय आर्य जनताके अविरोधसे स्वीकृत किये धर्मकल्पना के विरुद्ध उपयोगी नहीं हो सकती।

इस विषयमें दूसरा उदाहरण लीजिये। वेदमें मूर्तिपूजा का विधान स्पष्ट रूपसे नहीं है, इस लिये सब मानते हैं कि वैदिक समयमें मूर्तिपूजा नहीं थी और मूर्तिपूजाकी प्रथा पीछेसे हिंदुओंमें प्रचलित हो गई है। इस इतिहासिक बात को प्रमाण लेकर यदि म० अयंगार महोदय हिंदुओं को कहें कि-"ए हिंदुओ!

तुम्हारे वेदमें मूर्तिपूजा नहीं है, इसलिये मुसलमान गुण्ड यदि तुम्हारे मंदिरोंको तोडते हैं और मूर्तियों का भंग करते हैं तो वह अच्छा ही है!! " तो ऐसे कहनेका जो मूल्य होगा वही गोवधविषयक उनके वक्तृत्वका है ।

मूर्तिपूजा अच्छी हो या बुरी हो, प्राचीन हो या अर्वाचीन हो, इस समयके हिंदु कर रहे हैं और मानते हैं कि वह अपना धर्म है। ऐसी अवस्थामें उनके मंदिरों और मूर्तियोंको तोडनेका अधिकार मुसलमानों को है या नहीं, नागरिकत्वके अधिकार से क्या व्यवस्था होनी चाहिये, क्या नागरिक ऐसे गुण्डपनसे एक दूसरेके सिर तोड सकते हैं, यही विचारणीय प्रश्न है । यहां प्राचीन प्रथाके बल से जैसा चाहे वैसा दबाव डालना सर्वथा अयोग्य है और जो वैसा करेगा वह निःसंदेह अपने आपको निंदनीय बनायेगा ।

गोवध के विषयमें भी यही बात है । मुसलमानों के धर्म ग्रंथ कुराणसे गौका बलिदान अनिवार्य नहीं है, कुराण में ही लिखा है कि गौका वध न करना चाहिये । ईद के दिन अन्यान्य पशुओंके बलि देनेका रिवाज अन्यान्य मुसलमानी देशों में हैं, हिंदुस्थान में बहुतसे मुसलमान कृषि करने वाले हैं, वे गाय बैल का उपयोग अच्छी प्रकार अनुभव करते हैं और गोरक्षा अपना कर्म समझते हैं, ऐसी अवस्थामें कई मुसलमान नेताओं का गोवधपर अटक जाना केवल दुराग्रहकी बात है । मुसलमान बादशाहाओंने तथा अफगाणिस्थान के अमीर साहेबने भी अपने राजों में गोवध बंद किया था और किया है । फिर दुराग्रह के सिवाय दूसरी कौनसी बात है जो मुसलमान नेताओंको इस बातपर हठ करनेके लिये प्रवृत्त करती है । यदि उनके धर्मग्रंथ में गोवध अनिवार्य होता तो हिंदु लोग उनको मना न करते । क्यों कि हिंदुभी धर्म के प्रेमी हैं । परंतु उनके धर्मग्रंथमें अनिवार्य गोवध नहीं है, इस लिये हम कह सकते हैं कि हट मुसलमानोंका है हिंदुओं का नहीं ।

ऐसी वस्तुस्थितिमें म. अयंगार महोदय का पक्ष सर्वथा असमंजस सिद्ध हो रहा है । वास्तविक उस को प्राचीनतम धर्मपुस्तकका आधार नहीं है, प्राचीन पद्धति होनेपर भी आज वह बाध्य नहीं होती, इसके अतिरिक्त जिनको खुश करनेके लिये वक्तृत्व करना है उनके धर्म पुस्तकमें भी वह बात अनिवार्य नहीं है ।

मस्जिदके सामने बाजा बजाने का प्रश्न स्वतंत्र है उसका गोवध के साथ कोई संबंध नहीं है । मार्ग सबकेलिये समान है वह फिर मस्जिदके सामने हो या किसी अन्य मकान के । उस मार्ग परसे मोटारें सींग बजाती हुई जाती हैं, वहां अन्य प्रकारके आवाज केलिये भी मनाई नहीं है । जो मनाई है वह हिंदुओंके मंगल वाद्योंके लिये ! मस्जि में प्रार्थना होती हो या न होती हो सामने कभी वाद्य नहीं बजने चाहिये !! पुराने या नये मस्जिद हों उनके सामने हिंदु का बाजा बंद रहना चाहिये !!! जो बात बादशाहाओं के जमानेमें भी नहीं हुई और जो बात किसी अन्य मुसलमानोंके देशमें नहीं है और जो बात किसी भी यूरपके सभ्य देश में एक क्षणमात्र भी मानी नहीं जा सकती, वह बात मुसलमान नेता हिंदुओं पर दबावसे डालना चाहते हैं, यह किस प्रकारको मनोभावनाका द्योतक है इसका विचार हिंदु नेता करें ।

लंदन और पारीस में मुसलमानों की मस्जिदें बनी हैं । कृपा करके यहां के मुसलमान वहां जांय और उक्त मस्जिदोंके सामने वाले मार्गपर का ध्वनि इस प्रकार के गुण्डपनसे बंद करनेका यत्न करके देखें, तो पता लग जायगा कि, सभ्य नगरों में इस गुण्ड पनका जबाब कैसा मिल सकता है !!! जो सभ्य देशोंमें उनको प्राप्त हो सकता है, उतनाही उनको यह हिंदुओंसे प्राप्त हो सकता है । हिंदु नेताभी उतना ही मानेंगे तो शीघ्र और चिरस्थायी सख्य हो सकता है। अन्यथा एकके पीछे दूसरा अनुभवही लेना हो तो नेता लोग अनुभव लेते रहें, वे स्वतंत्र हैं ।

योगमार्गसे अरुचि या भय के कारण।

३ योगमार्गपर जाकर क्या सुखों से वंचित होना पडता है?

(ले०- श्री. पं. अभयदेव शर्माजी विद्यालंकार)

योगमार्गमें प्रवृत्ति रोकनेवाला तीसरा कारण है इस मार्गमें 'अपने परिचित सुख का अभाव' देखना। पातंजल दर्शन पढने से मन पर कई वार ऐसी ही छाप पडती है कि योगाभ्यासी पुरुष उदास, मुरझाये चेहरे वाला दुःखी सा होता होगा। विशेषतः जब कि हम योगसूत्रोंमें यह लिखा देखते हैं 'विवेकी पुरुष के लिये सब कुछ दुःख ही दुःख हो जाता है' (यो. २-१५)। कमसे कम लेखक ने जब योगदर्शन पढा था तो उसे जहां एक ओर उसमें वर्णित विभूतियां आदि को देखकर आकर्षण और रुचि होती थी, वहां दूसरी तरफ यह दुःखचर्चा देखकर बहुत हटाव और अरुचि होती थी। इसलिये उसने एकदिन अपने दर्शनोपाध्याय जी से अकेलेमें जिज्ञासुभावसे पूछा भी था कि 'स्वरूपस्थिति या कैवल्य में क्या हालत होती होगी' यह तो कुछ मालूम नहीं होता कि वहां कोई सुख व आनन्द की प्राप्ति होती होगी... ..."। यह शंका और अरुचि कुछ न कुछ आगे भी रही, पर उसके वादसे नये विचारों को उत्पन्न करते हुए और नये अनुभव लाते हुवे बारह वर्ष बीत गये हैं और अब लेखकको ऐसा कोई भय या आशंका नहीं रही है। अतः आशा है इस विषयके विचार प्रस्तुत करना अन्य लोगों के लिये भी कुछ सहायक हो सकेगा। लेखकने एक वार ईसाइओं द्वारा योगदर्शन की निन्दामें लिखी हुई एक पुस्तिका देखी थी जिस में अन्य बातों के साथ योगदर्शन में मिलने वाली 'संसार के दुःखमयता' की बात की भी हंसी उडायी गयी थी, आशा है उसका भी समाधान (यदि किन्हीं को समाधान की आवश्यकता होगी) निम्नविवेचन से हो सकेगा।

पहिले तो हमें स्पष्ट तौर पर यह देख लेना चाहिये कि योगसूत्रों में ही सुख अभीष्ट वस्तु के तौर पर कहा गया है और दुःख को योग का विघातक कहा है। योगसूत्रों में अभ्यासी को यह कहीं नहीं कहा गया है कि वह दुःखी रहे, उलटे यह कहा है 'दुःख दौर्मनस्याङ्गमेजयत्वश्वास-प्रश्वासाः विक्षेपसहभुवः' (यो. सू. १-३१) जिस का यह अर्थ है कि इससे पहिले सूत्रमें जो चित्त विक्षेपक व्याधि आदि ९ विघ्न गिनाये हैं उनके साथी ये दुःख दौर्मनस्य आदि हैं। अतः दुःख और दौर्मनस्य भी योग में बाधक हैं यह मतलब निकला। वैसे भी यह स्पष्ट है कि जो दुःखग्रस्त होगा, दूर्मना, अप्रसन्न, उदास, चिडचिडा होगा उसका चित्त, कैसे एकाग्र होगा, वह योग क्या करेगा। प्रसन्न-चित्त, सुमना शान्त होकर ही योगसाधन का अभ्यास कार्य किया जा सकता है। अतएव योगसूत्रों में ही अन्तःशौच के फल क्रमशः गिनाते हुवे जो 'सत्वशुद्धिसौमनस्यैकाग्र्येन्द्रियजात्मदर्शन-योग्यत्वानि च' लिखा है इनमें सत्वशुद्धि के बाद सौमनस्य को (जो कि दौर्मनस्य से उलटा है) को बताया है जिस के विना अगला फल 'ऐकाग्र्य' नहीं मिलता। व्यास जी ने भी यही बात अन्यत्र कही है, क्यों कि उपरिवर्णित (१—३२) सूत्र की टीका में दुःखदौर्मनस्यादि के विषय में उन्होंने लिखा है 'व्युत्थितचित्तस्यैते भवन्ति, समाहितचित्तस्यैते न भवन्ति'। फलितार्थ यह हुवा कि दुःखदौर्मनस्य से व्युत्थितता होती है, समाहितता नहीं (समाहितता के साधन सुखसौम-नस्य हुवे)। पर इन मानसिक दुःखों से भी पहिले योगाभ्यासी को शारीरिक दुःख हटाने चाहिये। अत एव 'व्याधि' को (१—३०) सबसे पहिला अन्तराय बताया है। जो आसन लगाकर योगाभ्यास के लिये बैठना होता है उसे भी स्थिर और सुख कहा है (२—४६) यदि आसन से शारी-रिक पीडा होती रहे तो उस आसनसे योग नहीं किया जा सकता। और यदि योगशास्त्रानुसार सुख अभीष्ट पदार्थ न होता तो संतोष नियम के पालन

का फल 'अनुत्तम-सुखलाभ' (२—४२) किस लिये वर्णित किया जाता। एवं पातंजल सूत्रों से भी यह स्पष्ट है कि दुःख योगसाधनमें विघातक है और सुख अभीष्ट है। इस लिये यह कल्पना ठीक नहीं कि योगाभ्यासी प्रसन्न, मुदितमुख और आनन्दवर्षक होने की जगह उदास, रुदितमुख और दुःखमूर्त्ति होता है या होता होगा।

तो फिर 'सर्वमेव दुःखं विवेकिनः' वाले सूत्र (२-१५) का क्या आशय है? यह अवश्य मननीय विषय है। यह तो स्पष्ट है कि इस सूत्र में प्रयुक्त "दुःख" शब्द तथा "दुःखदौर्मनस्य..." इस (१-३१) सूत्र में प्रयुक्त 'दुःख' शब्द समानार्थक नहीं हैं। क्योंकि ऐसा मानने पर विरोध आता है। यह संभव नहीं कि पतंजलि मुनि एक जगह दुःख को योग का विघातक (विक्षेपक) कहैं और दुसरी जगह योगी के लिये 'सब के प्रति दुःखी रहने' की अवस्था को उचित बतलावें। यदि दुःख विक्षेपक भी हो (जैसा कि है) और योगी को दुःखी रहना भी ठीक हो तो उपर्युक्त व्यासजी के वचन (व्युत्थितचित्तस्यैते भवन्ति) के अनुसार ऐसा योगाभ्यासी सदा व्युत्थित ही रहेगा, समाहित कभी नहीं हो सकेगा (समाधि कभी न पा सकेगा)। अतः यहां दुःख शब्द का अभिप्राय कुछ और है। असलमें यहां 'दुःख' शब्द का अर्थ है 'सुख का अभाव' जो कि राग के अभाव से (यो. २-७) से जनित है। 'सुख के अभाव' के लिये दुःख शब्द प्रयुक्त किया जा सकता है। जहां इस सूत्रके 'दुःख' का अर्थ प्रचलित दुःख लेनेसे योगशास्त्र में विरोध आता है, वहां इसका अर्थ 'सुख का अभाव' ऐसा लेनेसे शास्त्रका अर्थ अति सुसंगत होता है, क्योंकि सुखाभाव अर्थात् रागाभाव (वैराग्य) तो योग में बडा भारी अवश्यंभावी साधन है। तब इस सूत्र का अर्थ होता है कि विवेकी के लिये सब वस्तुओं में रागमूलक सुख का अभाव होता है। दूसरी तरह से भी हम देख सकते कि हैं यहां 'दुःख' शब्द प्रचलित दुःख अर्थ में नहीं प्रयुक्त हुवा है। हम जिस चीज से दुःख पाते हैं उसके प्रति हमारे अन्दर द्वेष की वासना पैदा होती है। 'दुःखानुशयी द्वेषः' (यो. २-८)। अतः यदि विवेकी को संसार की सब वस्तुयें दुःख देती हैं (हमारे प्रचलित अर्थ में दुःख देती हैं) तो वह संसार की सब वस्तुओं से द्वेष भी करता है। किन्तु यह मानने से भी योगशास्त्र में विरोध आता है, क्योंकि द्वेष योगशास्त्र में राग के साथ साथ पंच क्लेशों में गिना है (यो. २-३) जो कि योगी के लिये अत्यन्त त्याज्य है। योगी द्वेष किसी वस्तु से नहीं कर सकता, जैसे वह राग किसी वस्तुसे नहीं करता। अतः इस सूत्र का अर्थ यह नहीं हो सकता कि विवेकी संसार की सब वस्तुओं से द्वेष करता है, इसका अर्थ यही है कि वह संसार की सब वस्तुओं में रागाभाव (वैराग्य) रखता है। इस तरह भी स्पष्ट है कि यहां दुःख शब्द का अर्थ 'दुःख' के स्थान पर 'सुख का अभाव' यही न्याय्य है।

पर जब कि 'सुखाभाव' और 'दुःख' इस तरह एक चीज नहीं है तो सुखाभाव की जगह दुःख शब्द का प्रयोग करना क्या भ्रमजनक नहीं है? क्या पतंजलि मुनि यहां पर सुखाभाव शब्द ही नहीं प्रयुक्त कर सकते थे? इसका उत्तर यह है कि असलमें यहां 'दुःख' शब्द का प्रयोग ही ठीक है, यद्यपि यह दुःख शब्द प्रचलित दुःख शब्द से बहुत भिन्नार्थक है। इस बातके स्पष्टीकरणके लिये हमें जरा सुखदुःखविषयक तत्त्वज्ञान की गहराई में उतरना पडेगा। वैसे तो सुख दुःख के विवेचन में पडना सब संसार के ही रहस्य की घोर उलझन में पडना है, पर हम यहां संक्षेप से अपनी कामलायक गहराई में थोडासा जायंगे, अधिक नहीं।

जो पूर्ण योगी हैं अर्थात् पूर्ण सिद्ध हैं उनकी बात जुदा है। उनकी जो दृष्टि संसार के प्रति होती है वह न सुख की है, न ही दुःख की। वहां सुख दुःख की पूरी और अन्तिम समता हो जाती है। अत एव यह सच है जब उनकी दृष्टि संसार के प्रति सुख की तरह दुःख से भी रहित होती है तो उस अवस्था को 'दुःख' नहीं कहा जा सकता, बल्कि वह दुःख सुख से विलक्षण अवस्था-विलक्षण आनन्द की, परमानन्द की ही अवस्था होती है (जैसा कि आगे कहा जायगा)। उस अवस्था को प्राप्त सिद्ध

के लिये संसार का संसारत्व ही नष्ट हो जाता है, की संसार में दुःखता वे क्या देखेंगे। उनके लिये 'विवेकी' शब्द का प्रयोग भी नहीं किया जा सकता, क्योंकि विवेक तो वहां किया जाता है जहां कि कुछ द्वैत, सापेक्षता या विषमता हो। जिसने (परमानन्द में) पूरी और अन्तिम समता पा ली है उस के जरा भी सापेक्षता नहीं रहती। परन्तु विवेकी पुरुष के लिये [जिसने कि अभी कैवल्य (परमानन्द) प्राप्त करना है] इतनी सापेक्षता रहती है कि वह कैवल्य सुख की अपेक्षा से संसार में दुःख देखता है, यद्यपि संसार के सब दुःख-सुखों में तो वह भी पूर्ण सम होचुका होता है। स्वयं संसार में उसके लिये न कुछ सुख है और न दुःख; और इसी 'संसारसंबन्धी सब सुखदुःखों में समता' प्राप्त करने के कारणही वह कैवल्य जैसी अत्युच्च वस्तुके देखने के योग्य होता है। पर उसे देख कर जब वह इस कैवल्य के सुख की अपेक्षा में संसार को रखता है तो उसे यह दुःख प्रतीत होता है। क्योंकि वास्तव में सब सुखदुःख सापेक्षिक ही हैं। यह ठीक है कि यह दुःख सामान्य दुःख से बहुत भिन्न है। जैसा कि अभी कहा जायगा कि ज्यों ज्यों मनुष्य उच्च होता है त्यों त्यों उसका दुःख और सुख सूक्ष्म और शान्त होता जाता है, परन्तु जब तक अन्तिम परम सुख(निरपेक्ष परम आनन्द) नहीं मिल जाता और उसमें समता नहीं होजाती तब तक सूक्ष्मातिसूक्ष्म सापेक्षिक सुख दुःख रहते ही हैं। इस प्रकार का, कैवल्यसुखापेक्षाकृत दुःख विवेकी को भी होता है। उसका यह शान्त दुःख (जो कि किसी तरह कम नहीं कहा जा सकता) शान्तता के कारण या विवेकी की उच्चता के कारण उसमें द्वेष वासना नहीं पैदा करता, दौर्मनस्य (चित्तक्षोभ) कोभी नहीं पैदा करता, ('इच्छाविघाताच्चेतसः क्षोभः' व्यास जीने दौर्मनस्य का यही अर्थ किया है।) अर्थात् योगविघातक नहीं होता बल्कि केवल वैराग्य को दृढ करने वाला होता है अतः उसे 'दुःख' नहीं बोलना चाहिये, तो भी जब इस अवस्था को सुखदुःख इन सापेक्षिक शब्दों में से ही कहना हो तो यह ' दुःख ' शब्दसे ही कहलायगा। तात्पर्य यह कि यद्यपि यह प्रचलित अर्थों में दुःख नहीं है (उन अर्थों में तो विवेकी दुःख सुख में सम हो चुका होता है) तथापि वह उच्चावस्था का एक प्रकार का शान्त दुःख है और यद्यपि उसकी संसार के प्रति दृष्टि ' सुखाभाव ' की (जिसमें दुःखाभाव भी शामिल है)—शान्त वैराग्य की-समता की होती है तथापि कैवल्य की अपेक्षा से यह ' दुःख ' की ही है। यहां पर निम्नलिखित आख्यान स्मरण आता है जो कि व्यासजी ने ३-१८ सूत्र के भाष्य में लिखा है।

" भगवान जैगीषव्य को संस्कार साक्षात्कार करने से पिछले दस महासर्गों में अपने जन्मों के परिणामक्रम देखते हुवे विवेकज ज्ञान पैदा हुवा था। एक बार उनसे भगवान् आवट्य तनुधर (जो कि निर्माणकाय की सिद्धि रखते थे) ने निम्न प्रकार संवाद किया।

आवट्य—आपने जो दस महासर्गों में भव्यता के कारण अपने अनभिभूत बुद्धिसत्व के प्रभाव से नरक, तिर्यक और गर्भ के दुःख देखते हुवे देव मनुष्यों में बार बार जन्म लिये हैं तो वहां सुख दुःख में से अधिक क्या पाया ?

जैगीषव्य—दस महासर्गों में भव्य होने के कारण अनभिभूत बुद्धिसत्त्व वाला रह कर नरक, तिर्यक, गर्भ दुःखों को देखते हुवे मैंने बार बार देवमनुष्यों में उत्पन्न होकर जो कुछ अनुभव किया वह सब मुझे दुःख ही दीखता है।

आवट्य—आप आयुष्मान् का जो प्रधानवशित्व (देखो सूत्र ३-४९) (वह ऐश्वर्य जिससे कि प्रधान को वश कर करके जैसे चाहे वैसी कायेन्द्रियसंपत् दूसरे को दे सकता और अपने भी जितने चाहे शरीर बना सकता है) तथा ' अनुत्तम ' संतोष सुख था क्या उसे भी दुःख में ही गिन लिया ?

जैगीषव्य— विषय सुख की अपेक्षा से ही संतोष सुख को अनुत्तम कहा है, पर कैवल्य सुख की अपेक्षा से तो वह दुःख ही है। यह (संतोष) बुद्धिसत्व का धर्म है जो कि त्रिगुण है, और सब त्रिगुण तो हेय पक्ष में हैं।

तात्पर्य यह है कि जब तक कि अन्त में कैवल्य सुख में-अन्तिम शान्त सुख में-भी समता नहीं हो जाती तब तक भी सूक्ष्म सापेक्षिक सुख दुःख रहते हैं, सर्वथा दुःखाभाव नहीं होता। मनुष्य की उन्नति का मार्ग कुछ ऐसा सा है कि वह ज्यों ज्यों आगे बढता है त्यों त्यों अशान्त सुखों दुःखोंको सम करके अगले उच्चतर शान्त सुख को पाता है जिसकी कि अपेक्षा से अब तक का सब कुछ (सम हुवे सब दुःख सुख) एक शान्त दुःख में परिणत होजाते हैं। (यह भी स्पष्ट है कि यह अगला शान्त सुख और दुःख पहिले से विस्तृत और ध्रुव भी होते हैं)। फिर इस शान्त दुःख और शान्त सुख में भी समता पाकर और अगले अधिक सूक्ष्म शान्ततर (जो कि विस्तृत और ध्रुवतर भी होता है) सुख को प्राप्त होता है जिसकी कि ऊपेक्षासे अब तक का सब कुछ एक अतिश्रेष्ठ शान्ततर दुःख में हो जाता है। अत एव वास्तवमें कैवल्य को देखनेवाले विवेकी के लिये सब संसार एक प्रकार का (उच्च) दुःख हो जाता है, जैसा कि पतंजलि मुनि ने कहा है; यद्यपि हमारे लिये वह केवल 'सुखाभाव' ही कहा जासकता है क्योंकि हमें उस विलक्षण दुःख का (जो कि एक शान्त किन्तु बडा और गहरा दुःख होता है) कुछ भी अनुभव नहीं होगा।

असल में ऊपर चढते हुवे हमारे सुख दुःखों का मतलब ही बिलकुल बदलता जाता है, इतना बदलता जाता है कि नीचे का पुरुष उच्च पुरुष के सुख दुःखों की कल्पना तक नहीं कर सकता, यद्यपि सुख दुःख के सामान्य लक्षणों (अनुकूल वेदनीयत्व और प्रतिकूल वेदनीयत्व) के अनुसार वे कहाते सुख या दुःख ही हैं। अतः यह भी स्पष्ट है कि मनुष्य की उच्चता की पहिचान यह नहीं है कि उसमें सर्व प्रकार के सुख दुःखानुभव का अभाव होगया या नहीं (क्योंकि सूक्ष्म सापेक्षिक सुख दुःख तो अन्त तक बने रहते हैं), पर यह है कि उसके दुःख सुख किस प्रकार के हैं। मनुष्य ज्यों ज्यों उच्च भूमिकाओंमें पहुंचता है उसका सुख दुःख नये नये प्रकार का होता जाता है। उसकी इस उच्चता के साथ क्यों कि उसके सुख दुःखों का आपेक्षिक भेद करने वाला अपेक्षा बिन्दुभी ऊंचा होता जाता है इस लिये अपेक्षा बिन्दु की उच्चता से उसका अगला अगला सुख अधिक अधिक विस्तृत, अधिक अधिक शान्त और फलतः अधिक अधिक ध्रुव होता जाता है। अत एव अन्तिम परम आनन्द(जिसकी प्राप्ति परम लक्ष्य है) परम शान्त है, इतना विस्तृत है कि सर्व व्यापक ('भूमा वै सुखं नाल्पे सुखमस्तीति') है और बिलकुल ध्रुव है अर्थात् अक्षय व शाश्वत है।

एक नव जात शिशुमाता के अपने से जरा दूर होते ही बुरी तरह रोने लगता है और जरासी बात से खिलखिला उठता है। आगे, आठ दस वर्ष का बालक इतनी छोटी छोटी बातों पर दुःखी सुखी नहीं होता उसका अपेक्षा-बिन्दु कुछ ऊंचा हो जाता है, पर वह भी पैंसिल खोजाने से दुःखी होता है तसबीरें देखकर सुखी होता है। फिर एक पूर्ण युवा मनुष्य को देखिये जो कि पैंसिल खोने और तस्वीर देखने के जैसे दुःख-सुखोंमें प्रायः सम हो जाता है, पर वह अपने किसी प्रिय संबन्धी के मरने पर दुःखी होता और एकदम बहुतसा धन पा जाने से सुखी होता है। दुःखसुखों में भेद होते जाने के इन उदाहरणों को प्रायः हम सब जानते हैं। इनमें भी यह स्पष्ट है कि अबोधवस्था के सुख दुःख छोटे छोटे 'अल्प, अल्प' होते हैं, अचिरस्थायी होते हैं अधिक उद्वेगयुक्त और अशान्त होते हैं; आगे आगे ये गंभीर शान्त होते जाते हैं, अधिक व्यापक (भूमा) और चिरस्थायी होते जाते हैं। हम यह भी समझते हैं कि आगे जो विशालहृदय उच्च पुरुष होते हैं वे अपने संबन्धिओं की मृत्यु या विवाहोत्सवों से कुछ भी दुःख या सुख नहीं अनुभव करते, पर वे देश के दुःख से दुःखी होते हैं और सर्वजनकल्याण के कार्य

को देख कर सुखी होते हैं। एवं इनसे भी उच्च 'अक्षिपात्रकल्प' विवेकी होते हैं जो कि इन से भी सूक्ष्म सुख दुःखों को अनुभव करते हैं। अविद्या, अस्मिता, राग, द्वेष और अभिनिवेश हम में से किसे दुःखी करते हैं? पर ये ही पांच योगशास्त्र में क्लेश हैं (यो. २-३)। योगी के लिये सब दुःखों की जड, महादुःख ये ही हैं। पर हमारे तो सब सुख इन्ही अविद्या आदि के सहारे हैं। हमारी और विवेकी की सुखदुःखकल्पना ही परस्पर बिलकुल उलटी हो जाती है। इसी तरह विवेकी की प्रसन्नता भी हमसे सर्वथा भिन्न है। हम तो विषयभोग के अशान्त, उतेजक क्षणिक सुखों में प्रसन्न होते हैं। पर योग में चित्त की एकाग्रता, स्वच्छता, प्रशान्तवाहिता का नाम चित्त प्रसादन (चित्त प्रसन्नता) है। यह चित्त प्रसादन क्या है। यह है प्रचलित (हमारे) दुःख सुखों से अप्रभावित रहना, उनमें सम, शान्त रहना। विवेकी को हमारे ये सुख जोकि परिणाम में तापकारक हैं तथा हमारे ये दुःख जो कि सीधे ही ताप कारक हैं दोनों एक जैसे सम दीखते हैं- मन की प्रशान्तता समाहितता (उनकी प्रसन्नता) की अपेक्षा में दोनों ही एक बराबर दुःख दीखते है। वह आगे बढता है तो उसे सभी (सुखके और दुःख के) संस्कार तक दुःख दीखने लगते हैं, क्यों कि तब उसे ऋतंभरा प्रज्ञा (जिसके संस्कार अन्य संस्कार-प्रतिबन्धी होता है) लानीवाली सबीज समाधियों का सुख मिलने लगता है। इस सुख की अपेक्षा संस्कारमात्र दुःख दीखने लगते हैं। एवं पर वैराग्य होजाने पर गुणमात्र (तीनों गुण) अर्थात् सब प्रकृति (यो० १-१६) ही दुःख दायक होजाती है, क्योंकि तब निर्बीज समाधि द्वारा कैवल्य का परम सुख दीखने लगता है और त्रिगुणातीत होने में ही एकमात्र चैन पर शान्ति (आनन्द) दीखता है। एवं जब तक कुछ भी सापेक्षता है तब तक सूक्ष्मातिसूक्ष्म सुख दुःख बने रहते हैं। अबाध परमशान्त सर्वव्यापी भूमा शाश्वत सुख तभी मिलता है जब कि सापेक्षता बिलकुल हटजाती है, पूर्ण समता होजाती है।

सापेक्षिक सुख के साथ तो (वह चाहें कितना उच्च सुख क्यों न हो) उतना ही सापेक्षिक दुःख अवश्य हता है। जो सर्वथा दुःख रहित परम सुख है वह निरपेक्ष है। अत एव उस निरपेक्ष सुख को अन्यों से जुदा करने के लिये कई विद्वानों ने उसका नाम 'आनन्द' रखा है, उस के लिये वे 'सुख' शब्द का प्रयोग नहीं करते।

अतः अन्त में हमें सुख दुःख के विषय में यह ज्ञान पाना है कि सापेक्षता ही दुःख है अर्थात् जब तक सापेक्षता का द्वन्द्व नहीं मिटता तब तक निर्बाध्य शाश्वत सुख(आनन्द) नहीं मिलता जो कि निरपेक्ष है। निरपेक्ष होने का अर्थ होता है स्वाश्रय होना, पराश्रय बिलकुल न होना, क्यों कि सापेक्षता ते पराश्रय के साथ ही रहती है। अतः यह सापेक्षता तब तक नहीं हटती (स्वाश्रयता तब तक नहीं आती) जब तक कि हमारा सुख किसी बाहर की, हम से जुदा वस्तु का आश्रय करता है। "सर्व परवशं दुःखं सर्वमात्मवशं सुखम्" यह मनुवचन सुख दुःख के मार्ग पर अन्त तक सत्य है। जिन पुरुषों का सुख बाहर के स्थूल विषयों पर अवलंबित है(अर्थात् जिनके अपने अन्दर अपना स्वाश्रय सुख कुछ नहीं) वे इन नाना विषयों के मारे मारे इधर उधर भटकते फिरते हैं, क्योंकि उनका क्षणिक सुख जल्दी खतम होकर उन्हें गहरे दुःखमें ढकेलता जता है। एवं इनसे तंग आकर इन्हें इन अशान्त सुख दुःखों में सम होना पडता है, गंभीर होना पडता है और वे किसी ऐसे सुख की तलाश में लगते हैं जो कि पराश्रय न होकर स्वाश्रय हो, स्ववश हो, स्वाधीन हो। तब मनुष्य को यह उच्च ज्ञान मिलता है कि सब दुःख सुख मेरे मन का ही बनाया है, बाहर की ओर किसी वस्तुके आश्रित नहीं है। पर आखिर मन भी अपने से (आत्मा से) जुदा चीज है अतः मुमुक्षु को उस उच्च अवस्था से भी अपनी अभीष्ट शान्ति, आनन्द नहीं मिलता। एवं अन्त में जब तक "कैवल्य का सुख" "ब्रह्मका आनन्द" यह भी दीखता है तब तक भी हमारा सुख परवश रहता है। पूरा आत्मवश (स्वाश्रय)सुख-शाश्वत निरपेक्ष आनन्द तब मिलता है जब कि "कैवल्य

के सुख " को देखने (उसके लिये तरसने) की जगह वह ' स्वयं केवली ' हो जाता है या ब्रह्म के आनन्द को देखते हुवे उसकी इच्छा करनेकी जगह उस आनन्द में मग्न हो जाता है (जिसे कि " स्वयं ब्रह्म हो जाना " भी कहा जाता है)। यह है पूर्ण स्वाश्रय सुख। एवं योगी को यह महान सत्य सूर्य की तरह स्पष्ट जानना होता है कि सुख सब अपने में है, स्व में, आत्मा में हैं, कहीं भी बाहर नहीं। जब तक मनुष्य अपना सुख अपने से बाहर अपने से दूर-विषयों में ढूंढता रहता है तब तक वह अन्दर से सुख से खाली (शून्य) रहता है, पर ज्यों ज्यों वह अपने अन्दर को आता है (अर्थात बाह्य वस्तुओं में उसके लिये सापेक्षिक सुख दुःख हटता जाता है) त्यों त्यों उसमें आत्म (स्वाश्रय) सुख भरता जाता है, उसका सुख निरपेक्ष और अन्दर गहरा होता जाता है और अंतमें जब अपने आनन्द रूप सर्वानन्द स्रोत आत्मा को देख लेता है तब उसमें पूर्ण सुख भर जाता है। वह आनन्द का पूर्ण समुद्र बन जाता है।

एवं योगमार्ग-जो अपने अन्दर जाने का मार्ग है-पूर्ण सुख को जल्दी से जल्दी पहुंचाने वाला ऐसा मार्ग है जिस पर चलते हुवे आगे आगे नये नये, श्रेष्ठ श्रेष्ठ, ध्रुव ध्रुव सुख प्रात होते जाते हैं जिनकी कि अपेक्षा में निचले निचले सुख फीके होते जाते हैं। इस लिये इस मार्ग पर सुख से वंचित होनेका भय करना कितना अज्ञान है! यह ठीक है कि अपने निचले अशान्त, उद्विग्न, क्षणिक सुखों और दुःखों की समता विना किये अगला शान्त आनन्द प्राप्त नहीं हो सकता और इस समता को प्राप्त करने केलिये हमें इन अध्रुव दुःखोंको सहना-खुशी से सहना होगा, यही तप है। तथा इन अध्रुव सुखों से हर्षित होना छोडना होगा, इनमें वैराग्य पाना होगा। बाहर की चीजों में राग या द्वेष होना इस बात का चिन्ह है कि हम अन्दर से भरे नहीं हैं- हम में स्वाश्रय सुख नहीं है। जब पूरा दीख जाता है कि बाहर किसी वस्तु में सुख दुःख नहीं हैं-वे सब चीजे हमारे इस विषयमें बिलकुल खाली हैं अर्थात् हम अपने अन्दर से भर जाते हैं तो बाहर की किसी भी चीज में-संसार भर में राग या द्वेष किस लिये रह सकता है। पर हम अज्ञानवश यह नहीं समझते कि हमारे ये रागद्वेष वाले सांसारिक, विषयाश्रय क्षणिक सुख उस निरपेक्ष स्वाश्रय अक्षय परम सुख के पाने में बाधक हैं। अतः हम एक तरफ अपने इन परिचित सुखों को त्यागने से डरते है पर दूसरी तरफ सत्य यह है कि इन्हें विना त्यागे (विना समता पाये) अगला सुख दीखता तक नहीं और विना देखे उसके पाने के लिये ये कठिन यत्न कोई क्यों करने लगा। यही सब मुश्किल है। अतः किसी तरह मनुष्य को यह अनुभव हो जाना चाहिये कि इन स्थूल सुख और दुःख की समता पाना अगले आनन्द के लिये आवश्यक है तथा वास्तव में सब सुख अन्दर ही है। इन दो अनुभवों को पाकर ही मनुष्य योग में प्रवृत्त हो सकता है और शाश्वत सुख पा सकता है। इन दो सत्यों में अटल श्रद्धा ही वह वस्तु है जिसके कारण योगाभ्यासी सदा प्रसन्नचित्त और प्रफुल्ल व दन रहता है। यह पूरी तरह जानकर कि इसीतरह अगला अभीष्ट आनन्द मुझे मिलेगा (बलिक मिलता जाता है) वह अपने दुःखों को खुशी से सहता हुवा और सुखों की कुछ परवाह न करता हुवा हंसता हुवा आगे बढता जाता है। और उसकी यह शान्त प्रसन्नता (सौमनस्य) उसे अधिक अधिक योग के योग्य बनाती जाती है। हमारी तरह योगी पर भी सुख की तरह दुःख तो हर समय आते ही रहते हैं बल्कि उसके शान्त दुःख और सुख दोनों हमारी अपेक्षा गहरे और चिरस्थायी होते हैं, तो भी वह सदा प्रसन्न इसलिये रहता है क्योंकि उसकी प्रसन्नता इन सुख दुःखों पर आश्रित नहीं होती। इनमें तो वह सम रहता है। संसार के सापेक्ष अध्रुव दुःखों से वह अपने को दुःखी नहीं होने देता (यद्यपि उस पर हमारी अपेक्षया बडे और गहरे दुःख आते हैं) ऐसा यत्न करता है कि उनके कारण अपना मुख तक म्लान होने से रोकता है,एवं संसार से सापेक्ष अध्रुव सुखों से हर्षित नहीं होता, फूलता नहीं (यद्यपि उसको हमारी अपेक्षया बडे भारी सुख मिलते हैं) उनके कारण अपने मुख पर प्रसन्नता

नहीं आने देता; परन्तु जो एक निरपेक्ष, स्वाश्रय (सदा अपने पास), ध्रुव आनन्द है उसी के कारण (प्रारंभ में श्रद्धा द्वारा उसे देखता हुवा और फिर दिनों दिन उसमें पहुंच मग्न होता हुवा) सदा, निरन्तर आनन्दयुक्त रहता है। उसकी यह प्रसन्नता चूंकि बाह्य अल्प वस्तुओं से पैदा न होने के कारण जहां क्षणिक नहीं होती वहां अशान्त, उद्विग्न, उछलने वाली भी नहीं होती, अतः कई लोग भ्रममें पड जाते हैं उन्हें यह दिखाई नहीं पडती। बात यह है कि सदा स्थूल दृष्टि से देखनेवाले लोगों के लिये अभी तक असली तापमाप(अर्थात दुःख-मापक) यन्त्र नहीं बना है जिससे कि भौतिक-तया दीख जाया करे कि इस मनुष्य में कितना दुःख (ताप) है और कितना सुख (ह्लाद) है। इस लिये ऐसे लोग प्रायः उन मनुष्यों को जो अन्दर दुःख से भरे होते हैं, सुखी समझा करते हैं और जो सुख से पूर्ण होते हैं उनकी तरफ उन्हें शंका तक नहीं होती कि ये सुखपूर्ण होंगे। पर सत्य यह है कि जब सुख अन्दर भरता जाता है तो उसका छलकना उछलना बंद होता जाता है। अतः उच्च सुखको सूक्ष्मदृष्टि वाले लोग पहिचानते हैं, सब नहीं। यह कहने की जरूरत नहीं कि वैसे चारों तरफ प्रसन्नता प्रसारक प्रभाव इस शान्त सुख का ही होता है। उछ-लने वाला अशान्त सुख उच्च नहीं होता इसीलिये साहित्य शास्त्रमें भी जो कई प्रकार का हास्य बताया है उसमें 'अट्टहास' को निकृष्ट तथा 'स्मित' को सर्वो-त्कृष्ट कहा है। जैसे नदी जब बढने लगती है तो उसमें छोटी छोटी बहुत सी तरंगे शोर करती हुई उठने लगती है, जब वह बहुत बढती है तो उसकी तरंगे बहुत बडी बडी किन्तु शान्त उठती हैं और जब समुद्र की तरह बिलकुल भर जाती है तो तरंगे ही बंद हो जाती हैं। इसी तरह योगाभ्यासी के भरते हुवे हृदयसरोवर में सापेक्ष सुख दुःखों की तरंगे उठती हैं और ये आगे आगे बढी हुई शान्त तरंगे बनती जाती हैं जब तक कि वह हृदय 'निस्तरंग महोदधिकल्प' नहीं हो जाता। यह स्वाश्रय आनन्द की पूर्णता है जिसे सदा देख सकने के कारण श्रद्धामय योगी निरंतर प्रसन्न रहता है और जिसकी पूर्णता हो जाने पर ऐसे आनन्दपूर्ण सिद्ध के लिये सब संसार केवल लीला और खेल हो जाता है।

इस प्रकरण को समाप्त करते हुवे योगमार्ग पर आने वाले आनन्दों का वाचिक वर्णन लिखने की कुछ आवश्यकता नहीं प्रतीत होती। इन आनन्दों के क्रमिक विकास का ब्यौरा देखना हो तो तैत्तिरीय आदि उपनिषद्की 'आनन्दस्य मीमांसा' में देखलेना चाहिये जहां अगले अगले लोक का आनन्द शत शत गुणा बताया है। सोमरसास्वादन आदि द्वारा मस्त कर देने वाले इन आनन्दों का वर्णन वेदमें भी बहुत है। श्वेताश्वतरादि बहुतसी उपनिषदों में स्थल स्थल पर इनका वर्णन है। गीता में "यस्मिन्स्थितो न दुःखेन गुरुणापि विचाल्यते" इत्यादि प्रकरण में योगानन्द का वर्णन है और मध्यकालीन कबीर, नानक, दादू आदि बहुत से सन्तों में संसारिक सुखों को नीरस कर देने वाले योगानन्द और ब्रह्मानन्दों के मधुर गीत गाये हैं--

कबीरा आया फिर गया, फीका है संसार।

अन्त में जो आनन्द स्वरूप की प्राप्ति है उसका तो वर्णन ही कौन कर सकता है ? वैसे तो सभी अननुभूत उच्च सुखों के लिये यही सत्य है कि—

(समाधिनिर्धूतमलस्य चेतसो
निवेशितस्यात्मनि यत्सुखं भवेत् ।)
न शक्यते वर्णयितुं गिरा तदा
स्वयं तदन्तःकरणेन गृह्यते ।

अतः यही कहना होता है कि पाठकों को स्वयं ही इस मार्ग पर चलकर इनका अनुभव करना चाहिये।

४ गुरु न मिलें तो क्या करें ?

जिसे योग मार्ग के विषय में उपर्युक्त तीन शंकायें नहीं हैं अत एव जो योगमार्ग पर चलने का इच्छुक है उसके सामने भी जो एक भयजनक कठिनाई आती है वह है 'गुरु का न मिलना'। वास्तव में सद्गुरु की देख रेख में विना रहे योगसाधन करने लगना बडा खतरनाक है, विशेषतया हठयोग की

क्रियायें करने लगना। पर इसका यह मतलब नहीं कि जब तक गुरु न मिलें तब तक बैठे रहना चाहिये या तब तक योग का प्रारंभ हो ही नहीं सकता। जो सचमुच योग जिज्ञासु है उसे यदि पता लगेगा कि योग की आधार भूमि 'यम नियम' हैं तो वह यम नियमों का पालन तुरंत शुरु कर देगा। यम नियमों का इतना महत्व है कि कई अधिकारी तो केवल यम नियमों के पूर्ण पालन करने का यत्न करते हुवे ही अगली अगली भूमिका को प्राप्त कर सकते और सिद्धि को प्राप्त हो सकते हैं। अतः जहां तक यम नियमों के स्वरूप को समझ सके वहां तक उनका पूरी तरह पालन करना शुरू कर देना चाहिये और इस श्रद्धा के साथ कि 'जब मेरे कल्याण के लिये यह अवश्यक होगा तो गुरु भी स्वयं मिल जांयगें' गुरु की तलाश में भी रहना चाहिये। वास्तव में एकमात्र व सबके अन्तिम गुरु परमात्मा ही हैं। इसी लिये हम देखते हैं कि पातंजल दर्शन में 'पूर्वेषामपि गुरु' परमात्मा का ही उल्लेख है, अन्य मनुष्य-गुरु की आवश्यकता का वर्णन नहीं है जैसा कि पीछे के हठ-योग आदि के ग्रंथों में गुरुमहात्म्य वर्णित है। अतः परमात्मा में श्रद्धा स्थिर करके किसी मनुष्य गुरु के लिये अधीर नहीं होना चाहिये अर्थात् न मिलते देख कर दुःखी नहीं होना चाहिये। जब हमारी ज्ञान की अवस्था किसी मनुष्य गुरु के ग्रहण करने के योग्य हो जाती है या जब हमारे अग्रिम कल्याण के लिये मनुष्य गुरु की सहायता पाना आवश्यक हो जाता है तो गुरु अवश्य मिलते हैं यह परमात्मा की सृष्टिका नियम है; इसमें पूरा विश्वास रखना चाहिये। ऐसी अवस्थामें सुदूरस्थ गुरुभी आ मिलते हैं। और इसके विपरीत यदि हमने यम नियमों के पालन तथा अन्य स्वयं प्राप्त साधनों के उपयोग से अपने अंतःकरण को शुद्ध नहीं किया है तो समीप विद्यमान गुरु से भी हम लाभ नहीं उठा सकते अर्थात् समीपस्थित गुरु भी हमें नहीं मिलते। अतः जिज्ञासु को चाहिये वह यम नियमों का पालन पूरे दिल से करना शुरु करे तथा अन्य भी जो कोई स्पष्ट निर्दोष साधन (इन्द्रियों को विषयों से जुदा करने के, मनः-शुद्धि के तथा मनोनिरोध आदिके साधन) विदित होवें उन्हें भी करना शुरु करें तो समय पाकर उसे प्राणायाम, धारणा, ध्यान, समाधि के उत्तम साधन भी (यदि वे उस के लिये आवश्यक होंगे) किसी गुरु से मिल जांयगे। अतः ऐसा योगजिज्ञासु जिसकी परम गुरु परमात्मा में श्रद्धा है (और योग जिज्ञासु ऐसा ही होना चाहिये) न तो अधीर हो-कर केवल लिखी हुई विना समझी बातें या किसी अयोग्य 'गुरु' की बातें मानकर किसी ऊटपटांग साधन में लगेगा और नहीं निराश होकर "मुझे कोई गुरु नहीं मिलते, मेरा क्या होगा" इस तरह भयभीत होगा, किन्तु धीर और आशापूर्ण रह कर अपने सहज प्राप्त ज्ञान के अनुसार यम नियमादि का साधन शुरू कर देगा॥

५ उपसंहार

योग का क्षेत्र बडा विस्तृत और अद्भुत है। इस क्षेत्र में वेही विशाल हृदय वीर पुरुष सफलता पूर्वक प्रविष्ट हो सकते हैं जो कि उपनिषद् के शब्दों में 'धीर' हैं। आजकल कई भारतवासी भी पाश्चात्य लोगों की नकल में "बाइसिकलों पर दुनिया की सैर" जैसे साहसपूर्ण आरंभ (Expedition) करने लगे हैं। ये भी कुछ जीवन के चिन्ह हैं, अतः अच्छे हैं। परन्तु भारतवासिओं को शोभा देने वाले साहसारंभ तब होंगे जब कि कुछ नवयुवक किन्हीं योगोक्त सिद्धियों को प्रत्यक्ष करने के लिये अपने जीवन अर्पण करते हुवे कभी सफलता दिखलांयगें। वे ही सच्चे भारतीय साहसारंभ होंगे। यहां यह प्रश्न छेडने की कुछ आवश्यकता नहीं कि सिद्धियों (योगविभूतिओं) में फंसना चाहिये या नहीं। लेखक की नम्र सम्मति में कुछ सिद्धियां तो मनुष्य के उन्नति के मार्ग में स्वयमेव आती हैं या आनी चाहियें और जब ये आजाँयगी तब यह प्रश्न होगा कि वह उनमें फंसे या उन द्वारा परमात्मा की इच्छा पूरी करे। हमारा अभी से सिद्धियों को घृणा की दृष्टिसे देखना बहुत कुछ 'अंगूर खट्टे हैं' की कहावत चरितार्थ करना है। वहां पहुंचकर यदि वे खट्टी दीखेंगी तो खांयगे (भोगेंगे) नहीं, तब जो कुछ

उनका सच्चा उपयोग होगा (जिसके लिये वे बनी हैं) वह करेंगे । पर एक सर्वोत्तम प्रकार की शक्तिओं के तौर पर, इन शक्तिओं के पाने का प्रबल और अश्रान्त यत्न तो धार्मिक धीर पुरुषों को अवश्य करना चाहिये- कमसे कम यह यत्न कभी अश्लाघ्य नहीं हो सकता। इसलिये यदि किन्ही नव युवकों को इस दुर्गम क्षेत्र में जाने की महत्वाकांक्षा उत्पन्न होती हो तो उन्हें यह खटका छोडकर कि वे इस मार्ग पर 'स्वार्थमय' या अपरोपकारी हो जांयगे (बल्कि इस पूरे निश्चय के साथ कि इसमें बीतता हुवा एक एक क्षण परोपकारमय है) इस अधिकाधिक सूक्ष्मकर्मों के प्रबल कर्ममय क्षेत्र में पूर्ण श्रद्धा से कूद पडना चाहिये । यह उत्तरोत्तर बढते हुवे आनन्द का (बडा ही रोचक) मार्ग है । और इस मार्ग का सच्चा पथिक शीघ्रहीपरम गुरु प्रभु की छत्रच्छाया में आ जाता है । अतः बाह्य भयों और दुःखों को साक्षात् आत्मकल्याण रूप देख सकने वाले वीरों के लिये तो इस मार्ग पर कुछ भी भय नहीं है, सब कल्याण ही कल्याण है ।

परमात्मा करें कि यह भारत देश फिर से योगिओं को लीलाभूमि बन सकें ।



कर्मयोग

(ले०—श्री० उदयभानुजी)

'रणभूमि में पदार्पण करके शत्रुपर दया करना निरी मूर्खता, हृदय का दौर्बल्य एवं आत्मघात है । हे मित्र ! यदि अपना कल्याण चाहता है तो उठ ! खडा हो !! और शत्रुओं पर विजय प्राप्त कर !!! यह संसार संग्राम का—पुरुषों के लिए नहीं अपितु पुरुषार्थीयों के लिए है ।

यदि मैं शत्रु को नहीं मारूंगा तो शत्रु मुझे अवश्य ही मार डालेगा, यह निर्विवाद है—असंद्दिग्ध है । संसार एक रणक्षेत्र है । इसमें देवता और राक्षक, भले और बुरे, भद्र और अभद्रों का सदा द्वन्द्व-युद्ध चला करता है, अतएव जय उन्हीं की होती है जो बली है, निर्बलों के लिए जय नहीं, उनके लिए सुख नहीं; संसार में उनके लिए एक ही वस्तु है और वह है मृत्यु या दुःख । हिन्दू—मुस्लिम समस्या उसके लिए प्रत्यक्ष प्रमाण है ।

समय पाकर भी शत्रुको छोड देना मृत्यु का अ-वाहन करना है—अपना आत्मघात करना है । इन आत्मघाती पुरुषों का वर्णन ईशोपनिषद् में इस प्रकार हैः—

'असुर्या नाम ते लोका अन्धेन तमसावृता ।
तांस्ते प्रेत्यापिगच्छन्ति ये के चात्महनो जनाः॥

इस संसार में जो कोई आत्मा के हनन करने वाले पुरुष हैं, वे मरकर तम रूपी अन्धकार से ढके हुवे असुर सम्बन्धी लोकोंको प्राप्त होते हैं ।

इसी कारण भगवान् कृष्णचंद्र ने शत्रुसे मुंह मोडने वाले अर्जुन को कहा था कि 'हे अर्जुन ! शत्रुओं पर दया नहीं की जाती है । नीच पुरुष शत्रुओं को अपनी पीठ दिखाते हैं । यदि शत्रुओं को मार कर जय प्राप्त करेगा तो राज्य को भोगेगा और यदि मारा जाएगा तो स्वर्ग को भोगेगा' । गीता में यह भाव स्पष्ट है कि मनुष्य वहां तक कर्म करे कि जब तक उसे जय न प्राप्त होले । भाव यह है कि या तो मनुष्य विजय प्राप्त करले अन्यथा हंसते हंसते अपना खून बहा दे । इसी भाव को प्रदर्शित करते हुवे एक विद्वान लिखते हैं 'A purpose once fixed, then either victory or death' आदर्श निश्चित करने के पश्चात् या तो विजय ही प्राप्त होगा अन्यथा मृत्यु ' अर्थात् चाहे मृत्यु भी प्राप्त हो जाय परन्तु हम अपना आदर्श नहीं छोडेगें। महात्मा भर्तृहरि कहते हैं--

'निन्दन्तु नीतिनिपुणा, यदि वा स्तुवन्तु,
लक्ष्मीः समाविशतु गच्छतु वा यथेष्टम् ।
अद्यैव वा मरणमस्तु युगान्तरे वा,
न्याय्यात्पथः प्रविचलंति पदं न धीराः ॥

नीतिज्ञ पुरुष चाहे निन्दा करे, चाहे स्तुति; सम्पत्ति आवे चाहे चली जाय; मृत्यु युगान्तर में आवे अथवा आज ही आ जाय परन्तु धीर पुरुष अपने सत्य आदर्श से विचलीत नहीं होते ।

इस सम्बन्ध में पृथ्वी राज चोहान की बात मुझे याद आ जाती है। मुहम्मद गोरी बार बार भारत वर्ष में अपना राज्य स्थापित करने के लिए आया परन्तु पृथ्वीराज चोहान ने उसे प्रत्येक बार हराया। राजनीति-विज्ञान से शून्य पृथ्वीराज ने अपने शत्रु को छोड दिया, केवल इस बात के लिए कि मैं बडा दयावान् हूं। यह एक व्यक्ति पर दया भले ही हो परन्तु 'उसकी मृत्यु और भारत की सदा के लिए गुलामी धारण करना, यह उसी दया (!) का परिणाम है। हम लोग पृथ्वीराज चोहान की इस दया की प्रशंसा करते हैं परन्तु इस बात को भूल जाते हैं कि दया, दुर्बल और असहाय व्यक्ति पर की जाती है; शत्रु पर दया नहीं की जाती। शत्रु जैसे बाहर होते हैं वैसेही भीतर भी हैं जिन्हें असुर भावनाएँ कहते हैं। इन पर दया करना अपना ही नाश करना है।

सायंकाल का समय है। 'उद्यन्त्सूर्य इव सुप्तानां द्विषतां वर्च आददे' मंत्र पर आज विचार कर रहा हूं। बडी ओजस्वी भाषा में बहुत देर तक तुलनात्मक विचार करता रहा; अपनी देर से उठने की आदतपर अपने आप को खूब कोसा और फटकारा; अन्त में यह निश्चय किया कि अब भविष्य में ४ बजे अवश्य ही उठा करूंगा। कुछ काल उपरान्त निद्रा देवी की आराधना करता रहा, इस कारण कि आज मुझे जल्दी से निद्रा आजाय ताकि मैं अपने निश्चय के अनुसार प्रातः जल्दी उठ सकूं और अपने तेज की रक्षा करनेवाला बनूं। ठीक चार बजे दयामयी आत्मा ने उठने की प्रेरणा की और कहा- 'भाई! उठो, समय हो चुका है'। यह देखकर आसुरी भावनाएँ आईं और केवल एक दिन के लिए क्षमा मांगने लगी। बहुत कुछ विचार करने पर भी मेरा दयावान् हृदय उनकी प्रार्थना से विह्वल हो गया और अन्त में मैंने आज के लिए क्षमा की और यह निश्चय किया कि भविष्य में मैं अवश्य ही जल्दी उठूंगा। परन्तु मैं उस समय इस बात को भूल जाता हूं कि भविष्य की उपासना करने वाले क्षमावान् पुरुष संसार में कोई कार्य नहीं कर सके, वे शीघ्रही काल कवलित होंगे।

इसी प्रकार एक दिन बीत गया और वही उठने की बारी आई, परन्तु मेरा दयावान् हृदय शरणांगत आई हुई अशुभ कामना को कैसे ठुकरा सकता था। परिणाम वही हुवा जो होना चाहिए था।

इसी प्रकार विचार विचार में ही अमूल्य समय व्यतीत हो गया। मेरी इच्छा और मेरा निश्चय अपनी नव कुसुमित अवस्था में ही जीर्ण हो गये।

मैं रुग्ण हुवा। अवस्था इतनी शोचनीय हो गई कि जीवन की कोई आशा न रही; मुझे निश्चय हो गया कि मेरी संसार यात्रा आज समाप्त हो जायगी। इस समय मुझे केवल यही याद आता था कि हाय! जगत्जननी की दी हुई आयुष्य मैंने योंही व्यतीत की। अब यदि मुझे कोई इस मृत्यु से बचा दे तो मैं निश्चयात्मक बुद्धि से कहता हूं कि अब कभी आलस्य नहीं करूंगा, प्रलोभन नहीं करूंगा, ऐसी दया कभी नहीं करूंगा। मैं रोने लगा, अपने आप को धिक्कारने लगा और अपनी अकर्मण्यता पर मुझे जिस प्रकार पश्चात्ताप होता था वह अकथनीय है।

संसार ऐसे व्यक्तियों से भरा हुवा है। परन्तु इस बात को स्मरण रखिए, कि प्रत्येक व्यक्ति को वह दिन अवश्य आवेगा और अपनी अकर्मण्यता को देखकर उसे अपने प्रति वही तिरस्कार होगा। इस कारण ही वेद बार बार कहता है कि कर्म करो, कर्म करो, आलसी बन कर जीवन मत काटो। देखिए:—

कर्म कृण्वंतु मानुषाः। अथर्व.

मनुष्य कर्म करें।

कर्माराधे मनीषिणः। अथर्व.

बुद्धिमान मनुष्य कर्मशील होते हैं।

कर्मणे वां। यजु.

तुम लोग कर्म करनेके लिए ही उत्पन्न हुवे हो।

शास्त्रों में देखिए:—

कर्मासि। तै. सं. (मनुष्य कर्मरूप है।)

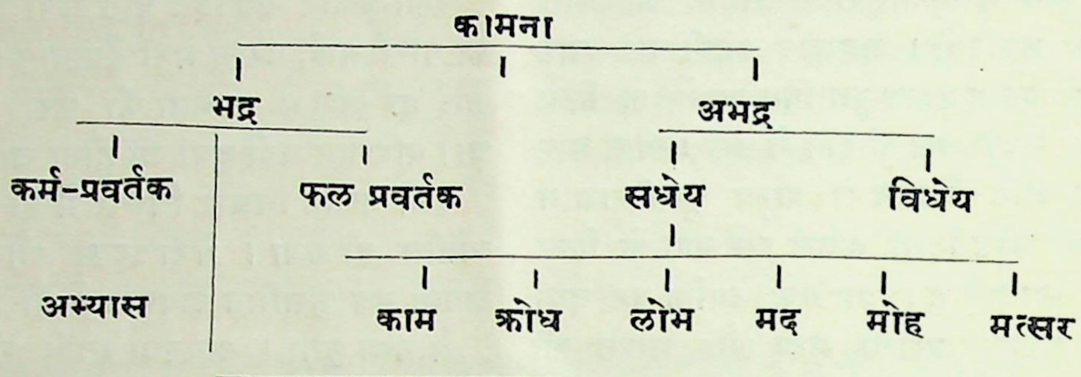
कर्म कुरु। शत. (कर्म करो).

कर्म कृताः सुकृतो वीर्यवतीः । तै. ब्रा.

उत्तम कर्म करने से ही वीर्य की प्राप्ति होती है ।

इस कारण प्रत्येक वैदिक धर्मी का यह आवश्यक कर्तव्य है कि वह कर्म करें। अपने जीवन का प्रत्येक क्षण भी वह व्यर्थ न जाने दे ।

कर्म के मुख्य दो प्रकार हैं। एक सकाम और दूसरा निष्काम । कर्म कामना से होता है । प्रथम मन में कामना होती है तत्पश्चात् कर्म होता है। अतएव कर्म के प्रथम कामना का भेद जानना आवश्यक है ।



विधेय-कामना के कई प्रकार हैं । विस्तार भय से उनकी गणना यहां नहीं की गई है। परंतु इसमें वे सब कामनाएँ अन्तर्गत हैं, जो मन में विना किसी ध्येय के उठा करती हैं (Aimless thought wandering; waste thinkiug, etc.)

उपनिषद् कहता है "कर्म करो, परन्तु निष्काम कर्म करो"। इसी भाव को पुष्ट करते हुवे भगवान् कृष्णचंद्र कहते हैं "मा कर्मफल हेतुर्भूर्मा तेसङ्गोऽस्त्वकर्मणि" हे अर्जुन ! तू कर्मफल की इच्छा मत कर और कर्म न करने वाला भी मत हो। अर्थात् निष्काम कर्म करो।

हमारे सन्मुख यह प्रश्न है कि जब सर्व शास्त्र एक सम्मति से कर्म करने के लिए सब मनुष्यों को प्रेरित कर रहे हैं तब निष्काम कर्म पर ही क्यों बल दिया जाय। हम सकाम कर्म क्यों न करें। जब कर्म का फल अवश्य ही मिलता है, चाहे वह किसी भी हालत में किया जाय, तब बार बार यह शंका होती है कि हम निष्काम कर्म क्यों करें; सकाम कर्म क्यों न करें। प्रश्न वस्तुतः ठीक है और अवश्य होना चाहिए, आईए, इसकी कुछ खोज करें।

मूर्धानमस्य संसीव्याथर्वा हृदयं च यत् ।

अ. १०—२—८६

अर्थात् सफलता की प्राप्ति के लिए हृदय और मन को सीना चाहिए। यहां हृदय शब्द से कर्म का बोध होता है। जिस कार्य में दिल और दीमाग नहीं वहां सफलता असंभव है। इससे सिद्ध है कि विना मन लगाए सिद्धि नहीं हो सक्ती। अब मन का लक्षण देखिए— 'युगपज्ज्ञानानुत्पत्तिर्मनसो लिङ्गम्।' न्याय० १।१।१६

एक समय में मन एक ही पदार्थ का ग्रहण कर सक्ता है। हम यह प्रत्यक्ष में भी देखते हैं कि ध्यान एक ही विषय की ओर अच्छी तरह लग सक्ता है। कभी भी एक समय में दो बातों की ओर पूरा पूरा ध्यान नहीं रखा जा सक्ता। कर्म और कर्म का फल ये दो बिलकुल भिन्न भिन्न हैं। अब आप यह भली प्रकार समझ गये होंगे कि जितना ध्यान हम कर्मफल की ओर रखेंगे उतना ही कर्म की ओर कम होगा; और जब कर्म की ओर ध्यान ही कम हो गया तब कर्म ठीक ठीक हो ही नहीं सक्ता। जब कर्म ही ठीक न होगा तब कर्म फल का मिलना असंभव सिद्ध है। सकाम कर्म करने वाले जितना चिंतन कर्म फल का करते हैं उतना कर्म के लिए नहीं करते। बार बार वे यही सोचा करते हैं कि फल की प्राप्ति कब होगी। इस कारण उन्हें असफलता प्राप्त होती है। वेद कहता हैः-

जहि त्वं काम मम ये सपत्ना अन्धा तमांस्यव पादयैनान्। निरिन्द्रियाः अरसाः सन्तु सर्वे मा ते जीविषुः कतमच्चनाहः ॥ अथर्व. ९. २. १०

हे कामना ? मेरे जो (सपत्नाः) शत्रु हैं उन को

तू मार डाल, इन्हें गाढ अन्धकार में नीचे गिरा दे। वे सब इन्द्रिय शून्य, नीरस और निर्वीर्य हो जावें और किसी एक दिन भी जीवित न रहें।

सपत्न शब्द सपत्नि से बना है।

सपत्नियों का द्वेष प्रसिद्ध है। इस मंत्र में मन, पति और उसकी कामनाएँ पत्नियां शब्द से अभिहित की गई हैं। ये आपस में इतना द्वेष करती हैं कि एक पत्नि (कामना) अपने प्राबल्य काल में अन्य पत्नियों को शक्तिहीन और निस्तेज कर देती है। इस मंत्र में स्पष्ट है कि कर्म-फल की कामना, कर्म प्रवर्तक कामना का नाश करती है।

कामना विश्लेषण चित्र में यह भाव व्यक्त किया गया है। जो मनुष्य कर्म करना चाहते हैं उनके लिए यह आवश्यक है कि वे अन्य कामनाओं से वैराग्य-भाव धारण करें और मनमें केवल कर्म करने वाली भावना ही धारण करे। यदि कर्म करते समय अन्य एक भी कामना जीवित रही तो उसी क्षण कर्म प्रवर्तक कामना नाश को प्राप्त होगी। मनु भगवान ने इन कामनाओं को ही अन्तःशत्रु बतलाया है।

निष्काम कर्म करने वाले फल के लिए कभी आतुर नहीं होते, वे अपने ध्येय से कभी भी च्युत नहीं होते और सदा विजय को ही प्राप्त करते हैं। देखिए कविवर श्री· रामनरेशजी त्रिपाठी ने इस भाव को कैसा उत्तम रीतिसे वर्णन किया है।

जी से लगजाती है जिसको क्या वह कभी पिछडता है।
करने या मरने में उसको अन्तर न देख पडता है॥
धुन के धनी प्राण की बाजी रातों पर रख देते हैं।
निश्चय है वे ही वे खटके मंजिल तै कर लेते हैं॥
ये निष्फल होंगे तो जीवन केवल बोझ उठाना है।
सब से उत्तम प्रण के पीछे मान सहित मर जाना है॥

श्री. विष्णु कहते हैं:—

चलते चलते कभी नहीं तो, ध्येय प्राप्त कर ही लेंगे।
उस प्रियतम की पुण्य खोज में, अथवा
फिर मर ही लेंगे॥

प्रसिद्ध आंग्ल कवि लांग फेलो लिखते हैः-

Let us, then, be up and doing,
With a heart for any fate;
Still achieving still pursuing,
Learn to labour and to wait.

चलो, उठो! कर्म करो!! प्रत्येक आपदा का सामना करने के लिए उद्यत हो!!! कार्य का पीछा करते रहो। कर्म करो परन्तु कर्मफल के लिए उत्सुक मत हो।

वैदिक सृष्टितत्त्व।

(लेखक—श्री० वासुदेव शरण गोभिल; काशी विश्वविद्यालय)

यह लेख श्री कोकिलेश्वर महाचार्य एम० ए० के एक लेख का अनुवाद है। अनुवादक हैं श्री रामनाथ लाल सुमन। वेदार्थ की महिमा समझने में इसका कितना अधिक महत्त्व है यह विचार कर हम उसे वैदिकधर्म के पाठकों के सामने रखना चहते हैं:-

इस विशाल ब्रह्माण्डकी उत्पत्ति और विश्व के विकास के सम्बन्ध में आर्यों के सर्व प्राचीन ग्रन्थ वेदों ने क्या सम्मति प्रदान की है, आज मैं इसी की विवेचना करूंगा। सूक्ष्म दृष्टिसे इस विषय की तुलनात्मक व्याख्या करने एवं विशेष अनुसंधान-पूर्वक इसकी जांच करनेसे ज्ञात होता है कि इस गुरु-तर सृष्टितत्त्व के सम्बन्ध में वैदिक एवं आधुनिक उन्नत वैज्ञानिक सिद्धान्तों ने एक ही मार्ग का अव-लम्बन किया है। उपनिषदों में सृष्टितत्त्व की बहु-मूल्य एवं मार्मिक विवेचना मौजूद है। सांख्य और वेदान्त दर्शनों में भी इस विषय की पर्याप्त आलोचना की गयी है, किन्तु बुद्धिमान् लोगों के हृदय में यह प्रश्न उठ सकता है कि इन उपनिषदों और दर्शन में

कही हुई सृष्टिप्रक्रिया का मूलसूत्र अथवा उद्गम कहां है ? यह बात पण्डित समाज में स्वीकार की जा चुकी है कि ऋग्वेद संसार का प्राचीनतम ग्रन्थ है। तब क्या इस ऋग्वेद में सृष्टि सम्बन्धी कोई विवेचना नहीं ? हिन्दू जाति का साधारणतः विश्वास है कि जो तात्त्विक बातें ऋग्वेद में नहीं हैं, वे अन्य स्थानों में भी नहीं हैं। ऋग्वेद में संक्षेपतः जो कुछ कहा गया है, उसी की विस्तृत विवेचना उपनिषदों एवं परवर्ती दर्शन ग्रन्थों में की गयी है। अत एव इस लेख में सबसे पहले इस बात की आलोचना करनी उचित जान पडती है कि इस प्राचीनतम ऋग्वेद में सृष्टितत्त्वके सम्बन्धमें क्या विवेचना की गयी है?

ऋग्वेद के दशम मंडल में " नासदीय सूक्त " नामक एक परम प्रसिद्ध सूक्त है। ऋषियों ने इस सूक्त के अन्तर्गत अपनी गंभीर भाषा में, इस महागम्भीर सृष्टिरहस्य का जो संक्षिप्त विवरण दिया है, उसकी आलोचना करने से यह प्रगट हो जाता है कि उक्त सूक्त में अति विस्मयकारिणी प्रणाली से जगद्विकास के तथ्यों का सम्यक् विवेचन किया गया है। इस सूक्त ने अपने सुमधुर कवित्व के कारण प्रसिद्धि लाभ की हो, ऐसी बात नहीं है, बरन् दुरूह और कर्कश वैज्ञानिक तत्त्व किस भांति सुमधुर कविता में संग्रथित एवं प्रकाशित किये जा सकते हैं, यह सूक्त इसका भी एक उत्तम उदाहरण है।

इस विश्वविख्यात सूक्त के प्रारम्भ में ही सृष्टि-काल का चमत्कारपूर्ण वर्णन किया है--

" नासदसीन्नो सदासीत् तदानीं,
नासीद्रजो नो व्योमा परीयत्।
न मृत्युरासीदमृतं न तर्हि,
न राज्या अह्न आसीत् प्रकेतः।
तम आसीत् तमसा गूढमग्रे। " ऋ० १०।१२९

अर्थात् -" उस समय असत् नहीं था और सत् भी नहीं था। जो नहीं है, सो भी उस समय नहीं था और जो है सो भी उस समय नहीं था। पृथ्वी नहीं थी, आकाश नहीं था। उस समय मृत्यु नहीं थी और अमरत्व भी नहीं था। रात्रि और दिनका भेदज्ञान कराने वाली कोई वस्तु नहीं थी। प्रगाढ अन्धकार को और भी घनीभूत अन्धकार द्वारा समाच्छन्न कर लेने पर जो रूप हो सकता है उस समय उसी प्रकार का घोर अन्धकार था। सभी कुछ चिन्ह-वर्जित था। " उस महागम्भीर अवस्था का इस प्रकार वर्णन करके ऋषियों ने विश्वके उद्भव के सम्बन्ध में जो कुछ लिखा है, इस स्थान पर उसकी आलोचना करना उचित होगा।

" आनीदवातं स्वधया तदेकं, तस्माद्धान्यन्न परः किञ्चनास। " उस समय क्या हुआ ? उस समय " आनीत् " - प्राणन-क्रिया कर रहे थे, उस समय दूसरा कोई नहीं था। यह प्राणन--क्रिया किस रूपमें थी? "अवातं"-वातरहित। इस जगह यह प्रश्न उठ सकता है कि वायु और प्राण में भेद क्या है? वायु भी गतिस्वरूप परिस्पन्दस्वरूप और प्राण भी गतिस्वरूप, परिस्पन्दस्वरूप। [' वायोश्च प्राणस्य च परिस्पन्दात्मकम्।'--शंकराचार्यः।] दोनों में पार्थक्य केवल यह है कि जिस समय जड पदार्थ संबंधी स्पन्दन की ओर लक्ष्य किया जाता है, उस समय उसे " वायु " कहते हैं और जब चेतन के अधिष्ठानयुक्त स्पन्दनको लक्ष्य करके कहा जाता है तब उसकी " प्राण " संज्ञा होती है। ' प्राणक्रिया ' कहने से ही यह मालूम हो जाता है कि हम उसके साथ चेतनसत्ता की उपस्थिति को स्वीकार कर रहे हैं, किन्तु ' वायु प्रक्रिया ' कहने से केवल जड पदार्थ सम्बन्धी क्रिया का ही बोध होता है। प्राणिमात्र की दैनिक क्रिया को प्राण-क्रिया कहते हैं। उद्भिज्जगत की रस परिचालनादि क्रियाओं में भी प्राणनक्रिया सम्मिलित है, क्योंकि उद्भिज् में भी चैतन्य सत्ता का अधिष्ठान है, अतएव जिस स्थान पर चेतनका अधिष्ठान है उस स्थान की क्रिया वा स्पन्दन ' प्राण--क्रिया' कही जायगी। सुतरां, "आनीत्अवातं" का अर्थ यहां यही समझ पडता है कि उस समय चैतन्य की परिस्पन्दनात्मक क्रिया होती थी। चैतन्य की इस क्रिया का अर्थ क्या है ? कुछ श्लोकों के पश्चात् ऋषियों ने स्वयं ही लिख दिया है

" कामस्तदग्रे समवर्तताधि मनसो रेतः प्रथमं यदासीत्। " अर्थात् " सबसे पहले कामना, इच्छा वा संकल्प का आविर्भाव हुआ।" इस कामना को मन की उत्पत्तिका पहला कारण कहा जा सकता है।

मानवराज्य में " मन " और " बुद्धि" कहने से जो कुछ समझा जाता है, यह कामना उसी मनकी उत्पत्ति का बीजभूत कारण है। इस स्थान पर " अधि " शब्द का अर्थ है " सबसे प्रथम " । इसका स्पष्ट भाव यह है कि प्राणनक्रियासे भी पहले कामना वा संकल्प का प्रादुर्भाव हुआ। अब स्पष्ट हो गया है कि एक अद्वितीय (ज्ञान स्वरूप) परब्रह्मके ज्ञान में सृष्टि सम्बन्धी कामना, उदय होने के साथ ही प्राणनक्रिया परिस्पन्दन रूप में प्रकटित हुई।

इसके बाद, अपने विज्ञ वाचकों का ध्यान हम एक और शब्द की ओर दिलाना चाहते हैं। "आनीदवातं स्वधया तदेकं" इस स्थान पर जो 'स्वधा' शब्द है, उसका अर्थ क्या है? शंकराचार्य ने ऐतरेय आरण्यक के भाष्य में एक स्थानपर "स्वधा" शब्द का अर्थ " अन्न " किया है। वह अवतरण यह है-

प्राणः स्वधया अन्नेन गृभीत गृहीत इत्येतत्, अन्नेन हि दामस्थानीयेन बद्धः प्राणः। (२।१।११)

प्राणशक्ति अन्नद्वारा बद्ध है अथवा अन्नके आश्रय से परिपुष्ट होती है। इस स्थान पर भी 'स्वधा' शब्द का वही अन्नवाला अर्थ ही ठीक समझ पडता है। अब सब का सार थोडे शब्दों में यह निकला कि- " (ज्ञानस्वरूप) अद्वितीय चैतन्य की सृष्टि विषयक आलोचना प्राणनक्रियारूपमें प्रकटित हुई, एवं उस समय स्वधा सहित यह प्राणक्रिया होती थी।" इस स्थान पर यह देखना उचित है कि इस स्वधा वा अन्न का प्रकृत तात्पर्य क्या है?

उपनिषदों के देखने से पता चलता है कि उनके मतानुसार सृष्टिके समग्र पदार्थ दो अंशों में विभक्त हैं—प्रथम प्राणांश और द्वितीय अन्नांश। अनेक स्थानों पर प्राणको " अन्नाद" वा अत्ता (अन्नभक्षी) कहा है। आधुनिक विज्ञान की भाषा में प्राणांश को "फोर्स" और अन्नांश को "मैटर" कहेंगे। "मैटर" व्यतीत " फोर्स " और " फोर्स"-"व्यतीत "मैटर" क्रिया करने में समर्थ नहीं हैं। दोनों एकसंग हैं एवं एक साथ ही घनीभूत हैं। यह अन्न [मैटर] भी प्राण शक्ति का ही रूपान्तर मात्र है। यह सम्पूर्ण तत्त्व-विज्ञान ने अभ्रान्त रूप से प्रमाणित कर दिया है। अतएव स्वधा या अन्न को प्राणशक्ति का बाह्य आधार वा जडांश कह सकते हैं। उपनिषदों में वायु और अग्नि को अत्ता वा प्राण, एवं जल और पृथिवी को अन्न कहा गया है। जिस समय प्राण शक्ति, वायु एवं तेजादि के आकार में क्रिया करती, विकीर्ण होती है, उस समय उसका अन्नांश वा जडांशभी साथ ही साथ संयत अथवा घनीभूत होता है। इस घनी-भवन की प्रथम अवस्था जल (तरल) और द्वितीय अवस्था पृथिवी (कठिन) है। यही वैज्ञानिक नियम है।

" दृश्यते हि अब्बाहुल्यं जगतः संहतत्वात्, संहतिश्च अप्पूर्विका मृत्पिण्डादिषु दृष्टा।"— ऐतरेयारण्यके शंकराचार्यः। अत एव जिस स्थान पर प्राण हैं, वहीं अन्न है, एवं जहां अन्न हैं, वहीं प्राण क्रिया शील है। इसी लिये ऋषियों ने "स्वधया अनीत्" कहा है। इसका अर्थ यह है कि जडीय आश्रयावलम्बनसे प्राणनक्रिया होने लगी-यही अर्थ हमें ठीक प्रतीत होता है। इसके बाद ऋषियों ने प्रकट भाव से सृष्टि की एक और बात लिखी है। यह प्राणनक्रिया वा परिस्पन्दन किस प्रकार जगत् को नियमबद्ध करने लगा, इसके सम्बन्ध में ऋषि कहते हैं-

रेतोधा आसन् महिमान आसन् स्वधा अवस्तात्, प्रयतिःपरस्तात्। अर्थात् - "स्वधा नीचे गयी एवं प्रयति (भोक्ता, अन्नाद, प्राण) ऊपर रहा। इसकेफल स्वरूप पञ्चभूत (महिमानः) प्रकाशित हुए एवं इसी क्रम से विश्व प्रादुर्भूत हुआ। इसप्रकार ऋषिने शक्तिविकास प्रणाली का रहस्य भी बता दिया है।

हमने कहा है कि " स्वधा " वा " मैटर" प्राणशक्ति का आश्रय है। क्रम विकास की अवस्था में नव प्राणशक्तिवायु तेज एवं आलोकादि के आकार में ऊपर की ओर विकीर्ण होने लगी, तो उसी के साथ ही साथ जडांश भी नीचे की ओर संहत वा घनीभूत ' होने लगा। इसी युक्त क्रिया से पञ्चभूतों की उत्पत्ति हुई; अर्थात् प्राणांश वायु एवं तेजरूप में तथा जडांश पहले जल, पीछे पृथिवी रूप में संहत हुआ। प्राणी देह का भी यही तत्त्व है। जडांश ही घनीभूत हो, क्रम-परिणति-नियम द्वारा, प्राणी देह एवं देहावयव रूप में परिवर्तित होता है, एवं प्राणांश उस जडके आश्रय से इन्द्रिय शक्ति रूप को

प्राप्त होता है। यही सृष्टि की मूलप्रक्रिया है । ऋषिने बहुत थोडे में इस प्रणाली का निर्देश किया है। पाश्चात्य वैज्ञानिक शिरोमणी हर्बट स्पेंसर ने वैज्ञानिक परीक्षाओंसे शक्तिके विकास की जिस प्रणाली का आविष्कार किया है, ऋग्वेद में भी ऋषियों ने अध्यात्मयोग के अवलम्बन से उसी प्रणाली का तत्त्वनिर्देश किया है । उस अद्वितीय ज्ञानके संकल्प से प्राणस्पन्दन की उत्पत्ति हुई । यह ऋषि का पूर्ण मौलिक आविष्कार है और यही प्रकृत रहस्य भी है, अन्यथा जड जगत् में प्राणशक्ति ज्ञान के आविर्भाव की दूसरी मीमांसा नहीं हो सकती ।

ऋग्वेद का यह सृष्टितत्त्व ही सांख्यादि दर्शन शास्त्रमें अविकल रूप से ग्रहण किया गया है। सांख्य में भी इस शक्ति के सात्त्विक, राजसिक तामसिक तीन विभाग देखते हैं। तमः को स्वधा वा अन्नस्थानीय, रजः को प्राणस्थानीय एवं सत्त्वको काम वा ज्ञानस्थानीय समझ लेने पर ऋग्वेद और सांख्य के सृष्टितत्त्व की एकता समझ में भलीभांति आ जाती है । दूसरे प्रकार से भी इस एकता को प्रमाणित किया जा सकता है । क्रिया वा अवस्था परिवर्तन न होनेसे शक्तिबोध विषयीभूत नहीं होता। शब्द, स्पर्श, रूप, रसादि सभी एक प्रकार की क्रियाएं हैं । शक्ति की प्रथम अवस्था अज्ञेय वा तमः है । इसीलिये तमः को अनेक स्थान पर जड, मूढ वा अज्ञान कहा गया है । वैज्ञानिकोंका यह कथन अतीव सत्य है कि जिस समय शक्ति रूपान्तरित होती है केवल उसी समय उसका ज्ञान होता है। शक्ति की, यह अवस्थान्तर प्राप्त अवस्था ही " राजसिक " है । एवं अवस्थान्तरप्राप्ति समय में जो ज्ञान होता है, वही " सात्विक " कहलाता है ।

इससे यह बात प्रगट हुई कि वैदिक सृष्टिप्रक्रिया विज्ञानानुमोदित है और दर्शनशास्त्र में भी इस प्रक्रिया का परिग्रहण किया गया है । दूसरे किस देश के किस प्राचीन धर्म ग्रन्थ में ऋग्वेदीय 'नासदीय सूक्त' की भांति गहनतत्व का प्रतिपादन किया गया है ? किन्तु इतने पर भी ऋग्वेद " असभ्य कृषकों का संगीत मात्र है !!! "

इतना श्री कोकिलेश्वर महाचार्य जी का लेख है । इस विवेचन पर पाठक जितना भी मनन करेंगे वेदकी गहनताके विषयमें उनकी श्रद्धा उतनी ही परिपक्व होती जायगी और भी अनेकों स्थानों में वेदने काव्यमयी भाषामें प्राणनक्रिया और जडांश की बलक्रिया का निर्देश किया है । चेतन प्राणियों के अन्दर जो परिस्पन्दन है वह आत्मा की शक्ति है या उसी का नाम आत्मचिति है । पर जिसे हम जड जगत् कहते हैं उसके प्रत्येक परमाणुमें भी अनन्त वैद्युतीय शक्ति अन्तर्निहित है । वैज्ञानिक बताता है कि हर ' ऐटम ' एक सूर्य मंडल के समान ही अनेक " इलेक्ट्रन्स " का आगार है । ये एलेक्ट्रन प्रचण्ड गति से-वह गति जिसका नियन्त्रण आधुनिक वैज्ञानिक जगत् भी नहीं जानता-ऐटम के धनवैद्युतीयकेन्द्रके चारों ओर चक्कर काटते हैं। विज्ञान इन्हीं ' वैद्युतीय अणुओं ' पर रुक जाता है । उसकी खोज अभी तक चेतन के क्षेत्र से परे है। इसी लिये आज सारे वैज्ञानिक निस्सन्देह इस बात के अन्धकार में है कि जड पदार्थ या प्रकृति का बल किस स्रोत से आविर्भूत होता है । वेद कहता है कि अद्वितीय ज्ञानस्वरूप ब्रह्म ने पहले कामना की । उसी संकल्प से प्राणनक्रिया हुई जिसने स्वधा या जडांश में आश्रय लिया । टुंजल नामक वैज्ञानिकने इस भूलके स्वीकार करते हुए माना है कि वैज्ञानिक लोग जड के आश्रय से ऊपरकी ओर चले हैं, यदि वे परमात्मा से नीचे की ओर विकासक्रम का अनुसन्धान करते तो उन्हें अधिक सफलता मिलती । वह इसके लिये वैदिक ऋषियों को धन्यवाद भी देता है ।

ऋग्वेद में अन्य स्थान पर भी शक्ति विकास के क्रम को दिखाया है-

" य आत्मदा बलदा यस्य विश्व उपासते प्रशिषं यस्य देवाः ।" अर्थात् " वह प्रजापति ब्रह्म आत्मा-और बल का देने वाला है ।" आत्मा और बल ये दोनों शब्द विचारणीय हैं । चेतन जगत् का आत्मतत्त्व उसी ईश्वर से आविर्भूत है । यह " बल " शब्द यहां किस के लिये आया है ? अवश्य ही यह प्रकृति के लिये आया है । " मैटर " के अन्दर जो " इनर्जी " है उसी का नाम " बल " है।

इस बल की स्वतन्त्र सत्ता नहीं है। वेद इसको एक शाश्वत सत्य की तरह स्वीकार करता है कि प्रकृति कभी परमात्मा से स्वतन्त्र नहीं है। उसका 'बल' परमात्मा का ही दिया हुआ है। इसी भावको अगले मंत्र में और भी स्पष्ट रीति से कह दिया है " यः प्राणतो निमिषतो महित्वैक इद्राजा जगतो बभूव।" अर्थात् " वह ईश्वर संसार का राजा या स्वामी है, कारण कि प्राण और निमिष ये दो क्रियाएं उसी से निकल कर जिसको जगत् कहा जाता है उसे व्याप्त किये हुए हैं-- यह उस परमात्मा की महिमा हैं।" यथासंख्य नियम से प्राण का आत्मा के साथ और निमिष का बल के साथ संबन्ध है। निमिष का अर्थ " स्पर्धाकरण" है। जहां बल होता है वहीं स्पर्धा होती है। पहला मंत्र बताता है कि प्रकृति का बल ईश्वर से ही मिलता है। दूसरा मंत्र कहता है कि बल का लक्षण स्पर्धा है। यह बात वैज्ञानिक रीतिसे बिल्कुल सत्य है। स्पर्धा ही एक प्रकार से अनेकों ग्रहों, उपग्रहों और ब्रह्माण्डों के बनने बिगडने का कारण है। परमात्मा ने एक बार स्पर्धा के नियम को जड जगत् के अन्दर प्रवर्तित कर दिया। शेष सब कार्य अपने आप होता रहता है। जड जगत् के सूक्ष्मातिसूक्ष्म भाग, अणु, परमाणु और वैद्युतीकण-मौलीक्यूल, एटाम और इलेक्ट्रन-हैं। इनमें से प्रत्येक के साथ तुमुल संघर्ष और द्वन्द्व मचा रहता है। वैद्युतीयकण परमाणु के भीतर रह कर कभी उसका शासन मानता और कभी विद्रोह करके स्थानान्तर में चला जाता है। इसी प्रकार परमाणु के केन्द्र में अग्निविद्युत् (negative charge) और सोमविद्युत् (Positive charge) का संचार हुआ करता है। वैद्युतीय कणों की इस ब्रह्माण्डव्यापिनी कला का नाम " स्पर्धा " या " निमिष " है। वैज्ञानिक इस स्पर्धाशक्ति को " इनर्जी " का नाम देकर विराम लेता है और उसके आगे नहीं बढ पाता। पर वेद ने अत्यन्त स्पष्टतापूर्वक कई स्थान पर ईश्वर को " निमिष " का विधाता माना है-

" अहोरात्राणि विदधद्विश्वस्य मिषतो वशी।" अर्थात् " वह परमात्मा विश्व की मिष शक्ति का नियन्ता है।" प्रलय के समय वह ईश्वर इस बडी हलचलको कैसी सरलता और लाघव के साथ आत्मवश कर लेता होगा यह विचारने की बात है। हर्ष की बात है कि बीसवीं शताब्दी का विज्ञान अनीश्वरवादी नहीं रहा है, वह एक प्रकार से ' नेति नेति ' का मानने वाला हो गया है। स्वयं लार्ड कैल्विन ने कहा था कि सारी प्रकृति एक स्वर से यही कहती प्रतीत होती है कि इस का कोई कर्ता अवश्य है। कैल्विन महोदय ने विश्व के अद्भुत रचनाकौशल्य पर मुग्ध होकर ही इस प्रकार का संकेत किया था। वैदिक ऋषि ने भी कभी भगवान् की " एतावान् महिमा " पर मुग्ध होकर " कस्मै देवाय हविषा विधेम " का गीत गाया था॥

चित्ररामायण।

सारस्वतालोचन।

शुद्धिचन्द्रोदय [सचित्र]

(ले०—श्री० कुँवर चांदकरण शारदाजी। शारदा भवन। अजमेर। मूल्य १॥) रु.) यह अत्यंत महत्वपूर्ण पुस्तक उत्साही कार्यकर्ता श्री० कुँवर चांदकरण शारदाजीने बना कर प्रकाशित किया है। जो लोक शुद्धीका पवित्र कार्य कर रहे हैं और जिन लोगोंके मत से शुद्धि के लिये शास्त्रप्रमाण ढूंढने की आवश्यकता प्रतीत होती है, तथा प्राचीन भारत वर्ष में शुद्धि की जाती थी या नहीं इस विषयमें जिनको शंका होती है वे सब इस पुस्तकको अवश्य देखें। इसके देखनेसे शुद्धिके विषयकी सब शंकाएं दूर हो सकती हैं। इस ग्रंथकी योग्य समय में रचना करके श्री० कुंवर चांदकरणजीने हिंदु जातीपर अनंत उपकार किये हैं और उनको नया मार्ग भी बताया है। आप उत्साही कार्यकर्ता हैं और धीरवीर पण्डित विद्वान वक्ता और लेखक भी हैं। इस समय अपने देशकी अवस्था उन्होंने प्रत्यक्ष देखी है, प्राचीन समय की स्थिति उन्होंने प्राचीन ग्रंथोंके मनन से जान ली है। शास्त्र वचनों का मनन किया है और इतने परिशीलनसे भविष्य-कालके मार्ग की दिशा बताई है। इस लिये यह पुस्तक सर्वांगसुंदर हुआ है और जो मनुष्य पढेगा वह भी इसकी मुक्त कंठ से प्रशंसा करेगा। पुस्तक का मूल्य अति अल्प है इस लिये भारतीय जनता इसको निःसंदेह अपनायेगी और लेखक का उत्साह द्विगुणित करेगी।

२ वेदका यमयमी संवाद।

(ले० और प्र०- श्री० पं० प्रियरत्नजी, सार्व-देशिक अनुसंधानकार्यलय, एस्प्लेनेडरोड, देहली.) वेदका यमयमी सूक्त पाठक जानते ही हैं। इस सूक्तने कई विद्वानोंको आकर्षित किया है। उनमें पं० प्रियरत्नजी एक हैं। आपका इस सूक्तका मनन कई वर्षों से चल रहा है और वह अपने ढंग का नया है। इस लिये विचारशील पाठकोंको यह पढने योग्य है। आपने इस सूक्त को दिन और रातके अलंकार पर घटाया है और ज्योतिर्विद्या की शिक्षा भी इसमें देखी है और साथ साथ विवाहपद्धति गार्हस्थ्यमर्यादा, आपद्धर्म, नियोग आदिके संबंधमें अनेक बोधप्रद शिक्षायें दर्शाई हैं। जो पाठक यमयमी सूक्तका मनन करते हैं वे इसको अवश्य देखें।

३ आर्य भजन कीर्तन।

(प्र०- श्री॰ परमेश्वरी सहाय्य, मंत्री आर्यसमाज आग्रा। मू. =) ॥ इसमेंईश्वर स्तुति, प्रार्थनोपासना, ब्रह्मयज्ञ, देवयज्ञ, शांति, आर्य पर्वपद्धति, शुद्धिविधि और कई सुंदर भजन हैं। पुस्तक संग्राह्य है।

४ आर्य समाजकी महत्ता।

(ले०- श्री० पं० गणेशदत्तशर्मा गौड इन्द्र, आगर मालवा। प्रकाशक— श्री. आर्य प्र० सभा, अजमेर। मूल्य) ॥) आर्यसमाज की विशेषताएं इसमें काव्यमयी भाषासे लिखी हैं।

५ वेद ईश्वरीय ज्ञान।

ले०- म० राधाकृष्णजी, मु. बनबटा, मुरादाबाद। मू.-) वेद विषयका प्रमाणबद्ध वर्णन है।

६ ईश्वरकी हस्ती !

(ले०—श्री० राधाकृष्णजी पेशकार कलक्टरी,मु. बनबटा, मुरादाबाद, विनामूल्य) स्वतःसिद्ध ईश्वर की हस्ती और उसकी महिमा बताने वाली लावणी है। जो गानेवाले अन्यान्य रद्दी चीजें गाते हैं उनकी अपेक्षा यह लावनी गायेंगे तो गायन शक्तिके साथ आनंद देगा।

७ प्राप्ति स्वीकार— श्री० १०८ स्वामी दयानंदजी महाराज के स्मारक पंजाब आर्य समाज लाहौर की अर्ध शताब्दी में सज्जनानुरंजनार्थ चित्रबंध—रचयिता श्री॰ बैजनाथ शर्मा शास्त्री भिषगाचार्य अम्बाला। (८) हिंदी साहित्य संमेलन प्रयाग की परीक्षाओंकी विवरण पत्रिका। (९) वैश्यमार्तण्ड दिल्ली॰ साप्ताहिक पत्र।

क्षत्रिय का धर्म ।

[५]

[ऋषिः—भृगुः आथर्वणः । देवता-इन्द्रः]

इन्द्र जुषस्व प्र वहा याहि शूर हरिभ्याम् ।
पिबा सुतस्य मतेरिह मधोश्चकानश्चारुर्मदाय ॥ १ ॥
इन्द्र जठरं नव्यो न पृणस्व मधोर्दिवो न ।
अस्य सुतस्य स्वर्णोप त्वा मदाः सुवाचो अगुः ॥ २ ॥
इन्द्रस्तुराषाण्मित्रो वृत्रं यो जघान यतीर्न ।
बिभेद बलं भृगुर्न ससहे शत्रून्मदे सोमस्य ॥ ३ ॥
आ त्वा विशन्तु सुतास इन्द्र पृणस्व कुक्षी विड्ढि शक्र धियेह्या नः ।
श्रुधी हवं गिरो मे जुषस्वेन्द्र स्वयुग्भिर्मत्स्वेह महे रणाय ॥ ४ ॥
इन्द्रस्य नु प्रा वोचं वीर्याणि यानि चकार प्रथमानि वज्री ।
अहन्नहिमन्वपस्ततर्द प्र वक्षणा अभिनत्पर्वतानाम् ॥ ५ ॥
अहन्नहिं पर्वते शिश्रियाणं त्वष्टास्मै वज्रं स्वर्यं ततक्ष ।
वाश्रा इव धेनवः स्यन्दमाना अञ्जः समुद्रमव जग्मुरापः ॥ ६ ॥
वृषायमाणो अवृणीत सोमं त्रिकद्रुकेष्वपिबत्सुतस्य ।
आ सायकं मघवादत्त वज्रमहन्नेनं प्रथमजामहीनाम् ॥ ७ ॥

अर्थ--हे शूर इन्द्र ! (जुषस्व) तू प्रसन्न हो, (प्र वह) आगे बढ । (हरिभ्यां आ याहि) घोडोंके साथ तू यहां आ । (चकानः) तृप्त होता हुआ तू (मदाय) हर्षके लिये (इह) यहां (मतेः) बुद्धिमान् पुरुषका (सुतस्य मधोः चारुः) निचोडा हुआ मधुर सुंदर रस (पिब) पिओ ॥ १ ॥ हे इन्द्र ! (नव्यः न) प्रशंसनीयके समान और (स्वः न) स्वर्गीय आनंद के समान (मधोः जठरं पृणस्व) इस मधुर रससे अपना पेट भर दो ।

(अस्य सुतस्य) इस निचोडे रसकी (स्वः न) स्वर्गके आनंदके समान खुशी और (सुवाचः मदाः) उत्तम भाषणोंके साथ आनंद (त्वा उप अगुः) तेरे पास पहुंचते हैं ॥ २॥ (यतीः न) यत्न करनेवाले पुरुषके समान (यः तुराषाद् मित्रः इन्द्रः) जिस त्वरासे शत्रुपर हमला करनेवाले मित्र इन्द्रने (वृत्रं जघान) घेरनेवाले शत्रुका नाश किया था, तथा (भृगुः न) भूननेवालेके समान जिसने (बलं बिभेद) शत्रुके बलका भेद किया था और (सोमस्य मदे) सोमरसके आनंदमें (शत्रून् ससहे) शत्रुओंका पराभव किया था ॥ ३ ॥ हे (शक्र इन्द्र इन्द्र) शक्तिमान् प्रभु इन्द्र ! (सुतासः त्वा आ विशन्तु) निचोडे हुए ये रस तुझमें प्रविष्ट हों। (कुक्षी पृणस्व) दोनों कुक्षियोंको तू भर और (विद्धि) शासन कर (धिया नः आ—इहि) अपनी बुद्धिसे तू हमारे पास आ। हमारी (हवं श्रुधि) पुकार सुन, (मे गिरः जुषस्व) मेरा भाषण स्वीकार कर। और (इह) यहां (महे रणाय) बडे युद्ध के लिये (स्वयुग्भिः) अपनी योजनाओंके साथ (आ मत्स्व) हर्षित हो ॥ ४ ॥ (इन्द्रस्य वीर्याणि नु प्रवोचं) इन्द्रके पराक्रम मैं अच्छी प्रकार वर्णन करता हूं। (यानि प्रथमानि) जो पहिले श्रेणीके पराक्रम (वज्री चकार) वज्रधारी इन्द्रने किये थे। उसने (अहिं अहन्) कम न होने वाले शत्रुका नाश किया, और (अपः अनुततर्द) प्रवाहोंको खुला किया और (पर्वतानां) पर्वतोंके (वक्षणाः प्र अभिनत्) भाग तोड भी दिये ॥ ५ ॥ (पर्वते शिश्रियाणं अहिं) पर्वतके आश्रयसे रहनेवाले शत्रुको (अहन्) वध किया। (अस्मै) इसके लिये (त्वष्टा स्वर्यं वज्रं ततक्ष) कारीगरने तेज शस्त्र बनादिया था। (वाश्राः धेनवः इव) रंभाती हुई गौवोंके समान (स्यन्दमानाः आपः) वेगसे बहनेवाले जलप्रवाह (अञ्जः समुद्रं अवजग्मुः) सीधे समुद्रतक जा पहुंचे ॥ ६ ॥ (वृषायमाणः) बलवान् वीर (सोमं अवृणीत) सोम रसको प्राप्त हुआ। (सुतस्य त्रिकद्रुकेषु अपिबत्) रसका तीन उच्च स्थानोंमें पान किया। (मघवा सायकं वज्रं आ अदत्त) इन्द्रने बाण रूप वज्र लिया और (अहीनां प्रथमजां एनं अहन्) शत्रुओंके पहिले इस वीरको मार डाला ॥ ७ ॥

भावार्थ — हे शूर वीर ! तू सदा प्रसन्न और आनंदित रह और उन्नतिके मार्गसे आगे बढ। अपने उत्तम घोडोंसे युक्त रथमें बैठकर इधर

उधर जा । और सदा संतुष्ट रहता हुआ अपने हर्षको बढानेके लिये बुद्धि वर्धक मधुर रसका पान कर ॥ १ ॥ हे शूरवीर ! प्रशंसा के योग्य और हर्ष बढानेवाले मधुर रसमें अपना पेट भर, ऐसा करनेसे ही उत्तम प्रशंसाकी वाणी ही तेरे पास सब ओरसे पहुंचेगी अर्थात् सब तेरी प्रशंसा करेंगे ॥२॥ पुरुषार्थी, उद्यमी पुरुषके समान प्रयत्नशील और शीघ्रवेगके साथ शत्रु पर हमला करने वाला शूरवीर अपने शत्रुका नाश शीघ्र करता है। जिस प्रकार भूननेवाला मनुष्य धान्योंको भूनता है, उसी प्रकार यह शूर वीर शत्रुकी सेनाको भून देता है और सोमरस का पान करता हुआ हर्षित और उत्साहित होकर शत्रुका पराजय करता है ॥ ३ ॥ हे शक्तिमान् शूर-वीर ! सब मधुर रस तुम्हें प्राप्त हों और उससे तू अपना पेट भर दे। उस समय तू अपने मनसे सब जनता की भलाईका विचार कर और उन की पुकार श्रवण कर तथा बडे जीवनकलह में विजय प्राप्त करनेके लिये अपनी योजक शक्तियोंके साथ आनंदसे तैयार रह ॥ ४ ॥ शूर पुरुषके पराक्रमों का मैं वर्णन करता हूं, जो कि उन्होंने किये थे। बढने वाले शत्रुका उसने नाश किया और जलके प्रवाह सबके लिये खुले कर दिये, तथा पर्वतोंके भागोंको तोडकर जंगल भी साफ किया ॥ ५ ॥ पर्वत के भागोंपर छिपकर रहनेवाले शत्रुओंका उन्होंने वध किया, ऐसे शूरके लिये कारीगरों ने विशेष प्रकारके तीक्ष्ण शस्त्र तैयार कर दिये थे। जिस प्रकार गौवें रंभाती हुई अपने बछडेके पास जाती हैं उसी प्रकार उस वीरने खुले किये हुए जलके प्रवाह समुद्रतक जा पहुंचे ॥ ६ ॥ अपना बल बढाने वाला शूरवीर सोमरस का पान तीन समय और तीन स्थानोंमें करता है। धनी शूरवीर अपने शस्त्र सदा तैयार रखताहै और बढने वाले शत्रुके अग्रगामी वीरका शीघ्र नाश करता है [और इस रीतिसे अपना विजय प्राप्त करता है।] ॥ ७ ॥

क्षात्रधर्म ।

प्रायः इन्द्र सूक्तोंमें क्षत्रियधर्म बताया होता है। इन्द्र शब्द मुख्यतः शत्रुका नाश करनेवाले शूरवीरका द्योतक है और उसका वर्णन शूरवीरके क्षात्रधर्मका प्रकाशक होता है। इस सूक्तमें भी पाठक उक्त बात देख सकते हैं। इस सूक्तमें जिन शब्दों द्वारा शूरवीर का वर्णन होकर क्षात्र धर्मका प्रकाश हुआ है, उन शब्दोंका अर्थ देखिये—

*

क्षत्रियके गुण ।

१ इन्द्रः (इन्+द्र)= शत्रुका नाश करनेवाला, शत्रु सैन्यका नाश करनेवाला ।(मं.१)

२ शूरः= शूरवीर । (मं. १)

३ चकानः=तृप्त, संतुष्ट, तेजस्वी, प्रकाशमान। शत्रुका प्रतिकार करनेमें समर्थ। (मं.१)

४ मित्रः=जनताका मित्र, जनताका हित करनेवाला । सूर्यवत्प्रकाशमान । (मं. ३)

५ यतीः=प्रयत्नशील, पुरुषार्थी । (मं. ३)

६ भृगुः=भूननेवाला, शत्रुको भूननेवाला । (मं. ३)

७ तुराषाट्=त्वरासे शत्रुपर हमला चढानेवाला । (मं. ३)

८ शक्रः=समर्थ, शक्तिशाली, बलवान् । (मं. ४)

९ वज्री= वज्र आदि शस्त्रोंसे युक्त । (मं.५)

१० वृषायमाणः = अपना बल प्रतिदिन बढानेवाला, अपनी शक्ति सब प्रकारसे बढानेवाला । (मं.७)

११ मघवा (मघ–वान्)=धनवान् । (मं. ७)

ये ग्यारह शब्द इस सूक्तमें शूरवीर क्षत्रियके वाचक हैं। इन शब्दोंसे क्षत्रियके कर्तव्योंका भी बोध होता है। क्षत्रियके पास शौर्य वीर्य पराक्रम आदि गुण जैसे चाहियें उसी प्रकार पुनः पुनः प्रयत्न करनेका गुण और वेगसे शत्रुपर हमला चढानेका भी गुण अवश्य चाहिये । शत्रुसे अपना बल अधिक रखनेकी तैयारी भी क्षत्रियको करनी चाहिये, और इस सबके लिये उसके पास विपुल धन भी चाहिये, इत्यादि क्षात्रधर्मका उपदेश हमें यहां प्राप्त होता है । पाठक इस दृष्टिसे इन पदोंका विशेष मनन करें । अब वाक्यों द्वारा जो क्षत्रियके कर्म इन मंत्रोंमें वर्णन हुए हैं उनका विचार देखिये—

क्षत्रियके कर्तव्य ।

१ शूर ! हरिभ्यां आयाहि=हे वीर ! घोडोंपर सवारी कर । घोडोंकी सवारी करनेका अभ्यास क्षत्रियको करना चाहिये । (मं. १)

२ प्र वह=आगे बढ । क्षत्रियकी ऐसी तैयारी चाहिये कि जिससे वह शीघ्रतासे आगे बढ सके। चढाईमें ढिलाई न रहे । (मं. २)

३ वृत्रं जघान= घेरनेवाले अथवा व्यूह बांधकर चढाई करनेवाले शत्रुका नाश करनेमें समर्थ क्षत्रिय हो । (मं. ३)

४ बलं बिभेद=शत्रुके बलका भेद करे, शत्रुकी सेनामें भेद उत्पन्न करे, शत्रुकी सेनाकी संघशक्ति नष्ट करे, उस शत्रुसेनाको तितर बितर करे । (मं.३)

५ शत्रून् ससहे=शत्रुका पराजय करे। शत्रुके हमलेको सहे अर्थात् शत्रुके हमलेसे पीछे न हटे। (मं० ३)

६ विरूढि (आ विरूढि)=उत्तम राज्य शासन कर। राज्यशासन करना अपना कर्तव्य है ऐसा क्षत्रिय समझे। (मं० ४)

७ महते रणाय स्वयुग्भिः मत्स्व=बडे युद्धके लिये अपनी योजक शक्तियोंके द्वारा आनंदसे तैयार रहे। शत्रु झगडा करता है, तो उसको अपनी योजना और युक्तियोंसे दूर करे। (मं०४)

८ अहिं अहन् = शत्रुका नाश करे ॥ (मं० ५)

९ पर्वतानां वक्षणाः अभिनत् = पर्वतों के उपरके घने जंगल तोड कर शत्रु छिप कर रहनेके स्थान हटा देवे। अथवा वहांसे बहनेवाले नदी प्रवाह खुले करे। (मं० ५)

१० अपः अनु ततर्द = जलके प्रवाह शत्रुके अधिकार में हों तो उनको सबके लिये खुले करे। (मं० ५)

११ पर्वते शिश्रियाणं अहिं अहन् = पहाडियोंका आश्रय करके लडनेवाले शत्रुका नाश करे। (मं० ६)

१२ अस्मै त्वष्टा स्वर्यं वज्रं ततक्ष = इसके लिये लुहार तीक्ष्ण शस्त्रास्त्र तैयार करके दे। अथवा राजा अपने कारीगरोंको शस्त्र तैयार करनेके काम में नियुक्त करे और आवश्यक शस्त्रास्त्र तैयार करके लें। (मं०६)

१३ सायकं वज्रं आ अदत्त = बाण और वज्र आदि शस्त्र हाथमें लेवे। (मं० ७)

१४ अहीनां प्रथमजां एनं अहन् = बढनेवाले शत्रुके मुख्य मुख्य वीरोंका अर्थात् सेनानायकोंका नाश करे। (मं० ७)

ये वाक्य क्षत्रियके कर्तव्य बता रहे हैं। इनकी विशेष व्याख्या करनेकी आवश्यकता नहीं है, क्योंकि ये वाक्य स्वयं स्पष्ट हैं और थोडेसे मननसे इनका आशय ध्यानमें आ सकता है।

अब राज्यशासन विषयक कर्तव्योंकी सूचना करने वाले वाक्योंको देखिये—

राज्य शासन।

१ मित्रः—प्रजाओंका मित्र बन कर राजा राज्य करे। कभी शत्रु बनकर राज्य न करे। (मंत्र ३)

२ हवं श्रुधि, गिरः जुषस्व —पुकार सुन, वाणीका स्वीकार कर अर्थात् प्रजाकी आवाज श्रवण कर। प्रजाकी इच्छाका आदर कर। (मंत्र. ४)

३ अपः अज्ञः समुद्रं अवजग्मुः— समुद्रतक बहने वाले नहर चलावे और उससे कृषिकी सहायता करे। (मं. ६)

इस प्रकारका राज्यशासन केवल प्रजाके हितकी वृद्धि करनेके लिये जो क्षत्रिय करता है, उसीकी प्रजा प्रशंसा करती है, इस विषयमें निम्न लिखित मंत्र भाग देखिये—

प्रजासे सन्मान।

१ त्वा मदाः सुवाचः उप अगुः— तेरे पास हर्षकी उत्तम वाणी पहुंचती है अर्थात् हर्षित और आनंदित हुई प्रजा उसकी उत्तम वाणीसे प्रशंसा करती है। कृतज्ञ-तासे संमान करती है। मानपत्र अर्पण करती है (मं. २)

प्रजा आनंदित होनेके पश्चात् ही उत्तम राजाकी इस प्रकार प्रशंसा कर सकती है। अन्यथा त्रस्त हुई प्रजा राजाकी निंदा या राजाका द्रोह करती रहेगी। इस प्रकार राजाके अथवा क्षत्रियके राष्ट्रीय कर्तव्य क्या हैं, इस विषयमें इस सूक्तने उपदेश दिया है। यहां ऊपर जो वाक्य उद्धृत किये हैं, उनमें अर्थकी सुबोधताके लिये शब्दोंके अर्थोंका पुरुषव्यत्यय करके थोडासा परिवर्तन जानबूझ कर किया है। यह बात संस्कृतज्ञ पाठक स्वयं जान सकते हैं। इतना परिवर्तन इस प्रकारके स्पष्टीकरणमें आवश्यकही होता है। इसलिये इस विषयमें कुछ न लिखकर अब क्षत्रियका व्यक्ति गत आचार भोग आदि कैसा रहना चाहिये इस विषयमें इस सूक्तका उपदेश देखते हैं —

भोग।

१ सुतस्य मधोः मदाय पिब— सोमादि वनस्पतिसे निचोडे मधुर रसका पान हर्षके लिये कर। (मं० १)

इस विधानमें मधुर रसका पान करनेका उपदेश है। यही मधुपर्क प्राशन है। वन-स्पतिमें सोम मुख्य है। इसका ग्रहण करनेसे अन्य आरोग्य और हर्षवर्धक वनस्पतियों का ग्रहण स्वयं हुआ है। इस सूक्तके सप्तम मन्त्रमें सोम का नाम है और वही इस मंत्रसे संबंधित है। इस सूक्तमें इसके उल्लेख निम्न लिखित हैं —

२ सुतस्य मधोः जठरं पृणस्व। (मं० २)

३ सुतासः त्वा कुक्षीः आविशन्तु। (मं० ४)

४ सुतस्य सोमं त्रिकद्रुकेषु अपिबत्। (मं० ७)

इन मंत्र भागोंका भी वही भाव है। (२) सोम रससे पेट भर दे। (३) सोम रस से दोनों कुक्षियां भर दे, (४) निचोडा सोम रस तीन बर्तनों द्वारा तीन स्थानोंमें बैठ कर दिनमें तीन वार पिओ। यह सोम रस मधुर रुचिवाला, हर्ष और उत्साह वर्धक, थकावटको दूर करने वाला, दीर्घ आयुष्य देने वाला, बुद्धि बढाने वाला, और रोग बीजोंको शरीरसे हटाने वाला है।

सोम और मद्य।

वेद प्रणालीके अनभिज्ञ लोग सोम को शराब मानते हैं, वे इतनी भूल करते हैं, कि उससे अधिक भूल कोई भी कर नहीं सकता। सोम, सुरा, वारुणी, आसव, अरिष्ट, मद्य और शराब ये शब्द समानार्थक नहीं हैं। मद्य और शराब ये शब्द समानार्थक हो गये हैं और सुरा शब्द भी उनमें संमिलित हुआ है, यह बात हमें पता है। इसलिये हम कहते, हैं कि इन शब्दोंका आशय पाठक अवश्य स्मरण रखें-

१ सोम = सोम वल्लीका रस, जो दूध, मधु (शहद), मिश्री, भूने धान्यका आटा, दही आदि अनेक पदार्थोंके मिश्रणके साथ अच्छा स्वादिष्ट पेय बनाकर पीया जाता है और गौ आदि पशुओं को भी पिलाया जाता है। यह वनस्पतियोंका केवल रस होता है। इसके गुण ऊपर दिये हैं।

२ सुरा = किसी रसकी भांप बना कर फिर उसका शीतता देकर रस बनाया जाय, तो उसका यह नाम है। (Distilled Water) पानीकी भांप बनाकर फिर उस भांप का पानी बन जानेसे भी उस जलका यह नाम होता है, वृष्टिजल का भी यही नाम उक्त कारण ही है, क्योंकि भूमि परके जलकी भांप होकर मेघ बनते हैं और उससे वृष्टि होती है। किसी भी रसकी इस प्रकार शुद्धि होती है। यह शुद्धिकी रीति है। आजकल इस रीतिसे शराब बनाते हैं,इसलिये इस नामकी खराबी हुई है, यह बात सामयिक है॥ वास्तव में संस्कृतका केवल सुरा शब्द उक्ताविधि से बनाये परिशुद्ध जल या रस का वाचक है।

३ वारुणी, अमरवारुणी=ये भी शब्द उक्त प्रकारके रसोंके या जलके वाचक हैं। इन पेयोंमें मादकता या दुर्गुण वास्तवमें नहीं है। परंतु आजकल इस रीतिसे शराब बनती है इसलिये ये सब नाम बुरे अर्थोंमें आजकल प्रयुक्त हुए हैं। प्राचीन समयमें भी क्वचित् बुरे और क्वचित् अच्छे अर्थोंमें इनका उपयोग दिखाई देता है।

४-५ आसव और अरिष्ट=ये नाम औषधि पेयोंके होते हैं। इनमें कुछ सडावट होनेके कारण मद्य उत्पन्न होना अपरिहार्य है, तथापि इनमें मद्यकी मात्रा प्रति शतक

दो भागके करीब होती है। इसलिये शराबमें इसकी गिनती नहीं होती।

अंग्रेज सरकारने इनकी जांच करके निश्चय किया है, कि यह मद्य नहीं है। इसीलिये देशी वैद्य ये आसव तथा अरिष्ट तैयार कर सकते हैं, अन्यथा सरकारी प्रतिबंध उनके पीछे लग जाता।

६-७ मद्य और शराब मादक होनेसे निःसंदेह बुरे हानिकारक पेय हैं।

पाठक इस विवरणसे समझ गये होंगे कि सोममें दोषकी कल्पना अथवा मद्यकी कल्पना यत्किंचित् भी नहीं हो सकती, दिनमें तीन वार रस निचोडा जाता है और उसी समय आहुतियां देकर पीया जाता है। सवेरे, दोपहरको और सायंकालको रस निचोडना और पीना होता है, उसका वर्णन इस सूक्तके सप्तम मंत्रमें आचुका है। इस लिये जो लोग सोमरस को सुरा मानते हैं वे ही उक्त मत मद्यकी धुंदमें कहते हैं, ऐसा यदि किसीने कहा तो वह अशुद्ध न होगा।

इस सूक्तमें क्षत्रियका भोजन वनस्पतिका मधुर रस है यह बात स्पष्टतासे कही है, जो शाकाहारकी पुष्टि करने वाली है।

जीवन संग्राम।

वेदमें " महते रणाय " ये शब्द वारंवार आते हैं। " बडा युद्ध " चल रहा है, सावध रहकर अपना कर्तव्य करो, यह वेदका उपदेश जीवन संग्राममें रहनेवाले मनुष्य मात्रको मार्ग दर्शक है। प्रत्येक मनुष्य सदा युद्धभूमिपर खडा है, किसी न किसी प्रकारके युद्धमें संमिलित हुआ है, उसकी इच्छा हो या न हो उसको युद्धमें रहना ही पडता है, फिर वह भागकर कहां जाय? इस लिये उसको अपने युद्धका स्वरूप जानना चाहिये और उस संबंधसे उत्पन्न होनेवाला अपना कर्तव्य अवश्य करना चाहिये। अन्यथा उसका जन्म निरर्थक हो जायगा। चाहे वह अहिंसावृत्तिसे युद्ध करे या हिंसा वृत्तिसे करे, युद्धके विना उसकी स्थिति नहीं है और इस युद्धमें विजय कमाने के विना उसकी उन्नति नहीं है। यह हुई सब मनुष्योंकी बात, क्षत्रिय की तो पूछनाही क्या है, उसका जीवन ही युद्ध रूप है, उसको युद्ध तो अनिवार्य है।

इस प्रकार यह सूक्त क्षात्र धर्मका उपदेश करता है। पाठक इसका मनन करनेके समय प्रथम काण्डके २, १५, १९, २१, २८, २९, इन सूक्तोंको भी ध्यानमें रखें।

(यहां प्रथम अनुवाक समाप्त हुआ)

ब्राह्मण धर्मका आदेश ।

[६]

[ऋषिः— शौनकः सम्पत्कामः । देवता—अग्निः]

समास्त्वाग्न ऋतवो वर्धयन्तु संवत्सरा ऋषयो यानि सत्या ।
सं दिव्येन दीदिहि रोचनेन विश्वा आ भाहि प्रदिशश्चतस्रः ॥ १ ॥
सं चेध्यस्वाग्ने प्र च वर्धयेममुच्च तिष्ठ महते सौभगाय ।
मा ते रिषन्नुपसत्तारो अग्ने ब्रह्माणस्ते यशसः सन्तु मान्ये ॥ २ ॥
त्वामग्ने वृणते ब्राह्मणा इमे शिवो अग्ने संवरणे भवा नः ।
सपत्नहाग्ने अभिमातिजिद्भव स्वे गये जागृह्यप्रयुच्छन् ॥ ३ ॥
क्षत्रेणाग्ने स्वेन सं रभस्व मित्रेणाग्ने मित्रधा यतस्व ।
सजातानां मध्यमेष्ठा राज्ञामग्ने विहव्यो दीदिहीह ॥ ४ ॥
अति निहो अति सृधोऽत्यचित्तीरति द्विषः ।
विश्वा ह्यग्ने दुरिता तर त्वमथास्मभ्यं सहवीरं रयिं दाः ॥ ५ ॥

अर्थ— हे अग्ने! (समाः ऋतवः संवत्सराः) मास ऋतु और वर्ष; (ऋषयः) ऋषि लोग तथा (यानि सत्या) जो सत्यधर्म हैं वे सब (त्वा वर्धयन्तु) तुझे बढावें। (दिव्येन रोचनेन) दिव्य तेजसे (सं दीदिहि) उत्तम प्रकार प्रकाशित हो और (विश्वाः चतस्रः प्रदिशः) सब चारों दिशाओं में (आ भाहि) प्रकाशित हो ॥ १ ॥ हे अग्ने! (सं इध्यस्व) उत्तम रीतिसे प्रज्वलित हो (च इमं प्र वर्धय) और इस को बहुत बढाओ। (च महते सौभगाय उत्तिष्ठ) बडे ऐश्वर्य के लिये उठकर खडा रह। हे अग्ने! (ते उपसत्तारः) तेरे उपासक (मा रिषन्) नष्ट न हों। और (ते ब्रह्माणः) तेरे पास रहनेवाले ब्राह्मण (यशसः सन्तु) यशसे युक्त हों (मा-अन्ये) दूसरे नहीं ॥ २ ॥ हे अग्ने! (इमे ब्राह्मणाः त्वा वृणते) ये ब्राह्मण तेरा स्वीकार करते हैं। हे अग्ने! (नः संवरणे शिवः भव) हमारे स्वीकार

में तू शुभ हो। हे अग्ने! (सपत्नहा अभिमातिजित् भव) वैरियोंका नाश करने वाला तथा अभिमानियोंको जीतनेवाला हो, तथा (अ-प्रयुच्छन्) भूल न करता हुआ (स्वे गये जागृहि) अपने घरमें जागता रह ॥ ३ ॥ हे अग्ने! (स्वेन क्षत्रेण) अपने क्षात्रतेजसे (सं रभस्व) उत्तम प्रकारसे उत्साहित हो। हे अग्ने! (मित्रेण मित्रधा यतस्व) अपने मित्रके साथ मित्रकी रीतिसे व्यवहार कर। हे अग्ने! (सजातानां मध्यमे-स्थाः) सजातीयोंकी मंडली में मध्यस्थानमें बैठनेवाला हो कर (राज्ञां वि-हव्यः) क्षत्रियोंके बीचमें भी विशेष आदरसे बुलाने योग्य होकर (इह दीदिहि) यहां प्रकाशित हो ॥ ४ ॥ हे अग्ने! (निहः अति) मारपीट करनेके भावका अतिक्रमण कर, (स्रुधः अति) हिंसक वृत्तियोंका अतिक्रमण कर, (अ-चित्तीः अति) पापी वृत्तियोंका अतिक्रमण कर, (द्विषः अति) द्वेष भावोंका अतिक्रमण कर। हे अग्ने! (विश्वा दुरिता तर) सब पापवृत्तियोंको पार कर। (अथ त्वं) और तू (अस्मभ्यं) हम सबके लिये (सहवीरं रयिं दाः) वीर पुरुषोंके साथ रहने वाला धन दे ॥ ५ ॥

भावार्थ— हे तेजस्वी ब्रह्म कुमार! महिने ऋतु और वर्ष अर्थात् काल, ऋषि लोग अर्थात् तत्त्वदर्शी विद्वान् और जो सब सत्यधर्म नियम हैं वे सब तुझे बढावें, इस प्रकार दिव्य तेजसे युक्त होकर तू सब दिशाओंमें अपना प्रकाश फैला दे ॥ १ ॥ तेजस्वी होकर तू इस सबको वृद्धिंगत कर और बडा सौभाग्य अर्थात् ऐश्वर्य प्राप्त करनेकी तैयारी करके उठ कर खडा हो और तेरे कारण तेरे साथी दुर्दशाको कभी प्राप्त न हों, इतनाही नहीं परंतु तेरे सम्बन्धमें आने वाले ज्ञानी लोग यशसे युक्त बनें और ऐसा कभी न हो कि तेरे साथी तो दुर्दशामें जांय और तेरी गलतीसे दूसरे लोग उन्नति प्राप्त करें ॥ २ ॥ ये ज्ञानी लोग तेरा सन्मानसे स्वीकार करते हैं, इस लिये तू शुभ विचार वाला हो। तेरे जो भी वैरी हों और जो तेरे साथ स्पर्धा करने वाले हों, उनको जीत कर तू आगे बढ और कभी भूल न करतेहुए अपने स्थानमें जागता रह ॥ ३ ॥ अपना बल बढाकर सदा उत्साह धारण कर, मित्रके साथ मित्रके समान सीधा व्यवहार कर, अपनी जाती में प्रमुख स्थानमें बैठनेका अधिकार प्राप्त कर, इतनाही नहीं परंतु राजा लोग भी सलाह पूछनेके लिये तुम्हें आदरसे बुलावें ऐसी तू अपनी योग्य

ता बढा और यहां तेजस्वी बन ॥ ४ ॥ मारपीट अथवा घातपातके भाव दूर कर, नाशक या हिंसक वृत्ति हटा दे, पापवासनाओं को अपने मनसे हटा दे, द्वेष भावोंको समीप न कर, तात्पर्य सब हीन वृत्तियोंके परे जाकर अपने आपको पवित्र बनाओ,और हमारे लिये ऐसी संपत्ति लाओ, कि जिसके साथ सदा वीरभाव होते हैं ॥ ५ ॥

अग्निका स्वरूप ।

अथर्ववेद काण्ड १ सू० ७ की व्याख्यानके प्रसंगमें "अग्नि कौन है" इस प्रकरणमें अग्नि पद ब्राह्मण अर्थात् ज्ञानी पुरुष का वाचक है यह बात विशेष स्पष्ट की है। पाठक कृपा करके वह प्रकरण यहां अवश्य देखें । उस प्रकरणसे अग्निका स्वरूप स्पष्ट होगा तत्पश्चात अग्निका वर्णन करते हुए इस सूक्तने जो शब्द प्रयोग किये हैं उनका विचार देखिये–

१ हे अग्ने! त्वं सजातानां मध्यमेष्ठाः राज्ञां विहव्यः इह दीदिहि॥ (मं०४)

" हे अग्ने ! तू अपनी जातिमें मध्य स्थानमें बैठनेकी योग्यता धारण करनेवाला और राजा महाराजाओं द्वारा विशेष आदरसे बुलाने योग्य होकर यहां प्रकाशित हो।"

यह वाक्य इस मंत्रमें या इस सूक्तमें प्रतिपादित अग्नि केवल आग ही नहीं है, परंतु वह मनुष्यरूप है यह बात सिद्ध करता है । " स्वजातिकी सभामें प्रमुख स्थान में बैठनेवाला (सजातानां मध्यमेष्ठाः) " ये शब्द तो निःसंदेह उसका मनुष्य होना सिद्ध करते हैं । तथा इसी मंत्रके " (राज्ञां विहव्यः) राजाओं या क्षत्रियों द्वारा विशेष प्रकारसे बुलाने योग्य " ये शब्द उसका क्षत्रियजाति से भिन्न जातीय होना भी अंश मात्रसे सूचित करते हैं । क्षत्रिय जातिसे भिन्न ब्राह्मण, वैश्य, शूद्र और निषाद ये चार जातियां हैं । क्या कभी क्षत्रिय अपनेसे निचली जातीका सहसा वैसा समादर कर सकते हैं ? इस प्रश्न का मनन करनेसे यहां इसका संभव दीखता है, कि यहां जिसका वर्णन हुआ है वह ब्राह्मण वर्णका मनुष्य ही होगा । अर्थात् इस सूक्तका अग्नि शब्द ब्राह्मण वाचक है । यह बात अथर्ववेद प्रथम काण्ड सू० ७ की व्याख्याके प्रसंगमें बताया है और उसी बातकी सिद्धि इस सूक्त के इस वाक्य द्वारा होगई है । इस प्रकार यहांका अग्नि शब्द ब्राह्मण का वाचक है, किंवा यह कहना अधिक सत्य होगा, कि " ब्राह्मण कुमार " का वाचक है । ब्राह्मण कुमार को इस सूक्त द्वारा बोध दिया है । वेदमें अग्नि देवताके सूक्तों द्वारा ब्राह्मणधर्म और इन्द्र देवताके सूक्तोंद्वारा क्षत्रियधर्म विशेषतया बताया जाता है, यह बात पाठकोंने इस समय तक कई वार देखी है, इस लिये अब इस विषयमें अधिक कहनेकी आवश्यकता नहीं है। अब अग्नि शब्दका यह भाव ध्यानमें

धारण करके इस सूक्तके वाक्य देखिये–

दीर्घ आयुष्य।

१ हे अग्ने! त्वा समाः ऋतवः संवत्सराः च वर्धयन्तु–हे ब्राह्मण कुमार! हे बालक! महिने ऋतु और वर्ष तेरा संवर्धन करें अर्थात् उत्तम दीर्घ आयुष्यसे युक्त हो। योगादि साधनोंसे ऐसा यत्न कर कि तेरी आयु दिन के पीछे दिन, मासके पीछे मास, ऋतुके पीछे ऋतु और वर्षके पीछे वर्ष इस प्रकार बढती रहे। (मं० १)

ज्ञान प्राप्ति।

२ ऋषयः त्वा वर्धयन्तु — ऋषिलोग विद्याके उपदेश से तुझे बढावें। अर्थात् ऋषि प्रणालीके अनुसार अध्ययन करता हुआ तू ज्ञानी बन। [मं० १]

सत्यनिष्ठा।

३ यानि सत्यानि तानि त्वा वर्धयन्तु–जो सब सत्य धर्म नियम हैं, वे सब तुझे बढावें। अर्थात् तू सत्य धर्मनियमोंका उत्तम प्रकारसे पालन कर और सत्यके बलसे बलवान् हो। सत्यपालनसे ही आत्मिक बल बढता है। (मं० १)

अपने तेजका वर्धन।

४ दिव्येन रोचनेन संदीदिहि—दिव्य तेजसे पहिले स्वयं प्रकाशमान हो। पूर्वोक्त तीनों उपदेशों द्वारा तीन बल बढानेकी सूचना मिली है, (१) दीर्घ आयुष्य और नीरोग शरीरसे शारीरिक बल, (२) ऋषि प्रणालीके अध्ययनसे ज्ञानका बल और (३)सत्यपालनसे आत्मिक बलकी प्राप्ति होती है। इन तीनोंका मिल कर जो तेज होता है वह दिव्य तेज कहलाता है। यह दिव्य तेज सबसे प्रथम अपने अंदर बढाना चाहिये, जिससे यह दिव्य तेज दूसरोंको देनेका अधिकार अपने अंदर आ सकता है। (मं० १)

तेजका प्रकाश।

५ विश्वाः चतस्रः प्रदिशः आभाहि—सब चारों दिशाएं प्रकाशित करो। उक्त तीन तेजोंसे स्वयं युक्त होकर चारों दिशाओंमें रहनेवाले मनुष्योंको उक्त तेजोंसे तेजस्वी करो, अर्थात् ऐसे उपाय करो, कि जिससे चारों दिशाओंमें रहनेवाले मनुष्य उक्त तीन दिव्य तेजोंसे युक्त बनें। स्वयं तेजस्वी होनेके पश्चात् दूसरोंको प्रज्वलित करना आवश्यक है। अर्थात् स्वयं दीर्घायु और बलवान बनकर उसकी सिद्धिके मार्ग दूसरोंको बताओ, स्वयं ज्ञानी बनकर दूसरोंको ज्ञानी करो और स्वयं सत्यनिष्ठासे आत्मिक शक्ति युक्त होकर दूसरोंमें आत्मिक बल बढाओ। (मं० १)

६ सं इध्यस्व, इमं प्रवर्धय च -- स्वयं प्रदीप्त हो और इसको भी बढाओ। पहिले स्वयं प्रदीप्त होते रहो और पश्चात् दूसरोंको प्रदीप्त करो । (मं० २)

ऐश्वर्य प्राप्ति ।

७ महते सौभगाय उत्तिष्ठ- बडे ऐश्वर्यके लिये उठकर खडा रह, अर्थात् बडा ऐश्वर्य प्राप्त करनेके लिये आवश्यक पुरुषार्थ प्रयत्न करनेके उद्देश्यसे अपने आपको सदा उत्साहित और सिद्ध रखो । (मं० २)

स्वपक्षीयोंकी उन्नति ।

८ ते उपसत्तारः मा रिषन् — तेरा आश्रय करनेवाले बुरी अवस्थामें न गिरें । तेरा पक्ष लेनेवालोंकी, तेरे अनुगामी होकर कार्य करनेवालोंकी अवनति न हो। तू ऐसा यत्न कर कि जिससे तेरे अनुगामी दुर्गतिको न प्राप्त हों ।(मं० २)

९ ते ब्रह्माणः यशसः सन्तु, अन्ये मा = तेरे साथ रहने वाले ज्ञानी जन यशस्वी हों, अन्य न हों। अर्थात् तेरे साथ रहने वाले लोग यशके भागी बनें, परंतु ऐसा कभी न हो कि तेरे साथ वाले लोग तेरी त्रुटीके कारण आपत्तिमें पडें, और तेरी गलतीके कारण तेरे प्रतिपक्षी ही सुख भोगें। तेरी गलतीका लाभ शत्रु न उठावें, अतः सावधानीसे अपना कार्य करते हुए स्वपक्षियोंका यश बढाओ। (मं० ३)

१० इमे ब्राह्मणाः त्वां वृणते । नः संवरणे शिवः भव --- ये ज्ञानी तुझे चुनते हैं, इस चुनावमें तू सबके लिये कल्याणकारी हो। तू सदा जनताका हित करनेवाला हो जिससे सब ज्ञानी लोग विश्वास पूर्वक तेरा ही स्वीकार करें। जनताका हितकारी हो कर जनताका विश्वास संपादन कर । (मं० ३)

११ सपत्नहा अभिमातिजित् भव = प्रतिपक्षीका पराजय कर अर्थात् तू उन विरोधियोंको अपने ऊपर आक्रमण करने न दो । (मं० ३)

अपने घरमें जागना ।

१२ अप्रयुच्छन् स्वे गये जागृहि- गलती न करता हुआ अपने घरमें जागता रह । अपना घर "शरीर, घर, समाज, जाती, राष्ट्र" इतनी मर्यादा तक विस्तृत है । हर एक घरमें जाग्रत रहना अत्यावश्यक है। घरका स्वामी जाग्रत न रहा तो शत्रु घरमें घुमेंगे और स्वामी को ही घरसे निकाल देंगे। इस लिये अपने घरकी रक्षा करने के उद्देश्यसे घरके स्वामीको सदा जागते रहना चाहिये। (मं० ३)

उत्साहसे पुरुषार्थ।

१३ स्वेन क्षत्रेण संरभस्व=अपने क्षात्र तेजसे उत्साह पूर्वक पुरुषार्थ आरंभ कर। शत्रुका प्रतिकार करनेका बल अपने में बढाकर उस बलसे अपने पुरुषार्थका आरंभ कर। (मं० ४)

मित्रभाव।

१४ मित्रेण मित्रधा यतस्व— मित्रके साथ मित्रके समान व्यवहार कर। मित्रके साथ कपट न कर। (मं० ४)

१५ सजातानां मध्यमेष्ठाः भव- स्वजातीयों के मध्यमें- अर्थात् प्रमुख स्थानमें बैठनेकी योग्यता प्राप्त कर। अर्थात् स्वजातीमें तेरी योग्यता हीन न समझी जावे। स्वजाती-के लोग तेरा नाम आदर पूर्वक लें। (मं० ४)

१६ राज्ञां वि-हव्यः दीदिहि-क्षत्रियों अथवा राजाओंकी सभामें विशेष आदरसे बुलाने योग्य बन और प्रकाशित हो। अर्थात् केवल अपनी जाती में ही आदर पानेसे पर्याप्त योग्यता हो चुकी ऐसा न समझ, परंतु राज्यका कार्यव्यवहार करनेवाले क्षत्रिय भी तुझे आदरसे बुलावें, इतनी योग्यता प्राप्त कर। (मं० ४)

चित्तवृत्तियोंका सुधार।

१७ निहः स्त्रधः अचित्तीः द्विषः अति तर – झगडा करनेकी वृत्ति, हिंसाका भाव, पाप वासना और द्वेष करनेका स्वभाव दूर कर। अर्थात् इन दुष्ट मनोभावोंको दूर कर और अपने आपको इनसे दूर रख। (मं० ५)

१८ विश्वा दुरिता तर—सब पाप भावोंको दूर कर। पाप विचारोंसे अपने आप-को दूर रख। (मं० ५)

१९ त्वं सहवीरं रयिं अस्मभ्यं दाः- तू वीरभावोंसे युक्त धन हम सबको दे। अर्थात् हमें धन प्राप्त कर और साथ साथ धनकी रक्षा करनेकी शक्ति भी उत्पन्न कर। हरएक मनुष्य धन कमाने और धनकी रक्षा करनेका बल भी बढावे, अन्यथा उक्त बलके अभावमें प्राप्त किया हुआ धन पास नहीं रहेगा।

इस सूक्तमें उन्नीस वाक्य हैं। हर एक वाक्य का भाव ऊपर दिया है। प्रत्येक वाक्य का भाव इतना सरल है कि उसकी अधिक व्याख्या करनेकी आवश्यकता नहीं है। पाठक थोडासा मनन करेंगे तो उनको इस सूक्त का दिव्य उपदेश तत्काल ध्यानमें आजायगा। इस सूक्तका प्रत्येक वाक्य हृदयमें सदा जाग्रत रखने योग्य है।

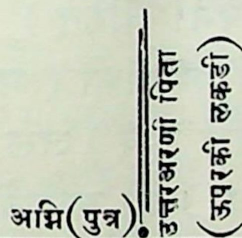
अन्योक्ति अलंकार।

अग्निका वर्णन या अग्निकी प्रार्थना करनेके मिषसे ब्राह्मण कुमारको उन्नतिके आदेश किस अपूर्व ढंगसे दिये हैं, यह वेदकी आलंकारिक वर्णन करनेकी शैली यहां पाठक ध्यानसे देखें। यहां अन्योक्ति अलंकार है। अग्निके उद्देश्यसे ब्राह्मण कुमारको उन्नतिका उपदेश किया है।

ज्ञानी मनुष्यके हृदयकी वेदीमें जो अग्नि जलते रहना चाहिये, वह इस सूक्तमें पाठक देखें। यदि इस सूक्तके अग्नि पदका अन्योक्ति द्वारा बोध होने वाला अर्थ ठीक प्रकार ध्यानमें न आया, तो सूक्तका अर्थ ही ठीक रीतिसे ध्यानमें नहीं आसकता। और जो केवल आग के जलनेका भावही यहां समझेंगे, वे तो इस सूक्तसे योग्य लाभ कभी प्राप्त नहीं कर सकते।

अरणियोंसे अग्नि।

दो अरणियों—लकडियों—के संघर्षण से अग्नि उत्पन्न होता है। यज्ञमें इसी प्रकार अग्नि उत्पन्न करते हैं। अलंकारसे (अधर अरणि) नीचे वाली लकडी स्त्रीरूप और (उत्तर-अरणि) ऊपरवाली लकडी पुरुषरूप मानी जाती है और उक्त अरणियोंसे उत्पन्न होनेवाला अग्नि पुत्र रूप माना जाता है। इस अलंकार से देखा जाय तो अग्नि पुत्ररूप है।



यदि इस सूक्तमें सामान्यतया बालकोंको अग्नि रूप मानाजाय और उन सबको इस सूक्तने उन्नतिका मार्ग बताया है ऐसा माना जाय, तो भी सामान्य रीतिसे चल सकता है। परंतु विशेष कर यहां का उपदेश ब्राह्मण कुमार के लिये है, इसके कारण पहिले बताये ही हैं। इस सूक्तके साथ प्रथम काण्डके ७ वें सूक्तका भी मनन कीजिये।

[सूचना- यजुर्वेद अ० २७ में इस सूक्तके पांचों मंत्र १–३, ५,६ इस क्रमसे आगये हैं। कुछ शब्दोंका पाठ भिन्न है तथापि अर्थमें विशेषसी भिन्नता नहीं है, इस लिये उनका विचार यहां करनेकी आवश्यकता नहीं है]

शाप को लौटा देना ।

[७]

[ऋषिः—अथर्वा । देवता-भैषज्यं, आयुः, वनस्पतिः]

अघद्विष्टा देवजाता वीरुच्छपथयोपनी ।
आपो मलमिव प्राणैक्षीत्सर्वान् मच्छपथाँ अधि ॥ १ ॥
यश्च सापत्नः शपथो जाम्याः शपथश्च यः
ब्रह्मा यन्मन्युतः शपात् सर्वं तन्नो अधस्पदम् ॥ २ ॥
दिवो मूलमवततं पृथिव्या अध्युत्ततम् ।
तेन सहस्रकाण्डेन परि णः पाहि विश्वतः ॥ ३ ॥
परि मां परि मे प्रजां परि णः पाहि यद्धनम् ।
अरातिर्नो मा तारीन्मा नस्तारिषुरभिमातयः ॥ ४ ॥
शप्तारमेतु शपथो यः सुहार्त् तेन नः सह ।
चक्षुर्मन्त्रस्य दुर्हार्दः पृष्टीरपि शृणीमसि ॥ ५ ॥

अर्थ—(अघ-द्विष्टा) पाप का द्वेष करने वाली, (देव-जाता) देवों के द्वारा उत्पन्न हुई (शपथ-योपनी वीरुत) शाप को दूर करने वाली औषधि (सर्वान् शपथान्) सब शापोंको (मत्) मुझसे (अधि-प्र अनैक्षीत) धो डालती है (आपः मलं इव) जल जैसा मलको धो डालता है ॥ १ ॥ (यः च सापत्नः शपथः) जो सपत्नोंका शाप, (यः च जाम्याः शपथः) और जो स्त्री का दिया शाप है तथा (यत् ब्रह्मा मन्युतः शपात) और जो ब्रह्मज्ञानी क्रोधसे शाप देवे (तत सर्वं नः अधस्पदं) वह सब हमारे नीचे हो जावे ॥ २ ॥ (दिवः मूलं अवततं) द्युलोकसे मूल नीचे आया है और (पृथिव्याः अधि उत्ततं) पृथ्वीसे ऊपर को फैला है, (तेन सहस्रकाण्डेन) उस सहस्र काण्डवालेसे (नः विश्वतः परि पाहि) हमारी सब ओर से रक्षा कर ॥ ३ ॥ (मां परि पाहि)मेरी रक्षा कर, (मे प्रजां परि) मेरे संतानोंकी रक्षा कर, (नः यत् धनं परि पाहि) हमारा जो धन है उसकी रक्षा कर । (अ-रातीः नः मा तारीत्) अनुदार शत्रु हमसे आगे न बढे और (अभिमातयः नः मा तारिषुः) दुष्ट दुर्जन हमको पीछे न रखें ॥ ४ ॥ (शपथः शप्तारं एतु) शाप शाप देनेवाले के पास ही वापस चलाजावे ।

(यः सुहार्त् तेन सह नः) जो उत्तम हृदय वाला है उसके साथ हमारी मित्रता हो। (चक्षुः + मंत्रस्य दुर्हार्दः) आंखोंसे बुरे इशारे देने वाले दुष्ट मनुष्यकी (पृष्टीः अपि शृणामसि) पसलियां ही हम तोड देते हैं ॥ ५॥

भावार्थ—यह वनस्पति पापवृत्तिको हटाने वाली, दिव्य भावोंको बढाने वाली, क्रोधसे शाप देनेकी प्रवृत्तिको कम करने वाली है, यह औषधी शाप देनेके भावको हमसे दूर करे जैसे जल मलको दूर करता है॥ १॥ सापत्न भाईयोंसे, बहिनोंसे, स्त्रीपुरुषोंसे अथवा विद्वान् मनुष्योंके क्रोधसे जो शाप दिया जाता है वह इससे दूर हो॥ २॥ इस वनस्पति का मूल तो द्युलोकसे यहां आया है जो पृथ्वीके ऊपर उगा है; इस सहस्रों काण्डवाली वनस्पतिसे हमारा बचाव सब प्रकारसे होवे॥ ३॥ मेरा, मेरी संतान का, तथा मेरे धन ऐश्वर्य आदिका इससे संरक्षण हो। हमारे शत्रु हम सबके आगे न बढें और हम उनके पीछे न रहें॥ ४॥ शाप देने वाले के पास ही उसका शाप वापस चलाजावे। जो उत्तम हृदय वाला मनुष्य हो उससे हमारी मित्रता हो। जो आंखों से बुरे इशारे करके फिसाद मचाने वाले दुष्ट हृदय के मनुष्य होते हैं उनको हम दूर करते हैं॥ ५॥

शापका स्वरूप। शाप को सब जानते ही हैं। गाली देना, आक्रोश करते हुए दूसरेका नाश होनेकी बात कह देना, बुरे शब्दोंका उच्चार करना इत्यादि सब घृणित बातें इस शापमें आती हैं। जिस प्रकार साधारण स्त्री पुरुष गालियां देते हैं, उसी प्रकार विद्यावान् मनुष्यभी क्रोधके समय बुरा भला कहते ही हैं। यह सब क्रोधकी लीला है। यदि क्रोध हट गया और उसके स्थानपर विचारी शांत स्वभाव आगया तो शाप देनेकी वृत्ति हट जायगी। इस लिये इस सूक्तमें "सहस्र काण्ड" नामक वनस्पति की प्रशंसा कहते हुए सूचित किया है कि, इस वनस्पतिके प्रयोगसे शाप देनेकी क्रोधी वृत्तिको दूर किया जाय।

दूर्वाका उपयोग। सहस्रकाण्ड वनस्पतिका प्रसिद्ध नाम "दूर्वा" है। जहां पानी होता है, उस स्थानपर इसकी बहुत उत्पत्ति होती है। हरएक काण्डसे अर्थात् जोडसे यह बढती रहती है। पित्तरोग, मूर्च्छा रोग, मस्तिष्ककी अशांति, मस्तिष्ककी गर्मी, उन्मादरोग आदिपर यह उत्तम हैं। इसके सेवनसे क्रोधकी उछल शांत होती है। इसका रस जीरा और मिश्रीके साथ पीया जाता है, चाहे गायके ताजे दूध के साथ पिया जाय। सिर संतप्त होनेके समय इसको पीस कर सिरपर घना लेप देनेसे भी मस्तक की गर्मी हट जाती है। इस लिये इस सूक्तमें कहा है कि यह वनस्पति शाप देनेकी क्रोधवृत्तिको कम

करती है अथवा इसके सेवन से क्रोध कम होता है।

प्रथम मंत्रमें इसके वर्णन के प्रसंगमें "(अघ-द्विष्टा) पापका द्वेष करनेवाली" यह शब्द स्पष्ट बतारहा है, कि यह दूर्वा पापवृत्तिको भी रोकती है, अर्थात् अन्यान्य इंद्रियोंसे होनेवाले पाप भी इसके सेवनसे कम हो सकते हैं। मन ही शांत हो जानेसे अन्य इंद्रियां भी उन्मत्त नहीं होती, यह तात्पर्य यहां लेना है। काम क्रोध आदि दोष इसके सेवनसे कम होते हैं इसलिये संयम करनेकी इच्छा करनेवाले इसका सेवन करें। मन और इंद्रियोंके मलीन वृत्तिको यह दूर करती है। इसका सेवन करनेकी कई रीतियां हैं। इसका तैल या घृत बनाकर सिरपर मला जाता है, रस अंदर पीया जाता है, लेप ऊपर दिया जाता है। इस प्रकार वैद्य लोग इस विषयका अधिक विचार कर सकते हैं।

यह पाप विचारको मनसे हटाती है, मनको शांत करती है, मनका मल दूर कर देती है। पहिले और दूसरे मंत्रका यही आशय है। शाप देना, गाली देना, आदि जो वाचाकी मलिनताके कारण दोष उत्पन्न होता है, वह इसके प्रयोगसे मेरे पांवके नीचे दब जाय, अर्थात् उस दोषका प्रभाव मेरे ऊपर न हो। यह द्वितीय मंत्रका आशय है। दूसरेने गाली दी, या शाप दिया, तो भी उसका परिणाम मेरे मन पर न हो; और मेरे मनमें वैसा विचार कभी न आवे; यह आशय है पांवके नीचे दोषोंके दबजानेका।

तीसरे मंत्रमें, यह वनस्पति स्वर्गसे यहां आगई है और भूमिसे उगी है, वह पूर्वोक्त प्रकार मन की शान्ति की स्थापना करने द्वारा मेरी रक्षा करे, यह प्रार्थना है।

चतुर्थ मंत्रमें अपनी, अपनी संतान की और अपने धनादि ऐश्वर्यकी रक्षा इससे हो, यह प्रार्थना है। और शत्रु अपनेसे आगे न बढे, तथा हम शत्रुओंके पीछे न पडें, यह इच्छा प्रकट की गई है। इसका थोडासा स्पष्टीकरण करना चाहिये।

मनोविकारोंसे हानि। काम क्रोधादि उच्छृंखल होने वाली मनोवृत्तियां यदि संयमको प्राप्त न हुईं तो वह असंख्य आपत्तियां लाती हैं और मनुष्यका नाश उसके परिवार के साथ करती हैं। एक ही काम के कारण कितने परिवार उध्वस्त हो गये हैं, और समयपर एक क्रोधके स्वाधीन न रहने से कितने कुटुंब मिट्टीमें मिले हैं। तथा अन्यान्य हीन मनोवृत्तियोंसे कितने मनुष्योंका नाश हो चुका है, इस का पाठक मनन करें, और मनमें समझें कि, मनकी असंयमित वृत्तियां मनुष्यका कैसा नाश करती हैं। यदि उक्त औषधि मनको शांत कर सकती है, तो उससे परिवार और धनदौलतके साथ मनुष्यकी रक्षा कैसी हो सकती है, यह स्वयं स्पष्ट हो जाता है।

इसके प्रयोगसे मन शांत होता है, उछलता नहीं, और मन सुविचार पूर्ण होनेसे

मनुष्य आपत्तियों से बच जाता है। और इसी कारण मनुष्य आपका, अपने संतान का और अपने ऐश्वर्यका बचाव कर सकता है।

यदि मन पूर्ण सुविचारी हुआ, तो योग्य समयपर योग्य कर्तव्य करता हुआ मनुष्य आगे बढ जाता है और उन्नत होता जाता है। परंतु जो मनुष्य अशांत चञ्चल और प्रक्षुब्ध मनोवृत्तियों वाला होता है वह स्थान स्थानपर प्रमाद करता है और गिरता जाता है, इस प्रकार यह पीछे रहता है और इसके प्रतिपक्षी उसको पीछे रखते हुए आगे बढते जाते हैं। परंतु जो मनुष्य मनका संयम करता है, मनको उछलने नहीं देता, कामक्रोधादिकोंको मर्यादासे अधिक बहने नहीं देता, वह कर्तव्य करनेके समय गलती नहीं करता है; इस कारण सदा प्रतिपक्षियों को पीछे डालकर स्वयं उनके आगे बढता जाता है। चतुर्थ मंत्रका यह आशय पाठक देखें और खूब विचारें।

शापको वापस करना। पंचम मंत्रमें तीन उपदेश हैं और ये ही इस सूक्तमें गहरी दृष्टिसे देखने योग्य हैं। संपूर्ण सूक्तमें यही मंत्र अति उत्तम उपदेश दे रहा है। देखिये—

शपथः शप्तारं एतु ॥ (मं. ५)

" शाप शाप देनेवाले के पास वापस जावे ! " गाली गाली देनेवालेके पास वापस जावे !! यह किस रीतिसे वापस जाती है यह एक मानस शास्त्रके महान् शक्तिशाली नियमका चमत्कार है। मन एक बडी शक्तिशाली विद्युत् है। मनके उच्च नीच, भले या बुरे विचार उसी विद्युत्के न्यूनाधिक आन्दोलन या कंप हैं। " ये कम्प जहां पहुंचने के लिये भेजे जाते हैं, वहां पहुंचकर यदि लीन न हुए या कृतकारी न हुए; तो उसी वेगसे भेजने वाले के पास वापस आते आते हैं और उसी बलसे उसी भेजनेवालेका नाश करते हैं। " यह मानस शक्तिका चमत्कार है और गाली या शाप देनेवालेको इस नियमका अवश्य मनन करना चाहिये। इसका विचार ऐसा है—

१ एक " अ " मनुष्यने गाली, शाप, या दुष्टभाव " क " का नाश करनेकी प्रबल इच्छासे " क " मनुष्यके पास भेजे दिये,

२ यदि " क " भी साधारण मनोवृत्तिवाला मनुष्य रहा, तो उसके मनपर उनका परिणाम होता है उसका मन क्षुब्ध हो जाता है और वह भी फिर " अ " को गाली शाप या नाशक शब्द बोलने लगता है।

इस प्रकार एक दूसरे के शाप परस्परके ऊपर जाने लगे, तो दोनोंके मन समानतया दूषित होते हैं और समान रीतिसे पतित भी होते हैं, परंतु—

३ यदि "क" उच्च शांत मनोवृत्तिवाला मनुष्य रहा, तो " अ " से आये हुए नीच मनोवृत्तिके कंपोंको अपने मनमें रहनेके लिये स्थान नहीं देता; इसलिये आधार न मिलनेके कारण वे विकारके भाव लौटकर वापस होते हैं और वे सीधे भेजने वाले "अ" के पास जाते हैं। और उसका मन उसी जातीका होनेके कारण वे वहां स्थान पाते हैं।

इस प्रकार कुविचार वापस जानेसे चमत्कार यह हो जाता है कि, प्रथमसे कुविचार भेजनेवाले " अ " का दुगणा नाश हो जाता है। पहिले जब कुविचार उत्पन्न हुए उस समय उसका नाश हुआ ही था, और इस प्रकार उसके ही कुविचार बाहर स्थान न पाते हुए जब वापस होकर उसीके पास पहुंचते हैं, तब फिर उसका और नाश होता है। एकही प्रकारके कुविचार दोवार उसके मनमें आघात करनेके कारण उसका दुगणा नाश हो जाता है। परंतु जो सज्जन शांतिसे अपने अंदर समता धारण करता हुआ, बाहरके कुविचार अपने मनमें आये तो भी स्थिर होने नहीं देता और उनको वापस भेजता है, वह अपना मन अधिकाधिक दृढ करता है। इसलिये इस शांत मनुष्यका कल्याण होता है।

पाठक इससे जान गये होंगे कि, बुरे विचारकी लहरें वापस भेजनेसे अपनी उन्नति कैसी होती है और प्रतिपक्षी की दुगणी अवनति किस कारण होती है। इस पंचम मंत्रमें इसी कारण कहा है कि, यदि किसीको अपनी उन्नति करनेकी अभिलाषा हो, तो उसको "शाप वापस करनेकी विद्या" अवश्य जानना चाहिये। अपने मनको पवित्र और सुदृढ बनानेका यही उपाय है। पाठक इसका खूब विचार करें और शाप वापस करनेका बहुत अभ्यास करें; तथा स्वयं कभी किसी भी कारण किसीको शाप गाली अथवा बुरे विचार न भेजें। क्योंकि यदि वे कुविचार वापस आगये तो प्रतिपक्षिकी अपेक्षा वे अपना ही अधिक अहित करेंगे। पाठको ! मनःशक्तिका यह नियम ठीक तरह ध्यानमें रखिये। यह नियम इस पंचम मंत्रके प्रथम चरणसे सूचित होगया है। जो इसको ठीक तरह समझेंगे, वेही अपने कल्याणका साधन कर सकेंगे।

योग्य मित्र। मित्रता किससे करनी चाहिये, इस विषयका उपदेश पंचम मंत्रके द्वितीय चरणमें दिया है, देखिये — "यः सुहार्त् तेन नः सह। (मं. ५)" " जो उत्तम हृदयवाला हो उसके साथ हमारी मित्रता हो," उत्तम हृदयवालेके साथ मित्रता करनेसे, उत्तम हृदय वालोंकी संगतिमें रहनेसे ही मन शांत गंभीर और प्रसन्न रहता है और पूर्वोक्त प्रकार शाप वापस भेजने की शक्ति भी सत्संगतिसे ही प्राप्त होती है। इसलिये अपने लिये ऐसे सुयोग्य मित्र चुनने चाहिये कि, जिनका हृदय मंगल विचारोंसे परिपूर्ण हो।

दुष्ट हृदय। जो दुष्ट हृदयके मनुष्य होते हैं, उनकी संगतिसे अनगिनत हानियां होती हैं। दुष्ट मनुष्य किसी किसी समय बुरे शब्द बोलते हैं, शाप देते हैं, गालियां गलोज देते हैं, हीन आशयवाले कटु शब्द बोलते हैं, हाथसे अथवा अंगविक्षेपसे बुरे भावके इशारे करते हैं, तथा (चक्षुः-मंत्रः) आंखकी हालचालसे ऐसे इशारे करते हैं, कि जिनका उद्देश्य बहुत बुरा होता है। ये आंखके इशारे किसी किसी समय इतने बुरे होते हैं, कि उनसे बडे भयानक परिणाम भी होजाते हैं। इनका परिणाम भी शाप जैसा ही होता है। शापके वापस होनेसे जो परिणाम होते हैं, वैसे ही इनके वापस होनेसे परिणाम होते हैं। इसलिये कोई मनुष्य स्वयं ऐसे दुष्ट हृदयके भाव अपनेमें बढने न दें। किसी दूसरे मनुष्यने ऐसे दुष्ट इशारे किये तो उसकी सहायता न करें और हरएक प्रकारसे अपने आपको इन दुष्ट वृत्तियोंसे बचावें। आंखोंके इशारे भी बुरे भावसे कभी न करें। जो दुष्ट मनुष्य होंगे, उनकी संगतिमें कभी न रहें, और सदा अच्छी संगतिमें ही रहें। इस विषयमें यह मंत्र भाग देखिये—

चक्षुर्मन्त्रस्य दुर्हार्दः पृष्टीरपि शृणीमसि। (मं. ५)

"आंखसे बुरे इशारे करनेवाले की पीठ तोड देते हैं।" अर्थात् जो मनुष्य इस प्रकारके बुरे भाव प्रकट करता है उसका पीछा करके उसको दूर भगा देना चाहिये, अपने पास उसको रखना नहीं चाहिये, ना ही उसकी संगतिमें स्वयं रहना चाहिये। यह बहुमूल्य उपदेश है, पाठक इसका स्मरण रखें। बुरी संगतिसे मनुष्य बुरा होता है और भली संगतिसे भला होता है। इस कारण कभी बुरी संगतिमें न फंसे परंतु भली संगति में ही सदा रहे और पूर्वोक्त प्रकार बुरे विचारों को अपने मनमें स्थान न दे और उनको अपने मनसे दूर करता रहे। ऐसा श्रेष्ठ व्यवहार करनेसे मनुष्य सदा उन्नतिके मार्गसे ऊपर ही जाता रहेगा।

सूक्तके दो विभाग। इस सूक्तके दो विभाग हैं। पहिले विभागमें पहिले चार मंत्र हैं, जिनमें औषधि प्रयोगसे मनको क्षोम रहित करनेकी सूचना दी है, यह बाह्य साधन है। दूसरे विभागमें अकेला पंचम मंत्र है। जिसमें कुसंगतिमें न फंसने और सुसंगति धरनेका उपदेश है और साथ ही साथ अपने मनको पवित्र रखने तथा आये हुए बुरे विचारोंको उसी क्षणमें वापस भेजनेका महत्त्व पूर्ण उपदेश दिया है। सारांशसे इस उपदेश का स्वरूप यह है। यदि इस सूक्तके उपदेश मनन पूर्वक पाठक अपनायेंगे तो उनकी मनःशक्ति का सुधार होगा इसमें कोई संदेहही नहीं है; पाठक इस सूक्तके साथ प्रथम काण्डके १०,३१ और ३४ ये तीन सूक्त देखें।

क्षेत्रिय रोग दूर करना।

[८]

[ऋषिः— भृगुः आंगिरस। देवता—यक्ष्मनाशनम्]

उदगातां भगवती विचृतौ नाम तारके।
वि क्षेत्रियस्य मुञ्चतामधमं पाशमुत्तमम्॥ १॥
अपेयं रात्र्युच्छत्वपोच्छन्त्वभिकृत्वरीः।
वीरुत्क्षेत्रियनाशन्यप क्षेत्रियमुच्छतु॥ २॥
बभ्रोरर्जुनकाण्डस्य यवस्य ते पलाल्या तिलस्य तिलपिञ्ज्या।
वीरुत्क्षेत्रियनाशन्यप क्षेत्रियमुच्छतु॥ ३॥
नमस्ते लाङ्गलेभ्यो नम ईषायुगेभ्यः।
वीरुत्क्षेत्रियनाशन्यप क्षेत्रियमुच्छतु॥ ४॥
नमः सनिस्रसाक्षेभ्यो नमः सन्देश्येभ्यः।
नमः क्षेत्रस्य पतये वीरुत्क्षेत्रियनाशन्यप क्षेत्रियमुच्छतु॥ ५॥

अर्थ— (भगवती) वैष्णवी औषधि तथा (विचृतौ नाम) तेज बढानेवाली प्रसिद्ध (तारके) तारका नामक वनस्पतियां (उदगातां) उगी हैं। वे दोनों (क्षेत्रियस्य अधमं उत्तमं च पाशं) वंशसे चले आनेवाले रोगके उत्तम और अधम पाशको (वि मुञ्चताम्) खोल देवें॥ १॥ (इयं रात्री अप उच्छतु) यह रात्री चली जावे और उसके साथ (अभि कृत्वरीः अपोच्छन्तु) हिंसा करनेवाले दूर हों तथा (क्षेत्रियनाशनी वीरुत्) वंशसे चले आनेवाले रोगका नाश करनेवाली औषधी (क्षेत्रियं अप उच्छतु) आनुवंशिक रोगको दूर करे॥ २॥ (बभ्रोः अर्जुनकाण्डस्य ते यवस्य) भूरे और श्वेत रंगवाले यवके अन्नकी (पलाल्या) रक्षक शक्तिसे तथा (तिलस्य तिलपिञ्ज्या) तिलकी तिलमञ्जरीसे आनुवंशिकरोग दूर करनेवाली यह वनस्पति क्षेत्रियरोगसे मुक्त करे॥ ३॥ (ते लांगलेभ्यः नमः) तेरे हलोंके लिये सत्कार है, (ईषायुगेभ्यः नमः) हलकी लकडीके लिये सत्कार है॥ ४॥

(सनिस्रसाक्षेभ्यः नमः) जल प्रवाह चलाने वाले अक्षका सत्कार, (सन्देश्येभ्यः नमः) संदेश देनेवाले का सत्कार, (क्षेत्रस्य पतये नमः) क्षेत्रके स्वामीका सत्कार हो। (क्षेत्रियनाशनी क्षेत्रियं अप उच्छतु) आनुवंशिक रोगको हटानेवाली औषधि आनुवंशिक रोगको हटा देवे ॥ ५ ॥

भावार्थ— दो प्रकारकी वैष्णवी और दो प्रकारकी तारका ये चारों औषधियां कान्तिको बढाने वाली हैं, जो भूमिपर उगती हैं। वे चारों आनुवंशिक रोगको दूर करें ॥ १ ॥ रात्री चली जाती है, तो उसके साथ हिंसक प्राणी भी चले जाते हैं, इसी प्रकार यह औषधी आनुवंशिक रोगको उसके मूल कारणोंके साथ दूर करे ॥ २ ॥ भूरे और श्वेत रंगवाले जौं के अन्नके साथ तिलोंकी मंजरियोंके तिलोंके सेवनसे यह औषधि आनुवंशिक रोगको हटादेती है ॥ ३ ॥ हल और उसकी लकडियां जिससे भूमि ठीक की जाती है, उससे पूर्वोक्त वनस्पतियां तैयार होती हैं, इस लिये उनकी प्रशंसा करना योग्य है ॥४॥ जिसके खेतमें पूर्वोक्त वनस्पतियां उगाई जाती हैं, जो उनको जल देता है, अथवा जिस यंत्रसे पानी दिया जाता है, तथा जो इस वनस्पतिका यह संदेश जनता तक पहुंचाता है, उन सबकी प्रशंसा करना योग्य है। यह वनस्पति आनुवंशिक रोगसे मनुष्यको बचावे ॥ ५॥

क्षेत्रिय रोग।

जो रोग मातापिताके शरीरसे अथवा इनके भी पूर्वजोंके शरीरसे चला आता है, उस आनुवंशिक रोगको क्षेत्रिय कहते हैं। वैद्यशास्त्रमें क्षेत्रिय रोगको प्रायः असाध्य कहा जाता है। क्षेत्रिय रोग प्रायः सुसाध्य नहीं होता; इस लिये रोगी माता पिताओंको सन्तानोत्पत्तिका कर्म करना उचित नहीं है। प्रथमतः ऐसे व्यवहार करना चाहिये कि, जिनसे रोग उत्पन्न न हो, खानपान आदि आरोग्य साधक ही होना चाहिये। जो नीरोग होंगे उनको ही संतानोत्पत्ति करनेका अधिकार है। रोगी मातापिता संतान उत्पन्न करते हैं और अपने वंशजोंको क्षेत्रियरोगके कष्टमें डाल देते हैं। ऐसे असाध्य आनुवंशिक रोगोंकी चिकित्सा करनेकी विधि इस सूक्तमें बताई है, इस लिये यह सूक्त विशेष उपयोगी है।

दो औषधियां।

" भगवती और तारका " ये दो औषधियां हैं जो शरीरकी कान्ति बढाती हैं और क्षेत्रिय रोगको दूर करती हैं, इन दो औषधियोंकी खोज वैद्योंको करनी चाहिये—

१ भगवती=इसको वैष्णवी, लघु शतावरी, तुलसी, अपराजिता, विष्णुक्रान्ता कहा

जाता है, तथा—

२ तारका= इस औषधिको देवताडवृक्ष, और इन्द्रवारुणी, कहा जाता है। इसका अर्थ पत्रक्षार और मोती भी है।

शब्दोंके अर्थ जानने मात्रसे इस औषधकी सिद्धि नहीं हो सकती और कोशों द्वारा शब्दार्थ करने मात्रसे ही औषध नहीं बन सकता। यह विशेष महत्वका विषय है और ये किस वनस्पतिके वाचक नाम यहां हैं, इसका निश्चय सुविज्ञ वैद्योंको करना चाहिये और इनके उपयोग की रीति भी निश्चित रूपसे कहना उनके ही अधिकारमें है। "भगवती और तारके" ये औषधी वाचक दोनों शब्द यहां द्विवचनी हैं, इससे बोध होता है कि, इस एक एक नामसे दो दो वनस्पतियां लेना है, इस प्रकार इन दो नामोंसे चार वनस्पतियां होती हैं, जो क्षेत्रियरोग को दूर करती हैं और शरीर की कान्ति उत्तम तेजस्वी करती हैं अर्थात् क्षेत्रिय रोगको जडसे उखाड देती हैं। यह प्रथम मंत्रका स्पष्ट तात्पर्य है। (मं० १)

दूसरे मंत्रमें कहा है कि, जिस प्रकार रात्री जाने और दिन शुरू होनेसे हिंसक प्राणी स्वयं कम होते हैं उसी प्रकार इस औषधीके प्रयोगसे क्षेत्रिय रोग जडसे उखड जाता है॥ (मं० २)

तीसरे मंत्रमें इस औषधिके प्रयोग के दिनोंमें करने योग्य पथ्य भोजन का उपदेश किया है। जिस जौंके काण्ड भूरे और श्वेत वर्णवाले होते हैं उस जौका पेय बनाना और उसमें तिलोंकी मंजरीसे प्राप्त किये ताजे तिल भी डालना। अर्थात् उक्त प्रकार के जौका पेय उक्त तिलोंके साथ बनाना। यही भोजन इस चिकित्साके प्रसंग में विहित है। इस पथ्यके साथ सेवन किया हुआ पूर्वोक्त औषध क्षेत्रिय रोगसे मुक्त करता है यह सूक्तका तात्पर्य है॥ (मं० ३)

चतुर्थ और पंचम मंत्रमें इन पूर्वोक्त औषधियोंको तथा इस पथ्य अन्नको उत्पन्न करनेवाले, किसान, इस खेतको योग्य समयमें पानी देनेवाले, इस खेतीके लिये हल चलानेवाले, हल के सामान ठीक करनेवाले तथा इस औषध और पथ्यका संदेश क्षेत्रिय रोगसे रोगी हुए मनुष्यों तक पहुंचाने वालोंका सत्कार किया है। यदि इस पथ्यसे और इन औषधियोंसे आनुवंशिक रोग सचमुच दूर होते हों, तो इन सबका योग्य आदर करना अत्यंत आवश्यक है। आज कल तो ये लोग विशेषही आदर करने योग्य हैं। (मं. ४-५)

ज्ञानी वैद्य इन औषधियोंका और इस पथ्यका निश्चय करें और इसकी योग्य विधि निश्चित करके आनुवंशिक अतएव असाध्य समझे हुए बीमारोंको रोग मुक्त करें।

वैदिक धर्म के ग्रंथ ।

(१) स्वयंशिक्षक माला ।

वेदका स्वयंशिक्षक। १ प्रथम भाग ... मूल्य १॥)
" " २ द्वितीय भाग ... " १॥)

(२) योगसाधनमाला ।

१ संध्योपासना । ... मूल्य १॥)
२ संध्याका अनुष्ठान । ... " ॥)
३ वैदिक प्राण विद्या । ... " १)
४ ब्रह्मचर्य (सचित्र) । ... " १।)
५ योगसाधनकी तैयारी । " १)
६ योगके आसन । (सचित्र) " २)
७ सूर्यभेदनव्यायाम सचित्र " ॥।)

(३) यजुर्वेद स्वाध्याय ।

१ यजु. अ. ३० । नरमेध । मूल्य मूल्य १)
२ यजु. अ. ३२ । एकेश्वर उपासना । " ॥)
३ यजु. अ. ३६ । शांतिका उपाय । " ॥=)

(४) देवतापरिचय ग्रंथमाला ।

१ रुद्र देवता परिचय । .. मूल्य ॥)
२ ऋग्वेदमें रुद्र देवता । ... " ॥=)
३. ३३ देवताओंका विचार । " ≡)
४ देवताविचार । .... " ≡)
५ अग्निविद्या । ... " १॥)

(५) धर्म शिक्षाके ग्रंथ

१ बालकधर्मशिक्षा । प्रथमभाग । मू. -)
२ बालकधर्मशिक्षा । द्वितीयभाग । " =)
३ वैदिक पाठमाला । प्रथम पुस्तक " ≡)

(६) उपनिषद् ग्रंथमाला ।

१ केन उपनिषद् .... मूल्य १।)
२ ईश उपनिषद् " ॥।=)

(७) आगम-निबंध-माला

१ वैदिकराज्यपद्धति । ... मू. ।-)
२ मानवी आयुष्य । ... " ।)
३ वैदिकसभ्यता ... ... " ॥।)
४ वैदिक चिकित्साशास्त्र । ... " ॥)
५ वैदिक स्वराज्य की महिमा । " ॥)
६ वैदिक सर्प विद्या । .... " ॥)
७ मृत्युको दूर करनेका उपाय । " ॥)
८ वेदमें चर्खा । .... " ॥)
९ शिवसंकल्पका विजय । " ॥।)
१० वैदिक धर्मकी विशेषता " ॥)
११ तर्कसे वेदका अर्थ । .... " ॥)
१२ वेदमें रोगजन्तु शास्त्र । " ≡)
१३ ब्रह्मचर्यका विघ्न । .... " =)
१४ वेदमें लोहेके कारखाने । " ।-)
१५ वेदमें कृषिविद्या । " ≡)
१६ वैदिक जलविद्या । " =)
१७ आत्मशक्तिका विकास । " ।-)
१८ वैदिक उपदेश माला " ॥)

(८) ब्राह्मण- बोध-माला ।

१ शतपथ बोधामृत । " ।)

(९) अन्य पुस्तक ।

१ वैदिक यज्ञसंस्था प्रथम भाग " १)
२ " " द्वितीय " " १)
३ छूत और अछूत प्रथम भाग " १)
४ " " द्वितीय " " ॥।)

स्वाध्याय मंडल, औंध (जि० सातारा)

'केन' उपनिषद् ।

इस पुस्तकमें निम्न लिखित विषयोंका विचार हुआ है—

१ केन उपनिषद का मनन, २ उपनिषद् ज्ञान का महत्त्व, ३ उपनिषद् का अर्थ, ४ सांप्रदायिक झगडे, ५ "केन" शब्द का महत्त्व, ६ वेदान्त, ७ उपनिषदों में ज्ञान का विकास, ८ अग्नि शब्दका भाव, ९ उपनिषद् के अंग, १० शांतिमंत्रोंका विचार, ११ तीनों शांति मंत्रों में तत्त्व ज्ञान, १२ तीन शांतियोंका भाव, १३ ईश और केन उपनिषद, १४ "यक्ष" कौन है ?, १५ हैमवती उमा, १६ पार्वती कौन है ? १७ पर्वत, पार्वती, रुद्र, सप्तऋषि और अरुंधती, १८ इंद्र कौन है? १९ उपनिषद् का अर्थ और व्याख्या, २० अथर्ववेदीय केन सूक्तका अर्थ और व्याख्या, २१ व्यष्टि, समष्टी और परमेष्ठी, २२ त्रिलोकी २३ अथर्वाका सिर, २४ ब्रह्मज्ञानी की आयुष्य मर्यादा, २५ ब्रह्म नगरी, अयोध्या, आठ चक्र, २६ आत्मवान् यक्ष, २७ अपनी राजधानीमें ब्रह्मका प्रवेश, २८ देवी भागवतमें देवी की कथा, २९ वेदका वागांभृणी सूक्त, इंद्र सूक्त, वैकुंठ सूक्त, अथर्व सूक्त, ३० शाक्तमत, देव और देवताकी एकता ३१ वैदिक ज्ञान की श्रेष्ठता ।

इतने विषय इस पुस्तक में आगये हैं, इस लिये उपनिषदों का विचार करने वालोंके लिये यह पुस्तक अवश्य पढने योग्य है ।

मूल्य १।) डाकव्यय=) है ।

मंत्री-- स्वाध्याय मंडल, औंध (जि० सातारा)

यज्ञकी पुस्तक

वैदिक यज्ञ संस्था ।

प्रथम और द्वितीय भाग ।

प्रतिभागका मूल्य १) रु. डाकव्यय ।)

प्रथम पुस्तक में निम्न लिखित विषयों का विचार हुआ है—

प्राचीन संस्कृत निबंध ।

१ पिष्ट-पशु-मीमांसा । लेख १
२ " " " " २
३ लघु पुरोडाश मीमांसा ।

भाषाके लेख ।

४ दर्श और पौर्णमास (ले०-श्री० पं० बुद्धदेवजी)
५ अद्भुत कुमार-संभव " " "
६ बुद्ध के यज्ञ विषयक विचार (ले०-श्री० पं० चंद्रमणिजी)
७ यज्ञका महत्त्व (संपादकीय)
८ यज्ञका क्षेत्र "
९ यज्ञका गुढ तत्त्व "
१० औषधियों का महामख "
११ वैदिक यज्ञ और पशुहिंसा (ले.-- श्री. पं. धर्मदेवजी)
१२ क्या वेदों में यज्ञों में पशुओंका बलि करना लिखा है? (ले० श्री० पं० पुरुषोत्तम लालजी)

मंत्री--स्वाध्याय मंडल, औंध (जि. सातारा)

वैदिक उपदेश माला !

जीवन शुद्ध और पवित्र करनेके लिये बारह उपदेश है । इस पुस्तकमें लिखे बारह उपदेश जो सज्जन अपनायेंगे उनकी उन्नति निःसंदेह होगी ।

मूल्य ॥) आठ आने । डाक व्यय-) एक आना ।

मंत्री—स्वाध्याय मंडल, औंध (जि. सातारा)

मुद्रक तथा प्रकाशक- श्री० दा० सातवळेकर, भारत मुद्रणालय, स्वाध्याय मंडल, औंध (जि० सातारा)

REGISTERED. No. 1463

ओ३म्

वैदिक धर्म ।

वैदिक तत्त्व ज्ञान प्रचारक मासिक पत्र ।

संपादक— श्रीपाद दामोदर सातवळेकर.

वर्ष ९

अंक ३

क्रमांक ९९

फाल्गुन

संवत् १९८४

मार्च

सन१९२८



वार्षिक मूल्य— म० आ० से ४) वी० पी० से ४॥) विदेशके लिये ५)

संस्कृत पाठ माला।

[चोवीस भागोंमें सब संस्कृत पढाई हो गई है।]

बारह पुस्तकोंका मूल्य म. आ. से ३) और वी. पी. से ४)

चोवीस पुस्तकोंका मूल्य म. आ. से ६) रु. और वी. पी. से ७)

प्रतिभाग का मूल्य ।-) पांच आने और डा. व्य. -) एक आना।

अत्यंत सुगम रीतिसे संस्कृत भाषाका अध्ययन करनेकी अपूर्व पद्धति ।

इस पद्धतिकी विशेषता यह है—

१ प्रथम द्वितीय और तृतीय भाग।

इन तीन भागोंमें संस्कृत भाषाके साथ साधारण परिचय कर दिया गया है।

२ चतुर्थ भाग।

इस चतुर्थ भागमें संधि विचार बताया है।

३ पंचम और षष्ठ भाग

इन दो भागोंमें संस्कृतके साथ विशेष परिचय कराया गया है।

४ सप्तम से दशम भाग।

इन चार भागोंमें पुलिंग, स्त्रीलिंग और नपुंसक. लिंगी नामोंके रूप बनानेकी विधि बताई है।

५ एकादश भाग।

इस भागमें "सर्वनाम" के रूप बताये हैं।

६ द्वादश भाग।

इस भागमें समासों का विचार किया है॥

७ तेरहसे अठारहवें भाग तकके ६ भाग।

इन छः भागों में क्रियापद विचार की पाठविधि बताई है।

८ उन्नीससे चौवीसवे भागतकके ६ भाग।

इन छः भागोंमें वेदके साथ परिचय कराया है।

अर्थात् जो लोग इस पद्धतिसे अध्ययन करेंगे उन को अल्प परिश्रमसे बडा लाभ हो सकता है।

स्वाध्याय मंडल, औंध (जि. सातारा)



वर्ष ९

अंक ३

क्रमांक ९९

फाल्गुन संवत् १९८४

मार्च सन १९२८

वैदिक धर्म.

वैदिक तत्त्वज्ञान प्रचारक मासिक पत्र ।

संपादक—श्रीपाद दामोदर सातवळेकर ।

स्वाध्याय मंडल, औंध (जि. सातारा)

राष्ट्रमें ब्रह्मचर्य !

आचार्यो ब्रह्मचारी ब्रह्मचारी प्रजापतिः ।
प्रजापतिर्वि राजति विराडिन्द्रोऽभवद्वशी ॥

अथर्ववेद ११।५।(७)१६

" राष्ट्रमें (आचार्यः) अध्यापक वर्ग ब्रह्मचारी हो, (प्रजापतिः) प्रजापालन के कर्म करनेवाला अधिकारीवर्ग भी ब्रह्मचारी हो । जिस राज्य में ऐसा होगा उस राज्यका (प्रजापतिः) राजा ही (विराजति) विशेष प्रकाशित होता है। इस प्रकार का (वशी वि-राड्) संयमी राजाही (इद्रः अभवत्) इन्द्र पदवी के लिये योग्य होता है ।"

राष्ट्रमें अध्यापकवर्ग, अधिकारी वर्ग, नागरिक तथा सैनिक विभागके कार्य कर्ता, न्यायालयके अधिकारी आदि सब लोग ब्रह्मचर्य पालन करनेवाले हों अर्थात् उक्त अधिकारों पर ऐसे लोग नियुक्त किये जांय कि जिन्होंने प्रथम आयुमें उत्तम ब्रह्मचर्य पालन किया है और आगेभी ब्रह्मचर्य पालन के प्रेमी हैं। पाठक कल्पनासे ही जान सकते हैं कि यदि यह वैदिक आदर्श जगत् के व्यवहारमें आगया तो कितना सुख होगा।



स्वाध्याय प्रेम । यजुर्वेद ।

पाठकोंमें स्वाध्यायका प्रेम बढ रहा है और यजुर्वेद मूल की मांग भी तदनुसार बढ रही है । जिन्होंने विनाजिल्द यजुर्वेद मांगा था उनके पास "विना जिल्द यजुर्वेद" भेजा गया है। जिन पाठकोंने सजिल्द मंगवाया था उनके पास अभी भेजा नहीं है, क्यों कि जिल्द बनकर पुस्तकें अभी यहां आई नहीं हैं । आशा है कि केवल पंद्रह दिनोंके अंदरही सजिल्द पुस्तकें पाठकोंके पास भेजीं जायगी । जिल्द बाहरसे बनवा कर यहां लानी पडती है, इसलिये देरी होती है ।

विना जिल्द यजुर्वेद के पुस्तक कटवा कर हमने नहीं रखे हैं । यह देख कर पाठकोंका क्रोध हुआ है; परंतु यदि पाठक थोडासा विचार करेंगे, तो उनको पता लग जायगा कि न कटवाये पुस्तक ही उनके लिये अधिक लाभकारी हैं। युरोप, अमेरिकामें चिर-स्थायी पुस्तक प्रायः न कटवाते हुए ही जिल्द बन-वाते हैं; इसका उद्देश्य यह है कि पुस्तक दो चार वर्ष पढनेके पश्चात् जब पहली जिल्द खराब हो जाती है तब दूसरी जिल्द के समय कटवानेकी सुविधा होती है । यदि यह विना जिल्द यजुर्वेदकी पुस्तक भी हम यहां कटवाके ग्राहकोंको भेजेंगे तो दूसरी वार जिल्द बनवानेके समय बडी असुविधा होगी और यदि दूसरी वार भी जिल्दके समय पुस्तक फिर कट वाई जाय तो अक्षरोंके साथ साथ कटवाई आ-जायगी, इससे ग्राहकोंका नुकसान होगा। इसका सब विचार करके हमने विना जिल्द यजुर्वेद न कटवाते हुए ही रखा है । वास्तवमें हमारे विचारसे तो सजिल्द पुस्तक भी पहिलीवार की जिल्द के समय कटवाने नहीं चाहिये । परंतु जो पाठक विनाजिल्द पुस्तक न कटवाने के कारण क्रोध कर रहे हैं वे सजिल्द होनेपर भी यदि हम न कटवाते ही भेजेंगे, तो उनके क्रोधकी कोई सीमा ही रहेगी नहीं । पाठक क्षणमात्रकी सुंदरताका ही विचार करते हैं, परंतु चिरस्थायी स्वास्थ्यका विचार करते नहीं, यह बात पुस्तकके विषयमें जितनी सत्य है उतनी ही अन्य व्यवहार के विषयमें सत्य है !!

अब यजुर्वेदका मूल्य निम्न प्रकार रखा गया है-

१ यजुर्वेद विना जिल्द १॥) डा. व्य. ॥)
२ ,, सजिल्द (आधी कपडेकी)२) डा. व्य. ॥=)
३ यजु०(पूरी कपडेकी जिल्द) २॥) डा० व्य.॥=)
४ " " रेशीमकी ") ३) डा० व्य० ॥=)

सब के लिये डाकव्यय अलग देना होगा । पहिले हमने डाकव्यय थोडा लगेगा ऐसा अंदाजा किया था, परंतु अब पार्सल बननेके पश्चात् पता लगा कि पुस्तकके अधिक बोझके कारण डाक व्यय उक्त प्रकार लगता है । कागज हमने बढिया वर्ता है इस लिये बोझ अधिक हुआ।

संस्कृत पाठ माला ।

संस्कृत पाठ माला के अंतिम भागों केलिये पाठक आजकल इतना तगादा कर रहे हैं कि हरएक के लिये अलग अलग उत्तर देना असंभव हुआ है। हम पाठकोंको विश्वास दिलाते हैं कि पाठकोंको सब अवशिष्ट भाग इसी मासमें मिल जांयगे ।

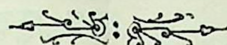
महाभारत ।

महाभारतके दो अंक प्रतिमास मुद्रित कर रहे हैं। अंक तैयार होनेकी कोई तारीख निश्चित करना कठिन है । क्योंकि जहां इतने कार्य चलते हैं वहां तिथिनिश्चय करना और उस का पालन करना कठीण हो जाता है। महाभारतके इस समय तक ५६ अंक प्रकाशित हुए और ग्राहकोंके पास भेजे गये हैं। ५७ वां अंक छप रहा है । शीघ्र मुद्रण करनेके लिये पाठकोंके पत्र प्रतिदिन आ रहे हैं, उनको निवेदन है कि इससे अधिक जल्दी करना इस समय असंभव है और किसी भी स्थानपर इससे अधिक शीघ्र मुद्रण नहीं हो सकता, जितना हम यहां कर रहे हैं। महाभारत ग्रंथ बडा है, करीब १३००० पृष्ठोंका ग्रंथ होगा। इसलिये इस को देरी अवश्य लगेगी ही ।

वैदिक धर्मका विशेष अंक ।

अगला १०० वाँ अंक वैदिक धर्मका विशेषांक होगा । इसके १०० पृष्ठ होंगे और इसमें कई चित्र होंगे। लेखभी बहुत होंगे । अन्योंके लिये इसका मूल्य १) रु. होगा परंतु वैदिक धर्म के पाठकोंको यह विना विशेष मूल्य के ही प्राप्त होगा ।

स्मरण शक्ति का विकास।



मनुष्यके अंदर स्मरण शक्ति अपूर्व कार्य कर रही है। यदि यह स्मरण शक्ति मनुष्य में न रहेगी तो मनुष्य का मनुष्यत्व ही नष्ट हो जायगा। स्मरण शक्ति के कारण ही मनुष्य ज्ञानी होता है, बडे बडे पुरुषार्थ करता है और उन्नति प्राप्त करता है। वेदमें " धी, मेधा " आदि नामोंसे इस स्मरण शक्ति का वर्णन आया है। " धी, मेधा " आदि बुद्धिवाचक शब्दों का अर्थ " धारणावती बुद्धि " है, जिस बुद्धिमें भूत कालके ज्ञान का धारणापूर्वक संग्रह रहता है। देखिये इसका वर्णन—

महो अर्णः सरस्वती प्र चेतयति केतुना।
धियो विश्वा वि राजति ॥ ऋ. १।३।१२

" बडी हलचल करनेवाली (सरस्वती) विद्या है, जो (केतुना) ज्ञानसे प्रदीप्त होती है। (धियः) यह धारणावती बुद्धियां ही सर्वत्र राज्य करती हैं।" अर्थात् इस जगत् में धारणावती बुद्धिका ही सर्वत्र विजय होता है। तथा—

धिया विप्रो अजायत। ऋ० ८।६।२८

" धारणावती बुद्धिसे ही विशेष ज्ञानी बनता है।" इत्यादि वर्णन देखनेसे पता लगता है कि वैदिक धर्म के उपदेशमें धारणावती बुद्धि अर्थात् स्मरण शक्तिकी उन्नति करनेकी प्रेरणा अवश्य है। इसी शक्ति से सब जगत् में मनुष्यका राज्य हो रहा है, इसलिये जो मनुष्य अपनी स्मरणशक्तिका विकास नहीं करेगा वह विजय प्राप्त नहीं कर सकता।

मनुष्यके ज्ञानेंद्रियोंसे विविध प्रकारका ज्ञान मनुष्यकी बुद्धिमें संगृहित होता है और उसको धारणा करनेका काम इस स्मरण शक्तिका है, इसीलिये इसका नाम " धारणा, धारणावती बुद्धि, धी, मेधा" आदि है। हर एक प्राणी के अंदर थोडी स्मरणशक्ति है, परंतु मानवजातीमें वह बहुत ही विकसित होगई है; तथापि उसका अधिक से अधिक विकास करना मनुष्यका कर्तव्य है, क्यों कि इसके विना मनुष्य से अभ्युदय और निश्रेयस का साधन होही नहीं सकता। प्राचीन गुरुकुलीय विद्या-पठन पद्धति में इस स्मरण शक्तिके विकास के लिये बहुत प्रयत्न किया जाता था, इस लिये प्राचीन समय के विद्वान मूर्तिमान् विद्याके अवतार होते थे। संपूर्ण विद्या उनकी जिह्वापर सिद्ध रहती थी। परंतु अब ऐसा अभ्यासक्रम स्कूलोंमें बढ रहा है कि जिससे स्मरण शक्ति कम होती जाती है। यद्यपि आजकल मुद्रण कला प्रचलित हो जानेसे संपूर्ण ग्रंथ कंठमें रखनेकी आवश्यकता रही नहीं है, तथापि स्मरण शक्ति के विना मनुष्य बहुत ही अल्प प्रगति कर सकता है, इस लिये उन्नतिशील मनुष्यको अपनी स्मरण शक्तिका उत्कर्ष अवश्य करना आवश्यक है। प्राचीन समयमें ग्रंथोंका मुद्रण नहीं होता था, इस लिये उस समयके विद्वानोंको सब ग्रंथ अपने स्मरण में ही रखने पडते थे, यद्यपि इतने कष्ट करनेकी सांप्रतमें आवश्यकता नहीं है, तथापि स्मरण शक्ति की उपयुक्तता और आवश्यकता कम नहीं हुई है,

प्रत्युत प्रतिदिन बढनेवाले जीवनकलह के कारण उसकी उपयोगिता इस समय बहुत ही बढ गई है। यह हमारा दैनिक अनुभव है कि जिसकी स्मरण शक्ति अधिक है, वह जीवन संग्राममें शीघ्र विजय प्राप्त कर सकता है, अथवा विजय प्राप्तिकी संभावना उसके लिये सबसे अधिक है। इसलियें इस लेख में विचार करना है कि इस स्मरण शक्ति का विकास किस रीतिसे किया जा सकता है।

पाठक इस बातको भली प्रकार जान सकते हैं कि अपने पास उत्तम पुस्तकों का, कोशों और विश्वकोशोंका संग्रह होनेपर भी स्मरण शक्ति के विना मनुष्य उन पुस्तकों का उपयोग करही नहीं सकता। जो मनुष्य तत्काल भूल जाता है उस को कोशादि ग्रंथोंका भी कोई उपयोग नहीं हो सकता। तात्पर्य ग्रंथभंडार बढने के साथ स्मरण शक्ति का महत्त्व भी बढ गया है। इसलिये इस दृष्टिसे हरएक वैदिक धर्मीको प्रयत्न करना चाहिये। इस धारणावती बुद्धिसे मनुष्यको अनेक लाभ होते हैं, (१) वह योग्य ज्ञान को अपने मस्तिष्कमें धारण करता है, (२) योग्य समय में उसका उपयोग करनेकी सिद्धता रखता है, (३) शीघ्रतासे योग्य ज्ञानका स्मरण होनेसे वह दक्षतासे उसका उपयोग कर सकता है, (४) समय पर जो चाहे सो बात झट पट निकालता है और विजय प्राप्तिके कार्यमें उसका उपयोग करता है। इस प्रकार के लाभ होने के कारण ही उत्तम स्मरण शक्ति वाला मनुष्य जगत्में अपना अभ्युदय शीघ्र ही सिद्ध करता है।

इस धारणावती बुद्धि अर्थात् स्मरणशक्तिका संबंध मनुष्यके आरोग्य के साथ है। मनुष्य रोगी और अत्यंत शक्तिहीन हुआ तो वह सब ज्ञान भूल जाता है। बहुत दिन उपवास करनेपर जैसी जैसी शक्ति क्षीण होती है वैसी वैसी स्मरणशक्ति भी कम होती है। इससे सिद्ध होता है कि आरोग्य और शारीरिक सुस्थितिके साथ स्मरण शक्तिका संबंध है। उपनिषद्में कहा है कि—

सत्वशुद्धौ ध्रुवा स्मृतिः॥ छां.उ. ७। २६। २

"सत्वकी शुद्धता होनेपर स्मृति दृढ हो जाती है।" शरीर निरोग और सात्विक परमाणुओंसे युक्त होनेसे स्मरणशक्ति बढती है। इस लिये जो पाठक अपनी स्मरणशक्ति बढाना चाहते हैं वे प्रथम अपनी नीरोगता की सिद्धि करने का यत्न करें। योग के आसनों के व्यायाम और यम नियम के व्यवहार इस लिये बहुत उपयोगी हैं। क्योंकि इन के अभ्यास से सत्त्वशुद्धि होती है और मस्तिष्क ऐसा उत्तम तथा शुद्ध होता है कि वह दृढ स्मरण शक्ति से युक्त होता है। प्राणायाम, धारणा और ध्यान ये सब अभ्यास साक्षात् स्मरण शक्ति के पोषक हैं। धारणा के अभ्यास से धारणावती बुद्धि की वृद्धि होती है, ध्यान से चित्त की एकाग्रता होने के कारण भी वही लाभ विशेष प्रमाण में होता है। इस से स्पष्ट है कि योगसाधन का इस दृष्टि से भी कितना उपयोग है। इस लिये जो लोग समाधि-सिद्धि के लिये योग साधन करना नहीं चाहते, वे अपनी बुद्धि की वृद्धि करने के लिये अवश्यही इस का अभ्यास करें और जगत् में अपना अभ्युदय सिद्ध करें। इस स्मरण शक्ति का विकास न होने की अवस्था में कितनी हानि है, देखिये—

कामात्क्रोधोऽभिजायते॥ ६२॥
क्रोधाद्भवति संमोहः संमोहात्स्मृतिविभ्रमः॥
स्मृतिभ्रंशाद्बुद्धिनाशो बुद्धिनाशात्प्रणश्यति॥६३॥
भ. गी. २

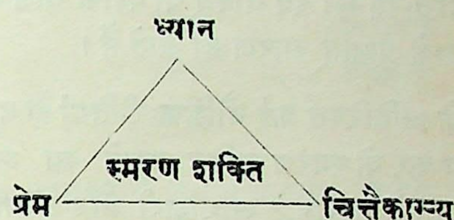
"काम के बढने से क्रोध उत्पन्न होता है, क्रोध से मोह होता है, मोह से स्मृति का भ्रम होता है जिस से बुद्धि का नाश होकर मनुष्य का नाश होता है।" स्मरण शक्ति की हानि होने की अवस्था में इस प्रकार मनुष्य का नाश होता है। काम से स्मरण शक्ति का नाश वीर्य क्षीण होने के कारण होता है। काम का अति उपभोग लेनेसे शरीर वीर्य-क्षीण बनता है और स्मरणशक्ति लुप्त होती है और स्मरण शक्ति के नाश होनेसे मनुष्यत्व का ही नाश होता है, इस एक बात का विचार करने से पता लग सकता है कि आज कल के अखबारी

दुनिया के कामोत्तेजक दवाइयों के प्राण घातक विज्ञापन किस प्रकार मनुष्यत्व का घात कर रहे हैं। पत्रों के संपादक इस बातका बिलकुल विचार नहीं करते और अपने ग्राहकों के स्मृतिभ्रंश और बुद्धिनाश का पातक कर रहे हैं, इसका यहां विचार पाठकों को करना चाहिये और अपने संरक्षण का यत्न करना चाहिये।

क्रोध के कारण खून के जीवाणु मरते हैं, इस कारण रक्त बिगडता है, जिस से स्मरण शक्तिका ह्रास हो जाता है। इसी लिये शास्त्रकारों ने कहा है कि काम और क्रोध शत्रु हैं और उन को जीतना चाहिये। काम, क्रोध, मोह, मद आदि से इसी प्रकार स्मरण शक्ति का ह्रास हो जाता है। इस लिये इन शत्रुओं से अपने आप को बचाना चाहिये। काम और क्रोध के अधिक होने से मनुष्य पागल बन जाता है, घमंड से भी वही अवस्था किसी समय बन जाती है। इस लिये इन शत्रुओं से अपना बचाव करने के कार्य में दक्षता धारण करना आवश्यक है। इस प्रकार जो मनुष्य अपने आपको इन शत्रुओं के आधीन नहीं करेगा, वह संयमी पुरुष अपनी शक्ति का विकास कर सकता है।

स्मरण शक्ति के भेद अनेक हैं। कई मनुष्य स्थानसंबंध से स्मरण रखते हैं, कई काल के संबंध से स्मरण करते हैं, कई सादृश्य से स्मरण करते हैं, तथा कई एकवार सुनकर दृढ स्मरण करते हैं और कई प्रयत्न से कंठ कर के स्मरण करते हैं। इन सब को अपनी अपनी स्मरण शक्ति के अनुसार अपनी अपनी रीतियां निश्चित कर के अपनी स्मरणशक्ति के विकास का यत्न करना चाहिये। एक ही रीति सब के उपयोगी नहीं होगी और न एकही रीति से सब की उन्नति हो सकती है।

ध्यान, चित्त की एकाग्रता और प्रीति से स्मरण शक्ति बढती है। ध्यान अर्थात् ख्याल जिस में पूरा पूरा लगता है उसका स्मरण रहता है। तदाकार वृत्ति होने से स्मरण रहता है। जिस में चित्त स्थिर होता है उसका भी स्मरण होता है तथा जो प्रेमका विषय होता है उसका विस्मरण नहीं होता। यदि पाठक इन तीन रीतियों का अवलंबन करेंगे और अभ्यास करेंगे तो उन की स्मरणशक्ति बढ सकती है। जिसका स्मरण रखना है उसका ही ध्यान करना, वही बात मनमें वारंवार लानी, उसीमें चित्तकी एकाग्रता करनी और उस विषयमें प्रेम मनमें धारण करना योग्य है। इससे वह विषय मनमें स्थिर होता है। विद्यार्थी अपना अभ्यास करनेके समयमें भी इन तीन केंद्रोंका



विचार करके प्रयत्न करेंगे, तो वे थोडे समय में अधिक अभ्यास कर सकते हैं। तथा अन्य मनुष्य भी इससे लाभ उठा सकते हैं। मनुष्य यदि प्रयत्न करेगा तो वह अपने ध्यानको किसी एक स्थानपर जमा सकता है। जिसका स्मरण करना है उसमें बडा प्रेम रखे और तन्मय हो जाय तथा किसी अन्य विषयोंका विचार भी न करे। ऐसा निरंतर करनेसे ऐसी चित्तवृत्ति बन जाती है और इतनी मनकी स्वाधीनता हो जाती है कि वह मनुष्य अपने चित्तको जहां चाहिये वहां स्थिर कर सकता है। योगसाधन के ध्यानधारणा से यही लाभ होता है। जो ध्यानधारणाका अभ्यास अधिक करते हैं उनकी स्मरण शक्ति भी थोडेसे प्रयत्नसे बढ सकती है क्यों कि उनकी सत्त्वशुद्धि हुई होती है।

स्मरण करनेकी दूसरी रीति है निरंतर पठन करना। जो वाक्य या मंत्र स्मरण करने हैं, उनका प्रतिदिन पाठ करना। इससे वे स्वयं कंठ हो जाते हैं और जिस समय चाहे उनकीउपस्थिति हो सकती है। स्मरण करने की तीसरी रीति यह है कि स्मरण करनेके वाक्योंको प्रतिदिन १०, २०, ३०, या अधिक वार घोटना। ऐसा १०, २० दिन करनेसे अच्छी प्रकार स्मरण हो जाता है और प्रायः भूलता नहीं। इसी रीतिसे पंडित लोग वेदमंत्रों और अन्य शास्त्रों

को कंठ करते थे। एक एक पदको क्रम पूर्वक रटनेसे और वारंवार घोटनेसे स्मरण शक्ति बढ जाती है।

बालपनकी प्रथम आयुमें इस प्रकार मंत्र आदि कंठ करनेसे बहुत लाभ होता है। इसका प्रतिदिन थोडा थोडा अभ्यास करनेसे एक सालमें कई वाक्य, श्लोक और मंत्र स्मरण हो जाते हैं। बडी आयुमें निरंतर पठन की रीति अच्छी है। दिनमें एक वार पाठ करते रहनेसे इष्ट वाक्य या श्लोक थोडे मासके अभ्यासके पश्चात् स्मरण हो जाते हैं।

इस के अतिरिक्त कई बौद्धिक रीतियां हैं। बुद्धिका उपयोग कर के स्मरण शक्ति बढाने का अभ्यास इनमें होता है। इसमें " आद्याक्षरी और अंत्याक्षरी" की पद्धति प्रथम विचार करने योग्य है। " आद्याक्षरी " की रीति यह है कि श्लोक या मंत्र का जो प्रथम अक्षर होगा उस प्रथम अक्षर के श्लोक या मंत्र स्मरण करना। जैसा-

(१) आयुर्मे पाहि ॥ य. १४ । १७
(२) आयुर्यज्ञेन कल्पतां ॥ य. ९।२१
(३) आयुरस्मै धेहि ॥ अ. २ । २९ । २
(४) आयुर्विश्वायुः परिपातु त्वा॥ अ. १८।२।५५
(५) आयुषायुष्कृतां जीव ॥ अ. १९।२७।८

इन मंत्रों में प्रथमाक्षर एक ही है और प्रथम शब्द भी एक ही है। पाठक इस प्रथम पदका स्मरण रखें और इस क्रम से दो तीनवार इन पांच मंत्रोंका पाठ करें और देखें की कितने मंत्र स्मरण होते हैं, फिर पांच वार अधिक ध्यान के साथ पढें और देखें कि कितने स्मरण हो गये हैं, इस प्रकार सब मंत्र स्मरण होने तक पढें और देखें कि कितनीवार पढने से स्मरण हुए हैं। इस रीतिसे येही मंत्र ७—८ दिन पुनः पुनः स्मरण किये जांयगे तो पता लगेगा कि इस प्रकार स्मरण किये हुए भूलते नहीं और समय पर उपस्थित भी हो जाते हैं। यह आद्याक्षरी की स्मरणरीति बहुत उपयोगी है क्यों कि इस में पुनः उपस्थिति होने के लिये आद्याक्षर अथवा आद्य-शब्द बडा सहायक हो जाता है। आद्य शब्द के स्मरण से मंत्र का विषय भी स्मरण रहता है। इसी प्रकार अंत्याक्षरी की रीति है। उक्त मंत्रों में प्रथम मंत्रके अंत में " हि " अक्षर है। इस अक्षर से प्रारंभ होने वाले मंत्र स्मरण करने हैं, देखिये—

(१) हिरण्मयेन पात्रेण सत्यस्यापिहितं मुखम्॥ य. ४० । १७
(२) हिरण्यगर्भः समवर्तताग्रे भूतस्य जातः पतिरेक आसीत् ॥ य. २३ । १
(३) हिरण्यपाणिः सविता विश्वचर्षणिः ॥ य. ३४ । २५
(४) हिरण्यपाणिमूतये सवितारमुपह्वये ॥ य. २२ । १०
(५) हिरण्यशृंग ऋषभः शतवारो अयं मणिः अ. १९ । ३६ । ५

इसी प्रकार पूर्व मंत्रों के अंत्याक्षर जिन मंत्रों के प्रारंभ में हैं,उन मंत्रोंका पूर्ववत् स्मरण करना चाहिये। इस ढंगसे आद्याक्षरी और अंत्याक्षरी की रीतिसे मंत्र ध्यानमें धारण करनेके पश्चात् स्वयं या एक दूसरेमें मंत्रपाठकी स्पर्धा करनी चाहिये। प्रथम एक मंत्र बोला जाय,तत्पश्चात् उसका जो अंत्याक्षर होगा, वह जिसके प्रारंभमें है वैसा मंत्र बोला जाय, इस प्रकार क्रमपूर्वक चलना चाहिये। स्वयं भी आद्याक्षर और अंत्याक्षर का ध्यान रखनेसे बहुत मंत्र स्मरण हो सकते हैं और इस क्रमको सदोदित चित्त में रखनेसे जो पहिले स्मरण नहीं होता था, वह भी स्मरण होता जायगा। इस अभ्याससे पांच छे मास में ही स्मरण शक्ति बढ जानेका अनुभव होता है। मंत्र, वाक्य, श्लोक, सुभाषित आदि ध्यानमें धरने के लिये यह आद्याक्षरी और अंत्याक्षरीकी रीति अत्यंत सुगम है। पाठशालाकेलडके इस अंत्याक्षरीकी स्पर्धामें आकर सेंकडों पद्य विना आयास याद रखते हैं। आद्य और अंत्य अक्षरक्रमके साथ पद्य बोलने को आद्याक्षरी और अंत्याक्षरी कहते हैं तथा आद्य और अंत्य पदके क्रमके साथ पद्य बोलनेके क्रमको आद्यपदी और अंत्यपदी कहते हैं। पूर्वलिखित उदाहरणोंसे इसका ज्ञान हो जायगा।

पहिले मंत्रके पादोंको इस क्रमसे स्मरण करना उत्तम है, पश्चात् आधे मंत्रोंको और तत्पश्चात् पूर्ण मंत्रों को स्मरण करनेका यत्न करनेसे परिश्रम थोडे और बहुत लाभ होता है। पूर्ण मंत्र कंठ करनेकी अपेक्षा मंत्रका एक पाद स्मरण करना सुगम है; इस लिये प्रारंभमें सुगम रीतिका आश्रय करना चाहिये। स्मरण शक्ति बढ जानेपर पूर्ण श्लोक भी एक दो वार सुनने से कंठ हो जाते हैं। यहां इस बातको कहने की आवश्यकता नहीं है कि गद्य स्मरण करनेकी अपेक्षा पद्य स्मरण करना सुगम है तथा एकवार स्मरण किया हुआ पद्य फिर शीघ्र भूलता नहीं।

शब्द या वाक्य, जिनमें परस्पर संबंध है, स्मरण करनेमें सुगम होते हैं। इसलिये जिस समय अनेक शब्द स्मरण करने होंगे, उस समय उनमें परस्पर संबंध रखनेवाले शब्द साथ साथ रखनेसे और उस संबंध क्रमसे उनको स्मरण करनेसे शीघ्र याद हो जाते हैं। देखिये—

राजा	प्रजा	माता	पिता
पिता	पुत्र	गृह	उद्यान
भ्राता	भगिनी	स्वर्ग	नरक
इंद्र	वृत्र	श्वेत	कृष्ण
दिन	रात्री	उन्नति	अवनति
प्रातःकाल	सायंकाल	एक	अनेक
उच्च	नीच	ज्ञानी	अज्ञानी

इस प्रकार एक दूसरे के साथ संबंध वाले शब्द जोडनेसे दो दो शब्दों को इकट्ठा याद करना सुगम हो जाता है। इस रीतिका अवलंबन करनेसे आप कितने भी शब्द विना आयास स्मरण कर सकते हैं और उनके अर्थ भी याद किये जा सकते हैं। यदि यह शृंखला अधिक सुसंबद्ध की जाय तो स्मरण करना अधिक सुगम हो सकता है, देखिये—

इंद्र	राजा	इन्द्रेषित	इंद्रप्रेरित
खगेंद्र	पक्षिराजा	इन्द्रगुप्त	इंद्ररक्षित
द्विजेंद्र	द्विजराट्	इंद्रजाल	ईश जाल
सुरेंद्र	सुरेश	इंद्र धनु	इंद्र धनुष्य
नरेंद्र	नरेश	इंद्रपत्नी	इंद्रस्त्री
मृगेंद्र	मृगराट्	इंद्रजूत	इंद्रसेवित

विना बहुत अर्थ कहे भी इन शब्दोंको इस प्रकार रखनेसे इनका स्वयं स्मरण हो जाता है और अर्थ भी ध्यानमें आ जाता है। इसी प्रकार निम्न शब्द देखिये—

इंद्र	प्राज्ञ	सुमनस्
चंद्र	विज्ञ	सुम्नं
केंद्र	सुज्ञ	द्युमनस्
भद्र	संज्ञा	द्युम्नं
सुभद्र	आज्ञा	विमनस्
सुभद्रा	प्रज्ञा	अमनस्
दरिद्र	अनुज्ञा	

स्वर सादृश्य के कारण ये शब्द स्मरण हो जाते हैं। एक शब्दका दूसरे शब्दसे संबंध हो या न हो वर्णोंका उच्चार सम होनेसे इनको स्मरण करना सुगम हो जाता है। अपने शब्द इस प्रकार वर्णसादृश्यके क्रमसे रखनेसे स्मरण करना सुगम हो जाता है। मंत्रों और वाक्यों में भी यह क्रम बडा उपयोगी है। विरोधक्रम का भी इसी प्रकार उपयोग किया जा सकता है, इसका उदाहरण देखिये—

राम	रावण	पांडव	कौरव
इंद्र	वृत्र	आत्मा	अनात्मा
देव	असुर	पुरुष	प्रकृति
सुर	असुर	दिवस	रात्री
देव	दानव	प्रकाश	अंधकार

इसमें विरोध संबंध है यह पाठकों को स्वयं पता लग सकता है। अनुकूलताका संबंध हो या प्रतिकूलता का संबंध हो, किसी भी संबंधसे शब्द वाक्य, या मंत्र स्मरण करना सुगम हो जाता है पाठक इस रीतिका उपयोग करके देखें तो उनको पता लग जायगा कि इस प्रकार के संबंध के साथ ध्यानमें धरना सुगम होता है। गिनतीकी संख्या भी इस प्रकार का संबंध ध्यानमें धरनेसे स्मरण रह सकती है। इसका संबंध पूर्व आचार्योंने निम्न प्रकार निश्चित किया है—

० शून्य = ख, आकाश
१ एक = भूमि, चंद्र, अज, कु
२ दो = नेत्र, बाहु, पक्ष
३ तीन = त्रिगुण, अग्नि, राम
४ चार = वेद, निगम, युग, सागर
५ पांच = पंच पांडव, इषु
६ छः = षट् चक्र, छः शास्त्र, षड् रस, ऋतु, अंग
७ सात = सप्त द्वीप, सप्त पर्वत, सप्त लोक, सप्त व्याहृति,
८ आठ = अष्टधा प्रकृति, अष्टवसु, अष्ट गज
९ नौ = नवग्रह, नव नंद, अंक,
१० दस = दश प्राण, दशइंद्रिय
११ ग्यारह = एकादश रुद्र, शिव, ईश
१२ बारह = द्वादश आदित्य,
१३ तेरह = विश्व
१४ चौदह = चतुर्दश भुवन
१५ पंद्रह = पंद्रह तिथि
१६ सोलह = भूप
१७ सतारह = अत्यष्टि
१८ अठारह = अष्टादश पर्व
२० बीस = नख, (नाखून)
२४ चौबीस = जिन, सिद्ध,
२५ पच्चीस = तत्त्व
२७ सताईस = नक्षत्र
३० तीस = दिन (एक मासमें)
३२ बत्तीस = दन्त
३३ तिहत्तीस = देवता

इस प्रकार संख्या का संकेत है। एक बार यह संकेत ज्ञात हुआ तो संख्याका स्मरण करना सुगम हो जाता है। इस संकेत में संख्या उलटी लिखी जाती है। ५०९ यह संख्या निम्न प्रकार लिखी जायगी—

९ ० ५
ग्रह— ख— इषु = ५०९

इस रीतिसे शब्दोंमें संख्या याद करना सुगम होता है। इस संख्याके विषयमें अपने भी संकेत किये जा सकते हैं और उनका उपयोग किया जा सकता है। वेदमें ये संख्या के संकेत अनेक हैं। " एका च मे " (य. १८। १४) आदि मंत्रोंमें जो संख्यायें हैं इसी प्रकारके संकेत की हैं। किसी स्थान का संकेत लीजिये उसमें मुख्य बात यही है कि शब्दोंके द्वारा संख्याका स्मरण रखना क्यों कि बडी बडी संख्यायें भी इसी प्रकार स्मरणमें रखी जा सकतीं हैं।

अपनी स्मरण शक्ति बढानेके लिये पाठक अन्यान्य रीतियां भी निकाल सकते हैं और उनका उपयोग करके अपनी स्मरण शक्ति बढा सकते हैं। मुख्य बात अपनी शक्ति बढानेकी है। रीतियोंकी बात मुख्य नहीं है। इस लेखमें जो दो चार रीतियाँ दी हैं उनके उपयोगसे भी लाभ हो सकता है। इस के अतिरिक्त भी काल संबंध, स्थान संबंध आदि अनेक संबंध देख कर एक दूसरेके संबंधसे शब्द वाक्य या मंत्रोंका स्मरण किया जा सकता है। आशा है कि पाठक इसका अधिकार विचार करेंगे और अपनी स्मरण शक्ति बढाने में उसका उपयोग करेंगे।

बालक पनमें वेदमंत्रोंका को कण्ठ करनेसे स्मरण शक्ति बढती है और उसके और भी बहुत लाभ हैं। यह परिपाठी प्राचीन कालमें बहुत थी, परंतु यह प्रतिदिन न्यून होती जाती है। यदि यह पुनः प्रचलित की जाय तो इससे बडा लाभ होना संभव है।

आर्य-वीर।

(ले०-श्री. लालचंदजी)

वीर वह मनुष्य है जिसमें आत्मविश्वास हो, जिसे परमात्मापर अटल भरोसा हो और जो सत्यवादी हो। यदि केवल यह तीन गुण मनुष्य में भली प्रकार विकसित हो जाएं तो वह वीर कहा जा सकता है। जो मनुष्य पराए बाहुबल पर जीवन संग्राम में प्रवेश करता है वह सहारा न रहनेपर प्रायः गिर जाता है और हास्य का पात्र बनता है। जिसमें अपने ऊपर विश्वास नहीं वह संसार में विजयी भी नहीं हो सकता। किंतु आत्मविश्वास और अभिमान में उतना ही अंतर है जितना कि प्रेम और मोह में है। विश्वास और प्रेम स्थायी हैं, अभिमान और मोह नश्वर हैं। जिस प्रकार सत्ज्ञानसे मोह नष्ट हो जाता है वैसे ही अभिमान ब्रह्मबल के सामने मर्दन हुआ करता है। आत्मविश्वासी नम्र और सदा वीर्य-सम्पन्न होता है किंतु क्रोधयुक्त अभिमानी केवल सुरापान के नशे की भांति दिखावेंकाही बलवान हुआ करता है। आत्मविश्वासी से तात्पर्य किसी ऐसे व्यक्ति से नहीं है जो कि निज अहंकार में चूर हो और केवल अपने आप को ही सराहता हो, आत्मविश्वासी उसे कहेंगे जिसमें आत्मशक्ति का भली प्रकार विकास हुआ हो। ऐसा मनुष्य ही वीर अथवा आर्य्य कहा जा सकता है। वीरता और आर्यत्व एक ही हैं, इन में भिन्नता नहीं। विना वीर हुए आर्य नहीं हो सकता।

एक आर्य के लिये आवश्यक है कि वह अमृतपुत्र होना अपने जीवन में सार्थक करें। आर्यत्व में सभी श्रेष्ठ गुणों का समावेश है। आर्य अमृतपुत्र है, भगवान का प्यारा है। वह सदा वीरोचित धर्म-पालन करता है। वह आपत्ति आने परभागता नहीं, दुःख में वह व्यथित नहीं होता। वह परम पिता का आज्ञाकारीहै और इसी लिये वह वीरहै। प्रत्येक आर्य काजीवन श्रद्धा और विश्वासका जीवन होना चाहिये। आर्यवीर मातृभक्त होता है। आर्यवीर के सामने मातृभाषा, मातृसंस्कृति और मातृभूमि तीनों एक ही सौम्यरूप धारण किये हुए उसे जननी और जन्मभूमि दोनों का सच्चा सेवक बनाए रखती हैं। मातृसंस्कृति में मातृभाषा और मातृभूमि का समावेश है। मातृसंस्कृति के लिये वह ही श्रद्धांजलि अर्पण कर सकता है जिसे मातृभूमि और मातृभाषा से सच्चा प्रेम हो। जननी के लिये वही जीते हैं जो मातृसंस्कृति का ह्रास नहीं होने देते, जो अपने गृहस्थमें अपने निजी जीवनचर्य्या में मातृसंस्कृति का गौरव मातृभाषा और मातृभूमि की सेवा द्वारा बढाया करते हैं। देश की मान मर्य्यादा को ही मातृसंस्कृति कहते हैं। देश की मान मर्यादा देश के वीरों द्वारा ही सुरक्षित रह सकती है।

आर्य वीरों के उत्कर्ष के शुभदिन जिनकी प्रतिक्षा में देशविह्वल हो रहा था अब आनेवाले हैं। आजकल की दशा को उषाकाल से कुछ पहिले की दशा कहा जा सकता है। शीघ्र ही उषा होगी और फिर आर्यमार्तंड उदय होगा और पुनः आर्यसंस्कृति का जगत में प्रसार होगा। आज संसार एक ऐसी संस्कृति के लिये जिस में यह लोक और परलोक दोनों में जीवन ज्योति का प्रबल विकास हो सके लालायित है। पाश्चात्य विद्वान अपने " नवीन विचार " पद्धति द्वारा बहुत कुछ आर्यसंस्कृति के निकट आ रहे हैं। अब पुनर्जन्म तक को पाश्चात्य विद्वान मानने लग गए हैं। पर शुभदिन वह होगा

जब कि आर्यवीर पुनः पुनर्जन्म और आत्मा में पूर्ण विश्वास रखते हुए निर्भय होकर संसार में विचरेंगे किंतु इस से पहिले देश की अवस्था अवश्य उन्नत हो चुकनी चाहिये।

आर्यवीरों को जिम्मेदारी बहुत है। उन्हें वेद के पवित्र संदेशको अपने जीवन द्वारा संसार में पहुंचाना है। यह संदेश निरंतर मर्यादा पूर्वक रहनेवाले सद् गृहस्थियों द्वारा ही फैलेगा। संसार में अशांति है, उसे शांत करके नवजीवन प्रसार करने के लिये वेद के अनुसार समता का जीवन व्यतीत करने वाले आर्य वीरों ने ही कार्य करना है। आर्यवीर तभी अपनी मातृभूमि के नाम को उज्ज्वल कर सकेंगे जब कि वे कर्म कौशल बनेंगे। कर्म कौशल होना अथवा कर्तव्य परायण होना एक ही बात है। भगवान् कृष्ण कहते हैं। " योगः कर्मसु कौशलम् "। कर्तव्य परायणता में कुशलता प्राप्त करना योग है, अतः आर्यवीर वही हो सकता है जो कर्मवीर हो, जिसका आहार, विहार, स्वप्न, जागरण और कर्मचेष्टा नियमित हो। आर्यवीर वैदिक मर्यादा का अनुसरण करेंगे, वे अपने पूर्वजों के पद चिन्हों पर चलेंगे और पुनः भारत में आगे सभ्यता का प्रचार करेंगे। सच्चा आर्य वीर दयानंद हुआ है जिसकी सारी आयु ही मातृभाषा, मातृसंस्कृति और मातृभूमि की सेवा में अर्पण हो चुकी है। आर्य जाति उस वीर के जीवन की जयन्ती मना चुकी है। आर्यों में पुनः स्वाध्याय और आत्मपरीक्षण की रुचि हुई है। स्वाध्याय द्वारा जब आत्मपरीक्षण होकर अपने दोष दिखाई देंगे जो अवश्य उन के दूर करने का यत्न होगा। जब दोष घटने लगेंगे तब आर्यों की प्रगति रोके नहीं रुकेगी और अवश्य स्थिर उन्नति होगी।

आजकल की सबसे बडी आवश्यकता कर्मयोगी हैं। यदि आर्य गृहस्थ मर्यादा का जीवन व्यतीत करें तो अवश्य कर्तव्य पालन हो सकते हैं। कर्तव्यपालन में दृढता लाभ करना ही कर्मयोगी होना है। कर्मयोगी आर्यवीर जब सीधे मार्गपर चलेंगे तो उन के जीवनको देखकर अन्ध लोग भी धर्मपरायण होंगे। आर्य सद्गृहस्थी सदाचारी रह कर और वीर्यवान रहकर स्वयं आदर्श बनेंगे और जीवन चर्या से यह दर्शा सकेंगे कि शुद्धवीर्य सम्पन्न रहना दुराचारी रहने से अधिकतर सुगम है।

बहुधा लोग इतने भोग में लिप्त हैं कि वे भोगों के मानों दास हो गये हैं, वीरता का निशान तक नहीं। ऐसा जीवन कभी उन्नति का साधक नहीं हो सकता, संयम विना सत पथ की ओर रुचि ही नहीं होती। प्रायः कर्तव्य और मन्तव्य में भिन्नता देखी जाती है। आर्यवीर वही हो सकेगा जिस के कर्तव्य उस के मन्तव्य के अनुकूल हो। आर्यवीर कभी किसी स्त्री को कुछ दृष्टि से नहीं देखेगा। आर्यवीर चोरी नहीं करेगा। आर्यवीर द्वेष नहीं करेगा किंतु आवश्यकता पडने पर वह अपने और जाति के स्वत्व को अपनी आहुती देकर भी रक्षा करेगा। आर्यवीर कोई हेय कार्य नहीं करेगा जिस से कि उस के आर्यत्व और वीरत्व पर लांछन आवे। वास्तव में आर्यवीरों की कीर्ति कभी मन्द नहीं हो सकती क्यों कि उन से कोई हीन विचार और कार्य हो ही नहीं सकता। आर्यवीरों ने ही भारत का उद्धार करना है।

वीर कैसे उत्पन्न हो? यह प्रश्न आज भारतवासियों के सामने है।

इन्द्रियासक्ति के कारण दुःखबन्धन में फंसे हुए भारतवासी केवल दुःख को सहने और कभी कभी सहते हुए घबरा उठने का पर्याप्त अभ्यास रखते हैं। जिस समय दुःख से विवश हो जाते हैं तो अपने भाग्य को कोस लेते हैं; परन्तु यह कम सोचा जाता है कि दुःख का कारण हमारे अंदर है। अभी तक पूरे तौर पर स्वतंत्रता देवी की पूजा का विधान हम लोगों ने नहीं सीखा। वीर मनुष्य ही स्वतंत्रता देवी का उपासक तथा प्रचारक हो सकता है और योग्य स्वतंत्रता ही सब सुखों का मूल है। पराधीनता में दुःख और स्वाधीनता में ही अक्षय सुख है किंतु स्वाधीनता में भी मर्यादा का उच्च स्थान है। मर्यादा रहित जीवन उत्कर्ष और सुगति का जीवन नहीं होता। नियमरहित जीवन से कभी किसी ने स्वाधीनता नहीं प्राप्त की। स्वतंत्रता के प्रेमियों को जीवन मर्यादाओं पर विशेष ध्यान देना योग्य है। मर्यादाबंधन नहीं है, मर्यादा का बंधन स्वतंत्रता की

ओर ले जाता है। जितने कि स्वाधीनता के नामपर मन माने स्वार्थ सिद्ध किये जाते हैं उतने अनर्थ जगत् में स्यात ही किसी और कारण होते हों!

स्वतंत्रता की घोषणा करने वाले और उस का जयनाद नभोमण्डल में फैलाने वाले यदि वीर हों तो स्वाधीनता की गूंज एक बार गगन में पाई हुई फिर कभी मन्द न हो सके। स्वतंत्रता का उपासक सत्याग्रही होना चाहिए। सत्य की वेदी पर अभिमान, अहंकार, मोह, मत्सर इन सब की आहुति देनी होती है, केवल वीर ही आधीनता और नम्रता का कवच पहन कर सत्यार्थी और सत्याग्रही होकर इस अग्निपरीक्षा में उत्तीर्ण हो सकता है। साहसी ही ऐसे कार्य में लग सकता है। साहसी होना वीरता का लक्षण है। कायर और लोभी कभी साहस नहीं किया करते, उन का उत्साह मन्द पड जाता है। वे केवल दैव के भरोसे अकर्मण्य बैठे हुए अपने भाग्य को रोया करते हैं। वीर में आत्मशक्ति का विकास होता है और वह आत्मशक्ति उसे भगवान से प्राप्त होती है।

इस लिये स्वतंत्रता के उपासक को साहसी ईश्वर भक्त होना चाहिये। जो ईश्वरभक्त कहाता है किंतु निज देशकी मान मर्यादा के लिये दुःख सहने को तैयार नहीं वह मिथ्याचारी है, ईश्वर भक्त नहीं। ऐसे सज्जन बहुत हुआ करते हैं जो सुखमें साहस दिखाते हैं और बातोंमें आकाश पाताल मिला देते हैं पर कार्य के समय बहाना कर दिया करते हैं। ऐसे लोग जब किसी देशमें बढ जाते हैं तो सारे प्रगति के कार्य केवल वाणी द्वारा ही संपादन हुआ करते हैं। यदि व्याख्यानोंसे अथवा केवल बातोंसे संसार की स्थिति में परिवर्तन हो सकता हो तो आज भारत अवश्य अपने लक्ष्य के निकट होता। यहां सच्चे वीरोंका अभाव सा हो गया है। पर सच्चे वीर कैसे उत्पन्न हों?

देशकी आजकल की स्थितिमें जब की संतान न तो विधिपूर्वक उत्पन्न ही की जाती है और न ही किसी उद्देश्य को सामने रख कर संतान का पालन ही होता है तो इस आवश्यक प्रश्न पर कि "वीर कैसे उत्पन्न हों"? अवश्य पूरा ध्यान देना पडेगा। गृहजीवन में ऐसा वायुमंडल बनाना पडेगा कि जिस में रहते हुए बालक और बालिकाएं निर्भयता, आत्मनिर्भरता, साहस और ईश्वरपरायणता आदि सद्गुणों को अनायास ही जीवनचर्या द्वारा अपनेमें दृढ कर सकें। ऐसा प्रबंध करना होगा कि गृहस्थ के लोगों में से कायरता और निरुद्यमता का धीरे धीरे, ह्रास हो और साहस और उद्योग की ओर रुचि हो।

वीरता का सबसे बडा शत्रु आलस्य है और आलस्य का प्रधान सहायक चटोरापन है। जो लोग स्वच्छ और बलवर्धक भोजन अपने गृहस्थ में प्रेम और संतोष के साथ आवश्यकता अनुसार ही करते हैं वे प्रायः आलस्य और प्रमाद से बचे रहते हैं। यह बात प्रत्येक के अनुभव की है कि अधिक भोजन से चित्त में स्फूर्ति नहीं रहती, आलस्य दबा-लेता है और यदि शरीर की दिन प्रतिदिन की थकावट और कमी को पूरा करने के लिये उचित अन्न और शुद्ध जलवायु न मिले तो शरीर कार्य करने में नहीं तत्पर होता। जहां अधिक भोजन करने से आलस्य दबा कर यश का घातक होता है वहां निकम्मे भोजन के कारण शक्तिहीनता से मनुष्य वैसे हीन और दीन सी स्थितीमें पडा रहता है और उत्साह को कमी हो जाती है।

जिस देशमें आजकल चलनेसे बैठना, और बैठने से लेटना अच्छा समझा जाता हो वह कितना वीरतासे पीछे हट चुका है और कितना उसपर कायरता और आलस्यका आधिपत्य है यह विचारशील अनुभवी सज्जन स्वयं समझ सकते हैं। वीरताका वायुमंडल बनाना देशकी उन्नतिके लिये परम आवश्यक है। यह अवस्था नियत आहारविहार, नियत सोने और जागने के अभ्यास से बहुत कुछ ठीक हो सकती है। मनुष्य की स्थिति में विचार और आहार का घनिष्ठ संबंध है। प्रायः देखा गया है कि जो आहार सत्वगुणी रुचि से खाते हैं वही आहार राजसिक और तामसिक जनों को नहीं आता। आहार की कसौटी पर भी हम देश की अवस्था को जांच सकते हैं। ऐसा करने पर पता लगेगा कि अधिकांश लोग आजकल तामसिक हैं,

और कुछ राजसिक हैं, सात्विक पुरुष विरले ही देखने में आते हैं । पर यत्न करने से लोगों की रुचि उन्नत की जा सकती है । देखा गया है कि जो लोग केवल स्वादके लिये खाते हैं उनमें चंचलता अधिक हुआ करती है, उन का चित्त स्थिर नहीं रहा करता जिस प्रकार कि बाजार में खाद्य पदार्थों को देख कर उनका मन रोके नहीं रुकता उसी प्रकार प्रायः मीठा स्वर उन्हें अपनी ओर खेंचता है और इस विचार तक उनको बुद्धि ही नहीं पहुंचती कि अमुक शब्द हितकर है अथवा केवल कानों के प्रिय लगता है । येही दशा वस्त्रों की है । वस्त्र शरीर रक्षा का साधन है और देश काल के अनुसार होना चाहिये किंतु जब कोई मनुष्य शरीर को सजाना मात्र ही एक उद्देश्य समझ लेता है तो फिर वस्त्रों के कारण भी मनुष्यका पतन हो सकता है,ऐसी चंचल अवस्था में गिरावट ही गिरावट है। इस वृत्ति के लोगों में वीरता नहीं होती, हां उत्तेजना अवश्य होती है और कभी कभी उत्तेजित होकर वह आपत्ति में भी कूद पडते हैं, साहस भी दिखाते हैं, पर उनमें दृढता और स्थिरता न होने के कारण वे वीर नहीं कहे जा सकते । ऐसे लोगों के पास न तो धर्म कार्य के लिये धन ही बचा करता है और नहीं उचित मात्रा में कठिनता को निभाने का बल ही शेष रह जाता है । ऐसे लोगों की प्रत्येक इन्द्रिय स्वाधीन हुआ करती है और प्रत्येक इन्द्रिय की रुचि जिस विषय में हो उस की पूर्ति करने वाले लोग यद्यपि प्रत्यक्ष में बडे आदमी कहाते हैं पर वे लोग जीवन उद्देश्य को न समझने के कारण नित्य दुःखी रहा करते हैं और शांति तो मानों उन के भाग्य में बदी ही नहीं । वीर ही कर्तव्य पालन करके चिरस्थायी शांति लाभ करता है ।

एक मनुष्य जिस प्रकार अपनी जीवनचर्या करता है यदि यह आप बतादें जो एक दूरदर्शी पुरुष उसका भविष्य कह सकता है । संसार में जितनी हानि बडे आदमियों के कारण हो रही है उतनी साधारण लोगोंके कारण नहीं देखी जाती। एक साधारण मनुष्य सुगमता से संयमी बनाया जा सकता है किंतु एक बडे आदमी अथवा उसके पुत्र वा पुत्री को उच्च जीवन की ओर ले जाना पर्वत शिखर पर चढने से भी अधिक कठिन है । ध्यान से देखो तो पतालगता है कि जिसे लोग आजकल उन्नति कहते हैं वह राजसिक स्थिति ही है और जो उस उन्नति के पश्चात् सुख में पडकर विषय-वृत्ति की वह अवस्था है जिसमें प्रगति की ओर चित्त न लगाकर सुखसे बैठने व लेटने को मन चाहता है वह राजसिक अवस्था में तामसिक भावों का प्रवेश है । शुद्ध सात्विक अवस्था में आयु, सत्व, बल, आरोग्य, संतान सब की वृद्धि होकर ऐश्वर्य होते हुए भी एकाग्र चित्तसे कर्तव्योंके पालन करने में रुचि होती है । सात्विक पुरुष कर्तव्यच्युत नहीं हुआ करते वे ही वीर कहाते हैं साधारण लोगों के लिये वे पथप्रदर्शक हुआ करते हैं ।

कृष्ण भगवान अपनी स्थिति का और संसार का पर्याप्त ज्ञान रखते थे । उन के ये शब्द कि "यदि मैं अपना कर्तव्य पालन न करूं तो लोग पतित हो जाएंगे और मैं व्यभिचार का दोषी बनूंगा" आजकल के बडे आदमियों और नेताओं को स्मरण रखने चाहिये । किसी मनुष्य का वास्तविक जीवन वह है कि जो वह अपने बाहिरके कार्यक्षेत्र से अलग अपने गृहस्थ में बिताता है । संसार की उन्नति ऐसे नेताओं द्वारा कभी नहीं होगी जिनका सार्वजनिक जीवन और गृहस्थ का जीवन एक नहीं है। नेताओं का वैयक्तिक जीवन और गृहस्थ के जिम्मेदार लोगों का निजी जीवन ही वह वायुमंडल है जिस में भावी भारत के नेता पल रहे हैं और निज गृहस्थ के भाव उन के कोमल हृदयों पर अनायास ही अंकित हो रहे हैं । संसार की सब से बडी आवश्यक्ता कर्तव्यपरायण पुरुष और देवियों की है । ऐसे मनुष्य ही सच्चे वीर और कर्मयोगी कहे जाते हैं । कर्मयोगी और वीर होना एक ही बात है ।

प्रत्येक भारती को भारत की भावी उन्नति में दृढ विश्वास होना चाहियें । गृहस्थ में वीर युवक और वीर वधुएं होनी चाहियें । यह अवस्था तब ही हो सकती है जब कि आजकलके माता पिता अपनी जिम्मेदारी को समझें। जब हम लोग अपनी कन्याओं

में से भय और अज्ञानता नहीं हटाएंगे और उन्हें पुत्रों के समान योग्य बनाने का यत्न नहीं करेंगे हम भावी संतान को उन्नत नहीं कर सकेंगे। कन्याओं ने ही वधुएं बनना है और जितना बालक पर अपनी माता का प्रभाव पडा करता है उतना प्रभाव और किसी घर के मनुष्य का नहीं पडा करता। आजकल वीर बालकों के न उत्पन्न होने की जिम्मेदारी उन तुच्छ बुद्धि गृहस्थियों पर है जो कन्याओं को पराया धन समझ कर उन्हें योग्य बनाने के लिये उन पर धन व्यय नहीं करते, मुझे ऐसे गृहस्थियों का अनुभव है जहां कन्याओं को पुत्रों के समान भोजन वस्त्र नहीं मिलते, अच्छी खाने पीने की वस्तुएं कन्याओं से छिपाकर पुत्रों को दे दी जाती हैं आजकल यदि म्युनिसीपैलेटी और सभा समाजें कन्याओं को विना फीस पढाना छोड दें तो बहुत कम गृहस्थ ऐसे मिलेंगे जो कन्याओं की शिक्षा पर धन व्यय करना स्वीकार करें। कन्याएं एक तो पहिले ही डरपोक होती हैं तिस पर भी केवल घर में बंद रहने से और साहसी खेल न खेलने देने से उन मे वीरता का अंकुर होने ही नहीं पाता अनुभव से देखा गया है कि कन्याएं पुत्रों कि भांति ही साहस और उत्साह के कार्य कर सकती हैं बलिक कन्याएं पुत्रों से जल्दी योग्य हो जाती हैं। कन्याएं शिक्षा भी पुत्रों से जल्दी प्राप्त करती हैं और यदि योग्य व्यायाम पर ध्यान दिया जावे तो कन्याएं पुत्रों की भांति ही शरीर में बल और स्फूर्ति धारण करती हैं। कन्याओं की वाचन शक्ति पुत्रों से कम नहीं होती, फिर भी यदि हम लोग कन्याओं से न्याय का बर्ताव नहीं करते तो किस प्रकार भावी संतान अच्छी प्राप्त कर सकते हैं ? अतः सद्गृहस्थियों को कन्या और पुत्र दोनों को बलवर्धक भोजन देना चाहिये और दोनों को ही उत्साह और साहस बढाने वाले खेल खेलने देना चाहिये जिससे शरीर, मन, बुद्धि एक से उन्नत हो सकें।

घरों में जो बहुओं के साथ अन्याय का व्यवहार होता है वह वीर बालक उत्पन्न होने में बहुत बाधा डाल रहा है, बहुएं गृहस्थ की सम्राज्ञी हैं किंतु वे बेचारी तुच्छ समझी जाती हैं और यद्यपि समाज पतिव्रता धर्मपर बलपूर्वक दबाव डालता है किंतु पत्नीव्रत को ओर कम ध्यान दिया जाता है। जब तक कि मानव समाज में पुनः पत्नीव्रत का प्रचार न हो कभी सती की प्रतिष्ठा पूरे तौर पर हो ही नहीं सकती, पत्नीव्रत पुरुष ही पतिव्रता देवी का आदर कर सकता है। यदि पुरुषों में पत्नीव्रत धर्म का पुनः प्रचार हो जावे तो परदे का रिवाज एकदम दूर हो सकता है। जिन देवियों को अपने गृहस्थों में अपने श्वसुर और जेठ आदि से परदा रखना पडता है वे ही देवियां घर से बाहिर निर्भय विचरने का साहस किया करती हैं। स्यात वे अपने गृहस्थ के लोगों पर उतना विश्वास नहीं करतीं जितना कि राजसत्ता और न्याय के भरोसे वे बाहिर के लोगों से निर्भय रह सकती हैं। गृहस्थ में बहू का संबंध गृहस्थ के लोगों से वही हुआ करता है जो परका हो। ऐसी अवस्था में बहू वर के पिता की पुत्री, चचा की पुत्री, जेठ की पुत्री अथवा छोटी बहिन और छोटे भाई की बडी बहिन समान होनी चाहिये और सदाचारी जीवन होने पर कहीं भी भय और संकोच के लिये स्थान नहीं दिखाई देता, बहुओं का अपने गृहस्थ में अधिकारहीन रहना वीर बालकों के अभाव का सब से बडा कारण है। गृहस्थ का जीवन पवित्र बनाए विना वीर संतान भी नहीं होगी।

बालकों को सब से अधिक समय गृहस्थ में ही विताना होता है और यदि गृहस्थ का वायुमंडल ऐसा न हो जिस में बालकों की पूर्ण शक्ति का विकास हो सके तो बालक वह कमी बाहिर किसी प्रकार भी पूरी नहीं कर सकते, प्रसन्नता की बात है कि कुछ कालसे शिक्षा विभागमें बालचर आन्दोलन के नाम से बालकों में साहस और उत्साह के भाव दृढ करने का यत्न किया जा रहा है और यह देखने में आया है कि उस प्रणाली से बालकों को बहुत लाभ पहुंच रहा है। बालक वीरता के भाव अपने अंदर धारण कर रहे हैं और सेवा के लिये तैय्यार रहते हैं। योग्य देख भाल के साथ यदि यह आन्दोलन चलाया जाय तो अवश्य देश और जाति के लिये वीर बालक बनाने में बहुत सहायक होगा।

भगवान की कृपा से बालकों और नवयुवकों में परस्पर प्रेम, सदाचार और साहस के भाव प्रकट हो रहे हैं और ये बातें आगामी देशोन्नति की द्योतक हैं । किसी किसी बालक के मस्तिष्क से तो भावी असाधारण शक्ति और प्रतिभा की सूचना मिलती है और एवमेव यह निश्चय दृढ हो जाता है कि भारत अवश्य भविष्य में उन्नत होगा।

पर सच्ची वीरता का शिक्षालय गृहस्थ ही है । वीर बालकों को पालने के लिये माता पिताओं को थोडा अपना शासन और अधिकार कम करना होगा । वास्तव में मनुष्य का बालक उतना उद्दंड शासन में नहीं उन्नत होता जितना कि केवल योग्य देख भाल में बढता है । बालकों में जितना अधिक आत्मविश्वास, स्वावलंबन और उत्साह बढता जाएगा उतना ही वे वीरत्व के निकट होंगे। संकोच, भय और लज्जा के आचरण को कुलीनता का अंग समझना समाज की पतित अवस्था को प्रकट करता है । जहां ऐसे कलुषित भावों की सराहना होती हो वहां वीरता कैसे स्थिर रह सकती है ? जहां लज्जा और नम्रता में भेद न किया जाता हो उस समाज की गति अवश्य मंद रहेगी। केवल वीर ही नम्र हो सकता है। नम्र होने के लिये वीर्यत्व और आत्म बल का होना आवश्यक है, किंतु लज्जा सदैव कर्तव्यहीन मनुष्यके मुख पर कालिमा लिये हुआ करती है । वीर पुरुष नम्र होता है किंतु आत्माभिमान नहीं त्याग देता। लज्जा का कारण सदैव निंदित कर्म, विचार और आचरण हुआ करते हैं। लज्जा में वीरता का लेश मात्र भी नहीं होता। लज्जा में वीर्य की कमी पाई जाती है । एक प्रसिद्ध डाक्टर का कथन है कि जो युवक सीधे खडे नहीं हो सकते, दूसरे मनुष्य के सामने नेत्र मिलाकर मस्तिष्क ऊंचा रखकर देख नहीं सकते, जिनकी आंखों की पलकें सदैव दूसरे को देखते ही नीचे झुक जाती हैं, जो सदैव दूसरों से अपना मुंह छिपाया करते हैं ऐसे लोगों में अवश्य वीर्य की कमी हुआ करती है । वीर युवक अथवा युवती में विपुल शुद्ध वीर्यका होना आवश्यक है। वीर्य सदैव वीर में ही स्थिर रहा करता है । वीर्यवान होना और वीर होना एक ही बात है ।

वीर्यत्व की शिक्षा भी गृहस्थ में ही मिलनी चाहिये । यदि गृहस्थ में असत्य व्यवहार हो, एक दूसरे पर पूरा विश्वास न हो, यदि गृहस्थ के लोगों में कलह हो, यदि गृहस्थ के लोग आलसी, प्रमादी और व्यभिचारी हों तो बालक किस प्रकार वीर और सत्याग्रही हो सकते हैं, जिस गृहस्थ ने अपनी मान मर्यादा को त्याग दिया, जिस गृहस्थ में कर्म और वचन में भेद है जिस गृहस्थ की बाहिर प्रतीति नहीं, ऐसे गृहस्थ में वीरता की आशा करना बडी भूल है । जो लोग आपत्ति आनेपर आन का ध्यान न रखते हुए संकट से बचने लिये अपने मंतव्यको छोड देते हैं उन के यहां वीरता के वायु मंडल की आशा रखना मूर्खता है । जो लोग केवल शरीर को ही सर्वस्व मान चुके हैं, ऐसे गृहस्थ में विषयी, व्यभिचारी, आलसी और दुर्व्यसनी बनने का बालकों को अधिक अवसर प्राप्त होता है, यह अवस्था देश के रईसों की है और इसी लिये उन के यहां वीरता का अभाव सा दिखाई देता है । जहां की यह मर्यादा हो कि 'वचन जाय पर प्राण न जाही' वे कभी देश और जाति का हित करने का साहस नहीं कर सकते । मंतव्य और कर्तव्य को एकता होना वीरता का मुख्य लक्षण है ।

क्या परतंत्र लोग वीर उत्पन्न कर सकते हैं? क्या पराधीन मनुष्य वीर संतान के मातापिता हो सकते हैं?जब कोई जाति यह अनुभव कर ले कि वह परतंत्र है और पराधीन है तो मानो उस जाति ने अपनी स्वतंत्रता की नीव पक्की डालदी और इस भाव को स्पष्ट सामने रखती हुई यदि वह जाति अपनी जीवन चर्या मर्यादापूर्वक व्यतीत करे तो वह जाति परतंत्रता के होते हुए भी प्रति पग स्वतंत्रता की ओर बढाएगी, किंतु परतंत्रता में प्रलोभन भी विचित्र हुआ करते हैं । एक ओर तो विषय भोग का स्पष्ट सुखमय जीवन है दूसरी ओर केवल भविष्य की आशा पर तपश्चर्या है । इस भेद को कोई घोर पुरुष ही दुःख को आनंद का दूत समझकर उसे स्वीकार

करते हैं। येही श्रेय और प्रेम मार्गकी भिन्नता है। वीर ही श्रेय को वरता है अन्य लोग सुखमय जीवन में रहकर अपने आपको कृतकार्य समझते हैं। जो लोग सुनियमित तौर गृहस्थमें अपना कर्तव्यपालन करते हैं उन्हीं का जीवन यज्ञमय कहा जा सकता है और यज्ञमय जीवन का प्रसाद वीर संतान है।

वीरों की कांक्षा करने वालो ! वीरों का स्वागत करना, उनका सम्मान करना, उन के योग्य गृहस्थी बनना सीखो फिर आप के गृहों में ही वीर आएंगे, आप की गोद में ही वीर खेलेंगे और आपके वीर पुत्र आप के दुःख का अवश्य मोचन करेंगे। यदि वीरों की आवश्यकता सच्चे हृदय से अनुभव करते हो तो पवित्र जीवन व्यतीत करो, शुद्ध भोजन करो, अपना वायुमंडल शुद्ध रखो, अपने विचार पवित्र करो, तो फिर अवश्य आप स्वयं दृढ प्रतिज्ञ वीर पुरुष बन सकोगे और ज्यों ज्यों आप के विचार शुद्ध होंगे और आप के कर्तव्य आप के मंतव्य के अनुकूल होंगे त्यों त्यों आप विजयी, अजित और यशस्वी हो सकोगे। वर्चस्वी बनने के लिये तेज चाहिये। सब तेजों में बडा आत्म तेज है, यह वह अग्नि है जो सब मल और अपवित्रता को भक्ष्य कर के विजय, प्रकाश अन्दर बाहिर फैलाती है। वर्चस्वी ही यशस्वी होता है और वही वीर कहाता है। तेज और यश भगवान की छाप है। हरएक वीर को उचित है कि वह परमात्मा के आगे आत्मसमर्पण करे, प्रभु की अनन्य भक्ति में दृढ चित्त हो और परमपावन सर्वाधार प्रभु से तेज प्राप्त करता हुआ उस तेज से चहुं ओर प्रकाश और प्रगति पहुंचावे। अपने तेज पर पूर्ण विश्वास करे और ऐसा आक्रम करे कि जिससे उसकी सर्वत्र विजय हो और यश बढे। वीर वह है जो शत्रुओंको दूर भगाता है और सब की प्रशंसा अपनी ओर खींचता है।

एक उच्च समाज में कभी भीरु जनों की प्रशंसा नहीं होनी चाहिये। यश का अधिकारी केवल वीर ही है। वीर सुंदर, बलवान, आत्मवान, शुद्ध, निष्पाप और तेजोमय होना चाहिये। वीर आत्मविश्वासी, अपनी शक्ति को बढाने वाला और लोगों के मन को अपनी ओर आकर्षित करने वाला होता है। संसारका इतिहास वास्तव में वीरोंकाही चरित्रचित्रण होता है और भीरुओं का कथन भी केवल भीरुता के परिणाम दिखाकर वीरता स्थापित करने के लिये ही किया जाता है।

आजकल देशमें कायरता, आलस्य और निरुद्यमता ने घेरा डाल रखा है। केवल वीर ही इस मोहजाल को तोड रखा सकता है।

बालकों को आरंभ से ही भयभीत करना, उन्हें अंधेरेमें हौआ कहकर डराना मानो सदाके लिये उन्हें भीरु और निरुत्साही बनाना है।

बालकों को निर्भय रहना सिखाओ, छात्रों को उत्साही, साहसी और पवित्र रखो। अपना जीवन शुद्ध, श्रद्धावान और आत्मवान रखो, फिर देखो कि घरों में कैसे वीरता नहीं आती। यदि हमारे घर स्वच्छ और पवित्र हों, भोजन सात्विक और बलिष्ठ खाया जाता हो, हर समय उत्साह की बातें घरमें होती हों, गृहस्थके सब लोग केवल दिखावे के लिये ही शरीरको न सजाते हों, जो शीघ्र हो कायरताका स्थान वीरता ले लेगी और निर्बल बाहुओं में भी बलका संचार होगा। शुष्क हृदयमें भी पुनः रक्तका संचार हो और देशमें ऐसी जागृति उत्पन्न हो कि स्वतंत्रता देश को प्राप्त हुए विना रह न सके। यदि हम अपना मन शुद्ध रखें, तन शुद्ध रखें, धन शुद्ध रखें और अन्न शुद्ध रखें तो अवश्य हमारी स्थिति बदलेगी, यह हो नहीं सकता कि परमात्मा पर भरोसा रखकर सत्कर्म करने वाले वीर पुरुष कभी पराजित हों। हमारी तो यही आशा है कि:—

शतशः शरत जीवें यहां सब भारती
शुभशांत मंगलमय सदा कारज करें।
विजय ध्वनि होगी चहुं दिश गूंजती,
प्रकाश जब सज्ञान का जनता में हो।
समय में फिर फेर रुक सकता नहीं
देशमें दीखे अभी सत्ता नई॥

आर्यवीरों की स्मृति ।

(कवि- श्री. लालचंद्रजी)

आर्यवीरों के चरित सारे
बता रहे हैं जता जता कर।
" स्वार्थ त्यागो मन को रोको
ईश में चित्त लगा लगा कर "
" दिव्य जीवन का सार यह ही
उच्च जाति बने इसी से ।
ब्रह्मबल का लो सहारा,
आत्म शक्ति बढा बढा कर " ॥

दुःख जितने जगत में हैं
विषय वृत्ति है उन का कारण ।
आत्मा की शरण आ ओ
आसुरिक बल घटा घटा कर ॥
" इन्द्रियासक्ति पुरुषको
दुःखबंधन में फंसावे ।
त्याग से सब भोग भोगो ।
मन को अपने हटा हटा कर ॥

वैदिक गीत ।

(कवि—श्री० गणेशदत्त शर्मा गौड " विद्यावाचस्पति ")

" ओ३म् यत्र ऋषयः प्रथमजा ऋचः सामयजुर्मही
एकर्षिर्यस्मिन्नार्पितः स्कंभं तं ब्रूहि कतमः स्विदेव सः ।
अथर्व १० । ७ । १४

पद्यानुवाद—

" स्कंभ " वही जिसमें सब वेद—
यजू, ऋक्, साम, अथर्व बसें ।
ये चार ऋषी सब वेद हुए ।
उस देवमें ये उपदेश बसें ।

" ओ३म् स पर्यगाच्छुक्रमकायमव्रणमस्नाविरं शुद्धमपापविद्धम् ।
कविर्मनीषीः परिभूः स्वयम्भूर्याथातथ्यतोर्थान्
व्यदधाच्छाश्वतीभ्यः समाभ्यः ! । "

यजु. ४० । ८

पद्यानुवाद

" वह व्यापक, तेज अदेह, पवित्र—
नसस्नायु विहीन, अनादि औ ज्ञाता,
निष्पाप, कवी, अखिलेश, अजात,
है जीवहि सत्य हे ज्ञान कराता ।"

सन्धिवातको दूर करना ।

(९)

[ऋषिः— भृगुः अङ्गिराः । देवता—वनस्पतिः, यक्ष्मनाशनम् ।]

दशवृक्ष मुञ्चेमं रक्षसो ग्राह्या अधि यैनं जग्राह पर्वसु ।
अथो एनं वनस्पते जीवानां लोकमुन्नय　　॥ १ ॥
आगादुदगादयं जीवानां व्रातमप्यगात् ।
अभूदु पुत्राणां पिता नृणां च भगवत्तमः　　॥ २ ॥
अधीतीरध्यगादयमधि जीवपुरा अगन् ।
शतं ह्यस्य भिषजः सहस्रमुत वीरुधः　　॥ ३ ॥
देवास्ते चीतिमविदन्ब्रह्माण उत वीरुधः ।
चीतिं ते विश्वे देवा अविदन्भूम्यामधि　　॥ ४ ॥
यश्चकार स निष्करत् स एव सुभिषक्तमः ।
स एव तुभ्यं भेषजानि कृणवद्भिषजा शुचिः ॥५॥

अर्थ— हे (दश-वृक्ष) दस वृक्ष! (रक्षसः ग्राह्याः) राक्षसी जकडने वाली गठियारोग की पीडासे (इमं मुञ्च) इसे छुडादे, (या एनं पर्वसु जग्राह) जिस रोगने इसको जोडोंमें पकड रखा है। हे (वनस्पते) औषधि! (एनं जीवानां लोकं उन्नय) इसको जीवित लोगोंके स्थानमें जानेयोग्य ऊपर उठा ॥ १ ॥ (अयं) यह मनुष्य (जीवानां व्रातं) जीवित लोगोंके समूहमें (अगात्, आगात्, उदगात) आया, आपहुंचा, उठकर आया है। अब यह (पुत्राणां पिता) पुत्रोंका पिता और (नृणां भगवत्तमः) मनुष्योंमें अत्यंत भाग्यवान् (अभूत् उ) बनाहै ॥ २ ॥ (अयं) इसने (अधीतिः अध्यगात्) प्राप्त करने योग्य पदार्थ प्राप्त किये हैं। और (जीवपुराः अधि अगन्) जीवोंकी संपूर्ण आवश्यकतायें भी प्राप्त की हैं। (हि) क्योंकि (अस्य शतं भिषजः) इसके सेकडों वैद्य हैं और (उत सहस्रं वीरुधः) हजारों औषध हैं ॥ ३ ॥ (देवाः ब्रह्माणः उत वीरुधः) देव ब्राह्मण और

वनस्पतियां (ते चीर्ति अविदन्) तेरे आदान संदान आदिको जानती हैं; (विश्वे देवाः) सब देव (भूम्यां अधि) पृथिवीके ऊपर (ते चीर्ति अविदन्) तेरे आदान संदान को जानते हैं ॥४॥ (यः चकार स निष्करत्) जो करता रहता है वही निःशेष करता है और वही (सु-भिषक्-तमः) सब से उत्तम वैद्य होता है। (स एव शुचिः) वही शुद्ध वैद्य (भिषजा) अन्य वैद्यसे विचारणा करके (ते भिषजानि कृणवत्) तेरे लिये औषधोंको करेगा ॥ ५ ॥

भावार्थ—दशवृक्ष नामक वनस्पति गठिया रोगको दूर करती है। यह गठिया रोग संधियोंको जकड रखता है जिससे मनुष्य चलफिर नहीं सकता। इसकी चिकित्सा दशवृक्षसे की जाय तो वह रोगी शीघ्र आरोग्य प्राप्त करके अन्य जीवित मनुष्योंकी तरह अपने व्यवहार कर सकता है ॥ १ ॥ वह आरोग्य प्राप्त करके लोकसभाओंमें जाकर सार्वजनिक कार्य व्यवहार करता है, घरमें अपने बालबच्चोंके संबंधके कर्तव्य करता है और मनुष्योंमें अत्यंत भाग्यशाली भी बन सकता है ॥ २ ॥ वह नीरोग बन कर सब प्राप्तव्य पदार्थ प्राप्त कर सकता है, जीवोंकी जो जो आवश्यकताएं होती हैं उनको प्राप्त कर सकता है। यह रोग कोई असाध्य नहीं है क्यों कि इसके चिकित्सक सैंकडों हैं और हजारों औषधियां भी हैं ॥ ३ ॥ इस की अनेक औषधियां तो पृथ्वीपर ही हैं, उनको कैसे लेना और उनका प्रयोग कैसा करना यह सब दिव्यगुणधर्मोंसे युक्त ब्रह्मज्ञानी ब्राह्मण वैद्य जानते हैं ॥ ४ ॥ जो यह चिकित्साका कार्य करता रहता है वही इस को प्रवीणतासे निभा सकता है। वारंवार चिकित्सा करते रहनेसे ही जो प्रारंभमें साधारणसा वैद्य होता है, वही श्रेष्ठ धन्वन्तरी बन सकता है। ऐसा श्रेष्ठ धन्वन्तरी अन्य वैद्योंकी सम्मतिसे रोगीकी चिकित्सा उत्तम प्रकारसे कर सकता है ॥ ५ ॥

संधिवात।

वेदमें संधिवात रोगका नाम " ग्राही " है क्योंकि यह (पर्वसु जग्राह) पर्वोंमें किंवा संधिस्थानोंमें जकड कर रखता है, हिलने जुलने नहीं देता। संधियोंकी हलचल बंद होजाती है। " रक्षस् " अथवा पिशाच येभी इसके नाम हैं। ये नाम रक्तके साथ इस

रोगका संबंध बताते हैं क्योंकि ये नाम रुधिरप्रिय अर्थात् जिनको रक्तके साथ प्रेम है, ऐसोंके वाचक हैं । इसलिये " रक्षः ग्राही" का अर्थ रक्तका विगाड होकर होनेवाला संधिवात है ।

दशवृक्ष ।

उक्त संधिवात की चिकित्सा दशवृक्षसे की जाती है। "दश मूल" नामसे वैद्यग्रथोंमें दस औषधियां प्रसिद्ध हैं । वातरोग नाशक होनेके विषयमें उनकी बडी प्रसिद्धि है । संभव है कि येही दशवृक्ष यहां अपेक्षित हों। इन दशवृक्षोंका तैल, घृत, कषाय, आसव, अरिष्ट आदि भी बनाया जाता है जो वातरोग को दूर करनेमें प्रसिद्ध है ।

इस सूक्त के प्रथम मंत्रमें "मुञ्च" क्रिया है, इस " मुञ्च " धातुसे एक " मोच " शब्द बनता है जो "सोहिञ्जना" या मुञ्जेका झाड अर्थात् शोभाञ्जन वृक्षका वाचक है । यह वृक्षभी वात दोष दूर करनेवाला है । इस वृक्षको लंबी सेंग आती है जो साग आदिमें उपयोगी होती है । इस सोहिञ्जना वृक्षकी अंतस्त्वचा यदि जकडे हुए संधिपर बांधी जाय तो दोचार घंटोंके अंदर जकडे हुए संधि खुल जाते हैं, यह अनुभव की बात है । अन्य औषधियों से जो संधिरोग महिनोंतक दूर नहीं होता वह इस अंतस्त्वचासे कई घंटोंमें दूर होता है । रोगीको घण्टा दोघण्टे या चार घण्टेतक कष्ट सहन करने पडते हैं, क्योंकि यह अन्तस्त्वचा जोडोंपर बांधनेसे कुछ समयके बाद उस स्थानपर बडी गर्मी या जलन पैदा होती है । दोचार घण्टे यह कष्ट सहनेपर संधिस्थानके सब दोष दूर होते हैं । यहां मंत्रमें "मुञ्च" शब्द है और इस वृक्षका नाम संस्कृतमें "मोच" है, इसलिये यह बात यहां कही है । जो पाठक स्वयं वैद्य हों वे इस बातका अधिक विचार करें । हमने केवल दूसरोंपर अनुभवही देखा है, इसका शास्त्रीय तत्त्व हमें ज्ञात नहीं है ।

इस प्रथम मंत्रके उत्तरार्धमें आगे जाकर कहा है कि " इस वनस्पतिसे सन्धिवात से जकडा हुआ रोगी नीरोग लोगोंके समूहोंमें आता है और नीरोग लोगोंके समान अपने कर्तव्य करने लगता है । (मं १)

मंत्र दो और तीन में कहा है कि इस औषधिसे मनुष्य नीरोग होकर लोक सभामें जाता है और घरके कार्य भी कर सकता है। अर्थात् वैयक्तिक, सामाजिक और राष्ट्रीय कर्तव्य कर सकता है । सब मानवी कर्तव्य करनेमें योग्य होता है । इन मंत्रोंकी भाषा देखनेसे ऐसा प्रतीत होता है कि यह चिकित्सा अति शीघ्र गुणकारी है । जो अभी बिस्तरेपर जकडकर पडा है वही रोगी कुछ घण्टोंके बाद मनुष्यसमाजोंमें जाकर कार्य

करने लगता है। पहिले तीन मंत्रोंका सूक्ष्म रीतिसे विचार करने पर ऐसा आशय प्रकट होता है, इस शीघ्रताके दर्शक शब्द प्रयोग द्वितीय मंत्रमें पाठक अवश्य देखें—

अयं जीवानां व्रातं अप्यगात्।
आगात्, उद्गात्॥ (मं. २)

" यह जीवोंके समूहोंमें गया, पहुंचा, उठकर खडा होकर गया !! " अपने पांवसे गया अर्थात् जो वहां बिस्तरेपर अकडा पडा था वही इतनी शीघ्रतासे मनुष्य समूहोंमें घूम रहा है !!! यह आश्चर्य व्यक्त करनेके लिये एकही आशयकी तीन क्रियाएं (आगात्, अप्यगात्, उदगात्) प्रयुक्त की हैं। इससे यह चिकित्सा शीघ्रगुणकारी है ऐसा स्पष्ट व्यक्त होता है।

इस चिकित्साकी औषधियें सहस्रों हैं और इसके चिकित्सक भी सैंकडों हैं (मं. ३) यह तृतीय मंत्रका कथन बता रहा है कि यह सुसाध्य चिकित्सा है। असाध्य नहीं है। ऊपर जो " मोच " वृक्षसे चिकित्सा बतायी है वह प्रायः यहांके ग्रामीण भी जानते हैं और करते हैं इससे कुछ घण्टोंमें आरोग्य होता है।

ये वृक्ष पृथ्वीपर बहुत हैं और उनको लाना और उनका प्रयोग करना (विश्वेदेवाः देवाः ब्राह्मणाः) सब भूदेव ब्राह्मण जानते हैं। अथवा ब्राह्मण तथा अन्य लोग भी जानते हैं। इस में "चीति" शब्द (आदान संधान) लेना और प्रयोग करना यह भाव बता रहा है किंवा (आदान-संवरण) अर्थात् औषधका उपयोग करना और औषधके दुष्परिणामोंको दूर करना, यह सब वैद्य जानते हैं। (मं. ४)

उत्तम वैद्य।

पंचम मंत्रमें उत्तम वैद्य कैसे बनते हैं इस विषयमें कहा है वह बहुत मनन करने योग्य है।—

यः चकार, सः निष्करत्,
स एव सुभिषक्तमः॥ (मं. ५)

" जो करता रहता है वही निःशेष कार्य करता है और वही सबसे श्रेष्ठ चिकित्सक होता है॥ "

जो कार्य करता रहता है वही आगे जाकर उत्तम प्रवीण बनता है। इस प्रकार अनुभव लेनेवाला ही आगे उत्तमोत्तम वैद्य बन जाता है।

प्रवीणताकी प्राप्ति ।

प्रवीणताकी प्राप्ति करनेका साधन इस मंत्रमें वेदने बताया है । किसी भी बातमें प्रवीणता संपादन करना हो तो उसका उपाय यही है कि—

यः चकार, सः निष्करत । (मं. ५)

" जो सदा कार्य करता रहता है वही परिश्रमी पुरुष उस कार्यको निःशेष करनेकी योग्यता अपनेमें ला सकता है । " हम भी अनुभवमें यही देखते हैं, जो गानविद्यामें परिश्रम करते हैं वे गवइय्या बन जाते हैं, जो चित्रकारीमें दत्तचित्त होकर परिश्रम करते हैं वे कुशल चित्रकार होते हैं; इसी प्रकार अन्यान्य कारीगरीमें प्रवीण बननेकी बात है । एकलव्य नामक एक भील जातीका कुमार था उसकी इच्छा क्षात्रविद्या प्राप्त करनेकी थी, कौरव पाण्डवोंकी पाठशालामें उसको विद्या सिखाई नहीं गई, परंतु उसने प्रतिदिन अविश्रांत रीतिसे अभ्यास करके स्वयंही अपने दृढ निश्चय पूर्वक किये हुए परिश्रमसे ही क्षात्र विद्या प्राप्त की । यह बात भी इस नियमके अनुकूल ही सिद्धि हुई है । यह कथा महाभारतमें आदिपर्वमें पाठक देख सकते हैं ।

इसी नियमका जो उत्तम पालन करेंगे वेही हरएक विद्यामें प्रवीण बन सकते हैं । यहां चिकित्साका विषय है इसलिये इसकी प्रवीणता भी इसीमें कार्य करनेसे ही प्राप्त होती है । बहुत अनुभवसे ज्ञानी बना हुआ वैद्यही विशेष श्रेष्ठ समझा जाता है, अल्प अनुभवी वैद्य उतना श्रेष्ठ समझा नहीं जाता, इसका कारण भी यही है ।

कर्म करनेसे ही सबको श्रेष्ठ अवस्था प्राप्त होती है यह नियम सर्वत्र एकसा लगता है।

इस सूक्तके चतुर्थ मंत्रमें " ब्रह्माणः " पद है । यह ब्राह्मणोंका वाचक है । इससे पता लगता है कि चिकित्साका यह व्यवसाय ब्राह्मणोंके व्यवसायोंमें संमिलित है । वेदमें अन्यत्र "विप्रः स उच्यते भिषक् (वा०यजु० अ० १२।८०)" कहा है, इसमें भी ' वह विप्र वैद्य कहलाता है' यह भाव है । यहांके "विप्र" शब्दके साथ इस मंत्रके "ब्राह्मणः" शब्दकी संगति लगानेसे स्पष्ट हो जाता है, कि ब्राह्मणोंके व्यवसायोंमें वैद्यक्रिया संमिलित है । आंगिरसोंके वैद्य विद्यामें प्रवीणताके चमत्कार प्रसिद्ध ही हैं । इन सबको देखनेसे इस विषयमें संदेह नहीं हो सकता ।

यह सूक्त "तक्म नाशन गण" का सूक्त है । इस लिये रोगनिवारक अन्य सूक्तोंके साथ इसका अध्ययन पाठक करें ।

दुर्गतिसे बचनेका उपाय।

[१०]

[ऋषिः— भृगुः अङ्गिराः । देवता— निर्ऋतिः, द्यावापृथिवी, नानादेवताः]

क्षेत्रियात्त्वा निर्ऋत्या जामिशंसाद् द्रुहो मुञ्चामि वरुणस्य पाशात् ।
अनागसं ब्रह्मणा त्वा कृणोमि शिवे ते द्यावापृथिवी उभे स्ताम् ॥ १ ॥
शं ते अग्निः सहाद्भिरस्तु शं सोमः सहौषधीभिः ।
एवाहं त्वां क्षेत्रियान्निर्ऋत्या जामिशंसाद् द्रुहो मुञ्चा० ।० ॥ २ ॥
शं ते वातो अन्तरिक्षे वयो धाच्छं ते भवन्तु प्रदिशश्चतस्रः । एवाहं० ।० ॥ ३ ॥
इमा या देवीः प्रदिशश्चतस्रो वातपत्नीरभि सूर्यो विचष्टे । एवाहं० ।० ॥ ४ ॥
तासु त्वान्तर्जरस्या दधामि प्र यक्ष्म एतु निर्ऋतिः पराचैः । एवाहं० ।० ॥ ५ ॥
अमुक्था यक्ष्माद् दुरितादवद्याद् द्रुहः पाशाद्ग्राह्याश्चोदमुक्थाः । एवाहं० ।० ॥ ६ ॥
अहा अरातिमविदः स्योनमप्यभूर्भद्रे सुकृतस्य लोके । एवाहं० ।० ॥ ७ ॥
सूर्यमृतं तमसो ग्राह्या अधि देवा मुञ्चन्तो असृजन्निरेणसः ।
एवाहं त्वां क्षेत्रियान्निर्ऋत्या जामिशंसाद् द्रुहो मुञ्चामि वरुणस्य पाशात् ।
अनागसं ब्रह्मणा त्वा कृणोमि शिवे ते द्यावापृथिवी उभे स्ताम् ॥ ८ ॥

अर्थ— (त्वा) तुझको (क्षेत्रियात्) आनुवंशिक रोगसे, (निर्ऋत्याः) कष्टोंसे, (जामि—शंसात) संबंधियोंके कारण उत्पन्न होनेवाले कष्टोंसे, (द्रुहः) द्रोहसे, (वरुणस्य पाशात मुंचामि) वरुणके पाशसे छुडाता हूं। (त्वा ब्रह्मणा अनागसं कृणोमि) तुझे ज्ञानसे निर्दोष करता हूं, (उभे द्यावा—पृथिवी ते शिवे स्ताम्) दोनों द्युलोक और पृथ्वी लोक तेरे लिये कल्याणकारी हों ॥ १ ॥ (ते अद्भिः सह अग्निः शं अस्तु) तेरे लिये सब जलोंके साथ अग्नि कल्याणकारी हो। तथा (ओषधीभिः सह सोमः शं) औषधियोंके साथ सोम तेरे लिये सुखदायी हो, (एव अहं त्वां क्षेत्रियात्

...... मुञ्चामि) इस प्रकार ही मैं तुझको क्षेत्रिय रोगसे ...... छुडाता हूं।०॥२॥(अंतरिक्षे वातः) अंतरिक्षमें संचार करनेवाला वायु (ते वयः शं धात) तेरेलिये बलयुक्त कल्याण देवे। तथा (चतस्रः प्रदिशः ते शं भवन्तु) चारों दिशायें तेरे लिये कल्याणकारी हों। (एव अहं ० ....) इस प्रकार मैं तुझको...... बचाता हूं।०॥३॥ (इमाः या देवीः चतस्रः प्रदिशः) ये दिव्य चारों उपदिशाएं जो (वात-पत्नीः) वायुकी रक्षा करती हैं, वे तथा (सूर्यः अभिविचष्टे) जो सूर्य चारों ओर देखता है वह तुझको कल्याण कारी होवे (एव अहं ० ...) इस रीतिसे मैं...... बचाता हूं।०॥४॥ (तासु त्वा) उनमें तुझको (जरसि अन्तः आदधामि) मैं वृद्धावस्थाके अंदर धारण करता हूं। तेरे पास से (यक्ष्मः निर्ऋतिः पराचैः प्र एतु) क्षयरोग तथा सब कष्ट नीचे मुंह करके दूर चले जांय (एव अहं....) इस प्रकार मैं.... तुम्हें बचाता हूं।०॥५॥(यक्ष्मात्) क्षय रोगसे, (दुरितात) पापसे, (अवद्यात्) निंदनीय कर्मसे, (द्रुहः पाशात्) द्रोहके बंधनसे (ग्राह्याः) जकडने वाले संधिरोगसे तू (अमुक्थाः) मुक्त हुआ है, (उत् अमुक्थाः) तू छूट चुका है। (एव अहं......) ऐसे ही मैं......तुम्हें छुडाता हूं।० ६॥ (अ-रातिं अहाः) कृपणताको तूने छोडा है, (स्योनं अविदः) सुखको तूने पाया है। (अपि सुकृतस्य भद्रे लोके अभूः) और भी पुण्य कारक आनंददायी लोकमें तू आया है। (एव अहं....) ऐसे ही मैं...... तुम्हें बचाता हूं।० ॥७॥ (देवाः) देवोंने (तमसः ग्राह्याः) अंधकारकी पकडसे तथा (एनसः अधि मुञ्चन्तः) पापसे मुक्त करते हुए (ऋतं सूर्यं निः असृजन्) सत्य स्वरूपी सूर्यको प्रकट किया है, (एव अहं ....) इसी प्रकार मैं....... तुम्हें बचाता हूं।०॥८॥

भावार्थ- आनुवंशिक रोग, आपत्ति, कष्ट, फैलनेवाले रोग, द्रोहसे होने वाले कष्ट, ईश्वरीय नियम तोडनेसे होने वाले बंधन आदि सब दुर्गतियोंसे निर्दोष होकर पवित्र बननेका एकमात्र उपाय ज्ञान ही है, दूसरा उपाय नहीं है॥१॥ इस ज्ञान से ही द्युलोक,अंतरिक्षलोक और पृथ्वी लोक के अंतर्गत संपूर्ण पदार्थ अर्थात जल, अग्नि, औषधियां, सोम, वायु, सब दिशाओंमें रहने वाले सब पदार्थ, सूर्य आदि सब देव हितकारक और सुखवर्धक होते हैं, आरोग्य बढाकर व्याधियोंसे होनेवाले कष्टोंको दूर करते हैं॥ २-४॥

इसी ज्ञानसे मैं तुम्हें वृद्धावस्थाकी पूर्ण दीर्घ आयुतक ले जाता हूं। इसी ज्ञानसे तेरे पाससे सब रोग दूर भाग जांयगे ॥ ५ ॥ क्षयरोग, पाप, निंद्यकर्म, द्रोहके पाश, संधि वात आदि सब आपत्तियोंसे तू इसी ज्ञानसे मुक्त हो सकता है और मैं भी इसी ज्ञानसे तुम्हें छुडाता हूं ॥ ६ ॥ इस ज्ञानसे ही तू अपने अंदरकी कृपणता छोड और सुकृतसे प्राप्त होनेवाले सुखपूर्ण भद्रलोक को प्राप्त कर। मैं भी इस ज्ञानसे ही तुम्हें आपत्तिसे बचाता हूं ॥ ७ ॥ ॥ जिस प्रकार सूर्य अंधकारको हटाकर स्वयं अपना उदय करता है, इसी रीतिसे चन्द्रादि अन्य देव भी घन अंधकारकी पकडको दूर करते हुए स्वयं अपने उदयसे प्रकाशित होते हैं, इसी तरह स्वयं अपने पुरुषार्थसे अपने पाश दूर करके ज्ञानकी सहायतासे अपना उद्धार कर क्योंकि यही एक उन्नतिका सबसे मुख्य साधन है ॥ ८ ॥

दुर्गतिका स्वरूप।

इस सूक्तमें दुर्गतिका वर्णन विस्तारसे किया है और उससे बचनेका निश्चित उपाय भी संक्षपसे परंतु विशेष जोर देकर कहा है। अनेक आपत्तियोंसे अपना बचाव करने और अपना अभ्युदय करनेका निश्चित उपाय थोडे शब्दोंमें कहनेके कारण यह सूक्त बडा महत्त्व पूर्ण सूक्त है। और यह हर एक को विशेष मनन करने योग्य है। इस सूक्तमें जो दुर्गतिका वर्णन किया है वह सबसे पहिले देखिये —

१ क्षेत्रियः — मातापितासे प्राप्त होने वाले रोग, अशक्तता, अवयवोंकी कमजोरी आदि आपत्तियाँ। ये जन्मसे ही खूनके साथ ही शरीरमें आती हैं। (मं० १)

२ निर्ऋतिः — सडावट, विनाश, अधोगति, आपसकी फूट, सत्यनियमोंका पालन न होना, दुरवस्था, विरुद्ध परिस्थिति, शाप, गाली, हीन विचार आदिके कारण होनेवाली हीन स्थिति। (मं १)

३ जामिशंसः — इसमें दो शब्द हैं, जामि+शंस। इनके अर्थ ये हैं "जामि"= वंश, नाता, संबंध। जल। अंगुली। सन्मान्य स्त्री। पुत्री, बहिन, बहु। ये जामि शब्दके अर्थ कोशोंमें दिये हैं। अब "शंस" शब्दके अर्थ देखिये प्रशंसा, प्रार्थना, पाठ, सदिच्छा, शाप, कष्ट, आपत्ति, कलंक, लांछन, अपकीर्ति, इन दोनों अर्थोंका मेल करनेसे "जामिशंस" का अर्थ निम्न लिखित प्रकार बन सकता है "नातेके कारण आनेवाली आपत्ति या दुष्कीर्ति, स्त्रीविषयसे होने वाला लांछन या कलंक" इत्यादि। इसी प्रकार अन्यान्य अर्थ भी पाठक

विचार करके देख सकते हैं परंतु अर्थोंमें आपत्ति या कष्ट का संबंध अवश्य चाहिये, क्योंकि निर्ऋति द्रोह आदिके गणमें यह " जामिशंस " शब्द आया है, इसलिये इसका आपत्ति दर्शक अर्थही यहां अपेक्षित है। (मं. १)

४ द्रुहः = द्रोह, घात पात, विश्वास देकर घात करना। (मं० १)

५ वरुणस्य पाशः = वरुण नाम श्रेष्ठ परमेश्वरका है। सबसे जो "वर" है उसको वरुण कहते हैं। उस जगदीशके पाश सब जगत्में फैले हैं और उनसे कुकर्मी पुरुष बांधेजाते हैं। जगत्में उस परमात्माकी ऐसी व्यवस्था है, कि बुरे कर्म स्वयं पाश रूप होकर दुराचारीको बांध देते हैं और उनसे बंधा हुआ वह मनुष्य आपत्तिमें पडता है। (मं. १)

६ यक्ष्मः= क्षय रोग, क्षीण करनेवाला रोग। (मं०५)

७ दुरितं =(दुः+इत) जो दुष्टता अंदर घुसी होती है। मन बुद्धि इंद्रिय और शरीरमें जो विजातीय दुष्ट भाव या पदार्थ घुसे होते हैं जिनसे उक्त स्थानोंमें बिगाड हो कर कष्ट होते हैं उन का नाम दुरित है। यही पाप है। (मं० ६)

८ अवद्यं = निंदा करने योग्य। जिनसे अधोगति होती है आपत्ति आती है, और कष्ट होते हैं उनका यह नाम है। (मं० ६)

९ ग्राही = जो जकड कर रखता है, छोडता नहीं, जिससे मुक्त होना कठीन है। शरीरमें संधिवात आदि रोग जो जोडों को जकड रखते हैं। मनमें विषयवासना आदि और बुद्धिमें आत्मिक निर्बलता आदि हैं। (मं० ६)

१० अराति = (अ+रातिः) अनुदारता, कृपणता, कंजूशी। (मं०७)

११ तमः = अज्ञान, अधंकार, आलस्य। (मं० ८)

ये शब्द मनुष्यकी दुर्गतिका स्वरूप बता रहे हैं। इन शब्दोंका शारीरिक, इंद्रियविषयक, मानसिक, बौद्धिक और आत्मिक अवनतिके साथ संबंध यदि पाठक विचार पूर्वक देखेंगे तो उनको पता लग जायगा कि इस दुर्गति का कितना बडा कार्य इस मानव समाजमें हो रहा है और इस अधोगतिसे बचनेके लिये कितनी दृढताके साथ कमर कसके तथा दक्षतासे कार्य करना चाहिये। मनुष्योंके मन बुद्धि चित्त अहंकार इंद्रियगण तथा शारीरिक व्यवहारमें इस दुर्गतिके नाना रूपों का संचार देख कर विचारी मनुष्यका मन चक्कर में आता है और वह अपने कर्तव्यके विषयमें मोहित सा हो जाता है, उसको इस दुर्गतिके साम्राज्यसे बचनेका उपाय नहीं सूझता, ऐसी अवस्थामें यह

सूक्त उस मूढ बने मनुष्यसे कहता है कि "हे मनुष्य! क्यों मूढ बना है, मैं इस मार्गसे तुम्हें बचाता हूं और तुम्हें निर्दोष अर्थात् पवित्र भी बनाता हूं।" (मं. १)

एकमात्र उपाय।

आपत्तियां अनंत हैं। यद्यपि पूर्वोक्त ग्यारह शब्दों द्वारा इस सूक्तमें आपत्तियोंका वर्णन किया गया है तथापि ग्यारह शब्दों द्वारा, मानो, अनन्त आपत्तियोंका वर्णन होचुका है। इन अनन्त क्लेशोंसे बचनेका एकमात्र उपाय है और वह इस सूक्त के हर एक मंत्रने " ब्रह्म " शब्दसे बताया है। प्रत्येक मंत्रमें—

मुञ्चामि त्वा ब्रह्मणा अनागसं कृणोमि।

" ... तुम्हें छुडाता हूं ....और तुम्हें ज्ञानसे निर्दोष करता हूं। " यह वाक्य पुनः पुनः कहा है। वारंवार कहनेके कारण इस बातपर विशेष बल दिया है यह स्वयं स्पष्ट है। दुर्गतिसे मनुष्यका बचाव करने वाला एक मात्र उपाय " ब्रह्म " अर्थात् " सत्य ज्ञान " ही है। ज्ञानसे ही मनुष्य बच सकता है और अज्ञानसे गिरता जाता है। जो उन्नति, जो प्रगति, जो बंधनसे मुक्ति होनी है वह ज्ञान से ही होनी है। परम पुरुषार्थ द्वारा अपना उत्कर्ष साधन करना भी ज्ञानसे ही साध्य हो सकता है। ज्ञानहीन मनुष्य किसी भी प्रकार उन्नति नहीं कर सकता।

ज्ञानका फल।

ज्ञानसे क्या क्या हो सकता है इसका वर्णन करना कठिन है, क्यों कि ज्ञानसे ही सब कुछ उन्नति होती है। कोई उच्च ध्येय ऐसा नहीं है कि जो विना ज्ञानके सिद्ध हो सकता है। तथापि इस सूक्त में ज्ञानसे जो कुछ सिद्ध किया जा सकता है उसका संक्षेपसे वर्णन किया है। अब इसी बातका विचार करेंगे। सत्यज्ञानका पहिला फल यह है—

(१) उभे द्यावापृथिवी ते शिवे स्ताम्। (मं० १)

" द्युलोक और पृथ्वी लोक ये तेरे लिये कल्याण कारी शुभ हों " अर्थात् जो सत्यज्ञानसे युक्त है उसके लिये पृथ्वीसे लेकर द्युलोक पर्यंत के सब पदार्थ शुभकारी होंगे। पृथ्वीसे लेकर द्युलोक पर्यंत के सम्पूर्ण पदार्थ अपने लिये कल्याणकारी बनाने की विद्या अकेले ज्ञानी मनुष्यको ही साध्य होती है। पाठक विचार करेंगे तो उनको पता लग जायगा, कि यह बडी भारी प्रबलशक्ति है कि जो ज्ञानीको प्राप्त होती है। तृणसे लेकर सूर्य पर्यंत के सब पदार्थ उसके वशवर्ती होकर उसका हित करने में तत्पर

रहते हैं। यह अद्भुत सामर्थ्य ज्ञानीही प्राप्त करता है।

(२) अद्भिः सह अग्निः शम्॥ (मं० २)

" जलोंके साथ अग्नि कल्याण कारी होता है।" ज्ञानी मनुष्य ही जलसे तथा अग्नि से—दोनोंके संयोग से या वियोगसे—अपना लाभ कर सकता है, जनताका भला कर सकता है।

(३) ओषधीभिः सह सोमः शम्॥ (मं० २)

" औषधियोंके साथ सोम सुखकारी होता है।" सोम एक बडी भारी प्रभावशाली औषधि है, यह वनस्पति सब औषधियोंका राजा कहलाती है। सोम और औषधियों से प्राणिमात्र का हित साधन करनेका ज्ञान वैद्यशास्त्र में कहा है। नानाप्रकार के रोग दूर करनेके विविध औषधियोग उस शास्त्र में कहे हैं और यह विद्या आजकल प्रचलित भी है। इस लिये इस विषयमें अधिक लिखनेकी आवश्यकता नहीं है। पूर्वोक्त कष्टोंमें जो रोगविषयक कष्ट होते हैं, वे सब इस विद्यासे दूर होते हैं। जलचिकित्सा और अग्निचिकित्सा भी इसी में संमिलित है।

(३) अन्तरिक्षे वातः वयः शं धात्। (मं०३)

" अंतरिक्षमें संचार करनेवाला वायु आरोग्य पूर्ण सुख देनेवाला होता है।" विद्या-सेही वायु लाभकारी होसकता है। योगसाधनका प्राणायाम इस विद्याका द्योतक है। प्राणायाम करनेवाले योगी वायुसे अत्यधिक बल प्राप्त करते हैं और दीर्घजीवी होते हैं। आरोग्य शास्त्रके सब नियम इस ज्ञान में संमिलित हैं। वायुशुद्धि द्वारा आरोग्य साधन करने का विषय इस में आता है। रोगनिवारक तथा रोग प्रतिबंधक होम हवन यज्ञ याग इस विद्याके प्रकाशक हैं।

(४) देवीः चतस्रः प्रदिशः वातपत्नीः ते शम्। (मं० ३, ४)

" दिव्य चारों दिशाएं, जिनमें वायुका पालन होता है, तेरे, लिये सुख कारक होंगे।" चार दिशाएं और चार उपदिशायें अर्थात् उनके अंदर रहने वाले सब पदार्थ ज्ञानसे ही मनुष्यके लिये लाभकारी होते हैं। इसका भाव पूर्ववत् ही समझना योग्य है।

(५) सूर्यः अभिविचष्टे। (मं० ४)

" सूर्य जो चारों ओर प्रकाशता है" वह भी ज्ञानसे तेरे लिये अनुकूल हो सकता है। सूर्य प्रकाशसे मनुष्य मात्रको अनंत लाभ होते हैं। इस विद्याको जो जानते हैं वे इससे अपना लाभ कर सकते हैं।

(६) त्वा जरसि अन्तः आदधामि। (मं० ५)

*

" तुझे अतिवृद्ध आयुके अंदर धारण करता हूं। " अर्थात् ज्ञानसे तेरी आयु अति दीर्घ हो सकती है। ज्ञानसे जीवनके सुनियम ज्ञात होते हैं और उनके पालनसे मनुष्य दीर्घायु हो जाता है।

(७) यक्ष्मः निर्ऋतिः पराचैः एतु। (मं० ५)

" यक्ष्मा आदि रोग तथा अन्यान्य आपत्तियां ज्ञानसे दूर होंगी। " ज्ञानसे आरोग्य संपादन के सत्य नियम ज्ञात होते हैं और उनके पालन से मनुष्य नीरोग होकर सुखी होता है।

(८) यक्ष्मात, दुरितात्, अवद्यात्, द्रुहः, पाशात्, ग्राह्याः च अमुक्थाः, उदमुक्थाः। (मं० ६)

" ज्ञानसे यक्ष्म, रोग, पाप, निंद्य कर्म, द्रोह, बंधन, जकडना आदिसे मुक्ति होती है। " अर्थात् इनके कष्ट दूर होते हैं। यह बात पाठकोंके ध्यानमें पूर्ववत् आजायगी।

(९) स्योनं अविदः (मं० ७)

"सुख प्राप्त होगा" ज्ञानसे ही उत्तम और सत्य सुख प्राप्त होगा। पृथ्वीसे लेकर द्युलोक पर्यन्तके संपूर्ण पदार्थ ज्ञानसे वशवर्ती होते हैं और उस कारण सुख प्राप्त होता है। यह मानवी अभ्युदय की परम सीमा है। इसीको कहते हैं—

(१०) सुकृतस्य भद्रे लोके अभूः। (मं० ७)

" सुकृतके कल्याण पूर्ण स्थानमें निवास होगा। " ज्ञान से ही सुकृत किये जायगे और उन सुकृतोंके कारण मनुष्यकी उत्तम गति होगी, उसको श्रेष्ठसे श्रेष्ठ अवस्था प्राप्त होगी। ज्ञानसे ही सब जनताकी इतनी उन्नति होगी कि यही भूलोक स्वर्गधाम बन जायगा। सत्य ज्ञानके प्रचारसे इतना लाभ है इस लिये हरएक वैदिकधर्मी आर्यको सत्यज्ञान प्राप्त करके उसका प्रचार करना चाहिये।

सत्य ज्ञानके ये दस फल इस सूक्तमें कहे हैं। सब उन्नतिका यह मुख्य साधन है। इसके विना अन्य साधन रहे तौ भी उनसे कोई लाभ नहीं होगा। इस लिये पाठक ज्ञानको उन्नति का मुख्य साधन मानकर ज्ञानार्जन और ज्ञानदान के विषयमें परिश्रम करें। अब इस सूक्तमें जो उन्नतिका मार्ग बताया है वह यहां देखिये—

उन्नतिका मार्ग।

अष्टम मंत्रमें एक विलक्षण अपूर्व अलंकार के द्वारा उन्नतिका मार्ग दर्शाया है वह भी यहां अब देखना चाहिये—

तमसो ग्राह्या अधिमुञ्चतः देवाः ऋतं सूर्यं
एनसः असृजन् ॥ (मं० ८)

" जिस प्रकार अंधकारकी पकडसे छुडाते हुए सब देव स्वयं उठनेवाले सूर्यको अधोअवस्थासे ऊपर प्रकट करते हैं ।"

अलंकार की भाषा ।

इस अष्टम मंत्रमें एक अलंकार है । सूर्य और अन्य देवोंका अन्योक्ति अलंकार से रूपक बनाकर यहां वर्णन किया है । वेदमें सूर्य और चन्द्र विषयक कई रूपक आते हैं उनमें यह विशेष महत्त्व का रूपक है । यह रूपक इस प्रकार देखना चाहिये-

"चन्द्र रूपी पुत्रका पालन रात्री नाम्नी माता करती है और सूर्य रूपी बालक का पालन दिनप्रभा नाम्नी माता करती है । प्रारंभमें सूर्य अंधेरेमें दबा रहता है, उसी प्रकार चंद्रभी गाढ अंधकार में दबा रहता है । मानो इसको मार्ग दिखानेका कार्य अन्य देव अर्थात् सब नक्षत्र, द्युपिता, वायु, आदि संपूर्ण देवताएं करती हैं । सूर्य स्वयं ऊपर उठनेका यत्न करता ही रहता है, अंतमें वह ऊपर आता है, उदय को प्राप्त होता है, प्रतिक्षण अधिकाधिक चमकने लगता है और मध्यान्हमें ऐसा चमकता है कि उस समय उसके अप्रतिम तेजको कोई सहन कर नहीं सकता । इसी प्रकार चन्द्रभी अपनी क्षयी अवस्थासे प्रगति करता हुआ पूर्णिमामें अपना पूर्ण विकास करता है ।"

अपने प्रयत्नसे उन्नति करनेवाले की इस ढंगसे उन्नति होती है, यह दर्शाना इस रूपक का प्रयोजन है । जो स्वयं यत्न नहीं करेंगे उनकी उन्नति होना कठिन है । दूसरोंकी सहायता भी तब तक सहायक नहीं होती जब तक कि अपना प्रयत्न उसमें संमिलित नहीं होता । यह उन्नतिका मूल मंत्र है ।

स्वकीय प्रयत्न ।

इस मंत्रमें "ऋतं सूर्यं देवाः तमसः मुञ्चतः" अर्थात् "स्वयं चलनेवाले सूर्य को ही देव अंधकारसे छुडा सकते हैं" ऐसा कहा है। यदि सूर्यमें स्वयं अपना प्रयत्न न होता तो वे उसको अंधकारसे मुक्त कर नहीं सकते । इसी प्रकार मनुष्यभी जो स्वयं अपने उद्धारका यत्न रातादिन करता रहता है, उसीको अन्य गुरु जन सहाय्यकारी होते हैं।

इस दृष्टिसे विचार करनेपर पता लगसकता है कि इस मंत्रमें " ऋत " शब्द बहुत महत्त्वका भाव बता रहा है, देखिये इसका आशय । ऋत = "योग्य, ठीक, सत्य, हल-चल करनेवाला, गतिमान्, प्रत्यत्नशील, यज्ञ, सत्य नियम, ईश्वरीय नियम, मुक्ति, बंधननिवृत्ति, कर्मफल, अढळ विश्वास, दिव्य सत्यनियम ।"

जो (ऋतं) सत्य नियम पालन करता है, वही अंधकारके परे जा सकता है और जो स्वयं प्रयत्न करता है उसीको दूसरे सहायता कर सकते हैं। सूर्य स्वयं प्रकाशमान है, उदय होना चाहता है, नियम पूर्वक प्रयत्नशील है; इस लिये उदयको प्राप्त होकर ऐसा तेजस्वी बनता है, कि सब अन्य तेज उसके सामने फीके हो जाते हैं। जो मनुष्य ऐसा प्रयत्न करेगा वह भी वैसाही प्रभावशाली बनेगा।

वायु जल नक्षत्र आदि जगत्के देव, विद्वान शूर आदि मानवोंके अंदरके देव, तथा इंद्रियगण ये शरीर स्थानीय देव उसी पुरुष की सहायता करते हैं कि जो स्वयं सत्य-नियम पालनमें सदा दक्ष रहता है और स्वयं अपने पुरुषार्थसे अपनी उन्नति करनेका प्रयत्न करता रहता है। पापसे मुक्त होकर निर्दोष बनना, पारतंत्र्यके बंधसे मुक्त होकर स्वयं शासित होना, रोगमुक्त होकर नीरोग होना, अपमृत्युके बंधनसे छूटकर दीर्घायु होना, आदि सबके लिये स्वयं "ऋत-गामी" होना अत्यंत आवश्यक है। यही ऊपरके मंत्रमें "ऋतं" शब्द द्वारा बताया है। जो ऋत-गामी होता है वही बंधनोंको निवृत्त कर सकता है, पापोंको दूर कर सकता है और सूर्यके समान अपने तेजसे प्रकट हो सकता है। इस प्रकार यह मंत्र अत्यंत महत्त्व पूर्ण उपदेश दे रहा है, इस लिये इस दृष्टिसे पाठक इसका अधिक विचार करें।

प्रार्थना का बल।

वेदमें " ब्रह्म " शब्दका दूसरा अर्थ "स्तोत्र, स्तुति, प्रार्थना" भी है। जो प्रार्थना वाचक वैदिक सूक्त हैं उनके पुरुष व्यत्यय से दूसरे भी अर्थ होते हैं, परन्तु उनका स्तुत्यर्थ या प्रार्थना रूप अर्थ हटाया नहीं जा सकता। " ईश प्रार्थना " से बल प्राप्त करना या अपने बलका विकास करना, प्रार्थनासे आत्मिक बल प्राप्त करना, वैदिक धर्मका प्रधान अंग है। इसी लिये प्रारंभ से अंत तक वेदके सूक्तोंमें सहस्रों सूक्त प्रार्थना के हैं। जो लोग एकान्तमें जाकर दिल खोलकर ईश प्रार्थना करना जानते हैं वेही प्रार्थना का महत्त्व समझ सकते हैं, अन्य लोग उसकी शक्ति नहीं जानसकते। इस लिये यहां कहना इतना ही है कि रोगादि आपत्तियोंकी निवृत्तिके लिये जितना उपयोग औषधादि प्रयोगों का हो सकता है, उससे कई गुणा अधिक लाभ " ईश प्रार्थना " से हो सकता है। यह मानो एक "प्रार्थना-योग" ही है। "औषधि योग" से "प्रार्थना योग" अधिक बलवान है। दुःखकी बात आजकल यही हो रही है कि, लोग प्रार्थना का महत्त्व नहीं समझते और उस से होने वाले लाभसे वंचित ही रहते हैं! यह बडी भारी हानि है।

इस सूक्तमें " ब्रह्म " शब्द विशेष कर स्तोत्र वाचक ही है। ईश गुणवर्णन, ईश गुणगान करते करते जिसका मन प्रभुके गुणोंमें तल्लीन होजाता है वह संपूर्ण अपत्तियोंसे दूर हो जाता है, क्यों कि वह उस समय अद्भुत अमृत रस का आस्वाद लेता हुआ दुःख मुक्त हो जाता है। पाठक इस दृष्टिसे इस बातका विचार करें और अनुभव भी लें।

मनको धीरज देना।

वेदमें " मैं छुडाता हूं " इत्यादि प्रकार कई वाक्य हैं,वे वाक्य "मानस चिकित्सा" या " वाचिक चिकित्सा " के सूचक हैं। अपने अंदरके आरोग्य पूर्ण विचार अपनी मानस शक्तिकी प्रेरणासे अपने शब्दों द्वारा रोगीके निर्बल मनमें प्रविष्ट करनेसे यह चिकित्सा साध्य होती है। इसमें रोगीके निर्बल मनको धीरज देना होता है। इस समय-

१ त्वा क्षेत्रियात्.... मुंचामि। (मं०१)
२ त्वा ब्रह्मणा अनागसं कृणोमि। (मं० १)
३ त्वा जरसि अन्तः आदधामि। (मं० ५)
४ यक्ष्मात् अमुक्थाः (मं० ६)
५ ग्राह्याः उदमुक्थाः। (मं० ६)

ऐसे वाक्य बोलके रोगीको धीरज देना होता है जैसा " —(१) तुझको क्षेत्रिय रोगसे मुक्त करता हूं। (२) तुझे ईश प्रार्थना द्वारा निर्दोष करता हूं। (३) तुझको अति दीर्घ आयुवाला करता हूं। (४) तू अब यक्ष्म रोगसे मुक्त हुआ है। (५) जकडनेवाले रोगसे तू अब पार होगया है "। इत्यादि प्रकारके वाक्योंसे रोगीको धीरज देकर उसके मनका आत्मिक बल बढाकर और उसमें दृढ विश्वास पैदा करके आरोग्य उत्पन्न करना होता है। यह बडा भारी गहन विषय है। जो पाठक ईश प्रार्थना का बल जानते हैं, वेही इस बातको समझ सकते हैं।

परमेश्वर पर जो दृढ विश्वास रखते हैं, उसकी उपासना करते हैं, उसकी भक्ति करने में जिनको प्रेम आता है, उनके पास बीमारियां कम आती हैं। पाठक देखेंगे तो उनको पता लग जायगा कि परमेश्वर के विश्वासी प्रायः आनंद में मस्त रहते हैं और अविश्वासी ही रोगी होते हैं।

पाठक यह विश्वास का बल अपने में बढावें और अपना अत्यधिक लाभ करें।

यह सूक्त भी तक्मनाशन गण का है और वह इस गणके अन्य सूक्तों के साथ पढना योग्य है।

आत्माके गुण।

[११]

[ऋषिः — शुक्रः । देवता — कृत्यादूषणम्]

दूष्या दूषिरसि हेत्या हेतिरसि मेन्या मेनिरसि ।
आप्नुहि श्रेयांसमति समं क्राम ॥ १ ॥
स्रक्त्योऽसि प्रतिसरोऽसि प्रत्यभिचरणोऽसि । आप्नुहि० ॥ २ ॥
प्रति तमभि चर योऽस्मान्द्वेष्टि यं वयं द्विष्मः । आप्नुहि० ॥ ३ ॥
सूरिरसि वर्चोधा असि तनूपानोऽसि । आप्नुहि० ॥ ४ ॥
शुक्रोऽसि भ्राजोऽसि स्वरसि ज्योतिरसि ।
आप्नुहि श्रेयांसमति समं क्राम ॥ ५ ॥

अर्थ— (दूष्याः दूषिः असि) दोष को दूषित करनेवाला अर्थात् दोषका दोषीपन हटानेवाला तू है। (हेत्याः हेतिः असि) हथियारका हथियार तू है। (मेन्याः मेनिः असि) वज्रका वज्र तू है। इसलिये (श्रेयासं आप्नुहि) परम कल्याणको प्राप्तकर और (समं अतिक्राम) अपने समानसे अधिक आगे बढ ॥ १ ॥ (स्रक्त्यः असि) तू गतिशील है, (प्रतिसरः असि) तू आगे बढनेवाला है, (प्रत्यभिचरणः असि) तू दुष्टतापर हमला करनेवाला है। ० ॥ २ ॥ (तं प्रति अभिचर) उसपर चढाईकर कि (यः अस्मान् द्वेष्टि) जो अकेला हम सबका द्वेष करता है तथा (यं वयं द्विष्मः) जिस अकेलेका हम सब द्वेष करते हैं। ०॥ ३ ॥ (सूरिः असि) तू ज्ञानी है, (वर्चोधाः असि) तू तेजका धारण करनेवाला है तथा (तनू-पानः असि) शरीरका रक्षक तूहि है। ० ॥ ४ ॥ (शुक्रः असि) तू वीर्यवान् अथवा शुद्ध है, (भ्राजः असि) तू तेजस्वी है, (स्वः असि) तू आत्मिक शक्ति से युक्त है, (ज्योतिः असि) तू तेज स्वरूपी है इसलिये तू श्रेय प्राप्त कर और समानोंके आगे बढ ॥ ५ ॥

भावार्थ— आत्मा दोषोंका दोष हटानेवाला है, वही शस्त्रोंका महा शस्त्र और अस्त्रोंका महा अस्त्र है० ॥ १ ॥ आत्मा प्रगति करनेवाला है, आगे बढनेका उसका स्वभाव है, और दुष्टनाका दूर करनेवाला है० ॥ २ ॥ जो अकेला दुष्ट सब सज्जनोंको सताता है, और जिस अकेले दुष्टका सब सज्जन विरोध करते हैं, उसको हटा दे० ॥ ३ ॥ तू ज्ञानी है, तेजका धारक है, शरीरका सच्चा रक्षक तूही है० ॥ ४ ॥ तूही बलवान् है, तूही तेज है तथा आत्मिक बलसे युक्त है, तू स्वयं प्रकाशरूप है, इसलिये तू समान लोगोंके आगे बढ और निःश्रेयस अर्थात् मुक्ति प्राप्त कर ॥ ५ ॥

शरीरमें आत्माका कार्य ।

सगुणसाकार शरीरमें निर्गुण निराकार आत्माके गुण प्रत्यक्ष करनेका उपदेश इस सूक्तमें किया है। ये गुण अब देखिये—

(१) दूष्याः दूषिः असि— दोषमय को दोष देनेवाला अर्थात् दोषका दूर करने वाला है। देखिये, अपने शरीरमें ही इस बातका अनुभव लीजिये। अपना शरीर मलपूर्ण होता हुआ भी उसको जीवित रखता है और इसीका नन्दनवन इसने बनाया है। सडनेवाले शरीरको न सडानेवाला, मरनेवाले शरीर को जीवित रखनेवाला, दोषमय शरीरसे निर्दोष आनंदधाम प्राप्त करनेवाला यह आत्मा है। (मं१)

(२) हेत्याः हेतिः,मेन्याः मेनिः असि = शस्त्रोंका शस्त्र और वज्रका वज्र यह आत्मा है। शत्रुका नाश शस्त्र करता है परंतु शस्त्रको चलाने वाला अर्थात् शस्त्र-का भी शस्त्ररूप यह आत्मा शस्त्रके पीछे न होगा, तो शस्त्र कैसे शत्रुका नाश करेगा? इससे आत्माकी प्रेरक शक्तिका महत्त्व ज्ञात हो सकता है। (मं० १)

(३) स्रक्त्यः असि = आत्मा गतिमान है। "अत —सातत्यगमने" (सतत गति करना) इस धातुसे यह आत्मा शब्द बनता है। सतत प्रयत्नशीलताका वह द्योतक है। वही भाव इस शब्दमें हैं। छोटे बालकमें क्या अथवा बडे मनुष्यमें क्या सतत प्रयत्न शीलता है। कोई भी चुपचाप बैठना नहीं चाहता, उद्योगसे अपनी उन्नति करनेकी इच्छा हरएक प्राणीमें स्पष्ट है। (मं० २)

(४) प्रतिसरः असि = आगे बढने वाला, शत्रुपर हमला करके उसको दूर करनेवाला, अपना अभ्युदय करनेवाला है। आत्मा " इन्द्र " है और वह सदा अपने शत्रुका पराभव करता ही है। (मं० २)

(५) प्रत्यभिचरणः असि = दुष्ट शत्रुको पराभूत करने वाला। (यह शब्द भी पूर्व शब्दके समान भाव वाला ही है।) (मं० २)

यहांतक इन दो मंत्रोंके इन पांच शब्दों द्वारा आत्माके उन गुणोंका वर्णन हुआ है कि जिनका बाहरके शत्रुओंसे संबंध है। अब आत्माके आन्तरिक स्वकीय निज गुणोंका वर्णन चतुर्थ और पंचम मंत्रके द्वारा करते हैं—

(६) सूरिः असि = तू ज्ञानी है। आत्मा चित्स्वरूप होनेसे ज्ञानवान है, अत एव उसे यह शब्द प्रयुक्त हुआ है। (मं० ४)

(७) वर्चो-धाः असि = तेज बल ओज आदिका धारण करनेवाला है। शरीर में जब तक आत्मा रहता है तब तक ही इस शरीर में तेज बल ओज आदि रहता है, यह हरएक जान सकते हैं। (मं० ४)

(८) तनू-पानः असि = शरीरका रक्षक है। जबतक आत्माका निवास इस शरीरमें रहता है तब तक ही शरीरकी रक्षा उत्तम प्रकार होती है। जब यह आत्मा इस शरीरसे चले जाता है तब शरीर सडने लगता है। इससे स्पष्ट होता है कि शरीरका सच्चा रक्षक यह आत्मा है। (मं० ४)

(९) शुक्रः असि = वीर्यवान्, बलवान् तथा शुद्ध है। आत्माको ही "शुक्रं" (यजु० ४० । ८ में) कहा है। इस लिये इसका अधिक विवरण करना आवश्यक नहीं है। (मं० ५)

(१०) भ्राजः असि = तेजस्वी है अर्थात् दूसरोंको प्रकाश देनेवाला है। आत्मा ही सबका प्रकाशक है, यह मध्यमें रहता हुआ सबको तेजस्वी बनाता है। (मं० ५)

(११) स्वः असि = आत्मिक बलसे युक्त है (स्व+र्) अपने निज बलसे युक्त है। अर्थात् यह स्वयं प्रकाश है। (मं० ५)

(१२) ज्योतिः असि = स्वयं ज्योति है। प्रकाश स्वरूप है। (मं० ५)

ये सब शब्द आत्माका स्वभाव धर्म बता रहे हैं। मनुष्य स्वयं अपने आपको अत्यंत निर्बल, कमजोर और पूर्ण परावलंबी मानता है और अज्ञानसे वैसा अनुभव भी करता रहता है। इस सूक्तने आत्माके स्वभावगुणधर्म बताये हैं। जिनके विचारसे पाठकोंका निश्चय होगा कि यह आत्मा निर्बल नहीं है। इसमें भी वैसेही प्रभाव शाली गुणधर्म

हैं कि जैसे परमात्मामें हैं । यह आत्मा ज्ञानी, पुरुषार्थी, प्रयत्न शील, स्वयंज्योति, प्रभावशाली, बलवान, तथा शरीर रक्षक है। इस लिये अपने आपको सदा सर्वदा कमजोर मानना और समझना योग्य नहीं। यद्यपि यह छोटा है तथापि इसकी शक्ति विकास की मर्यादा बहुत ही बडी है ।

जिस समय अपने अंदर निर्बलताकी लहर आती है, उस समय यदि पाठक इस सूक्तका मनन करेंगे और इन शब्दोंके भावोंको अपने आत्मामें प्रत्यक्ष देखेंगे, तो उनके मनकी कमजोरी दूर हो जायगी और वे इस सूक्तके बलसे निःसंदेह ही अभ्युदय निःश्रेयस प्राप्त करने योग्य बलवान बन जांयगे। आत्मशक्तिका वर्णन करने वाले जो अनेक सूक्त हैं उनमें यह विशेष महत्त्वका सूक्त है। यह अत्यंत सरल और बडा भावपूर्ण होने से बहुत मनन करने योग्य है । यह सूक्त निर्बलोंको भी बलवान् बना सकता है ।

चतुर्थ मंत्रमें कहा है कि " उस शत्रुको दूर कर, जो अनेकों को सताता है । " इस मंत्रमें यह बात विचार करने योग्य है, कि शत्रुता करने वाला एक है, सताने वाला एक है और सताये जाने वाले अनेक हैं। अल्प संख्या वालों के द्वारा बहु संख्या वालों को कष्ट होनेकी कल्पना इसमें है । ऐसे प्रसंगमें शत्रुको दूर करना ही योग्य है । जो दुर्जन अनेक सज्जनों को सताता है वह निःसंदेह दण्डनीय है ।

श्रेयःप्राप्ति ।

इस सूक्तके प्रत्येक मंत्रका द्वितीय चरण एकसा ही है । वह यह है—

आप्नुहि श्रेयांसं सम अतिक्राम ॥ (मं. १-५)

" समान लोगोंके आगे बढ और परम कल्याण प्राप्त कर " यह इस वाक्य का सार है । "श्रेय प्राप्त कर" यह तो वैदिक धर्म का ध्येय है, मुक्ति, मोक्ष, निर्वाण, श्रेय, निःश्रेयस आदि शब्द एक ही भाव बता रहे हैं । वैदिक धर्मने यही ध्येय सबके सामने रखा है । इस ध्येय की सिद्धि प्राप्त करनेके लिये ही इस सूक्तने आत्माके गुण उपासकोंको निवेदन किये हैं । इन गुणोंका मनन करता हुआ आत्मा उन्नतिके पथसे आगे बढता हुआ निःश्रेयस तक पहुंच जाय । इसका मार्ग यह है—

उन्नतिका मार्ग ।

इसकी उन्नतिका मार्ग एक ही वाक्यसे बताया है वह चिरस्मरणीय वाक्य यह है-

समं अतिक्राम। (मं १-५)

" अपने समान योग्यता वाले लोगोंके आगे बढ। " यह मार्ग है । जब यह प्रथम श्रेणीमें पढता हो तो यह विचार मनमें रखे कि प्रथम श्रेणीमें रहनेवालोंके आगे बढूँ, जब द्वितीय श्रेणीमें पहुंचे तब यही विचार मनमें धारण करे कि मैं द्वितीय श्रेणीवालोंके आगे बढूँ। इस प्रकार अपनी श्रेणीवालोंसे आगे बढता हुआ यह अपनी उन्नतिका साधन करे।

अपनी उन्नतिका तो साधन हर एक को करना ही है, परंतु उस उन्नतिके साधन के लिये अपनी श्रेणीवालोंसे आगे बढनेका ध्येय सामने रखना ही उचित है। प्रथम श्रेणीमें पढनेवाला प्रथम श्रेणीवालोंसे आगे बढनेकी महत्त्वाकांक्षा मन में रखे, परंतु उस समय दशम श्रेणीसे आगे बढनेके विचार से अपना प्रथम श्रेणीका कर्तव्य न भूले । प्रायः लोग असंभव ध्येय सामने रखकर अपने कर्त्तव्यसे वंचित रहते हैं । ऐसा कोई न करे, इस उद्देश्यसे यह मंत्र कह रहा है, कि अंतिम साध्य जो भी हो, उसका विचार न करते हुए, इस समय तुम जिस श्रेणीमें हो उस श्रेणीमें प्रथम स्थानमें स्थित रह कर, उस समय के अपने कर्तव्य परम दक्षतासे करो । इस प्रकार करते रहनेसे सबकी यथायोग्य उन्नति होती रहेगी और यथा समय सबही उन्नतिके परम सोपानपर पहुंच जायंगे ।

परंतु अपनी श्रेणीसे भिन्न श्रेणीवालोंसे स्पर्धा करते रहनेसे मनुष्यको सिद्धि मिलना कठिन होगा इतनाही नहीं परंतु अवनति होना ही अधिक संभव है । यदि छोटासा कुमार अपनी आयुवाले अन्य कुमारोंसे मल्लयुद्ध न करता हुआ यदि बडे पहिलवानोंसे मल्लयुद्ध करनेका साहस करेगा, तो न तो उसमें उसको सिद्धि मिल सकती है और नाही उसकी उन्नति हो सकती है । परंतु क्रमपूर्वक अपनी श्रेणीवालोंसे कुश्ती करता हुआ वह स्वयं आगे जाकर बडा मल्ल हो सकता है; इसी प्रकार अन्यान्य अभ्युदयोंके विषयमें समझना चाहिये । मुक्तिके पथके विषयमें भी यही मार्ग अधिक सुरक्षित है ।

पाठक इसका अधिक विचार करें । हमारे विचार में यह उन्नतिके मार्गका उपदेश सब के लिये सर्वदा मनन करने योग्य है। अपनी अधोगति न होते हुए क्रमसे निःसंदेह उन्नतिकी प्राप्ति होना इसी मार्गसे साध्य है ।

मनका बल बढाना।

(१२)

[ऋषिः- भरद्वाजः। देवता- द्यावापृथिव्यादिनानादैवतम्।]

द्यावापृथिवी उर्व१न्तरिक्षं क्षेत्रस्य पत्न्युरुगायोऽद्भुतः।
उतान्तरिक्षमुरु वातगोपं त इह तप्यन्तां मयि तप्यमाने ॥ १ ॥
इदं देवाः शृणुत ये यज्ञिया स्थ भरद्वाजो मह्यमुक्थानि शंसति।
पाशे स बद्धो दुरिते नि युज्यतां यो अस्माकं मन इदं हिनस्ति ॥ २ ॥
इदमिन्द्र शृणुहि सोमप यत्त्वा हृदा शोचता जोहवीमि।
वृश्चामि तं कुलिशेनेव वृक्षं यो अस्माकं मन इदं हिनस्ति ॥ ३ ॥
अशीतिभिस्तिसृभिः सामगेभिरादित्येभिर्वसुभिरङ्गिरोभिः।
इष्टापूर्तमवतु नः पितॄणामामुं ददे हरसा दैव्येन ॥ ४ ॥
द्यावापृथिवी अनु मा दीधीथां विश्वे देवासो अनु मा रभध्वम्।
अङ्गिरसः पितरः सोम्यासः पापमार्छत्वपकामस्य कर्ता ॥ ५ ॥
अतीव यो मरुतो मन्यते नो ब्रह्म वा यो निन्दिषत्क्रियमाणम्।
तपूंषि तस्मै वृजिनानि सन्तु ब्रह्मद्विषं द्यौरभिसंतपाति ॥ ६ ॥
सप्त प्राणानष्टौ मन्यस्तांस्ते वृश्चामि ब्रह्मणा।
अया यमस्य सादनमग्निदूतो अरंकृतः ॥ ७ ॥
आ दधामि ते पदं समिद्धे जातवेदसि।
अग्निः शरीरं वेवेष्ट्वसुं वागपि गच्छतु ॥ ८ ॥

अर्थ— (द्यावापृथिवी) द्युलोक और पृथिवी लोक, (उरु अंतरिक्षं) विस्तीर्ण आकाश, (क्षेत्रस्य पत्नी) क्षेत्रका पालन करने वाली वृष्टि (अद्भुतः उरुगायः)अद्भुत और बहुत प्रशंसनीय सूर्य (उत) और (वातगोपं उरु अन्तरिक्षं) वायुको स्थान देनेवाला अन्तरिक्ष आदि सब (मयि तप्यमाने)

मैं तप्त होने पर (इह ते तप्यन्तां)यहां वे सब सन्तप्त होवें ॥ १ ॥हे(देवाः) देवो! (ये यज्ञियाः स्थ) जो तुम सत्कार करने योग्य हो,वे सब (इदं शृणुत) यह सुनो, कि (भरद्वाजः मह्यं उक्थानि शंसति) बल बढाने वाला मुझको उत्तम उपदेश देता है । परंतु (यः अस्माकं इदं मनः हिनस्ति) जो हमारे इस मनको बिगाडता है, (सः दुरिते पाशे बद्धः नियुज्यताम्) वह पापके पाशमें बंधा जाकर नियममें रखा जावे ॥ २ ॥ हे (सोम-प इन्द्र) सोमपान करनेवाले इन्द्र ! (शृणुहि) सुन कि (यत् शोचता हृदा जोहवीमि) जो शोकपूर्ण हृदयसे मैं पुकारता हूं । (यः अस्माकं इदं मनः हिनस्ति) जो हमारा यह मन बिगाडता है, (तं) उसको (वृक्षं कुलिशेन इव) वृक्षको कुठारीसे काटनेके समान (वृश्चामि) काट डालूं ॥ ३ ॥ (तिसृभिः अशीतिभिः सामगेभिः) तीन छंदोंसे अस्सी मंत्रोंद्वारा सामगान करने वालों के साथ तथा (आदित्येभिः वसुभिःअङ्गिरोभिः) आदित्य वसु और अङ्गिरोंके साथ (पितॄणां इष्टापूर्तं नः अवतु) पितरों द्वारा किया हुआ यज्ञयागादि शुभ कर्म हमारी रक्षा करे । मैं (दैव्येन हरसा अमुं आददे) दिव्य क्रोध या बलसे इस को पकडता हूं ॥ ४ ॥ (द्यावापृथिवी मा अनुआदीधीथां) द्युलोक और पृथ्वीलोक मेरे अनुकूल होकर प्रकाशित हों। हे (विश्वेदेवासः) सब देवो ! (मा अनु आ रभध्वं) मेरे अनुकूल होकर कार्यारंभ करो । हे (अङ्गिरसः सोम्यासः पितरः) अंगिरस सोम्य पितरो ! (अपकामस्य कर्ता पापं आ ऋच्छतु) अनिष्ट कार्यका करनेवाला पापको प्राप्त हो । ॥ ५ ॥ हे (मरुतः) मरुतो ! (यः अतीव मन्यते) जो अपने आपको ही बहुत भारी समझता रहे,(यः वा नः क्रियमाणं ब्रह्म निन्दिषत्) अथवा जो हमारे किये जानेवाले ज्ञान की निंदा करे । (वृजिनानि तस्मै तपूंषि तन्तु) सब कार्य उसके लिये तापदायक हो । तथा (द्यौः ब्रह्मद्विषं संतपाति) द्युलोक उस ज्ञानविरोधीको बहुत ताप देवे ॥ ६ ॥ (ते तान् सप्त प्राणान्) तेरे उन सात प्राणों को और (अष्टौ मन्यः) आठ मज्जाग्रंथियों को मैं (ब्रह्मणा वृश्चामि) ज्ञानके शस्त्रसे छेदता हूं या खोलता हूं । तू (अग्निदूतः अरंकृतः यमस्य सादनं अयाः) अग्निका दूत बनकर सिद्ध होकर यमके घरमें जा ॥ ७ ॥ (समिद्धे जातवेदसि) प्रदीप्त अग्निमें (ते पदं आदधामि) तेरा स्थान रखता हूं । (अग्निः शरीरं वेवेष्टु) यह अग्नि शरीर में प्रवेश करे

(वाक् अपि असुं गच्छतु) वाणी भी प्राण को प्राप्त हो ॥ ८ ॥

भावार्थ— द्युलोक, पृथ्वीलोक, अंतरिक्ष लोक तथा इस अवकाश में रहनेवाले सब लोक लोकान्तर मेरे अनुकूल हों अर्थात् मेरे संतप्त होनेसे वे संतप्त हों और मेरे शांत होने पर वेभी शांत हों ॥ १ ॥ हे सत्कार करने योग्य देवो ! सुनो । यह नियम है कि बल बढाने वाला ही दूसरोंको उत्तम उपदेश करता है, परंतु बल घटानेवाला बुरे विचारों की प्रेरणासे मनको दूषित करता है, उस पापीको पकड कर बंधनमें रखना उचित है ॥ २ ॥ हे इन्द्र ! सुन कि जो मनको बिगाडता है उसका नाश करना योग्य है यह बात मैं हृदयके जोशके साथ कहता हूं ॥३॥ जिसमें तीन छन्दों के अस्सी मंत्रों द्वारा सामगान करते हैं, उस यज्ञमें वसु रुद्र आदित्यों के साथ पितरों द्वारा कियाहुआ यज्ञ यागादि शुभ कर्म हमारा रक्षक होवे। उस सत्कर्मसे हमारा मन शुद्ध रहे । जो पापी हमारा मन निर्बल करनेका यत्न करता है उसको मैं दिव्य बलके साथ पकडता हूं ॥ ४ ॥ द्युलोक और भूलोक के अंतर्गत सब वस्तुमात्र मेरे अनुकूल हों, सब अग्न्यादि देव मेरे अनुकूल कार्य करें । हे पितरो ! अनिष्ट कार्य करनेवाला पापी बनकर पतित होवे ॥ ५ ॥ हे मरुतो ! जो घमंडी मनुष्य अपने आपको ही सबसे बडा समझता है, इतना ही नहीं परंतु हम जो ज्ञान संग्रह करते हैं उसकी भी जो निंदा करता है; उसको सब कर्म कष्टप्रद हों, क्यों कि जो सत्यज्ञानका विरोध करता है उसको द्युलोक बहुत ताप देवेगा ॥ ६ ॥ तेरे सातों प्राणोंको और आठों मज्जास्थानों को मैं ज्ञानसे खोलता हूं, तू अग्निदूत बनकर यमके घरमें जा ॥ ७ ॥ इस प्रदीप्त ज्ञानाग्निमें मैं तेरा स्थान रखता हूं । यह अग्नि तेरे अंदर प्रविष्ट होवे और तेरी वाणी भी प्राण को प्राप्त होवे ॥ ८ ॥

मानस शक्तिका विकास ।

मनकी शक्तिसे मनुष्य की योग्यता निश्चित होती है। जिसका मन शुद्ध और पवित्र वह महात्मा होता है और जिसका मन अशुद्ध और मलीन विचारोंवाला वह दुष्ट कहलाता है । इसके पूर्व सूक्तमें आत्माके गुण वर्णन करने द्वारा आत्मिक बल बढानेका उपाय कहा, उसी की पूर्ति करने के लिये इस सूक्तमें मानसिक शक्ति विकास का उपाय बताया है, क्योंकि आत्मिक शक्ति विकास के लिये मानसिक शुद्धताकी भी अत्यंत आवश्यकता है । मन मलिन रहा तो आत्मिक बल बढ ही नहीं सकता ।

मानस शक्ति विकासके साधन।

त्यागभाव।

मानसिक बल बढानेवालेका नाम इस सूक्तमें "भरद्वाज," अर्थात् "भरत् + वाजः" = वाजः + भरत्) बल भरनेवाला कहा है। "वाजः" का अर्थ "घी, अन्न, जल, प्रार्थना, अर्पण, यज्ञ, शक्ति, बल, धन, वेग, गति, युद्ध, शब्द" यह है। इसमें घी, अन्न, जल ये पदार्थ शारीरिक बलकी पुष्टि करनेवाले हैं, परंतु येही शुद्ध सात्विक सेवन किये जांय तो मनको भी सात्विक बनाते हैं। जल प्राणों के बलके साथ संबंधित है। धन आर्थिक बलका द्योतक है। अर्पण, आत्मसमर्पण, यज्ञ जिसमें आत्मसर्वस्वकी आहुति देना प्रधान अंग होता है, ये यज्ञरूप कर्म आत्मिक बल बढाते हैं। युद्ध क्षात्र बल बढाता है। परमेश्वरकी प्रार्थना मानसिक बलकी वृद्धि करती है। वाज शब्दके जितने अर्थ हैं इनकी संगति इस प्रकार है। यहां बल बढाने वाले साधनोंका भी ज्ञान हुआ। पाठक यदि इस बातका विचार करेंगे, तो उनको इससे अपना बल बढानेके उपाय ज्ञात हो सकते हैं। यह बल जो भर देता है, उसका नाम "भरद् - वाजः" होता है। यह भरद्वाज आत्मिक बल बढाने का साधन इस प्रकार सब को कथन करता है—

शुभवचन।

भरद्वाजः मह्यं उक्थानि शंसति ॥ (मं० २)

"बल बढानेवाला मुझे सूक्त कहता है" अर्थात् उत्तम वचन अथवा ईश गुणगानके स्तोत्र कहता है। ये शुभवचन कहनेसे, इनका मनन करनेसे, इनको अपने मनमें स्थिर करने से ही मनकी शक्ति बढ सकती है। परमेश्वर भक्ति, उपासना, सद्भावनाका मनन यही सूक्तशंसन है। इससे मनकी पवित्रता होने द्वारा मानसिक शक्ति विकसित होती है।

ज्ञान।

इस "ज्ञानाग्नि" को ही "जात-वेद अग्नि" कहते हैं, जिससे वेद प्रकट हुआ है वही अग्नि जातवेद है। जिससे ज्ञान प्रकाशित हुआ है वही यह अग्नि है। इसीको ज्ञानाग्नि, ब्रह्माग्नि, आत्माग्नि, जातवेद, आदि अनेक नाम हैं। मानसिक शक्ति विकास, या आत्मिक बल वृद्धि करनेकी जिसको इच्छा है, उसको इस अग्निकी शरण लेना योग्य है। इस विषयमें अष्टम मंत्रमें कहा है—

आ दधामि ते पदं समिद्धे जातवेदसि।
अग्निः शरीरं वेवेष्टसुं वागपि गच्छतु ॥ (मं० ८)

" इस प्रदीप्त जातवेद नामक ज्ञानाग्निमें तेरा पांव मैं रखता हूं। यह ज्ञानाग्नि तेरे शरीरके रोम रोम में प्रविष्ट होवे और तेरी वाणी भी प्राणाग्नि के पास जावे। " जो मनुष्य अपना आत्मिक बल तथा मानसिक बल बढानेका इच्छुक है उसको अपने आपको ज्ञान से संयुक्त होना चाहिये। जिस प्रकार लोहा अग्निमें पडनेसे वह थोडे समयमें अग्निरूप होजाता है, उसी प्रकार ज्ञानाग्निमें पडा हुआ यह मनुष्य थोडे ही समयमें अपने आपको ज्ञानाग्निसे-जातवेद अग्निसे-प्रदीप्त हुआ देखता है। यह ज्ञानावस्था है।

जीवित वाणी।-- इस समय इसके वाणीमें एक प्रकारकी प्राणशक्ति प्रकाशित होती है, मानो इसकी वाणी जीवित सी हो जाती है। (वाक् असुं गच्छति) वाणी प्राणको प्राप्त करती है। सामान्य मनुष्योंकी वाणी मुर्दा होती है, परंतु इस ज्ञानीकी वाणी जीवित होती है। वह सिद्ध पुरुष जो कहता है वह बन जाता है यह जीवित वाणीका साक्षात्कार है।

शाखा छेदन। टेढी मेढी शाखाएं काट कर वृक्षको सुंदर बनाया जाता है। वृक्षपर वाल्लियोंका भार बढ गया, तो वृक्षको बढनेके लिये उस भार से मुक्त करना आवश्यक होता है। अर्थात् उद्यानके वृक्षोंको जैसे चाहिये वैसे बढने देना उचित नहीं हैं। इसी प्रकार इस अश्वत्थ वृक्षके विषयमें जानना चाहिये। इस विषयमें श्री भगवद्गीतामें कहा है—

ऊर्ध्वमूलमधःशाखमश्वत्थं प्राहुरव्ययम्।
छन्दांसि यस्य पर्णानि यस्तं वेद स वेदवित्॥ १॥
अधश्चोर्ध्वं प्रसृतास्तस्य शाखा गुणप्रवृद्धा विषयप्रवालाः।
अधश्च मूलान्यनुसन्ततानि कर्मानुबन्धीनि मनुष्यलोके॥ २॥
न रूपमस्येह तथोपलभ्यते नाऽन्तो न चाऽऽदिर्न च संप्रतिष्ठा।
अश्वत्थमेनं सुविरूढमूलमसङ्गशस्त्रेण दृढेन छित्त्वा॥३॥ गीता अ० १५

" ऊपर मूल और नीचे शाखा विस्तार फैला है ऐसा यह अश्वत्थ वृक्ष है। ऊपर नीचे इसकी शाखाएं बहुत फैली हैं। इन शाखाओंको असंग शस्त्रसे छेद करके यहां इसको ठीक करना चाहिये " तत्पश्चात् उन्नतिका मार्ग विदित हो सकता है। इस विषयमें सप्तम मंत्रमें कहा है, वह अब देखिये--

सप्त प्राणानष्टौ मन्यस्तांस्ते वृश्चामि ब्रह्मणा।
अया यमस्य सादनमग्निदूतो अरंकृतः॥ (मं० ७)

" सात प्राणोंको और आठ ग्रंथियोंको मैं ज्ञानसे काटता हूं या छेदता हूं अथवा खोलता हूं। तू इस अग्निका सिद्ध दूत बनकर यम के घर को जा।" इस सप्तम मंत्रमें सात प्राणोंको और आठ मज्जाग्रंथियोंको (वृश्चामि) काटनेका उल्लेख है। और यहां काटने

का शस्त्र "ब्रह्म" अर्थात् "ज्ञान, भक्ति, प्रार्थना, उपासना, स्तोत्र" इत्यादि प्रकार का है। ब्रह्म शब्दका ज्ञान आदि अर्थ प्रसिद्ध है । पाठक यहां विचार करें कि क्या कभी "ज्ञान अथवा ईश उपासना" (ब्रह्मणा वृश्चामि) शस्त्र बन कर किसी को काट सकते हैं? यदि ये शस्त्र बन कर किसीको काटते होंगे तो किसको काटते हैं? यह विचार करना चाहिये।

असंगास्त्र और ब्रह्मास्त्र।— गीतामें "असंगशस्त्र" से वृक्ष काटनेका उल्लेख है, वहां नाना वासनाओंको असंग शस्त्रसे काटनेका भाव है । वासनाएं भी भोग की इच्छासे ही फलती हैं और भोग भी इंद्रियोंके विषयोंके ही होते हैं । अर्थात् असंग शस्त्रसे जिन शाखाओंको काटना है, वे शाखाएं इंद्रियभोग की वृत्तिरूप ही हैं। भगवद्गीताका यह आशय मनमें लेकर यदि हम इस मंत्रके सप्त प्राणोंको ब्रह्मास्त्रसे काटनेका वर्णन देखेंगे तो स्पष्ट होगा कि यहां भी एक विशेष अलंकार ही है, दोनों स्थानोंमें क्रियाका अर्थ एक ही है—

अश्वत्थं ...असंगशस्त्रेण छित्वा ॥ (भ० गीता १५ । ३)

सप्त प्राणान्... ब्रह्मणा वृश्चामि ॥ (अथर्व० २ । १२ । ७)

"वृश्चामि" का अर्थ भी "छेदन" ही है । दोनों स्थानोंके शस्त्र भी अभौतिक हैं। (असंग) वैराग्य, और (ब्रह्म) ज्ञान उपासना; यद्यपि वैराग्य और ज्ञान ये दो शब्द भिन्न हैं, तथापि एकही बातमें सार्थ होनेवाले हैं, आत्मसाक्षात्कारमें ये दोनों परस्पर उपकारक ही होते हैं । वैराग्य के विना आत्मज्ञान होना कठिन है या असंभव है। इस प्रकार विचार करनेसे पता लगता है कि जिस शाखाविस्तार को भगवद्गीता काटना चाहती है उसी शाखाविस्तारको यह वेद मंत्र काटना चाहता है । इसकी सिद्धता करनेके लिये हमें "सप्त प्राण" कौन हैं इसकी खोज करना आवश्यक है—

सप्त प्राण — १ प्राणा इन्द्रियाणि ॥ ताण्ड्यब्रा० २।१४।२; २२।४।३

२ सप्त शिरसि प्राणाः ॥ ताण्ड्य ब्रा० २।१४।२; २२।४।३

३ सप्त शीर्षन् प्राणाः । शत० ब्रा० ९।२।२।८

४ सप्त वै शीर्षन् प्राणाः । ऐ. ब्रा. १।१७; तै. ब्रा. १।२।३।३

"(१) प्राण ये इन्द्रिय ही हैं । (२-४) सिरमें सात प्राण अर्थात् इंद्रिय हैं ।" इस प्रकार यह स्पष्टीकरण सप्तप्राणोंका वैदिक सारस्वतमें किया गया है । इससे सप्त प्राण ये सात इंद्रिय हैं इस विषयमें किसीको संदेह नहीं हो सकता । कईयोंके मतसे ये इंद्रिय दो आंख, दो कान, दो नाक और एक मुख मिल कर सात हैं और कईयोंके मत से कान, त्वचा, नेत्र, जिह्वा, नाक, शिश्न और मुख है, इन सातोंके क्रमशः शब्द, स्पर्श, रूप, रस, गंध, काम और भाषण ये सात भोग हैं । इनके कारण उत्तम मध्यम अथवा निकृष्ट

गति इस मनुष्यकी होती है। दोनों मतोंका तात्पर्य इतनाही है, कि जिन इन्द्रियोंके साधनसे यह मनुष्य वासनाओंके जालमें फंसता है और भोग भोगनेकी इच्छासे रोगके भयमें ग्रस्त होता है, वे सात इंद्रियोंकी शाखाएं ज्ञानके शस्त्रसे काटना चाहिये। जिस प्रकार माली अपने उद्यान के वृक्षोंको तेढा मेढा बढने नहीं देता, उसी प्रकार इस शरीर के क्षेत्रमें कार्य करनेवाला यह जीवात्मा रूपी माली है, उसको अपने उद्यान के इन सप्त वृक्षोंको तेढे मेढे बढने देना उचित नहीं है, वैसे बढने लगे तो ज्ञानकी कैंचीसे मर्यादासे बाहर बढनेवाली शाखाओंको काटकर उनको अपनी मर्यादामें ही रखना उचित है।

इसका स्पष्ट आशय यह है कि ये ही इन्द्रिय यदि बुरे व्यवहार करने लगे तो उनको असङ्गके नियमसे नियम बद्ध करके संयमपूर्णवृत्तिसे दमन करना चाहिये। इन्द्रिय दमन से ही आध्यात्मिक शक्ति विकासित हो सकती है। शाखा छेदन का तात्पर्य यही है।

आठ ग्रंथी।-- इस सप्तम मन्त्रमें (अष्टौ मन्यः) आठ ग्रंथि, या धमनियां हैं, उनको भी छेदन करने का विधान किया है। ये आठ मज्जा ग्रंथियां हैं उनसे विलक्षण जीवन रस शरीरमें प्रवाहित होते हैं। गुदा, नाभि, पेट, हृदय, कण्ठ, तालु, भ्रूमध्य, मस्तिष्क इन स्थानोंमें ये प्रधान आठ मज्जा ग्रंथियां हैं और इनसे जो जीवन रस आता है उससे उक्त स्थानमें जीवन प्राप्त होता है। इससे प्राप्त होने वाला जीवन रस तो आवश्यकही है, परंतु यदि इसीसे हीन प्रवृत्ति होने लगी तो उस हीन वासना का नाश करना चाहिये। देखियें गुदाके पास की मज्जा ग्रंथीसे वीर्यके साथ जीवन रस प्राप्त होता है। इसीसे स्त्री पुरुष विषयक काम होता है और इसके अतिरेकसे मनुष्य गिरता भी है; तथापि धर्ममर्यादाके अंदर काम रहा और शेष ब्रह्मचर्य पालन हुआ तो यहांकी ही दिव्य शक्ति ईशभक्तिमें परिणत होती है। इसी प्रकार अन्यान्य ग्रंथियोंके विषयमें समझना चाहिये। इससे पाठक समझ गये होंगे कि जिस प्रकार बाहर दिखनेवाले इंद्रियोंका संयम आवश्यक है; उसी तरह इन ग्रंथियोंकी स्वाधीनता भी अत्यंत आवश्यक ही है। योगमें इसको "ग्रंथिभेद, चक्रभेद" आदि संज्ञाएं हैं। इसका अर्थ इतनाही है कि जिस प्रकार अपनी मनकी प्रेरणासे हाथ पांव का हिलना या न हिलना होता है; उसी रीतिसे इन अष्ट ग्रंथियोंका कार्यभी अपनी इच्छानुसार हो। इंद्रियोंको और इन केन्द्रोंको पूर्णतया अपने आधीन रखनेका नाम यहां शाखा छेदन है। यह श्रेष्ठ संयम है। और यही शाखाछेदन (ब्रह्मणा वृश्चामि) ज्ञान रूपी शस्त्रसे होना संभव है। अब यहां मंत्रोंकी संगति देखिये—

संयमका मार्ग।-१ समिद्धे जातवेदसि पदं = जिसने प्रदीप्त जातवेद अर्थात् ज्ञान अग्निमें अपना स्थान स्थिर किया है (मं० ८)। २ अग्निः शरीरं वेवेष्टु = जिस

के शरीरके रोमरोममें यह ज्ञानाग्नि भडक उठा है (मं० ८)। ३ वाग् आपि असुं गच्छतु=जिसकी वाणीभी प्राणमयताको अर्थात् जीवित दशाको प्राप्त हुई है (मं०८)। ४ सप्त प्राणान् वृश्चामि=सप्त प्राणोंका अर्थात् सप्त इंद्रियोंका शाखा छेदन जिसने किया है अर्थात् इंद्रियों को वशमें किया है (मं० ७)। ५ अष्टौ मन्यान्वृश्चामि = आठ मज्जा केन्द्रोंका भी छेदन किया है अर्थात् अष्ट चक्रभेद द्वारा उनको वशवर्ती किया है।

मरनेकी विद्या।-- वही आत्मिक बल से बलवान् होगा और वही मृत्युका भय दूर करेगा अथवा निडर होकर यमके घर जायगा। सब प्राणी मरते ही हैं, परंतु निडर होकर मरना और बात है और डर डर के मरना और बात है। सब लोग मृत्युसे डरते रहते हैं, मृत्युका डर हटानेकी विद्या इस सूक्तने कही है। देखिये मंत्र के शब्द—

अरंकृतः अग्निदूतः यमस्य सादनं अयाः (मं. ७)

"(अरंकृत) अलंकृत (अग्नि-) ज्ञानाग्निका (दूतः) सेवक बनकर यमके घर जा।" क्योंकि अब तुम्हें यमका वह डर नहीं है जो अज्ञानावस्थामें था। यह मृत्युका डर हटानेकी विद्या है। मानो यह मरनेकी विद्या है। जीवित दशामें यह विद्या प्राप्त करना चाहिये। जिसने इंद्रियोंका संयम किया है, जिसने अपनी जीवन शक्तियोंको अपने आधीन किया है, जिसका जीवन ज्ञानसे परिशुद्ध प्रशस्ततम कर्ममय हुआ है, और जो सत्यज्ञानके प्रचारके लिये अपने आपको समर्पित करता हुआ अपना जीवनही ज्ञानाग्नि में समर्पण करता है, क्या कभी वह मृत्युसे डर सकता है? वह तो निडर होकर ही मृत्युके पास पंहुचेगा। इसी प्रकार देखिये—

निर्भय ऋषिकुमार।--कठोपनिषदमें कथा है कि,नाचिकेता ऋषिकुमार यम के पास गया था। वह तीन रात्री यमके घर रहा,उसको देख कर यमको भी भय मालूम हुआ! उसको प्रसन्न करनेके लिये यमने तीन वर दिये। ये तीन वर मानो तीन प्रचण्ड शक्तियां थीं, परंतु इस ऋषिकुमारने इन तीन शक्तियोंसे अपने भोग नहीं बढाये; परंतु ज्ञान प्राप्तिमें ही इन शक्तियोंका व्यय उसने किया। यमने नाना भोग उसके सन्मुख रखे, परंतु ऋषिकुमारने अपने ज्ञानास्त्रसे वासना रूपी शाखाओंका छेदन किया था, इसलिये भोगोंको स्वीकारनेकी रुची नहीं की, भोगोंको छोडकर ज्ञान प्राप्तिकी ही उसने इच्छा की और इस त्यागवृत्तिसे अन्तमें उसने ज्ञान प्राप्त किया। यमके साथ बराबरीके नातेसे यह ऋषि कुमार रहा, बराबरीके नातेसे बोला और बराबरीके साथ वहांसे वापस आया। ऐसा क्यों हुआ? पाठको! विचार तो कीजिये। नाचिकेता ऋषिकुमार अग्निका दूत बन कर, ज्ञानका सेवक बन कर, भोगेच्छाका त्याग करके यमके पास गया था; इस लिये वह

निडर था। जो लोग भोगेच्छासे यमके पास जांयगे वे डरते हुए जांयगे, इस लिये पकडे जांयगे। यही भेद है साधारण मृत्युमें और ज्ञानीकी मृत्युमें। यही वेदकी मृत्युविद्या है।

आत्मवद्भाव। एकके दुःखसे दूसरा दुःखी।

यहां तक जो आत्मोन्नतिका वर्णन किया है उसका विचार करनेसे ज्ञानीकी उच्चावस्थाकीकल्पना पाठकोंको हो सकती है। उस ज्ञानीके मनमें "आत्मवद्भाव" इस समय जीवित और जाग्रत होता है, सब भूतोंको वह आत्मसमान भावसे देखने लगता है। जो जैसा सुख दुःख इसको होता है, वैसा ही सुख दुःख दूसरोंको होता है ऐसा इसका भाव इस समय बन गया है, वह अपनेमें और दूसरेमें भेद नहीं देखता; दूसरोंके दुःखों से अपनेको दुःखी और दूसरोंके सुखसे अपनेको सुखी मानने तक उसकी उच्च मनोऽवस्था इस समय बन चुकी होती है। इसलिये जिस समय वह सच मुच सन्तप्त होता है, उस समय सब अन्य प्राणिमात्र सन्तप्त हो जाते हैं। जब दूसरोंका दुःख ज्ञानी मनुष्य अपनेपर लेने लगता है, और सब जगतके दुःखका भार आनंदसे स्वीकारता है, उस समय इसके दुःखमें भी सब जगत् हिस्सेदार होता है। यह नियम ही है। यह परस्पर संवेदनाका सार्वत्रिक नियम है। जिस प्रकार एक स्वरमें मिलायी हुई तन्तुवाद्यकी तारें एक बजाई जाने पर अन्य सब स्वयं बजने लगती हैं; इसी प्रकार यह ज्ञानीके "सर्वात्मभाव के जीवन" से सब जगत्के साथ समान संवेदना उत्पन्न होती है। यह "आत्मवद्भाव" की परम उच्च अवस्था है। यही इस सूक्तके प्रथम मंत्रने बताई है—

मयि तप्यमाने ते इह तप्यन्तां ॥ (मं १)

"मेरे सन्तप्त हो जाने पर वे यहां संतप्त हों।" पृथ्वी, अंतरिक्ष, द्युलोक, बीचका अवकाश, मेघमंडल, सूर्य आदि जितना भी कुछ स्थान है और उस संपूर्ण स्थानमें जो भी भूतमात्र हैं उनके क्लेशोंको मैं अपने ऊपर लेता हूं, जगत् को सुखी करने के लिये मैं अपने आपको समर्पित करता हूं, मैं जगत् को दुःखी नहीं देख सकता, जगत् सुखी हो और उसका दुःख मुझपर आजाय, इस प्रकार की भावना जिस के रोम रोम में भरी है, जिसके दैनिक जीवन में ढाली गई है; वह अपने आपको जगत् के साथ एकरूप देखता है, जगत् को अपने आत्माके समान समझता है, या यों कहो कि वह जगत् के दुःखसे दुःखी होता है। ऐसा महात्मा जिस समय संतप्त होता है उस समय सब भूत भी सन्तप्त हो जाते हैं। यह अवस्था प्रथम मंत्रद्वारा बतायी है।

यह मनुष्य की उन्नतिकी परम उच्च अवस्था है, इस अवस्थामें पहुंचा हुआ ज्ञानी दूसरोंके दुःखोंसे दुखी होता है और इसके दुःखसेभी सब दूसरे दुखी होते हैं। इस पूर्ण

अवस्था में जगत् के साथ इसकी समान संवेदना होती है। मनका बल बढते बढते और आत्माकी शक्ति बढते बढते मनुष्य यहां तक ऊंचा हो सकता है। अब जो लोग इस ज्ञानमार्ग के विरोधी होते हैं उनकी भी क्या अवस्था होती है, वह देखना है—

ज्ञानके विरोधी।—जो ज्ञानके विरोधी होते हैं, जो अपने मनको गिराने योग्य कार्य करते हैं, जो दूसरोंके मनोंको निर्बल करनेके उद्योगमें रहते हैं उनकी दशा क्या होती है, वह इस सूक्तके मंत्रोंके शब्दोंसे ही देखिये—

१ यः अतीव मन्यते = जो अपने आपको ही घमंडसे ऊंचा समझता है, अपने से और अधिक श्रेष्ठ कोई नहीं है ऐसा जो मानता है, (मं० ६)

२ क्रियमाणं नः ब्रह्म यः निन्दिषत् = किया जानेवाला हमारा ज्ञानसंग्रह जो निंदता है, हमारे ज्ञानसंपादन, ज्ञानरक्षण और ज्ञानवर्धनके प्रयत्नोंकी जो निंदा करता है, (मं०६)

३ वृजिनानि तस्मै तपूंषि सन्तु = सब कर्म उसके लिये तापदायक हों, उसको हरएक कर्मसे बडे कष्ट होंगे, किसीभी कर्मसे उसको कभी शांति नहीं मिलेगी, (मं०७)

४ द्यौः ब्रह्मद्विषं अभि सं तपाति = प्रकाशमान द्युलोक ज्ञानके विद्वेषीको चारों ओरसे संतप्त करता है, ज्ञानके विद्वेषीको किसी ओरसे भी शांति नहीं मिल सकती। (मं०७)

ज्ञान के विरोधी (ब्रह्मद्विष्) का उत्तम वर्णन इस मंत्रमें हुआ है यह इतना स्पष्ट है कि इसका अधिक स्पष्टीकरण करनेकी कोई आवश्यकता नहीं है। अत्यधिक घमंड करना भी अज्ञान या मिथ्या ज्ञानका ही द्योतक है, और यह अत्यंत घातक है। यदि स्वयं ज्ञान वर्धन का प्रयत्न कर नहीं सकते तो न सही, परंतु दूसरे कर रहे हैं उनका तो विरोध करना नहीं चाहिये। परंतु यदि स्वयं मिथ्याज्ञानसे मलीन हुआ मनुष्य दूसरे ज्ञानियोंको सताने लगे, तो वह अधिक ही गिर जाता है। इस प्रकारके गिरनेवाले अज्ञानी मनुष्यका हरएक प्रयत्न कष्टवर्धक ही होता है, उसके कर्मसे जैसे उसके कष्ट बढते हैं वैसे जनताके भी कष्ट बढते हैं, क्योंकि उसके अज्ञान और मिथ्याज्ञानके कारण वह जो करता है वह भ्रांत चित्तसेही करता है, इसकारण जैसा उसका नाश होता है वैसा उसके साथ संबंध रखनेवालेका भी नाश हो जाता है। यह बात इस छठे मंत्रने बताई है। अब इस बुरे कर्मके कर्ताकी अवस्था बीचके चार मंत्रोंने बताई है, वह देखिये—

१ अपकामस्य कर्ता पापं आ ऋच्छतु। (मं० ५)

२ यः अस्माकं इदं मनः हिनस्ति स दुरिते पाशे बद्धः नियुज्यताम्। (मं०२)

३ अमुं दैव्येन हरसा आददे। (मं० ४)

४ यः अस्माकं इदं मनः हिनास्ति तं कुलिशेन वृश्चामि। (मं० ३)

"(१) इस कुकर्मके करनेवालेको पाप लगे। (२) जो हमारा मन बिगाडता है उसको पापके पाशमें बांधकर नियममें रखा जावे। (३) उसको दिव्य क्रोध या बलसे पकड रखता हूं। (४) जो हमारे इस मनको बिगाडता है उसको शस्त्रसे काटता हूं।"

ये चार मंत्रोंके चार अंतिम वाक्य हैं ये एकसे एक अधिक दण्ड बता रहे हैं। पहिले वाक्य ने कहा है कि उसको पाप लगे। दूसरे वाक्य ने कहा है कि उसको बांध कर नियममें रखा जावे यहां नियममें रखनेका आशय कारागृहमें रखनेका है। तीसरे वाक्यमें देवताओंका कोप उसपर हो ऐसा कहा है और चतुर्थ वाक्यमें शस्त्रसे उसका सिर काटने की बात कही है। यह एकसे एक कडी सजा किसको दी जाय इस विषयका थोडासा विचार यहां करना चाहिये। मनको बिगाडनेका पाप बडा भारी है, परंतु जो एक बार ही इस पापको करता है और एक मनुष्यके संबंधमें करता है उसका अपराध न्यून है और जो मनुष्य अपने विशेष संघद्वारा दूसरी जातीका मन बिगाडनेका प्रयत्न करता है, या जातीकी ज्ञान प्राप्तिमें बाधा डालता है उसका पाप बढ कर होता है। इस प्रकार तुलनासे पापकी न्यूनाधिकता समझनी योग्य है और अपराधके अनुकूल दण्ड देना उचित है। यह दण्ड भी व्यक्तिने देना नहीं होता प्रत्युत राजसभा द्वारा देना होता है।

दूसरे की ज्ञानशुद्धिमें बाधा डालना बडाभारी पाप है, इससे जैसी दूसरेकी वैसी स्वयं अपनी भी अधोगति होती है। इस लिये कोई मनुष्य इस प्रकारका पापकर्म न करे।

आनुवंशिक संस्कार।--सबसे पहिली बात आनुवंशिक संस्कार की है। जिसका वंश शुद्ध होता है, जिसके वंशमें सत्पुरुष हुए हैं, जिसके मातापिता शुद्ध अंतःकरणके होते हैं, अर्थात् बचपन से जिसके घरमें शुद्ध धार्मिक वायु मंडल होता है वह अज्ञानमें फंस जानेका संभव कम है, इस विषयमें मंत्र कहता है---

तिसृभिः अशीतिभिः सामगेभिः वसुभिः अङ्गिरोभिः आदित्येभि
पितॄणां इष्टापूर्तं नः अवतु ॥ (मं० ४)

"वसु, रुद्र, आदित्य देवोंका सामगान पूर्वक हमारे पितरों द्वारा किया हुआ यज्ञ याग आदि शुभ कर्म हमें बचावे।" परिवारमें जो जो प्रशस्ततम कर्म होता है वह निःसंदेह पारिवारिक जनोंको बुरे संस्कारोंसे बचाता है। मातापिताओंका किया हुआ शुभ कर्म इसी प्रकार बालबच्चोंको शुभ धर्मपथपर सुरक्षित रखता है। येही आनुवंशिक शुभ संस्कार हैं। हम यह नहीं कहते कि जिनको ऐसे शुभ संस्कार नहीं होंगे वे अधम मार्गपर ही जाते रहेंगे, परंतु हम यही कहते हैं कि ये शुभ कर्म अवश्य सहायक होते हैं। इस लिये परिवारों के मुख्य पुरुषों को उचित है कि वे स्वयं ऐसे कर्म करें कि जिनसे उनके

पारिवारिक जनोंपर शुभ संस्कार ही होते रहें, यह उनका आवश्यक कर्तव्य है।

ईश प्रार्थना।

आनुवंशिक संस्कार अपने आधीन नहीं होते क्योंकि उन कर्मोंको करनेवाले दूसरे होते हैं। इस लिये यदि वे अच्छे हुए तो अच्छा ही है, परंतु यदि वे बुरे संस्कार हुए तो भी कोई डरनेकी बात नहीं है। स्वयं अपनी शुद्धिका प्रयत्न करनेपर निःसंदेह सिद्धि मिलेगी। इस दिशासे आत्मशुद्धिके प्रयत्न करनेके लिये ईशप्रार्थना मुख्य साधन है, परन्तु यह प्रार्थना दिलके जलनसे ही होनी चाहिये, इस विषयमें इस सूक्तके शब्द बडे मनन करने योग्य हैं—

हे सोमप इन्द्र! शृणुहि। यत्त्वा शोचता हृदा जोहवीमि॥ (मं० ३)

"हे ज्ञानियोंके रक्षक प्रभु! सुनो, जो मैं जलते हुए हृदय से तुमसे कह रहा हूं।" हृदयके अंदरसे आवाज आना चाहिये, अपनी पूर्ण भावनासे प्रार्थना होनी चाहिये, हृदयकी उष्णतासे तपे हुए शब्द होने चाहिये, शोकपूर्ण हृदयसे प्रार्थना निकलनी चाहिये। ऐसी प्रार्थना अवश्य सुनी जाती है। तथा—

ये यज्ञियाः स्थ ते देवा इदं शृणुत। (मं०२)

"जिनका यजन किया जाता है वे देव मेरी प्रार्थना सुनें!" इस प्रकार देवोंके विषय में श्रद्धाभक्तिके साथ दिलसे शब्द निकलेंगे, तो वे सुने जाते हैं, तथा—

द्यावापृथिवी मा अनु दीधीथाम्। विश्वेदेवासो मा अन्वारभध्वम्॥ (मं०५)

"द्यावापृथिवी मुझे अनुकूल होकर प्रकाशित हों और सब देव मुझे अनुकूल होकर कार्यारंभ करें।" अर्थात् देवोंकी कृपासे मेरा मार्ग प्रकाशित हो और देवों की अनुकूलता के साथ मेरा कार्य चलता रहे। कोईभी ऐसा कार्य मुझसे न होवे, कि जो देवताओंके प्रतिकूल या विरोधी हो। मेरे अंतःकरणमें देवताओं की कृपासे शुद्ध स्फूर्ति होती रहे, उस स्फूर्तिके अनुकूल ही मुझसे उत्तम कर्म होते रहें। देवोंके साथ अपने आपको एकरूप करना चाहिये और इस प्रकार अपने आपको देवतामय अनुभव करना चाहिये।

अपने शरीरको देवोंका मन्दिर करना चाहिये, तभी वहां अशुभ विचार नहीं आवेंगे और सदा वहां दैवी शुभ विचार ही कार्य करेंगे। इस प्रकार देवोंका जाग्रत निवास अपने विचारोंके अंदर भावरूपसे होने लगा तो फिर अपने मानसिक बलकी वृद्धि होनेमें देरी नहीं लगेगी और जो जो फल मानसोन्नति और आत्मोन्नतिके इस सूक्तके प्रारंभिक विवरणमें कहे हैं वे सब उस उपासक को अवश्य प्राप्त होंगे।

वैदिक धर्म के ग्रंथ।

(१) स्वयंशिक्षक माला।

वेदका स्वयंशिक्षक। १ प्रथम भाग ... मूल्य १॥)
" " २ द्वितीय भाग ... " १॥)

(२) योगसाधनमाला।

१ संध्योपासना। ... मूल्य १॥)
२ संध्याका अनुष्ठान। ... " ॥)
३ वैदिक प्राण विद्या। ... " १)
४ ब्रह्मचर्य (सचित्र)। ... " १।)
५ योगसाधनकी तैयारी। " १)
६ योगके आसन। (सचित्र) " २)
७ सूर्यभेदनव्यायाम सचित्र " ॥।)

(३) यजुर्वेद स्वाध्याय।

१ यजु. अ. ३०। नरमेध। मूल्य मूल्य १)
२ यजु. अ. ३२। एकेश्वर उपासना। " ॥)
३ यजु. अ. ३६। शांतिका उपाय। " ॥=)

(४) देवतापरिचय ग्रंथमाला।

१ रुद्र देवता परिचय। .. मूल्य॥)
२ ऋग्वेदमें रुद्र देवता। ... " ॥=)
३. ३३ देवताओंका विचार। " ≡)
४ देवताविचार। .... " ≡)
५ अग्निविद्या।... " १॥)

(५) धर्म शिक्षाके ग्रंथ

१ बालकधर्मशिक्षा। प्रथमभाग। मू. -)
२ बालकधर्मशिक्षा। द्वितीयभाग। " =)
३वैदिक पाठमाला। प्रथम पुस्तक " ≡)

(६) उपनिषद् ग्रंथमाला।

१ केन उपनिषद् .... मूल्य १।)
२ ईश उपनिषद् " ॥।=)

(७) आगम-निबंध-माला

१ वैदिकराज्यपद्धति। ... मू. ।-)
२ मानवी आयुष्य। ... " ।)
३ वैदिकसभ्यता ... ... " ॥।)
४ वैदिक चिकित्साशास्त्र। ... " ॥)
५ वैदिक स्वराज्य की महिमा। " ॥)
६ वैदिक सर्प विद्या। .... " ॥)
७ मृत्युको दूर करनेका उपाय। " ॥)
८ वेदमें चर्खा। .... " ॥)
९ शिवसंकल्पका विजय। " ॥।)
१० वैदिक धर्मकी विशेषता " ॥)
११ तर्कसे वेदका अर्थ। .... " ॥)
१२ वेदमें रोगजन्तु शास्त्र। " ≡)
१३ ब्रह्मचर्यका विघ्न। .... " =)
१४ वेदमें लोहेके कारखाने। " ।-)
१५ वेदमें कृषिविद्या। " ≡)
१६ वैदिक जलविद्या। " =)
१७ आत्मशक्तिका विकास। " ।-)
१८ वैदिक उपदेश माला " ॥)

(८) ब्राह्मण- बोध-माला।

१ शतपथ बोधामृत। " ।)

(९) अन्य पुस्तक।

१ वैदिक यज्ञसंस्था प्रथम भाग " १)
२ " " द्वितीय " " १)
३ छूत और अछूत प्रथम भाग " १)
४ " " द्वितीय " " ॥।)

स्वाध्याय मंडल, औंध (जि० सातारा)

'केन' उपनिषद् ।

इस पुस्तकमें निम्न लिखित विषयोंका विचार हुआ है—

१ केन उपनिषद का मनन, २ उपनिषद् ज्ञान का महत्त्व, ३ उपनिषद् का अर्थ, ४ सांप्रदायिक झगडे, ५ "केन" शब्द का महत्त्व, ६ वेदान्त, ७ उपनिषदों में ज्ञान का विकास, ८ अग्नि शब्दका भाव, ९ उपनिषद् के अंग, १० शांतिमंत्रोंका विचार, ११ तीनों शांति मंत्रों में तत्त्व ज्ञान, १२ तीन शांतियोंका भाव, १३ ईश और केन उपनिषद्, १४ "यक्ष" कौन है ?, १५ हैमवती उमा, १६ पार्वती कौन है ? १७ पर्वत, पार्वती, रुद्र, सप्तऋषि और अरुंधती, १८ इंद्र कौन है? १९ उपनिषद् का अर्थ और व्याख्या, २० अथर्ववेदीय केन सूक्तका अर्थ और व्याख्या, २१ व्यष्टि, समष्टी और परमेष्ठी, २२ त्रिलोकी २३ अथर्वाका सिर, २४ ब्रह्मज्ञानी की आयुष्य मर्यादा, २५ ब्रह्म नगरी, अयोध्या, आठ चक्र, २६ आत्मवान् यक्ष, २७ अपनी राजधानीमें ब्रह्मका प्रवेश, २८ देवी भागवतमें देवी की कथा, २९ वेदका वागांभृणी सूक्त, इंद्र सूक्त, वैकुंठ सूक्त, अथर्व सूक्त ३० शाक्तमत, देव और देवताकी एकता ३१ वैदिक ज्ञान की श्रेष्ठता ।

इतने विषय इस पुस्तक में आगये हैं, इस लिये उपनिषदों का विचार करने वालोंके लिये यह पुस्तक अवश्य पढने योग्य है ।

मूल्य १।) डाकव्यय=) है ।

मंत्री-- स्वाध्याय मंडल, औंध (जि० सातारा)

यज्ञकी पुस्तक

वैदिक यज्ञ संस्था ।

प्रथम और द्वितीय भाग ।

प्रतिभागका मूल्य १) रु. डाकव्यय ।)

प्रथम पुस्तक में निम्न लिखित विषयों का विचार हुआ है—

प्राचीन संस्कृत निबंध ।

१ पिष्ट-पशु-मीमांसा । लेख १

२ " " " " २

३ लघु पुरोडाश मीमांसा ।

भाषाके लेख ।

४ दर्श और पौर्णमास (ले०-श्री० पं० बुद्धदेवजी)

५ अद्भुत कुमार-संभव " " "

६ बुद्ध के यज्ञ विषयक विचार

(ले०-श्री० पं० चंद्रमणिजी)

७ यज्ञका महत्त्व (संपादकीय)

८ यज्ञका क्षेत्र "

९ यज्ञका गुढ तत्त्व "

१० औषधियों का महामख "

११ वैदिक यज्ञ और पशुहिंसा

(ले.-- श्री. पं. धर्मदेवजी)

१२ क्या वेदों में यज्ञों में पशुओंका बलि करना लिखा है? (ले० श्री० पं० पुरुषोत्तम लालजी)

मंत्री--स्वाध्याय मंडल, औंध (जि. सातारा)

वैदिक उपदेश माला !

जीवन शुद्ध और पवित्र करनेके लिये बारह उपदेश है । इस पुस्तकमें लिखे बारह उपदेश जो सज्जन अपनायेंगे उनकी उन्नति निःसंदेह होगी ।

मूल्य ॥) आठ आने । डाक व्यय-) एक आना।

मंत्री—स्वाध्याय मंडल, औंध (जि. सातारा)

वैदिक यज्ञ संस्था।

प्रथम भाग। मूल्य १) रु. डाकव्यय ।)

इस पुस्तक में निम्न लिखित विषयों का विचार हुआ है—

प्राचीन संस्कृत निबंध।

१-३ पितृ-पशुमीमांसा। लघु-पुरोडाश-मीमांसा।

भाषाके लेख। (ले०-श्री०-पं० बुद्धदेवजी)

४ दर्श और पौर्णमास, ५ अद्भुत कुमार संभव। (ले० -श्री० पं० चंद्रमणिजी) ६ बुद्धके यज्ञ विषयक विचार।

(संपादकीय) ७ यज्ञका महत्त्व, ८ यज्ञका क्षेत्र, ९ यज्ञका गूढ तत्त्व, १० औषधियोंका महामख, (ले०-श्री० पं० धर्मदेवजी) ११ वैदिक यज्ञ और पशु हिंसा। (ले०- श्री० पं० पुरुषोत्तम लालजी) १२ क्या वेदोंमें यज्ञों में पशुओंका बलि करना लिखा है?

वैदिक यज्ञ संस्था द्वितीय भाग मूल्य १) रु. डा. व्य. ।)

इस द्वितीय भागमें निम्न लिखित विषयोंका विचार हुआ है- (ले०-श्री· पं. देवशर्माजी विद्यालंकार)

भारतवर्षमें यज्ञकी कमी, यज्ञकी महिमा, यज्ञसे जो चाहे सो प्राप्त कर लो, यज्ञपुरुष का वर्णन, हवन प्रक्रिया, यज्ञशेष और उच्छेष, राजसूय, विश्वजित, अश्वमेध, गोमेध, सर्वमेध, वाजपेय, पंचमहायज्ञ, यज्ञ संसारकी नाभि है।

पं. बुद्धदेवजी लिखित=संज्ञपन और अवदान।

संपादकीय=नरमेध का वैदिक तात्पर्य।

इतने विषयोंका विचार इस पुस्तकमें हुआ है। प्रत्येक विषयके प्रतिपादनके लिये वेदके अनेक प्रमाण दिये हैं और विषयका प्रतिपादन अति सुगम है। मूल्य १) डा. व्य. ।)

वैदिक यज्ञ संस्था तृतीय भाग। गोमेध।

इस पुस्तकमें निम्न लिखित विषयोंका विचार हुआ है—

योगमें गोमांस, प्रकरणानुकूल अर्थ विचार, ऋषिपंचमी, वेदका महासिद्धान्त, यज्ञकी पूर्व और उत्तरवेदी, मधुपर्क, कलिवर्ज्यप्रकरण, बृहदारण्यक का वचन, गौके वैदिक नाम, गोमेधकाविचार, चरक की साक्षी, विवाहमें गोमांस, अतिथिके लिये गौ, यज्ञमें मांस, अन्त्य यज्ञ, वेदमें अहिंसा, अवध्य गौ और बैल, यज्ञका तत्त्व, गौका खाना। गौ दान लेने का अधिकारी, रक्षक और पाचक गौका महत्त्व, राष्ट्ररक्षक गौ, गौके लिये सामरस, सबकी माता गौ।

इत्यादि अनेक विषय इसमें आगये हैं। हरएक विषयका प्रतिपादन करनेके लिये अनेक वेदमंत्रोंके प्रमाण दिये हैं। जो कहते कि "वैदिक समयमें गोमांस भक्षण की प्रथा थी," उनके लिये यह उत्तम ऊत्तर है। यह पुस्तक पढनेके पश्चात् इस विषयमें कोई शंका नहीं रहेगी।

मूल्य १) रु. डा० व्य० ।)

मुद्रक तथा प्रकाशक- श्री० दा० सातवळेकर, भारत मुद्रणालय, औंध, (जि० सातारा)

REGISTERED. No B. 1463

ॐ

थम काण्ड । मूल्य २) डा. व्य ॥)

शक्तिका विकास । मूल्य ॥) डा. व्य ≡)

वर्ष ९] क्रमांक १०० [अंक ४

अप्रैल १९२८

हे ईश्वर !

ब्राह्मणों में तेज स्थापन कर, क्षत्रियों में तेज उत्पन्न कर, वैश्यों और शूद्रों में भी तेज धारण कर और मुझे भी तेजस्वी बना ।

यजुर्वेद १८।४८

संपादक ।

श्रीपाद दामोदर सातवळेकर

स्वाध्यायमंडल भारत मुद्रणालय औंध (जि० सातारा)

इस पुस्तक में निम्न लिखित विषयों का विचार हुआ है—

प्राचीन संस्कृत निबंध।

१-३ पिष्ट-पशुमीमांसा। लघु-पुरोडाश-मीमांसा।

भाषाके लेख। (ले०-श्री०-पं० बुद्धदेवजी)

(संपादकीय) ७ यज्ञका महत्त्व

९ यज्ञका गूढ तत्त्व, १० औष

(ले०-श्री०पं० धर्मदेवजी) ११

विषयसूची।



श्रीमंत महाराज श्री० बाला साहेब पंडित बी० ए० प्रतिनिधि
(संस्थान औंध.)

[ये प्रतिदिन सूर्य नमस्कार का व्यायाम लेते हैं और इन्होंनें अपने संपूर्ण राज्यकी पाठशालाओं के सब विद्यार्थियों के लिये यह व्यायाम आवश्यक किया है]



श्री. महाराज साहेब सूर्य नमस्कार का
व्यायाम कर रहे हैं ।



वर्ष ९

अंक ४

क्रमांक १००

वैदिक धर्म.

चैत्र

संवत् १९८४

एप्रील

सन १९२८

वैदिक तत्त्वज्ञान प्रचारक मासिक पत्र ।

संपादक— श्रीपाद दामोदर सातवळेकर ।

स्वाध्याय मंडल, औंध (जि. सातारा)

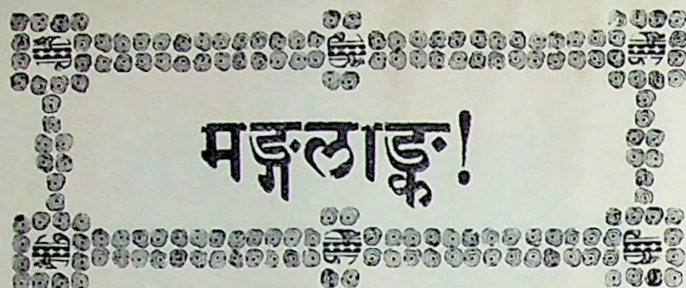
मनुष्यका विकास ।

यत्र ब्रह्मविदो यान्ति दीक्षया तपसा सह ।
ब्रह्मा मा तत्र नयतु ब्रह्मा ब्रम्ह दधातु मे ॥

अथर्व० १९।४३।८

" जहां ब्रह्मके जानने वाले ब्रह्मनिष्ठ अपने दीक्षादि व्रत तथा तपश्चर्याके बलसे पहुंचते हैं, वहां ज्ञानी मुझे ले जांए और वह मुझमें ज्ञान स्थिर कराए । "

हे परमात्मन् ! ज्ञानी जन ज्ञान प्राप्ति पूर्वक दीक्षा आदि व्रत पालन करते हुए और तपश्चर्या करके जिस श्रेष्ठ स्थानको प्राप्त करते हैं, और जिस योग्यताको अपने अंदर अनुभव कर सकते हैं; वह अवस्था हमें प्राप्त हो । इस कार्य के लिये सद्गुरु हममें ज्ञान बढावें और हमें वहां तक पहुंचावें कि जहां तक मनुष्य पहुंच सकता है ।



"वैदिक धर्म" का यह सौवाँ अंक पाठकोंके पास जाता है। संस्कृतमें क्या और वेदमें क्या "शत" शब्द मंगल वाचक समझा जाता है। इसलिये हम इसको "मङ्गलाङ्क" समझते हैं और परमेश्वर की प्रार्थना करते हैं कि वैदिक धर्म के सब पाठकों और उपपाठकों का मंगल साधन करनेमें यह कृतकारी हो!

"वैदिक धर्म" की सेवा करनेका निश्चय हमने कई वर्षोंसे किया था। परंतु केवल निश्चय से कार्य की सिद्धि नहीं होती। कार्य कितना हुआ है यही देखना चाहिये। वैदिक धर्मके १०० अंक प्रकाशित हुए हैं उतनी ही सेवा हमसे इस समय तक होचुकी है। आगे यह धर्म सेवा इसी प्रकार हमसे होती रहे, यही प्रभूके पास हमारी प्रार्थना है।

"वैदिक धर्म" मासिकमें फालतु लेख न छापनेका हमने निश्चय किया है, मनोरंजक दिल बहानेकी बातें, कथाएं और इसी प्रकारकी रोचक या मसालेदार बातें, हम प्रारंभसेही नहीं छापते हैं, और आगे भी नहीं छापेंगे। हमारा पूर्ण निश्चय हुआ है कि ऐसे ही हीन लेखोंसे मनुष्योंके विचार भी हीन होते हैं और ब्रह्मचर्यादि साधन असंभव हो जाते हैं।

"वैदिक धर्म" का मुख्य अंग ब्रह्मचर्य है। हम दिलसे जानते और मनसे मानते हैं कि यदि सब इंद्रियोंका पूर्ण ब्रह्मचर्य मनुष्य अपने में सिद्ध कर सकेगा तो वह "सिद्ध पुरुष" बनने में कोई शंका ही नहीं है। रोगादी पीडाएं उनके पास नहीं आवेगी और ऐसा ब्रह्मचारी ही सच्चा मार्गदर्शक हो सकता है। परंतु इसकी सिद्धता होनेके लिये वैसा पवित्र वायुमंडल बनना चाहिये। आजकल चारों ओर अखबारी दुनिया में देखिये ईर्ष्या द्वेष रागद्वेष और काम भोग का वायुमंडल बढानेवाले लेख लिखे जा रहे हैं, सब वायु मंडल इन्हीं विचारोंसे परिपूर्ण हो रहा है, हरएक कोमल मनपर इन्हीं हीन विचारों के आघात हो रहे हैं। यहां तक की धर्मसभाओंके पत्रोंमें भी अश्लील विज्ञापनोंको रुकावट नहीं है। बाहरका वायुमंडल इतना दूषित हुआ है। ऐसे दूषित वायु मंडलमें वेदके उच्च सिद्धांत सुनाना भी एक कठिन कार्य है, परंतु वह कार्य गत १०० मासों में हमने किया और यथाशक्ति आगे भी किया जायगा।

अथर्ववेद का भाष्य जो आजकल वैदिक धर्म में प्रकाशित किया जाता है, उसका प्रत्येक सूक्त उच्च विचार पाठकों के पास पहुंचानेमें पूर्ण समर्थ है। इस लिये इसके पृष्ठ आगे प्रतिमास बढानेका संकल्प किया है। जो पाठक इस का मनन कर रहे हैं वे लिखते हैं कि इस के मनन से उनके जीवन में भी परिवर्तन हो रहा है; यदि यह सत्य है तो यह सब श्रेय वेद का है, संपादक का नहीं है। संपादक उस वेदके अमृतसरोवर से थोडासा अंश उठाकर पाठकों तक पहुंचानेका ही भागी है। अमृत जीवन वेदका भाग है और उसको अपनाना तथा अपने आप को अमृतमय बनाना पाठकों के पुरुषार्थ पर निर्भर है, पाठक अपना पुरुषार्थ करें और यशके भागी बनें।

इस पवित्र ज्ञानयज्ञ में हमारा जितना कार्य है उतना हमसे निर्बाधतापूर्वक होता रहे, यही हमारी प्रभुके पास प्रार्थना है, पाठक भी इसी प्रकार प्रभुकी प्रार्थना करने द्वारा हमारी सहायता करें। सबका शुभ हो।

श्री० महात्मा गांधीजी
का
संदेश ।

'वैदिक धर्म' शतायु हो.

आज कल 'वैदिक धर्म' मैं हमेशह देख लेता हूँ. उसके लेखोंकी सरलता मुझे प्रिय लगती है.

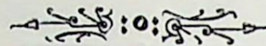
'वैदिक धर्म' के पाठकों से मेरी इतनी प्रार्थना है कि यदि वे शुद्ध वैदिक सभ्यता का पुनरुद्धार चाहते हैं, तो सत्य और अहिंसा के पथपर चलें और खादी पहन कर भारत वर्षके करोडों भूखसे पीडित भाई बहनों के साथ अनुसंधान करें.

साबरमती.
माघ शु. १५

मोहनदास गांधी.

नारायण का निवास।

(ले०—श्री० पं० अभय देवशर्माजी विद्यालंकार)



१ मध्यस्थ देव

परमात्मा कहां है ? उसकी प्राप्ति किस स्थान पर होती है ? उसका निवास किस जगह है जहां पहुंच कर कि हम उससे भेंट कर सकते हैं ?

इसका उत्तर है कि वह मध्य में है-सदा मध्य में है। न वह ऊपर है न नीचे है, न आदि में है न अन्त में है, न दायें है न बांये है; किन्तु मध्य में है। इसे प्राप्त करना है तो प्रत्येक प्रकार से मध्य में उसे ढूंढना चाहिये।

वह प्रत्येक दो चीजों के-प्रत्येक द्वंद्वके-मध्यमें है। इसी को यूं कहते हैं कि वह द्वंद्वातीत है। सब द्वंद्वों का वही केन्द्र है। सब विविध द्वंद्व क्रमशः उससे निकले हैं। वह प्रत्येक द्वंद्वके मध्यमें द्वंद्वकी ठीक समता में- छिपा हुवा विद्यमान है। और चूंकि जहां द्वंद्व की 'ठीक समता' होती है वहां द्वंद्वत्व ही बिल कुल नहीं रहता अतः वह द्वंद्वातीत है। और द्वंद्वातीत होकर इस द्वंद्वमय जगत् की प्रत्येक द्वंद्वमय वस्तु के ठीक मध्यमें छिपा हुवा है।

कहते हैं कि, वह सर्व व्यापक है, सब जगह है। यह ठीकहै। सचमुच 'ईश इस सब के अन्दर वसा हुवा है'—

ईशावास्यमिदं सर्वम्। वा. य. ४०।१

किन्तु वह किस प्रकार से सर्वमें व्याप रहा है ? वह मध्यस्थ होकर ही प्रत्येक वस्तुमें स्थित है। यही कारण है कि वह सर्वत्र होता हुवा भी सर्वत्र दीखता नहीं है और सब मनुष्योंमें रहता हुवा भी सब मनुष्योंको प्राप्त नहीं है। वह इसलिये नहीं दीखता है (नहीं प्राप्त होता है) क्योंकी वह मध्यमें स्थित है, द्वंद्वातीत होकर ठीक मध्यमें समभाव से स्थित है, जिससे कि द्वंद्वों को ही देखने वाली हमारी 'द्वंद्वमोहेन मोहित' आखें उसे देख नहीं सकतीं।

इच्छाद्वेषसमुत्थेन द्वंद्वमोहेन भारत।
सर्वभूतानि संमोहं सर्गे यान्ति परंतप॥ गी७-२७

उस सर्वत्र और सदा रहनेवाले तत्व को सर्वत्र और सदा छिपाये रखने वाली वस्तु भिन्न भिन्न प्रकारके विविध द्वंद्वों का मोह ही है। अतः उसे देखने के लिये द्वंद्वमोह से पार होकर खडे होना आवश्यक है। यद्यपि वह सर्वत्र है तो भी उसका प्राप्तिस्थान वहीं है जहां द्वंद की समता है। मनुष्य जिस द्वंद्व से आक्रान्त होकर परमात्मा के स्वरूप का जिज्ञासु होता है, उसे उस द्वंद्व के मध्य में-उस द्वंद्व की संधि में-उस द्वंद्वसे परे होने पर अभीष्ट परमात्म स्वरूप के दर्शन होते हैं। सचमुच भगवान् का निवास 'द्वंद्व की समता' में ही है। एक द्वंद्व की समता कर लेंगे तो हमें दूसरा द्वंद्व सताने लगेगा। एवं कईवार हमें द्वंद्वों के कपाटों को खोल खोल कर अन्दर के अन्तर्यामी तक पहुंचना है, पर सदा कपाटों को खोलने की कुंजी यही है 'द्वंद्वों को सम करना'। द्वंद्व सम होते ही परस्प दीख जाता है। अन्त में सर्व द्वंद्वों के पार देखने से सर्व अन्तर्यामी को हम देख सकते हैं। सर्वान्तर्यामी और 'सर्व मध्यस्थ' एक ही बात है। याज्ञवल्क्यने उद्दालक आरुणि को इसी सर्वमध्यस्थदेव की सर्वा-न्तर्यामिता का वर्णन किया है। (बृह० उ० ३-७)।

२ मध्यलोक का हृदय।

वह हमारे हृदय में वसता है—
अन्तरात्मा सदा जनानां हृदये संनिविष्टः
कठ० उ० २-१७ श्वेता० ३-१३

हृदि ह्येष आत्मा। प्र० ३-६
हृदि सर्वस्य धिष्ठितम्। गी० १३—१७
ईश्वरः सर्वभूतानां हृद्देशेऽर्जुन तिष्ठति।
गी० १-८६१

इत्यादि बहुत से शास्त्र वचन उद्धृत किये जा सकते हैं, जो ईश्वर का वास हृदय में बताते हैं। परन्तु यह हृदय क्या है ? यह मध्यस्थान है। यह शरीर के द्युलोक और पृथ्वी लोक का मध्यस्थान (अन्तरिक्ष लोक) है। इन्द्रियों का केन्द्रस्थान है। प्राण का मुख्य एक स्थान है। यहां शरीर के सब व्यापारों की समता होती है; अत एव सुषुप्ति में जीवका यही विश्राम स्थान है। तात्पर्य यह कि सब शरीर सृष्टि का यह केन्द्रस्थान है।

जब हम कहते हैं, कि ब्रह्म ऊपर है, द्युलोकमें है, सिर में है, तो हम ऐसा इसीलिये कहते हैं, क्योंकि नीचे की अपेक्षा ऊपर, पृथिवि की अपेक्षा द्यौमें और अधोभाग की अपेक्षा शिर में हम अधिक समता में पहुंच जाते हैं, अत एव वहां ब्रह्म अधिक निर्मलरूप में प्रकट होता है। परन्तु द्युलोक में पहुंच कर जब हम उसमें ब्रह्म को ढूंढेंगे तो वह हमें द्युलोक के भी मध्य में-समता के स्थान में अर्थात् द्युलोक के भी अन्तरिक्षमें—ही मिलेगा। (शिरमें भी शिरके हृदय में वह मिलेगा) अत एव अथर्व वेदमें-
"इदं जनासो विदथ महद्ब्रह्म वदिष्यति"
यह कह कर बताया है--

"न तत्पृथिव्यां नो दिवि येन प्राणन्ति वीरुधः"
वह ब्रह्म जिसके द्वारा विविध प्रजायें जीवनधारण करती हैं वह न तो पृथिवीमें हैं और न द्यौ में है किन्तु-
"अन्तरिक्ष आसां स्थाम" अथ १-३२-१,२
इनका स्थितिभूत वह ब्रह्म अन्तरिक्षमें है।
"अन्तरिक्षमुद्धि" अथ० ८-८-२२

संसाररूपी रथमें इन्द्र के विराजने की गद्दी अन्तरिक्षमें है।

इसी तरह संसार के हृदयस्थानीय इस अन्तरिक्ष या आकाशमें ही पुराण के सर्व देवाधिराज इन्द्र की अमरपुरी है। तात्पर्य यह है कि हृदय में भगवान् का निवास है, यह सत्य है, तथा ब्रह्मनिवास भूत बाह्य अन्तरिक्षाकाश भी बाह्य जगत् का हृदय ही है और कुछ नहीं।

३ अन्तर्हृदय आकाश.

जिसने हृदय का अर्थ समझ लिया है उसके लिये वह परम देव न केवल अपने हृदय में तथा जगत् के हृदयस्थानीय अन्तरिक्ष में है, किन्तु वह प्रत्येक वस्तु के हृदय में रम रहा है। प्रत्येक वस्तु के द्वंद्वातीत सम, मध्यस्थान पर वह छिपा हुवा विद्यमान है। यही 'हृदय' का असली अर्थ है, जब कि ईश्वर के वासस्थान हृदय का हम वर्णन करते हैं। अन्तरिक्ष शब्द काभी यही अर्थ है

अन्तरा क्षान्तं (निरु०)।

यदि वह इस हाडमांस के हृदय में ही हो, तो यह तो सब को प्राप्त है, पर वहां भगवान् किसे दीखते हैं। ऐसे तो कोई विरले ही हैं, जिनके कि हृदय में भगवान् का सिंहासन जमा हुवा है। जिन्होंने हृदय को ईश्वर का स्थान समझ लिया है, उन्हें आगे यह समझना होगा कि वह हृदय के भी हृदय में हैं जिसे कि 'अन्तर्हृदय आकाश' कहते हैं अर्थात् हृदय के उस अन्तरीय सम तथा सर्वथा मध्यस्थ स्थान पर है जहां कि विना सब द्वंद्वों को सम किये पहुंच होना असंभव है। वह हृदय के भी इस अन्तरमय हृदय में बसनेवाला है, इसीलिये वेद और उपनिषदों में उसे 'गुहायां' 'गुहा हितं' आदि कहा है। और वहां पहुंचना बडा कठिन है इसलिये उसे 'गह्वरेष्ठं' भी कहा है। यह 'गुहा' बडी गहरी है। इसमें एक के बाद एक कपाट खोलते हुवे अन्दर अन्दर घुसते जाना है, जब तक कि सब द्वंद्व दूर न हो जांय, जबतक कि सब विश्व का एकी करण न हो जाय। पर यह बात सत्य है कि जिस धीर प्रातः स्मरणीय ब्रह्मनिष्ठ भक्त ने

अपने अन्तर्हृदय के गहरे पानी में पैठकर, उसे एकबार देख लिया है वह फिर उसे संसार की प्रत्येक वस्तु में देखने लगता है, क्यों कि वह प्रत्येक वस्तुके हृदयमें प्रविष्ट होनेकी सामर्थ्य और स्वभाव वाला हो जाता है। इसका कारण यह है कि असल में अन्दर का हृदयाकाश ही बाहर का सब आकाश है और अत एव इस अंतः पिण्डमें सब ब्रह्माण्ड है। इसी लिये बृहदारण्यकमें हृदय को प्रजापति कहा है—

' एष प्रजापतिर्यद्धृदयम्, एतद् ब्रह्म, एतत्सर्वम् ' (५-३-१)

छान्दोग्य में कहा है—

यावान्वा अयमाकाशस्तावानेषोऽन्तर्हृदयआकाशः

यहां स्पष्ट है कि ब्रह्म का निवास भूत जो हृदयाकाश है वह क्या है। आगे इसी हृदयाकाशमें सब द्वंद्वों की समाधि बतलायी है—

" उभे अस्मिन् द्यावापृथिवी अन्तरेव समाहिते, उभावग्निश्च वायुश्च सूर्याचन्द्रमसावुभौ विद्युन्नक्षत्राणि यच्चेहास्ति यच्च नास्ति सर्वं तदस्मिन् समाहितम् "। (छा० ८-१-३)

इस हृदयाकाश में द्यावापृथिवी, अग्निवायु, सूर्यचन्द्र तथा विद्युन्नक्षत्र इन चार द्वंद्वोंकी ही समता नहीं बतलायी है, किन्तु 'यच्चेहास्ति' और 'यच्च नास्ति' (Positive और Negative) कहकर सभी द्वंद बता दिये हैं। इसी हृदयमें निर्द्वंद्व ब्रह्म का साक्षात्कार होता है। इसी में उसे खोजना चाहियेः—

यदिदमस्मिन्ब्रह्मपुरे दहरं पुण्डरीकं वेश्म दहरोऽस्मिन्नन्तराकाशस्तस्मिन्यदन्तस्तदन्वेष्टव्यं, तद्वाव विजिज्ञासितव्यम्।

४ कठोपनिषद् की साक्षी.

हृदयमें अनुभव होनेवाले उस निर्द्वंद्व देव का वर्णन हमारी द्वंद्वमयी वाणी कभी कर नहीं सकती। तथापि समझाने के लिये जब हम वाणी का उपयोग करते हैं तो हमें अपने परिचित द्वंद्वों के निषेध रूपसे उन द्वंद्वों से परे या उनके आधार रूपसे— उसका वर्णन करना होता है। इसी तरह उसका वर्णन संभव है। उदाहरणार्थ कठोपनिषद् में उस मध्यस्थ समरूप प्रभुका वर्णन ' प्राण और अपान का आश्रय '' मृत्यु और अमृत का आधार' आदि रूपसे हम देख सकते हैं।

कोई प्राणशक्ति को ही सब कुछ कहते हैं, दूसरे अपान शक्ति को महत्व देते हैं। किन्तु कठोपनिषद् बतलाती है कि असल में ये दोनों जिस एक के आश्रित हैं वह तीसराही हम सब का जीवनाधार है। देखिये-

न प्राणेन नापानेन मर्त्यो जीवति कश्चन !
इतरेण तु जीवन्ति यस्मिन्नेतावुपाश्रितौ
(कठ ३-५)

इन दोनों के मध्य में बैठने वाले (मध्ये वामनमासीनं) उस सर्वदेवोपासनीय परमदेव का जिस श्लोक में स्पष्ट वर्णन है वह यह है—

ऊर्ध्वं प्राणमुन्नयति, अपानं प्रत्यगस्यति।
मध्ये वामनमासीनं विश्वे देवा उपासते ॥
(कठ. ५-३)

एवं निम्नमंत्र में ' भूत और भव्य ' के द्वंद्व का अधिष्ठाता और मध्यस्थ वही है यह कहा हैः—

अङ्गुष्ठमात्रः पुरुषो मध्य आत्मनि तिष्ठति
ईशानो भूतभव्यस्य ...... (कठ ३-१२)

सब जगत् की उत्पत्ति और प्रलय (उदय और अस्त) की महाशक्तिओं के द्वंद्व का (अत एव सबका) एकाधार रूपसे उसका वर्णन देखिये-

यतश्चोदेति सूर्योऽस्तं यत्र च गच्छति।
तं देवाः सर्वेऽर्पिता, तदु नात्येति कश्चन ॥
(कठ. ४-९)

एवं ' यदेवेह तदमुत्र, यदमुत्र तदन्विह '

इस रूप में वर्णन द्वारा उसकी इहलोक और परलोक की मध्यस्थता, समता बतलायी है।

" अरण्योर्निहितो जातवेदा "

कहकर उसकी सर्व द्वंद्वमध्यस्थता कैसी सुन्दरता से बतायी है !!

इस प्रकार भिन्न भिन्न द्वंद्वों के मध्यस्थ व अतीत रूपोंसे उसका वर्णन वेद उपनिषदादि शास्त्रों से और बहुत बहुत दिखाया जा सकता है, तथा अब तक के सन्तों की वाणिओं में भी यह चर्चा हमदेख

सकते हैं। उसके हृदयवासी होने की बात तो संभवतः सब देशोंके धार्मिक पुस्तकों में हम पा सकते हैं। परन्तु इस विस्तार की यहां कुछ जरूरत नहीं है। जो कुछ हमें जानना चाहिये वह यह है कि उस मध्यस्थ समरूप ब्रह्म को हम कैसे प्राप्त होवें, उस अन्तर्हृदयमें हम कैसे पहुंचे, जहां भगवान् का निवास है, जहां द्वन्द्वों की समता है, जहां पूर्ण मध्यस्थता है और जहां सब जगत् एकीभूत होगया है।

इसलेख का विषय इस प्रश्न का विस्तृत उत्तर देना नहीं है। यहां तो "नारायण का निवास" बतलाना ही प्रस्तुत विषय है। उस निवास पर पहुंचने का मार्ग बताना बडा ही विस्तृत विषय है। तो भी अपने विषय की स्पष्टता के लिये उसके मार्ग का भी कुछ निर्देश आवश्यक है। उस मध्यस्थ देव को पंहुंचाने वाला मार्ग भी "मध्यमार्ग" होना चाहिये। हमारे सामने जो कोई द्वंद्व आवे—जो हमारे मार्ग में अटके— उसे सम करते हुवे चलते जाना यही मार्ग है। इसी का नाम मध्यमार्ग है। इसी मध्यमार्ग का उपदेश भगवान गौतम ने घोर-तपस्या के बाद बुद्ध बन जाने पर सब संसार को (चार सत्यों और आठ नियमों के साथ) किया है। इसके अनुसार मनुष्य को किसी भी तरफ अति या हीनता न करते हुवे सदा सम रहना चाहिये।

५ गीताका उपदेश।

भगवान् कृष्णने इसी मार्ग का उपदेश अपने गीता नामक योगशास्त्र में किया है। इस योगशास्त्र में योग का अर्थ—

समत्वं योग उच्यते। (गीता.)

कहा है। इस योग द्वारा प्राप्तव्य जो ब्रह्म है उसे भी 'समोऽहं सर्व भूतेषु' (८—२९) कह कर 'सम' बताया है। बल्कि ब्रह्मका लक्षण ही "सम" ऐसा किया है—

'निर्दोषं हि समं ब्रह्म' (गीता) ५—१९

ब्रह्म वह है जो कि सर्वथा सम है अतएव जो सर्वथा निर्दोष है। (पातंजल योग में भी क्लेश-कर्मादि दोष से अपरामृष्ट आत्मा को ईश्वर कहा है)। दोषों के हटने पर ही समता प्राप्त होती है। सबसे बडे और सबके मूल भूत दोष राग और द्वेष हैं। [न्यायकार की परिभाषा में भी ये ही दोष हैं]। राग द्वेष द्वंद को ही गीता में इच्छा द्वेष, काम क्रोध आदि रूपसे कहा गया है। गीता (के ३-३४ श्लोक) में इन्हें परिपन्थी (शत्रु) बतलाया है। प्रारंभ में जो परमात्मा से जुदा करनेवाले 'द्वंदमोह' का बतानेवाला श्लोक (७—२७) उद्धृत किया गया है उसमें द्वंदमोह को 'इच्छा द्वेष से पैदा होने वाला' (इच्छाद्वेषसमुत्थेन) कहा है। अतः सब द्वंद्वों की जड ये ही हैं। यह जड कट जाय तो सब द्वंद्व कट जाते हैं। पर राग द्वेष के इस सूक्ष्म द्वंद्व तक पहुंचने के लिये हमें सुख दुःख के द्वंद्व को सहने का अभ्यास करना चाहिये। और सुख दुःखों के विचार में ही सिद्धि असिद्धि, लाभ अलाभ, शीतोष्ण, मानापमान आदि आजाते हैं। अतः इस उपदेश से ही सब गीता शास्त्र भरा पडा है:—

समदुःखसुखं धीरं। २—१५

सुखदुःखे समे कृत्वा लाभालाभौ जयाजयौ। २-३८

सिध्यसिद्ध्योः समो भूत्वा। २-४८।

समः सिद्धावसिद्धौ च कृत्वापि न निबध्यते। ४-२२

न प्रहृष्येत् प्रियं प्राप्य नोद्विजेत्प्राप्य चाप्रियम्। ५-२०

पंडिताः समदर्शिनः। ५—१८

स्थितप्रज्ञ का लक्षण अर्जुन को समझाते हुवे कहा है-

दुःखेष्वनुद्विग्नमनाः सुखेषु विगतस्पृहः। २-५६

यः सर्वत्रानभिस्नेहस्तत्तत्प्राप्य शुभाशुभम्।

नाभिनन्दति न द्वेष्टि, तस्य प्रज्ञा प्रतिष्ठता। २-५७।

बारहवें अध्याय में अपने प्रिय भक्तों का वर्णन भगवान् निम्न शब्दों में करते हैं—

समदुःखसुखः क्षमी। १६

यो न हृष्यति न द्वेष्टि, न शोचति न कांक्षति। १७

समः शत्रौ च मित्रे च तथा मानापमानयोः। १८

शीतोष्णसुखदुःखेषु समः संगविवर्जितः
तुल्यनिन्दास्तुतिर्मौनी...........॥ १९

तेरवें अध्याय में सत्यज्ञान बताते हुवे कहा है—

नित्यं च समचित्तत्वमिष्टानिष्टोपपत्तिषु । ९ ।

आगे त्रिगुणातीत के लक्षण में भी वही बात देखिये ।

समदुःखसुखः स्वस्थः समलोष्टाश्मकांचनः ।
तुल्यप्रियाप्रियो धीरस्तुल्यनिन्दात्मसंस्तुतिः । २४
मानापमानयोस्तुल्यस्तुल्यो मित्रारिपक्षयो । २५

एवं सात्विक त्यागी, सात्विक कर्ता आदि के गुणों में तथा ब्रह्मनिष्ठ पुरुषों के गुणोंमें सर्वत्र यही समता का वर्णन है ।

यह तो मानसिक भावों में समता हुई। परन्तु बाह्य शारीरिक साधनाओं में भी सदा श्री कृष्णजी का उपदेश 'समता' का ही है। षष्ठाध्याय में राज योग साधक का जो आसन कहा है वह भी-

'नात्युच्छितं नातिनीचं'

चाहिये, उसकी स्थिति-

'समं कायशिरोग्रीवं धारयन्'

चाहिये। उसका भोजन शयन आदि सब व्यवहार भी निम्न प्रकारसे सम (युक्त) चाहियेः—

नात्यश्नतस्तु योगोऽस्ति न चात्यन्तमनश्नतः ।
न चाति स्वप्नशीलस्य जाग्रतो नैव चार्जुन ।
युक्ताहारविहारस्य युक्तचेष्टस्य कर्मसु ।
युक्तस्वप्नावबोधस्य योगो भवति दुःखहा ।

सम ब्रह्म को समत्व योग द्वारा प्राप्त करना चाहिये यह गीता का स्पष्ट उपदेश है। समत्व द्वंद्वों का करना है जिनके कि मूल द्वंद रागद्वेष हैं। पर राग और द्वेष को हम 'काम' इस एक शब्दसे कह सकते हैं, क्यों कि प्राप्ति की कामना राग है और हटाने की कामना द्वेष है। कामना दोनों की जड है। अत एव गीता का सब जोर निष्काम होने पर है ।

६ यही जीवन धर्म है.

गीता का उपदेश ही नहीं, किन्तु समग्र धर्मोपदेश यही है। धर्म क्या वस्तु है ? धर्म है धृत रहना अर्थात् इधर या उधर न गिरना। इस तरफ या उस तरफ गिरने से अर्थात् द्वंद के वशीभूत होनेसे बचाने के लिये जितने उपाय हैं वे ही धर्म कहाते हैं। धर्म शास्त्रों के सब विधि और निषेध इसलिये हैं कि मनुष्य उनके पालन द्वारा प्रत्येक स्थिति में समतोल रहे, अतः सुखी और शान्त रहे। अहिंसा सत्यादि यम नियम, धृति क्षमा आदि धर्म, सब सदाचार और सभी धर्मों (धर्मसंप्रदायों) की धार्मिक आज्ञायें मनुष्य को समाज व संसार के साथ समता में रखने के लिये ही हैं। चारों तरफ की बाह्य प्रकृति तथा अपनी निजी प्रकृति हर समय बदलती हुई हमें विषम बनाने को-हमारी स्वस्थता भंग करने को प्रवृत्त रहती है, पर हम प्रतिक्षण और प्रत्येक अवस्थामें अपनी अन्दर की शक्ति द्वारा समतोल बने रहें, ऐसा करना ही "धर्मारूढ" रहना है। पर यह धर्म पालन बडा कठिन है, क्यों कि द्वंद्व (या त्रिगुण) हमें एक तरफ खींचकर गिराना चाहते हैं और हमें भी किसी एक तरफ आश्रय लेलेने में-एकतरफ अति करके बहजाने में-सुख मालूम पडता है। बस, इस लुभावने क्षणिक सुखमें हम फंस न जावें, इससे बचाने के लिये ही सब धर्मविधान हैं।

यहां धर्म शब्द केवल नैतिक (Moral) अर्थ में प्रयुक्त नहीं किया जा रहा है जिसके अनुसार धर्म का अर्थ पुण्य व शुक्ल कर्म होता है, किन्तु धर्म तो समग्र जीवन का सिद्धान्त (Law of Life) है। पुण्य व शुक्लकर्म तभी तक धर्म हैं जब तक कि हमें इन द्वारा जगत् के उच्च तत्वों के साथ समता प्राप्त करनी होती है। परन्तु अंत में ऐसी भी अवस्था आती है जब कि पुण्य और पाप इन द्वंद्वों को भी सम करना होता है और तब उस स्थित प्रज्ञ पुरुष के कर्म को पुण्य या पाप कुछ भी नहीं कहा जा सकता। एवं पहिले मनुष्य रजः और तमः में समता स्थापन द्वारा सत्व में आरूढ होता है, किन्तु पीछे से उसे सत्व और असत्व (रजः तमः) इस द्वंद में भी समता स्थापित कर त्रिगुणातीत होना होता है। तब मनुष्य जानता है कि ईश्वर यदि नीचे नहीं है तो ऊपर (पुण्यकर्मों में) भी नहीं है, यदि वाम में नही है तो दक्षिण में(सिद्धिओं

में) भी नहीं है किन्तु वह इनकी भी मध्य समता में है। अस्तु ।

यह तो आध्यात्मिक जीवन में समता धर्म की चर्चा हुई, किन्तु भौतिक व सांसारिक जीवन में भी (यद्यपि इस जीवन में धर्म शब्द का प्रयोग नहीं किया जाता) यही धर्म काम कर रहा है। तीनों जीवनों में हम देख सकते हैं। वैयक्तिक भौतिक जीवन में देखें तो शरीर शास्त्र कहता है कि वात, पित्त, कफ की विषमता से ही सब रोग होते हैं। इनको सम रखना स्वस्थता है। बाह्यकारण बताते हुवे आयुर्वेद में कहा है कि किसी भी वस्तु के अतियोग या हीन योग (overuse या disuse) से ही धातुवैषम्य होता है। एवं अतियोग और हीन में समता रखने द्वारा धातुसाम्य रखना ही शारीरिक जीवन है। फिर सामाजिक जीवन में देखें तो वहां भी समाज-शास्त्र के अनुसार सब समाज में ज्ञान प्रसार, धन विभाग, श्रमविभाग सम होना चाहिये, इसीलिये वर्णाश्रमव्यवस्था है, आत्मोपकार और परोपकार में समतोलता चाहिये; तथा राजशास्त्रके अनुसार राजा और प्रजा एवं उनके भिन्न भिन्न अंगोंका संबन्ध समतोल होना चाहिये । एवं तीसरे आधिदैविक जीवनमें देखें तो उससे संबन्ध रखने वाले नाना प्रकारके शास्त्रोंसे पता लगता है कि जगत्में काम करने वाली केन्द्रानुग केन्द्रातिग आदि बहुत सी द्वंद्वशक्तिओंकी समता से ही जगत् स्थिर है और इसी समतासे इसमें शान्ति और कल्याण रहता है। एवं विषमता को सम करते रहना ही सब 'जीवनका महाधर्म' (Great Law of Life) है।

७ सब साधनोंमें यही तत्त्वविद्यमान है।

कहते हैं कि योगके साधन से ईश्वर प्राप्ति होती है। यह ठीक है, क्योंकि योग के आठों अंग एकएक क्षेत्रमें समता प्राप्त कराने के लिये होते हैं। आधार भूत अंग जो यम और नियम हैं, उनका वर्णन गत धर्म संबंधी प्रकरणमें होचुका है। तीसरा अंग आसन है जिसके साधन से शारीरिक (अन्नमय की) समता प्राप्त होती है, जोकि हमें प्राणमय आदि अग्रिम कोशोंमें प्रवेशके लिये आवश्यक है। पतंजलि मुनिने आसनका फल स्पष्ट 'द्वंद्वानभिघात' ही लिखा है। आसनजय से शीतोष्णादि द्वंद्व सम होजाते हैं। आगे मनके क्षेत्रमें विहार करनेके लिये शरीर के साथ प्राण की भी एकता कराने को प्राणायाम कहा है। इसका उद्देश्य प्राण और अपान को एक करना है। गीतामें भी 'प्राणापानौ समौ कृत्वा' कहा है तथा प्राण का अपानमें और अपान का प्राण में हवन करने का यज्ञ बताया है। एवं इन्द्रियों को मनमें एकसम करनेकी क्रिया प्रत्याहार है, और धारणाध्यान समाधि नामक अन्तरंग योग मनबुद्धि को आत्मामें सम करनेके लिये है।

कहते हैं ब्रह्मचर्य ब्रह्मप्राप्ति का सर्वोत्कृष्ट साधन है, इसके पूर्णतया करनेमें और सब साधन समाविष्ट हो जाते हैं। यह भी ठीक है, क्योंकि ब्रह्मचारी को सदा जागृत रहते हुवे सूक्ष्मसे सूक्ष्म द्वंद्वोंको वशमें करके निरन्तर समतोल खडे रहना होता है तभी पूरा ब्रह्मचर्य होता है। पृथिवी और द्यौ की दो भिन्नभिन्न अग्निओं की रश्मियां जहां अन्तरिक्ष में मिलती हैं वहां पर ब्रह्मचारी अपने तपोबल द्वारा समतोल ठहरता है यह बात अथर्ववेद के प्रसिद्ध ब्रह्मचर्य सूक्त के निम्न मंत्र में पाठक पढें और इसका गूढाशय समझने का यत्न करें:—

अर्वागन्य इतो अन्यः पृथिव्या अग्ने समेतो
नभसी अन्तरेमे। तयोः श्रयन्ते रश्मयोऽधि
दृढा ताना तिष्ठति तपसा ब्रह्मचारी॥
(अथ.११-५-११)

कहते हैं संध्या से परमात्मा की प्राप्ति होती है। यह ठीक है। संध्याका अर्थ यदि 'ध्यान' है तो इसका उल्लेख ऊपर अन्तरंग योग में हो गया है, पर संध्या अर्थात् संधिकाल में भी ईश्वर प्राप्ति हुवा करती है। जाग्रत् और स्वप्न की संधि का काल ईश्वर स्मरण के लिये विशेष अनुकूल है।

'स्वप्नान्तं जागरितान्तं चोभौ येनानु पश्यति'
कठ०

(पातंजल दर्शन में 'निद्राज्ञानालंबन' को एकाग्रता का एक साधन लिखा है)। किन्तु यह दिन और रात की संधि ही नहीं, अपितु जीवन और मरण की संधि, सुख और दुःख की संधि

भोगजीवन और त्यागजीवन की संधि में भी हमें एकवार वह अवसर फिर आया करता है, जब कि हम नारायण को पहिचान लें। द्वन्द्व के एक चक्र पर चढे हुवे जब हम घूम रहे होते हैं, तब तो हम उस के नशेमें चूर रहते हैं, पर जब चक्र धीमा होता है और द्वंद्व का मध्य (बदलने का समय) क्रमशः आ जाता है, तब हमारा नशा उतरता है उस समय हम चाहें तो अपनी ठीक होश में आ सकते हैं। इसीलिये परमात्मा ने जीवन मरण, दिन रात, संपत् विपत् आदि चक्र (आना जाना) बनाये हैं। बुढापे में जब कि जीवन का नशा उतरता है और मरण सामने दीखने लगता है, तो इस जीवन मरण के संध्याकाल में लोगों को ईश्वर याद आया करता है। एवं संपत् का नशा उतरने पर विपत् के प्रातःकालमें कइओं का ईश्वर की याद आया करती है। पर प्रायः हमलोग इन अमूल्य संध्याकालों को व्यर्थ ही खोया करते हैं। जिसने लाभ उठाना होता है वह तो एक साधारण सी ही द्वंद्वसंधि के अन्दर गहरा घुस कर उस ज्ञानमय प्रभुका प्रकाश पा लेता है और बुद्ध (जागा हुवा) हो जाता है।

बाह्य गंगा और यमुना के संगम (प्रयाग) का माहात्म्य कुछ हो या न हो, पर हमारी अन्दर की इडा और पिंगलाकी संगमभूत जो सुषुम्ना नाडी है उसमें स्नान करने से तो अवश्य परमात्मप्राप्ति होती है। उपनिषद् तथा योगग्रंथों में इसकी बहुत साक्षियां हैं। पर इन दो प्राणनाडिओं का संगम ही नहीं, अपितु " विद्या और अविद्या " " संभूति और असंभूति " राग और द्वेष, मृदुता और कठोरता, स्वार्थ और परार्थ, ज्ञान और कर्म आदि बहुत से संगम हैं जो कि इतने ही प्रयाग हैं जिनमें पूरी तरह मज्जन करने से मोक्षप्राप्ति होती है।

कहते हैं यज्ञ से परमात्मा की प्राप्ति होती है। यह ठीक है, क्योंकि यह संगतिकरण रूप है।

एवं हरिकीर्तन या सामगान भी ईश्वरप्राप्ति के लिये किया जाता है। ठीक है, क्योंकि गान की उत्पत्ति ध्वनि (स्वर) की समता से होती है और इस वाणी संबन्धी समता से उत्पन्न शक्ति के बल द्वारा हमारा (वाणी से मिला हुवा, एक हुवा) मन गान के विषय (परमात्मा) पर पहुंचने का यत्न करता है। पर हमारा यह शाब्दिक गान तो असल में ब्रह्माण्डवीणा से अखण्ड निकलने वाले ईश्वरीय लीलारूपी गान में अपने आपको संमिलित कर देने का एक साधन ही है। क्योंकि अपने से संबन्ध रखने वाले इस संपूर्ण ईश्वरीय सृष्टि से सम स्वर (In tune) रहना ही पुरुष का सतत पुरुषार्थ है। यही क्रियात्मक, जीता जागता सामगान है। इस ब्रह्माण्ड वीणा से बेसुरा होना ही एकमात्र पाप है, दोष है, तथा इसमें पूर्ण सम स्वर होजाना ही शाश्वत समता (Eternal Harmony) में बसने वाले उस प्रभु की प्राप्ति है।

और निस्स्वार्थ परसेवा करने से भी ईश्वर प्राप्ति होती है, क्योंकि निस्वार्थ सेवासे हम दूसरे जीवों के साथ एकता में आते हैं।

ईसीतरह अन्य सब साधनों में भी विचारक इस तत्त्वको देखें.

८ दुर्गम और सुगम।

किससमय किस द्वंद्व को सम करने का यत्न करना चाहिये, द्वंद्वोंके रूप कैसे बदलते हैं, प्रत्येक द्वंद्वमें वह कौन सा अर्धभाग (पक्ष) होता है जिधर एक समय झुकना उचित होता है इत्यादि इस प्रसंग में कई सूक्ष्म बातें हैं, जिनका कि विवेचन करना जरूरी है। किन्तु इस विस्तृत विषयके लिये इस लेख में जगह नहीं है। यह लेख तो सफल होजायगा यदि इसे पढकर किन्हीं लोगों को नारायण की समस्वरूपता का पता लग जायगा और अत एव उनमें इस समता के मार्ग पर चलने की प्रबल इच्छा उत्पन्न होजायगी।

पर जिसने इसमार्ग को कुछ भी समझा है वह यह तो जान जायगा कि यह मार्ग बडा दुर्गम है। निरन्तर ऐसे सावधान रहना, जागते रहना कि कभी भी इस किसी एक तरफ झुककर गिर न जाय यह कितना दुःसाध्य तप है। क्षण क्षण में जी चाहता है कि सदा जागते रहने की अपेक्षा एक तरफ आश्रय लेकर जरा सोजांय। पर जरा सोते ही हम मारे जाते हैं। अत एव ऋषि हमें जगाते हैं 'उठो,जागो'

उत्तिष्ठत जाग्रत प्राप्य वरान्निबोधत

क्योंकि—

क्षुरस्य धारा निशिता दुरत्यया।
दुर्गं पथस्तत् कवयो वदन्ति।

क्रान्तदर्शी (कवि) लोग इसे दुर्गम पथ कहते हैं। क्योंकि एक रस्सी पर सदा समतोल रहकर चलना ही कितना कठिन है, इधर या उधर गिरकर काम खतम करने का प्रलोभन लगातार होता है। पर यहां तो रस्सी पर भी नहीं चलना किन्तु छुरे की पैनी धार पर चलना है। इधर या उधर गिरने से भी बचना है और नीचे जो आश्रयके लिये पैनी धार है उसपर पैर भी ऐसे हलकेसे रखना है (उसपरभी पूरा आश्रय नहीं लेना, पैर नहीं जमाना, आसक्त नहीं होना)-ऐसे 'कौशल' से रखना है कि पैर कटने न पाय। आश्रय भी लेना, पर उसकी तीक्ष्णता से अस्पृष्ट रहना है!!

फिर भी घबराने की बात नहीं है। जबतक समता का अभ्यास नहीं होता तभी तक यह कठिनता है। ज्यों ज्यों हममें समता बढती है त्यों त्यों दोष (राग द्वेष) हटता है और ज्यों ज्यों दोष घटता है त्यों त्यों समता और बढती है। अतः आगे आगे यह मार्ग सुगम सुगम होता जाता है। इसीलिये गीता में पूर्वोक्त द्वंद्वचर्चा वाले श्लोक के बाद ही कहा है—

येषां त्वंतगतं पापं जनानां पुण्यकर्मणाम्।
ते द्वंद्वमोहविनिर्मुक्ता भजन्ते मां दृढव्रताः॥ ७-२८

जब जिन लोगों का पाप (दोष के साथ साथ इस तरह द्वंद्व मोहसे छुटकारा (विनिर्मुक्ति) होता जाता है वे लोग तब स्वभावतः द्वंद्वों की आडमें छिपे भगवान् को देखने और उसका भजन करने लगते हैं-दृढव्रत होकर भजन करने लगते हैं—उनकी भगवान में भक्ति दृढ दृढ होती जाती है। इसी भक्ति (प्रेम) ही के कारण मार्ग सुगम सुगम होता जाता है। बल्कि पीछे से यह मार्ग इतना अभ्यस्त और सहज हो जाता है कि उनके लिये इस मार्ग से विपरीत चलना ही दुर्गम नहीं किन्तु असंभव हो जाता है। अन्त में वे बिलकुल सम और निर्दोष (पाप रहित) होकर 'सम और निर्दोष' ब्रह्मको प्राप्त हो जाते हैं। ऐसे लोगों के लिये ही कहा है:—

इहैव तैर्जितः सर्गो येषां साम्ये स्थितं मनः।
निर्दोषं हि समं ब्रह्म तस्माद् ब्रह्मणि ते स्थिताः॥
गी० ५-१९

सचमुच ऐसे द्वंद्वातीत पुरुष शरीर में और जगत् में रहते हुवे भी (इहैव) इस बहुत बडे दिखायी देने वाले तुच्छ द्वंद्वमय जगत् पर विजय पा लेते हैं।

९ एक मंत्रका स्वाध्याय।

अन्तमें मैं निम्न वेदमंत्रका अपनी बुद्धिके अनुसार स्वाध्याय करता हुवा इस लेखको समाप्त करताहूं-

दूरे पूर्णेन वसति दूर ऊनेन हीयते।
महद् यक्षं भुवनस्य मध्ये तस्मै बलिं राष्ट्रभृतो भरन्ति
अथ. १०-८-१५

जो पूर्णसे दूर वसता है और जो ऊनसे भी दूर छूट जाता है ऐसा भुवन के मध्य में रहने वाला एक महान यक्ष है। उसके लिये राष्ट्रसंचालक भी बलि देते हैं।"

एक राजाओंका राजा है जो कि 'महत्' सबसे महान् है और 'यक्ष' सर्व पूजनीय और युक्त है। उससे बडा और कोई नहीं है तथा उसका पूज्य और कोई नहीं है। वह राजाओंका राजा इस लिये है क्यों कि संसार में मनुष्यों और देवोंके भी जो बडे से से बडे 'राष्ट्रभृत्' (राष्ट्रसंचालक) राजे महाराजे हैं वे उसके लिये 'बलि' अर्थात् कर (Tax) देते हैं। विना उसे कर दिये कोई सांसारिक सम्राट नहीं बन सकता। जैसे हमें राजा (सरकार) को कर देना होता है, क्यों कि हम उसकी शक्ति के आश्रयण से सुख शान्ति का भोग करते हैं, वैसे ही संसारमें सम्राट् कहलाने वाले भी चूंकि उसकी ही शक्ति के आश्रयण से अपने कार्य करने में समर्थ होते हैं अतः उन्हें भी उसकी शक्ति की सहायता पाने के लिये उस यक्ष को पुण्यकर्म व तपस्यारूपी कर देने होते हैं। विना पुण्यकर्म की संपत्ति के कोई ऊंचे पदोंपर नहीं पहुंचता, पहुंचने पर भी जब कभी उसको यह संपत्ति क्षीण हो जाती है अर्थात् जगदधिपतिके लिये यह करदेना वह बंद करदेता है, तो वह उच्च पदसे च्युत हो जाता है। तात्पर्य यह कि संसार के बडे से बडे सम्राट भी

उसके अधीन हैं, उसकी प्रजा हैं उसके कर्मफ भुगानेवाले नियमों के नीचे हैं । वह एक मात्र राजा है ।—

वह विश्व का राजा कहां है ? इसका उत्तर इस मंत्र में 'भुवनस्थ मध्ये ' इन शब्दों द्वारा दिया गया है । वह 'भुवन ' अर्थात् सब उत्पन्न हुवे विश्व के 'मध्ये ' अर्थात् मध्य में अन्तर्यामी होकर स्थित है।

'मध्ये '(अथवा अन्तर्यामी)का क्या अभिप्राय है यही बात इस सब लेख में विस्तार से स्पष्ट की गयी है, पर अब वही बात इस वेद मंत्र के शब्दोंमें सुनिये, क्यों कि वही बात इस मंत्र के पूर्वार्ध में संक्षेप से साररूपेण भरी हुई है । शब्द ये हैं—

" दूरे पूर्णेन वसति, दूर ऊनेन हीयते "

वह 'पूर्ण ' से दूर बसता है और 'ऊन ' से दूर ही छुट जाता है अर्थात् पूर्ण और ऊन दोनों से दूर है। बल्कि यों कहना चाहिये कि दोनों से एक समान दूरी पर है, क्यों कि वह इन दोनों की ठीक मध्यता में है। यही 'भुवनस्य मध्ये ' का स्पष्टीकरण है ।पूर्ण और ऊन में सब द्वंद्वों का समावेश हो जाता है। इन्हें आजकल की भाषा में भावात्मक (Positive) और अभावात्मक (Negative) कह सकते हैं । पूर्ण और उनमें कैसे सब द्वंद्व आ जाते हैं और इन सब द्वंद्वों से परमात्मा अतीत कैसे है यह समझने के लिये विचारक लोग केवल निम्न लिखित वर्गीकरण को ध्यान से देख लें:—

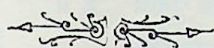
पूर्ण	ऊन
यच्चास्ति	यच्च न
भावात्मक	अभावात्मक
विधि	निषेध
सृष्टि	प्रलय
दिन	रात्रि
कर्मरति	अकर्मण्यता
सबप्रकारकी संपत्तिसे युक्त	संपत्ति का अभाव
धनिकता	निर्धनता
[साधनों में ही लिप्त हो जाना]	[साधनों की उपस्थिति ही न होना]
[संतुष्टि (अत एव जिज्ञासाका अभाव)]	[असंतुष्टि (तृष्णा की विह्वलता)]
ऐश्वर्य का मद	अनैश्वर्य का कष्ट
अभिमान	आत्मनिर्भरता का अभाव
अति योग	हीन योग
ईक्षा (प्राप्ति की इच्छा)	जिहासा (त्याग की इच्छा)
आसक्ति	हटाव
काम	क्रोध
राग	द्वेष

इस वर्गीकरण को अच्छीतरह मनन करके पाठक अपनी धारणा बनालें कि 'पूर्ण ' प्रकार के लोग तथा 'ऊन' प्रकार के लोग कौन हैं या एक ही मनुष्य कब पूर्ण व ऊन अवस्था में होता है और फिर देखें कि वह महत् यक्ष पूर्ण प्रकार के मनुष्य से सदा दूर वसता है-अर्थात् वह मनुष्य जितना अपने आप को भरता (पूरण कर) जाता है उतना ही यक्ष का घर उससे दूर होता जाता है; दूसरी तरफ 'ऊन ' मनुष्य जितना ऊन होता है उतना ही वह यक्षदेव से दूर छूटा रहता है । 'पूर्ण ' से तो वह दूर होता जाता दीखता है, और 'ऊन' मनुष्य स्वयं अपने आपको उससे दूर रहते देखता है । एवं दोनों उससे दूर रहते हैं, पर भिन्न भिन्न प्रकार से। उससे दूरी तब हटे जब हम ऐसे देश में पहुंच जाय जहां 'पूर्ण ' और 'ऊन ' दोनों नहीं हैं, जिस सम मध्यस्थ देश में पूर्ण और ऊन का भेद मिट जाता है, जहां ये दोनों एक हो जाते हैं, जहां से ये दोनों निकले हैं अतः जहां कि अपेक्षा ये दोनों अधूरे हैं। तब हम इस छिपे हुवे (यक्ष) के घर में ही पहुंच जाते हैं, तब ब्रह्म न दूर रहता है न पास, किन्तु हम ही 'ब्रह्मणि स्थितः' हो जाते हैं। उस स्थानपर खडे होकर हम जो भी कोई अन्य वस्तु देखेंगे उसके मध्य में हमें वही दीखेगा।वह प्रत्येक भुवन (उत्पन्न वस्तु) में प्रकट हो जायगा, छिपा हुवा यक्ष नहीं रहेगा । और तब यह भी दीखेगा कि जगत् के सब भूत उसी एक मात्र राजाधिराज को बलि देते हुवे उससे जीवन धारण कर रहें हैं—जो जितना उसके लिये बलि दान कर रहा है, उसे उतनाही जीवन उस अक्षय जीवन भंडार से मिल रहा है।

आओ उस देश को चलें ।

——१०३——

औपनिषदिक प्रमाणों से उपनिषदोंका अर्थ।



थोडे समय के पूर्व हमने वैदिक प्रमाणों से वेदका अर्थ किया था अब उसी रीति से हम उपनिषदोंका अवलोकन करते हैं ॥

उपनिषद् में उद्गीथ ओ३म् को आठवां रस कहा है। वह उद्गीथ सातवें रस सामका भी रस है। वह साम छठे रस ऋक् का भी रस है। अब यहां सातवें तथा छठे रस साम तथा ऋक् की व्याख्या स्वयं उपनिषदों से ही की जाती है।

"औपनिषदिक ऋक् साम समीक्षा।"

१ इयमेवर्गग्निः साम'''इयमेवसाऽग्निरमस्तत्साम॥ छान्दो० १।६।१॥

अर्थात् यह पृथिवी ही ऋक् है और यह अग्नि ही साम है ... पुनः इस अग्नि साम में भी जो सा है वह (इसके पार्थिव अंश) पृथिवी का नाम है और जो (पिछला) अम है वह शुद्ध अग्नि का नाम है सो वह पृथिवी + अग्नि ही साम है ॥

२ अन्तरिक्षमेवर्ग्वायुः साम''' अन्तरिक्षमेव सा वायुरमस्तत्साम॥ छान्दो० १।६।२॥

अर्थात् अन्तरिक्ष ही ऋक् है और वायु ही साम है... पुनः इस साम में भी सा नाम अन्तरिक्ष का और अमनाम वायु का है अतः अन्तरिक्ष+ वायु ही साम हैं ॥

३ द्यौरेवर्गादित्यः साम ... द्यौरेवसादित्योऽमस्तत्साम ॥ छन्दो० १।६।३॥

अर्थात् द्यौ ही ऋक् है और आदित्य ही साम है पुनः इस साम में भी द्यौ का वाचक सा और आदित्य का वाचक अम होने से द्यौः+आदित्य ही साम है ॥

४ नक्षत्राण्येवर्क् चन्द्रमाः साम...नक्षत्राण्येव सा चन्द्रमा अमस्तत्साम ॥ छा० १ । ६ । ४ ॥

अर्थात् नक्षत्र ही ऋक् और चन्द्रमा ही साम है... पुनः इस साममें भी सा का अर्थ नक्षत्र और अम का अर्थ चन्द्रमा होने से नक्षत्र + चन्द्रमा ही, साम है॥

५ अथ यदेतदादित्यस्य शुक्लं भाः सैवर्गथ यन्नीलं परः कृष्णं तत्साम...। अथ यदेवैतदादित्यस्य शुक्लं भाः सैव साथ यन्नीलंपरः कृष्णं तदमस्तत्साम् ॥ छान्दो० १।६। ५, ६॥

और जो यह आदित्य नाम सूर्य का सफेद चमक, श्वेत ज्योति है वही ऋक् है और जो उस की नीली टिकिया, दूसरा काला भाग है वह साम है... पुनः इस साम में भी सा का अर्थ सूर्य की शुक्ल भाः और अम का अर्थ उस का दूसरा काला भाग नीली टिकिया होने से आदित्य की शुक्ल भाः+उस के नीले काले दूसरे भाग का ही एक नाम साम है ॥

अथ य एषोऽन्तरादित्ये हिरण्मयः पुरुषो दृश्यते हिरण्यश्मश्रुर्हिरण्यकेश आप्रणखात्सर्व एव सुवर्णः ॥ ६ ॥ तस्योदिति नाम स एष सर्वेभ्यः पाप्मभ्य उदित उदेति ह वै सर्वेभ्यः पाप्मभ्यो य एवं वेद ॥ ७ ॥ तस्यर्क च साम च गेष्णौ तस्मादुद्गीथस्तस्मात्त्वेवोद्गातैतस्य हि गाता स एष ये चामुष्मात्पराञ्चो लोकास्तेषां चेष्टे देवकामानां चेत्यधिदैवतम् ।। छ०१।६।६--८

अर्थात् उस आदित्य के अन्दर जो यह ज्योतिस्वरूप पुरुष दिखाई पडता है जिस की मूंछें दाढी, बाल सब सूर्य की किरणें ही होने से अत्यन्त चमकीले हैं और जो अपने नाखुनों के सब से अगले सिरोंतक सर्वथा उत्तम चमकीला ज्योतिर्मय ही है उसी आदित्यान्तर्गत पुरुष का नाम उत है क्योंकि वह सब पापों से ऊपर उठा हुआ उन से सर्वथा रहित है और साथ ही क्योंकि जो उस तेजोमय पुरुष को ऐसा जान कर प्राप्त होता है वह भी सब

पापों से ऊपर उठ जाता, उनसे सर्वथा रहित हो जाता है । अतः उस आदित्यान्तर्गत पुरुष का नाम उत् है परन्तु ऋक् और साम दोनों उसी को गाना चाहते हैं अतः (वही गायनीय नाम गीथ भी है अत उत् और गीथ दोनों नाम मिलाकर उस का ही एक नाम उद्गीथ बना अतः) वह आदित्यान्तर्गत पुरुष ही उद्गीथ है अतः उसे ही गावे अर्थात् उसी आदित्यान्तर्गत हिरण्मयपुरुष को ही उद्गीथ जान सदा उसी की ही महिमा का गान करे क्योंकि इसी का गान करनेवाला उस आदित्य लोक से भी परले जो वैद्युतादि देवताओंके द्युलोक हैं तथा जो भी देवताओं की कामनाएं हैं उन सब का ईश्वर अधिष्ठाता हो जाता है यह अधिदैवत ऋक् साम समीक्षा समाप्त हुई ॥

[टिप्पणी-ऊपर जितने भी ऋक् साम जोडे वर्णित हुए हैं उन सब में

" ऋच्यध्यूढं साम "

साम अपने सम्बन्धि ऋक् विशेष में अध्यूढ नाम अधिष्ठाता रूप में स्थित है और इसी कारण ही वह साम अपने ऋक् विशेष से सम्बद्ध ही (महान् तथा) गायनीय होता है इसी कारण ही हर ऋक् साम जोडे के सम्बन्ध में उपरोक्त शब्दों के साथ ही-

' तस्मादृच्यध्यूढँ साम गीयत "

शब्द बार बार दोहराए गए हैं ॥ छन्दो० १।६।१-८॥]

अथाध्यत्मं ॥ छादों० १।७।१॥

अब ऋक् साम सम्बन्धि अध्यात्म व्याख्यान करते हैं । छठा सातवां आठवां रस ये हैं:—

वागेवर्क् प्राणः सामोमित्येतदक्षरमुद्गीथः ॥ छा० १।१।५॥

अर्थात् वाणी ही ऋक् प्राण ही साम और ओम् अक्षरही उद्गीथ है अतः वाक्, प्राण और ओम् केही नाम क्रमशः ऋक् साम और उद्गीथ हैं ॥

१ वागेवर्क् प्राणः साम...वागेव सा प्राणोऽमस्तत्साम ॥ छान्दो० १।७।१॥

अर्थात् वाणी ही ऋक् और प्राण ही साम है ... पुनः इस साम में भी सा का अर्थ वाणी और अम का प्राण होने से वाणी+ प्राण ही साम है ॥

२ चक्षुरेवर्गात्मा साम...चक्षुरेव सात्माऽमस्तत्साम ॥ छान्दो० १।७।२॥

अर्थात् चक्षु आंख ही ऋक् और आत्मा ही साम है... पुनः इस साम में भी साका अर्थ चक्षु और अम का अर्थ आत्मा होने से चक्षु+आत्मा ही साम है ॥

३ श्रोत्रमेवर्ङ् मनः साम...श्रोत्रमेव सा मनोऽमस्तत्साम ॥ छान्दो० १।७।३॥

अर्थात् श्रोत्र कान ही ऋक् और मन ही साम है...पुनः इस साम में भी साका अर्थ श्रोत्र और अम का अर्थ मन होने से श्रोत्र+मन ही साम है ॥

४ अथ यदेतदक्ष्णः शुक्लं भाः सैवर्गथ यन्नीलं परः कृष्णंतत्साम तदेतदेतस्यामृच्यध्यूढँ साम तस्मादृच्यध्यूढं साम गीयते अथ यदेवैतदक्ष्णः शुक्लं भाः सैव साऽथ यन्नीलं परः कृष्णं तदमस्तत्साम ॥ छा० १।७।४॥

और जो यह आंखका सफेद श्वेत चमकदार भाग है यह ही ऋक् और जो नीला दूसरा काला भाग है वह साम है ।उपरोक्त सब ऋक् साम जोडों की न्यायीं इस आंख के श्वेत कृष्ण भाग रूप जोडे में भी साम रूप कृष्ण भाग, ऋक् रूपी श्वेत भाग में अधिष्ठाता रूप में स्थित होने के कारण ही गायनीय होता है क्यों कि प्रत्येक साम अपने ऋक् विशेष में सम्बद्ध ही गायनीय होता है ॥ फिर उस साम में भी जो यह आंख की श्वेत चमक है वही सा और जो यह नीली काली दूसरी है वही अम होनेके कारण ही यह आंखकी श्वेत ज्योति+काला नीला दूसरा भाग दोनों का इकट्ठा नाम साम है ॥

अथ य एषो ऽन्तरक्षिणि पुरुषो दृश्यते सैवर्क्तत्साम तदुक्थं तद्यजुस्तद् ब्रह्म तस्यैतस्य तदेव रूपं यदमुष्यरूपं यावमुष्य गेष्णौ तौ गेष्णौ यन्नाम तन्नाम ॥ छा० १।७।५॥

और जो यह आंखके अन्दर पुरुष दिखाई देता है वह ही ऋक् साम उक्थ, यजुः, ब्रह्म है यह सब उसी के नाम हैं उस का रूप वही है जो उस आदित्यान्तर्गत पुरुष का, उस के गानेवाले ऋक् साम भी वही हैं जो उस पहिले आदित्य पुरुष के और उस का

नाम भी वही उद्गीथ है जो उस पूर्वोक्त आदित्यान्तर्गत हिरण्मय पुरुष का ॥

स एषु ये चैतस्मादर्वाञ्चो लोकास्तेषां
चेष्टे मनुष्यकामानां चेति ॥ छा ० १।७।६॥

वह यह आदित्य तथा चक्षु अन्तर्गत तेजोरूप हिरण्मय पुरुष परमात्मा ही मनुष्यलोक पृथिवी तथा अन्य सब लोकों का ईश्वर है ॥

तद्य इमे वीणायां गायन्त्येतं ते गाय-
न्ति तस्मात्ते धनसनयः ॥ छा ० १।७।६ ॥

और जो यह बीन बांसुरी बजाने वाले गाते हैं वह भी उसी पुरुष की महिमा गाते हैं इसी लिये दाता लोग उन्हें धन देते हैं और वह उस धन रूप दान के ग्रहण करने के अधिकारी होते हैं ॥

अथ य एतदेवं विद्वान्साम गायत्युभौ
स गायति सोऽमुनैव स एष ये चामुष्मा-
त्पराञ्चो लोकास्तांश्चाप्नोति देव-
कामांस्तांश्च ॥ छा ० १ । ७ । ७॥

और जो यह इस प्रकार परमात्मा को जान कर साम रूप उस की महिमा गाता है वह उन, आदित्य देवता वाले मन्त्रोंसे परले लोकों और देवलोकोंकी इच्छानुसार प्राप्त होता है ॥

अथानेनैव ये चैतस्मादर्वाञ्चो लोकास्तां-
श्चाप्नोति मनुष्यकामाँश्च ॥ छ ० १।७।८॥

और इन चक्षु आदि मनुष्य सम्बन्धि मन्त्रोंके द्वारा वह इधर के सब लोकों और मनुष्य लोकों को इच्छानुसार प्राप्त होता है ॥

तस्मादु हैवं विदुद्गाता ब्रूयात् ॥ ८ ॥ कं
ते काममागायानीत्येष ह्येव कामगानस्येष्टे
य एवं विद्वान्साम गायति
साम गायति ॥ छान्दो० १।७।८,९॥

(इस प्रकार परमात्मा का ज्ञाता सब मनुष्यसुख, देवसुख तथा सब लोकों में कामचार से प्राप्तसुख, प्राप्त करता है अतः उसे ही उद्गाता समझना चाहिये) ऐसा ब्रह्म वेत्ता उद्गाता ही (अपने यजमानसे) पूछे कि तेरी किस कामना की सिद्धि निमित्त मैं साम गाऊं (अन्य कोई रागी इस प्रकार नहीं पूछा सकता) क्यों कि जो उपरोक्त चक्षु तथा आदित्य अन्तर्गत पुरुष परमात्मा को देखता है और उसे अनुभव करता हुआ साम गाता है वही उद्गाता काम गान का अधिष्ठाता है वही यजमानकी कामना सिद्धि निमित्त साम गाकर उस की वह कामना सिद्ध कर सकता है अतः वही यजमान से उपरोक्त प्रश्न पूछ सकता है ॥

ऊपर छा० १।१।५ तथा १।७।१ में साम का एक अर्थ प्राण किया गया है। प्राण को साम क्यों कहते हैं ? इसका उत्तर है कि—

साम प्राणो वै साम प्राणो हीमानि स-
र्वाणि सम्यंश्चि सम्यचि हास्मै स-
र्वाणि भूतानि श्रैष्ठ्याय कल्पन्ते सा-
म्नः सायुज्यं सलोकतां जयति य
एवं वेद ॥ बृहदा ० ५ । १३ । ३ ॥

प्राण को साम कहने का कारण यह है कि यह सब, प्राण में ही समभाव से प्राप्त हैं अर्थात् प्राण के साथ सब का एक सा सम्बन्ध है और इस तत्त्व के ज्ञाता को एक साही सब पदार्थ श्रेष्ठ बनाना चाहते हैं, अर्थात् सब ही भूत उस को श्रेष्ठ बनानेके लिये एकसा यत्न करते हैं और वह साम प्राण परमात्मा को जान उस के समीप हो ब्रह्म लोक में जाता है। इस प्रकार साम वही है जो सब में सांझा सब से वही सम्बन्ध रखने वाला हो तथा जिस के ज्ञाता को श्रेष्ठ बनाने के लिये सब एक सा ही यत्न करें !!

ऊपर छा० १।७।२ में आत्मा को साम कहा है और चक्षु को सा कहा है और छा० १।७।१ में वाक को सा कहा है इन का कारण बृहदा० १।६ में कहा है यथा—

त्रयं वा इदं नाम रूपं कर्म तेषां नाम्नां वागित्ये-
तदेषां सामैतद्धि सर्वैर्नामभिः समं...॥१॥ अथ
रूपाणां चक्षुरित्येतदेषां...सामैतद्धि सर्वैः रूपैः
समं.. ॥२॥ अथ कर्मणामात्मेत्येतदेषां सामै-
तद्धि सर्वैर्कर्मभिः समं... ॥३॥ बृह० १।६।१-३॥

नाम रूप और कर्म यह एक त्रिपुटी तिक्कडी है उस त्रिपुटी में से वाणी सब नामों की, चक्षु सब रूपोंकी और आत्मा सब कर्मों का साम इस कारण है कि यह वाणी ही सब नामोंमें साम है यह चक्षु ही सब रूपोंमें साम है और यह आत्माही सब कर्मों

में सम है अतः साम का अर्थ सांझा एकरूप सम ही है ॥

इस प्रकार ऋक् सामके अनेक अर्थ उपनिषदोंसे ही लिखकर हम इस औपनिषदिक ऋक् साम समीक्षा को यहां समाप्त करते हैं ॥

" अथ उक्थ ब्रह्मयजुः क्षत्र शब्दानां औपनिषदिकी व्याख्या ॥"

बृहदारण्यक के ऊपर उद्धृत हुए ब्राह्मणमें वाक् चक्षुः और आत्मा की नामों, रूपों, कर्मोंका क्रमशः उक्थ भी कहा गया और इसके लिये हेतु भी वहां दिया गया है यथाः—

१ तेषां नाम्नां वागित्येतदेषामुक्थमतो हि सर्वाणि नामान्युत्तिष्ठन्ति... ॥१॥ अथ रूपाणां चक्षुरित्येतदेषामुक्थमतो हि सर्वाणि रूपाण्युत्तिष्ठन्ति ॥ २ ॥ अथ कर्मणामात्मेत्येतदेषामुक्थमतो हि सर्वाणि कर्माण्युत्तिष्ठन्ति ॥ ३ ॥

बृह० १।६।१३॥

वाणी सब नामों की, चक्षु सब रूपोंकी और आत्मा सब कर्मोंका उक्थ इस कारण है कि इस वाणी ही से सब नाम जन्मते हैं, आंख से ही सब रूप प्रचलित होते हैं और आत्मा से ही सब कर्मों का प्रादुर्भाव होता है, अतः सब का स्रोत होनेसे ही यह सब उक्थ है क्योंकि नामों का स्रोत होने से ही वाणी नामों का उक्थ है इसी कारण आंख और आत्मा भी ॥

प्राण को उक्थ नाम देने का कारण बृहदा० ५।१३।१ में लिखा है किः-

उक्थं प्राणो वा उक्थं प्राणो हीदं सर्वमुत्थापयत्युद्धास्मादुक्थ विद्वीरस्तिष्ठत्युक्थस्य सायुज्यं सलोकतां जयति य एवं वेद ॥

प्राणको उक्थ कहने का कारण यह है कि प्राण ही इस सब को उठाता है और क्यों कि इस प्राण के द्वारा ही उक्थ का ज्ञाता वीर अर्थात् तत्त्ववेत्ता कर्म योगी इस प्राण के भी ऊपर ठहरता है अर्थात् प्राण को वश में कर लेता है और उत्कृष्टस्थिति को लाभ करता है अर्थात् ऊंचा दर्जा पाता है इस उक्थ तत्त्व का ज्ञाता उक्थ की समीपता तथा उस के सालोक्य को प्राप्त होता है। यहां उक्थ तथा प्राण से तात्पर्य परमात्मा का भी ले सकते हैं अतः प्राणवेत्ता परमात्मा के समीप ही ब्रह्म लोक में जाता है ॥

इस प्रकार उक्थ वही है जो सबको ऊपर उठाकर अपनी प्राप्ति उन्हें करवा देवे। और जो सब का स्रोत हो ॥

२ तेषां नाम्नां वागित्येतदेषां ब्रह्मैतद्धि सर्वाणि नामानि बिभर्ति ॥१। अथ रूपाणां चक्षुरित्येतदेषां...ब्रह्मैतद्धि सर्वाणि रूपाणि बिभर्ति ॥२॥ अथ कर्मणामात्मेत्येतदेषां ...ब्रह्मैतद्धि सर्वाणि कर्माणि बिभर्ति तदेतत्त्रयं सदेकमयमात्माऽऽत्मो एकः सन्नेतत्त्रयं तदेतदमृतं सत्येन छन्नं प्राणो वा अमृतं नामरूपे सत्यं ताभ्यामयं प्राण श्छन्नः ॥३॥ बृहदा० १।६।१-३॥

वाणी सब नामोंकी, चक्षु सब रूपोंकी और आत्मा सब कर्मों का ब्रह्म इस कारण है, कि यह वाणी ही सब नामोंको धारण पालन पोषण करती है यह आंख ही सब रूपोंको और यह आत्मा ही सब कर्मों को।

अतः ब्रह्म का अर्थ धारण पालन पोषण करने वाली ही है।

सो यह नाम रूप और कर्म रूपी त्रिपुटी सत् कहलाती है अर्थात् सत् वही है जिसकी मूर्ति आकार हो, कोई नाम हो और वह कोई कर्म भी करे परन्तु विरुद्ध इसके यह आत्मा एक है। आत्मा ही एक है यह त्रिपुटी तो सत् है वह यह आत्मा अमृत है अमृत स्वरूप वह आत्मा सत्य स्वरूप त्रिपुटीसे ढका हुआ है अर्थात् प्राण, ज्ञान, जीवन, आत्मा, परमात्मा अमृत है और नाम और रूप सत्य हैं उस नाम रूप रूपी सत्य से यह आत्मा अमृत रूपी प्राण ढकाहुआ है ॥ अर्थात् अव्यक्त परमात्मा अपने व्यक्त नाम रूप कर्मोंसे ढका हुआ रहता है और इसी प्रकार अव्यक्त जीवात्मा भी अपने नाम रूप कर्मों से ढका हुआ रहता है और इसी प्रकार अव्यक्त प्रकृति रूप आत्मा सूक्ष्म तत्त्व भी अपने व्यक्त नाम रूप कर्मों से ढका हुआ रहता है। सारांश यह कि आत्मा, सूक्ष्मरूपेण सब एक है नाम रूप कर्मों से त्रिपुटि रूपी सत् व्यक्त होता है ॥

३ यजुः प्राणो वै यजुः प्राणो हीमानि सर्वा

णि भूतानि युज्यन्ते युज्यन्ते हास्मै सर्वाणि भूतानि श्रैष्ठ्याय यजुषः सायुज्यं सलोकतां जयति य एवं वेद ॥ बृह० ५। १३। २॥

प्राण को यजुः कहने का कारण यह है कि प्राण में हीं यह सब उत्पन्न पदार्थ जुडे रहते हैं और जो इस तत्त्व को जान जाता है उस को श्रेष्ठ बनाने उस का कल्याण करने के लिये सब पदार्थ जुड जाते हैं अर्थात् सब पदार्थ उस की उन्नति करते हैं वह यजु तथा प्राण परमात्माके समीप हो ब्रह्म लोक में जाता है।

इस प्रकार यजुः वही है जिस में सब युक्त होते हैं और जिस के ज्ञाता को श्रेष्ठ बनाने के लिये सब भूत युक्त होते हैं ॥

४. क्षत्रं प्राणो वै क्षत्रं हि त्रायते हैनं प्राणः क्षणितो प्रक्षत्रमत्रमाप्नोति क्षत्रस्य सायुज्यँ सलोकतां जयति य एवं वेद॥ बृह० ५। १३। ४॥

प्राण को क्षत्र कहते हैं क्योंकि प्राण ही इस प्राणी को क्षीण होने कमजोर होकर मरने से बचाये रखता सुरक्षित रखता है इस तत्त्वका ज्ञाता क्षयसे बचनेके उत्तम साधन अन्न को प्राप्त होता है तथा क्षत्र प्राण परमात्मा के समीप हो ब्रह्म लोक में जाता है॥

इस प्रकार क्षत्र वही है जो क्षीण होने से जीर्ण हो कर मरने से बचाये रखता सुरक्षित रखता रहता है तथा जिस का ज्ञाता उत्तम रक्षा का साधन अन्न प्राप्त करे ॥

इति उक्थ-ब्रह्म-यजुः- क्षत्र शब्द-व्याख्या समाप्त॥

संचित ।

(ले०—श्री० उदयभानुजी)

शास्त्रकारों ने मनुष्य के संस्कारों को तीन भागों में विभक्त किया है-१ क्रियमाण, २ प्रारब्ध, और ३ सञ्चित। इह लोक में प्राप्त किये हुए संस्कारों को क्रियमाण, गत जन्म के संस्कारों को प्रारब्ध और जन्म-जन्मांतर के शेष संस्कारों को सञ्चित कहते हैं। इस लेखमें हमने प्रारब्ध को सञ्चित के अन्तर्गत कर दिया है। इस कारण हमारे मन्तव्यानुसार संस्कारों के दो विभाग हैं—१ क्रियमाण, २ संचित। हमने अपनी इन्द्रियों से इह लोक में जन्म के पश्चात् जो अनुभव प्राप्त किया है, उसे क्रियमाण और इस जन्म के पूर्व—अनुभूत जितने भी संस्कार हो-चाहे वे किसी भी जन्म के क्यों न हों संचित् हैं।

पाश्चात्य मनोवैज्ञानिक-गण क्रियमाण को ही स्वीकार करते थे; किन्तु, अभी कुछ वर्षों से वे क्रियमाणके अतिरिक्त संस्कारों को भी मानने लगे हैं। उन्हें बाध्य होकर यह स्वीकार करना पडा है कि केवल क्रियमाण से हम मनुष्यों का कार्य नहीं चल सकता। अनुभव इस बात को सिद्ध करता है कि इसके सिवा भी अन्य संस्कार होते हैं जो मनुष्य को जन्म से ही प्राप्त रहते हैं, ऐसे संस्कारों को उपार्जन करने की आवश्यकता उसे यहाँ नहीं रहती उसका यह जीवन बहुत कुछ इन्हीं संस्कारों पर निर्भर रहता है। ऐसे संस्कारों को हम यहाँ 'पैत्रक' शब्द से अभिहित करेंगे।

सञ्चित् तो पूर्व जन्म के अनुभव से प्राप्त होते हैं किन्तु पैत्रक इस-से नितान्त भिन्न है। पैत्रक संस्कार माता पिता और पूर्वजों के अनुभव हैं। इनका पूर्व जन्म से कोई सम्बन्ध नहीं। माता-पिता और पूर्वजों के अनुभव किए हुए संस्कार बालक को प्राप्त हो जाते हैं, यही इनका सिद्धान्त है।

वैदिक सिद्धान्तों में पुनर्जन्म स्वीकृत है। इसका वर्णन कर लेखके कलेवरको बढाना अभीष्ट नहीं; क्योंकि समय-समय पर इसका विशद वर्णन पाठकों के सम्मुख आ- चुका है। यदि पुनर्जन्म सत्य है तो सञ्चितका होना आवश्यक है। पुनर्जन्मकी सिद्धि संचित पर ही आश्रित है।

जिन्होंनें मानस-शास्त्र का यत्किंचित् भी अध्ययन किया है उन्हें क्रियमाणेतर संस्कारों को मानना पडता है। इस में किसी को भी संशय नहीं। विवादास्पद प्रश्न केवल यही है कि ये क्रियमाणेतर संस्कार वास्तव में संचित हैं या पैत्रक। हम इस लेखमें केवल इसी बात का विचार करेंगे।

थोडे समय के लिए हम इस बात को स्वीकार कर लेते हैं कि क्रियमाणेतर संस्कार वास्तव में पैत्रक ही होते हैं, संचित नहीं। माता पिता का उपार्जित धन जैसे पुत्र को अप्रयास ही मिल जाता है, ठीक उसी प्रकार उनका उपार्जित किया हुआ अनुभव भी पुत्र को प्राप्त हो जाता है। पुत्र इन संस्कारों को प्राप्त कर इस संसार में जन्म लेता है और अपनी उन्नति करता हुआ इन्हीं संस्कारों का विकास करता रहता है।

यह सिद्धान्त वास्तव में मानने में जितना सरल है उतना अनुभव में नहीं। हम देखते हैं कि अनुभव इससे विपरीत जाता है। माता पिता में जो गुण विकसित हैं वह पुत्रमें नहीं पाया जाता और जो संस्कार उनमें हैं वे पुत्रमें नहीं पाये जाते। संसार के इतिहास इस बात की पुष्टि करते हैं। शेक्सपीयर और कालिदास ऐसे दम्पति के पुत्र थे जिन्हें न केवल काव्य से अरुचि ही थी किन्तु वे लिख पढ भी नहीं सकते थे। ठीक इसी प्रकार अहिल्याबाई के पुत्र का स्वभाव उन से (अपने माता पिता से) बिलकुल विपरीत था। औरङ्गजेब राज्य शासन करने में जितना कुशल और कृपण था उतना ही उसका पुत्र उससे विपरीत था। शासन की योग्यता केवल औरंगजेब में ही नहीं थी अपितु उसकी कई पीढियाँ इस कार्य में दक्ष थीं। पैत्रक सम्पत्ति के सिद्धान्तानुसार औरंगजेब का पुत्र भी उतना ही प्रवीण होना चाहिए परन्तु इतिहास इस बातको सिद्ध करता है कि औरंगजेब की मृत्यु के पश्चात् उसके उत्तराधिकारी अपना राज्य संभाल न सके।

केवल माता-पिता के स्वभाव से ही पुत्र का स्वभाव विभिन्न होता नहीं दिखाई देता अपितु पीढियों के संस्कारों से भी बिभिन्नता पाई जाती है। महात्मा बुद्ध के कई पूर्वज राज्य कर चुके थे, और उनमें से प्रायः सभी विषय वासना से बँधे थे। किन्तु बुद्ध साँसारिक भोगों को नीरस और तुच्छ समझता था। इसी प्रकार के अनेक उदाहरण दिए जा सकते हैं। इन सब उदाहरणों से पाया जाता है कि मनुष्यको पैत्रक संस्कार प्राप्त नहीं होते।

हमें एक प्रसिद्ध मनो विज्ञान विद्ने इस युक्ति का खण्डन करते हुए लिखा थाः

" It is true, that, Shakespeare was born of parents who could neither read nor write. There was something in the boy more than either of them. That additional something was his will, which, by always acting in a definite way, often in the line of the greatest resistance, gave him stability when others were wavering like reeds in the wind.

There was will-power in him that rose above heredity and environment, and gave him a character that breathes forth in every play."

अर्थात् " यह बात सत्य है कि शेक्सपीयर ऐसे माता-पिता से उत्पन्न हुआ जो लिख-पढ नहीं सकते थे। उस बालक में उनके संस्कारों के अतिरिक्त और कुछ भी था। वह उसकी संकल्प शक्ति थी जिस के कारण वह अपने ध्येय पर दृढ रहा। जहाँ अन्य मनुष्य वायु में तृण के सदृश इधर उधर भटकते थे वहाँ वह उसी संकल्प बल से आपत्तियों का सामना करता हुआ अपने आदर्श की सफलता में रत रहता था।

उसमें वह संकल्प बल ही था जिसने उसे पैत्रक और परीस्थिति से ऊँचा उठाकर प्रतिभा वान् बनाया था; जिसका परिचय उसके प्रत्येक नाटक में मिलता है। "

पाश्चात्य लोगों का प्रायः यह नियम सा रहा है कि वे कभी अपने को भारत का ऋणी नहीं प्रकट होने देते। यहाँ के सिद्धान्तों को वे ऐसा तोड मरोड कर रखते हैं कि उनमें से भारतीयता की

झलक नष्ट हो जाती है। यही हाल इस विषयमें भी है। पहले पहलतो वे क्रियमाणेतर संस्कारों का अस्तित्व ही नहीं मानते थे। जब उन्हें बाध्य होकर यह बात स्वीकार करनी पडी तो उन संस्कारों को वे पैत्रक बतलाने लगे। जब पैत्रक से भी काम न चला तो अब कहते हैं कि ऐसे कार्य संकल्प से किए जाते हैं। वाचक वृन्द! आइये, अब जरा इस संकल्प के सिद्धान्त की परीक्षा करें और देखें कि वास्तविक रूपमें संकल्प इस कार्य के योग्य है भी या नहीं।

आजसे ५० वर्ष पूर्व मनो वैज्ञानिक गण संकल्प के अस्तित्व को स्वीकार करते हुए भी क्रियमाणेतर संस्कारों को नहीं मानते थे। किन्तु जब उन्होंने देखा कि केवल संकल्प प्रतिभा को उत्पन्न नहीं कर सकता तब पैत्रक सिद्धान्त आविष्कृत हुआ। इसी सिद्धान्त के द्वारा लोगों के मनमें ये विचार होने लगे कि सभी मनुष्य ठोक-पीट कर वैद्यराज नहीं बनाये जा सकते. प्रत्येक मनुष्य किसी विशेष विषय में अपनी अभिरुचि रखता है और उसी ओर वह स्वतन्त्रता पूर्वक कार्य भी कर सकता है। शिक्षा का भी यही उद्देश्य होना चाहिए कि वह उस व्यक्ति में उसी विषय के संस्कारों को उन्नत और जागृत करे। इन विचारों से मैं पूर्णतः सहमत हूँ किन्तु ये विचार मेरे निजी नहीं है।

दुःख इस बात का है कि प्रतिपक्षी महोदय हमारे सिद्धान्त के खण्डन करने निमित्त ५० वर्ष पूर्ण जा रहे हैं। विज्ञान ने आज से ५० वर्ष पूर्व ही यह सिद्ध कर दिया था कि केवल संकल्प प्रतिभा को उत्पन्न करने के लिए नितान्त असमर्थ है परंतु आप पुनः उसी का प्रतिपादन कर रहे हैं। यह सब इस लिए कि कहीं हम पुनर्जन्म और संचित संस्कारों को न मानने लग जायँ; क्यों कि पैत्रक-संस्कारों का सिद्धान्त हमारे संचित-वाद के सम्मुख नहीं ठहरता।

अब हमें थोडा इस बातका विचार करना है कि केवल संकल्प शेक्सपीयर को प्रतिभा शाली बनाने में क्यों असमर्थ था। अभी कुछ ही मास हुए हैं जब कि हमारा एक लेख 'सपत्न' शीर्षक छपा था। सम्पादकजी के हम अत्यन्त कृतज्ञ है क्यों कि उसकी शैली वैदिक धर्म की शैलीसे कुछ भिन्न थी। अस्तु, उसमें हमने इस बातको सिद्ध किया था, कि कामना संकल्प का प्राण है। संकल्प का समस्त व्यापार ही नहीं अपितु उसका जीवन भी कामना के ही आधीन है। कामना के पृथक् हो जाने पर संकल्प कुछ भी नहीं कर सकता।

यह प्रायः सभी जानते हैं और मनोविज्ञानमें यह निर्विवाद है कि कामना अनुभवाश्रित है। पहले इन्द्रिय और अर्थ के संयोगसे अनुभव होता है और पुनः उसकी कामना होती है। अनुभव के विना कामना कभी सम्भव नहीं।

सफलता को प्राप्त करने के लिए त्याग और तप की आवश्यकता है। तप-विहीन मनुष्य परिस्थिति के गुलाम और औरों के दयापात्र रहते हैं। किन्तु, यह त्याग और तप कामना की स्पष्टता और बाहुल्य पर निर्भर है। कामी पुरुष व्यभिचार के लिए जितना त्याग कर सकता है उतना अन्य किसी बातको लिए नहीं। वैसे ही कृपण मनुष्य धन के लिए अपने प्राण तक दे सकता है। क्यों कि उनमें स्त्री-सम्भोग और धनकी कामना क्रमशः स्पष्ट हैं।

एक शराबी मनुष्य शराब छोडने का निश्चय करने पर भी शराब पीने के लिए बाध्य हो जाता है यदि वह कलाली, शराब और उसके आनन्द का चिन्तन नहीं छोडता। हम कई बार 'वैदिक-धर्म' में इस सिद्धान्त पर गम्भीर विचार कर चुके हैं। अतः, यहाँ इस विषय का अधिक विवेचन करना अभीष्ट नहीं।

तात्पर्य यह, कि प्रत्येक कार्य के लिए संकल्प आवश्यक है। किन्तु संकल्प कामना के, कामना अनुभव के, और अनुभव इन्द्रिय और अर्थ के संयोग के आश्रित है। हम इस सिद्धान्त को स्वीकार कर चुके हैं। इस कारण मानना पडता है कि शेक्सपीयर के संकल्प के लिए कामनाओं का बाहुल्य अपेक्षित था। अन्यथा, उसमें वह तप और त्याग की शक्ति जो उसने अपने अध्यवसाय परिश्रम में दिखाई है कभी सम्भव न थी। यह तो हम पहले ही देख चुके हैं कि उसमें यह अनुभव पैत्रक नहीं था। अतः स्वीकार करना पडता है कि वे

संस्कार संचित ही थे जो उसने अपने पूर्व जन्म (या जन्मों) में सम्पादन किए थे।

एक और दूसरा सिद्धान्त है, जो हमारे कथन की पुष्टि करता है। वह है प्रवृत्तिवाद। प्रवृत्ति के लिए शक्ति और राग (या द्वेष) अपेक्षित हैं। बिना राग-द्वेष और शक्ति के कभी भी प्रवृत्ति सम्भव नहीं। राग द्वेष के लिए भी पूर्व अनुभव आवश्यक है। भगवान् पतञ्जलि भी स्वकीय योग दर्शन में इसका समर्थन करते हैं— 'सुखानुशयी रागः'। पहले इन्द्रिय और अर्थ का संयोग होकर अनुभव होता है। अनुभव से सुख-दुःखका ज्ञान होता है और उसी से राग-द्वेष होता है।

शेक्सपीयर एक छोटे से ग्राममें उत्पन्न हुआ था। वहाँ उसकी इच्छा के अनुकूल परिस्थिति न थी। इस कारण उसे लन्दन आना पडा। वहाँ कई प्रकार के कष्ट सहन कर उसने विद्याध्यन किया यह अधिक परिश्रम ही प्रवृत्तिका द्योतक है और प्रवृत्ति संचित ही परिणाम है। क्योंकि न उसका बाल्यावस्था का अनुभव इस प्रवृत्ति के योग्य था और न पैत्रक संस्कार (यदि मान भी लिए जायँ)।

इन कारणों से हमें संचित संस्कारों के अस्तित्व को ही मानना पडता है क्योंकि पैत्रक-वाद अनुभव से सिद्ध नहीं होता। आधुनिक दूषित शिक्षा से दीक्षित नवयुवकों में, जिन्हें विलासिता और स्वास्थ्यहीनता को चरम सीमा तक पहुँचाने के लिए पर्याप्त साधन उपलब्ध रहते हैं; वह अधिक परिश्रम, अदम्य साहस और अपूर्व त्याग करने की शक्ति कहाँसे आसकती है जो हम स्वामी श्रद्धानन्द, महात्मा हंसराज और वीर सावरकर में देख रहे हैं? केवल 'संचितवाद' ही इन सब का सन्तोष-प्रद उत्तर दे सकता है।

संविदानो राष्ट्रं दधातु सुमनस्यमानः॥

अथर्ववेद. १३। १। ३५

उत्तम ज्ञानी और मनसे उत्तम विचार करनेवाला राष्ट्र का धारण करे।

शतहस्त समाहर सहस्रहस्त संकिर॥

अथर्ववेद ३। २४। ५

सैंकडों हाथोंसे उकठा कर और सहस्रों हाथोंसे दान कर।

ज्ञानका अधिकारी । (श्री. स्वतंत्रानंदजी महाराज)

भारत वर्ष में यह नियम प्राचीन कालसे है जैसे यह देखा जाता है यह व्यक्ति गुरु बनाने के योग्य है वा नहीं उसी भांति यह भी देखना होता है यह शिष्य बनने के योग्य है वा नहीं। जिस भांति गुरु योग्य न होनेसे वह स्वार्थ वा अज्ञानवश शिष्य को अधर्म कार्यों में लगा देता है उसी भांति शिष्यके अयोग्य होने पर भी अधर्म की वृद्धि होती है। यह अवस्था मनुष्य समाज के बाहर भी देखी जाती है। यदि किसी ने अनुभव न किया हो तो उसके लिये यह लिखना पर्याप्त होगा। यदि वनस्पतियों को समुद्र के जल से सेंचन करें तो वह सूख जाती हैं और वर्षा के जल वा अन्य मीठे जल से नहीं सूखती हैं। और जवासा, भसरा ऐसी वनस्पतिएं हैं जो वर्षाके जल से सूख जाती हैं। चातुर्मास में जब अन्य वनस्पति उगती और बढती है यह दोनों वर्षारंभ होते ही सूख जाती हैं जिससे गुरु और शिष्य उभय की योग्यता और अयोग्यता का परिचय मिलता है इसी बातको उपनिषद्कारोंने लिखा है—

"तद्विज्ञानार्थं स गुरुमेवाभिगच्छेत् समित्पाणिः श्रोत्रियं ब्रह्मनिष्ठम् तस्मै स विद्वानुपसन्नाय सम्यक् प्रशांतचित्ताय शमान्विताय॥ मुंडक १.१२.१३
नाप्रशांताय दातव्यं नापुत्रायाशिष्याय वा पुनः१॥
श्वेताश्वतर ६. २२"

प्रथम पाठ में अधिकारी गुरु और शिष्य का वर्णन है और दूसरे में अयोग्य शिष्य का वर्णन किया गया है और उसे विद्या न देने का आदेश है।

इसी भांति निरुक्त में मिलता है-

असूयकायाऽनृजवेऽयताय न मा ब्रूया वीर्यवती तथा स्याम्।।

असूयायुक्त, ऋजुभावरहित, संयमशून्य को विद्या न देना ही अच्छा है।

उपनिषद और निरुक्त के पश्चात् हमें देखना चाहिये कि वेदभगवान् भी इस विषयमें कुछ कहते हैं वा मौन हैं? क्योंकि यह परतःप्रमाण हैं और वेद स्वतः प्रमाण है इसलिये परतः प्रमाण पर जब तक स्वतः प्रमाण की छाप न लगे उस समय तक वह दृढ नहीं होता है इसी कारण इस विषय को यहां समाप्त न करकेमैं पाठकों की भेंट वेदमंत्रोंसे करना चाहता हूं।

अथर्व वेद के १२ वें काण्ड में चतुर्थ सूक्त में ५३ मंत्र हैं और इस सूक्त का देवता वशा है। वशा के अर्थ गौ होते हैं और निघण्टु में गौ शब्द वाणि के नामों में पढा गया है इसलिये इस सूक्त में वेद विद्या वा ब्रह्म विद्या के देने का वर्णन है ऐसा मेरा विचार है। सारे सूक्त पर विचार इस समय करना कठिन है परंतु कुछ मंत्र जिनका संबंध उपरि लिखित विषय से है यहां लिखे जाते हैं।

यदन्ये शतं याचेयुर्ब्राह्मणा गोपतिं वशाम्।
अथैनां देवा अब्रुवन्नेवं ह विदुषो वशा।।२२।।
य एवं विदुषेऽदत्त्वाथान्येभ्यो ददद् वशाम्।
दुर्गा तस्मा अधिष्ठाने पृथिवी सहदेवता ॥२३॥

भावार्थ-विद्वान को चाहिये अधिकारी से अन्य अनधिकारी के मांगने पर भी उसे(वशा) विद्या ब्रह्म विद्या न दे क्योंकि यह अधिकारियोंको ही दी जाती है जो अधिकारियों को न देकर अनधिकारियों को देता है उसके लिये भूमि दुर्गम हो जाती है अर्थात् मर्यादा लोप होने से संसारमें अशांति होती है और गुण्डोंकी प्रधानता होकर धर्मात्मायोंके कष्ट बढ जाते हैं वह अनधिकारी विद्या प्राप्त करके क्या करते हैं

"यो अस्या ऋच उपश्रुत्याथ गोष्वचीचरत्।
आयुश्च तस्य भूतिं च देवा वृश्चन्ति हीडिताः॥२८॥

भावार्थ-जो विद्या प्राप्त करके इंद्रियारामी होते हैं देवता क्रुद्ध होकर (ईश्वरीय नियम) उसकी आयु और संपत्ति को नष्ट करदेते हैं

इन मंत्रों से पता लगता है ज्ञान अधिकारियों को दिया जाय अनधिकारीयों को देने से लाभ के स्थान पर हानि अधिक होती है। अब चिंतनीय यह है इस समय भारत वर्ष में जो अवनत्ति डेरा डाले बैठी है उसका क्या कारण है। प्रतीत होता है भारत वासीयोंने जन्मसे अधिकारी अनधिकारी का जो निश्चय किया और स्वभावादिको देखने ने चक्षु बन्द कर लिये उसीका यह फल है। वेद स्फुट कह रहा है अनधिकारीयों को जब श्रुति प्राप्त होती है तो उनकी भूति नष्ट हो जाती है। इस समय भारतीयों को इस वेदाज्ञा को मान अ.धिकारीजनों को अधिकार देने चाहिये ।

हिन्दुओंका ह्रास और उसके निवारणके उपाय।

(लेखक-श्रीयुत डा० बालकृष्ण जी, एम्. ए. पी. एच्. डी.)

[१]

सैन्सस रिपोर्टके अध्ययनसे कई विचित्र परिणाम हिन्दुजातिके विषयमें ज्ञात होते हैं जिन में से सबसे बडा यह है कि कन्याकुमारीसे लेकर कश्मीरतक हिन्दु जातिका निरन्तर ऱ्हास हो रहा है। आश्चर्य जनक बात तो यह है, कि जब संसार की समस्त जातियां संख्या में बढती चली जा रहीं हैं, उनके धर्मकी निरन्तर वृद्धि हो रही है, उस समय एकमात्र आर्यजाति ही ऐसी है जिसकी क्रमशः अवनति होरही है। यह बात कितने दुःखकी है कि जो आर्यजाति किसी समय समग्र देशों और जातियोंकी सर्व प्रकारकी उन्नतिमें अग्रणी थी - आज वही दिन ब दिन क्षीण और मृतप्राय होती चली जारही है।

इस लेखमें इस विषय पर हम अंकों द्वारा प्रकाश डालना चाहते हैं। सम्यक् रूपसे अपनी अवस्थाके ज्ञानके लिये अंकोंके पूर्वापर ज्ञानकी कितनी आवश्यकता है इस के लिखनेकी जरूरत नहीं है। भारतवर्षमें तीन प्रधान धर्मोंका निवास है। हिन्दु, मुसलमान और इसाई। हमारा उद्देश्य यह है कि १८८१ सन् से लेकर अब तक की प्राप्य गणना रिपोर्टतक इन धर्मोंकी उन्नति और अवनति शुद्धरूपसे पाठकों के समक्ष रक्खें जिससे हमारे हिन्दू भाई अपनी यथार्थ अवस्थासे परिचित होकर अपने धर्म की उन्नतिमें अग्रेसर होसकें।

तीन धर्मों की वृद्धि।

	१८८१	१८९१	वृद्धि प्रतिशतक
हिन्दू ...	१८७९ लाख	२०७१ लाख	१०.५
मुसलमान	५०७ लाख	५७३ लाख	१४.४
ईसाई	१८ लाख	२२ लाख	२२.४

इस तालिका से स्पष्ट पता लग सकता है कि हिन्दुओंकी उन्नति की वास्तविक स्थिति क्या है। इन दस वर्षोंमें हिन्दू तो एकमात्र १० प्रतिशतक बढे, अर्थात् १८८१के १०० हिन्दू १८९१में ११० हो गए। मुसल्मानोंकी तथा इसाइयोंकी बढती १४ $\frac{1}{2}$ प्रतिशतक और २२ $\frac{1}{2}$ प्रतिशतक के हिसाब से हुई। अर्थात् १०० मुसलमानों के स्थानपर ११४ $\frac{1}{2}$ तथा १०० ईसाइयोंकी जगह १२२ $\frac{1}{2}$ इसाई हो गए। इससे यह स्पष्ट है कि वृद्धिकी दौड में मुसलमानों और ईसाइयोंसे हिन्दू बहुत पीछे रहगये हैं।

अब अगले दस वर्षोंके अङ्क देखिये:—

	१८९१	१९०१	वृद्धिप्रतिशक
हिन्दू	२०७१ लाख	२०७१ लाख	०
मुसलमान	५७३ लाख	६२४ लाख	८.९
ईसाई	२२ लाख	२९ लाख	२७.९

प्रायः यह देखा जाता है कि यदि कोई एक वार हारता है, तो दूसरी वार अपने शत्रुको पछाडने के लिये तन, मन, और धनसे यत्न करता है और सम्यक् प्रयत्न द्वारा प्रायः सफल होजाता है। हिन्दुओं

[सूचना—यह व्याख्यान डा० बालकृष्णजीने श्री श्रीनिवास महोत्सव के प्रसंगमें गत भाद्रपद मास में यहां औंध में दिया था! श्रीनिवास-स्मारक- ग्रंथमालामें यह व्याख्यान प्रकाशित होगा ही। परंतु यह हिंदुओंकी आजकी अवस्था बता रहा है इसलिये हमने श्री० महाराजासाहेब (रि. औंध) की आज्ञासे इस विशेषांक में लोकहितार्थ मुद्रित किया है। (सं०-वै० धर्म)]

मुसलमानों तथा ईसाइयोंमें धर्मोन्नतिकी स्पर्द्धा हो रही है। हम एक दूसरेके शत्रु तो नहीं हैं क्यों कि एक देशके वासी हैं, किन्तु इसमें सन्देह नहीं है कि यह देश आर्यावर्त है और आर्योंकी जन्मभूमि है। पुरातन आर्योंकी सभ्यताके रक्षक हिन्दू-आर्य ही हैं मुसलमान तथा ईसाई नहीं। अत एव हिन्दुओंका यह परम कर्तव्य है कि वे अपने धर्मकी रक्षा करें तथा प्रचार द्वारा वृद्धि करें। हमने पिछले दस सालोंकी गणनामें देखा कि हिन्दू उन्नति की दौडमें कितने पीछे रहगये, परन्तु आशा हो सकती थी कि शायद अगले दस वर्षोंमें आर्य बाजी जीतलेंगे,किन्तु सचमुच आर्योंकी दुरवस्था की परा काष्ठा होगई है। वे एक कदम भी आगे नहीं बढे हैं। वे इस प्रकारकी अवनतिके दलदलमें फंस गये हैं कि जहांसे हिलना कठिन होगया है। अत एव मुसलमान और ईसाई अपने पूरे बलसे दौड लगाकर अपनी संख्याकी वृद्धि करते चले जारहे हैं।

इसीलिये १८९१ से १९०१ तक हिन्दु बिलकुल भी नहीं बढे और १०० मुसलमान १०९ और १०० ईसाई १२८ हो गये हैं! यह हिन्दुओंकी दशा कितनी हृदय विदारक है। यदि राम, लक्ष्मण, कृष्ण, युधिष्ठिर, अर्जुन, हरिश्चन्द्र, गौतम, कणाद, पतंजलि आदि की सन्तान बढने से रुक जावेगी तो उनका नाम लेवा और पानी देवा कौन रहेगा? उनकी देव वाणीको पढने वाले कहां होंगे? वेदोंकी पवित्र पुस्तकें कौन मानेगा? हिन्दुओंकी सभ्यता का चिन्ह कहां दिखाई देगा? समझ नहीं पडता कि हिन्दू किस कुम्भकर्णी नीन्दमें पडे सोरहे हैं। हाय! राक्षसी कुरीतियों ने हिन्दुओंकी लहलहाती खेतियों को सुखा दिया है, किन्तु हिन्दुओंकी आहतक नहीं निकली। इससे बढकर मुरदादिली और मृत्यु की गोदमें जानेका और क्या प्रमाण हो सकता है?

आइये अब अगले दस सालों का इतिहास देखें १९०१ से १९११ तक की वृद्धिका चित्र सामने रखनेसे प्रतीत होता है कि हिन्दुओंने दलदलसे निकल कर पैर उठानेका अवश्य प्रयत्न किया गया है किन्तु ईसाइयों और मुसलमानों का मुकाबला करना बहुत कठिन हुआ है।

	१९०१	१९११	वृद्धिप्रतिशत
हिन्दु	२०७१ लाख	२१७५ लाख	५.०
मुसलमान	६२४ लाख	६६६ लाख	६.७
ईसाई	२९ लाख	३८ लाख	३२.६

इन संख्याओं को देखनेसे पता लगता है कि १०० ईसाइयोंके स्थान पर १३२॥ ईसाई और १०० मुसलमानों के स्थानपर १०६॥ मुसलमान हो गये हैं किन्तु हिंदु १०० के स्थानमें १०५ हुए हैं। इस प्रकार तीसरी वारभी हिन्दु पीछे ही रह गये हैं।

उपर जो कुछ कहा गया है उससे ईसाइयों कि वृद्धिका पूरा अनुमान नहीं हो सकता। १९०१ से १९२१ तक के दसवर्षोंमें भिन्न भिन्न प्रान्तोंमें ईसाइयोंकी वृद्धि निम्न प्रकार हुई है—

	०\० वृद्धि १९०१-१९११	प्रतिशतक वृद्धि १९११-१९२१
पञ्जाब ...	२००	७३
मध्यप्रदेश ...	१६९ $\frac{1}{2}$	६
हैदराबाद ...	१३६	१५
काश्मीर	१३१	६७
सिकम	१११	३०
आसाम	८५.	९९
संयुक्तप्रान्त ..	७४ $\frac{1}{2}$	१३
बिहार-उडीसा	५६	१२
मद्रास	१६	१४

अबतक लोग समझते थे कि मद्रासमें ईसाइयोंकी खूब वृद्धि हो रही है और अन्य प्रान्तों में उनका प्रभाव न होनेके बराबर है। पञ्जाबी बहुत फूला करते थे कि हमारी पवित्र आर्यभूमिमें ईसाइयोंकी वृद्धि नहीं हो सकती, किन्तु ऊपर की गणनाओंसे स्पष्ट मालूम होता है, कि पञ्जाब में ईसाई धर्मकी दिनदूनी और रात चौगुनी वृद्धि हो रही है। भारत वर्षके किसी इलाकेमें भी पञ्जाबके बराबर गिरावट नहीं हुई। क्या आर्यसमाजके कार्यका पंजाबमें यही फल हुआ है कि उनकी आंखोंके सामने ही दस वर्षोंमें १,३३,१६० पुरुष ईसाई हो गये हैं। पञ्जाबमें जहां जहां आर्यसमाज का जोर है वहीं वहीं ईसा-

ईयतका खूब प्रचार हुआ है। पञ्जाबमें ही ईसाई १० सालोंमें इस प्रकार बढे हैं —

१९०१— १९११ तक	
स्यालकोटमें	३६,६८१
लायलपुरमें	२३,३५१
गुरुदासपुरमें	१८,८९४
लाहौर में	१४,४८५
शाहपुरमें	८,५२५
गुजरांवालामें	१३,४६७

क्या इन इलाकों में इतने हिन्दु भी बढे हैं यदि नहीं तो हमने क्या कार्य किया है ? यह कार्य तो पसीना और खून के एक करदेनेसे-पूरा आत्मत्याग करनेसे, अपने को ईसाइयोंके समान स्वाहा करने से ही हो सकता है। भक्ति, श्रद्धा, प्रेम, परमार्थ, निःस्वार्थ, आत्मसमर्पण से ही सच्चा प्रसार हो सकता है, किन्तु शोक है कि ईसाईयोंके जितने ये गुण हममें विद्यमान नहीं। इस कारणसे बुरे परिणाम दिखाई दे रहे हैं। हमने पारस्परिक झगडोंमें अपना उद्देश्य गंवा दिया है। परन्तु ईसाई धर्मप्रचारकोंने तन, मन, धन से पूर्ण प्रयत्न किया है और उन्हें इसका फल आशासे अधिक मिला है। चालीस वर्षों में भारतवर्ष के भिन्न भिन्न प्रान्तों में ईसाइयोंकी बढती निम्न प्रकार हुई है-

	१८८१ से १९११ तक ०/० वृद्धि	१८८१—१९२१में ०/०वृद्धिप्रतिशतक
आसाममें-..	८३८ १/२	१७६२ १/२
बडोदास्टेट	८३४	८६२ १/२
पञ्जाब	६१२	११३४
मध्यप्रदेश	४५७	४९०
बिहार उडीसा ..	३७९ १/२	४४२
हैदराबाद	२९९	३६०
संयुक्तप्रान्त ...	२७७	३२६
राजपूताना एजेन्सी	२२९	२७९ १/२
बंगाल	७९ १/२	१०६
मद्रास	७०	९४
बम्बई	६९	९२

इस प्रकार प्रतीत हुआ कि पिछले ४० वर्षों में आसाम, बडोदा और पञ्जाब में वीर, उत्साही, आत्मत्यागी ईसाई अपना कार्य करने में पूर्ण प्रयत्न के साथ लगे हुए हैं।

अब अगले दस वर्षोंका भी इतिहास देखिए-

	१९११-	१९२१	प्रतिशतक
हिन्दू ..	२१७५ लाख	२१६२ लाख	-.५
मुसलमान .	६६६ लाख	६८७ लाख	५.१
ईसाई ...	३८ लाख	४७ लाख	२२.६

इन दस वर्षोंका वृत्तान्त देखनेसे स्पष्ट प्रतीत होता है कि हिन्दु बढनेके स्थानमें घटगये हैं। यह कितनी शोचनीय अवस्था है। किन्तु दुःख तो इस बातका है कि इतना होते हुए हिन्दुजातिको होश नहीं आती। क्या जागृति तब आवेगी जब सम्पूर्णरूपसे नाश हो चुकेगा? इन दस वर्षोंमें भी मुसलमान १०० के स्थानमें १०५ और ईसाई १०० के स्थनपर १२२ १/२ होगए और हिन्दु तो १०० के स्थानमें ९९ १/२ होगये हैं !

प्रान्तोंमें हिन्दू मुसलमानों की तुलना।

हिन्दू मुसलमानों की वृद्धि भिन्न भिन्न प्रान्तोंमें १८८१ - १९२१ के ४० चालीस सालोंमें भिन्न भिन्न प्रकार हुई है। बिहार और उडीसा को छोडकर दूसरे सब प्रान्तों में मुसल्मानोंकी जनसंख्या हिन्दु ओंकी अपेक्षा निःसन्देह तेजीसे बढी है। दोनों की जनसंख्याकी वृद्धि अंकों में नीचे दी जाती है:—

वृद्धि प्रतिशतक १८८१- १९२१ में

प्रान्त	हिन्दु	मुसल्मान
आसाम	३४.१	६७.१
बंगाल	१७.६	४१.१
बिहार + उडीसा . .	१३.८	१.८
सी. पी. + बिरार	१७.०	२१.५
मद्रास	१८.१	३१.५

पञ्जाब (उत्तर सीमाप्रान्तसहित)... १ २८.७
यू. पी. .... २.४ ...९.१

इसप्रकार ऊपरके अंकोंसे स्पष्टतया जाना जासकता है कि आसाममें हिन्दुओंसे मुसलमानोंकी दुगुनी वृद्धि हुई है। बंगालमें मुसलमानों की २ $\frac{1}{2}$ गुनी वृद्धि हुई है। सी.पी. और बिरारमें भी मुसलमानोंकी हिंदुओंसे प्रति शतक ४अधिक वृद्धि हुई है। मद्रास में भी लगभग दुगुनी वृद्धि मुसलमानोंकी हुई है। पञ्जाबमें तो २८.७ गुना अधिक वृद्धि प्रतिशतक हुई है और यू. पी. में भी चौगुनी अधिक वृद्धि हुई है। कहा जाता है कि आर्यसमाज का कार्य पञ्जाब में बहुत जोरोंके साथ होरहा है परन्तु वहीं सबसे अधिक मुसलमानों की वृद्धि हुई है। क्या आर्यसमाजी और हिन्दू इतनी वृद्धि रोकनेमें समर्थ हुए हैं- यदि नहीं तो स्पष्ट है कि इन ४० सालों में हिन्दू सोए रहे हैं उन्हें इस गणनाद्वारा अपनी सच्ची स्थितिका ज्ञान करना चाहिये और अपने कार्यमें विशेष तत्परता के साथ लग जाना चाहिए ॥

भारतमें ४० सालों की वृद्धि

		प्रतिशतक
हिन्दु ...	.. २८,२२४ हजार. . .	१५
मुसलमान . . .	१९,०१४ ,, ...	३७
ईसाई ..	.. २,८९२ ,, ...	१५५

ऊपरकी तालिकासे ४० वर्षोंका भेद पता लगता है। हिन्दु उन्नतिमें कितने पीछे रहगये हैं। क्या वे अगाध निद्रामें पडे सोरहे हैं कि करवटतक नहीं बदलते, कि उनके कानों पर जूं तक नहीं रींगती ? क्या वे मृत्युकी शान्ति धारण किए हुए हैं, वे जीवनसे निराश हुए बैठे हैं, वे मृत्युकी तय्यारी में लगे हुए हैं ? हर एक हिन्दु क्यों मौतके विचार में ही लगा हुआ है ! उसे यह संसार सुखमय क्यों नहीं प्रतीत होता यह क्यों एक जंजाल है ? इस संसार कारागृहसे निकलना आवश्यक है ! ऐसी मानसिक अवस्थाके होते हुए वे इस संसार को सुखमय क्यों बनावें ? उनके लिये तो कल आती हुई मौत अभी आजाए तभी ठीक है। यदि निराशा और उपरामता की फिलासफी न होती तो १९११ की गणनासे कोई लाभ उठाया जाता। हिन्दुओंमें कुछ तो जागृति होती, किन्तु हिन्दू बिलकुल हतोत्साह होगये हैं। दस साल पूर्व की गणनाओंकी तालिकाओंसे ज्ञात होता था कि यदि हिन्दुजातिकी यही अवस्था रही तो ५६४ वर्षोंमें हिन्दुजाति का नामनिशान मिट जाएगा। किन्तु १९२१ की गणनामें इससे भी बुरी अवस्था होगई इससे मालूम होता है कि हिन्दूजाति की पूर्ण मृत्यु यदि यही हाल रहा तो४६३ वर्षोंमें हो जाएगी। १०००० लोगों में हिन्दूओं की संख्या १८८१ से १९२१ तक किस मात्रा से कम हुइ है इसे निम्न तालिका में दिखाया हैः—

हिन्दुजातिकी मृत्युका चित्र

प्रान्त	१८८१ की	१९११ की	१९२१ की	कितने वर्षोंमें मृत्यु
प्रान्त	संख्या	संख्या	संख्या	होगी
बंगाल	. . ४८५५	४४८०	४३२७	३२८
पञ्जाब	. . ४१३०	३२९७	३०८४	१०८
आसाम	.. ६२७३	५४१८	५४३३	२५९
कूर्ग	. . . . ९११३	७९३९	७७३३	१६९
मद्रास	.. ९१४१	८८८९	८८६४	१६००
अजमेर मेवाड	८१६२	७७५०	७३२६	३५०
बिहार उडीसा	८४३०	८२२३	८२८२	२२४८
संयुक्तप्रान्त.	. ८६२७	८५०४	८४६४	२०७७
भारतवर्ष. . .	७४३२	६९३१	६८४१	४६३

हे हिन्दुजाति ! यह तेरी मृत्युपत्री है !!! इसे ही अब तू देखा कर। अपने पण्डितोंसे जन्मपत्रियां बनवाकर क्या करेगी ? पञ्जाब, आसाम और बङ्गालके आर्य तो खूब सोये ही हुए हैं। शायद उन्हें यह मालूम ही नहीं कि यमलोकमें पहुंचनेका समय उनके लिये अत्यन्त निकट है। यदि मालूम होता तो ऐसे शान्तिमय राज्यमें जब हरएक जाति और व्यक्तिको अपने सुधारका पूरा अवसर है वे क्यों अपनी कुरीतियोंको हटाकर जीवित होने का यत्न न करते। अस्तु यदि अबभी चेतावनी हो जाए और आर्यजाति मौतसे बचनेका उपाय करे तो यह सम्भव है कि वह मृत्युके पाशमें से निकल आवे ॥

[२]

ह्रास के कारण ।

अब हम क्रमशः उन कारणोंपर विचार करना प्रारम्भ करेंगे जिनके कारण हिन्दु जातिकी क्षति या संख्या वृद्धि में कमी हो रही है । ये कारण बहुतसी वास्तविक घटनाओंके आधार पर ही दिए जायंगे ।

प्रथम कारण--बालविवाह ।

ज्ञात नहीं कि हिन्दुओंमें ये कुप्रथा कहांसे शुरू हुई है ? इस बालविवाह के कारण हिन्दुओंके स्वास्थ्य और जीवनीशक्ति का जो निरन्तर विनाश हो रहा है उसे शब्दोंद्वारा व्यक्त नहीं किया जासकता । इस बालविवाह के कारण जो सन्तानें होती हैं वे बहुत निर्बल होती हैं-इसी कारण इनमेंसे कई तो जल्दी ही मर जाती हैं और जो जीवित रहती भी हैं उन की जीवनी शक्ति इतनी कम होती है कि प्रायः वे बीमारियों से घिरे रहते हैं । स्त्रियोंको भी छोटी अवस्थामें प्रसूति होनेके कारण नाना कष्ट उठाने पडते हैं । कइयों की तो मृत्यु हो जाती है और कई इतनी कमजोर हो जाती हैं कि उनका शरीर क्षयादि बीमारियोंका घर होजाता है । आयुर्वेद ग्रन्थ सुश्रुतमें ठीक कहा है—

" जातो वा न चिरं जीवेज्जीवेद्वा दुर्बलेन्द्रियः ।
तस्मादत्यन्तबालायां गर्भाधानं न कारयेत् । "

अर्थात् बालविवाह द्वारा जो सन्तान पैदा होती है या तो वह देर तक जीवित नहीं रहती और यदि जीवित भी रहती है तो वह दुर्बलेन्द्रिय होती है, अतएव छोटी बालिकामें गर्भाधान नहीं करना चाहिये ।

किन्तु यह आयुर्वेद की उक्ति हमारे बहरे कानोंपर पड रही है। हिन्दु जाति अपने पुराने रीतिरिवाजों की मुर्दा लाश को इस जोरसे पकडे हुए है कि वह आप मृतप्राय हो गई है । बालविवाह को रोकने का आन्दोलन कितनी देरसे चलरहा है किन्तु हिन्दुओंको अभीतक होश नहीं आई और उन के अन्दर अब तक भी कुप्रथा चलती जारही है । नीचे की गणनासे पता लगेगा कि मुसल्मानों की अपेक्षा हिन्दुओंमें कितना अधिक बाल विवाह है- (यह गणना प्रतिहजार के हिसाबसे है ।

विवाहितोंकी संख्या १९२१ में

आयु	हिन्दूपुरुष	मुसल्मान पुरुष
०----५	७	३
५--१०	४२	१४
१०-१५	१४४	६६
१५-२०	३३९	२४१

इसी प्रकार स्त्रियों के विवाह की गणना देखिए-

आयु	हिन्दूस्त्री	मुसल्मानी स्त्री
०—५	१४	६
५-१०	१११	५०
१०-१५	४३७	३४४
१५-२०	८१४	८१५

इन गणनाओंद्वारा स्पष्ट देखा जा सकता है कि १५ वर्षों तक हिन्दूपुरुषोंमें विवाह मुसल्मानोंसे तिगुने तक पहुचे हुए हैं इसी प्रकार १० वर्षों तक स्त्रियों के विवाहों में भी दुगुने पहुंचे हुए हैं । इस लिये बालविवाहके कारण यदि हिन्दुओंकी सन्तानें मुसल्मानोंसे कमजोर होती हैं तो इसमें क्या आश्चर्य है ? कितनीही स्त्रियें तो विवाहका एक प्रकार का नाटकसा देखकर जीवनभर के लिये विधवा हो जाती हैं, कितनी प्रजनन शक्तिसे क्षीण होजाती हैं और कितनी अत्यन्त दुर्बल होकर सारे जीवन रोगोंसे दुःखित होने वाली प्रजाओंको पैदा करती हैं, पुरुषोंका भी यह हाल होता है । कितनोंकी अकाल मृत्यु हो जाती है, कितने सारा जीवन भर शक्ति क्षीण होकर मृतप्राय रहते हैं। इस बालविवाहके इतने कुपरिणाम हैं और वे इतने व्यापक हैं कि इससे हिन्दुजाति की सन्तान का ह्रास हो रहा है । न जाने यह कुप्रथा हिन्दुसमाजसे किस दिन सदाके लिए छुटी लेगी। जबतक यह प्रथा प्रचलित है तबतक हिन्दुओंकी सन्तानें अत्यन्त निर्बल और क्षीण होंगी और हिन्दुओंकी संख्यावृद्धिमें एक बडी रुकावट पडी रहेगी ॥

दूसरा कारण = विधवाविवाह का न होना।

इस हतभाग्य भारतवर्ष का सारा वायु मंडल निरपराध निर्दोष सती परन्तु सिताई हुई विधवा ओंकी आह भरी पुकारों से गूंज रहा है। कौन कह सकता है कि हिन्दुओंकी बढती हुई दुर्दशा का कारण इन दुःखित अबलाओंका क्रन्दन भरा शाप नहीं है? परन्तु हिन्दुओंके कानोंमें यह पुकार आकर टाँय टाँय फिस होजाती है! जरा १९२१ की सेन्सस रिपोर्टकी गणना देखिये तो आपको पता लगेगा कि हमारे देशमें कितनी विधवाएं हैं:—

हिन्दुस्थानमें विधवाएं।

साल	सबधर्मोंकी विधवाएँ	हिन्दुविधवाएँ
०-१	७५९	
१-२	६१२	
२-३	१६००	११८९२
३-४	३४७५	
४-५	८६९३	
५ से १० ...	१०२२९३....	८५०३७
५ " १५ ...	२७९१२४....	२३२१४७
१५ " २० ...	५१७८९८....	३९६१७२
२० " २५ ...	९६६६१७....	७४२८२०
२५ " ३० ...	१५१६०४७....	११६३७२०
३० " ३५ ...	२३५४१२२....	१८१८३६३
३५ " ४० ...	२२३२५६९....	१६९६७०६

इस गणनासे हम देख सकते हैं कि हिन्दुओंमें चालीस वर्षों तक की आयुवाली ६१.६ लाख विधवाएं हैं और सारे देश में ऐसी विधवाओंकी संख्या ८० लाख है। इनमें यदि आर्यसमाजी, सिक्ख, जैनी आदियोंकी विधवाओंकी संख्याको जोडा जाय, तो संख्या बहुत बढ जाएगी। क्या यह दुःखकी बात नहीं है कि हिन्दुओंने इन्हें जानबूझ कर दुःख की जलती हुई आगमें डालरखा है। यदि इन विधवा ओंको माता बननेका अवसर दिया जाता तो हिन्दु-ओंकी संख्यामें कितनी वृद्धि होती? इनमेंसे बहुत सी विधवाएं तो ऐसी हैं जिन बिचारियोंको यही मालूम नहीं कि विवाह किसे कहते हैं? फिर भी उन्हें विवाहित कहा जाता है। उनके सामने बैठकर बूढी सासें शृंगार करती हैं और उन नवयौवन से पूर्ण बालिकाओंको शृंगार करनेसे रोका जाता है! उनपर तलवार के समान तेज आँखें रखी जाती हैं। न उन्हें चैनसे खाना मिलता है, न हंसना, न सोना और न रोना ही मिलता है। हिन्दूजाति का धर्म इन बिचारियोंको जीवनभर रुलानेमें ही पूर्ण होता है। क्या इनकी एक एक दुःखित आह भाप बनकर हिन्दू समाज के शरीर को विषमय बनाकर मृत्युके मुखमें नहीं लेजा रही है? हिन्दू-जाति ने इन अबोध बालिका ओंके ऊपर ब्याह का स्वांग रचा कर बहुत अत्याचार किया है। जिस समय इनके विवाह के जलसे किये गए उस समय तो इन बेचारियोंको वह खुशी प्रतीत ही नहीं हुई वह तो एक खेल मालूम हुआ और जब खुशीका समय आया तो इन बेचारियों को आजीवन काले पानीके समान बन्दीगृह अपने भाग्यमें मिला। यदि इन सब विधवाओंका ठीक प्रकारसे पुनर्विवाह किया जाता तो जहां इनका जीवन सुखमय हो सकता, वहां हिन्दुओंकी सन्तानों में तीन करोडोंकी वृद्धि हो सकती।

तीसरा कारण = बहुपुरुष विवाह

भारतवर्ष के प्रायः सारे पहाडी इलाकोंमें तथा मालाबार में यह प्रथा प्रचलित है। इसके असली कारण आर्थिक हैं। वहां खेती कम होती है अत एव थोडे आदमियोंका निर्वाह होता है। इस लिये बहुतसे पुरुष एक ही स्त्रीसे विवाह कर लेते हैं। परन्तु इस से सन्तानें कम होती हैं। मुसलमानों में बहुपुरुष विवाह बिलकूल नहीं है-इसके उलट उनमें बहुस्त्री विवाह (Polygomy) है। इस कारण मुस-लमानों की सन्तानें अधिक होती हैं और हिन्दूओं की कम। यदि इन प्रदेशों में हर एक हिन्दु अलग अलग विवाह करता, तो निःसन्देह उनकी सन्तानें पर्याप्त मात्रामें बढतीं। बहुत पुरुषोंका एक स्त्रीसे विवाह करने के कारण सन्तानें कम होती हैं।

चौथा कारण—बहुस्त्री विवाह
का न होना ।

मुसल्मानों के अन्दर बहुस्त्री विवाह होने के कारण सन्तति अधिक होती है । इसका प्रत्यक्ष उदाहरण ईजिप्ट है मुसलमानों में ४ स्त्रिओंसे विवाह करना तो धर्मानुसार ही है- फिर भी वे इससे अधिक स्त्रियों से विवाह कर सकते हैं, इस कारण मुसल्मानों की सन्तानों में संख्या वृद्धि अधिक होती है। हिन्दुशास्त्रों में यद्यपि बहुस्त्री विवाह को कोई विशेष मनाई नहीं है, परन्तु हिन्दु फिर भी प्रायः एकही विवाह करते हैं । इस लिये भी हिन्दुओं की सन्तान मुसलमानों की अपेक्षा कम पैदा होती है । हमारा यह अभिप्राय नहीं कि हिन्दू बहुस्त्री- विवाह करें । यहां केवल एकस्त्री और बहु स्त्री विवाह का फल दिखाया है ।

पाँचवां कारण—कुलीनोंमें अत्यधिक
बहुस्त्री विवाह ।

बंगाल आसाम तथा बिहार के कुछ हिस्सोंके कुलीन हिन्दुओंमें यह प्रथा प्रचलित है, कि एक एक कुलीन हिन्दू ५० स्त्रियोंतक से विवाह कर लेता है। हिन्दुओंमें एक ओर तो बहुस्त्री विवाह प्रचलित नहीं, जहां है वहां इतनी अधिक मात्रा में है कि इतनी स्त्रियें विना सन्तानोंके ही रहती हैं । इस लिये इतनी स्त्रियों का सन्तानोत्पत्तिके उपयोग में पूर्ण रीतिसे न आनेके कारण मुसलमानों की अपेक्षा हिन्दूओंकी सन्तानें कम होती हैं ।

छठां कारण--हिन्दुओंका शहरोंमें
अधिक निवास ।

हिन्दु मुसल्मानों की अपेक्षा प्रायः शहरोंमें अधिक रहते हैं । यह एक मानी हुई बात है कि ग्रामीण लोगोंकी जितनी सन्तानें होतीं हैं, शहरवासियों की उतनी नहीं होतीं । ग्रामों में रहने वाले खुली हवामें रहते हैं। वहां उन्हें दूध, घी प्रायः शुद्ध मिलता है । ग्रामोंमें बीमारियां भी कम होती हैं इस कारण ग्राम वालोंका शरीर अधिक स्वस्थ रहता है । इसीलिये उनकी सन्तानें अधिक होती हैं । मुसल्मान हिन्दुओंकी अपेक्षा ग्रामोंमें अधिक तर रहते हैं। अतएव उनकी सन्तानें हिन्दुओंसे अधिक मात्रा में होती हैं ।

सातवां कारण--नागरिक जीवन
और उत्पत्ति शक्ति ।

कइयों का सिद्धान्त है कि ग्राम वालों की अपेक्षा नगरों में रहनेवालोंकी लडकियां प्रायः अधिक होतीं हैं क्यों कि हिन्दु शहरोंमें अधिक रहनेवाले हैं, अतएव मुसल्मानों की अपेक्षा उनकी लडकियां अधिक होती हैं । इस कारण भी हिन्दुओं की पुरुषसंख्या-वृद्धि मुसल्मानोंसे कम होती है ।

आठवां कारण--स्त्रीपुरुषोंकी असमता।

पञ्जाब में हिन्दुओं की संख्या कम होनेका कारण यह है कि पुरुष अधिक हैं और स्त्रियें कम हैं। पुरुष प्रायः विवाह नहीं कर सकते । इसके उलट बंगाल आदिमें स्त्रियां अधिक हैं और पुरुष कम। बंगाल में कन्याओं के लिये वर नहीं मिलते और पंजाब में लडकियां नहीं मिलतीं । यदि अन्तर प्रान्तीय विवाह प्रारंभ हो जांय तो यह कठिनाई दूर हो सकती है और हिन्दुओंकी संख्या वृद्धि हो सकती है ।

नवम कारण--गरीबोंकी अधिक सन्तान
होती है ।

यह एक नियम है कि गरीबोंकी सन्तानें धनियों की अपेक्षया अधिक होती हैं। धनाढयों की सन्तानें प्रायः कम होती हैं और अति धनाढ्योंकी और कम होती हैं । ज्यों ज्यों कोई समाज अधिक धनी होता जाता है त्यों त्यों उसकी सन्तानें कम होती जाती हैं । हिन्दु मुसल्मानोंसे अधिक धनी हैं, अत एव उनकी सन्तानें भी मुसलमानोंकी अपेक्षा कम होती हैं ।

दशम कारण--विद्वत्ताका उत्पत्तिपर
प्रभाव ।

यह भी प्रायः एक नियम है कि पठितोंकी सन्तानें कम होती हैं । मुसल्मानोंकी अपेक्षा हिन्दु अधिक पठित हैं इसलिये भी उनकी सन्तानें कम होती हैं।

सन्तान कम होने के लिये पठित लोग कृत्रिम साधनोंका उपयोग करते हैं। आजकल इन कृत्रिम साधनोंका बहुत प्रचार हो रहा है और यह हमारा अनुमान है कि हिन्दुओंमें इन साधनोंका प्राचार मुसल्मानों की अपेक्षा अधिक है। इस लिए भी हिन्दुओं की सन्तानें मुसल्मानोंकी अपेक्षा कम होती हैं।

ग्यारहवां कारण = भोजनका अच्छा न होना।

मुसल्मानोंका भोजन अच्छा है। एक मुसलमान जो दिनमें कमाता है वह खानेमें लगा छोडता है और हिन्दू पैसा जोडनेमें लगे रहते हैं। वे अपने धनको गहने, या विवाह आदिमें खर्च करते हैं। और अपनी खुराक आदिपर पर्याप्त व्यय नहीं करते। इससे मुसल्मानोंका शरीर अच्छा रहता है और उनकी सन्तानें भी अधिक होतीं हैं।

बारहवां कारण = बैठने की आदतें अधिक होना।

मुसल्मान प्रायः मजदूर पेशा या हाथसे काम करनेवाले हैं। इस लिये इनका जीवन कर्मशील रहता है, हिन्दू प्रायः दुकानदार हैं-वे अपनी दूकानों पर दिन रात बैठे रहते हैं। बहुत करके हिंन्दुओं में बैठनेकी आदते हैं इस लिये उनका जीवन अधिक क्रियाशील नहीं होता। मुसल्मान अधिक क्रियापरक होनेसे प्रायः शरीरमें तन्दुरुस्त और मजबूत रहते हैं। इस लिये उनकी सन्तानें भी अधिक होतीं हैं और हिन्दु प्रायः शारीरिक शक्तिसे निर्बल होते जाते हैं, अतः उनकी सन्तानें कम होती हैं।

तेरहवां कारण = जीवनी शक्तिका कम होना।

हिन्दुओं की जीवनी शक्ति मुसल्मानोंकी अपेक्षया कम है। बालविवाह, घर या दुकान आदिमें अधिक बैठे रहने की आदतें, व्यायाम न करना इत्यादि बहुतसे कारण हैं जिनसे हिन्दुओं की जीवनी शक्ति बहुत घट गई है। इस लिए जब कभी फैलने वाली घातक बीमारियां, विषूचिका, चेचक आदि फैलती हैं, तो हिन्दुओंकी सन्तानोंका नाश अधिक संख्यामें होजाता है। इस लिए भी मुसलमानोंकी अपेक्षा उनकी संख्या वृद्धि बहुत कम होती है। मुसलमानों की जीवन शक्ति अच्छी है इस लिये उनकी सन्तानों की इतनी मृत्यु नहीं होती।

चौदहवां कारण = बालहत्या।

राजपूताना, पञ्जाब, बङ्गाल आदिमें रुपया अधिक भरनेके कारण या इस प्रकारके कुछ कुसंस्कार होनेके कारण हिन्दू लडकियोंको पैदा होते ही मार देते हैं। इसके अतिरिक्त हिन्दुशास्त्रों में भी लडके को लडकी से ऊंचा स्थान दिया गया है। कहा जाता है कि पुत्र नरकसे छुडानेवाला होता है "पुन्नाम नरकात् त्रायते इति पुत्रः"। फिर पुत्रोंको जायदाद मिलती है स्त्रियोंको नहीं। इस प्रकार हिन्दुओं के मन पर प्रायः ये संस्कार पडे हुए हैं कि लडकीका पैदा होना अच्छा नहीं है। फिर आज कल यह रिवाज हो रहा है कि पुत्री के विवाह के व्ययके अतिरिक्त वर को कई हजार रुपये दिये जावें। एक पुत्रीके विवाह पर चार पांच हजार रुपया चाहिये। फल यह हो रहा है कि कई लडकियें मातापिताको चिन्तासे छुडानेके लिये आत्महत्याएं करती रहीं है। स्वर्णलता आदि इसके उदाहरण हैं। इन हत्याओं का फल है कि सन्तानोंकी वृद्धि हिन्दुओं में कम होती है। यदि ये लडकिएं सुखपूर्वक अपना जीवन व्यतीत करतीं तो इनकी सन्तानें भी अच्छी होतीं और इस प्रकार हिन्दुओं की सन्तानोंमें संख्या वृद्धि होती। इन हत्याओंका परिणाम है कि हिन्दुओंकी संख्या में वृद्धि अपेक्षया कम होती है।

पन्द्रहवां कारण = जात पात।

हिन्दुओं में जात पात का झगडा बहुत है इस कारण विवाहकी सीमा बडी संकुचित होती है। उच्च जातियों में तो यह सीमा अत्यन्त संकुचित है। इस लिए चुनाव के लिये बहुत स्थान नहीं रहता। इससे स्त्रियोंकी जननशक्ति पर भी प्रभाव पडता है। बच्चे उतने नहीं होसकते जितने कि दूर जाति में विवाह करने से होसकते थे। यह सिद्धांत है कि

बाहर जातिमें विवाह करनेसे सन्तान अधिक और बलवान् होती है । हिन्दुशास्त्रों में लडकी को " दुहिता " कहा गया है, इसका अर्थ निरुक्तकार यास्क यों लिखते हैं— " दुहिता दूरे हिता भवति" दूर विवाह करनेसे पुत्री अच्छी रहती है । ऋषि दयानन्दने भी लिखा है कि ७ पीढी में विवाह नहीं होने चाहिये किन्तु हिन्दु ओं में ये नियम नहीं चलते। दूसरे शहर या गांव की लडकी को लेना पसन्द नहीं किया जाता । दक्षिण और मद्रासमें तो मामें की लडकीके साथ तथा पास के सम्बन्धियों की लडकियों के साथ विवाह होजाता है-उधर स्त्रियों में प्रजननशक्ति भी कम है । स्त्रियां वन्ध्या भी अधिक हैं । इस कारण हिन्दुओं की सन्तान की वृद्धि कम होती है । पास पास विवाह होनेसे जो सन्तानें होती हैं वे अपेक्षया निर्बल होती हैं और उनमें कुछ क्षय-रोग भी घुस जाता है । डाक्टरोंने इस प्रकार के कई परीक्षण करके देखे हैं कि जब जन्तुओंमें पास पास में जोडा बनाकर सन्तान उत्पन्न कराई गई तो चौथी पीढीमें या तो सन्तानें होती ही बन्द होगई या हुई तो बहुत निर्बल और शीघ्र ही मर गई। भारतवर्षमें पारसियोंमें क्षय-रोग अधिकतासे होता है। इसका कारण डाक्टर लोग यही बताते हैं कि उनके विवाह का घेरा संकुचित है । इस प्रकार अन्य उदाहरण भी दिये जा सकते हैं । यदि हिन्दुओं में जाति, प्रान्त, शहर, गांव आदिकी इतनी संकुचितता न होती तो जहां हिन्दुओं में विवाह संस्था की वृद्धि होती, वहां उनकी सन्तानें भी संख्यामें अधिक और शरीर में बलवान् होतीं ।

सोलहवां कारण = अविवाहित साधु ।

भारतवर्षमें साधु लग भग ४५ लाख हैं । मुसलमानों के साधु भी विवाहित होते हैं, किन्तु हिन्दुओं के साधु अविवाहित ही रहते हैं। वे ब्रह्मचारी कहे जाते हैं । इन ४५ लक्ष साधुओंमें ३० लाख संख्या हिन्दुओंकी है-यह निर्विवाहित रह कर हिन्दुओं की संख्याको कम करते हैं ।

सत्रहवां कारण-बालमृत्युकी अधिकता।

धर्मानुसार बालकोंकी मृत्यु हमारी सेन्सस रिपोर्टमें नहीं की गई है, अत एव हमें जीवित रहनेवाले बच्चोंकी संख्याके आधार पर निर्भर होना पडता है । संख्याओंसे ज्ञात होगा कि हिन्दुओंके बच्चे और युवक २० बरसतक मुसलमानोंकी अपेक्षा अधिक मरते हैं । नीचे की तालिकाओंमें संख्याओंके ४ समूह दिये जाते हैं—

आयुसमूहमें प्रतिशतक संख्या ।

आयु वर्ष	हिन्दु	मुसलमान
०-५	१२. १६	१३. ५८
५-१०	१४. ५०	१४. ५७
१०-१५	११. ५६	११. ७७
१५-२०	८. ०८	८. ५८
	४६. ३०	४८. ५०

इस तालिकासे यह स्पष्ट है कि प्रत्येक समूहमें हिन्दु प्रतिशतक कम हैं । २० वर्षों की आयुतक कुलयोगमें हिन्दु दो प्रतिशतक से अधिक मुसलमानोंसे कम हैं, इसका तात्पर्य यह है कि मुसलमानोंकी अपेक्षा हिंदुओंकी दो प्रतिशतक मृत्यु अधिक होती है और पांच वर्षोंतक की आयुवाले बच्चोंकी मृत्यु १ प्रतिशतक मुसलमानोंसे अधिक है; इसके अतिरिक्त हिन्दुओंकी मृत्युसंख्या जीवनी शक्ति के कम होनेके कारण मुसलमानोंसे बढकर है ।

मुसलमानों तथा हिन्दुओंकी

प्रतिशतक मृत्युकी तालिका ।

	हिंदु	मुसलमान
१९११	३३. ४	२९. ५
१९१२	३०. ४	२७. ६
१९१३	२९. ०	२८. ४
१९१४	३०. १	३०. २
१९१५	२९. १	३२. ०
१९१६	२९. २	२८. ३
१९१७	३३. ३	३१. ९

१९१८	...	६४.६	...	५६.१
१९१९	...	३६.४	...	३३.६
१९२०	...	३१.०	...	३०.०
		३४७.५		३२७.६

ऊपरके अंकोंसे स्पष्ट पता लगता है कि हिन्दुओं की मृत्यु मुसलमानों से अधिक होती है। बच्चों की मृत्युके विषयमें हम ऊपर दिखला ही चुके हैं। अब स्पष्ट है कि हिन्दुओंकी मृत्यु संख्या बहुत अधिक है और यदि उनकी मृत्यु मुसलमानों जितनी होती तो हिन्दुओं की संख्या में इतनी अवश्य वृद्धि होती॥

अठरहवां कारण—अविवाहित मठाधीश।

हिन्दुओं में मठाधीश बहुत हैं- और वे भी प्रायः अविवाहित रहते हैं। इनसबका विवाह होना चाहिये। जिस प्रकार यूरोपमें पादरियों के विवाह करने की प्रथा चलाई गई, उसी प्रकार भारत वर्षमें भी चलाई जानी चाहिए। यदि इन सब मठाधीशोंका विवाह हो, तो हिन्दुओंकी सन्तानों की वृद्धि और इसके साथ व्यभिचार और अनाचार की कमी हो सकती है।

उन्नीसवां कारण—शुद्धिका कम होना

हिन्दुओंमें शुद्धि मुसलमानोंकी अपेक्षा कम है और यह प्रथा हालमें चली है। मुसलमान हिन्दुओंको बहुत ज्यादह शुद्ध करके अपने में ले रहे हैं। अभीतक तो हिन्दू देते ही जारहे थे-वे बिलकुल भी ले नहीं रहे थे। जो हिन्दु एकबार मुसलमान होगया-वह हमेशा के लिए हिन्दु धर्म से बाहर हो गया और वह भी फिर हिन्दु बन ही नहीं सकता था। इस प्रकार मुसलमानों की बादशाहत से लेकर आजतक कितने हिन्दु मुसलमान हो चुके हैं इनकी संख्या नहीं कही जा सकती। मुसल्मानों की जो अधिक संख्या आज दिखाई देती है वह सारी अरब से थोडाही आई है- वह तो इन्हीं हिन्दुओंमें से धर्मभ्रष्ट की हुई है। हिन्दू इस विषयमें अभीतक पूरे होश में नहीं आए हैं और इस लिए हिन्दुओंकी संख्या कम हो रही है। यदि हिन्दू अपने अन्दर ईसाई मुसलमान आदियों को लेना प्रारम्भ कर दें, तो फिर हिन्दुओंकी संख्या वृद्धि हो सकती है। गत कई वर्षोंमें शुद्धि के द्वारा मुसलमानों की संख्यामें बहुत वृद्धि हुई है। सेन्सस के अफसरों ने इस बातकी खोज की और उनकी सम्मति जानने के योग्य है। "पूर्वीय भागोंके रहने वाले और मद्रासके मुसलमान प्रायः सर्वांश में हिन्दुओंसे भ्रष्ट किये हुओं की सन्तानही हैं। पञ्जाब के मुसलमानों में से भी विदेशी रक्तसे पैदा हुए मुसलमान बहुत संख्यामें नहीं हैं- पञ्जाब की सेन्सस के सुपरिन्टेण्डेण्ट के हिसाब से ये केवल १५ प्रति शतक हैं- शेष सब मुसलमान हिन्दुओं को भ्रष्ट करके उनके अन्दर लिए गए हैं"।

वीसवां कारण = अछूत

कई करोड अछूत, जङ्गली जातियां, भील, नाग, कोल आदि हिन्दुओं में हैं। ये वास्तव में हिन्दू ही हैं, परन्तु इनके प्रति हिन्दुओंका व्यवहार अच्छा नहीं है- इसलिए ये प्रायः ईसाई या मुसलमान होते चले जा रहे हैं। यद्यपि अछूतों को अपने में मिलाने की पुकार इतनी देरसे उठाई जा रही है किन्तु हिन्दुओंने अभीतक इसे नहीं सुना। उन्हें चाहिए कि वे इन अछूतों के साथ अपने भाइयों जैसा व्यवहार करें और इन्हें सच्चा हिन्दु बनावें। यदि ये मुसलमान और ईसाई नहीं होंगे तो हिन्दुओं की संख्या में अवश्य वृद्धि होगी।

इक्कीसवां कारण = हिन्दुओंका विदेश गमन।

विदेश जानेवालों में भी हिन्दुओंकी संख्या अधिक है। अफ्रीका, फिजी, मारिशस आदि स्थानों में बाहर गए हुए हिन्दु संख्यामें अधिक हैं। इस लिये उनकी गणना न होने के कारण हिन्दुस्थानमें हिन्दू-संख्या कम होती है।

ईसाइयों की वृद्धि के निम्न कारण सेन्सस रिपोर्ट में दिए गए हैं। इनसे हमें शिक्षा मिल सकती है:—

(१) ईसाईयोंमें बहुतसी अडचनें इस प्रकार की नहीं हैं जिस प्रकारकी कि अन्य सोसाइटियों में हैं- जैसे बालविवाह, विधवा- विवाहका रोकना।

(२) ईसाईयों की बहुतसी संख्या दक्षिण भारत वर्ष में है वहां इनफुलुएन्ज़ा का रोग इतनी जोरसे नहीं फैला इस लिए ईसाइयों की स्वाभाविक वृद्धिमें किसी प्रकार की रुकावट नहीं हुई।

(३) मुसलमानों और हिन्दुओं की अपेक्षा ईसाईयों की मृत्युसंख्या कम है।

(४) यदि ५वर्षोंकी आयु वाले ईसाई बच्चों की तुलना हिन्दूओं तथा मुसलमानोंसे की जावे तो ईसाई बच्चों की संख्या अधिक है अर्थात् ईसाई बच्चे कम मरते हैं।

(५) यदि हम यह मानलें की भारत वर्षीय ईसाइयोंकी वृद्धि१९११से१९२१तक५प्रतिशतक हुईहै तो१९२१में ६८०हजार की वृद्धि होनीचाहिये, परंतु इसके सिवाय ७००,००० ईसाईयों की अधिक वृद्धि हुई है। यह अधिक वृद्धि शुद्धिद्वारा की गई है। अर्थात् दस वर्षों में सात लाख हिन्दु ईसाई बन गये हैं!

केवल ट्रावनकोर में ही ५०००० हिन्दू ईसाई हुए हैं! लूशाई के पहाडी इलाकेमें१९११में२०००ईसाई थे, परन्तु१९२१में२७००० ईसाई हो गए हैं। इसी प्रकार मनीपुर में१९११में१३२ईसाई थे परन्तु १९२१में४००० से अधिक ईसाई हैं यह सब हिन्दुओं से भ्रष्ट किये गए हैं। महाशोक है कि हिन्दुओंको अपनी स्थिति की चिन्ता नहीं। इन कारणोंके अतिरिक्त हिन्दुओंकी सन्तानें कम होनेके कारण कहीं हिन्दुस्त्रियोंमें प्रजननशक्ति कम होना या मुसलमानी स्त्रियोंमें अधिक होना तो नहीं हैं इस बात का अन्वेषण करना चाहिये। मर्टिन साहब का मत है कि मुसलमानोंकी अपेक्षा हिन्दुओं की जीवन शक्ति और प्रजनन शक्ति कम है। इन सब कारणों पर हिन्दुओंको अच्छी प्रकार विचार करना चाहिये, इस प्रश्नको अपने जीवन का सब से मुख्य प्रश्न बना लेना चाहिए कि हिन्दू संख्यामें क्योंघटते जारहे हैं? यदि वे प्राणपणसे प्रयत्न करें तो इस जातिके जीनेकी सम्भावना कीजा सकती है। अन्यथा यदि अब भी ये इसी प्रकार अथाह कुम्भकर्णी मोहमय घोर निद्रा में सोते रहे तो उनकी मृत्यु अवश्यम्भावी है-उसे कोई रोक नहीं सकता। आशा है कि हिन्दुभाई अपने अधःपातके कारणोंपर सम्यक रीतिसे विचार करके अवनतिके गहरे गढे में से अवश्य ही निकलनेकी चेष्टा करेंगे।

[३]

मृत्यु निवारणके उपाय।

अब हम साधनों पर कुछ प्रकाश डालना चाहते हैं जिन को क्रिया रूपमें लानेसे हिन्दुओंकी उन्नति और उनकी सन्तानों की वृद्धि हो सकती है।

प्रथम — अपनी जीवनी शक्तिको बढाना।

(क) बालविवाह की प्रथा को सर्वथा बन्द कर देना चाहिये। सरकारद्वारा यह कानून हो जाए कि भारतवर्ष में १६ वर्षसे नीचे किसी कन्याका तथा २० वें वर्षसे नीचे किसी पुरुषका विवाह नहीं होना चाहिए। यदि पुरुष २५ बरसों तक तथा कन्याएं १६ वर्षोंतक ब्रह्मचर्यका पालन करेंगे तो उनके अपने शरीरकी जहां अच्छी प्रकार उन्नति होगी वहां उनकी सन्तानें भी सुदृढ और सदाचारी होंगी।

(ख) हिन्दुओंको जगह जगह व्यायाम शाला तथा अखाडे खोलने चाहियें। हिन्दुघरोंमें व्यायाम करना नित्यका एक कर्तव्य होजाना चाहिये। दण्ड, मुद्गर, गतका, फरी इन सबका ठीक ठीक प्रबन्ध होना चाहिये। हर एक माता पिता अपना यह कर्तव्य बनाएं कि वे अपनी सन्तानोंमें नियमपूर्वक व्यायाम करने की आदत डालें। प्रतिवर्ष हिन्दूमहासभा की ओरसे इस प्रकारके व्यायाम प्रदर्शन होने चाहिएं जिनसे हिन्दुओंमें व्यायाम करनेकी रुचि बढे। प्रति वर्ष मेले होने चाहिएं जिनमें उन हिन्दू युवकों को जो शारीरिक उन्नति करें-पुरस्कार वितीर्ण किए जाएं। तात्पर्य यह है कि हिन्दुओंको अपनी शारीरिक शक्ति बढाने के लिये पूरा पूरा प्रयत्न करना चाहिये।

(ग) हिन्दुओंमें अधिक संख्या बैठ कर काम करनेवालों की है। हिन्दू बहुत करके दूकानदार या क्लार्क हैं। म्यूनिसिपैलिटियोंको यह नियम बना देना चाहिये—कि प्रातः ८ बजेसे शामके ७ बजे तक दुकानें खुलें। विलायतमें ९बजेसे ७बजे तक दुकानें खुलती हैं और दफ्तर ११ से५ तक। बैठे रहनेके

कारण हिन्दू कर्मशील नहीं रहे हैं और बुजदिल हो गए हैं। यदि वे अपनेको कर्मशील बनाएं तो उनका शरीर अच्छा हो सकता है। उन के शरीरमें स्फूर्ति आनेसे कर्मशक्ति बढेगी। क्या हिन्दू अपनी बैठने की आदतें कम करके अपने शरीरको अधिक क्रियाशील और स्फूर्तिमान् बनानेकी चेष्टा करेंगे? समय इस का उत्तर देगा!

(घ) हिन्दुओं को चाहिये कि वे अपने भोजन को उन्नत करें। घी, दूध, मलाई मक्खन आदि पोषक वस्तुओं को अधिक उपयोग में लाएं। चाय आदि पीना छोडें। किसी समयमें प्रत्येक आर्यके घर में गौओंका निवास होता था। गौ शोभा और लक्ष्मीका चिन्ह समझी जाती थी। सब घरोंमें दूधकी नदियां बहतीं थीं। दूध इतनी अधिक मात्रामें होता था कि दूध बेचना पाप समझा जाता था। किन्तु आज उसीके स्थान में घर घर में चायका प्रसार हो रहा है। क्या हिन्दु फिरसे दूध, घी, मक्खन का सेवन प्रारम्भ करेंगे? यदि हिन्दु पुष्टिदायक खाना खाएंगे और अच्छी तरह व्यायाम करेंगे, तो उन के शरीर अवश्यमेव परिपुष्ट और बलिष्ठ होंगे।

(ङ) अपनी चिन्ताओंको कम करना चाहिये। यह चिन्ता कीडेकी तरह अन्दर घुसकर हिन्दुओं के प्राणों को सुखा रही है। यह चिन्ता है पैसा जोडकर लडकीके विवाह करने की। हिन्दुओं को चाहिये कि वे अपनी सामाजिक कुरीतियोंका समुन्मूलन कर डालें। दहेजकी प्रथाको बिल्कुल उडादें। आज-कल हिन्दुओं में जो विवाह हो रहे हैं उनका बहुत सा आधार पैसा है। बंगाल के अन्दर इसी दहेज की प्रथा के कारण कई गरीब हिन्दु घराने जब वे अपनी लडकियोंका विवाह नहीं कर सकते तो ईसाई आदि हो जाते हैं। यदि लडकीका विवाह देरसे हो तो भी सम्बन्धियोंके ताने सुनने पडते हैं। इस दहेज की प्रथासे हिन्दुओं का बहुत सत्यानाश हुआ है। हजारों माता पिता इसी की चिन्तामें अपने शरीरको सुखा डालते हैं और पागल हुए घूमते हैं। बिरादरियां इस बारेमें ऐसे सख्त नियम बनावें के माता पिता को अपनी सन्तानों के विवाहमें जराभी चिन्ता न करनी पडे जब तक हमारी सोसाइटी ऐसी कुरीतियों को हटाकर इनका पूरा संशोधन करके इनको धार्मिक आधार पर नहीं खडा कर देती तब तक चिन्ता कभी दूर नहीं हो सकती और जब तक चिन्ता घुसी रहेगी हिन्दुओं के शरीर कभी भी उन्नत नहीं हो सकते। इस लिए हमारा प्रधान कर्तव्य है कि अपनी समाज के अन्दर इस प्रकार के सुधारों को यथासम्भव शीघ्र ही प्रारम्भ करें। हिन्दुओं के अन्दर सुधारोंके लिए जितनी आवाजें उठ रहीं हैं उनमें से यदि सब से कम किसी सुधारकी ओर ध्यान दिया गया है तो वह यही है। इस ओर अभी क्रियात्मक कार्य बहुत ही कम हुआ है। आशा है कि अखिल भारत-वर्षीय हिन्दुमहासभा इस प्रश्नको अपने हाथोंमें लेगी और आवश्यक दहेज की रीति का नाश करेगी।

(च) हिन्दुओं को अपने घरों तथा आसपास के घरों को साफ रखना और रखवाना चाहिये। स्वच्छताके नियमोंपर बहुत ध्यान देना चाहिये ताकि बीमारियां प्रवेश ही न कर सकें और यदि करें भी तो शीघ्र ही दूर हो जांय। हिन्दुओं को अपने बडे बडे मेलोंमें भी स्वास्थ्यरक्षाका पूरा प्रबन्ध रखना चाहिये। इन मेलोंमें बीमारियां फैल जाने के कारण न जाने कितने हिन्दुओं की मृत्यु हो जाती है। अत एव हमें स्वास्थ्य रक्षा के नियमोंका अच्छी प्रकार पालन करना चाहिये।

२ अन्तर्जातीय तथा अन्तःप्रान्तीय

विवाह करना।

हम पहले ही लिख चुके हैं कि जात पातके द्वारा हिन्दुओं का सत्यानाश हुआ है और हो रहा है। जब तक हमारे विवाहोंके घेरे संकुचित रहेंगे, तब तक अच्छी सन्तानें उत्पन्न होनी कठिन है। जात पात के भावों ने हमारे अन्दर प्रचण्ड विद्वेषाग्नि को पैदा कर दिया है। एक सभ्यता के रक्षक होते हुए आर्य संस्कृतिके अनुयायी होने पर भी, समान महापुरुषों के अभिमानी होते हुए भी जात पांत के कारण एक दूसरेसे ऐसे अलग हुए हैं जैसे उत्तरी ध्रुव दक्षिणी ध्रुवसे। इस जात पांत के भंवर में हमने अपने देश और जातिकी नौका को डुबा

दिया है। हमारा वर्णाश्रम जो कर्म के आधार पर केवल चार भागों में बंटा हुआ था आज असंख्य जाति और उपजातियों में बंट गया है। हिन्दुओंके अन्दर जो बीमारियां घुसी हुई हैं वे इतनी देर की हैं और इतनी गहरी हैं कि उनका दूर होना असम्भव सा ही प्रतीत होता है। हम अपने जाँत पाँत के अभिमान में इतने मस्त हो गये हैं, कि अपने मनुष्यत्व तक को भूल गए हैं। यदि हिन्दू जाति अपना सङ्गठन करना चाहती है तो उसे अपने अनन्त भेदों को हटा कर या उनके गौरव और माहात्म्य को कम करके अपने आप को एक मनुष्यत्व के आधार पर खडा करना होगा। इसके अतिरिक्त उन्नति का कोई और सरल उपाय नहीं है। यह तो हुई जातिकी समस्या, अब दूसरी ओर प्रान्तीय समस्या भी खडी हो रही है। प्रान्तीय भाव मुसलमानों या ईसाइयों की अपेक्षा हिन्दुओं में अधिक हैं। यह दूर हो जाना चाहिये। हर एक हिन्दू को दूसरे हिन्दूको सजातीय समझकर प्रेमकी दृष्टिसे देखना चाहिये। यह ज्ञात है कि बंगाल में लडकियां बहुत हैं और पञ्जाब में लडके। इसी प्रकार अन्यप्रान्तों में भी विषमता मिलती है। इस विषमता की एकही दवा है वह अन्तर्जातीय तथा अन्तः प्रान्तीय विवाह है। यह बात हमारे हिन्दू आदर्शके अनुसार ही है। हम 'दुहिता' शब्दका अर्थ ऊपर दिखा चुके हैं- वह दूर में विवाहित करने में ही अच्छी होती है। इससे जहां जातीय बन्धन ढीले होंगे, वहां प्रान्तीय भाव दूर होंगे और पारस्परिक प्रेम का सम्बन्ध बढेगा। इतना ही नहीं सन्तानें भी बलवान् और दीर्घायु होंगी।

३ विधवा--विवाह प्रचलित करना।

हम पूर्व बतला ही चुके हैं कि हिन्दुओंमें इस समय कितनी विधवाएं हैं। हमें समझ नहीं आता कि उन्होंने क्या पाप किया है जो हिन्दु घरोंमें उन्हें आजन्म दुःखकी आगमें जलाया जाता है, तथा उनका जीना न जीने के बराबर किया जाता है। इसका उपाय यही है कि विधवा विवाह को फिरसे प्रचलित किया जाय। इससे जहां विधवाओं के कष्ट दूर होंगे वहां हिन्दुओं की सन्तानों की भी वृद्धि होगी। न जाने कितनी विधवाएं प्रतिवर्ष मुसलमानों द्वारा भगाई जाती हैं? वे मुसलमानों के घरोंमें न केवल मुसलमान बनाई जाती हैं किन्तु वे मुसलमानों की सन्तानों की भी संख्यावृद्धि करती हैं। हिन्दु धर्म की रक्षार्थ विधवा विवाह की प्रथाको अच्छी तरह से चलाना चाहिये॥

४ अनाथ आश्रम।

हिन्दुओंको ऐसे आश्रम बनाने चाहिये जहां निय मित विवाहसे बाहरके उत्पन्न हुए बच्चोंको पाला जा सके। यूरोप अमेरिका आदि प्रदेशोंमें इस प्रकार के आश्रम हैं जहां ऐसी सन्तानों की परिपालना की जाती है। यहां पैदा होते ही उनको मार देते हैं। यह ठीक उपाय नहीं है। अनाथों के आश्रम स्थान स्थान पर खोल दिये जांय ताकि अनाथ बच्चों की अच्छी प्रकार पालना हो सके। इससे उन बच्चोंकी हत्या रुकेगी, उनका पालन भी होगा और वे जाति की संख्या बढावेंगे।

५ बहुपुरुष विवाह तथा कुलीन

घरके विवाहोंको रोका जाय।

हिमालयके पहाडों तथा दक्षिण मद्रास में जो एक स्त्रीके साथ बहुत पुरुषोंका विवाह प्रचलित है उसे दूर करना चाहिये। इसके साथ आसाम आदि प्रदेशों में जो कुलीनोंमें ५० स्त्रियोंतक के साथ विवाह करने के रिवाज प्रचलित हैं- उन्हें बन्द कर देना चाहिये। यदि पहाडी इलाके तथा मालाबार के हिन्दुलोग हरे क पृथक् पृथक् विवाह करेगा तो सन्तानों की वृद्धि होगी और यदि आसाम आदि देशोंमें से ५० स्त्रियों तक के विवाह की कुप्रथा को दूर करके उनका पृथक पृथक विवाह किया जायेगा तो इन सब के गृहस्थ जीवन उच्च होंगे और इससे हिन्दुओं की सन्तानवृद्धि भी होगी।

६ शुद्धि का प्रचार।

शुद्धिका महत्त्व बताने की आवश्यकता नहीं। ईश्वरकी दयासे इसका कुछ कुछ प्रचार तो हिन्दुओं में होने लगा है, किन्तु अभी इसकी महानता हिन्दु अनुभव नहीं कर रहे हैं-इस लिए व्यापकरूपसे इसे

नहीं चलाया जा रहा है। शुद्धिका संस्कार करनेसे ही प्रयोजन पूरे नहीं हो जाते,बल्कि जाँत पाँत,छूत छात और खाने पीनेके बन्धनोंको भी ढीला करना चाहिये। अब प्रश्न यह है कि इन शुद्ध हुए लोगों के विवाह कैसे होंगे? इस समस्या को हल करनेका एक उपाय यह है कि उनको कोई जाति दे दी जाय। इस बातका ठीक तौर पर पता लगाया जाय कि जब वे मुसलमान या ईसाई हुए थे तो किस जाति के वे थे तदनुसार उन्हें जाति दी जा सकती है । जब जात पांत तोडकर विवाह करनेकी प्रथा हिन्दुओं में व्यापक रूपसे चल पडेगी तब यह समस्या इतनी कठिन नहीं रहेगी। अभी तो शुद्धिकी महत्ताको जानना भी अवशिष्ट है, बहुतसे हिन्दु शुद्धिका विरोध कर रहे हैं। मुसलमान और ईसाई तो बडे परिश्रमसे हिन्दुओं को अपने धर्मों में मिला रहे हैं । हमें भी अत्यन्त परिश्रम और त्यागसे इस कार्य की ओर लगने की आवश्यकता है जिससे हम फिरसे हिन्दुओंकी संख्या वृद्धि कर सकें। कहा जाता है कि हिन्दूधर्म प्रचारक धर्म नहीं है, किन्तु वेदोंमें तो लिखा है,कि "कृण्वन्तो विश्वमार्यम्" हम सारे संसारको आर्य बनाएं। इस प्रकार हमें अपने धर्मका प्रचार करके हिन्दुधर्म की समृद्धि करनी चाहिये ।

७ अछूतोद्धार ।

इस विषयपर बहुत लिखनेकी आवश्यकता नहीं है, लेकिन काम कर दिखलाने की बहुत आवश्यकता है। यद्यपि कांग्रेस ने अपने कार्यक्रममें अछूतोद्धार को भी शामिल किया हुआ है किन्तु कांग्रेस की ओरसे इस तर्फ विशेष कार्य नहीं हुआ है। वास्तवमें यह कार्य हिन्दूमहासभाका है और जब तक हिन्दू महासभा पूरे उद्योग से इस कार्यको अपने हाथों में नहीं लेती तब तक उन्नतिकी विशेष संभवावना नहीं है। मुसलमान और ईसाई अछूतों के पीछे लगे हुए हैं और इन्हें मुसलमान और ईसाई बनाते चले जा रहे हैं। हिन्दुओंका व्यवहार अछूतोंके प्रति पशुतापूर्ण है, इसलिये वह उन अछूतोंको मुसल्मान और ईसाई बनाने के लिये विवश कर देता है। क्या हिन्दू अपने व्यवहार को इनके प्रति सुधारेंगे-इन्हें अपना भाई समझकर इनके साथ व्यवहार करेंगे ? मद्रास में तो अछूतका रोग अस्पृश्यता में नहीं बल्कि अदृश्यता, अप्राप्यता और न जाने कितने रूपोंमें फूटा हुआ है। क्या हिन्दुओंको तभी होश आएगी जब ये करोडों अछूत आज जो हिन्दू कहे जाते हैं-कुल मुसल्मान या ईसाई हो जायेंगे ? जब यह करोडों अछूत मुसल्मान या ईसाई हो जाएंगे उस दिन हिन्दू कितने क्षीणबल हो जाएंगे-इस करुण कथा को लिखने की आवश्यकता नहीं है । अभी समय है कि हम संभलजाँए और अछूतों का उद्धार करके उन्हें समान मानुषी बर्ताव से रक्खें । हिन्दुमहासभा को इस ओर पूरे बलसे लग जाना चाहिये जिससे कि अभीष्ट फल की सिद्धि शीघ्र ही प्राप्त हो सके और यदि वह डरती हुई इन सुधारों को अपने हाथोंमें न ले सकेगी, तो सिवाय रोने और मरने के सिवाय कोई चारा न रहेगा । इस लिए अछूतोद्धारकी ओर हमें विशेष तत्परताके साथ लग जाना चाहिये ।

८ बाह्य और आन्तरिक धर्म ।

हमारा धर्म बाह्य संस्कार रूपी बहुत हो गया है । छोटी सी बात पर जातिसे निकालने का डरावा मिल जाता है, कोई भी धर्म बाह्य वस्तुओंपर नहीं बल्कि अपनी आभ्यन्तरिक तत्वों के ऊपर निर्भर होता है । हमने बाहरके दिखावे को ही सब कुछ बना लिया है और समझ लिया है कि इससे हमें मुक्ति मिलेगी, अब हमें धार्मिक ज्ञान का बोध ही नहीं रहा । सत्य, ब्रह्मचर्य, तपस्या आदि धर्मके आन्तरिक गुणों की मुख्यता होनी चाहिए और जो खाने पीने शुद्धि आदिकी सामान्य बातें हैं उन्हें गौणरूपता देनी चाहिए। जहां मुख्य को गौण और गौण को मुख्य कर दिया जाता है; वहां बडा अनर्थ फैलता है । आज वही अनर्थ हमारे बीचमें प्रकट हो रहा है । इसको रोकनेका उपाय यही है कि हम अपने धर्म को आन्तरिक तत्वोंपर न कि बाह्य आडम्बर पर रखें; हिन्दुओं के धर्मशास्त्रों में तथा गीता में यह उपदेश है कि आत्मा अमर और अजर है—

" नैनं छिन्दन्ति शस्त्राणि नैनं दहति पावकः।
न चैनं क्लेदयन्त्यापो न शोषयति मारुतः ॥
अक्लेद्योऽयमदाह्योऽयमच्छेद्योऽशोष्य एव च।
नित्यः सर्वगतः स्थाणुरचलोऽयं सनातनः ॥ "

इस आत्माको शस्त्र नहीं काट सकते, आग नहीं जला सकती, पानी नहीं गला सकता और वायु सुखा नहीं सकती,॥ यह गलाया नहीं जा सकता, जलाया नहीं जा सकता, काटा नहीं जा सकता और सुखाया नहीं जा सकता, यह तो नित्य है तथा अविनाशी पुरातन है। आत्मा की इस अमरता और पुनर्जन्मके सिद्धांत में विश्वास करनेवाले हिन्दू जब जब मुसल्मानोंसे लडाई या सामना करनेका अवसर आता है तो मारें खाते हैं और भाग जाते होते हैं। यदि मुसल्मानोंने अपने प्रचार का कार्य करते हुए कहीं धक्का खाया तो यहीं भारतवर्ष में आकर यहां के प्राचीन आर्योंने मुसल्मानों को सभ्य किया और इन की मुसल्मानी की यहां जड नहीं जमने दी उर्दूके कवि हाली ने ठीक लिखा है—

" वह दीने जहाजीका बेबाक बेडा
निशान जिसका यकसाए आलममें पहुंचा।
किए तै सपर जिसने सातों समुन्दर,
वह डूबा दहाने में गङ्गाके आकर "।

लेकिन वही मुसलमान जब आज लाठियां उठाकर हिन्दुओंसे लडने के लिए आते हैं तो हिन्दू भागे जाते हैं। इससे अधिक अपनी सभ्यता का क्या उपहास हो सकता है? इससे अधिक कायरता क्या हो सकती है ? क्या हम उन्हीं आर्यों की सन्तानें हैं जो आत्मा की अमरता में विश्वास करतीं थीं। आज जहां कहीं से लडाई झगडेका समाचार आता है तो यही सुनाई देता है कि हिन्दू पीटे गए- हिन्दू भाग गए। हमारी मुसल्मानों से चार गुनी संख्या है, फिर भी हमारा यह हाल है। इसका क्या कारण है? हम अपने सच्चे धर्म को और सभ्यता की आनुवंशिकता को भूल गए हैं। हमने धर्म एक आडम्बर की चीज बनाली है। आज हमारा धर्म एक बाह्य दिखावेके सिवाय कुछ भी नहीं रहा है। वह हमारे रग रग के अन्दर नवजीवन उत्पन्न करनेवाली सामग्री नहीं रही है। हिन्दुओ उठो ! अपने को पहिचानो अपने सच्चे धर्मकी अमृतवाणी सुनकर अपनेको उठाओ। देशदेशान्तर तथा द्वीप द्वीपान्तर में आर्य सभ्यता के क्रियात्मक जीवन को दिखलाकर संसार में एक नई ज्योतिको पैदा कर दो, आत्माकी अमरता में विश्वास करनेवालोंसे मुकाबला आने पर कोई भी जाति विजय न ले सके। जिस दिन हम अपने अन्दर संगठनरूपी नव संजीवन शक्तिको लेकर अपने सच्चे अन्तर्धर्म के बल पर खडे हो जाएंगे, तब निश्चयसे हमारे अन्दर शक्ति पैदा होगी। अभी हम लोग असंख्य जातियोंकी फूटमें ऐसे पडे हुए हैं कि हम कुछ भी नहीं कर सकते। जिस दिन अन्तर्धर्म की जाग्रति होगी और हमारे अन्दर एकता का बल पैदा होगा, फूट और विभिन्नता नष्ट होगी, उस दिन कोई भी जाति हमारे सामने ठहर न सकेगी।

इस प्रकार हमने संक्षेपसे हिंदुओं की अवस्था उसके न्हास के कारणों तथा उनके रोकनेके उपायों पर विचार किया है। यदि हिन्दु समाज इन बातों को पूर्णतया लक्ष्यमें रखकर अपनी गिरती हुई अवस्थासे चेतावनी लेकर इन उपायोंको क्रियारूपमें लाना प्रारम्भ कर देगा तो वह दिन दूर नहीं है जब फिर हिन्दु जाति में नए जीवन का संचार हो जाएगा और उसका फिरसे अभ्युदय होगा। अन्तमें ईश्वरसे प्रार्थना है कि वह हमको बल और सुबुद्धि दें जिससे हम अपनी सच्ची अवस्थाका ज्ञान प्राप्त करते हुए अपनी उन्नतिमें दिनरात परिश्रम करते हुए सब जातियोंमें पुनः अग्रेसर हो सकें॥



" उपवास । "

(ले० — श्री. अत्रिदेवजी गुप्त, भिषग्रत्न)

दोषाणामेव सा शक्तिर्लंघने या सहिष्णुता ।
नहि दोषक्षये कश्चित् सहते लंघनं महत् ॥
चक्रपाणि

शरीर के अन्दर हर समय आय व्यय का चक्कर चलता रहता है। भोजन आदिके रूपमें शरीर की आय होती है एवं व्यायाम के रूपमें व्यय होता है। यदि आय और व्यय दोनों समान रूपसे होते रहते हैं, तो शरीर स्वस्थ कहाता है। परन्तु यदि कारण-वश दोनों में से एकमें भेद आ जाय, अर्थात् आय अधिक हो एवं व्यय कम हो रहा हो अथवा आय कम हो परन्तु व्यय अधिक हो तो वह अवस्था, विकार, व्याधि, रोग, आतङ्क, विकृति, ज्वर आदि शब्दोंसे कही जाती है। जो की अवस्था इष्ट नहीं है।

प्रथम अवस्था में अर्थात् शरीर में आय के अधिक होनेसे एवं व्ययके कम होने पर अवयवों पर कार्य-भार अधिक पड जाता है। जिस प्रकार की भस्म (राख) से ढपी आग प्रज्वलित नहीं हो सकती एवं अपने कार्य करने में असमर्थ होती है उसी प्रकार शरीरस्थ अग्नि (पित्त) भस्म (कफ) से आच्छादित होनेके कारण कार्य करनेमें असमर्थ होती है। और जिस प्रकार भस्म को हटानें के लिये वायू की आवश्यक्ता होती है उसी प्रकार शरीरस्थ भस्म (कफ) को हटाने के लिये एवं अग्नि को प्रदीप्त करने के लिये वायु (वात) की आवश्यकता होती है। जो की अपतर्पण या उपवास से सुगमता से हो सकती है। कारण अपतर्पण वायू को बढाने वाला है।

वर्षाऋतुमें विशेषतः वात प्रकोप होता है एवं वसन्त में कफ का प्रकोप तथा शरद्ऋतु में पित्त कुपित होता है। अतः आत्रेय शास्त्रमें वर्षा और शरद्ऋतुमें अपतर्पण को श्रेष्ठ न मान कर वसन्तमें श्रेष्ठ गिना है। कारण शरद् ऋतु में पित्तके जयके लिये विरेचन, वसन्त में कफ के जय के लिये वमन, उपवास तथा वर्षामें तैलसे अभ्यङ्ग वात जयके लिये विधान किया है।

परन्तु उपवास या अपतर्पण किसी भी ऋतुमें आचार्यने सर्वथा निषिद्ध नहीं किया। परन्तु " बलं यत्नेन पालयेत्" "बलाधिष्ठानमारोग्यं आरोग्यार्थो हि क्रियाक्रमः" इन दो सूत्रों का ध्यान रखते हुवे सब ऋतुओंमें एवं सब रोगोंमें उपवास को प्रथम स्थान आचार्य ने दिया है। कारण लंघन से दोषों का क्षय होनेसे वात प्रबल हो जाती है। जिस के कारण अग्नि (पित्त) उद्दीप्त हो जाती है।

परन्तु यदि शरीर में द्वितीयावस्था हो रही हो अर्थात् आय कि अपेक्षा व्यय अधिक हो, तो उस समय प्रज्वलित (पित्त) अग्निको शांत करने के लिये एवं अग्नि के सहाय्यभूत वायु का वेग रोकने के लिये भस्म (कफ) की वृद्धि आवश्यक है। इस अवस्था में किया गया अपतर्पण वा उपवास शरीरका नाश करने में कारण होता है। इस लिये यक्ष्मारोग तथा भस्मक में उपवास योग्य नहीं है।

यक्ष्मारोग में शरीरके सारभूत पदार्थों वा धातुओं का नाश हो रहा होता है ऐसी अवस्थामें अप-

तर्पण कितना हानि कर सकता है। यह आप स्वयं विचार सकते हैं।

प्रथमावस्था के यद्यपि कई उदाहरण हैं परंतु सबसे उत्तम दो उदाहरण आपके सामने रखता हूं। एक उदाहरण मधुमेह (Diabitis) का है।

इस रोगके कारण तथा इसके विषयमें की गयी कल्पनाओं का विचार यहां न करता हुवा केवल मुख्य मुख्य लक्षण लिख देता हूं। इस रोगमें रोगी स्थूल चरबीवाला, आरामप्रिय, परिश्रम को न सह सकनेवाला; अधिक प्यास, भूक एवं मूत्र में शर्कराकी अधिकतावाला होता है।

आयुर्वेद दृष्टिसे यह रोग वीस प्रकार प्रमेहों में से कफजन्य दस प्रमेहों में आ जाता हैं। आयुर्वेद में कफजन्य प्रमेह साध्य माने हैं। कारण " समक्रियत्वात् " अर्थात् कफजन्य रोगों की चिकित्सा के समान चिकित्सा है। अर्थात् कफजन्य रोगों में उपवास या अपतर्पण ही चिकित्सा है। अतः यहां पर भी उपवास चिकित्सा लाभदायक है। देखिये आत्रेय शास्त्र।

आमल चिकित्सा में भी मधुमेह की चिकित्सा जो कृतकार्य हुई है वह भी उपवास चिकित्सा ही है। उपवास तब तक कराया जाता है जब तक मूत्र में से शर्करा सर्वथा अदृश्य न हो जावे।

दूसरा उदाहरण टाईफाइड फीवर है। इस रोग का कारण आंग्ल चिकित्सा के मतसे एक कृमि है। जिसके कारण आंत्रोमें व्रण हो जाते हैं। परन्तु यहि चिकित्सा यह भी बताती है कि शरीर में रोगोंसे बचने के लिये भगवानने प्रतिशक्ति (Immunity) या ओज भी दी है। जिसके कम होने पर रोग होते हैं। यहां पर भी जब कि शरीर निर्बल हो एवं आंत्रों में विदग्धावस्था हो रही हो, तो यह रोग होता है। आंतों में विदग्धावस्था का होना व्यय की न्यूनता का स्पष्ट रूपसे द्योतक है।

एकविज्ञ चिकित्सक रोग की मूल विदग्धावस्था को नष्ट करनेका यत्न करता है। अर्थात् सबसे पहिला लाभ वह यह करता है कि आय बन्द कर देता है। आय बन्द करके वह विदग्ध पदार्थों को बाहर करने लगता है। इसके लिये ऊर्ध्व और अधः दोनों भागोंसे बस्ति और विरेचन देता है। तदनंतर विदग्धताको उत्पन्न करने वाले कृमियों के नष्ट करने में यत्न करता है। जिसमें कि सुगमता से कृत कार्य हो जाता है।

यहां पर वह रोगोंके बल का सदा ध्यान रखता है। वह उसको भोजन उतना ही देता है जो कि पूर्ण रूपसे व्यय हो जावे, शरीर में एकत्रित न हो। चूंकि वह जानता है कि आय की अधिकता एवं व्ययकी न्यूनता हानिकारक है। इस उपरोक्त चिकित्साके उसके पास और चिकित्सा नहीं।

इसी प्रकार इसी आधार पर वह प्रायः सब भयानक रोगों की चिकित्सा कर लेता है। यहां तक कि रोगों के राजा राजयक्ष्मा का भी इसी सिद्धान्त से अर्थात् आय और व्यय को समान रखते हुवे वह उसे भी स्वस्थ कर देता है। कारण यक्ष्मा में भोजन सुपच, रुचिकर तथा जो खाये वह पच जाना चाहिये इन तीनों सिद्धांतों से दिया जाता है।

उपवास, लंघन और अपतर्पण यह तीनों पर्यायवाची हैं। किसी उपवास में पानी के अतिरिक्त सब पदार्थ पूर्णरूपसे छोड दिये जाते हैं; किसी किसी लंघनमें दूध या यवोदक थोडी मात्रा में दिया जाता है यथा टाईफाइड या अन्य ज्वरों में।

इस भेद का कारण है जो कि आवश्यक भी है। जिस अवस्था में शरीर में व्यय अधिक और शीघ्रतासे हो रहा होता है उस अवस्थामें पोषक सुपच पदार्थ थोडी मात्रा में बार बार देने आवश्यक हैं। कारण शरीरस्थ अग्नि (पित्त) प्रथम आहार का पाचन करती है उसके अभाव में दोष, वात, पित्त, कफ, का एवं उनके अभाव में धातूओं (रस, रक्त, मांस, मेद, अस्थि, मज्जा, शुक्र) को जलाने लगती है। अतः भोजन की आवश्यकता है।

परन्तु मेदस् रोग या अन्य अवस्थाओं जहां कि व्यय की मात्रा कम हो वहां पूर्ण उपवास ही आवश्यक है। इस प्रकार के उपवास आरंभ करने में क्रम का नियम नहीं है। सर्वथा उपवास किसी भी दिन से आरंभ किया जा सकता है। उपवास के तीसरे-दूसरे-चौथे दिन बडी बुभुक्षा प्रतीत होने

के साथ बेचैनी एवं अस्वस्थता का अनुभव होता है। यह समय सुगमता से बीत जाये इसके लिये मनको किसी उत्तम मनोनुकूल कार्य में फांस देना चाहियो। इन दिनों के पश्चात् फिर सात वा दस दिन का उपवास साधारण व्यक्ति भी सुगमता से कर सकता है ! यदि आवश्यकता हो, तो और भी बढाया जा सकता है ।

कार्य की सफलता तीसरे दिन के पश्चात् पांचवें दिन ही दिखाई देने लगती है। जब तक यथेष्ट कार्य-सिद्धि न हो उपवास को चलाये रखना चाहिये । जो कि थोडे से मनोनियोग से सुगमता के साथ हो सकता है ।

उपवास के समय ध्यान रखने योग्य बातें:—

१ पूर्ण उपवास में या ज्वरादि में किये गये उपवास में पानी की जितनी मात्रा पीसके पान करें ।
२ यदि उपवास स्वस्थ अवस्थामें किया गया है तो शारीरिक व्यायाम विशेषत: प्राणायाम एवं मानसिक परिश्रम (न्यून मात्रा) अवश्य करते रहें ।
३ उपवास से दिनचर्या में कोई परिवर्तन न आने दें ।
४ मानसिक परिश्रम उपवास के दिनों में न्यून करें ।
५ धूपमें बैठना विशेष उपादेय है ।
६ आंत्रों की गति पूर्णरूपसे न हो तो एरण्ड तैल अथवा शीतळ जळ की बस्ति अवश्य लें।

उपवास से शरीर में परिवर्तन—

१ २१ या ३५ दिन के उपवास के पश्चात् शरीर का प्रत्येक कण सर्वथा परिवर्तित हो जाता है । कारण शरीर के मल मूत्र अन्न त्वचा के द्वारा सब निकल जाते हैं ।
२ बुद्धि प्रस्फुरित सात्विक हो जाती है । कारण "अन्नमयं हि सौम्यं मनः । आहारशुद्धौ सत्वशुद्धिः सत्त्वशुद्धौ ध्रुवा स्मृतिः । " विशेषतः यदि उपवास टाईफाईडकी अवस्थामें दूधसे किया जा रहा हो ।
३ शरीर की क्रिया-विचार- सब नये सिरे से कार्य करने लगते ।
४ शरीर एक नवजात शिशुकी भांति होता है । शरीर की चोला संपूर्ण रूपसे बदल जाता है।
५ शरीर का रोग शान्त हो जाता है ।

उपवास समाप्त करने के नियम—

१ उपवास से आंत्र निर्बल हो जाती हैं अतः जिस प्रकार नवजात शिशुको शनैःशनैःभोजन पर लाते हैं उसी प्रकार यहां भी व्यवहार है ।
२ प्रथम दूध फलों के वस्त्र में छने रस यवोदक का उपयोग थोडी थोडी मात्रामें दिन में पांच सात वार करें । तदनंतर सागू या मुद्गयूष अथवा लाज (भूने चावल) दूध के साथ, फिर खीर, खिचडी, दलिया आदि और अन्त में चावल, आधी रोटी, एक रोटी, दो रोटी आरंभ करें । इस प्रकार २० वें दिन रोटी करें । ज्यूं ज्यूं आंत्रों की शक्ति बढती जावे त्यूं त्यूं भोजन को कठोर बनाते जावें ।

उपवास का समय—

यह कोई निश्चित नहीं। प्रत्येक मनुष्य,प्रत्येक स्त्री, प्रत्येक आयु, प्रत्येक रोग या व्याधि, प्रत्येक ऋतु, एवं प्रत्येक अवस्था में भिन्न भिन्न है । शरीर स्वयं बता देता है कि अब आगे वह उपवास को सहने अयोग्य है । तीसरे से पांचवें दिन के पश्चात् शरीर पूर्ण स्वस्थ हाकर भूक की जब प्रतीती करता है तब वह उपवास तोडने का समय है । इस समय शरीर में दोषों का पाचन हो चुका होता है । अब भी यदि हट से उपवास चलाया जावे तब धातूओं का पचन आरंभ होता है। इसके विपरीत यदि दोषोंके पाचन से पूर्व छोड दें तब पूर्ण लाभ नहीं होता ।

अर्थात् उपवास या लंघन को सहन करने की शक्ति दोषों (वात, पित्त, कफ,) में ही हैं । दोषों के नाश होनेपर बडे लंघन को कोई नहीं कर सकता ।

वैदिक-राष्ट्रीय-झंडा।

(लेखक—श्री० पं० गणेशदत्त शर्मा गौड विद्यावाचस्पति)

वर्षों से हमारे देशमें स्वराज्यके लिये आन्दोलन मच रहा है। राष्ट्रीय महासभा उसकी सफलताके लिये निरन्तर उद्योग में लगी हुई है। बडी बडी आत्माओंने आमरण स्वराज्य प्राप्तिके लिये उद्योग किया किन्तु वे अपने जीवन में आशाको सफल नहीं देख सके। दादा भाई नौरोजी, प्रातःस्मरणीय लो० तिलक, देशभक्त गोखले और बाबू चित्तरंजन दास आदि सच्चे देशभक्त इस लोकसे चले गये अब हमारी इस नौकाके कर्णधार महात्मा गान्धी बने हुए हैं।

जब हजारों की संख्यामें देशके सत्याग्रही वीर सरकार का मुकाबिला करनेके लिये सहर्ष जेलों की यात्रा करने लगे उस समय स्वराज्य आन्दोलन का कुछ रँग जम गया था। स्वराज्य के वीर सैनिक सेनापति की आज्ञासे युद्धक्षेत्र में कूदकर लोगोंको अपनी वीरता का परिचय दे रहे थे। इस स्वतंत्रता प्राप्तिके राष्ट्रीय युद्ध में जब सैनिक हैं और सेनापति हैं तो राष्ट्रीय झण्डेकी भी आवश्यकता पडी। उस समय एक तिरंगा झंडा तय्यार करने की आवश्यकता बोध हुई। क्यों कि इस आन्दोलन में तीन धर्म के मनुष्य भाग ले रहे थे (१) हिन्दू, (२) मुसलमान और (३) ईसाई। महासभाके प्रत्येक धर्म का सूचक अलग अलग रखा था। ईसाइयोंके लिये सफेद रंग, मुसलमानों का हरा और हिन्दुओंका लाल रंग रखा गया। हम इतर धर्म के रंगोंका वर्णन तो शास्त्रीय रूपसे नहीं कर सकते लेकिन हिन्दू धर्म के लाल रंगका वर्णन तो वेद मंत्रों में भी है देखिये—

ईशां वो वेद राज्यं त्रिषंधे अरुणैः केतुभिःसह।
ये अंतरिक्षे ये दिवि पृथिव्यां ये च मानवाः।
त्रिषंधेस्ते चेतसि दुर्णामान उपासताम्॥
अथर्व ११।१०।२

अर्थ- हे सेनापति ! तुम्हारी शासन शक्ति और राज्यको तुम्हारे रक्तवर्ण वाले झंडोंके साथ मैं जानता हूं। जो ज्ञानियों के बताये हुए बुरे नामवाले दोष अंतरिक्षमें, सूर्यमें और जो पृथ्वीपर हैं वे सब दोष सेनापति के चित्त में हीन होकर रहें। सारांश यह कि सेनापति अपने लाल रंगके झंडों को आकाशगामी शत्रुओं तथा भूमिपर के शत्रुओं के भय से शून्य होकर सेना के साथ लेकर आगे बढे।

धूमाक्षी संपततु कृधुकर्णी च क्रोशतु।
त्रिषन्धेः सेनया जिते अरुणाः सन्तु केतवः॥
अथर्व० ११।१०।७

अर्थ—धुआँ भरी आँखों वाली, कम सुननेवाली शत्रुसेना गिरजावे और रोवे। सेनापति की सेना द्वारा जीत होने पर लाल रंग के झंडे होवें। तात्पर्य यह कि जहरीली धुआँ छोडकर शत्रु की सेना को अंधी और बहिरी बनाकर नाश कर डालना चाहिये और फिर अपनी लालरंग वाली विजय पताका फहरानी चाहिये।

इत्यादि वैदिक मंत्रों द्वारा सिद्ध होता है कि वेदोंके अभिमानी हिन्दुओं का जो लालरंग हमारे राष्ट्रीय झंडों में रखा गया है वह वेदसम्मत रंग है। यह जानकर प्रत्येक हिन्दू को प्रसन्नता होनी चाहिये कि हम लोगों का राष्ट्रीय झंडे में जो रंग है वह बिलकुल सत्य और उचित है। इन लक्षणों से हमें एक दिन अवश्य सफलता प्राप्त होगी ऐसी आशा है।



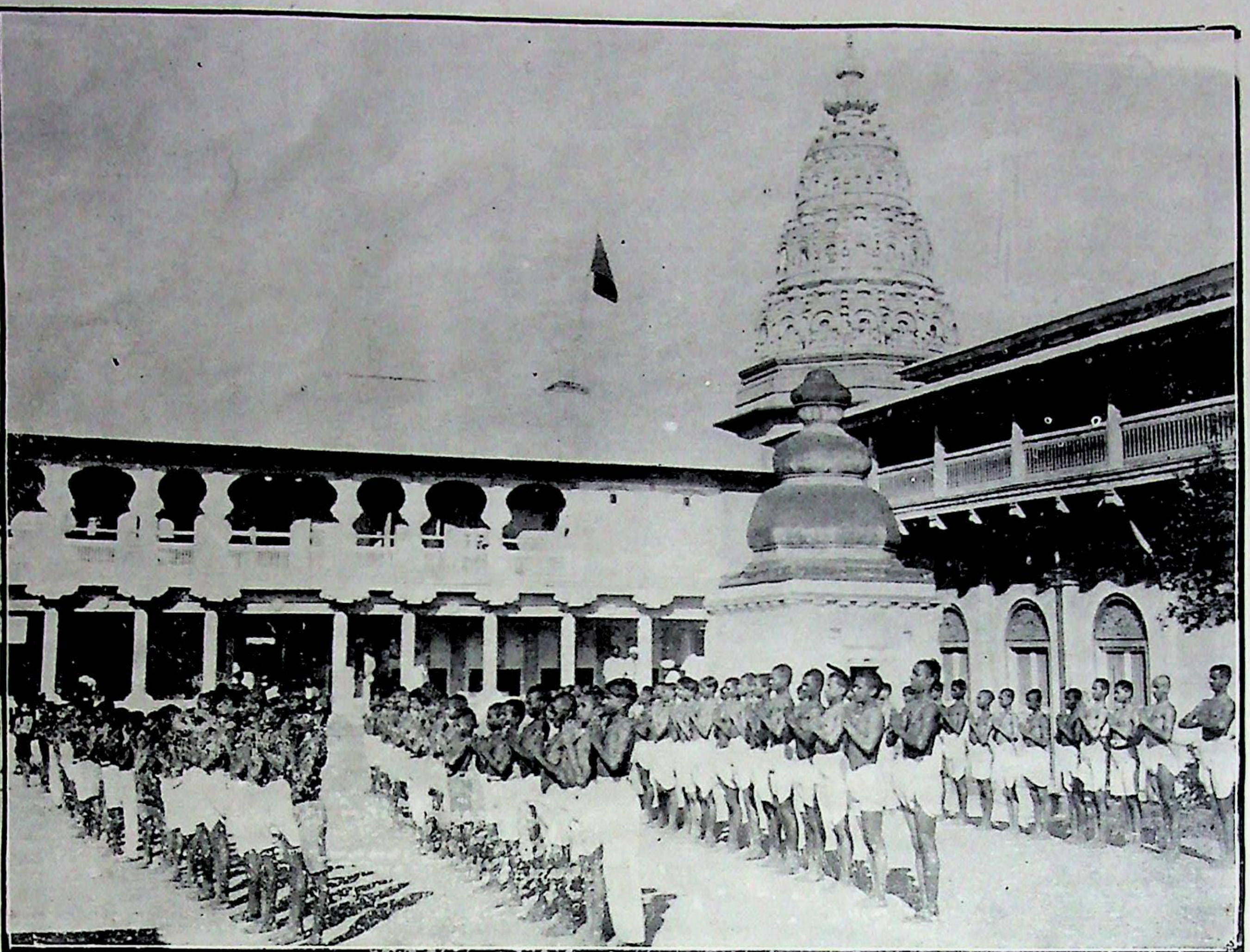
औंध के विद्यार्थी सूर्य नमस्कार का व्यायाम कर रहे हैं।



सूर्यनमस्कार के व्यायाम के लिये औंध के विद्यार्थी खड़े हैं (सं० १)



औंध के विद्यार्थी सूर्य नमस्कार का व्यायाम कर रहे हैं।



सूर्यनमस्कार के व्यायाम के लिये औंध के विद्यार्थी खडे हैं (सं० ४)

सूर्य-नमस्कार-व्यायाम।

[लेखक— श्री० महाराज श्री० बाळासाहेब पंत बी० ए० संस्थान औंध। प्रकाशक— श्री० रामचंद्र का० किर्लोस्कर औंध। मूल्य १) ६०]

"सूर्य-नमस्कार-व्यायाम" (Surya Namaskars, Sun Adoration for Health, Efficiency & longevity) यह पुस्तक श्री० महाराजा साहेब औंध नरेश द्वारा अंग्रेजी में लिखा हुआ थोडे समय के पूर्व प्रकाशित हुआ है। और अंग्रेजी जाननेवालों में इसने बडा प्रभाव उत्पन्न किया है। भारत वर्षके प्रसिद्ध वृत्तपत्रकार, तथा युरोप अमेरिकाके शारीरिक स्वास्थ्यके पत्रकार इसकी प्रशंसा करने लगे हैं।

इस पुस्तकके लेखक श्री. महाराजा साहेब औंधाधीश स्वयं गत बीस वर्षोंसे सूर्य नमस्कारका व्यायाम ले रहे हैं। इससे पूर्व इन्होंने पहिलवानी व्यायाम कुश्ती दण्ड बैठक आदि किये थे, पश्चात् सैंडोका युग शुरू हुआ उस समय सैंडोके ग्रिपडंबेल्स तथा अन्यान्य उसके खींचनेके व्यायाम आदि नियम पूर्वक किये। अर्थात् ये व्यायाम के पहिलेसे ही शौकी रहे तौ भी देशी विदेशी किसी भी व्यायामसे इनकी संतुष्टि नहीं हुई।

पश्चात् आपका चित्त सूर्यनमस्कार की व्यायाम पद्धतिकी ओर लगा। गत बीस वर्षोंसे यही व्यायाम आप कर रहे हैं। जबसे अन्य व्यायाम छोड कर सूर्यनमस्कार का व्यायाम करने लगे, तब से इस व्यायाम का महत्त्व प्रकट होने लगा और कई वर्षोंके अभ्यास से आप का निश्चय हुआ कि इस सूर्यनमस्कार के समान, व्यक्तिशः और संघशः करनेके लिये, कोई दूसरा व्यायाम नहीं है।

स्वयं बीस वर्ष तक अनुभव लिया। और हमें कहनेमें प्रसन्नता होती है कि आप का अनुभव औरों जैसा नहीं है। क्यों कि जैसे सूर्यचंद्रादि गोल अपनी नियत गति से अपना मार्ग नियत समयमें आक्रमण करते हैं, उसी प्रकार आप का दैनिक कार्यक्रमभी विना छुट्टी किये अव्याहत चलता रहता है। पाठकभी सुनकर प्रसन्न होंगे कि आप स्वयं महाराजा होते हुए भी प्रतिदिन प्रातःकाल तीन बजे से पूर्व उठते हैं, उठनेके पश्चात् शौच मुखमार्जन और स्नान करके प्रातरनुष्ठान करते हैं। पश्चात् साढेचार बजेसे सवापांच बजेतक सूर्यनमस्कारका व्यायाम करीब तीन सौवार लेते हैं। पश्चात् पहाडीपर के मंदिरमें पैदल दौडकर जाते हैं। इस प्रकार का कार्यक्रम प्रतिदिन होता है। पाठक इस बातको सुनकर प्रसन्न होंगे कि सूर्योदयमें प्रातःसंध्या और सूर्यास्तके समय सायं संध्या आप की प्रतिदिन होती है। और कभी चूकती नहीं। आपका नियमपालन यहां तक है कि जब भी प्रवास में होते हैं तो भी नियम पालन वैसा ही होता है जैसा कि घरमें होता है।

यह बात यहां इतनी विस्तार पूर्वक कहनेका कारण यह है कि कई लोग नियम करते हैं और तोड देते हैं। वैसा श्री. महाराजा साहबका नहीं है जो नियम करते हैं उसका पालन धार्मिक भावसे करते हैं। इसलिये गत बीस वर्षोंमें उनका एक भी दिन ऐसा नहीं गया कि जिसदिन उन्होंने तीन सौ या अधिक वार सूर्यनमस्कार का व्यायाम न किया हो। इस प्रकार अपने अनुभव से जब देखा कि यह व्यायाम सब अन्य व्यायामों में श्रेष्ठ है और हरएक अवस्थामें लाभदायक है तब आपने अपनी रियासत के शिक्षाविभागमें यह व्यायाम आवश्यक किया। इस नियमके अनुसार औंध रियासत का हरएक विद्यार्थी पाठशालामें जाते ही पहिले यह व्यायाम लेता है और बाद पाठशालाकी पाठ विधिमें लगता है।

औंध रियासतमें प्राथमिक शिक्षा आवश्यक है। इस लिये पाठशालामें जानेयोग्य सभी विद्यार्थी पाठशालामें जाते हैं, और यह व्यायाम प्रतिदिन उन को करना ही पडता है। कई वर्षोंसे औंध रियासत के सभी विद्यार्थी यह व्यायाम ले रहे हैं। इससे आश्चर्यजनक लाभ हुआ है। पहिले बीमार विद्यार्थियोंकी जितनी संख्या होती थी, उतनी अब नहीं होती। प्रायः सौमें पचत्तर बीमारोंकी संख्या घट गई है। पहले जो विद्यार्थियोंमें कुचेष्टाकी प्रवृत्ति थी वह बहुतसी

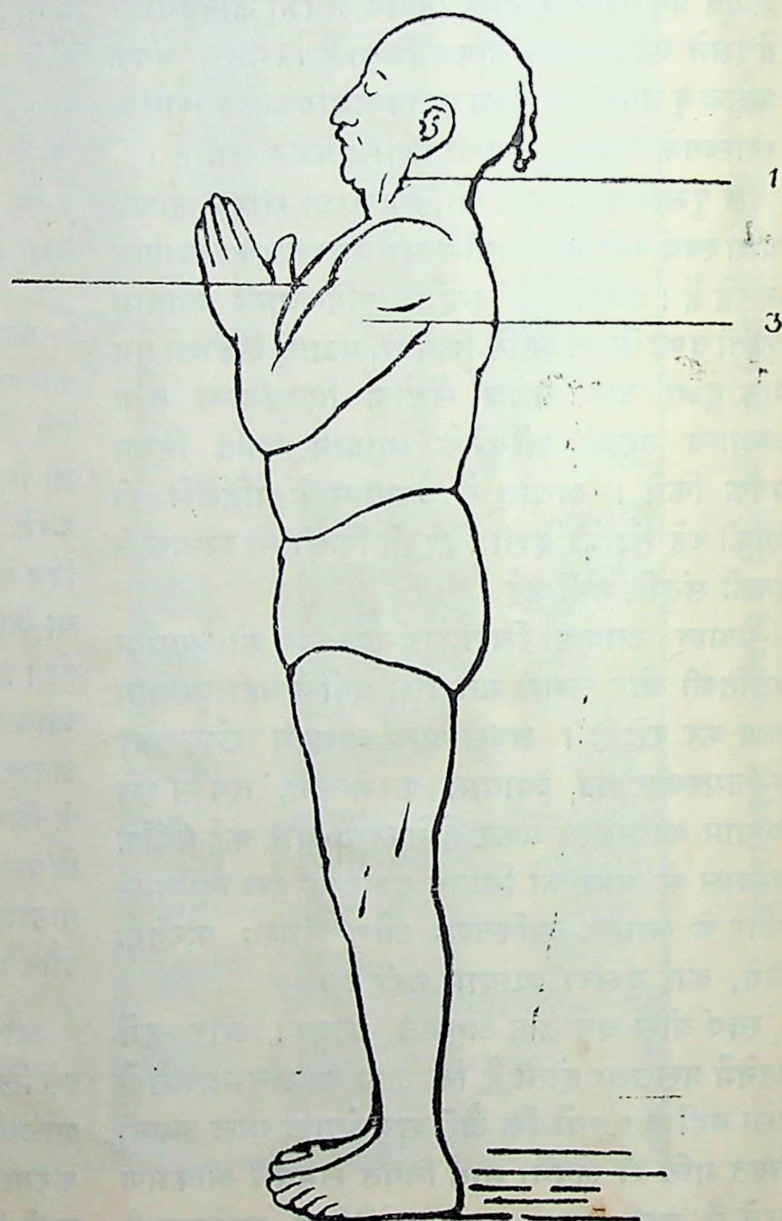
नष्ट होगई है और शरीर स्वास्थ की लहर विद्यार्थियों में बढ रही है। अभ्यासमें बुद्धिमत्ताभी बढनेका अनुभव हुआ है। यह अनुभव देखनेके पश्चात् जिला सातारा के आंग्रेजी इलाकेके स्कूलोंमें भी यह व्यायाम आवश्यक किया गया है और अब इस रियासत का अनुकरण आंग्रेजी इलाके में भी हो रहा है।

अपना बीस वर्षोंका अनुभव और पाठ शालाओंके विद्यार्थियों पर इष्ट परिणाम देखनेके पश्चात् श्री. महाराजा साहेब ने यह ग्रंथ लिखा और प्रकाशित किया है। इतना अनुभव और इतना विचार इसके पीछे होनेके कारण ही यह पुस्तक इतना परिणाम कारक हुआ है।

राजमंदिरमें स्वयं महाराजा साहेब प्रातः काल सूर्य नमस्कार का व्यायाम करते हैं, श्रीमती सौभाग्यवती राणीसाहेबा भी प्रतिदिन यह सूर्य नमस्कार का व्यायाम लेती हैं। श्री० राणी साहेबा छः पुत्रों की माता है और इस व्यायामसे उनको बडा लाभ हुआ है। इसके अतिरिक्त सभी राजपुत्र यह व्यायाम लेते हैं। अन्यान्य लोग लेते हैं वह बात और है। इस प्रकार स्त्री पुरुषोंपर इसका योग्य रीतिसे अनुभव लिया गया है और इन सब अनुभवोंका सार इस पुस्तकमें दिया है।

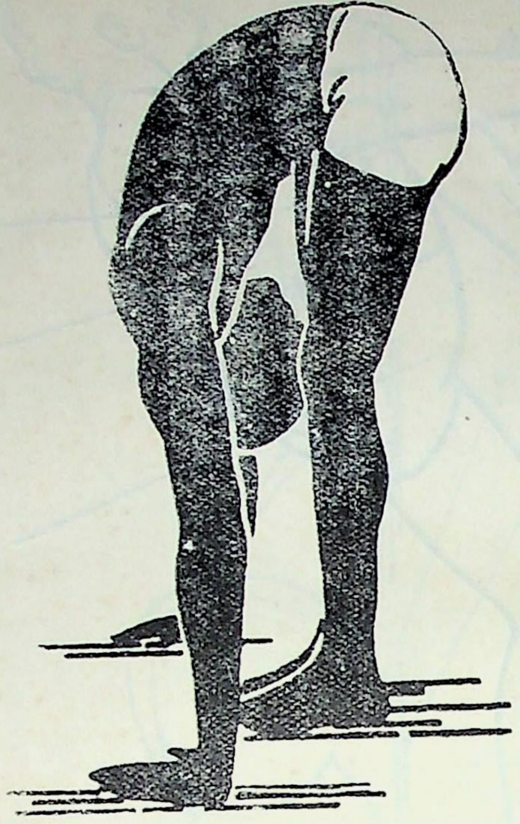
स्वाध्याय मंडल द्वारा आर्य भाषामें "सूर्य भेदन व्यायाम" नामक पुस्तक कई वर्षोंके पूर्व प्रकाशित हुआ है। उसमें जो संख्या १ वाला दस आसनोंका पहला व्यायाम दिया है उसके समान ही यह "सूर्य नमस्कार" व्यायाम है। उसमें जो कुछ थोडासा भेद है वह यहां बताया जायगा। यहां पाठशालाके विद्यार्थी संघशः व्यायाम जिस रीतिसे करते हैं वह रीति दर्शानेवाले चित्र इस लेखके साथ दिये हैं। पाठक इन चित्रों का अवलोकन करके जान सकते हैं कि यह व्यायाम सांघिकरीति से करनेके लिये भी कितना योग्य है। जोलोग यहां आकर विद्यार्थियोंका यह संघव्यायाम देखेंगे उनकामन प्रसन्न होगा। अन्य स्थान की पाठशाला ओंके संचालक यदि अपनी पाठशालाओंमें यह व्यायाम आवश्यक करेंगे तो विद्यार्थियोंका बहुत भला हो सकता है।

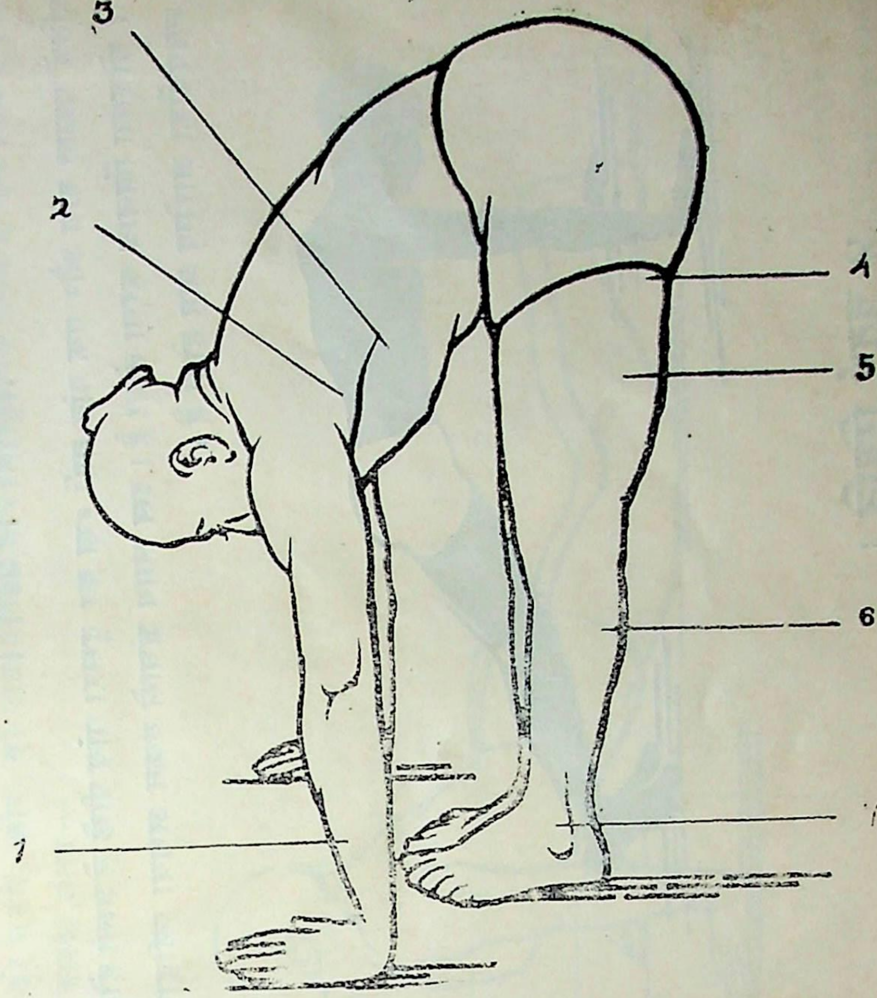
इसमें करने योग्य दस आसन हैं। ये क्रम पूर्वक किये जाते हैं। क्रम पूर्वक पहले जो पांच किये जाते हैं वेही उलटे क्रमसे पुनः होते हैं। दस आसन मिलकर यह एक व्यायाम होता है। प्रत्येक स्थितिमें कौनसे पुठ्ठोंको व्यायाम मिलता है और किस आसनके करनेसे किस पुठ्ठेकी पुष्टि होती है यह बात निम्न दर्शित चित्रोंमें लकीरों द्वारा बतायी है। पाठक इस दृष्टिसे ये चित्र देखें--



१ पहली स्थिति

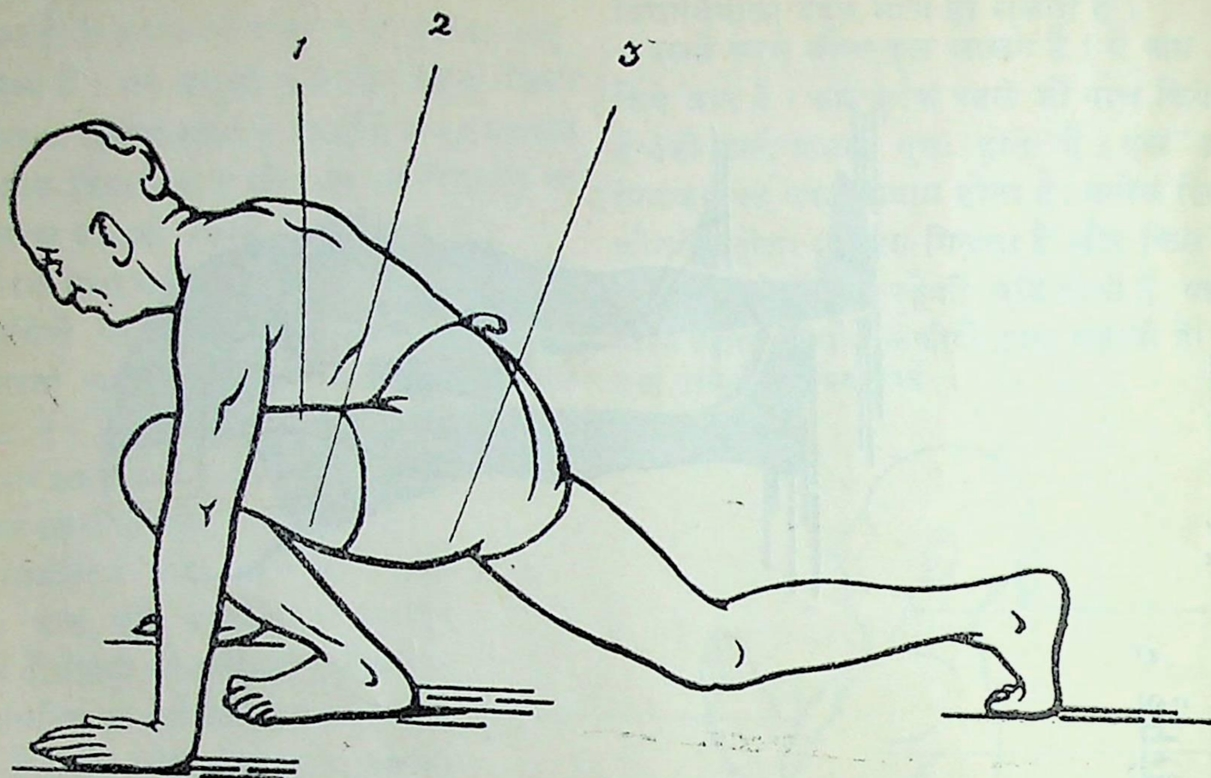
इसमें हाथ और पांव जोडकर समसूत्रमें खडा होना है तथापि इस चित्रमें बताये पुठ्ठोंपर खिंचावसा लाना चाहिये।





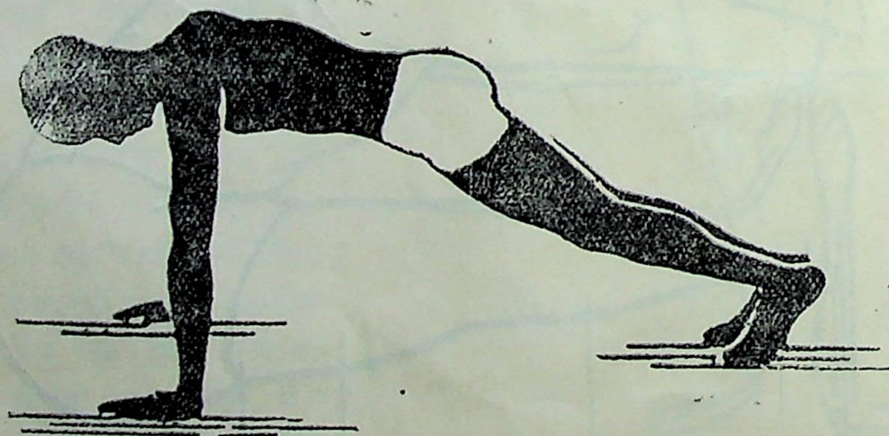
२ दूसरी स्थिति ।

इस समय दोनों हाथ पांवोंके पास भूमिपर रखकर और सिर घुटनोंको लगानेके लिये अंदर लेना होता है । इस समय कई पुट्ठोंमें खिंचाव आता है ।



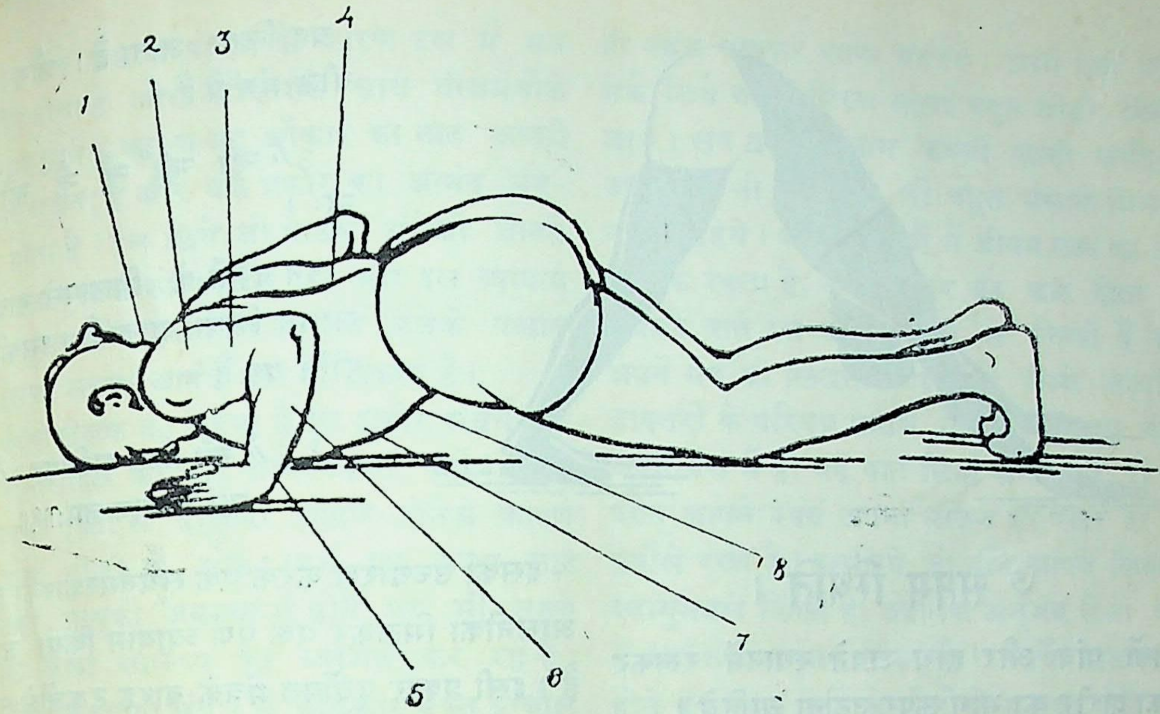
३ तीसरी स्थिति।

दूसरी स्थितिके पश्चात् हाथ और एक पांव वहीं रख कर दूसरा पांव पीछे लेजाना होता है और सिरको ऊपरसे थोडासा खिंचाव करना होता है। इस समय जंघासे यकृत अथवा प्लीहापर दबाव डालनेसे उन अवयवोंका आरोग्य प्राप्त होता है।



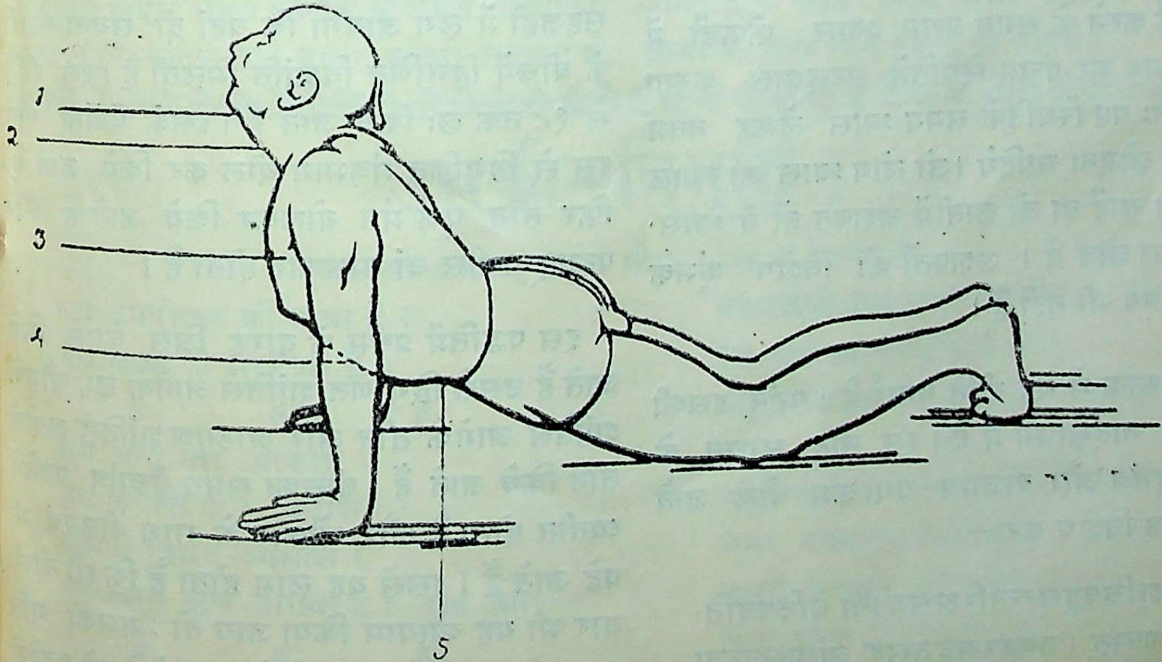
४ चतुर्थ स्थिति।

इस समय दोनों पांव पीछे करने होते हैं और इसके पश्चात्—



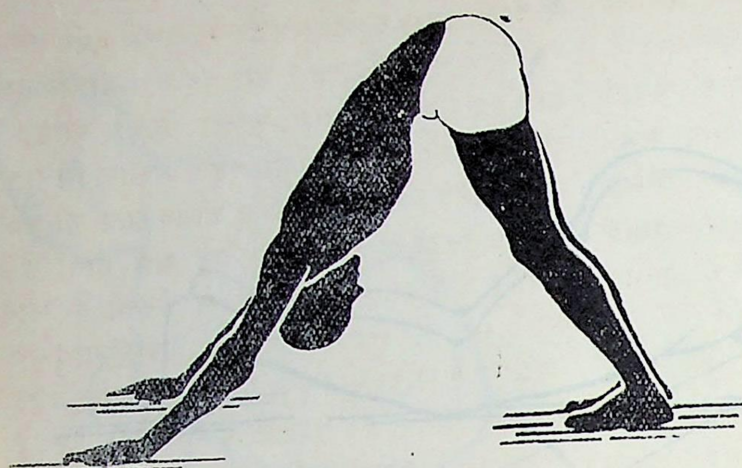
५ पंचम स्थिति ।

सिर, छाती, दो हाथ, दो घुटने, और दो पांव ये आठ अवयव भूमिपर लगते हैं। इस लिये इसका नाम अष्टांग नमस्कार है । इसके नंतर—



६ षष्ठ स्थिति ।

दो पांव, दो घुटने, और दो हाथ भूमिपर रखते हुए ऊपरका शरीर ऊपर उठाकर सिर इतना उठाना कि ऊपरका छत दिखने लगे । पश्चात्—



७ सप्तम स्थिति।

दोनों पांव और हाथ अपने स्थानमें रखकर बीचका शरीर का भाग ऊपर उठाना चाहिये।

इसके पश्चात् तृतीय, द्वितीय और प्रथम स्थिति के अनुसार करनेसे यह एक सूर्य नमस्कार होता है। पाठक इसको करके देखें तो उनको भी अनुभव होगा कि इसके करनेसे संपूर्ण शरीर को योग्य व्यायाम होता है।

इसके करने के समय प्रथम श्वास फैंफडों में नाकसे भर कर पंचम स्थितिमें उच्छ्वास करना और पुनः षष्ट स्थितिके समय श्वास लेकर नवम स्थितिमें छोडना चाहिये। जो लोग श्वास का ख्याल न रखना चाहें या जो छातीमें अशक्त हों वे श्वास का ख्याल छोड दें। अशक्तों को विशेष कुंभक करना योग्य भी नहीं है।

इस पुस्तक में यह रीति बताई है। परंतु इसकी विशेषता नादसाधन में है। इस नाद साधन के लिये वेदमंत्र और बीजमंत्र यथा क्रम बोले जाते हैं। वेदमंत्र विशेष कर—

हंसः शुचिषद्वसुरन्तरिक्षसद्धोता वेदिषदतिथिर्दुरोणसत्। नृषद्वरसदृतसद् व्योमसदब्जा गोजा ऋतजा अद्रिजा ऋतं बृहत्।

यजु. १०।२४

यह लिया जाता है। और बीज मंत्र ये हैं—

ॐ ह्रां ह्रीं ह्रूं ह्रैं ह्रौं ह्रः।

इन दोनों के मिलापसे नाद साधन किया जाता है। इसकी रीति यह है—

१ ॐ ह्रां हंसः शुचिषत् ॐ ह्रां मित्राय नमः॥१॥

इसका उच्चारण करके एक सूर्यनमस्कारका द[...] आसनोंका मिलकर एक पूर्ण व्यायाम किया जा[ता] है। इसी प्रकार पूर्वोक्त मंत्रके बारह टुकडोंके सा[थ] बारह वार व्यायाम होता है। पश्चात् तेरहवाँ इ[स] प्रकार द्विगुणित मंत्र भाग से किया जाता है-

१३ ॐ ह्रां ह्रीं हंसः शुचिषद्वसुरन्तरिक्षसत् ॐ ह्रां ह्रीं मित्ररविभ्यां नमः॥ १३॥

पाठक यहां ध्यान पूर्वक देखेंगे तो उनको प[ता] सहजही में लग जायगा कि यहां दो सूर्यनमस्का[र] के बीचमें द्विगुणित विश्रांति मिलती है। इस री[ति] से १८ तक छः किये जाते हैं। इसके पश्चात् ती[न] इस से द्विगुणित मंत्रभाग बोल कर किये जाते हैं फिर तीन पूर्ण मंत्र बोलकर किये जाते हैं औ[र] पश्चात् पचीस वां नमस्कार होता है।

इस पद्धतिमें प्रथम के बारह जिस वेगसे कि[ये] जाते हैं उससे द्विगुणित शांतिसे आगेके छः, चौगु[णी] शांतिसे आगेके तीन और आठगुण शांतिसे आगे[के] तीन किये जाते हैं। बीचका समय वेदमंत्र पढने[में] व्यतीत होता है और ओंकार के साथ बीजमंत्र भ[ी] पढे जाते हैं। इससे यह लाभ होता है कि सौ दोसौ वार भी यह व्यायाम किया जाय तो श्वासकी ग[ति] बहुतसी बढती नहीं, इस लिये श्वासके वेगके बढनेसे जो हानियां होना संभव है वे हानियां इस व्यायाम के करनेपर भी नहीं होती।

वेद मंत्र श्रद्धासे बोलने के कारण उस में मन तल्लीन होता है और ओंकारके साथ बीजमंत्रोंके उच्चार होनेके कारण वह ओंकार का नाद अच्छी प्रकार गूंजता है और एक प्रकार का आनंद अनुभव होता है। इस लिये जो पाठक अंग्रेजी जानते हैं वे इस पुस्तक को एकवार पढें और इस व्यायाम का अनुभव लें। कुछ दिन अनुभव लेनेके पश्चात् ही इसका सच्चा आनंद प्राप्त हो सकता है।

ग्रंथके लेखक का कहना है कि शरीर संवर्धन के लिये मांसाहार की कोई आवश्यकता नहीं। स्वयं ग्रंथकर्ता पुश्तों से दक्षिणी ब्राह्मण होनेके कारण निर्मांस भोजी हैं और स्वयं इस समय साठ वर्षोंकी आयुकी अवस्था में होने पर भी तरुण युवक जैसा स्वास्थ्य का अनुभव कर रहे हैं। इस लिये खानपान संबंध में अधिकार युक्त वाणीसे कहनेका आपको अधिकार है, इसमें कोई संदेह नहीं है।

आपका कथन है कि चावल केवल ऊपरला मोटा छिलका उतार कर अधिक स्वच्छ न करते हुए खाने चाहिये। गेहूंका भी आटा मोटा चाहिये, यंत्रका बनाया आटा खराव होता है। मूंग उडद चना आदि सब द्विदल धान्य छिलके के समेत भिगाकर उसको अंकुर आनेके बाद प्रायः कच्ची अवस्था में ही बहुत चबाकर खाना चाहिये। उसमें रुची बढानेके लिये नमक मिरच खटाई बहुत थोडी मिलाई जावे। सब पत्तोंकी साग कच्ची खानी चाहिये। उबालकर भी खाना हो तो बहुत मसाले मिलाना नहीं चाहिये। कच्चे पदार्थों में जीवन सत्व का अंश अधिक रहता है, उबालने पर वह कम होता है। इत्यादि बातें इस ग्रंथमें प्रमाण से लिखी हैं और अपने मत की सिद्धता करने के लिये आधुनिक डाक्तरों के परिपुष्ट प्रमाण दिये हैं। आप केवल अपने ग्रंथ में ही यह बात लिख कर नहीं रहे हैं, परंतु आपने स्वयं अपना भोजन भी ऐसा ही कई वर्षोंसे रखा है। इसलिये जो बात आपने लिखी है स्वानुभवसे लिखी है, जहांतक अनुभव लेना शक्य है वहां तक अनुभव लिया है। स्वयं राजपदारूढ होते हुए खाद्य पेयों के भोगोंको हटाकर ऐसे कच्चे पदार्थों और मसालोंके विना पदार्थोंपर रहना थोडे संयम का कार्य नहीं है। परंतु ये सब बातें आपने अपने जीवनमें ढाली हैं।

इस रीतिसे यह पुस्तक अति उपयोगी हुई है और स्वास्थ्य साधन की दृष्टिसे यह ग्रंथ हरएक को पढने योग्य है। आशा है कि जो पाठक आंग्रेजी जानते हैं वे स्वयं इससे लाभ उठावेंगे और वे अन्यों के लिये मार्ग दर्शक हो जायगें।

उसकी-विभूति।

(ले० श्री० गणेशदत्तशर्मा गौड "इन्द्र" आगर)

सब जगदीश्वर की माया है।
जग भ्रममें ही भरमाया है॥

सूर्य चन्द्र तारे आकाश।
जग उत्पत्ति और विनाश।
मेघों में विद्युत्-आभास।
यह उसने खेल जमाया है। सब जग०--

सुन्दर सुन्दर वृक्ष मनोहर।
वन उपवन जलपूर्ण सरोवर।
नदनदियाँ सब झरने झर झर।
इस सब का कर्ता विश्वंभर।
यह उसने साज सजाया है। सब जग०-

नभमें नभचर, उडने वाले।
भूपर थलचर, फिरनेवाले।
जलमें जलचर, तरने वाले।
जन्म मरण में गिरने वाले।
सब में वही समाया है। सब जग०-



ग्रंथ रत्न !

१ पदार्थ विनिश्चय ।

(लेखक—श्री. डो. ए. कुलकर्णी M.Sc आयुर्वेदिक कालेज, बनारस युनिवर्सिटी, बनारस. मूल्य ॥।)

यह पुस्तक छोटी है परंतु इस रस शास्त्रके तत्वोंके उलझान के लिये बडी उपयोगी है। क्षारोंके विश्लेषण का ज्ञान इससे हो सकता है। इसमें रस शास्त्रोंके अनेक रहस्योंका उद्घाटन किया है जो बहुतों को मार्ग दर्शक हो सकता है।

२ मूत्रपरीक्षा ।

(ले०- श्री० कवि० शिवशरण वर्मा, भिषगाचार्य फगवाडा कपूरथला । मू. १)

मूत्रपरीक्षा के विषयमें संपूर्ण ज्ञान सुबोध भाषामें इस पुस्तकमें दिया है। पुस्तक उपयोगी है।

३ आर्य ट्रैक्ट माला ॥

(संपादक श्री. गंगाप्रसाद उपाध्याय M. A. चौक प्रयाग) श्री. गंगाप्रसादजीके ये ट्रैक लाखों की संख्यामें वितीर्ण हो चुके हैं। ईश्वर और उसकी पूजा। बच्चोंकी शिक्षा। प्राचीन आर्यावर्त । धर्मशास्त्र। हमारा धर्म। घरकी देवी। राजा और प्रजा। देश सेवा। हमारे बिछुडे भाई। संगठन। रामभक्ति। ईसाईमत। दलितोद्धार। संध्या। प्रार्थना। मुसलमानीमत। अवतार। जीवरक्षा। अच्छूत। ब्रह्मचर्य संस्कार। आनंदस्रोत। साधुसन्यासी। पुनर्जन्म। पितृयज्ञ। हिंदूरक्षा। दहेज। दुर्व्यसन। हिंदू मुसलमानोंका मेल। इत्यादि बहुतसे ट्रैक्ट मननपूर्वक पढने योग्य हैं।

४ शिशु ।

(संपादक-- श्री. पं०सुदर्शनाचार्य B. A.)

हिंदीमें बालक और बालिकाओंका सबसे अच्छा सचित्र मासिक पत्र। इसका १९२८ का विशेषांक अत्यंत चित्ताकर्षक और मनका आल्हाद बढानेवाला है। जिस घरमें बालक और बालिकाएं हैं वहां यह शिशु अवश्य पहुंचना चाहिये। शिशुकार्यालय प्रयाग। वार्षिक मूल्य २)

५ खिलौना ।

(संपादक-श्री.पं०रामजीलालशर्मा। वार्षिक मूल्य...)

यह उत्तम पत्र बालकों और बालिकाओंके लिये अत्यंत रोचक तथा बडोंको भी प्रिय है। हिंदीप्रेस प्रयागसे प्राप्त होता है।

प्रथम वस्त्र-परिधान ।

[१३]

[ऋषिः—अथर्वा । देवता- अग्निः, नानादेवताः ।]

आयुर्दा अग्ने जरसं वृणानो घृतप्रतीको घृतपृष्ठो अग्ने ।
घृतं पीत्वा मधु चारु गव्यं पितेव पुत्रानभि रक्षतादिमम् ॥ १ ॥
परि धत्त धत्त नो वर्चसेमं जरामृत्युं कृणुत दीर्घमायुः ।
बृहस्पतिः प्रायच्छद्वास एतत्सोमाय राज्ञे परिधातवा उ ॥ २ ॥
परीदं वासो अधिथाः स्वस्तयेऽभूर्गृष्टीनामभिशस्तिपा उ ।
शतं च जीव शरदः पुरूची रायश्च पोषमुपसंव्ययस्व ॥ ३ ॥
एह्यश्मानमा तिष्ठाश्मा भवतु ते तनूः ।
कृण्वन्तु विश्वे देवा आयुष्टे शरदः शतम् ॥ ४ ॥
यस्य ते वासः प्रथमवास्यं १ हरामस्तं त्वा विश्वेऽवन्तु देवाः ।
तं त्वा भ्रातरः सुवृधा वर्धमानमनु जायन्तां बहवः सुजातम् ॥ ५ ॥

अर्थ –हे (अग्ने अग्ने) तेजस्वी अग्ने ! तू (आयुः-दा) जीवनका दाता, (जरसं वृणानः) स्तुतिका स्वीकार करनेवाला, (घृत-प्रतीकः)घृतके समान तेजस्वी और(घृत-पृष्ठः)घीका सेवन करनेवाला है। अतः (मधु चारु गव्यं घृतं पीत्वा) मीठा सुंदर गाय का घी पीकर (पिता पुत्रान् इव) पिता पुत्रोंकी रक्षा करनेके समान तू (इमं अभिरक्षतात्) इसकी सब ओरसे रक्षा कर ॥ १ ॥ (नः इमं) हमारे इस पुरुषको (परिधत्त) चारों ओरसे धारण कराओ,(वर्चसा धत्त) तेजसे युक्त करो,इसका (दीर्घं आयुः जरा-मृत्युं कृणुत)दीर्घ आयु तथा वृद्धावस्थाके पश्चात् मृत्यु करो ॥ (बृहस्पतिः एतत् वासः) बृहस्पतिने यह कपडा (सोमाय राज्ञे परिधत्तवै) सोम राजाको पहननेके लिये (उ प्रायच्छत्) निश्चयसे दिया है ॥२॥ (इदं वासः स्वस्तये परि अधिथाः) यह वस्त्र अपने कल्याणके लिये धारण करो,(गृष्टीनां अभिशास्ति-

पाः उ अभूः) तू मनुष्योंको विनाशसे बचानेवाला निश्चयसे यह हुआ है। इस प्रकार (पुरूचीः शरदः शतं च जीव) परिपूर्ण सौ वर्षतक जीओ। और (रायः पोषं च उप सं व्ययस्व) धन और पोषण का कपडा बुनो ॥३॥ (एहि, अश्मानं आतिष्ठ) आ, शिला पर चढ, (ते तनूः अश्मा भवतु) तेरा शरीर पत्थर जैसा दृढ बने। (विश्वे देवाः) सब देव (ते आयुः शरदः शतं कृण्वन्तु) तेरी आयु सौवर्षकी करें ॥ ४॥ (यस्य ते प्रथमवास्यं वासः हरामः) जिस तेरे लिये पहले प्रथम पहनने योग्य ऐसा यह वस्त्र हम लाते हैं (तं त्वा विश्वे देवाः अवन्तु) उस तेरी सब देव उत्तम रक्षा करें। (तं त्वा सुजातं) उस तुझ उत्तम जन्मे हुए और (वर्धमानं) बढते हुए बालकके (बहवः सुवृधाः भ्रातरः अनु जायन्तां) पीछेसे बहुतसे उत्तम बढनेवाले भाई उत्पन्न हों ॥ ५ ॥

भावार्थ- हे तेजस्वी देव ! तू जीवन देनेवाला, स्तुतिको सुननेवाला, तेजस्वी और हवनादिसे घी का सेवन करने वाला है; अतः मधुर सुंदर गायका घी पीकर इस बालक की ऐसी उत्तम रक्षा कर कि जैसी पिता अपने पुत्रोंकी उत्तम रक्षा करता है ॥ १ ॥ इस बालक को चारों ओरसे वस्त्र धारण कराओ, इसका तेज बढाओ, और इसकी आयु अतिदीर्घ करो, अर्थात् अतिवृद्धावस्थाके पश्चात् ही इसका मृत्यु हो। यह वस्त्र सबसे प्रथम कुलगुरु बृहस्पतिने सोम राजाके पहननेके लिये बनाया था जो इस बालकको पहनाया जाता है ॥ २ ॥ यह वस्त्र अपने कल्याणकी वृद्धि करने के लिये धारण करो, मनुष्योंको विनाशसे बचानेका यही उत्तम साधन है। इसी प्रकार सौ वर्षका दीर्घ आयुष्य प्राप्त करो और धनका ताना और पोषणका बाना रूप यह वस्त्र उत्तम प्रकारसे बुनो ॥ ३ ॥ यहां आ, इस शिलापर खडा रह, तेरा शरीर पत्थर जैसा सुदृढ बने, और इससे सब देव तेरी आयु सौ वर्षकी बनावें ॥ ४ ॥ हे बालक ! तेरे लिये यह पहिले पहिनने के लिये वस्त्र हमने लाया है, सब देव तेरी पूर्ण रक्षा करें, तू इस उत्तम कुलमें जन्मा है और यहां तू उत्तम प्रकारसे बढरहा है, इसी प्रकार तेरे पीछे बहुतसे हृष्टपुष्ट और बलवान् भाई उत्पन्न हों, और तेरे कुलकी वृद्धि हो ॥ ५ ॥

प्रथम वस्त्र परिधान ।

बालक के शरीरपर प्रथम वस्त्र परिधान करानेका समारंभ इस सूक्तद्वारा बताया है । इस सूक्तका प्रथम मंत्र घृतका हवन अग्निमें हो जानेका विधान करता है, अर्थात् हवनके पूर्व का सब विधान इससे पूर्व होचुका है, ऐसा समझना उचित है। अग्निके अंदर परमात्माकी शक्ति है, इस अग्निको घी आदिसे प्रदीप्त किया जाता है, और उसकी साक्षीमें वस्त्र परिधान आदि विधि किया जाता है । सभी संस्कार अग्निमें हवन करनेके साथ होते हैं । परमेश्वर स्तुति, प्रार्थना, उपासना, शांति, अभययाचनादि पूर्वक हवन होकर प्रथम मंत्रमें प्रभुकी प्रार्थना की गई है कि वह परम पिता हम सब पुत्रों की रक्षा करें । इस प्रकार वस्त्र परिधान की पूर्व तैयारी होनेके पश्चात् वस्त्र लाया जाता है—

पुत्रके लिये वस्त्र ।

यहां स्मरण रखना चाहिये कि यह वस्त्र मोल देकर दुकानसे लाया नहीं होता । परंतु अपने पुत्रके लिये माताही कपडा बुनती है; इस विषयमें वेदमें अन्यत्र कहा है वह यहां देखिये—

वितन्वते धियो अस्मा अपांसि वस्त्रा
पुत्राय मातरो वयन्ति ॥ ऋग्वेद ५।४७।६

इस मंत्रमें दो वाक्य हैं और वे विचार करने योग्य हैं । देखिये इनका अर्थ—

(१) मातरः पुत्राय वस्त्राणि वयन्ति=माताएं अपने पुत्रके लिये कपडे बुनती हैं।और-

(२) अस्मै धियः अपांसि वितन्वते=इस बच्चेके लिये सुविचारों और सत्कर्मोंका उपदेश देती हैं ।

यह मंत्र पुत्रविषयक माताओंका कर्तव्य बतारहा है । माताएं अपने पुत्रके लिये कपडा बुनती हैं इसमें प्रत्येक धागेके साथ कितना प्रेम उस कपडेके तन्तुओंमे बुना जाता है इसका विचार पाठक अवश्य करें । यह कपडा केवल कपडा नहीं है परंतु इसी सूक्तके तृतीय मंत्रमें कहा है, कि—

रायः च पोषं उपसंव्ययस्व । (मं ३)

"यहां कपडेका ताना ऐश्वर्य है और बाना पुष्टि है । इसप्रकार यह कपडा बुना जाता है ।" सचमुच ऐसाही होगा, जहां माता अपने पुत्रप्रेमसे अपने छोटे बालकके लिये कपडा बुनती होगी । धन्य है वह माता और वह बालक जो इस प्रकार परस्पर प्रेमसे अपने कुटुंबके भूषणभूत होते हैं । इस प्रकार का कपडा उस छोटे बालक को पहनाया जाता है, उस समयका मंत्र यह है-

*

परिधत्त, धत्त, नो वर्चसा इमम्।
जरामृत्युं कृणुत, दीर्घमायुः॥ (मं २)

" पहनाओ, पहनाओ इस हमारे बालकको यह वस्त्र, तेजके साथ यह दीर्घ आयु प्राप्त करे और इसकी वृद्धावस्थाके पश्चात् ही मृत्यु हो अर्थात् अकाल मृत्युमे यह कदापि न मरे। " जब माता अपने पुत्र के लिये प्रेमसे कपडे बुनकर तैयार करती है, तब वह प्रेमही उस बच्चेकी रक्षा करनेमें समर्थ होता है, इसलिये ऐसी प्रेममयी माताके पुत्र दीर्घायु ही होते हैं।

आगे इसी द्वितीय मंत्रमें कहा है कि " देवोंके कुलगुरु बृहस्पतिने सोमराजाको भी इसी प्रकार वस्त्र पहनाया था।" अर्थात् यह प्रथा सनातन है। कुलका पुरोहित माता का बनाया हुआ कपडा अपने आशीर्वाद पूर्वक बच्चेको पहनावे और सब उपस्थित सज्जन बालक का शुभ चिंतन करें। यह इस वैदिक रीतिका सारांशसे स्वरूप है। पाठक इसका विचार करके यह शुभसंस्कार अपने घरमें कर सकते हैं।

वस्त्र घरमें बुननेका प्रयोजन।

वस्त्र घरमें क्यों बुना जावे और बाजारसे क्यों खरीदा न जावे इस विषयमें तृतीय मंत्रका कथन मनन करने योग्य है, इसमें इस घरेलु व्यवसायसे चार लाभ होनेका वर्णन है—

१ स्वस्ति।

इदं वासः स्वस्तये अधि थाः। (मं० ३)

"यह कपडा अपनी स्वस्तिके लिये धारण करो।" स्वस्ति का अर्थ है " सु+अस्ति " अर्थात् उत्तम अस्तित्व, उत्तम हस्ति। अपनी स्थिति उत्तम होनेके लिये अपना बुनाहुआ कपडा पहनना चाहिए। दूसरेका बना हुआ कपडा पहननेसे अपनी स्थिति बुरी होती है, बिगड जाती है। अपना बुना कपडा पहननेसे अपना "स्वस्ति" अर्थात् कल्याण होता है, इस लिये अपना बुना हुआ कपडा ही पहनना चाहिए।

२ विनाशसे बचाव।

गृष्टीनां अभिशस्ति-पा उ अभूः। (मं० ३)

" मनुष्य मात्रका नाशसे बचाव करनेवाला है। " अपना कपडा स्वयं बनाकर पहनना केवल अपनाही लाभ नहीं करता है परंतु संपूर्ण मनुष्योंका विनाशसे बचाव करता है। इससे हरएक मनुष्य उद्यमी होनेके कारण उस उद्यमसे ही उन सब मनुष्योंका

बचाव हो जाता है। दुःस्थिति, हीन अवस्था, नाश आदिसे बचानेवाला यह वस्त्र बुननेका व्यवसाय है।

३ धन और पुष्टि।

यह घरका बुना कपडा केवल कपडा नहीं है, इसका ताना और बाना मानो केवल सूतका बना नहीं होता है, प्रत्युत—

रायः च पोषं उपसंव्ययस्व। (मं० ३)

"उसमें तानेके धागे ऐश्वर्य के सूचक और बानेके धागे पोषणके सूचक हैं।" ऐसा मानकर ही तुम कपडा बुनो। अपना कपडा स्वयं बुननेसे ऐश्वर्य और पोषण स्वयं होजाता है और जिस कुटुंबमें और जिस परिवार में माता अपने बच्चोंके लिये कपडा बुनती है वहां तो उस परिवारका ऐश्वर्य और पोषण होनेमें कोई शंकाही नहीं है। जहां इस प्रकार सुख और शांति रहेगी वहां ही —

४ दीर्घ आयु।

शतं च जीव शरदः पुरूचीः (मं० ३)

" सौ वर्षकी दीर्घ आयु प्राप्त होगी" यह बात सहज ही में ध्यानमें आ सकती है। यह तृतीय मंत्र वास्तव में बालक के लिये आशीर्वाद परक है, तथापि उसमें अपने बुने कपडेका महत्त्व इस प्रकार सूक्ष्म रीतिसे दर्शाया है। पाठक इसका विचार करें और इससे बोध प्राप्त करें, तथा अपने घरमें इस महत्त्व पूर्ण बातका प्रचार करें। विशेषतः जो वैदिक धर्मी हैं उनको इसका आचरण अवश्य करना चाहिये।

सुदृढ शरीर।

हाथसे काते हुए सूतका कपडा पहननेसे शरीरमें कोमलता नहीं आती, जैसे अन्य नरम कपडे पहननेसे आती है। यह कोमलता बहुत बुरी है, इससे सौ वर्षकी दीर्घआयु प्राप्त नहीं होती। अतः अपना शरीर सुदृढ बनानेकी बहुत आवश्यकता है, बालकपनमें ही यह उपदेश इस सूक्त द्वारा सुनाया है, इस "प्रथमवस्त्र परिधारण" के समय ही एक विधि बनाया जाता है जिसमें वस्त्र पहनते ही उस बालकको पत्थरपर रखा जाता है और यह मंत्र बोला जाता है —

एहि, अश्मानं आतिष्ठ, ते तनूः अश्मा भवतु।
ते शरदः शतं आयुः विश्वे देवाः कृण्वन्तु॥ (मं० ४)

" यहां आ, इस पत्थरपर चढ, तेरा शरीर पत्थर जैसा सुदृढ हो, तेरी सौ वर्षकी आयु सब देव करें।"

बालक सुदृढांग हो इस विषयका उत्तम उपदेश इस मंत्रमें है। छोटेपनमें मातापिता अपने बालक और बालिकाओंको सुदृढांग बनानेका यत्न करें और कभी ऐसा प्रयत्न न करें कि जिससे बालक नरम शरीरवाले हों। बडी आयुमें कुमार और कुमारिका भी अपना शरीर सुदृढांग बनानेके प्रयत्नमें दत्तचित्त हों। इस प्रकार किया जाय तो जाती वज्रदेही बन जायगी। योगसाधन द्वाराभी वज्रकाया बनायी जाती है, इस विषयके प्रयोग योगसाधनमें पाठक देखें। शीत उष्ण आदि द्वंद्वोंको सहन करनेके अभ्याससेभी मनुष्यका देह सुदृढ हो जाता है।

आगे पंचम मन्त्रके पूर्वार्धमें कहा है कि " हे बालक! तेरे लिये जो हम यह प्रथम परिधान करने योग्य वस्त्र (प्रथम-वास्यं वासः) लाते हैं, उस तुझको सब देव सहायकारी हों।" इस मंत्रमें " प्रथम परिधान करने योग्य वस्त्र " का उल्लेख है। इससे बालककी आयुका अनुमान हो सकता है। जन्मसे कुछ मास तक विशेष वस्त्र पहिनाया ही नहीं जाता। चतुर्थ मंत्रमें " पत्थर पर खडा करने " का उल्लेख है। अपने पांवसे न भी खडा हो सके तो भी दूसरेकी सहायतासे खडा होने योग्य बालक चाहिये। इस मंत्रसे इतनी बात निश्चित है कि यह बालक कमसे कम दो तीन वर्ष की आयुवाला हो, जिस समय यह " प्रथम वस्त्रपरिधारण " किया जाता है। इसी आयुमें बालक क्षणभर दूसरेकी सहायतासे क्यों न सही पत्थर पर खडा हो सकता है। कमसे कम हम इतना कह सकते हैं, कि इससे कम आयु इस कार्यके लिये योग्य नहीं है। "अश्मानं आतिष्ठ" ये शब्द प्रयोग अपने पांवसे पत्थर पर चढनेका भाव बताते हैं। इसलिये तीन वर्षकी आयु कमसे कम मानना अनुचित नहीं है। चार या पांच वर्षकी आयु माननाभी कदाचित् योग्य होगा। इस आयुमें यह वस्त्रधारण समारंभ किया जाता है। इस समय जो अंतिम आशीर्वाद दिया जाता है वह भी देखिये, वह बडा बोधप्रद है —

तं त्वा सुजातं वर्धमानम्
बहवः सुवृधाः भ्रातरः अनुजायन्ताम् ॥ (मं० ५)

"उत्तम जन्मे और उत्तम प्रकार बढने वाले तुझ बालक के पीछे बहुतसे बढनेवाले भाई तुम्हारी माताजीको उत्पन्न हों।"

कई माता पिता प्रतिवर्ष सन्तान उत्पन्न करते हैं यह उचित है या नहीं इसका विचार इस आशीर्वाद वचनसे किया जा सकता है। तीन चार वर्षकी बालक की आयुमें यह "प्रथम-वस्त्र-धारण-विधि" किया जाता है, इस विषयमें इससे पूर्व बताया ही है। इसी

समय यह आशीर्वाद दिया जाता है, कि "जैसा यह बालक हृष्टपुष्ट और तेजस्वी बनता हुआ बढ रहा है, वैसे और भी बच्चे इसके पीछे उत्पन्न हों। " मानलें कि यह आशीर्वाद प्रथम बालककी चतुर्थवर्षकी आयुके समय मिला है तो पंचम वर्षमें द्वितीय बालक के जन्मका समय आजाता है। इस प्रकार प्रत्येक दो बालकोंके जन्मोंके बीचमें पांच वर्षोंका अंतर होता है। देखिये—

(१) प्रथम बालकका जन्म। (२) उसके चतुर्थ वर्षमें यह "प्रथम वस्त्र धारण विधि" करना है, (३) इसीमें बालक को पत्थर पर चढाकर खडा करना है और पत्थर जैसा सुदृढांग बन जानेका उपदेश सुनाना है। (४) इसी समय आशीर्वाद देना है कि तुम्हें हृष्ट पुष्ट भाई भी पीछेसे हों।

यदि इसी प्रकार दूसरा बालक होगया तो पहिले के पांचवें वर्ष दूसरे बालक का जन्म होना संभव है। अर्थात् पहिले बालकको माताका दूध चार वर्ष मिलेगा जिससे पुत्रकी पुष्टी भी अच्छी प्रकार होगी, माताके अवयव भी द्वितीय गर्भ धारण के लिये योग्य होंगे और सब कुछ ठीक होगा। जहां प्रतिवर्ष गर्भ धारणा होती है वहां दूध न मिलनेके कारण बच्चे कमजोर होते हैं, बीचमें पूर्ण विश्राम न मिलनेके कारण माता भी कमजोर होती है और सब प्रकार भय ही भय होता है। इसलिये पाठक इसका योग्य विचार करें और यदि यह प्रथा अपने परिवारमें लाने योग्य प्रतीत हो, तो लानेका यत्न करें।

हमने प्रतिवर्ष, प्रति तीन वर्ष, प्रति पांच वर्ष और प्रति सात वर्ष संतानोत्पत्तिका कर्म करनेवाले कुटुंब देखे हैं। पहिलेकी अपेक्षा दूसरेकी और दूसरेकी अपेक्षा तीसरेकी शारीरिक नीरोगता हमने अधिक देखी है। यह विचार विशेष महत्त्व पूर्ण है इसलिये कुछ विस्तारसे यहां किया है। पाठक इसे अश्लील न समझें, क्योंकि इसके साथ परिवारके स्वास्थ्यका विचार संबंधित है।

आशा है कि पाठक इस सूक्तका योग्य विचार करेंगे और लाभ उठावेंगे।

विपत्तियोंको हटानेका उपाय।

(१४)

[ऋषिः-चातनः । देवता—शालाग्निर्दैवत्यं ।]

निःसालां धृष्णुं धिषणमेकवाद्यां जिघत्स्वम् ।
सर्वाश्चण्डस्य नप्त्यो नाशयामः सदान्वाः ॥ १ ॥
निर्वो गोष्ठादजामसि निरक्षान्निरुपानसात् ।
निर्वो मगुन्द्या दुहितरो गृहेभ्यश्चातयामहे ॥ २ ॥
असौ यो अधराद् गृहस्तत्र सन्त्वराय्यः ।
तत्र सेदिर्न्युच्यतु सर्वाश्च यातुधान्यः ॥ ३ ॥
भूतपतिर्निरजत्विन्द्रश्चेतः सदान्वाः ।
गृहस्य बुध्न आसीनास्ता इन्द्रो वज्रेणाधि तिष्ठतु ॥ ४ ॥
यदि स्थ क्षेत्रियाणां यदि वा पुरुषेषिताः ।
यदि स्थ दस्युभ्यो जाता नश्यतेतः सदान्वाः ॥ ५ ॥
परि धामान्यासामाशुर्गाष्ठामिवासरन् ।
अजैषं सर्वानाजीन्वो नश्यतेतः सदान्वाः ॥ ६ ॥

अर्थ— (निःसालां) घरदार न होना, (धृष्णुं) भयभीत रहना, अथवा दूसरोंको डराना, (एकवाद्यां धिषणं जिघत्स्वं) निश्चयपूर्ण एक भाषण करने वाली निश्चयात्मक बुद्धिका नाश करने वाली, तथा (चण्डस्य सर्वा नप्त्यः) क्रोधकी सब की सब सन्तानें और (स-दान्वाः) दानवोंकी राक्षसवृत्तियोंका हम (नाशयामः) नाश करते हैं ॥१॥ (वः गोष्ठात् निः अजामसि) तुमको हमारी गोशालासे हम निकाल देते हैं, (अक्षात् निः) हमारी दृष्टिके बाहर तुमको करते हैं, (उपानसात् निः)अन्नपानके गड्डुके स्थानसे तुमको हटाते हैं, (मगुन्द्याः वः निः) मनके मोह से तुमको हटाते हैं । हे (दुहितरः

दूर रहने योग्य ! तुम्हें (गृहेभ्यः चातयामहे) घरोंसे हटाते हैं ॥ २ ॥ (असौ यः अधरात् गृहः) यह जो नीच घराना है (तत्र अराय्यः सन्तु) वहां विपत्तियां रहें (तत्र सेदिः) वहां ही क्लेश (नि उच्यतु) निवास करे (सर्वाः यातुधान्यः) सब दुष्ट वहां ही जांय ॥३॥(भूतपतिः इन्द्रः) प्रजापालक राजा (सदान्वाः इतः निरजतु) राक्षसी वृत्तियोंको यहांसे दूर करे। (गृहस्य बुध्न आसीनाः) घरकी जडमें निवास करनेवाली दुष्टताएं (इन्द्रः वज्रेण अधितिष्ठतु) इन्द्र अपने वज्रसे हटादेवे ॥ ४ ॥ हे (स-दान्वाः) आसुरी वृत्तिसे होनेवाली पीडाओ ! (यदि क्षेत्रियाणां स्थ) यदि तुम वंश संबंधी रोगसे उत्पन्न हुई हो, (यदि वा पुरुषेषिताः) यदि मनुष्य की प्रेरणासे उत्पन्न हुई हो, (यदि दस्युभ्यः जाताः) यदि तुम डाकुओंसे हुई हो, तुम सब (इतः नश्यत) यहांसे हटजाओ ॥५॥(आशुः गाष्ठां इव) जैसे घोडा अपने स्थान को पहुंचता है उसी प्रकार (आसां धामानि परि सरन्) इन विपत्तियोंके मूल कारणको ढूंढ कर निकाल दो। (वः सर्वान् आजीन् अजैषं) तुम्हारे सब संग्रामों को जीत लिया है जिससे हे (स-दान्वाः) पीडाओ ! (इतः नश्यत) यहांसे हट जाओ ॥ ६ ॥

भावार्थ—आसुरी भावनाओंसे प्राप्त होनेवाली कई विपत्तियां हैं उनमें कुछ ये हैं— (१) घरद्वार कुछभी न होना, (२) सदा औरोंका भय प्रतीत होना या दूसरोंको घबराना, (३) निश्चयात्मक एक बुद्धि कभी न होना अर्थात् सदा संदेह रहना, (४) मन सदा क्रोधवृत्तिसे युक्त होना, ये सब विपत्तियां हैं, इनको पुरुषार्थसे हटाना चाहिये ॥१ ॥ जिसप्रकार पुत्रियोंको विवाहादि करके घरसे दूर करते हैं उसी प्रकार इन विपत्तियों को भी अपने पाससे दूर हटाना चाहिये। गोशालासे, घरोंसे, अपनी दृष्टिसे, अन्नपान या गाडी रथ आदि के स्थानसे तथा मनकी वृत्ति से विपत्तियोंको हटानेका पुरुषार्थ करना चाहिये ॥ २ ॥ जो नीच वृत्तिवालों के घर हैं वहीं विपत्ति, नाश तथा दुष्ट दुराचारीभी रहते हैं ॥३॥ प्रजापालक राजाको चाहिये कि ऐसे दुष्टोंको अपने सुयोग्य शासनद्वारा दूर करे। किसी भी घरके अंदर दुष्टभाव आश्रय लेने न पावे ॥ ४ ॥ इन पीडाओंमें कई तो आनुवंशिक रोगसे होने वाली पीडाएं होती हैं, कई तो मनुष्यके अपने व्यवहारसे उत्पन्न होती हैं, कई तो डाकुओंसे होती हैं इन सबको

दूर करना चाहिये ॥ ५ ॥ जिसप्रकार घोडा अपना पांव उठा कर प्राप्तव्य स्थानपर पहुंचता है उसीप्रकार इन सब विपत्तियोंके मूल कारण देखकर, उन मूल कारणोंको अपनेमेंसे हटाना चाहिये। सब जीवनकलहों में अपना विजय निःसन्देह हो जावे, ऐसी अपनी तैयारी करने से और हरएक जीवनयुद्धमें जाग्रत रहते हुए विजय प्राप्त करनेसे ही ये सब पीडाएं हट सकती हैं ॥६॥

विपत्तियोंका स्वरूप।

इस सूक्तमें अनेक विपत्तियोंका वर्णन किया है वह क्रमशः देखिये—

१ निः साला=शाला अर्थात् घर दार न होना, निवास स्थान न होना, विश्रामके लिये कोई स्थान न होना। (मं० १)

२ धृष्णु=सदा भयभीत रहना, दूसरेसे डरते रहना, अधिकारियोंसे या धर्मात्माओंसे डरना, ऐसे कुछ कुकर्म करना कि जिससे मनमें सदा डर रहे कि कोई आकर मुझे पकडे। इसका दूसरा प्रसिद्ध अर्थ दूसरोंको डराना भी है। दूसरोंको भय दिखाना, घबराना, दूसरोंको भयभीत करके अपना स्वार्थ साधन करना। इ० (मं० १)

३ एकवाद्यां धिषणं जिघत्स्वं= एक निश्चय करनेवाली बुद्धिका नाश करनेवाला घात पातका स्वभाव। बुद्धिसे कार्याकार्यका निश्चय होता है, इस निश्चयात्मक बुद्धिका नाश करनेवाला स्वभाव। जिसको निश्चयात्मक बुद्धिही नहीं होती, सदा संदेहमें जो रहता है। (मं० १)

४ चण्डस्य सर्वा नप्त्यः=क्रोधकी सब संतान। अर्थात् क्रोधसे जो जो आपत्तियां आना संभव है वे सब आपत्तियां। (मं० १)

५ स-दान्वाः (स-दानवाः)=असुरोंका नाम दानव है। दानव का अर्थ है घात पात करनेवाले; गीतामें आसुरी संपत्तिका वर्णन विस्तार पूर्वक है, उस प्रकारके लोक जो घात पात करते हैं उनका यह नाम है। दानव भावसे युक्त होना यह भी बडी भारी आपत्ति ही है। (मं. १)

६ अ-राय्यः = कंजूसीका भाव, निर्धनता, ऐश्वर्यका अभाव। (मं० ३)

७ सेदिः = क्लेश, महाक्लेश। शारीरिक कृशता, दुर्बलता। कुछभी कार्य करने की सामर्थ्य न होना। (मं० ३)

८ यातुधान्यः = धन्यता न होना। चोर डकैति करनेवाले लोग और उनके वैसे घृणित भाव। (मं० ३)

ये सब आपत्तियां हैं। इनका विशेष विचार करनेकी भी कोई आवश्यकता नहीं है क्यों कि प्रायः सबका परिचय इनके साथ है, अंशतः सब इनके क्लेशोंसे परिचित हैं। इस लिये सभी चाहते होंगे कि ये सब क्लेश दूर हों। इनके तीन भेद होते हैं—

तीन भेद।

१ क्षेत्रियाः = अर्थात् कई आपत्तियां ऐसी होती हैं कि जो मनुष्यके स्वभावमें क्षेत्रसे आयीं होती हैं, वंशपरंपरासे प्राप्त होती हैं, जन्म स्वभावसे होती हैं। (मं० ५)

२ पुरुषेषिताः=दूसरी आपत्तियां ऐसी होती हैं, कि जो (पुरुष-इषिताः)अन्य मनुष्योंकी कुटिल प्रेरणाओंके कारण होती हैं। (मं० ५)

३ दस्युभ्यः जाताः=तीसरी आपत्तियां ऐसी हैं कि जो दस्यु चोर डाकु आदि दुष्टोंसे उत्पन्न होती हैं। (मं० ५)

आपत्तियोंके तीन भेद हैं (१) अपने जन्म स्वभावसे होनेवाली, (२) दूसरे पुरुषोंकी कुटिल प्रेरणासे होनेवाली और (३) दुष्टोंके कारण होनेवाली। इन सब आपत्तियोंको अवश्य दूर करना चाहिये।

कई आपत्तियां खानपान आदिके स्थानसे ही उत्पन्न होती हैं जैसे रोगादि आपत्तियां हैं, उनको दूर करनेके लिये उनके उद्गम स्थानमें ही प्रतिबंध करना चाहिये, इस विषयमें द्वितीय मंत्रका कथन देखिये—

आत्मशुद्धि और गृहशुद्धि।

१ गोष्ठात् निः अजामसि- गोशालासे हटाता हूं अर्थात् गोशाला के कुप्रबंध में जिन रोगादि आपत्तियोंकी उत्पत्ति हो सकती है उसको दूर करता हूं। गोशालाकी पवित्रता करनेसे इन आपत्तियोंका नाश हो सकता है। (मं० २)

२ उपानसात् निः अजामसि—अन्नपानके गड्ढे, अथवा वाहनादिके स्थानमें जो कुछ दोष होनेसे आपत्तियां आसकती हैं उनकी शुद्धतासे इन आपत्तियोंको मैं हटाता हूं। (मं० २)

३ अक्षात् निः अजामसि-अपनी दृष्टिके दोषसे जो जो बुरे भाव पैदा होते हैं, उनकी शुद्धि करने द्वारा मैं अपने अंदरके दोषोंको दूर करता हूं। इस प्रकार संपूर्ण इंद्रियोंके शुद्धि करण द्वारा बहुतसी आपत्तियोंको दूर किया जा सकता है। आत्मशुद्धि की सूचना यहां मिलती है। (मं. २)

४ मगुन्द्याः निः अजामसि = (म-गुन्द्याः = मन+गुन्द्र्याः) मनको मोहित करनेवाली वृत्तिसे तुमको हटाता हूं । मनकी मोहनिद्रा दूर करता हूं । यह मनकी शुद्धि है । (मं० २)

इस द्वितीय मंत्रमें अपने नेत्र आदि इंद्रियोंकी शुद्धि, मनकी शुद्धि, गोशालाकी शुद्धि, घरकी शुद्धि, गाडी आदि वाहन जहां रखे जाते हैं उन स्थानोंकी शुद्धि करने द्वारा आपत्तियोंको दूर करनेका उपदेश है । इस मंत्रके अंदर जिन बातोंका उल्लेख है उनसे जो जो शुद्धि स्थान अवशिष्ट रहे होंगे, उन सबका ग्रहण यहां करना उचित है। इसका तात्पर्य यही है कि जहांसे आपत्तियां उठती हैं और मनुष्योंको सताती हैं, उन स्थानोंकी शुद्धता करना चाहिये । पवित्रता करनेसे ही सब स्थानोंसे आपत्तियां हट जाती हैं । मलीनता आपत्तियोंको उत्पन्न करनेवाली और पवित्रता आपत्तियोंको दूर करनेवाली है । यह नियम पाठक प्रायः सर्वत्र लगा सकते और आपत्तियोंको हटा सकते हैं, तथा सम्पत्तियां प्राप्त भी कर सकते हैं ।

नीचतामें विपत्तिका उगम ।

विपत्तियोंका उगम नीचतामें है इस बातको अधिक स्पष्ट करनेके लिये तृतीय मंत्रका उपदेश है । इसमें कहा है कि— " जो यह (अधरात् गृहः) नीच घराना है वहां ही सब कंजूसियाँ, विपत्तियाँ, नाश, क्लेश, कृशता और चोरी आदि दुष्ट भाव रहते हैं ।" नीच घरमें इनकी उत्पत्ति है । " अधर" शब्द यहां नीचताका द्योतक है । जो ऊपर वाला नहीं वह नीचेवाला है । जहां हीनता होगी वहीं आपत्तियोंका उगम होगा,इसमें कोई संदेह ही नहीं है ।

राजाका कर्तव्य ।

चतुर्थ मंत्रमें कहा है कि " (भूतपतिः इन्द्रः) प्राणिमात्रोंका पालन कर्ता राजा अपने वज्रसे (सदान्वाः) सब डाकुओंको और (गृहस्य बुध्न आसीनाः) घरके अंदर छिपे हुए सब दुष्टोंको हटा देवे ।" अर्थात् राजा अपने सुव्यवस्थित राजप्रबंधसे दुष्टोंको दूर करे और अपना राज्य सज्जनोंका घर जैसा बनावे । इस प्रकार उत्तम राजशासन द्वारा दुष्टोंको प्रतिबंध होनेसे सज्जनोंका मार्ग खुल जाता है । सुराज्य होना भी एक बडा साधन है कि जिससे आपत्तियां कम होती हैं, या दूर हो जाती हैं ।

जीवनका युद्ध ।

आपत्तियोंके साथ झगडा करना, विपत्तियोंसे लडना और उनका पराभव करके

अपना विजय संपादन करना, यह एक मात्र उपाय है, जिससे आपत्तियां दूर हो सकती हैं। पाठक विचार करेंगे, तो उनको पता लग जायगा कि यह युद्ध हरएक स्थानपर करना पडता है। शरीरमें व्याधियोंसे झगडना है, समाजमें डाकु तथा दुष्टोंसे लडना होता है, राष्ट्र में विदेशी शत्रुओंसे युद्ध करना होता है और विश्वमें अतिवृष्टि अनावृष्टि अकाल आदिसे युद्ध करना पडता है। इस छोटे मोठे कार्यक्षेत्रोंमें छोटे मोठे युद्ध करने ही होते हैं। इन युद्धोंको किये विना और वहां अपना विजय प्राप्त किये विना सुखमय जीवन होना असंभव है। यही बात इस सूक्तके षष्ठ मंत्रमें कही है--

वः सर्वान् आजीन् अजैषम् । (मं० ६)

"सब युद्धोंमें मैं विजय पाता हूं।" इस प्रकार सब युद्धोंमें विजय पानेसे ही मनुष्यके पाससे सब विपत्तियां दूर हो जाती हैं और मनुष्य ऐश्वर्य संपन्न हो जाता है। प्रत्येक युद्धमें अपना विजय होने योग्य शक्ति अपने अंदर बढानी चाहिये। अन्यथा विजय होना अशक्य है। शत्रुशक्तिसे अपनी शक्ति बडी रही तभी विजय हो सकता है अन्यथा पराजय होगा। पराजय होनेसे विपत्तियां बढेंगी। इस लिये शत्रुशक्तिकी अपेक्षा अपनी शक्ति बढानी चाहिये। और अपना विजय संपादन करना चाहिये। विपत्तियोंको दूर करनेका यह मुख्य उपाय है, इसका विचार पाठक करें और अपनी विपत्तियां हटानेके प्रयत्नमें कृतकार्य हों।

पहिले जितनी भी आपत्तियां गिनी हैं उन सबके निवारण करनेके लिये यही एक मात्र उपाय है। इससे पहिले कई उपाय बताये हैं। राज शासन का सुप्रबंध, आत्मशुद्धि, बाह्य शुद्धि, आदि सभी उपाय उत्तम ही हैं, परंतु सर्वत्र इस आत्मशुद्धिके उपाय की विशेषता है, यह बात भूलना नहीं चाहिये।

जिस प्रकार घोडा चलकर अपने प्राप्तव्य स्थानपर पहुंचता है, उसी प्रकार मनुष्य भी प्रयत्न करके ही प्रत्येक शुभ स्थानपर पहुंचता है। इसलिये मनुष्य प्रयत्न करकेही पुरुषार्थसे सिद्धिको प्राप्त करे। प्रत्येक सुखस्थान मनुष्यको पुरुषार्थसेही प्राप्त हो सकता है। पुरुषार्थ प्रयत्नके विना विपत्तियां दूर होना असंभव है।

विपत्तियोंको हटानेके विषयमें यह सूक्त बडे महत्त्व पूर्ण आदेश दे रहा है। पाठक यदि इसका उत्तम विचार करेंगे तो उनको अपनी विपत्तियां हटानेका और संपत्तियां प्राप्त करनेका मार्ग अवश्य दिखाई देगा। आशा है कि पाठक इस सूक्तसे लाभ प्राप्त करेंगे।

निर्भय जीवन।

(१५)

[ऋषिः-ब्रह्मा । देवता-प्राणः, अपानः, आयुः]

यथा द्यौश्च पृथिवी च न बिभीतो न रिष्यतः ।
एवा मे प्राण मा बिभेः ॥ १ ॥
यथाहश्च रात्री च न बिभीतो न रिष्यतः । एवा० ॥ २ ॥
यथा सूर्यश्च चन्द्रश्च न बिभीतो न रिष्यतः । एवा०॥ ३ ॥
यथा ब्रह्म च क्षत्रं च न बिभीतो न रिष्यतः । एवा०॥ ४ ॥
यथा सत्यं चानृतं च न बिभीतो न रिष्यतः । एवा० ॥५॥
यथा भूतं च भव्यं च न बिभीतो न रिष्यतः ।
एवा मे प्राण मा बिभेः ॥ ६ ॥

अर्थ— (यथा द्यौः च पृथिवी च) जिस प्रकार द्यौः और पृथिवी (न बिभीतः) नहीं डरते इसलिये (न रिष्यतः) नहीं नष्ट होते, (एवा) ऐसे ही (मे प्राण) हे मेरे प्राण ! मा बिभेः) तू मत डर ॥ १ ॥ जिस प्रकार (अहः च रात्री च) दिन और रात्री नहीं डरते इसलिये विनाशको प्राप्त नहीं होते० ॥ २ ॥ जिस प्रकार सूर्य और चन्द्र ० ॥ ३ ॥ ० ब्रह्म और क्षत्र ॥ ४ ॥ ० सत्य और अनृत० ॥ ५ ॥ ० भूत और भविष्य नहीं डरते इस लिये विनाशको प्राप्त नहीं होते, इसी प्रकार हे मेरे प्राण ! तू मत डर ॥६॥

भावार्थ— द्युलोक पृथ्वी, दिन रात्री,सूर्य चन्द्र, ब्रह्म क्षत्र, ज्ञानी शूर, सत्य अनृत, भूत भविष्य आदि सब किसीसे भी कभी डरते नहीं; इसी-लिये विनाश को प्राप्त नहीं होते। इस से बोध मिलता है,कि निर्भय वृत्ति से रहनेसे विनाशसे बचनेकी संभावना है। अतः हे प्राण ! तू इस शरीर में निर्भय वृत्तिके साथ रह और अपमृत्युके भय को दूर कर ॥ १-६ ॥

निर्भयतासे अमरपन ।

इस सूक्तका मुख्य उपदेश यह है कि "जो नहीं डरते जो निर्भयतासे अपना कार्य करते हैं वे नाशको प्राप्त नहीं होते।" उदाहरणके लिये द्यौः पृथ्वी, दिन रात, सूर्यचन्द्र, इनका नाम इस सूक्तमें लिया है। दिन रात या सूर्यचन्द्र किसीका भय न करते हुए निःपक्षपातसे अपना कार्य करते हैं। समय होते ही उदय होना या अस्तको जाना आदि इनके सब कार्य यथाक्रम चलते रहते हैं। किसीकी पर्वा नहीं करते, किसीकी सिफारस नहीं सुनते, किसीपर दया नहीं करते अथवा किसीपर क्रोध भी नहीं करते। अपना निश्चित कार्य करते जाते हैं। इसलिये ये किसीसे डरते नहीं; अतः ये विनाशको भी प्राप्त नहीं होते। इसलिये जो मनुष्य निडर होकर अपना कर्तव्यकर्म करेगा, वह भी विनाशको प्राप्त नहीं होगा। (मं० १-३)

ब्रह्म-क्षत्र ।

आगे चतुर्थ मंत्रमें "ब्रह्म और क्षत्र" का उल्लेख है। इनका अर्थ "ज्ञान और शौर्य" है किंवा ज्ञानी और शूर अर्थात् ब्राह्मण और क्षत्रिय भी है। सूर्यचन्द्रादिकोंका उदाहरण सन्मुख रखकर ब्राह्मण क्षत्रियोंको चाहिये कि वे किसी मनुष्यसे न डरते हुए अपना कर्तव्यकर्म योग्य रीतिसे करते जांय। जिन ब्राह्मण क्षत्रियोंने ऐसे निडर भावसे अपने कर्तव्य कर्म किये हैं वे अपने यश से इस समय तक जीवित रहे हैं। और आगेभी वे मार्ग दर्शक बनेंगे। ऐसे आदर्श ब्राह्मणों और आदर्श क्षत्रियोंका उदाहरण सन्मुख रखकर अन्य लोग भी भय छोडकर अभयवृत्तिसे अपने कर्तव्य कर्म करते रहेंगे तो वे भी अमर बनेंगे।

सत्य और अनृत ।

सत्य और अनृत भी इसी प्रकार किसीकी अपेक्षा नहीं करते। जो सत्य होता है वही सत्य होता है और जो असत्य होता है वही असत्य होता है। कई प्रसंगोंमें सत्ताधारी मनुष्य अपने अधिकारके बलसे सत्यको असत्य और असत्यको सत्य कर देते हैं; परंतु वह बात थोडे समयके बाद प्रकट होजाती है और अधिकारियोंकी पोल भी उसके साथ खुल जाती है। इस लिये क्षण मात्र किसीके दबावसे कुछ न कुछ बन जाय वह बात अलग है; परंतु अंतमें जाकर सत्य और अनृत अपने असलीरूपमें प्रकट होने विना नहीं रहते। इस लिये सदा सत्य पक्षका ही अवलंब करना चाहिये, जिससे मनुष्य निर्भय बनकर शाश्वत पदका अधिकारी होता है।

भूत और भविष्य ।

षष्ठ मंत्रमें भूत और भविष्य इन दो कालोंके विषयमें कहा है कि, ये किसीसे डरते नहीं । यह बिलकुल सत्य है । सबका डर वर्तमान कालमें ही होता है । जो डरानेवाले बादशहा थे, जिन्होंने अपनी तलवारके डरावेसे लोगोंको सताया, वे अब भूतकालमें होगये हैं । उनका डर अब नहीं रहा है और वे अपने असली रूपमें जनताके सन्मुख खडे होगये हैं !! साधारणसे साधारण इतिहास तत्त्वका विचार करनेवाला भी उनको अपने मतसे दोषी ठहराता है और वे अब उसका कुछ भी बिगाड नहीं कर सकते। क्योंकि वे भूत कालमें दब गये हैं । इसलिये बडे प्रतापी राजा भी भूत कालमें दब जानेके पश्चात् एक साधारण मनुष्यके सदृश असहाय हो जाते हैं । इतना भूतकालका प्रभाव है । पाठक इस कालके प्रभाव को देखें । समर्थसे समर्थ भी इस भूतकालमें जब दब जाता है, तब उसका सामर्थ्य कुछ भी नहीं रहता । परंतु जो धर्मात्मा सत्यनिष्ठ सत्पुरुष होते हैं, उनकी शक्ति इसी भूतकालसे बढती जाती है । रावणका पशुबल उसी समय हरएकको भी दबा सकता था, परंतु भगवान् रामचंद्रजी का आत्मिक बल उस समयही विजयी हुआ, इतनाही नहीं प्रत्युत आजभी अनंत लोगोंको मार्ग दर्शक होरहा है !! यह भूत कालका महिमा देखिये । भूतकाल निडर है किसीकी पर्वाह नहीं करता और सबको असली रूपमें सबके सामने करदेता है ।

भविष्य काल भी इसी प्रकार है । अशक्तोंको भविष्य कालमें भी अपने सत्पक्षका विजय होनेकी आशा रहती है। अधर्मके शासनके अंदर दबे लोग भविष्य कालकी ओर देखकर ही जीवित रहते हैं । क्योंकि वर्तमान कालका डर भविष्यमें नहीं रहता जैसा भूत कालका डर आज नहीं रहा है ।

पाठक इससे जान गये होंगे कि, भूत और भविष्य इन दो कालोंके निडर होनेका तात्पर्य क्या है । इस बातको देखकर मनुष्य मात्र यह बात समझें कि सत्यका ही जय होता है, इस लिये सत्यके आधारसे ही मनुष्य अपना व्यवहार करें और निडर होकर अपना कर्तव्य पालन करें ।

अभय वृत्तिसे ही अमरपन प्राप्त हो सकता है ।

विश्वंभर की भक्ति ।

(१६)

[ऋषिः– ब्रह्मा । देवता–प्राणः; अपानः, आयुः]

प्राणापानौ मृत्योर्मा पातं स्वाहा ॥ १ ॥
द्यावापृथिवी उपश्रुत्या मा पातं स्वाहा ॥ २ ॥
सूर्य चक्षुषा मा पाहि स्वाहा ॥ ३ ॥
अग्ने वैश्वानर विश्वैर्मा देवैः पाहि स्वाहा ॥ ४ ॥
विश्वम्भर विश्वेन मा भरसा पाहि स्वाहा ॥ ५ ॥

अर्थ— हे प्राण और अपान ! तुम दोनों (मृत्योः मा पातं) मृत्युसे मुझे बचाओ (स्वा-हा) मैं आत्म समर्पण करता हूं ॥ १ ॥ हे द्युलोक और पृथ्वी लोक ! (उपश्रुत्या मा पातं) श्रवण शक्तिसे मेरी रक्षा करो० ॥ २ ॥ हे सूर्य ! (चक्षुषा मा पाहि) दर्शन शक्तिसे मेरी रक्षा कर० ॥ ३ ॥ हे वैश्वानर अग्ने ! (विश्वैः देवैः मा पाहि) संपूर्ण देवोंके साथ मेरी रक्षा कर० ॥ ४ ॥ हे विश्वंभर ! (विश्वेन भरसा मा पाहि) संपूर्ण पोषण शक्तिसे मेरी रक्षा कर, (स्वा-हा) मैं आत्मसमर्पण करता हूं ॥ ५ ॥

भावार्थ— प्राण और अपान मृत्युसे बचावें ॥ १ ॥ द्यावापृथिवी श्रवण शक्तिकी सहायतासे, सूर्य दर्शन शक्तिसे मेरा बचाव करें ॥ २-३ ॥ विश्व-व्यापक पुरुष सब दिव्य शक्तियों द्वारा तथा विश्वंभर ईश्वर अपनी पोषण शक्ति द्वारा मेरी रक्षा करें। मैं अपने आपको उसीकी रक्षामें समर्पित करता हूं ॥ ४—५ ॥

विश्वंभर देव !

इस सूक्तके अंतिम पंचम मंत्रमें " विश्वं-भर" शब्द है, विश्वका भरण और पोषण करनेवाला देव यह इसका अर्थ है। सम्पूर्ण जगत्का भरण पोषण करने वाला एक देव

यहां " विश्वंभर " शब्दसे कहा है। यह विश्वंभर शब्द परमात्मविषयक होनेमें शंकाही नहीं है। और इस शब्द द्वारा यहां जगत् के एक देव की उत्तम कल्पना व्यक्त की गई है। (मं०५)

इस जगत् के भरण पोषण करनेवाले इस देवके पास (विश्वेन भरसा) विश्वव्यापक पोषक रस है जिससे यह देव सब जगत् का पोषण करता है। (मं०५)

वैश्वानर ।

चतुर्थ मंत्रमें इसीका नाम " वैश्वा-नर " है इसका अर्थ है विश्वका नेता, विश्वका चालक, संपूर्ण जगत् का नर, सब जगत् में मुख्य, सब जगत् में मुख्य पुरुष। यही विश्वंभर नामसे आगे वर्णन किया गया है। जिसप्रकार अग्नि सर्वत्र व्यापता है इसी प्रकार यह जगच्चालक मुख्य पुरुषभी सर्व जगत् में व्यापक हो रहा है। सूर्य चंद्रादि सब (विश्वैः देवैः) अन्य देव इसीके वशमें रहते हैं और अपना अपना कार्य करते हैं। इसीकी आज्ञा पालन करनेवाले सब अन्य देव हैं। ये अन्य देव इसीके सहचारी देव हैं।

एक उपास्य ।

पाठक इस सूक्तके ये दो शब्द "विश्वंभर और वैश्वानर" देखें और इनके मननसे अद्वितीय उपास्य परमात्म देवकी भक्ति करना सीखें। वह सब जगत्का भरण पोषण करने वाला है इस लिये वह हमारा भी भरण पोषण करेगा ही इसमें क्या संदेह है। जिसने जन्म देनेके पूर्व ही माताके स्तनोंमें बालकके लिये दूध तैयार रखा होता है, उसकी सार्वत्रिक भरण पोषण शक्ति कितनी विशाल है, इसकी कल्पना हो सकती है। ऐसे अनंत सामर्थ्य शाली विश्वंभरकी भक्ति करना ही मनुष्य मात्रका कर्तव्य है।

देवोंद्वारा रक्षा ।

सूर्य नेत्र इन्द्रियमें दर्शन शक्ति रख कर मनुष्य की रक्षा कर रहा है, द्यावा पृथिवीमें चारों ओर फैली हुई दिशाएं कर्ण इंद्रियकी श्रवण शक्तिद्वारा मनुष्यकी रक्षा कर रही हैं। इसी प्रकार प्राण और अपान शरीरमें रक्षा कर रहे हैं यह बात हरएकको यहां प्रत्यक्ष हो सकती है। इसी तरह अन्यान्य देव अन्यान्य स्थानोंमें रहते हुए हमारी रक्षा कर रहे हैं।

यह सब उसी विश्वंभर की कृपासे हो रहा है इस का अनुभव करके उसी एक अद्वितीय प्रभुकी भक्ति करना हरएक मनुष्यके लिये योग्य है। आशा है कि इस रीतिसे विश्वंभरकी भक्ति करके पाठक शाश्वत कल्याणके भागी होंगे।

आत्मसंरक्षण का बल।

(१७)

[ऋषिः— ब्रह्मा। देवता— प्राणः, अपानः, आयुः]

ओजोऽस्योजो मे दाः स्वाहा ॥ १ ॥
सहोऽसि सहो मे दाः स्वाहा ॥ २ ॥
बलमसि बलं मे दाः स्वाहा ॥ ३ ॥
आयुरस्यायुर्मे दाः स्वाहा ॥ ४ ॥
श्रोत्रमसि श्रोत्रं मे दाः स्वाहा ॥ ५ ॥
चक्षुरसि चक्षुर्मे दाः स्वाहा ॥ ६ ॥
परिपाणमसि परिपाणं मे दाः स्वाहा ॥ ७ ॥

(इति तृतीयोऽनुवाकः।)

अर्थ— (ओजः असि) तू शारीरिक सामर्थ्य है, (मे ओजः दाः) मुझे शरीर सामर्थ्य दे ॥ १ ॥ तू (सहः असि) सहन शक्तिसे युक्त है (मे सहः दाः) मुझे सहनशक्ति दे ॥ २ ॥ तू बल स्वरूप है मुझे बल दे ॥ ३ ॥ तू (आयुः असि) आयु अर्थात् जीवनशक्ति है मुझे वह जीवनशक्ति दे ॥ ४ ॥ तू (श्रोत्रं) श्रवणशक्ति है मुझे वह श्रवणशक्ति दे ॥ ५ ॥ तू (चक्षुः) दर्शन शक्ति है मुझे दर्शन शक्ति दे ॥ ६ ॥ तू (परिपाणं असि) सब प्रकारसे आत्मरक्षा करनेकी शक्ति है मुझे आत्मसंरक्षण करनेकी शक्ति दे। (स्वा-हा) मैं आत्मसमर्पण करता हूं ॥ ७ ॥

भावार्थ- हे ईश्वर ! तू सामर्थ्य, पराक्रम, बल, जीवन, श्रवण, दर्शन और परिपालन इन शक्तियों से युक्त है, इसलिये मुझे इन शक्तियोंका प्रदान कर ॥ (१—७)

(१८)

[ऋषिः — चातनः। देवता-अग्निः]

भ्रातृव्यक्षयणमसि भ्रातृव्यचातनं मे दाः स्वाहा ॥ १ ॥
सपत्नक्षयणमसि सपत्नचातनं मे दाः स्वाहा ॥ २ ॥
अरायक्षयणमस्यरायचातनं मे दाः स्वाहा ॥ ३ ॥
पिशाचक्षयणमसि पिशाचचातनं मे दाः स्वाहा ॥ ४ ॥
सदान्वाक्षयणमसि सदान्वाचातनं मे दाः स्वाहा ॥ ५ ॥

अर्थ- तू (भ्रातृव्य-चातनं) वैरियोंका नाश करनेकी शक्तिसे युक्त है मुझे वह बल दे ॥ १ ॥ तू सपत्नोंका नाश करनेकी शक्तिसे युक्त है, मुझे वह बल दे ॥ २॥ तूं (अ-राय-क्षयणं) निर्धनताका नाश करनेका बल रखता है, मुझे वह बल दे ॥ ३ ॥ तू (पिशाच-क्षयणं) मांस चूसनेवालोंका नाश करनेकी शक्ति रखता है, मुझे वह बल दे ॥ ४ ॥ तू (स-दान्वा-क्षयणं) आसुरी वृत्तियों को दूर करनेकी शक्ति रखता है, मुझे वह बल दे, मैं (स्वा-हा) आत्मसमर्पण करता हूं ॥ ५ ॥

भावार्थ— वैरी, शत्रु, कंजूस, खूनचूस और आसुरीवृत्तिवाले इनसे बचनेकी शक्ति तेरे अंदर है, यह शक्ति मुझमें स्थिर कर, मैं अपने आप को तेरे लिये अर्पण करता हूं ॥ १—५ ॥

बलकी गणना।

इन दो सूक्तोंमें आत्म संरक्षणके लिये आवश्यक बलोंकी गणना की है, यह बल ये हैं -

१ ओजः—स्थूल शरीरकी शक्ति, पुट्ठोंका बल,

२ सहः—शीत उष्ण अथवा अन्यान्य द्वन्द्व सहन करनेकी शक्ति। अपना कर्तव्य करनेके समय जो भी कष्ट सहन करनेकी आवश्यकता हो, वे कष्ट आनन्दसे सहन करने की सदा तैयारी रखनेका नाम सह है। शत्रु का हमला आगया तो उससे न डरना तथा अपना स्थान न छोडना, अर्थात् शत्रुका हमला आगया तो भी अपने स्थानमें ठहरना। यह भी एक सहन शक्ति ही है। सहज हीमें शत्रुसे पराभूत न होना, इतना ही नहीं परंतु शत्रुसे कभी पराजित ही न होना। शत्रुके हमले सहन करके स्वस्थानमें स्थिर रहना और शत्रुको परास्त करना या शत्रुके ऊपर आक्रमण करना।

३ बलं— सब प्रकारके बल। आत्मिक, बौद्धिक, मानसिक, इंद्रिय विषयक आदि जितने भी बल मनुष्यकी उन्नतिके लिये आवश्यक होते हैं वे सब बल।

४ आयुः— दीर्घ आयु, आरोग्य पूर्ण दीर्घायु।

५ श्रोत्रं-कान आदि इंद्रियोंकी शक्तियां। श्रवणसे प्राप्त होनेवाली अप्रत्यक्ष शब्दविद्या।

६ चक्षुः— चक्षु आदि इन्द्रियोंकी शक्तियां। प्रत्यक्ष प्रयोगजन्य विज्ञान।

७ परिपाणं— परित्राण की शक्ति। अपनी (पूर्ण) संरक्षण करनेकी शक्ति। (परि) सब प्रकारसे अपना (पाणं) संरक्षण करनेकी शक्ति।

८ भ्रातृव्य-क्षयणं— भ्रातृव्य शब्दका अर्थ यहां विशेष मननसे देखना चाहिये। दो भाईयोंके पुत्र आपसमें भ्रातृव्य कहलाते हैं। यह घरमें भ्रातृव्यपन है। इसी प्रकार दो राजा आपसमें भाई होते हैं और उनकी प्रजा आपसमें "भ्रातृव्य" कहलाती है। इनमें वारंवार युद्ध प्रसंग होते हैं। ऐसे राष्ट्रीय युद्धोंमें शत्रु पक्षका निराकरण करनेकी शक्ति अपनेमें बढानी चाहिये तभी विजय होगा। अन्यथा पराभव होगा। राष्ट्रीय चतुरंग बलकी सिद्धता करनेकी बात इस शब्द द्वारा बताई है। यह राष्ट्रके बाहरके शत्रुसे युद्ध है।

९ सपत्नक्षयणं — एक राज्यके अंदर पक्ष प्रतिपक्ष हुआ करते हैं। इन पक्ष भेदों का नाम " सपत्न " है क्यों कि ये एकही पतिके अंदर हुआ करते हैं। इनमें विविध प्रकारकी स्पर्धा होना स्वाभाविक है। इस स्पर्धामें विजय प्राप्त करने या अन्य सपत्नोंको हटाकर अपना विजय सिद्ध करनेका यह नाम है। यह राष्ट्रके अंतर्गत युद्ध है।

१० अरायक्षयणं- राय शब्द धनका वाचक है और अराय शब्द निर्धनताका वाचक है। यह निर्धनता सब प्रकारसे दूर करना आवश्यक है। वैश्यों और कारीगरोंके उत्कर्षसे यह बात साध्य हो सकती है।

११ पिशाचक्षयणं – रक्तमांस चूसनेवालोंका नाम पिशाच है। (पिशिताच्- पिशाच) रक्त पीने वाले रोग भी हैं जिनमें रक्त की क्षीणता होती है। मनुष्योंमें वे लोग कि जो रक्त मांस भोजी होते हैं। इनमें भी कच्चा मांस खानेवाले विशेषकर पिशाच कहलाते हैं। समाज से इनको दूर रखना योग्य है।

१२ स-दान्वाक्षयणं-(स-दानव-क्षयणं) असुर राक्षसोंका नाश करना, या उनको दूर करना। यह पुराणोंमें " देवासुर युद्ध " नाम से प्रसिद्ध है। आज भी अपने समाजमें क्या तथा अन्य समाजोंमें क्या देवासुरोंके झगडे चलही रहे हैं और उनमें असुरोंका पराभव होना ही आवश्यक है यह सब बात स्पष्ट होनेके कारण इसका अधिक विचार यहां करनेकी आवश्यकता नहीं है।

स्वाहा विधि ॥

ये बारह बल अपने अंदर लाने चाहिये। इन बलोंका उपयोग करनेकी रीति भी

विभिन्न हो सकती है। पाठक प्रत्येक बलका और उसके प्रयोग क्षेत्रका अच्छी प्रकार मनन करेंगे तो उनको इस बातका पता लग सकता है। दूसरोंका घातपात करनेके कार्यमें अपने बलका उपयोग करना तो सब जानतेही हैं, परंतु इन दो सूक्तोंमें इन बलों का उपयोग " स्वाहा " विधिसे करनेको कहा है। " स्वाहा " विधिका तात्पर्य " आत्मसर्वस्वका समर्पण " करना है। पूर्णकी भलाईके लिये अंशका यज्ञ करना स्वाहाका तात्पर्य है।

इस स्वाहा यज्ञ द्वारा उक्त शक्तियां अपने अंदर बढजांय और इसी स्वाहा विधि द्वारा उनका उपयोग किया जाय, यह उपदेश इन सूक्तों में विशेष महत्त्व रखता है।

स्व = अपना
हा = त्याग } = आत्म–सर्वस्व–समर्पण ।

यह विधि आत्मयज्ञका ही दूसरा नाम है। यह विधि शक्तियोंका उपयोग करनेकी ब्राह्मपद्धति बता रहा है। क्षात्रादि पद्धतिमें तो दूसरोंका विनाश मुख्य बात है और ब्राह्मपद्धतिमें स्वाहा अर्थात् आत्मसमर्पण मुख्य बात है। सब शत्रुनाश या शत्रुसुधार इसी विधिसे कैसा करना यह एक बडी समस्या है। परंतु पाठक इसका बहुत विचार करेंगे तो इस समस्याका हल स्वयं हो सकता है। क्योंकि यह स्वाहाविधि यज्ञका मुख्य अंगही है।

दोनों सूक्तोंमें बारह मंत्र हैं। प्रत्येक मंत्र में जो शक्ति मांगी है, उसके साथ "स्वाहा" का उल्लेख हुआ है। पाठक विचार करेंगे तो उनको पता लग सकता है कि यह एक प्रचंड शक्ति है। यदि ये शक्तियाँ मनुष्यमें विकसित होगईं और साथ साथ उसमें स्वार्थ भी बढता गया तो कितनी हानी की संभावना है। एकही शारीरिक शक्तिकी बात देखिये। कोई बडा मल्ल है, बडा बलवान् है, यदि वह स्वार्थी खुदगर्ज हुआ तो वह बहुत कुछ हानि कर सकता है। परंतु यदि वह मल्ल अपनी विशाल शक्तिका उपयोग परोपकारके कर्ममें करेगा, अथवा अपने शारीरिक बलको परमात्मसमर्पणमें लगावेगा। तो कितना लाभ हो सकता है। इसी प्रकार अन्यान्य शक्तियोंके विषयमें जानना चाहिये। आत्म समर्पणसेही शक्तिका सच्चा उपयोग हो सकता है। और सच्चा हितभी हो सकता है।

इस लिये इन दो सूक्तोंमें बारह वार "स्वाहा" का उच्चार करके आत्मसमर्पण का सबसे अधिक उपदेश किया है। जो जो शक्ति अपनेमें बढेगी, उस उस शक्तिका उपयोग मैं आत्म समर्पण की विधिसे ही करूंगा ऐसा निश्चय मनुष्य को करना चाहिये। तभी उसकी उन्नति होगी और उसके प्रयत्नसे जनताकी भी उन्नति हो सकती है।

शुद्धि की विधि ।

(१९—२३)

[ऋषिः-अथर्वा । देवता- १९अग्निः, २०वायुः, २१सूर्यः, २२चन्द्र, २३आपः]

(१९) अग्ने यत्ते तपस्तेन तं प्रति तप यो३ऽस्मान्द्वेष्टि यं वयं द्विष्मः ॥ १ ॥
अग्ने यत्ते हरस्तेन तं प्रति हर यो३ऽस्मान्द्वेष्टि० ॥ २ ॥
अग्ने यत्तेऽर्चिस्तेन तं प्रत्यर्च यो० ॥ ३ ॥
अग्ने यत्ते शोचिस्तेन तं प्रति शोच यो० ॥ ४ ॥
अग्ने यत्ते तेजस्तेन तमतेजसं कृणु यो० ॥ ५ ॥

(२०) वायो यत्ते तपस्तेन तं प्रति तप यो० ॥ १ ॥
वायो यत्ते हरस्तेन तं प्रति हर यो० ॥ २ ॥
वायो यत्तेऽर्चिस्तेन तं प्रत्यर्च यो० ॥ ३ ॥
वायो यत्ते शोचिस्तेन तं प्रति शोच यो० ॥ ४ ॥
वायो यत्ते तेजस्तेन तमतेजसं कृणु यो० ॥ ५ ॥

(२१) सूर्य यत्ते तपस्तेन तं प्रति तप यो० ॥ १ ॥
सूर्य यत्ते हरस्तेन तं प्रति हर यो० ॥ २ ॥
सूर्य यत्तेऽर्चिस्तेन तं प्रत्यर्च यो० ॥ ३ ॥
सूर्य यत्ते शोचिस्तेन तं प्रति शोच यो० ॥ ४ ॥
सूर्य यत्ते तेजस्तेन तमतेजसं कृणु यो ० ॥ ५ ॥

(२२) चन्द्र यत्ते तपस्तेन तं प्रति तप यो० ॥ १ ॥
चन्द्र यत्ते हरस्तेन तं प्रति हर यो० ॥ २ ॥

चन्द्र यत्तेऽर्चिस्तेन तं प्रत्यर्च यो० ॥ ३ ॥
चन्द्र यत्ते शोचिस्तेन तं प्रति शोच यो० ॥ ४ ॥
चन्द्र यत्ते तेजस्तेन तमतेजसं कृणु यो० ॥ ५ ॥

(२३) आपो यद्वस्तपस्तेन तं प्रति तपत यो० ॥ १ ॥
आपो यद्वो हरस्तेन तं प्रति हरत यो० ॥ २ ॥
आपो यद्वोऽर्चिस्तेन तं प्रत्यर्चत यो० ॥ ३ ॥
आपो यद्वः शोचिस्तेन तं प्रति शोचत यो० ॥ ४ ॥
आपो यद्वस्तेजस्तेन तमतेजसं कृणुत यो३स्मान्द्वेष्टि यं वयं द्विष्मः ॥ ५ ॥

अर्थ—हे अग्नि, वायू, सूर्य, चन्द्र और आप् देवतो ! आपके अंदर जो (तपः) तपानेकी शक्ति है उससे (तं प्रति तप) उसको तप्त करो (यः अस्मान् द्वेष्टि) जो अकेला हम सबका द्वेष करता है और (यं वयं द्विष्मः) जिसका हम सब द्वेष करते हैं ॥ १ ॥ हे देवो ! जो आपके अंदर (हरः) हरण करनेकी शक्ति है उससे उसका (प्रतिहर) दोष हरण करो जो हमारा द्वेष करता और जिसका हम द्वेष करते हैं ॥ २ ॥ हे देवो ! जो आपके अंदर (अर्चिः) दीपन शक्ति है उससे उसका (प्रत्यर्च) संदीपन करो जो हमारा द्वेष करता है और जिसका हम द्वेष करते हैं ॥ ३ ॥ हे देवो ! जो आपके अंदर (शोचिः) शुद्ध करनेकी शक्ति है उससे उसको (प्रति शोच) शुद्ध करो जो हमारा द्वेष करता है और जिसका हम द्वेष करते हैं ॥ ४ ॥ हे देवो ! जो आपके अंदर (तेजः) तेज है उससे उसको (अतेजसं) अति तेजस्वी करो जो हमारा द्वेष करता है और जिसका हम द्वेष करते हैं ॥ ५ ॥

भावार्थ—हे अग्नि, वायु, सूर्य, चन्द्र और आप् देवो ! आपके प्रत्येकके अंदर तप, हर, अर्चि, शोचि, और तेज ये पांच शक्तियां हैं, इस लिये कृपा करके हमारे द्वेषकोंको इन शक्तियोंसे परिशुद्ध करो; अर्थात् उनको तपाकर, उनके दोषोंको हरा कर, उनमें आंतरिक प्रकाश उत्पन्न करके, उनकी शुद्धि करके और उनको आपके दिव्य तेज से प्रभावित करके शुद्ध करो। जिस से वे कभी किसीका द्वेष न करेंगे और मिलजुल कर आनंदसे रहेंगे ॥

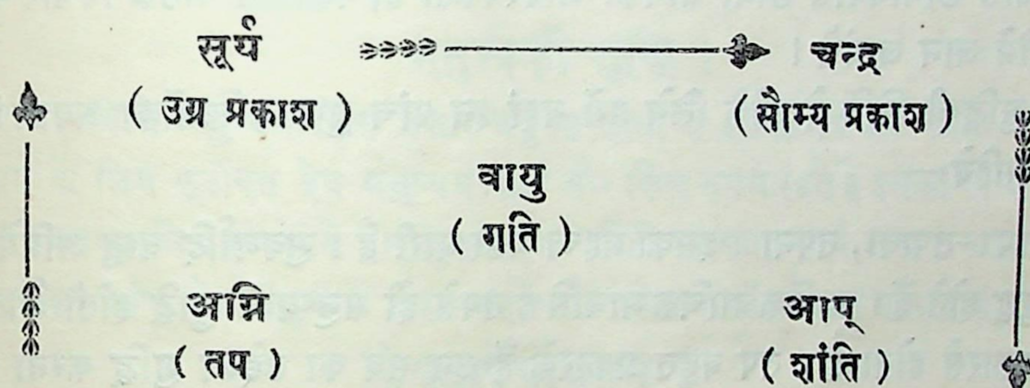
पांच देव।

इन पांच सूक्तोंमें पांच देवताओंकी प्रार्थना की गई है अथवा दुष्टोंके सुधारके कार्य में उनसे शक्तियोंकी याचना की गई है। ये पांच देवताएं ये हैं—

"अग्नि, वायु, सूर्य, चन्द्र, आपः।"

अग्निमें तपानेकी शक्ति, वायुमें हिलानेकी शक्ति, सूर्यमें प्रकाश शक्ति, चन्द्रमें सौम्यता, और आप (जल) में पूर्ण शांति है। अर्थात् ये देवताएँ इस व्यवस्थासे एकके पश्चात् दूसरी आगई हैं कि पहिले तपानेसे प्रारंभ होकर सबको अन्तमें शांति मिल जावे। अंतिम दो देव चंद्र और आप् पूर्ण शांति देने वाले हैं। अग्नि और सूर्य तपाने वाले हैं और वायु प्राणगति या जीवन गतिका दाता है। यदि पाठक यह व्यवस्था देखेंगे तो उनको दुष्टोंका सुधार करनेकी विधि निश्चयसे ज्ञात होगी।

पंचायतन।



पहिले अग्नि तपाता है, वायु उसमें गति करता है और ये दोनों सूर्यके उग्र प्रकाशमें उसे रख देते हैं। उसके पश्चात् चंद्रमाका सौम्य प्रकाश आता है और पश्चात् जल तत्त्वकी पूर्ण शान्ति या शांतिमय जीवन उसे प्राप्त होता है। शुद्ध होनेका यह मार्ग है। यह क्रम विशेष महत्त्व पूर्ण है। और इसी लिये इन पांचों सूक्तोंका विचार यहां इकठ्ठा किया है।

पांच देवोंकी पांच शक्तियाँ।

पांच देवोंकी पांच शक्तियां इन सूक्तोंमें वर्णन की हैं। उनके नाम ये हैं।

"तपः, हरः, अर्चिः, शोचिः, तेजः" ये पांच शक्तियां हैं। ये पांचों शक्तियां प्रत्येक देवके पास हैं। इससे पाठक जान सकते हैं कि हरएक की ये शक्तियां भिन्न हैं। अग्निका

तेज, सूर्यका तेज और जलका तेज भिन्न होनेमें किसीको भी शंका नहीं हो सकती। इस लिये प्रत्येक देवताके पास ये पांच शक्तियां हैं, परंतु उनका स्वरूप और कार्य भिन्न भिन्न ही है। जैसा "हरः" नामक शक्तिके विषयमें देखिये। हरः का अर्थ है "हरण करना" हरलेना। यहां इस एकही शक्तिका उपयोग पांच देव किस प्रकार करते हैं, देखिये—

१ अग्नि -- शीतताका हरण करता है, तपाता है।

२ वायु -- आर्द्रता का हरण करता है, सुखाता है।

३ सूर्य — समय का हरण करता है, आयु घटाता है।

४ चन्द्र — मनस्तापका हरण करता है, मनकी प्रसन्नता देता है।

५ जल — शारीरिक मलका हरण करता है, शुद्धता करता है।

प्रत्येक देव हरण करता है, परंतु उसके हरण करनेके पदार्थ भिन्न हैं, इसी प्रकार "तपन, हरण, अर्चन, शोचन और तेजन" के द्वारा इन देवोंसे मनुष्यका सुधार होता है। प्रत्येक देवताके ये पांच गुण हैं और पांच देवता हैं, इस लिये सुधार होनेके लिये पच्चीस छाननियोंसे छाना जानेकी आवश्यकता है, यह बात पाठक विचार करनेसे सहज हीमें जान जायंगे।

यह शुद्धिकी विधि देखनेके लिये हमें यहां इन पांच गुण शक्तियोंका अवश्य विचार करना चाहिये—

१ तपः-तपाना, तपना। इसका महत्त्व बडा भारी है। सुवर्णादि धातु अग्निमें तपनेसे ही शुद्ध होते हैं। कायिक वाचिक मानासिक तपसे ही मनुष्यकी शुद्धि होती है। तपना अनेक प्रकारसे होता है। तप बहुत प्रकारके हैं उन सब का उद्देश्य शुद्धि करना ही है।

२ हरः-हरण करना, हरलेना। दोषोंको हरण करना, दोषोंको दूर करना। सुवर्णादि धातुओंको अग्निमें तपानेसे दोष दूर होते हैं और उनकी शुद्धता होती है। इसी प्रकार अन्यान्य तप करनेसे दोष दूर होते हैं और शुद्धि होती है।

३ अर्चिः—अर्च् धातुका अर्थ "पूजा और प्रकाश" है। पूर्वोक्त दो विधियों द्वारा शुद्धता होनेके पश्चात् यह पूजा या उपासना का प्रकाश उस मनुष्यके अंदर डाला जाता है। दोष दूर होने के पश्चात् ही यह होना है इससे पूर्व नहीं।

४ शोचिः—शुच् धातुका अर्थ शोधन करना है। शुद्धता करना। तप, दोषहरण और अर्चनके पश्चात् शोधन हुआ करता है। शोधन का अर्थ बारीकसे बारीक दोषोंको हटाना। हरण और शोधन में जो भेद है वह पाठक अवश्य देखें। स्थूल दोषोंका हरण होता है और सूक्ष्म दोषोंका शोधन हुआ करता है इस प्रकार शोधन होनेके पश्चात्—

५ तेजः— तेजन करना है । तिज् धातुका अर्थ तेजकरना और पालन करना है । शस्त्र की धारा तेज की जाती है इस प्रकारका तेजन यहां अभीष्ट है । तीखा करना, तेज करना, बुद्धिकी तीव्रता संपादन करना ।

उदाहरण के लिये लोहा लीजिये । पहिले (तपः) तपाकर उसको गर्म किया जाता है, पश्चात् उसके दोष (हरः) दूर किये जाते हैं, पश्चात् उसको किसी आकारमें ढाला (आर्चिः) जाता है, नंतर (शोचिः) पानीमें बुझाकर जल पिलाया जाता है और तत्पश्चात् (तेजः) उस शस्त्रको तेज किया जाता है । यह एक चक्कू छुरी आदि बनानेकी साधारण बात है, इसमें भी न्यूनाधिक प्रमाणसे इन विधियोंकी उपयोगिता होती है । फिर मनुष्य जैसे श्रेष्ठ जीवकी शुद्धताके लिये इनकी उपयोगिता अन्यान्य रीतियोंसे होगी इसमें कहनेकी क्या आवश्यकता है ? तात्पर्य "तपन, हरण, अर्चन, शोधन, और तेजन" यह पांच प्रकारका शुद्धिका विधि है, जिससे दोषी मनुष्यकी शुद्धता हो सकती है । दुष्ट मनुष्य का सुधार करके उसको पवित्र महात्मा बनानेकी यह वैदिक रीति है । पाठक इसका बहुत मनन करें ।

मनुष्यकी शुद्धि ।

अब यह विधि मनुष्यमें किस प्रकार प्रयुक्त होती है इसका विचार करना चाहिये। इस कार्य के लिये पूर्वोक्त देव मनुष्यमें कहां और किस रूपमें रहते हैं इसका विचार करना चाहिये । इसका निश्चय होनेसे इस शुद्धीकरण विधिका पता स्वयं लग सकता है । इस लिये पूर्वोक्त पांच देव मनुष्यके अंदर कहां और किस रूपमें विराज मान हैं यह देखिये-

देवतापंचायतन ।

मनुष्यमें अग्नि, वायु, सूर्य, चंद्र, और आप् ये पांच देवताएं निम्नलिखित रूपसे रहती हैं-

१ अग्निः (अग्निर्वाक् भूत्वा मुखं प्राविशत्)= अग्नि वाणीका रूप धारण करके मनुष्यके मुखमें प्रविष्ट हुआ है । अर्थात् मनुष्यके अंदर अग्निका रूप वाक् है ।

२ वायुः (वायुः प्राणो भूत्वा नासिके प्राविशत्)=वायु प्राण का रूप धारण करके नासिका द्वारा अंदर प्रविष्ट हुआ है । और यह प्राण एकादश विध होकर सब शरीरमें व्यापता है ।

३ सूर्यः (सूर्यः चक्षुर्भूत्वा अक्षिणी प्राविशत्) = सूर्य नेत्रेन्द्रिय बनकर आंखोंमें प्रविष्ट हुआ है ।

४ चन्द्रः (चन्द्रमा मनो भूत्वा हृदयं प्राविशत्)=चंद्र देव मनका रूप धारण करके हृदयमें आ वसा है ।

५ आपः (आपो रेतो भूत्वा शिश्नं प्राविशन्) = जल रेत बन कर शिश्नके स्थानपर बसा है।

ये पांच देव इन पांच रूपोंमें अपने आपको ढाल कर मनुष्यके देहमें आकर इन स्थानोंमें बसे हैं। यह बात विशेष विस्तार पूर्वक ऐतरेय उपनिषद्में लिखी है, वहांही पाठक देखें। यहां जो वाक्य ऊपर लिये हैं वे ऐतरेय उपनिषद् (ऐ०उ० १।२) मेंसेही लिये हैं। इन वाक्योंके मननसे पता लगेगा कि इन देवोंका शरीरमें निवास कहां है। अब ये अर्थ लेकर पूर्वोक्त मंत्रोंके अर्थ देखिये—

सूक्त १९ =[अग्नि=वाणी]=हे वाणी ! जो तेरे अंदर तप है उस तपसे उसको तप्त कर जो हमारा द्वेष करता है। तथा जो तेरे अंदर हरण शक्ति है, उससे उसीके दोष हरण कर, जो तेरे अंदर दीपन शक्ति है उससे उसीका अंतःकरण प्रकाशित कर, जो तेरे अंदर शोधक गुण है उससे उसकी शुद्धी कर और जो तेरे अंदर तेज है उससे उसीको तेजस्वी बना ॥ १—५ ॥

सूक्त २० = [वायु=प्राण] = हे प्राण ! जो तेरे अंदर तप, दोष-हरण-शक्ति, दीपन शक्ति, शोधन शक्ति और तेजनशक्ति है, उन शक्तियोंसे उसके दोष दूर कर कि जो हम सबका द्वेष करता है ॥ १-५ ॥

इसी प्रकार अन्यान्य सूक्तोंके विषयमें जानना योग्य है। प्रत्येक की पांच शक्तियां हैं और उनसे जो शुद्धता होनी है, उसका मार्ग निश्चित है, वह इस अर्थसे अब स्पष्ट होचुका है। जो बाह्य देवताएं हैं उनके अंश हमारे अंदर विद्यमान हैं; उन अंशोंकी अनुकूलता प्रतिकूलतासे ही मनुष्यका सुधार या असुधार होता है। यह जानकर इस रीतिसे अपनी शुद्धता करनेका यत्न करना चाहिये, तथा जो द्वेष करनेवाले दुर्जन होंगे उनके सुधारका भी इसी रीतिसे यत्न करना योग्य है।

शुद्धिकी रीति।

शुद्धिकी रीति पंचविध है अर्थात् पांच स्थानोंमें शुद्धि होनी चाहिये तब दोषयुक्त मनुष्यकी शुद्धता हो सकती है। इसका संक्षेपसे वर्णन देखिये—

१ वाणीका तप-सबसे पहिले वाणीका तप करना चाहिये। जो शुद्ध होना चाहता है या जिसके दोष दूर करने हैं, उसको सबसे प्रथम वाणीका तप करना चाहिये। सत्य भाषण, मौन आदि वाणीका तप प्रसिद्ध है। वाणीके अंदर जो दोष होंगे उनको भी दूर करना चाहिये। वाणीमें प्रकाश या प्रसन्नता लानी चाहिये, जो बोलना है वह सावधानीसे परिशुद्ध विचारों से युक्त ही बोलना चाहिये। इस प्रकार वाणीकी शुद्धता करनेका

यत्न करनेसे वाणीका तेज अर्थात् प्रभाव बहुत बढ जाता है और हरएक मनुष्य उसके शब्द सुननेके लिये उत्सुक हो जाता है। (सू० १९)

२ प्राणका तप—प्राणायामसे प्राणका तप होता है जिस प्रकार धोंकनीसे वायु देनेसे अग्नीका दीपन होता है उसी प्रकार प्राणायामसे शरीरके नसनाडीयोंकी शुद्धता होकर तेज बढ जाता है, शरीरके दोष दूर हो जाते हैं, प्रकाश बढता है, शोधन होता है और तेजस्विताभी बढजाती है। इस अनुष्ठानसे मनुष्य निर्दोष होता है। (सू. २०)

३ आंखका तप—आंख द्वारा दुष्ट भावसे किसी ओर न देखना और मंगलभावनासे ही अपनी दृष्टिका उपयोग करना नेत्रका तप है। पाठक यहां विचार करें कि अपने आंखसे किस प्रकार पाप होते रहते हैं और किस प्रकार पतन होता है। इस से बचनेका यत्न हरएक को करना चाहिये। इसी तरह अन्यान्य इंद्रियोंका संयम करना भी तप है जो मनुष्यकी शुद्धता कर सकता है। अपने इंद्रियोंको बुरेपथसे हटाना और अच्छे पथ पर चलाना बडा महत्त्व पूर्ण तप है। इसीसे दोष हटते हैं, शोधन होता है और तेज भी बढता है।(सू० २१)

४ मनका तप—सत्य पालन करना मनका तप है। बुरे विचारोंको मनने हटाना भी तप है। इस प्रकारके मनके तप करनेसे मनके दोष दूर हो जाते हैं, मन पवित्र होता है और शुद्ध होकर तेजस्वी होता है। (सू० २२)

५ वीर्यका तप-(ब्रह्मचर्य) शिस्न इंद्रियका, वीर्यका अथवा काम का तप ब्रह्मचर्य नामसे प्रसिद्ध है। ब्रह्मचर्यसे सब अपमृत्यु दूर होते हैं और अनन्त प्रकारके लाभ होते हैं रोगादि भय दूर होते हैं और निसर्गका आरोग्य मिलता है। ब्रह्मचर्य के विषयमें सबलोग जानते ही हैं इसलिये इसके संबंधमें अधिक लिखनेकी आवश्यकता नहीं है। ब्रह्मचर्य सब प्रकारसे मनुष्यमात्र के उद्धार का हेतु है। (सू. २३)

अग्नि (वाणी), वायु (प्राण) सूर्य (नेत्र आदि इंद्रिय), चन्द्रमा (मन), आपः (वीर्य) इन देवोंके आश्रयसे मनुष्य की शुद्धि होनेका मार्ग यह है। प्रत्येक देवता की पांच शक्तियोंसे मनुष्यके दोष हटजाते और उसमें गुण बढते जाते हैं। इस प्रकार क्रमशः मनुष्य शुद्ध होता हुआ उन्नत होता जाता है।

द्वेष करना।

इन सूक्तोंके प्रत्येक मंत्रमें कहा है कि, जो (द्वेष्टि) द्वेष करता है, उसकी शुद्धता तप आदि द्वारा करना चाहिये। दूसरोंका द्वेष करना इतना बुरा है ! इससे अधिक बुरा और कोई कार्य नहीं है। यह सबसे बडा भारी पतन का साधन है।

आज कल अखबारों और मासिकोंमें देखिये दूसरों का द्वेष अधिक लिखा जाता है

और उन्नतिका सच्चा मार्ग कम लिखा जाता है। दो चार मित्र इकट्ठे बैठे या मिले तो उनकी जो बात चीत शुरू होती है, वह भी किसी आत्मोन्नतिके विषयपर नहीं होती, परंतु किसी न किसीकी निन्दा ही होती है। पाठक अपने अनुभव का भी विचार करेंगे तो उनको पता लग जायगा कि मनुष्य जितना कुछ बोलता है उनमेंसे बहुतसा भाग दूसरेकी निन्दा या दूसरेका द्वेष होता है। मनुष्योंके अवनतिका यह प्रधान कारण है। यदि मनुष्य यह द्वेष करना छोडदे, तो उसका कितना कल्याण हो सकता है। परंतु दूसरेका द्वेष करना बडा प्रिय और रोचक लगता है, इसलिये मनुष्य द्वेषही करता जाता है और गिरता जाता है।

इसलिये इन पांच सूक्तों के प्रत्येक मंत्र द्वारा उपदेश दिया है कि " जो (द्वेष्टि) द्वेष करता है, उसकी शुद्धि तप आदिसे होनी चाहिये। " क्योंकि सबसे अशुद्ध यदि कोई मनुष्य होगा तो दूसरोंका द्वेष करनेवाला ही है। यह स्वयंभी गिरता है और दूसरोंको भी गिराता है।

मन जिसका चिंतन करता है वैसा बनता है। यह मनका धर्म है। पाठक इसका स्मरण करें। जो लोग दूसरोंका द्वेष करते हैं वे दूसरोंके दुर्गुणोंका निरंतर मनन करते हैं, इस कारण प्रतिदिन इनके मनमें दुर्गुणों की संख्या बढती रहती है, किसी कारण भी वह कम नहीं होती। पाठक विचार करें कि मनही मनुष्यकी अवस्था निश्चित करता है। जैसा मन वैसा मानव। यह नियम अटल है। अब देखिये, जो मनुष्य दूसरेके दुर्गुणोंका निरंतर मनन करता है उसका मन दुर्गुणमय बनता जाता है। अतः निन्दक मनुष्य दिन ब दिन गिरता जाता है।

इसीलिये द्वेष करनेवालेको पश्चात्ताप आदि तप अवश्य करना चाहिये। और अपनी शुद्धि करना चाहिये। तथा आगेके लिये निन्दावृत्ति छोडना भी चाहिये। अन्यथा धोये हुए कपडोंको फिर कीचडमें फेंकनेके समान दुरवस्थाका सुधार हो ही नहीं सकता।

पाठक इन सब बातोंका विचार करके अपनी परीक्षा करें और अपनी पवित्रता करने द्वारा अपने सुधारका मार्ग आक्रमण करें। जो धर्ममें नव प्रविष्ट या शुद्ध हुए मनुष्य होंगे उनकी सचमुच शुद्धि करनेका अनुष्ठान भी इन सूक्तोंके मननसे ज्ञात हो सकता है। नव प्रविष्टोंकी इस प्रकार अनुष्ठान द्वारा सच्ची शुद्धि करनेका मार्ग उनके लिये खुला होनेसेही उनकी सच्ची उन्नति हो सकती है और वैदिक धर्मकी विशेषता भी उनके मनमें स्थिर हो सकती है। पाठक इन सब बातोंका विशेष विचार करें और इन वैदिक आदेशोंसे लाभ उठावें।

डाकुओंकी असफलता।

[२४]

(ऋषिः— ब्रह्मा। देवता—आयुष्यम्)

शेरभक शेरभ पुनर्वो यन्तु यातवः पुनर्हेतिः किमीदिनः।
यस्य स्थ तमत्त यो वः प्राहैत्तमत्त स्वा मांसान्यत्त॥ १॥
शेवृधक शेवृध पुनर्वो यन्तु०।०॥ २॥
म्रोकानुम्रोक पुनर्वो यन्तु०।०॥ ३॥
सर्पानुसर्प पुनर्वो यन्तु०।०॥ ४॥
जूर्णि पुनर्वो यन्तु यातवः पुनर्हेतिः किमीदिनीः।०॥ ५॥
उपब्दे पुनर्वो यन्तु०।०॥ ६॥
अर्जुनि पुनर्वो यन्तु०।०॥ ७॥
भरूजि पुनर्वो यन्तु यातवः पुनर्हेतिः किमीदिनीः।
यस्य स्थ तमत्त यो वः प्राहैत्तमत्त स्वा मांसान्यत्त॥ ८॥

अर्थ— हे (शेरभक शेरभ) वध करनेवाले! हे (किमीदिनः) लुटेरे लोगो! (वः यातवः) तुम्हारे अनुयायी और तुम्हारे (हेतिः) शस्त्र (पुनः पुनः यन्तु) लौटकर वापस जांय। (यस्य स्थ) जिसके साथी तू हो (तं अत्त) उसको खाओ। (यः वः प्राहैत् तं अत्त) जो तुम्हें लूटके लिये भेजता है उसीको खाओ अथवा (स्वा मांसानि अत्त) अपनाही मांस खाओ॥ १॥ हे (शेवृधक शेवृध) घातपात करनेवाले ०।०॥ २॥ (हे म्रोक अनुम्रोक) हे चोर और चोरोंके साथी! ०।०॥ ३॥ हे (सर्प अनुसर्प) हे सांपके समान छिपके हमला करनेवाले! ०।०॥ ४॥ हे (जूर्णि) विनाशक! ०।०॥ ५॥ हे (उपब्दे) चिल्लानेवाले! ०।०॥ ६॥ हे (अर्जुनि) दुष्ट मनवाले! ०।०॥ ७॥ हे (भरूजि) नीच वृत्तिवाले! तुम सबके (यातवः) अनुयायी और (हेतिः) शस्त्र तथा (किमीदिनीः) लूट करने

वाले जो हों सब तुम्हारे पास ही (पुनः यन्तु) वापस चले जांय । जिसके अनुयायी तुम हो (तं अत्त) उसीको खाओ जो तुम्हें भेजता है उसीको खाओ, अथवा अपना ही मांस खाओ ॥ ८ ॥ (परंतु किसी दूसरेको कष्ट न दो।)

भावार्थ- जो दुष्ट मनुष्य अथवा घातपात करनेवाले मनुष्य होते हैं वे शस्त्रास्त्रोंसे सज्ज होकर अपने अनुयायियोंके साथ दूसरोंपर हमला करके लूटमार करते हैं और सज्जनोंको सताते हैं। राजाकी सुव्यवस्थासे ऐसा प्रबंध किया जावे कि इन दुष्टोंमेंसे कोई भी किसी दूसरे सज्जनोंको लूट न सके। इनके अनुयायी कृतकारी न होते हुए वापस लौट जाय, इनके शस्त्र व्यर्थ हों, ये डाकूसंघ भूखे मरने लगें। ये लोग कहीं भी सफलता को प्राप्त न कर सकें। विफल मनोरथ होते हुए ये डाकू आपसमें मार पीट करके एक दूसरेको खा कर स्वयं ही नष्ट हो जांय ॥ १-८ ॥

दुष्ट लोग।

नगरमें सज्जन नागरिक रहते हैं और जङ्गलोंमें डाकू चोर लुटेरे रहते हैं। ये डाकू रात्रीके या दिन के समय नगरों पर हमला करते हैं और लूटमार करके भाग जाते हैं। इस प्रकार लूट मार पर ये अपना निर्वाह करते हैं।

राजाका सुराज्यका प्रबंध ऐसा हो कि ये किसी भी समय सफल मनोरथ न हो सकें। सर्वदा इनका हमला निष्फल होवे। प्रतिसमय इनका हमला निष्फल होनेसे ये लोग भूखे मरने लगेंगे। पश्चात् आपसमें लढेंगे और आपसमें लढ कर मर जांयगे। इनके शस्त्रास्त्र जो दूसरोंके लिये थे वेही इन पर गिरेंगे, ये जो दूसरोंके मांस खाते थे वेही अपने मांस खायेंगे, क्यों कि दूसरोंके मांस इनको मिलेंगे नहीं और दूसरोंकी संपत्तियां इनको लूटमारके लिये प्राप्त नहीं होंगी।

राज प्रबंध द्वारा ऐसी व्यवस्था होना और चोर लुटेरे भूखसे मरने लगना ही उन दुष्टोंके सुधारका मार्ग है। ऐसा सुप्रबंध होनेसे डाकू लोग नागरिक बनने लगते हैं और उनको डाकूके व्यवहार से हानि और उत्तम नागरिक बननेसे लाभ प्रतीत होता है। पाठक विचार करें और देखें कि यह भी एक दुष्टोंको सुधारनेका मार्ग है और जो विचार पूर्वक अमलमें लाया जाय तो निःसंदेह लाभ कारी होगा।

पृश्निपर्णी ।

[२५]

(ऋषिः—चातनः । देवता—वनस्पतिः)

शं नो देवी पृश्निपर्ण्यशं निर्ऋत्या अकः ।
उग्रा हि कण्वजम्भनी तामभक्षि सहस्वतीम् ॥ १ ॥
सहमानेयं प्रथमा पृश्निपर्ण्यजायत ।
तयाहं दुर्णाम्नां शिरो वृश्चामि शकुनेरिव ॥ २ ॥
अरायमसृक्पावानं यश्च स्फातिं जिहीर्षति ।
गर्भादं कण्वं नाशय पृश्निपर्णि सहस्व च ॥ ३ ॥
गिरिमेनाँ आ वेशय कण्वाञ्जीवितयोपनान् ।
तांस्त्वं देवि पृश्निपर्ण्यग्निरिवानुदहन्निहि ॥ ४ ॥
पराच एनान्प्र णुद कण्वाञ्जीवितयोपनान् ।
तमांसि यत्र गच्छन्ति तत्क्रव्यादो अजीगमम् ॥ ५ ॥

अर्थ— (देवी पृश्निपर्णी नः शं) देवी पृश्निपर्णी औषधी हमारे लिये सुख और (निर्ऋत्यै अ-शं) व्याधियोंके लिये दुःख (अकः) करती है। (हि उग्रा कण्व-जम्भनी) क्योंकि वह प्रचंड रोग बीज-नाशक है। (सहस्वतीं तां अभाक्षि) बलवती उस औषधिका मैं सेवन करता हूं ॥ १ ॥ (इयं प्रथमा सहमाना पृश्निपर्णी अजायत) यह पहली विजयी पृश्निपर्णी प्रकट हुई है। (तया दुर्णाम्नां शिरः वृश्चामि) उस वनस्पतिसे बुरे नामवाले रोगोंका सिर मैं कुचलता हूं (शकुनेः इव) जिस प्रकार छोटे पक्षीका सिर तोडते हैं ॥२॥ हे पृश्निपर्णि ! (अ-रायं) शोभा हटानेवाले, (असृक्-पावानं) रक्त पीनेवाले (यः च स्फातिं जिहीर्षति) जो पुष्टिको रोकता है, उसको तथा (गर्भ-अदं) गर्भ खानेवाले, (कण्वं नाशय) रोगबीजका नाश कर और (सहस्व)

उसको जीतलो ॥ ३ ॥ हे (देवि पृश्निपर्णि) देवी पृश्निपर्णी औषधि ! तू (एनान् जीवितयोपनान्) इन जीवित का नाश करनेवाले (कण्वान्) रोग बीजोंको (गिरिं आवेशय) पहाडपर लेजाओ और (त्वं तान् अग्निः इव अनुदहन्) तू उनको अग्निके समान जलाती हुई (इहि) प्राप्त हो ॥४॥ (एनान् जीवित-योपनान्) इन जीवितका नाश करने वाले (कण्वान् पराचः प्रणुद) रोगबीजोंको अधोमुख से ढकेल दे । (यत्र तमांसि गच्छन्ति) जहां अंधकार होता है (तत्) वहां (क्रव्यादः अजीगमं) मांस भक्षक रोगोंको प्राप्त किया है॥ ५ ॥

भावार्थ—पृश्निपर्णी औषधी मनुष्योंको सुख देती है और रोगोंको ही सताती है; यह रोगबिजोंको दूर करती है, रोगोंको भगाती है, इसलिये इसका सेवन करना योग्य है ॥ १ ॥ इस कार्यके लिये यही मुख्य औषधि है, इससे मानो दुष्ट रोगोंका सिरही टूट जाता है॥ २॥ जो रोग शरीरकी शोभा हटाते हैं, खून कम करते हैं,पुष्टिका नाश करते हैं, गर्भको सुखाते हैं, उन रोगोंका नाश पृश्निपर्णी करती है ॥ ३ ॥ जिनको ये रोगबीज सताते हैं उनको पहाडपर वसाओ और पृश्निपर्णी का सेवन उनसे कराओ जिससे वह पृश्निपर्णी उसके रोग बीजोंको जला देगी ॥ ४ ॥ प्राण नाश करनेवाले इन रोग बीजोंको नीचेके मार्गसे दूर करो । जहां अंधेरा रहता है वहां ही रक्त और मांसका नाश करनेवाले ये रोगबीज रहते हैं ॥ ५ ॥

पृश्निपर्णी ।

इस पृश्निपर्णीको चित्रपर्णी कहते हैं । भाषामें इसको " पीठवन, पीतवन, पठौनी" कहते हैं । इसके गुण ये हैं—

त्रिदोषघ्नी वृष्योष्णा मधुरा सरा ।
हन्ति दाहज्वरश्वासरक्तातिसारतृड्वमीः ॥

भाव. पू. १ भाग. गुडू० वर्ग.

" यह पीठवन औषधि त्रिदोष नाशक, बलवर्धक, उष्ण, मधुर और सारक है, इससे दाह, ज्वर, श्वास, रक्तातिसार, तृष्णा और वमन दूर होता है । " इस वनस्पतिका वर्णन इस सूक्तने किया है । इस सूक्तमें जिन रोगोंके नाश करने के लिये इस औषधि का उपयोग लिखा है उनका वर्णन अब देखिये—

रक्त दोष।

इस सूक्तमें यद्यपि अनेक रोगमूलोंका वर्णन किया है तथापि प्रायः सभी रोगोंका मूल कारण रक्त दोष प्रतीत होता है। इस विषयमें देखिये—

१ असृक् - पावानं — (असृक्) रक्तको (पावानं) जो पीते हैं। अर्थात् जो रक्तको खाजाते हैं। जो रोग रक्तको शरीरमें कम करते हैं, रक्तकी शुद्धता हटाते हैं और रक्तका प्रमाण कम करते हैं, (Animia) पांडुरोग जैसे रोग कि जिनमें रक्तकी मात्रा कम होती है। (मं० ३)

२ अ-रायं-- (राय, रै) का अर्थ श्री, शोभा, कांति, ऐश्वर्य है। शरीरकी शोभा, शरीरका सौंदर्य यहां राय शब्दसे अभीष्ट है। वह इस रोगसे हटता है। शरीरका खून कम और अशुद्ध होनेसे इस पांडु रोग आदिमें शरीरकी शोभा हटजाती है और शरीर मरियलसा होजाता है। (मं० ३)

३ स्फातिं जिहीर्षति— पुष्टि हटाता है। शरीरका मांस कम करता है, शरीरको सुखाता है। शरीर कृश होता जाता है। शरीर का सुडौलपन कम होता है। अर्थात् शरीर क्षीण होता है। (मं०३)

४ गर्भादं (गर्भ-अदं) = गर्भको खानेवाला रोग। माताके गर्भमें ही गर्भको बढने न देनेवाला, सुखानेवाला, अशक्त करनेवाला अथवा गर्भको मृत करनेवाला रोग। (मं० ३)

५ कण्वः— जिस रोगमें रोगी अशक्तताका (कणति) शब्द करते हैं, आहें मारते हैं, हाय हाय करते हैं अथवा किसी प्रकार अपनी अशक्तता व्यक्त करनेवाला शब्द करते हैं। यह नाम रोग बीजका है जिससे पूर्वोक्त रोग ज्ञात होते हैं। (मं० १,३--५)

६ निर्ऋतिः— (ऋति) सरल व्यवहार, योग्य सत्य रक्षाका मार्ग। (निः-ऋतिः) तेढा चाल चलन, अयोग्य असत्य क्षयका मार्ग। इस प्रकारके व्यवहारसे उक्त रोग होते हैं। (मं० १)

७ दुर्नामा— (दुः--नामा) दुष्ट यश वाला रोग। अर्थात् जो रोग दुष्ट व्यवहार से उत्पन्न होते हैं। (मं०२)

ये सात शब्द रोगोंके लक्षण बता रहे हैं अंतिम (६ निर्ऋति, ७ दुर्नामा) ये दो शब्द रोगोत्पत्तिका कारण बता रहे हैं। अर्थात् ब्रह्मचर्यादि सुनियमोंका पालन न करने आदि तथा दुष्ट दुराचारके व्यवहार करनेसे रक्त दोष हुआ करता है और पाण्डु रोग, क्षय

*

रोग आदि होते हैं। ये दो कारण बता कर इस सूक्तने पाठकोंको सावध किया है कि वे इन घातक रोगोंसे अपना बचाव करें। अर्थात् जो लोग ब्रह्मचर्यादि सुनियम पालन करेंगे और धर्माचार से रहेंगे वे इन रोगोंसे बच सकते हैं।

रोगका परिणाम।

इन रोगोंका परिणाम कितना भयानक होता है यह बात यहां बतायी है देखिये—

जीवित-योपनः॥ (मं. ४—५)

"जीवित का नाश करनेवाला यह रोग है।" खून बिगडकर पांडुरोग क्षयरोग रक्तपित्त आदि रोग हुए तो उन से जीवित नष्ट होने की ही संभावना रहती है। ये रोग बडे कष्ट साध्य होते हैं। इसलिये अपने आपको बचाना ही योग्य है।

उत्पत्तिस्थान।

इन रोग बीजोंका उत्पत्तिस्थान भी इस सूक्तने स्पष्ट शब्दों द्वारा कहा है, देखिये-

तमांसि यत्र गच्छन्ति
तत्क्रव्यादो अजीगमम्॥ (मं. ५)

"जहां अंधकार रहता है, ऐसे स्थानोंमें रक्त मांस खाने वाले ये रोग बीज प्राप्त होते हैं।" जहां सदा अंधेरा रहता है। जहां वायु नहीं पहुंचता, जहां सूर्य प्रकाश नहीं जा सकता, ऐसे अंधेरे स्थानोंमें इन रोग बीजोंकी उत्पत्ति होती है अथवा ऐसे स्थानोंमें ये रोग बीज होते हैं। अर्थात् जो लोग सदा अंधेरे कमरोंमें निवास करते हैं, स्वच्छ वायु वाले कमरोंमें नहीं रहते,सूर्य प्रकाश न पहुंचनेवाले कमरोंमें रहते हैं। अथवा जिनके निवास गृह ऐसे हैं उनको ये रोग होते हैं। परंतु जो लोग स्वच्छ वायुवाले स्थानमें तथा सूर्य प्रकाश प्रतिदिन आनेवाले स्थानोंमें निवास करते हैं उनको ये रोग कष्ट नहीं पहुंचा सकते। इसलिये पाण्डुरोग क्षय आदि खून तथा मांस कम करनेवाले रोगोंसे बचाव करनेके लिये सूर्य प्रकाश और शुद्ध वायु जहां परिपूर्ण हो ऐसे परिशुद्ध स्थानोंमें निवास करना चाहिये।

बचावका उपाय!

रोग होने के पश्चात् बचावका उपाय इस सूक्तने कहा है वह अब देखिये—

जीवितयोपनान् एनान् कण्वान्।
गिरिं आवेशय॥ (मं० ४)

"जीवितका नाश करनेवाले ये रोगबीज जिनके अंदर प्रविष्ट हुए हों अर्थात् जिन

को ये रोग होगये हैं, उनको पहाडपर लेजाओ।" पहिली बात यह है कि ऐसे रोगियों को उत्तम वायुवाले पर्वतके उत्तम स्थानपर ले जाओ। यह सबसे उत्तम उपाय है। इन रोगियोंको नगरोंमें मत रखो, जन समूहोंमें मत रखो, परंतु पहाडपर ले जाओ। क्योंकि रोगबीज अंधेरे शुद्धवायुहीन और सूर्य प्रकाशहीन स्थानोंमें उत्पन्न होते हैं, इसलिये इन रोगबीजोंका नाश भी ऐसे स्थानोंमें होना संभव है कि जहां विपुल प्रकाश शुद्धवायु और अंधेरा न हो। नगरोंमें मकान पास पास होनेके कारण वहांका वायु योग्य नहीं होता, अतः रोगीको पहाडपर ले जानाही योग्य है। इस मंत्र में प्राणनाशक रोग बीज (जीवितयोपन कण्व) को पहाड पर लेजाने को कहा है, उसका अर्थ उक्त रोग बीजवाले रोगियोंको पहाडपर लेजाना है। क्योंकि आगे इसी मंत्रमें रोगीके लिये औष-धि प्रयोगभी लिखा है, देखिये—

देवि पृश्निपर्णि ! त्वं तान् अग्निः इव
अनुदहन् इहि ॥ (मं० ४)

"यह दिव्य औषधि पिठवन उन रोगबीजोंको अग्निके समान जलाती हुई प्राप्त हो-गी।" अर्थात् पहाडपर गये उक्त रोगियोंको इस औषधिका सेवन करानेसे उनके अंदर प्रविष्ट हुए सब रोगबीज जल जायंगे और रोगबीज दूर होनेसे रोगी आरोग्य पूर्ण होगा। क्योंकि—

इयं प्रथमा पृश्निपर्णी सहमाना अजायत। (मं० २)

"यह पहली पिठवन विजयी होती है।" किंवा रोगपर विजय प्राप्त करनेके लिये यह सबसे (प्रथमा) मुख्य औषधि है। इसके सेवनसे निःसंदेह विजय प्राप्त होगा और रोगबीज दूर होंगे।

कण्वजम्भनी उग्रा हि
तां सहस्वतीं अभक्षि ॥ (मं० १)

"यह रक्त सुखानेवाले रोगका नाश करनेवाली अत्यंत प्रचण्ड औषधि है। इसका सेवन (सहस्वती) वीर्यवती या बलवती होनेकी अवस्थामें ही करना चाहिये।" इस कारण भी रोगीका पर्वत पर होना आवश्यक है, क्यों कि योग्य समयमें ताजी वनस्पति पर्वत परसे ही निकालकर तत्काल उसका सेवन कराया जा सकता है। वहांसे वनस्पति उखाडकर नगरमें आनेतक वह रसहीन होना संभव है।

देवी पृश्निपर्णी नः शं
निर्ऋत्या अ-शं अकः ॥ (मं० १)

" यह दिव्य औषधी पीठवन मनुष्यको सुख देती है और रोगोंको ही दुःख देती है।" अर्थात् रोगोंको जडसे हटाती है तथा-

तया अहं दुर्णाम्नां शिरः वृश्चामि। (मं० २)

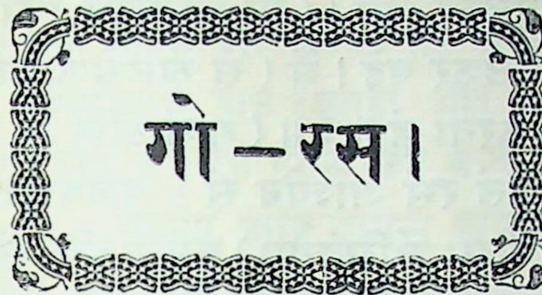
" इस औषधिसे मैं इन दुष्ट रोगोंका नाश करता हूं।" मानो इनका सिर ही तोड देता हूं, ताकि ये रोग अपना सिर फिर ऊपर न उठासकें।

जीवित-योपनान् कण्वान्
एनान् पराचः प्रणुद ॥ (मं० ५)

"जीवित का नाश करनेवाले इन रोग बीजोंको नीचेके द्वारसे ढकेल दो।" नीचे मुख करके दूर करनेका अर्थ शौच शुद्धि द्वारा दूर करनेका है। पिठवनमें मल शुद्धि करनेका गुण है। उक्त रोग बीज नष्ट करके उनको मलद्वारसे दूर कर देती है। यह इस वनस्पतिका गुण है।

पृश्निपर्णीके सेवनसे रक्त दोष दूर होगा, शरीरमें रक्त बढने लगेगा, शरीर पुष्ट होने लगेगा, शरीर पर तेज आवेगा, गर्भकी कृशता दूर होकर गर्भ बढने लगेगा, और अन्यान्य लाभ भी बहुतसे होंगे। इसके सेवनका विधि ज्ञानी वैद्योंको निश्चित करना चाहिये।

वेदमें जहांतक हमने देखा है एक औषधि प्रयोग (Single drug systym) ही लिखा है। अर्थात् एकही औषधिका सेवन करना। साथ साथ अनेक औषधियां मिलाकर सेवन करनेका उल्लेख कम है। सेवन के लिये पानीमें घोलना या कदाचित् साथ मिश्रीमें मिलाना यह बात और है, परंतु एक समय रोगीको एकही औषधि सेवनके लिये देना तथा शुद्ध जल वायु, शुद्ध स्थान, सूर्य प्रकाश आदि निसर्ग देवताओंसे ही सहायता प्राप्त करना यह वैदिक चिकित्साकी पद्धति प्रतीत होती है। इसलिये जो पाठक उक्त रोगोंमें इस पीठवनका उपयोग करके लाभ उठाना चाहते हैं वे ज्ञानी वैद्यके निरीक्षणमें इसका प्रयोग करें और लाभ उठावें।



गो-रस।

[२६]

(ऋषिः—सविता। देवता - पशवः।)

एह यन्तु पशवो ये परेयुर्वायुर्येषां सहचारं जुजोष।
त्वष्टा येषां रूपधेयानि वेदास्मिन् तान्गोष्ठे सविता नि यच्छतु ॥ १ ॥
इमं गोष्ठं पशवः सं स्रवन्तु बृहस्पतिरानयतु प्रजानन्।
सिनीवाली नयत्वाग्रमेषामाजग्मुषो अनुमते नि यच्छ ॥ २ ॥
सं सं स्रवन्तु पशवः समश्वाः समु पूरुषाः।
सं धान्यस्य या स्फातिः संस्राव्येण हविषा जुहोमि ॥ ३ ॥
सं सिञ्चामि गवां क्षीरं समाज्येन बलं रसम्।
संसिक्ता अस्माकं वीरा ध्रुवा गावो मयि गोपतौ ॥ ४ ॥
आ हरामि गवां क्षीरमाहार्षं धान्यं१ रसम्।
आहृता अस्माकं वीरा आ पत्नीरिदमस्तकम् ॥ ५ ॥

(इति चतुर्थोऽनुवाकः।)

अर्थ—(पशवः इह आयन्तु) पशु यहां आजावें। (ये परा-ईयुः) जो परे गये हैं। (येषां सहचारं वायुः जुजोष) जिनका साहचर्य वायु करता है। (येषां रूपधेयानि त्वष्टा वेद) जिनके रूप त्वष्टा जानता है। (अस्मिन् गोष्ठे तान् सविता नि यच्छतु) इस गोशालामें उनको सविता बांधकर रखे॥ १ ॥ (पशवः इमं गोष्ठं संस्रवन्तु) पशु इस गोशालामें मिलकर आ जांय। (बृहस्पतिः प्रजानन् आनयतु) बृहस्पति जानता हुआ उनको ले आवे। (सिनीवाली एषां अग्रं आनयतु) सिनीवाली इनके अग्रभागको ले जावे। हे (अनुमते) अनुमते ! (आ जग्मुषः नियच्छ) आनेवालोंको नियममें रख॥ २ ॥ (पशवः अश्वाः उ पूरुषाः सं सं सं स्रवन्तु) पशु, घोडे

और मनुष्यभी मिल जुलकर चलें। (या धान्यस्य स्फातिः सं) जो धान्य की बढती है वह भी मिलकर बढे। मैं (सं स्राव्येण हविषा जुहोमि) मिलानेवाले हविसे हवन करता हूं॥ ३॥ (गवां क्षीरं सं सिञ्चामि) गौओं-का दूध सींचता हूं। (बलं रसं आज्येन सं) बलवर्धक रसको घीके साथ मिलाता हूं। (अस्माकं वीराः संसिक्ताः) हमारे वीर सींचे गये हैं। (मयि गोपतौ गावः ध्रुवाः) मुझ गोपतिमें गौवें स्थिर हों॥ ४॥ (गवां क्षीरं आ हरामि) गौओंका दूध मैं लाता हूं। (धान्यं रसं आहार्ष) धान्य और रस मैं लाता हूं। (अस्माकं वीरा आहृताः) हमारे वीर लाये गये हैं। और (पत्नीः इदं अस्तकं आ) पत्नियां भी इस घरमें लायीं गईं हैं॥ ५॥

भावार्थ— जो पशु शुद्ध जलवायुमें भ्रमणके लिये गये हैं वे मिलकर पुनः गोशालामें आजांय। इनके चिन्होंको त्वष्टा जानता है। सविता उनको गोशालामें बांधकर रखे॥ १॥ सब पशु मिलकर गोशालामें आजांय, जाननेवाला बृहस्पति उनको ले आवे। सिनीवाली अग्रभागको लेचले और अनुमति शेष आनेवालों को नियममें रखें॥ २॥ घोडे आदि सब पशु तथा मनुष्यभी मिल जुलकर चलें और रहें। धान्यभी मिलकर बढे। सबको मिलानेवाले हवन से मैं यज्ञ करता हूं॥ ३॥ मैं गौओंसे दूध लेता हूं तथा बलवर्धक रसके साथ घी को मिलाकर सेवन करता हूं। हमारे वीरों और बालकोंको यही पेय दिया जाता है। इस कार्यके लिये हमारे घर में गौवें स्थिर रहें॥ ४॥ मैं गौओंसे दूध लेता हूं, और वनस्पतियोंसे रस तथा धान्य लेता हूं। हमारे वीरों और बालोंको इकट्ठा करता हूं, घरमें पत्नियां भी लाईं जाती हैं और सब मिलकर उक्त पौष्टिक रसका सेवन करते हैं॥ ५॥

पशुपालना।

घरमें बहुत पशु अर्थात् गौवें, घोडे, बैल आदि बहुत पाले जांय। यह एक प्रकारका धन ही है। आज कल रुपयोंको ही धन माना जाता है, परंतु उपयोगकी दृष्टिसे देखा जाय तो गाय आदि पशु ही सच्चा धन है। इनकी पालना योग्य रीतिसे करनेके विषय में बहुतसे आदेश इस सूक्तके पहले दो मंत्रोंमें दिये हैं। आजकल प्रायः घरमें गौ आदि पशुओंकी पालना नहीं होती है, क्वचित् किसीके घरमें एक दो गौएं होंगी तो बहुत हुआ, नहीं तो प्रायः कोई नागरिक लोग पशु पालते ही नहीं। नगरके लोग प्रायः

दूध आदि मोल ही लेते हैं। इतना रिवाज बदल जानेके कारण इस सूक्तके आदेश व्यर्थ से प्रतीत होंगे। परंतु पाठक जरा अपनी दृष्टि वैदिक कालमें ले जांय और यह देखें कि ऋषिकालमें ऋषिलोगोंके पास हजारहां गौवें होती थीं और उसी प्रमाणसे अन्यान्य पशुभी बहुतसे होते थे। ऐसे घरोंके लिये ये आदेश फलीभूत हो सकते हैं।

भ्रमण और वापस आना।

गाय आदि पशुओंको शुद्ध वायुमें भ्रमण के लिये लेजाना आवश्यक है, उनका संचार शुद्ध वायुमें होनेके विना तथा सूर्य प्रकाशमें उनका भ्रमण होनेके विना न तो उनका स्वास्थ्य ठीक रह सकता है। और न उनका दूध गुणकारी हो सकता है। इसलिये–

येषां सहचारं वायुः जुजोष। (मं० १)

"जिनका साहचर्य वायु करता है" यह प्रथममंत्रका वाक्य गौओंके आरोग्यके लिये उनका शुद्ध वायुमें भ्रमण अत्यंत आवश्यक है यह बात बता रहा है तथा—

ये पशवः परा ईयुः ते इह आयन्तु॥ (मं. १)

"जो पशु भ्रमणके लिये बाहर गये हैं वे मिलकर वापस आजावें" इस मंत्रभागमें भी वही बात स्पष्टतासे है। पशु अपने स्थानसे मिलकर बाहर जांय और मिलकर वापस आजांय। आगे पीछे रहनेसे उनको पुनः ढूंढना होगा। इस कष्टसे बचानेके लिये सब पशु क्रमपूर्वक जांय और सब इकट्ठे वापस आजांय ऐसा जो इस मंत्रमें कहा है वह बहुत उपयोगी आदेश हैं।

जहां हजारों पशु होंगे वहां एक गोपालसे काम नहीं चल सकता। इस कार्य के लिये अपने अपने कार्यमें प्रवीण बहुतसे गोपाल होने चाहियें। उनका वर्णन सविता आदि नामोंसे इस सूक्तमें किया है—

१ त्वष्टा येषां रूपाणि वेद। (मं० १)
२ सविता अस्मिन् गोष्ठे तान् नियच्छतु। (मं० १)
३ बृहस्पतिः प्रजानन् आनयतु॥ (मं० २)
४ सिनीवाली एषां अग्रं आनयतु। (मं० २)
५ अनुमते! आजग्मुषः नियच्छ। (मं० २)

इन मंत्रोंमें देवताओंके नाम प्रत्येक कार्यके लिये आगये हैं। इन शब्दोंके देवता वाचक अर्थ प्रसिद्ध ही हैं, परंतु इनके मूल धात्वर्थ भी यहां देखिये—

१ त्वष्टा—सूक्ष्म करनेवाला, कुशल कारीगर। (त्वक्ष–तनूकरणे)
२ सविता—प्रेरक। (सु–प्रेरणे)। चलानेवाला।

३ बृहस्पतिः--ज्ञानवान्, (बृहस्) बडेका (पति) स्वामी । पुरोहित, निरीक्षक।

४ सिनीवाली—(सिनी) अन्नके (वाली) बलसे युक्त । अन्नवाली स्त्री ।

५ अनु-मतिः—अनुकूल मति रखनेवाली स्त्री ।

इन पांच देवता वाचक शब्दोंके ये मूल शब्दार्थ हैं और इन अर्थोंके साथही ये शब्द यहां प्रयुक्त हुए हैं । ये मूल अर्थ लेकर इन मंत्र भागोंका अर्थ देखिये—

"कुशल कारीगर गाय आदि पशुओंके आकारोंको जानता है। २ प्रेरक उनको गौशाला में क्रम पूर्वक नियममें रखे । ३ उनको जाननेवाला पशुओंको लावे । ४ अन्नवाली स्त्री पशुओंके आगे चले । और ५ अनुकूल कार्य करनेवाली आनेवाले पशुओंके साथ चले।

यहां पशु पालनेके आदेश मिलते हैं । इनका विचार यह है- " (१) पशुओंके पालन कर्ममें एक ऐसा अधिकारी होवे, कि जो पशुओंके सब लक्षण जानता हो, (२) दूसरा कार्य कर्त्ता ऐसा हो कि जो निरीक्षण करके देखे कि सब पशु यथा स्थानपर आगये हैं वा नहीं, तथा उनका अन्य खानपानका प्रबंध ठीक हुआ है वा नहीं, (३) तीसरा निरीक्षक ऐसा होवे कि जो पशुस्वास्थ्य विद्याको अच्छी प्रकार जानने वाला हो, यही पशुओंको लाने लेजानेका प्रबंध देखे, (४) जब पशु घरमें आजांय तो उनको खान पान देनेवाली स्त्री हो जो सबसे आगे जावे, उनके साथ पशुओंको देने योग्य अन्न हो, (५) तथा उसके पीछे चलनेवाली पशुओंके अनुकूल कार्य करनेवाली पीछे पीछे चले।" इस रीतिसे सब पशुओंका योग्य प्रबंध किया जावे । पुरुषोंकी अपेक्षा स्त्रियां प्रेम पूर्वक उत्तम प्रबंध करती हैं इस लिये अंतिम दो कार्योंमें स्त्रियों को नियुक्त करनेकी सूचना वेदने दी है वह योग्य ही है ।

जहां सैंकडों और हजारों गौवें पालीं जाती हों ऐसे स्थानोंमें ऐसा सुयोग्य प्रबंध अत्यंत आवश्यक ही है । आजकल जहां गौवोंका अभाव सा होगया है वहां ऐसे बडे प्रबंध की आवश्यकता नहीं है, यह स्पष्ट ही है । यह आजकलकी प्रगति है जो हमें पुष्टिसे दूर रखती है,इसका पाठक अवश्य विचार करें । जिस घरमें दश पांच गौवें कमसे कम हों उस घरके मनुष्य गोरस खा पीकर कैसे हृष्ट पुष्ट होते हैं और जिस घरमें गौवें नहीं होतीं, उस घरके मनुष्य कैसे मरियलसे होते हैं इसका विचार करनेसे गोपालनेके साथ तन्दुरुस्ती का संबंध कितना घनिष्ठ है इसका पता लग सकता है । यहां तक पहिले दो मंत्रोंका विचार हुआ । तृतीय मंत्रमें सबके मिलजुलकर रहनेसे लाभ होगा यह बात कही है । पशु क्या और मनुष्य क्या सब मिलजुलकर परस्पर उपयोगी होकर अपनी वृद्धि करें, सब मिलकर धान्य प्राप्त करें अर्थात् खेती करके धान्य की उत्पत्ति

करें। इस प्रकार धान्य, वनस्पतिरस और गोरस विपुल प्रमाण में प्राप्त करके उस के द्वारा अपनी पुष्टिको बढाते हुए अपनी उन्नति करें। (मं० ३)

दूध और पोषक रस ।

दूध, दही, मक्खन, घी, छाछ आदि सब प्रकारके गोरस तथा अन्यान्य पोषक रस विपुल प्रमाणमें प्राप्त करने चाहियें, और उनका सेवन भी पर्याप्त प्रमाणमें करना चाहिये, इस विषयमें मंत्र ४ और ५ स्पष्ट शब्दोंद्वारा आदेश दे रहे हैं। इन मंत्रोंमें "वीराः" शब्द है, इस शब्दका प्रसिद्ध अर्थ शूरवीर है, परंतु वेदमें इसका अर्थ, "पुत्र, बालबच्चे संतान" भी है। यहां इन मंत्रोंमें "पत्नी" के साहचर्यके कारण यही अर्थ विशेषतः अभीष्ट है।

"मैं गौओंसे दूध लाता हूं, वनस्पतियोंका बलवर्धक रस और धान्य लाता हूं, घी भी लाया है। घरमें धर्मपत्नियां हैं और बालबच्चे भी इकट्ठे हुए हैं अथवा इष्ट मित्र वीर पुरुष भी जमा हुए हैं, इन सबको इच्छाके अनुसार यह सब खाद्यपेय दिया जाता है। (मं० ४—५)

इन दो मंत्रोंका यह आशय है। "संसिक्ता अस्माकं वीराः" हमारे वीर या बालबच्चोंके ऊपर यह रस सींचा गया,जिस प्रकार वृष्टिमें जानेसे सब भींगजाता है उस प्रकार बालबच्चोंपर दूध घी आदि सब रसोंकी वृष्टि कीगई है। "संसिच्" धातुका अर्थ उत्तम प्रकारसे सिंचन करना, भिगोना है। बालबच्चे दूध दही मक्खन घी, रस आदिमें पूरे पूरे भींग जांय इतना गोरस घरमें चाहिये। हृष्टपुष्टता तो तब आसकती है। वैदिक धर्म वैदिक धर्मीयोंको यह उपदेश दे रहा है कि अपनी गृह व्यवस्था ऐसी करो कि जिससे घरमें इतना विपुल गोरस प्राप्त हो और उसका सेवन करके सब बालक हृष्टपुष्ट हों। आजकल नाना प्रकारकी बीमारियां बढनेका कारण ही यह है कि गोरस न्यून होनेके कारण मनुष्यमें जीवन शक्ति ही कम होगई है। पाठक इसका विचार करें और इस विषयमें जो हो सकता है करके अपनी जीवन शक्ति बढावें। सब अन्य आरोग्य जीवन शक्तिकी वृद्धि होनेसे ही प्राप्त होंगे। गोरक्षण, गोवर्धन तथा गोसंशोधन करनेकी कितनी आवश्यकता है और राष्ट्रीय किंवा जातीय जीवन की दृष्टिसे भी इस विषयकी कितनी आवश्यकता है इसका पाठक विचार करें।

वैदिक आदेश व्यवहारमें लानेका विचार जो लोग कर रहे हैं उनको इस सूक्तका बहुत मनन करना योग्य है, क्योंकि यह आदेश ऐसा है कि इसके व्यवहारमें लाते ही लाभ होने का प्रत्यक्ष अनुभव आवेगा।

*

विजय-प्राप्ति।

(२७)

(ऋषिः --कपिञ्जलः । देवता--१-५ वनस्पतिः, ६ रुद्रः, ७ इन्द्रः ।)

नेच्छत्रुः प्राशं जयाति सहमानाभिभूरसि ।
प्राशं प्रतिप्राशो जह्यरसान्कृण्वोषधे ॥ १ ॥
सुपर्णस्त्वान्वविन्दत्सूकरस्त्वाखनन्नसा । प्राशं० ॥ २ ॥
इन्द्रो ह चक्रे त्वा बाहावसुरेभ्य स्तरीतवे । प्राशं० ॥ ३ ॥
पाटामिन्द्रो व्याश्नादसुरेभ्य स्तरीतवे । प्राशं० ॥ ४ ॥
तयाहं शत्रून्त्साक्ष इन्द्रः सालावृकाँ इव । प्राशं० ॥ ५ ॥
रुद्र जलाषभेषज नीलशिखण्ड कर्मकृत् ।
प्राशं प्रतिप्राशो जह्यरसान्कृण्वोषधे ॥ ६ ॥
तस्य प्राशं त्वं जहि यो न इन्द्राभिदासति ।
अधि नो ब्रूहि शक्तिभिः प्राशि मामुत्तरं कृधि ॥ ७ ॥

अर्थ—(शत्रुः प्राशं न इत् जयाति) प्रतिपक्षी मेरे प्रश्नपर नहीं निश्चयसे विजय प्राप्त कर सकता। क्यों कि तू (सहमाना अभिभूः असि) जयशील और प्रभावशाली है। (प्राशं प्रतिप्राशः जहि) प्रत्येक प्रश्नपर प्रतिवादीको जीत लो। (ओषधे ! अरसान् कृणु) हे औषधे ! तू प्रतिपक्षियोंको नीरस कर॥ १ ॥ (सुपर्णः त्वा अनु अविन्दत) गरुडने तुझे प्राप्त किया है और (सूकरः त्वा नसा अखनत्) सूअरने तुझे नाकसे खोदा है। ॥ २ ॥ (इन्द्रः असुरेभ्यः स्तरीतवे त्वा बाहौ ह चक्रे) इन्द्रने असुरोंसे अपनी रक्षा करनेके लिये तुझे बाहूपर धारण किया था ॥ ३ ॥ (असुरेभ्यः स्तरीतवे) असुरों से बचाव करनेके लिये (इन्द्रः पाटां व्याश्नात्) इन्द्रने इस पाटा वनस्पति को खाया था। ० ॥ ४ ॥ (अहं तया शत्रून् साक्षे) मैं उस वनस्पतिसे शत्रुओंको परास्त करता हूं (इन्द्रः सालावृकान् इव) जैसे इन्द्र भेड

आदिकोंको दूर करता है ॥ ५ ॥ हे (जलाष—भेषज) जलसे चिकित्सा करनेवाले (नील—शिखण्ड) नील शिखा वाले (कर्मकृत् रुद्र) पुरुषार्थी रुद्र! (प्राशं प्रतिप्राशः) प्रत्येक प्रश्नके प्रति प्रतिवादीको (जहि) जीत लो। (ओषधे अरसान् कृणु) हे औषधे! तूं प्रतिपक्षीको शुष्क कर ॥६॥ हे इन्द्र! (यः नः अभिदासति) जो हमें दास बनाना चाहता है (तस्य प्राशं त्वं जहि) उसके प्रश्नको तूं जीत लो (शक्तिभिः नः अधिब्रूहि) शक्तियों के साथ हमें कह और (प्राशि मां उत्तरं कृधि) प्रश्नप्रतिप्रश्नमें मुझे अधिक उत्तम कर ॥ ७ ॥

भावार्थ— मेरे प्रश्नसे प्रतिपक्षी का पराजय होगा। क्यों कि मेरी यह शक्ति जय शालिनी और प्रभावयुक्त है। इसी लिये प्रत्येक प्रश्नसे प्रतिपक्षीका पराभव होगा। औषधि भी प्रतिपक्षियोंको शुष्क बनावे ॥ १ ॥ इस वनस्पतिको गरुडपक्षी प्राप्त करता है और सूअर खोदता है ॥ २ ॥ इन्द्रने यह औषधि असुरोंके पराभव करनेके लिये अपने शरीरपर धारण की थी ॥ ३ ॥ तथा उसीने इसका सेवन भी किया था ॥ ४ ॥ उसीसे शत्रुओं को भगा देता हूं ॥ ५ ॥ हे जल चिकित्सक नील शिखाधारी उत्तम पुरुषार्थी रुद्रदेव! प्रति प्रश्नसे प्रतिवादीको परास्त कर और हे औषधे! तू प्रतिपक्षीको शुष्क बना दे ॥ ६ ॥ हे इन्द्र! जो हमें दास बनानेकी चेष्टा करता है उसको प्रतिप्रश्न में जीत लो, प्रति प्रश्नमें मेरा विजय कर और शक्तियोंके साथ हमें कथन कर ॥ ७ ॥

विजय के क्षेत्र।

एक विजय वाद विवादमें होता है, दूसरा युद्धमें होता है। इन दोनों विजयोंकी प्राप्ति करनेके लिये विभिन्न शक्तियों की आवश्यकता रहती है।

वादी और प्रतिवादी।

प्रश्न करनेवाला " प्राश " अर्थात् वादी होता है और उसके प्रतिपक्षीको " प्रति प्राश्" कहते हैं। " वादी और प्रतिवादी " इन दो शब्दोंके समानही ये " प्राश और प्रतिप्राश" शब्द हैं। पाठक इनमें समानता देखें। पहिला मंत्र तथा आगेभी कई मंत्रोंमें कहा है कि प्रश्न कर्ता यों समझिये कि उत्तर दाता भी अपने पक्षका ज्ञान इतना रखे, और इस प्रकार कुशलतासे प्रश्न करे कि एक दो या थोडेसे प्रश्नोंसे ही प्रतिपक्षीका

मुख फीका पडजाय। कई चतुर लोग ऐसे होते हैं कि वे शांतिसे एक दो प्रश्न ऐस ढंगते पूछते हैं कि उन प्रश्नोंको उत्तर देते देते प्रतिपक्षी स्वयं परास्त हो जाते हैं। अपने विषयका ज्ञान इतना प्राप्त करना और प्रश्न पूछनेका कौशल्य अपनेमें ऐसा बढाना कि जिससे सहज हीमें वाद विवादमें विजय प्राप्त हो सके। इस सूक्तके मंत्र भागोंमें ऐसी तैयारी करनेकी सूचना कई वार दी है। वाद विवादमें विजय प्राप्त करनेका आत्म-विश्वास अपने अंदर हो और किसी प्रकारका संदेह न हो। यह वाद विवादके विजय के विषयमें हुआ।

युद्धमें विजय।

अब दूसरा विजय युद्धमें शत्रुओंपर प्राप्त करनेका है इसमें भी अपनी आवश्यक पूर्व तैयारी करना योग्य ही है। जिस तैयारीसे अपने विजय का निश्चय हो सके और कदापि संदेह न रहे।

दोनों युद्धोंमें पूर्व तैयारी अत्यंत आवश्यक है और जितनी पूर्व तैयारी अधिक होगी उतनी ही विजयकी संभावना अधिक होगी।

पाटा औषधि।

इस सूक्तमें उक्त विजयकेलिये एक औषधि प्रयोग लिखा है। इस औषधिका नाम "पाटा या पाठा" (मं० ४) है इस औषधिके गुण ये हैं—

तिक्ता गुरुरुष्णा वातपित्तज्वरघ्नी।
भग्नसंधानकरी पित्तदाहातीसारशूलघ्नी च। राज नि० व. ६
श्रेयसी मुखवाचिका। कफकण्ठरुजावहा। भावप्र०।

"यह पाटा या पाठा वनस्पति तिक्त, गुरु, उष्ण है, वात पित्त ज्वर नाशक, टूटेहुएको जोडनेवाली, पित्त दाह अतिसार का नाश करनेवाली है। यह श्रेयकारिणी, मुखमें वाणीके दोष दूर करनेवाली, तथा कण्ठकी पीडाको हटानेवाली है।" भाषमें इस पाठा वनस्पतिको 'चक्रपाठा, आकनामी, निमुखा' कहते हैं।

वादविवाद के समय यह वल्ली मुखमें धरनेसे या कण्ठपर बांधनेसे बोलनेके समय कण्ठ उत्तम रहता है और वक्तृत्वसे होनेवाले कष्ट नहीं होते। यह बात भावप्रकाशादि ग्रंथोंमें भी कही है। कण्ठमें कफ होने या अन्य प्रकार शब्द स्फुट न होने आदिके जो कष्ट होते हैं वे इसके प्रयोगसे नहीं होते। इसलिये इस औषधिसे वादविवादमें विजय प्राप्त होनेका वर्णन इस सूक्तमें किया है। इसके अतिरिक्त यह और उत्तेजक होनेसे थकावटभी नहीं होती। इससेभी विजय होनेमें सहायता होती है।

युद्धमें भी यह वनस्पति इस लिये उपयोगी है कि इससे टूटे हुए अवयव जोडे जाते हैं, घाव शीघ्र भर जाते हैं। महाभारतमें भी देखते हैं कि वहांके वीर युद्धसमाप्तिके नंतर कुछ वनस्पति सेवन करते थे तथा शरीरपर लेपन भी करते थे। जिससे रात्री व्यतीत होते ही वीर पुनः युद्ध करनेके लिये सिद्ध होजाते थे। नहीं तो पहिले दिनके युद्धमें घायल हुए वीर दूसरे दिन फिर किस प्रकार युद्ध कर सकते थे, इस शंकाका उत्तर इस वेद मंत्रने बताया है। महाभारतमें कहीं औषधिका नाम नहीं दिया, केवल औषधि जडी बूटी सेवन कीजाती थी इतनाही लिखा है। इस सूक्तने "पाठा" नाम दिया है। ज्ञानी वैद्य इसका अन्वेषण करें। कि यह वनस्पति कौनसी है और उसका उपयोग कैसा किया जाता था।

यह औषधि अपने पास रखना, बाहुपर या गलेमें लटकाना, मुखमें धारण करना अथवा पेटमें सेवन करना उक्त रीतिसे लाभकारी है, देखिये—

१ इन्द्रः बाह्वौ चक्रे। (मं० ३)

२ इन्द्रः पाटां व्याश्नात्। (मं० ४)

इन मंत्र भागोंमें शरीरपर धारण करने और पेटमें सेवन करनेकी बात लिखी है। यदि ज्ञानी वैद्य इस वनस्पतिकी योग्य खोज करेंगे और सेवनविधिका निश्चय करेंगे तो बडे उपकार हो सकते हैं। भारतीय युद्धके समय वीर लोग इसका उपयोग करते थे और लाभ उठाते थे। बाणोंसे रक्त पूरित हुए वीर तथा घोडे सायंकाल इसके सेवन करनेसे पुनः दूसरे दिन युद्ध करनेमें समर्थ हो जाते थे। यदि यह केवल कविकल्पना न होगी और यदि इस मंत्रमें भी वही बात हम देखते हैं तो इसका अन्वेषण होना योग्य है।

शक्तिके साथ वक्तृत्त्व।

सप्तम मंत्रमें एक बात विशेष महत्त्वकी कही है देखिये—

शक्तिभिः अधिब्रूहि। (मं० ७)

"अनेक शक्तियोंको अपने साथ रखकर ही जो बोलना हो सो बोल दो।" अपने पास शक्तियां न रहते हुए बोलना और बडा वक्तृत्व करना कुछ प्रयोजन नहीं रखता, उस शक्तिहीन वक्तृत्वसे कुछ प्रयोजन सिद्ध नहीं हो सकता, इस लिये अपने पास और अपने पीछे कार्यकारिणी शक्ति कितनी है, इसका विचार करके ही जो कुछ वक्तृत्व करना हो तो वह उस शक्तिके प्रमाणसे ही करना योग्य है। अपनी शक्तिसे अत्यधिक किया हुआ वक्तृत्व न शत्रुपर प्रभाव उत्पन्न कर सकता है और नाही अपना बल बढा सकता

है। इसलिये वेदकी यह महत्त्व पूर्ण सूचना पाठक अवश्य स्मरण रखें। तथा—

यः नः अभिदासति तं जहि। (मं० ७)

"जो हमें दास बनाना चाहता है उसे जीत लो।" यह उपदेशभी पूर्वोक्त आदेशके अनुसंधानसे कार्यमें लाया जाय तो बडा लाभ कारी हो सकता है। अपना बल बढाना, उतना ही बोलना कि जितना करके दिखाया जा सकता है, इतना होनेके पश्चात् अपने को दास बनानेवालेका पराभव करना। यह अपनी शक्ति बढाकर अपने कार्यक्षेत्रका विस्तार करनेका योग्य मार्ग है।

अभिदासन का निषेध।

वेद में हम देखते हैं कि अभिदासन का पूर्ण और तीव्र निषेध स्थान स्थानपर किया है। यहां तक यह निषेध है कि "अभिदास" का अर्थ "विनाश" ही माना है। पूर्ण नाश होना और दास बनना यह वेदकी दृष्टिसे एकही बात है। किसी भी अवस्थामें वेद दास-गुलाम-बनना पसंद नहीं करता। पाठक इस बातका यहां मनन करें और धर्म-मयी वीरवृत्ति अपने अंदर बढानेका यत्न करें।

जलचिकित्सक।

षष्ठ मंत्रमें जलचिकित्सक, नीलशिखावाले, पुरुषार्थी रुद्रका वर्णन है। "जलाष-भेषज" शब्द जलचिकित्साका भाव बता रहा है। जलाष का अर्थ जलही है। नील शिखण्डीका अर्थ नील शिखावाले है, यह तरुण जवान आरोग्य पूर्ण मनुष्य का बोध करता है। वृद्धकी शिखा श्वेत होती है, तरुणकी ही नीली या काली होती है। "कर्म-कृत्" शब्द पुरुषार्थीका वाचक है। अपने चिकित्सा कर्म में कुशल। "रुद्र" शब्द का अर्थही (रुद्+द्र) रुलानेवाले रोगोंको हटानेवाला है। ये सब शब्द उत्तम चिकित्सकका भाव बताते हैं। यह चिकित्सक का नाम यहां इसलिये आया है कि यहां युद्धमें व्रणितांग वीरोंको आरोग्य प्राप्त करानेका संबंध है। तथा पाठा औषधिका प्रयोग भी करना है। इसलिये सुविज्ञ वैद्यकी आवश्यकता है।

यह सूक्त जिस विषयका प्रतिपादन कर रहा है वह प्रत्यक्ष अनुभवका विषय है, इस लिये ज्ञानी वैद्योंको ही इसकी प्रत्यक्षता करनेका यत्न करना चाहिये, अन्यथा यह विद्या केवल शब्दों में ही रहेगी।



दीर्घायुष्य प्राप्ति।

[२८]

(ऋषिः— शम्भुः । देवता- जरिमा, आयुः)

तुभ्यमेव जरिमन्वर्धतामयं मेममन्ये मृत्यवो हिंसिषुः शतं ये ।
मातेव पुत्रं प्रमना उपस्थे मित्र एनं मित्रियात्पात्वंहसः ॥ १ ॥
मित्र एनं वरुणो वा रिशादा जरामृत्युं कृणुतां संविदानौ ।
तदग्निर्होता वयुनानि विद्वान् विश्वा देवानां जनिमा विवक्ति ॥ २ ॥
त्वमीशिषे पशूनां पार्थिवानां ये जाता उत वा ये जनित्राः ।
मेमं प्राणो हासीन्मो अपानो मेमं मित्रा वधिषुर्मो अमित्राः ॥ ३ ॥
द्यौष्ट्वा पिता पृथिवी माता जरामृत्युं कृणुतां संविदाने ।
यथा जीवा अदितेरुपस्थे प्राणापानाभ्यां गुपितः शतं हिमाः ॥ ४ ॥
इममग्न आयुषे वर्चसे नय प्रियं रेतो वरुण मित्रराजन् ।
मातेवास्मा अदिते शर्म यच्छ विश्वे देवा जरदष्टिर्यथासत् ॥ ५ ॥

अर्थ— हे (जरिमन्) वृद्धावस्था ! (तुभ्यं एव अयं वर्धताम्) तेरे लिये ही यह मनुष्य बढे । (इमं ये अन्ये शतं मृत्यवः) इसको जो ये सौ अपमृत्यु हैं (मा हिंसिषुः) मत हिंसित करें । (प्र-मनाः माता पुत्रं उपस्थे इव) प्रसन्नमनवाली माता पुत्रको जैसे गोदमें लेती है उसी प्रकार (मित्रः मित्रियात् एनसः एनं पातु) मित्र मित्र संबंधी पापसे इसको बचावे ॥१॥ (मित्रः रिशादसः वरुणः वा) मित्र और शत्रुनाशक वरुण (संविदानौ एनं जरामृत्युं कृणुतां) दोनों मिलकर इसको वृद्धावस्थाके पश्चात मरनेवाला करें। (होता वयुनानि विद्वान् अग्निः) दाता और सब कर्मोंको यथावत् जाननेवाला अग्नि (तत् विश्वा देवानां जनिमा विवक्ति) उसको सब देवोंके जन्मों को कहता है ॥ २ ॥ (ये जाताः उत वा ये जनित्राः) जो जन्मे हैं और जो जन्मनेवाले हैं उन (पार्थिवानां पशूनां त्वं ईशिषे)

पृथ्वीके ऊपर के प्राणियोंका तू स्वामी है। (इमं प्राणः मा, अपानः च मा हासीत्) इसको प्राण और अपान न छोडदें। तथा (मित्राः इमं मा वधिषुः) मित्र इसे न मारें और (मा अमित्राः) शत्रु भी न मारें ॥ ३ ॥ (द्यौः पिता पृथिवी माता संविदाने) द्यौष्पिता और पृथ्वी माता मिलकर (त्वा जरामृत्युं कृणुतां) तुझको वृद्धावस्थाके पश्चात् मरनेवाला करें। (यथा अदितेः उपस्थे) जिससे मातृभूमिकी गोदमें (प्राणापानाभ्यां गुपितः) प्राण और अपानसे सुरक्षित होकर (शतं हिमाः जीवाः) सौ वर्षतक जीवित रह ॥ ४ ॥ हे (अग्ने मित्र वरुण राजन्) अग्ने और मित्र तथा वरुण राजा! (प्रियं रेतः) प्रिय भोग और वीर्य का बल देकर (इमं आयुषे वर्चसे नय) इसको दीर्घ आयुष्य और तेज प्राप्तिके लिये ले जा। हे (अदिते) आदिशक्ति! तू (माता इव अस्मै शर्म यच्छ) माता के समान इसे सुख दे। हे विश्वे देवो! (यथा जरदष्टिः असत्) यह मनुष्य जिससे वृद्धावस्था तक जीवित रहे वैसी सहायता करो ॥ ५ ॥

भावार्थ— मनुष्य पूर्ण वृद्धावस्थातक दीर्घायुषी होवे। बीचमें सेंकडों अपमृत्यु प्रयत्न करनेपरभी इसे न मार सकें। जिस प्रकार अपने प्रियपुत्र को माता गोदमें लेकर प्रेमके साथ पालती है, उसी प्रकार सबका मित्र देव इस पुरुषको मित्र संबंधी पापसे बचावे ॥ १ ॥ शत्रुनाशक मित्र और वरुण ये मिलकर इसको अतिदीर्घ आयुवाला करें। सब चारित्र्य जाननेवाला तेजस्वी देव इसको सब देवताओंके जीवन चारित्र कहे ॥ २ ॥ हे ईश्वर! तू पृथ्वीपर के संपूर्ण जन्मे हुए और जन्मनेवाले सब प्राणियोंका स्वामी है, तेरी कृपासे प्राण और अपान इसे बीचमें ही न छोडें तथा मित्रोंसे या शत्रुओंसे इसका वध न होवे ॥ ३ ॥ द्युपिता सूर्य और मातृभूमि ये दोनों मिलकर इसको अति दीर्घ आयुष्यतक जीवित रखें और यह मनुष्य अपनी मातृभूमिकी गोदमें प्राण और अपानोंसे सुरक्षित होता हुआ सौ वर्षकी दीर्घ आयुतक जीवित रहे ॥ ४ ॥ हे अग्ने वरुण मित्र राजन्! इसको प्रिय भोग और वीर्यका बल देकर दीर्घआयुसे युक्त तेजस्वी जीवन प्राप्त कराओ। आदिशक्ति माता के समान इसे सुख देवे। और अन्यान्य सब देव इसको ऐसी सहायता करें कि यह सुख से अतिदीर्घ आयुष्य प्राप्त कर सके ॥ ५ ॥

दीर्घ आयुष्यकी मर्यादा ।

" शतायु " शब्द दीर्घ आयुष्यकी मर्यादा बता रहा है । इस सूक्तके (मं०४) में भी (शतं हिमाः जीवाः) " सौ वर्षतक जीवो " कहा है इससे सौ वर्षका दीर्घायु प्राप्त करना, इस सूक्तका उद्देश्य है । छोटी आयुके बालक को यह आशीर्वाद दिया जाता है, और सब दिलसे चाहते हैं कि वह सौ वर्षतक जीवित रहे । तथा —

ये अन्ये शतं मृत्यवः ने इमं मा हिंसिषुः । (मं० १)

"जो सेकडों अपमृत्यु हैं वे इसको बीचमें ही न मार सकें ।" अर्थात् सौ वर्षके पूर्व कोई अपमृत्यु इसका नाश न कर सके । बीचमें किसी किसी समय कोई अपमृत्यु इसके पास आ भी गया, तो वह इसके पास सफल मनोरथ न हो सके, यह यहां कहना है । लोग अपनी दीर्घ आयु करनेके लिये ऐसे दृढ व्रती हों,और खान पान भोग व्यवहारादिके नियम ऐसे दक्षतासे पालन करें कि वे बीच हीमें मृत्युके वशमें कभी न चले जांय ।

साधन ।

दीर्घजीवन प्राप्त करनेका साधन चतुर्थ मंत्रमें संक्षेप से कहा है, देखिये—

प्राणापानाभ्यां गुपितः शतं हिमा जीवाः । (मं० ४)

" प्राण और अपानसे रक्षित होता हुआ सौ वर्ष जीओ । " इस मंत्र भागमें दीर्घ जीवन का साधन कहा है । यदि इसका विचार मनुष्य करेगा, तो प्रायः वह दीर्घायु प्राप्त कर सकेगा । प्राण और अपानसे अपनी सुरक्षितता प्राप्त करना चाहिये । अर्थात् प्राणका और अपान का बल अपनेमें बढाना चाहिये । नाभिके ऊपर प्राणका राज्य है और नीचे अपानका राज्य है । ये ही शरीरमें मित्र और वरुण हैं । इनका उल्लेख इसी सूक्तमें अन्यत्र (मं० २ , ५ में) पाठक देख सकते हैं । इसी एक साधनासे मनुष्य दीर्घ आयु प्राप्त कर सकता है ।

इनका कार्य क्षेत्र ।

श्वास और उच्छ्वास रूप प्राणका कार्य हमें प्रत्यक्ष दिखाई देता है । प्राणायामसे इस प्राणका बल बढता है और इनकी सब क्रियाएं भी ठीक प्रकार चल सकती हैं । साधारण भस्रा और उज्जायी प्राणायाम इस अनुष्ठानके लिये पर्याप्त हैं । भस्रा प्राणायाम धोंकनीकी गतिके समान वेगसे श्वास उच्छ्वास करनेसे होता है । यह थोडे समय तक ही होता है । अधिक होने वाला सुगम प्राणायाम उज्जायी है । जो स्वरयुक्त और शांत वेगसे श्वासोच्छ्वास नाकसे करनेसे होता है । श्वासका भी शब्द हो और उच्छ्वास का भी हो । इच्छानुसार कुंभक कियाजावे या न कियाजावे । यह अतिसुगम और सुसाध्य

प्राणायाम है और विना आयास जिस समय चाहे हो सकता है। यह सौम्य होता हुआ भी इस कार्यके लिये अति उपयोगी है।

इस प्रकार प्राणका बल बढानेका अनुष्ठान होनेसे इसी का परिणाम अपान क्षेत्र पर भी होता है। और अपानके कार्य भी उत्तम रीतिसे होने लग जाते हैं। अपानके कार्य मलमूत्रोत्सर्ग और कोष्ठगत वायुका नीचे भागसे गमन आदि हैं, वे इससे होते हैं। अन्यान्य योगसाधन भी सुविज्ञ साधकसे जाने जा सकते हैं।

इस योजनासे प्राण और अपानका बल बढानेसे दीर्घआयु प्राप्त करनेका हेतु सिद्ध हो सकता है। हित मित पथ्य भोजन,संयमवृत्ति, ब्रह्मचर्य आदि जो धर्ममार्गके साधन हैं, वे हरएक अवस्थामें आवश्यक हैं वे सर्व साधारण होनेसे उनका विचार यहां करनेकी आवश्यकता नहीं है। प्राण अपानके बलसे अपने आपको सुरक्षित करना यह एक मात्र अनुष्ठान यहां इस कार्यके लिये इस सूक्तने बताया है और वह योग्य ही है।

ये दोनों कार्य ठीक प्रकार होने लगे, तो शौचशुद्धिके संबंधमें कोई क्लेश नहीं होंगे, भूख उत्तम लगेगी, छातीमें भी कोई कफादिकी बाधा नहीं होगी। इस प्रकार शरीरके सब व्यवहार विना कष्ट होने लगेंगे,तो समझना कि दीर्घायुकी प्राप्ति के मार्गपर अपना पग है। परंतु यदि इनके कष्ट होने लगे तो समझना योग्य है, कि अपना पग दूसरे मार्गपर पडा है। यही तृतीय मंत्रमें कहा है—

इमं प्राणः मा हासीत्, मा अपानः। (मं० ३)

" प्राण अथवा अपना इसे बीचमें ही न छोड दें।" अर्थात् यह मनुष्य सौ वर्षकी पूर्ण आयुतक उत्तम प्रकार जीवित रहे और इसके शरीरमें अन्ततक प्राण और अपान अपना अपना कार्य ठीक रीतिसे करते रहें। जो पाठक अपने स्वास्थ्यके संबंधमें विचार करते हैं उनको अपने अंदरके प्राण और अपानके कार्यका विचार करना चाहिये, क्यों-कि ये कार्य ठीक चलते रहे तो ही शरीरका स्वास्थ्य ठीक रहेगा।

स्वास्थ्य की तथा दीर्घ आयु प्राप्त होने की यह कूंजी है। (प्राणापानाभ्यां गुपितः) प्राण और अपान द्वारा जो सुरक्षित होता है, वह निश्चयसे सौ वर्ष जीवित रहेगा। इसलिये दीर्घायुष्य के इच्छुक लोग अपने शरीरके अंदर इन दोनों बलोंको बढावें।

वध।

प्राण अपान भी बलवान हुए और शरीर स्वास्थ्य भी उत्तम रहा तो भी वध, कतल, अपघात आदि आपत्तियां हैं जिन से मनुष्यकी मृत्यु हो सकती है। धर्मयुद्धादि प्रसंग छोड दिये जांय, क्यों कि वहां जाकर मरना तो धर्म ही होता है, अन्य वधभी कम

नहीं है । परंतु इनको हटाना मनुष्य के स्वाधीन नहीं होता है । कई प्रसंगोंमें अपने अंदर अहिंसा भाव बढाने और सार्वत्रिक प्रेमदृष्टिकी वृद्धि करनेसे घातक लोगों के मन का भी सुधार होता है, परंतु यह सिद्धि योगानुष्ठानसे और दीर्घ आत्मसंयमसे साध्य है । इसलिये सबको यह प्राप्त होना कठिन है । अतः सर्वसाधारणके लाभार्थ ईशप्रार्थना ही एक सुगम साधन है, इसीलिये मंत्र ३ में कहा है कि—

ईशप्रार्थना ।

इमं मित्राः मा वधिषुः मा अमित्राः । (मं० ३)

"हे ईश्वर ! तेरी कृपासे मित्र इसका वध न करें और अमित्र भी न करें ।" तृतीयमंत्र परमेश्वर प्रार्थना विषयकही है, " भूत भविष्य कालके सब प्राणियोंका एक ईश्वर है, सबकी पालना वही करता है, उसी की कृपासे इस मनुष्यका वध न होवे और इसका स्वास्थ्य भी उत्तम रहे ।" यह तृतीय मंत्रका भाव ईश प्रार्थनाका बल प्राप्त करनेकी सूचना देता है । सब चराचर जगत् का पालनहारा परमात्मा है, उसकी भक्ति करनेसे जो श्रद्धाका बल बढता है, वह अपूर्व है। श्रद्धावान् लोग ही उस बलका अनुभव करते हैं। और प्रायः यह अनुभव है कि श्रद्धा भक्तिसे परमात्म भक्ति करनेवाले उपासक उत्तम स्वास्थ्यसे संपन्न होते हैं । इस लिये इस दीर्घायुष्य प्राप्तिके सूक्तमें (त्वं ईशिषे) इस तृतीय मंत्रद्वारा जो ईश भक्तिका पाठ दिया है वह दीर्घआयु प्राप्त करनेके लिये अत्यन्त आवश्यक है । पाठक इस बलसे वंचित न रहें । इस बलके प्राप्त होने पर अन्य साधन लाभकारी हो सकते, हैं, परन्तु इस बलके न होने की अवस्थामें अन्य साधन कितने भी पास हुए तो भी वे इतना लाभ नहीं पहुंचा सकते । पाठक इसका विचार करके ईशभक्तिका बल अपने अंदर बढावें जिससे सब विघ्न दूर हो सकते हैं ।

देवचरित्र श्रवण ।

दीर्घ आयु प्राप्त करनेके लिये श्रवण अथवा पठन देवताओंके चरित्रोंका ही करना चाहिये । देवों अर्थात् देवताके समान सत्पुरुषोंके जीवन चरित्र श्रवण करने चाहिये, उनही ग्रंथोंका पठन करना चाहिये और उनके चरित्रोंकाही मनन करना चाहिये ।

आज कल उपन्यास आदि पुस्तकें ऐसे घृणित कथा कलापों से युक्त प्रकाशित हो रहीं हैं कि जिन के पठन पाठनसे पढनेवालों में रागद्वेष बढते हैं, वीर्य भ्रष्ट होता है, ब्रह्मचर्य टूट जाता है और नाना प्रकारकी आपत्तियां बढ जाती हैं । परंतु ये पुस्तक आज कल बढ रहे हैं, अपने देशमें क्या और इतर देशोंमें क्या हीन

दर्जे के लोग लेखन व्यवसाय में आनेके कारण हीन सारस्वत प्रचलित हुआ है, इससे सब प्रकारकी हानी ही हानी हो रही है, इस से बचने के उद्देश्यसे इस सूक्तने सावधानी की सूचना द्वितीय मंत्रमें दी है, देखिये—

वयुनानि विद्वान् होता अग्निः
तत् विश्वा देवानां जनिमा विवक्ति। (मं०२)

" सब कर्मोंको यथावत् जाननेवाला दाता अग्निके समान तेजस्वी उपदेशक सब देवोंके जीवन चरित्र उसे सुनावे। " यह मंत्र कई दृष्टियोंसे मनन करने योग्य है। इस में सबसे पहिले उपदेशक के गुण कहे हैं, उपदेशक दाता उदार मनवाला होवे, अपने सर्वस्वका (होता) हवन करनेवाला हो, (अग्निः) अग्नि के समान तेजस्वी हो और (वयुनानि विद्वान्) कर्तव्याकर्तव्य को यथावत् जानने वाला हो। इसी प्रकारका प्रबुद्ध उपदेशक लोगों का मार्ग दर्शक बने, लोगोंको धर्म मार्गका उपदेश करे और लोगों को (देवानां जनिमानि) देवताओंके जीवन चरित्र सुनावे। देवोंने अपने जीवन में कैसे शुभ कर्म किये,किस रीतिसे परोपकार किया, जनताका उद्धार कैसा किया, इत्यादि सभी बातें लोगोंको समझा देवे। राक्षसों और पिशाचोंके जीवन चरित्र पढने नहीं चाहिये अपितु देवोंके दिव्य चरित्र ही अपने सामने रखने चाहियें। आदर्श जीवन देवोंका हुआ करता है। राक्षस और पिशाचों, धूर्तों और डाकुओंका जीवन तो न सुनने योग्य होता है। यही उच्च जीवन मनुष्य अपने सामने आदर्शके लिये रखेंगे तो उनके जीवनोंका भी सुधार होगा और उनकी आयु भी बढेगी। आयु बढानेके लिये भी यह एक उत्तम साधन है कि लोग श्रीरामचंद्रका जीवन अपने आदर्शके लिये लें और रावणका जीवन न लें। आजकल की उपन्यासादि पुस्तकें जो मानवी अंतःकरण का ही बिगाड कर रही हैं, उनसे बचने की सूचना यहां वेदने दी है। इसका पालन जितना हो सकता है उतना लाभकारी होगा।

आज कल जो चरित्र मिलते हैं वे मनके विकार बढानेवाले मिलते हैं। संयम शीलता बढानेवाले चरित्र कम हैं। इस लिये सद्ग्रंथ पठन यह एक आजकल दुःसाध्य बात हो रही है। तथापि ऋषियोंकी कृपासे रामायण महाभारत ग्रंथ तथा अन्यान्य ऋषिप्रणीत चरित्र हैं, उनका मनन करनेसे बहुत लाभ हो सकता है। जो लोग इस बातको आवश्यक समझते हैं उनको उचित हैं कि वे ऐसे सच्चरित्र अथवा श्रेष्ठ ग्रंथ निर्माण करें और करावें कि जिनके पठन पाठन से आगामी संतान सुधारके पथपर सुगमतासे चल सकें। अस्तु। इस मंत्र भागने "दिव्यचरित्रोंका श्रवण और मनन "

यह एक साधन दीर्घायुष्य प्राप्तिके लिये कहा है वह अत्यंत आवश्यक है, इस लिये जो दीर्घायु प्राप्त करना चाहते हैं वे ऐसे चरित्रोंकाही मनन करें।

पापसे बचाव। दीर्घ आयुष्य प्राप्त करनेके लिये पापसे अपना बचाव करनेकी आवश्यकता है। पापसे पतन होता है और रोगादि बढ जानेके कारण आयुष्य क्षीण ही होती है, इसलिये इस सूक्तके पहिले ही मंत्रने पापसे बचनेकी सूचना दी है, देखिये-

मित्र एनं मित्रियात् अंहसः पातु। (मं. १)

"मित्र इस मनुष्यको मित्र संबंधी पापसे बचावे।" शत्रु संबंधसे होने वाले पापसे तो बचना ही चाहिये। कई लोग मनसे ऐसा मानते हैं कि मित्र के लिये मित्रके हित साधनके लिये, कुछ भी बुराभला किया जाय तो वह हानिकारक नहीं है। परंतु पाप जो है वह हमेशाही पाप होता है वह किसीके लिये किया जावे, जब पापाचरण होगा तब उसका गिरावटका परिणाम अवश्य ही भोगना होगा। इसलिये जो मनुष्य दीर्घ आयुष्य प्राप्त करनेके इच्छुक हैं उनको अपने आपको पापसे बचना चाहिये। मित्र अपने मित्रको पापकर्म करने से रोके और उसको सीधे धर्म मार्गपर चलाने की सलाह देवे। मनुष्य स्वयंभी विचार करके जाने कि पाप कर्मसे पतन अवश्य होगा, इसलिये हरएक मनुष्य अपना मित्र बने और अपने आपको बुरे मार्गसे बचावे। मनुष्य स्वयंही अपना मित्र और अपना शत्रु होता है इस लिये कभी ऐसा कार्य न करे कि जिससे स्वयं अपना शत्रु समान बन जाय। तात्पर्य यह है कि यदि दीर्घ आयुष्य प्राप्त करना हो तो अपने आपको पापसे बचाना चाहिये। पाप कर्म करते हुए दीर्घ आयुष्य प्राप्त करना असंभव है।

भोग और पराक्रम।

मनुष्यको भोग भी चाहिये और पराक्रम भी करना चाहिये। परंतु भोग बहुत भोगनेसे रोग बढते हैं और वीर्यका संयम करनेसे ही आरोग्य पूर्ण दीर्घ आयु प्राप्त हो सकती है। मनुष्यको भोग प्रिय लगते हैं और भोगोंमें अपने वीर्यका नाश करना साधारण मनुष्यके लिये एक सहज ही सी बात है, इस लिये इसका योग्य प्रमाण होना चाहिये यह बात पंचम मंत्रमें स्पष्ट की गई है, देखिये--

इमं प्रियं रेतः आयुषे वर्चसे नय। (मं० ५)

"इस मनुष्यको प्रिय भोग देकर, तथा वीर्य पराक्रम भी देकर दीर्घ आयुष्यके साथ प्राप्त होनेवाले तेजके लिये ले चलो।" अर्थात् यह मनुष्य अपने लिये प्रिय भोग भी योग्य प्रमाणमें भोगे और वीर्य रक्षण द्वारा पराक्रम भी करे, परंतु यह सब ऐसे सुयोग्य प्रमाणमें हो कि जिससे उसका आयुष्य और तेज बढता जाय। परंतु भोग भोगने और

वीर्यके कार्यमें प्रमाणका अतिरेक कभी न हो, जिससे बीच हीमें अकाल मृत्यु इसके प्राणोंको ले चले। अपना समय भोग और पराक्रमके कार्योंके लिये ऐसा बांटना चाहिये कि भोग भी प्राप्त हों और वीर्यके सब कार्य भी बन जांय, और यह सब दीर्घायु और तेजकी प्राप्तिमें बाधा न डाल सकें। अपने कार्य इस सूचनाके अनुसार करने चाहियें। रेतके योग्य उपयोगसे संतानोत्पत्ति भी होती है, बल भी बढता है, परंतु उसके अतिरेकसे ब्रह्मचर्य नाश द्वारा नाना प्रकारके कष्ट उत्पन्न होते हैं। इसी प्रकार अन्यान्य भोगकी बातोंके विषयमें समझना योग्य है। इस आशय को ध्यान में धारण करके यदि मनुष्य अपना व्यवहार करेंगे तो उनको भोगभी प्राप्त होंगे और दीर्घआयु भी मिलेगा।

देवोंकी सहायता।

१ मित्रः रिशादसो वरुणः संविदानौ जरामृत्युं कृणुतां। (मं० २)
२ द्यौष्पिता पृथिवी माता संविदाने त्वा जरामृत्युं कृणुतां। (मं० ४)
३ अदिते! माता इव शर्म यच्छ। (मं०५)
४ विश्वे देवाः! जरदष्टिः यथा असत्। (मं ५)

" मित्र और शत्रुनाशक वरुण ये दोनों मिलकर इसकी दीर्घ आयु करें॥ द्युलोक और मातृभूमि मिलकर इसकी दीर्घ आयु करें॥ हे अविनाशी आदि शक्ति! तूं माता के समान सुख दे॥ हे सब देवो! इसको पूर्ण आयुवाला अतिवृद्ध करो॥ "

यहां मित्र, वरुण, सूर्य, पृथिवी, अदिति और सब अन्य देव इसकी दीर्घ आयु करने में सहायक हों, यह प्रार्थना की है। इस से स्पष्ट होता है कि दीर्घ आयु चाहनेवाले मनुष्य को इन देवोंके साथ अविरोधी बर्ताव करना चाहिये। यदि इनकी अनुकूलतासे आयुष्यकी वृद्धि होनी है तो उनके साथ विरोध करना योग्य नहीं यह स्पष्ट ही हुआ। सूर्यदेव अपने प्रकाशसे सर्वत्र शुद्धता करता है और हमें दीर्घ आयु देता है, परंतु सूर्य प्रकाशसे वंचित नहीं रहना चाहिये, अन्यथा वह हमें सहायता कैसी पहुंचायेगा? वरुणदेव समुद्रका देव है, समुद्रजल, वृष्टिजल, सामान्य जल उसीके जीवन सागर हैं। यदि मनुष्य इन जलोंसे अपनी निर्मलता करे अथवा अन्य रीतिसे लाभ उठावे तब ही जलदेव वरुणसे लाभ प्राप्त हो सकता है। मातृभूमि की योग्य उपासना करनेसे जो राष्ट्रीय स्वातंत्र्य प्राप्त होता है, उससे मनुष्य कार्यक्षम और दीर्घ जीवी हो सकता है, इसी प्रकार अन्यान्य देवोंका संबंध है जिसका विचार पाठक करें और उनसे लाभ प्राप्त करके दीर्घजीवी बनें।

वैदिक यज्ञ संस्था।

प्रथम भाग। मूल्य १) रु. डा. व्य.।)

इस पुस्तक में निम्न लिखित विषयों का विचार हुआ है—

प्राचीन संस्कृत निबंध।
१-३ पितृ-पशुमीमांसा। लघु-पुरोडाश-मीमांसा।
भाषाके लेख। (ले०-श्री०-पं० बुद्धदेवजी)
४ दर्श और पौर्णमास, ५ अद्भुत कुमार संभव। (ले० -श्री० पं० चंद्रमणिजी) ६ बुद्धके यज्ञ विषयक विचार। (संपादकीय) ७ यज्ञका महत्त्व, ८ यज्ञका क्षेत्र, ९ यज्ञका गूढ तत्त्व, १० औषधियोंका महामख, (ले०-श्री०पं० धर्मदेवजी) ११ वैदिक यज्ञ और पशु हिंसा। (ले०- श्री० पं० पुरुषोत्तम लालजी) १२ क्या वेदोंमें यज्ञों में पशुओंका बलि करना लिखा है?

वैदिक यज्ञ संस्था द्वितीय भाग। मूल्य १) रु. डा. व्य.।)

इस द्वितीय भागमें निम्न लिखित विषयोंका विचार हुआ है- (ले०-श्री. पं. देवशर्माजी विद्यालंकार)

भारतवर्षमें यज्ञकी कमी, यज्ञकी महिमा, यज्ञसे जो चाहे सो प्राप्त कर लो, यज्ञपुरुष का वर्णन. हवन प्रक्रिया, यज्ञशेष और उच्छेष, राजसूय, विश्वजित्, अश्वमेध, गोमेध, सर्वमेध, वाजपेय, पंचमहायज्ञ, यज्ञ संसारकी नाभि है।

पं. बुद्धदेवजी लिखित=संज्ञपन और अवदान।
संपादकीय=नरमेध का वैदिक तात्पर्य।

इतने विषयोंका विचार इस पुस्तकमें हुआ है। प्रत्येक विषयके प्रतिपादनके लिये वेदके अनेक प्रमाण दिये हैं और विषयका प्रतिपादन अति सुगम है। मूल्य १) डा. व्य.।)

वैदिक यज्ञ संस्था तृतीय भाग गोमेध।

इस पुस्तकमें निम्न लिखित विषयोंका विचार हुआ है—

यज्ञमें गोमांस, प्रकरणानुकूल अर्थ विचार, ऋषिपंचमी, वेदका महासिद्धान्त, यज्ञकी पूर्व और उत्तरवेदी, मधुपर्क, कलिवर्ज्यप्रकरण, बृहदारण्यक का वचन, गौके वैदिक नाम, गोमेधका विचार, चरक की साक्षी, विवाहमें गोमांस, अतिथिके लिये गौ, यज्ञमें मांस, अन्त्य यज्ञ, वेदमें अहिंसा, अवध्य गौ और बैल, यज्ञका तत्त्व, गौको खाना। गौ दान लेने का अधिकारी, रक्षक और पाचक, गौका महत्त्व, राष्ट्ररक्षक गौ, गौके लिये सोमरस, सबकी माता गौ।

इत्यादि अनेक विषय इसमें आगये हैं। हरएक विषयका प्रतिपादन करनेके लिये अनेक वेदमंत्रोंके प्रमाण दिये हैं। जो कहते हैं कि "वैदिक समयमें गोमांस भक्षण की प्रथा थी," उनके लिये यह उत्तम उत्तर है। यह पुस्तक पढनेके पश्चात् उक्त विषयमें कोई शंका नहीं रहेगी।

मूल्य १) रु. डा० व्य०।)

मुद्रक तथा प्रकाशक- श्री० दा० सातवळेकर, भारत मुद्रणालय, औंध, (जि० सातारा)

REGISTERED No 1463

ओ३म्

वैदिक धर्म।

वैदिक तत्त्व ज्ञान प्रचारक मासिक पत्र।

संपादक— श्रीपाद दामोदर सातवळेकर.

वर्ष ९

अंक ५

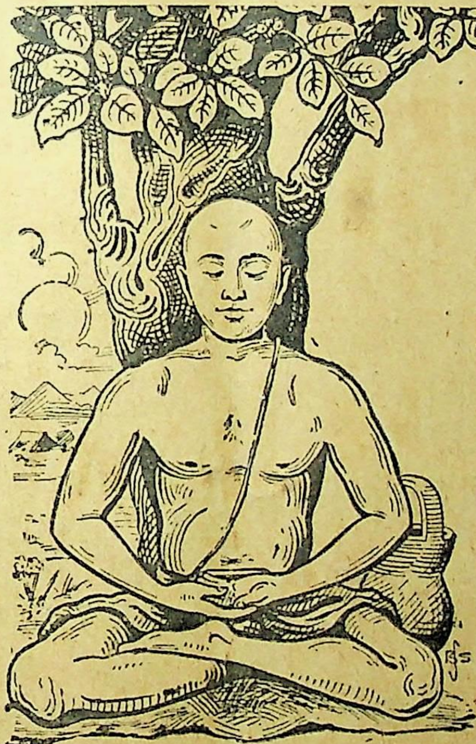
क्रमांक १०१

वैशाख

संवत् १९८५

मई

सन१९२८



वार्षिक मूल्य— म० आ० से ४) वी० पी० से ४॥) विदेशके लिये ५)

विषयसूची।



वर्ष ९
अंक ५
क्रमांक १०१

वैदिक धर्म.

वैशाख
संवत् १९८५
मई
सन १९२८

वैदिक तत्त्वज्ञान प्रचारक मासिक पत्र।
संपादक— श्रीपाद दामोदर सातवळेकर।
स्वाध्याय मंडल, औंध (जि. सातारा)

कल्याणकारिणी गृहिणी

शिवा भव पुरुषेभ्यो गोभ्यो अश्वेभ्यः शिवा।
शिवास्मै सर्वस्मै क्षेत्राय शिवा न इहैधि॥

अथर्व. ३।२८

" पुरुषों के लिये, गौवों के लिये और घोडों के लिये स्त्री (शिवा भव) कल्याणकारिणी होवे। (अस्मै सर्वस्मै क्षेत्राय) इस सब स्थान के लिये स्त्री कल्याणकारिणी होवे। हमारे लिये (शिवा इह एधि) कल्याणकारिणी हो कर यहां आजावे।"

पुरुष, गौवें, घोडे आदिके लिये, घर उद्यान आदि सब स्थान के लिये तथा सब पदार्थमात्र के लिये घरकी स्वामिनी गृहिणी स्त्री कल्याणकारिणी होवे। अर्थात् गृहिणी घरकी ऐसी उत्तम व्यवस्था रखे कि जिससे सब घर कल्याणसे परिपूर्ण हो जावे।

वेदामृत ।

श्रीमती आर्य प्रतिनिधि सभा, गुरुदत्तभवन, लाहौर पंजाब द्वारा "वेदामृत" पुस्तक का द्वितीय संस्करण प्रकाशित हुआ है। पृष्ठ संख्या४३२है और मूल्य केवल २॥) रु. रखा है। प्रथम संस्करण में जो कुच्छ दोष थे उनको दूर करके सुव्यवस्थित रूपमें द्वितीय संस्करण पाठकोंके सन्मुख रखनेका विद्वत्ता-पूर्ण कार्य श्री० स्वा० वेदानन्द (दयानन्द) तीर्थ, मुख्याध्यापक, दयानन्द उपदेशक महाविद्यालय, लाहौर, द्वारा हुआ है। छपाई तथा जिल्द आदि सब अच्छा है। पहलीवार मुद्रित वेदामृत शताब्दी के समय ही समाप्त हुआ था, तत्पश्चात् चारों ओर से वेदामृत की मांग हो रही थी, अब वह पुस्तक तैयार हुआ है। इस लिये जो पाठक वेदामृत पढना चाहते हैं, वे श्रीमती आर्य प्र० सभा पंजाबसे मंगावें।

यजुर्वेद (मूलमात्र)

स्वाध्याय मंडल द्वारा यजुर्वेद (मूलमात्र) छपकर तैयार हुआ है। इसमें पदच्छेद पूर्वक प्रत्येक मंत्र अलग अलग और स्वतंत्र मुद्रित हुआ है, एक मंत्रको दूसरे मंत्रसे अलग दर्शाने के लिये दो मंत्रोंके मध्यमें खुला स्थान छोड दिया है। जिससे मंत्र साफ और खुले दिखाई देते हैं। इस प्रकार का वेद का मुद्रण इस समय तक किसी स्थानपर हुआ नहीं है। इस रीतिका यही पहला मुद्रण है। इसमें काण्द-शाखाके पाठभेद स्वतंत्र परिशिष्टमें दिये हैं, इस परिशिष्टसे कौनसा मंत्र किस संहितामें कहां है इसका ठीक ठीक ज्ञान होता है। ऋषि और देवताओंकी अकारादि क्रमसे और अध्याय क्रमसे भिन्न भिन्न चार सूचियां दी हैं। मंत्रका ऋषि और देवता निश्चय करनेमें बडा परिश्रम किया गया है। इस समय तक तृतीय अध्याय के द्वितीय मंत्रका ऋषि "सुश्रुत" समझा जाता था, परंतु वह "वसुश्रुत" है, इस प्रकार के कई निश्चय इस अन्वेषणसे हुए हैं जो इन सूचियों में पाठक देख सकते हैं। इसका मूल्य निम्नलिखित प्रकार रखा है—

विना जिल्द	१॥) रु.
कागजी जिल्द	२)
कापडी जिल्द	२॥)
रेशमी "	३)

प्रत्येक का डाकव्यय ।।) है; तीनसे अधिक इकठ्ठे मंगाने पर प्रत्येक के लिये ।-) डा. व्य. होगा। जिस प्रकार की जिल्द पाठक चाहते हैं उसके दाम डा. व्य. सहित भेज देंगे तो पुस्तक पाठकोंके नाम रजिस्ट्रीद्वारा भेजा जायगा।

कइ लोग वी. पी. द्वारा मंगवाते हैं और वी. पी. लौटा देते हैं; इसलिये जिन पुस्तकोंपर डा. व्य. अधिक लगता है वैसे पुस्तक वी. पी. द्वारा भेजना हमने बंद किया है।

अथर्ववेद सुबोध भाष्य।

इस अंक में "अथर्ववेदके सुबोध भाष्य" का द्वितीय काण्ड समाप्त हुआ है। आगामी अंकसे अथर्ववेदके सुबोध भाष्य का तृतीय काण्ड प्रारंभ होगा। बहुतसे पाठक लिखते हैं कि यह अथर्ववेद सुबोध भाष्य शीघ्र मुद्रित किया जाय और वैदिक धर्म मासिक में इसके अधिक पृष्ट दिये जांय। हम भी ऐसा करना चाहते हैं, परंतु इस समय वैदिक धर्मके केवल छः सौ ग्राहक हैं, इन से प्राप्त होनेवाले चंदेमें खर्च भुगताभी नहीं जाता इस लिये यदि पाठक ग्राहकोंकी संख्या बढाने में सहायता देंगे तो ही पृष्ठ संख्या बढाना संभव है अन्यथा नहीं।

"संपादक"

दीर्घायु, पुष्टि और सुप्रजा ।

[२९]

[ऋषिः- अथर्वा । देवता- नाना देवताः]

पार्थिवस्य रसे देवा भगस्य तन्वो३ बले ।
आयुष्यमस्मा अग्निः सूर्यो वर्च आ धाद्बृहस्पतिः ॥ १ ॥
आयुरस्मै धेहि जातवेदः प्रजां त्वष्टरधिनिधेह्यस्मै ।
रायस्पोषं सवितरा सुवास्मै शतं जीवाति शरदस्तवायम् ॥ २ ॥
आशीर्ण ऊर्जमुत सौप्रजास्त्वं दक्षं धत्तं द्रविणं सचेतसौ ।
जयं क्षेत्राणि सहसायमिन्द्र कृण्वानो अन्यानधरान्त्सपत्नान् ॥ ३ ॥
इन्द्रेण दत्तो वरुणेन शिष्टो मरुद्भिरुग्रः प्रहितो न आगन् ।
एष वां द्यावापृथिवी उपस्थे मा क्षुधन्मा तृषत् ॥ ४ ॥
ऊर्जमस्मा ऊर्जस्वती धत्तं पयो अस्मै पयस्वती धत्तम् ।
ऊर्जमस्मै द्यावापृथिवी अधातां विश्वे देवा मरुत ऊर्जमापः ॥ ५ ॥
शिवाभिष्टे हृदयं तर्पयाम्यनमीवो मोदिषीष्ठाः सुवर्चाः ।
सवासिनौ पिबतां मन्थमेतमश्विनो रूपं परिधाय मायाम् ॥ ६ ॥
इन्द्र एतां ससृजे विद्धो अग्र ऊर्जां स्वधामजरां सा त एषा ।
तया त्वं जीव शरदः सुवर्चा मा त आ सुस्रोद्भिषजस्ते अक्रन् ॥ ७ ॥

अर्थ — हे (देवाः) देवो ! अग्नि सूर्य और बृहस्पति (अस्यै) इस मनुष्य के लिये (पार्थिवस्य तन्वः भगस्य) पार्थिव शरीरके ऐश्वर्य संबंधी (रसे बले) रस और बलके अंदरसे प्राप्त होनेवाला (आयुष्यं वर्चः) दीर्घ आयुष्य और तेज (आ धात्) देवे ॥ १ ॥ हे (जातवेदः) ज्ञान देनेवाले देव ! (अस्मै आयुः धेहि) इसके लिये दीर्घ आयु दे । हे (त्वष्टः) रचना करनेवाले देव ! (अस्मै प्रजां अधि निधेहि) इसके लिये प्रजा दे । हे (सवितः) प्रेरक देव ! (अस्मै रायः पोषं आ सुव) इसके लिये धन और पुष्टि दे । (तव अयं शतं शरदः जीवाति) तेरा यह बनकर सौ वर्ष जीवित रहे ॥२॥

(नः आशीः) हमारे लिये आशीर्वाद मिले तथा हे (सचेतसौ) उत्तम मनवालो! (ऊर्जं उत सौप्रजास्त्वं) बल तथा उत्तम सन्तान, (दक्षं द्रविणं) दक्षता और धन हमें (धत्तं) दो। हे इन्द्र! (अयं सहसा) यह अपने बलसे (क्षेत्राणि जयं) विविध क्षेत्रों और विजयको प्राप्त (कृण्वानः) करता हुआ (अन्यान् सपत्नान् अधरान्) अन्य शत्रुओंको नीचे दबाता है॥ ३॥ यह (इन्द्रेण दत्तः) प्रभुने दिया है, (वरुणेन शिष्टः) शासकके द्वारा शासित हुआ है, (मरुद्भिः प्रहितः) उत्साही वीरों द्वारा प्रेरित हुआ है और इस कारण (उग्रः नः आगन्) उग्र बनकर हमारे पास आया है। हे (द्यावापृथिवी) द्युलोक और पृथिवि! (वां उपस्थे) आपके पास रहने वाला (एषः) यह (मा क्षुधत्, मा तृषत्) क्षुधा और तृषासे पीडित न हो॥ ४॥ हे (ऊर्जस्वती) हे अन्नवाली! (अस्मै ऊर्जं धत्तं) इसके लिये अन्न दो, (पयस्वती अस्मै पयः धत्तं) हे दूधवाली! इसके लिये दूध दो। द्युलोक और पृथ्वीलोक (अस्मै ऊर्जं अधत्तां) इसके लिये बल देते हैं। तथा (विश्वे देवाः मरुतः आपः) सब देव, मरुत्, आप ये सब इसके लिये (ऊर्जं) शक्ति प्रदान करते हैं॥ ५॥ (शिवाभिः ते हृदयं तर्पयामि) कल्याणमयी विद्याओंद्वारा तेरे हृदयको मैं तृप्त करता हूं। तू (अनमीवः) नीरोग और (सुवर्चाः) उत्तम तेजस्वी होकर (मोदिषीष्ठाः) आनन्दित हो। (सवासिनौ) मिलकर निवास करनेवाले तुम दोनों (अश्विनोः रूपं) अश्वि-देवोंके रूपको और (मायां परिधाय) बुद्धि तथा कर्म शक्तिको प्राप्त होकर (एतं मन्थं पिबतां) इस रसका पान करो॥६॥ (विद्धः इन्द्रः) भक्ति किया हुआ प्रभु (एतां अजरां ऊर्जां स्वधां अग्रे ससृजे) इस अक्षीण अन्न युक्त सुधा को उत्पन्न करता है, देता है। (सा एषा ते) वह यह सब तेरे लियेही है। (तया त्वं सुवर्चाः शरदः जीव) उसके द्वारा तू उत्तम तेजस्वी बनकर बहुत वर्ष जीवित रह। (ते मा आसुस्रोत्) तेरे लिये ऐश्वर्य न घटे (ते भिषजः अक्रन्) तेरे लिये वैद्योंने उत्तम रसयोग बनाये हैं॥ ७॥

भावार्थ— हे देवो! इस मनुष्यको अग्नि सूर्य बृहस्पति आदि देवताओंकी कृपासे ऐसा दीर्घ आयुष्य प्राप्त हो, कि जिसके साथमें पार्थिव ऐश्वर्य युक्त अन्न रस बल तेज और नीरोग जीवन होते हैं॥ १॥ हे देवो! इसको उत्तम सन्तान, ऐश्वर्य युक्त उत्तम पुष्टि, और दीर्घ आयुष्य दो॥ २॥

हे देव! हमें आशीर्वाद दे, हमें बल, सुप्रजा, दक्षता और धन प्राप्त हो। मनुष्य अपने निजबलसे विविध कार्यक्षेत्रोंमें विजय प्राप्त करे, और शत्रुओंको नीचे मुख किये हुए भगा देवे ॥ ३ ॥ यह मनुष्य परमात्मा द्वारा बनाया, गुरुके द्वारा शिक्षित बना, वीरों द्वारा उत्साहित हुआ है, इस लिये यह शूरवीर बनकर हमारे अन्दर आया है और कार्य करता है। मातृभूमि की उपासना करनेवाला यह वीर भूख और प्याससे कभी कष्ट को प्राप्त न हो ॥ ४ ॥ सूर्य पिता और भूमि माता इसको अन्न, रस, बल और ओज देवें। जल आदि सब देव इसकी सहायता करें ॥ ५ ॥ शुभ विद्याओं द्वारा तेरे हृदय को तृप्त करता हूं। तू नीरोग और तेजस्वी बन कर सदा आनंदित हो जाओ। मिलकर रहो और अपना सौंदर्य, अपनी बुद्धि और कर्मकी शक्ति बढाकर इस रसको पीओ ॥ ६ ॥ प्रभुने ही यह बलवर्धक अमृतरस प्रारंभमें उत्पन्न किया है, इसका सेवन करके तेजस्वी और बलिष्ठ बनकर तू दीर्घ आयु की समाप्तितक जीवित रह। तेरी आयुमें ऐश्वर्य की न्यूनता कभी न हो। और तेरे लिये वैद्य लोग उत्तम योग तैयार करें, जिससे तू नीरोग और स्वस्थ रहकर उन्नतिको प्राप्त हो ॥ ७ ॥

रस और बल।

हमारा स्थूल शरीर पार्थिव शरीर कहलाता है, क्योंकि यह पार्थिव परमाणुओंका बना है। पृथ्वीसे उत्पन्न होनेवाले विविध रसोंके सेवनसे इसकी पुष्टि होती है और उक्त रस न मिलनेसे इसकी क्षीणता होती है। अर्थात् शरीर का बल बढाना हो तो पार्थिव रसोंका सेवन करना अत्यंत आवश्यक है। शरीरका ऐश्वर्य, बल, आयुष्य और तेज इस रससेवनपर निर्भर है।

पार्थिव रसका पार्थिव शरीरके संवर्धनमें वह संबंध है इतना माननेसे अग्नि, सूर्य आदि देवताओंका संबंध इससे बिलकुल नहीं है ऐसा नहीं सिद्ध होसकता; क्योंकि अग्निकी उष्णता; सूर्य किरणोंका रसायनगुण और जलका रस इन सबका संमिश्रण हो कर ही पृथ्वीसे रस उत्पन्न होता है। इन सम्पूर्ण देवताओंके अंश इस रसमें होनेसे ही वह रस मानो देवतांशोंका ही रस है। इसलिये उसके सेवनसे देवताओंके सत्वांश का ही सेवन होता है। जिस प्रकार गौ घास खाकर दूध रूपी जीवन रस देती है, इसी प्रकार यह भूमि अपने योग्य पदार्थ सेवन करके धान्य, फल, शाक, कंद, मूल आदि रूपसे रस देती है। पाठक विचार करके देखेंगे तो उनको पता लगजायगा कि

यद्यपि यह रस भूमिसे उत्पन्न होता है, तथापि उसके साथ आप, अग्नि, वायु, सूर्य, चंद्र आदि सब देवोंका घनिष्ठ संबंध है। यदि कोई वनस्पति सूर्य प्रकाशसे वंचित रखी जाय अर्थात् ऐसे स्थानपर रखी जाय कि जहां सूर्य प्रकाश नहीं है, तो वह दुर्बल होजाती है। यह बात देखनेसे पाठक स्वयं जान सकते हैं कि पृथ्वीसे रस उत्पन्न होनेमें सूर्यादि देवोंका भी बडा भारी संबंध है। पाठक यहां अनुभव करें कि, ये सब देव मनुष्य मात्रके लिये अन्नादि भोग तैयार करनेमें कैसे दत्तचित्त होकर कार्य कर रहे हैं!! यही इन देवोंकी पालक शक्ति है, जो प्राणिमात्रका पालन कर रही है।

"अग्नि सूर्य बृहस्पति आदि सब देव पार्थिव ऐश्वर्यके रससे और शारीरिक बलसे उक्त आयुष्य और तेज देते हैं।" यह प्रथम मंत्रका कथन उक्त तात्पर्य बताता है। इस लिये दीर्घायु आरोग्य और बलयुक्त तेज चाहनेवाले लोग सूर्यादि देवोंसे मिलनेवाले लाभ प्राप्त करें और उक्त गुणोंसे युक्त अन्नादि रस लेकर अपना बल बढावें। यह प्रथम मंत्रका बोध है। (मं० १)

शतायु।

द्वितीय मन्त्र कहता है कि " जातवेदसे आयु, त्वष्टासे सुप्रजा, सवितासे पुष्टि और धन प्राप्त करके यह मनुष्य सौ वर्ष जीवित रहता है। " (मं० २) इस मन्त्रमें दीर्घायु प्राप्त करनेकी युक्ति बताई है। जातवेद, त्वष्टा और सविता ये तीन देव हैं कि जिनकी कृपासे दीर्घायु प्राप्त होनी है। इस लिये इनका विशेष विचार करना आवश्यक है—

१ जातवेदः— (जात+वेदस्) जिससे वेद अर्थात् ज्ञान बना है; जिससे ज्ञान का प्रवाह चला है। जिसके पास ज्ञान है और जिससे वह ज्ञान चारों ओर फैलता है। (जातं वेत्ति) जो बने हुए पदार्थ मात्रको जानता है अर्थात् पदार्थ मात्रके गुणधर्मोंको जाननेवाला ज्ञानी। (जातस्य वेदः) उत्पन्न हुए वस्तु मात्र का ज्ञान। इस अर्थमें यह शब्द पदार्थविद्याका वाचक है। किसीभी प्रकार विचार किया जाय तो यह शब्द ज्ञानवाचक स्पष्ट है। मंत्रमें कहा है कि यह आयु देता है, इससे स्पष्ट सिद्ध होता है कि "ज्ञानी अथवा ज्ञानकी सहायतासे आयु बढाई जा सकती है।" यदि आयु बढाना अभीष्ट हो तो वस्तुमात्रका ज्ञान अर्थात् पदार्थ विद्या प्राप्त करना चाहिये और उस विद्यासे अन्नरसादिकोंका योग्य सेवन करके अपनी आयु बढानी चाहिये।

२ त्वष्टा— बारीक करना, बारिकाईसे कार्य करना, कुशलता से कार्य करना, कारीगरीका कार्य करना, इत्यादि कार्य करनेवालेका त्वष्टा नाम है। परमेश्वर सब जगत् का बडा भारी कारीगर है, इस लिये उसको त्वष्टा कहते हैं। अन्य कारीगर भी छोटे

त्वष्टा हैं। "त्वष्टा इस मनुष्यके लिये प्रजा देवे" यह इस मन्त्रभागका कथन है। योग्य सन्तति बनाना इसीके आधीन है, परमात्माकी कृपासे इसको योग्य और उत्तम सन्तति प्राप्त हो। जो मनुष्य कारीगरीके कार्योंमें कुशल होता है, उसमें सुन्दरताका ज्ञान अन्योंसे अधिक होता है, इस लिये ऐसे मनुष्यको अन्योंकी अपेक्षा अधिक सुडौल सन्तान होना सम्भव है। मातापिताके अन्दर सुन्दरताकी कल्पना जितनी अधिक होगी उतनी सुन्दरता अथवा सुडौलपन सन्ततिमें आना सम्भव है। त्वष्टासे प्रजा का सम्बन्ध यह है।

३ सविता— प्रेरणा करनेवाला और रसका प्रदान करनेवाला। सूर्य सबको जगाता है और वनस्पतियोंमें रसका सञ्चार करता है, इस लिये उसका नाम सविता होता है। यह भूमिके ऊपर वनस्पति आदिकोंमें रस उत्पन्न करके प्राणियोंकी (पोषं) पुष्टि करता है और उनकी (रायः) शोभा या ऐश्वर्य भी बढाता है।

इस रीतिसे ये देव मनुष्यकी सहायता करते हैं और इसको दीर्घजीवन देते हैं। मनुष्योंको चाहिये कि वह इससे यह लाभ प्राप्त करें।

अन्न, बल, धन, सुसन्तान और जय।

आगे तृतीय मन्त्रमें मनुष्यकी सम्पूर्ण आकांक्षाओंका वर्णन संक्षेपसे किया है। "हमें अन्न, बल, धन, सुसन्तान और जय प्राप्त हो और शत्रु नीचे दब जांय।" यही सब मनुष्योंकी मनकामना होना स्वाभाविक है। अन्नसे शरीर की भूख शान्त होती है, उससे बल बढता है, धन हर एक व्यवहार का साधक होनेसे सब चाहते ही हैं, इसके पश्चात् वंशविस्तार के लिये सुसन्तानकी अभिलाषा मनुष्य करता है। इसके अनन्तर अपने विजयका इच्छुक होता है। यह प्रायः हरएक मनुष्यकी इच्छा है, परन्तु यह सिद्ध कैसे हो, इसका उपाय पूर्व दो मन्त्रोंमें कहा है। उससे यह सब प्राप्त हो सकता है। इसके साथ साथ ध्यान रखने योग्य विशेष महत्त्वकी बात इस मन्त्रमें कही है; उसको बताने वाला मन्त्रभाग यह है-

अयं सहसा जयं कृण्वानः क्षेत्राणि। (मं० ३)

"यह अपने बलसे विजय करता हुआ क्षेत्रोंको प्राप्त करे।" इस मंत्र भागमें (सहः) अपने अंदर के बलका उल्लेख है। "सहः" नाम है "निजबल" का। जिस बलसे शत्रु का हमला सहाजाता है, जिस बलसे शत्रु का हमला आने पर भी अपना नुकसान कुछभी नहीं होता है, उसका नाम सह है। मनुष्यको यह "सह" संज्ञक बल अपने अंदर बढाना चाहिये। यह बल जितना बढेगा उतना ही विजय प्राप्त होगा और विविध कार्य क्षेत्रोंमें उन्नति हो सकेगी। और इसीके प्रभावसे

शत्रु परास्त होंगे। इसके न होनेकी अवस्थामें अन्य साधनोपसाधन कितने भी पास हुए तो उनका कोई प्रभाव नहीं होगा। इस लिये इस मंत्र भागने जो "सह" संज्ञक बल अपने अंदर बढानेकी सूचना दी है, उसको ध्यानमें धारण करके, वह बल अपने अंदर बढावें और उसके आधारसे अन्न, बल, धन, सुसन्तान आदिके साथ विजय कमावें।

चतुर्थ मंत्रमें कहा है कि यह मनुष्य द्यावापृथिवी के अंदर जो आया है वह "इन्द्रने आज्ञा दिया हुआ, वरुण द्वारा शासित बना हुआ, और मरुतों द्वारा चलाया हुआ आया है, इसलिये यह यहां आकर भूख और प्याससे दुखी न बने।" (मंत्र ४) प्रत्येक मनुष्य अपने आपको इन देवों द्वारा प्रेरित हुआ समझे। अपने पीछे इतने देव प्रेरणा करने और रक्षा करने वाले हैं, यह बात मनमें लानेसे मनकी शक्ति बडी प्रभावशाली बन जाती है। मेरे सहायकारी इतने देव हैं यह विश्वास बडा बल बढाने वाला है। जिस मनुष्य की उन्नति करने के लिये इतने देव कार्य करते हैं, भूमि आप अग्नि सूर्य आदि देव इसके लिये अन्न तैयार करते हैं, बृहस्पति इसे ज्ञान देता है, जातवेदा इसको विद्या देता है, सूर्य तेज देता है, अन्यान्यदेव इसकी अन्यप्रकार की सहायता करते हैं और रक्षा भी करते हैं, क्या ऐसा मनुष्य अपनी शक्तिसे चारों ओर विजय प्राप्त करके अपने शत्रुओंको दूर नहीं कर सकता? कर सकता है, परंतु इसको कटिबद्ध हो कर अपने पांवपर खडा होना चाहिये।

"अन्नवाली भूमि इसे अन्न अर्पण करती है, दूधवाली गौवें इसकेलिये दूध देती हैं, द्यावा पृथिवी इसके लिये बल बढाती हैं और आप देवता इसे वीर्य प्रदान करती है। (मं० ५)

पाठक इसका अनुभव करें। इतनी देवताएं मनुष्यकी सहायता कर रही हैं, कुछ न मांगती हुई सहायता देती हैं। इतनी सहायता परमात्माकी मंगलमयी योजनासे हो रही है! इसके बाद भी यदि मनुष्य अपना बल न बढावे और विजय न संपादन करे; तो फिर दोष किसका हो सकता है? कृपया सब पाठक इसका उत्तर दें और अपना उत्तरदातृत्व जानकर अपना पुरुषार्थ करनेके लिये कटिबद्ध हों। मनुष्य अपनी उन्नतिके लिये कटिबद्ध हुआ तो ये सब देव उसके सहायक होते हैं और उसकी अखंड उन्नति हो सकती है।

हृदयकी तृप्ति।

अन्न प्राप्त हुआ, शरीरका बल भी बढा, संतति भी बहुत हुई, तथा अन्यान्य भोग और ऐश्वर्य भी मिले, तो भी हृदयकी तृप्ति नहीं हो सकती। जबतक हृदयकी तृप्ति नहीं होती तबतक शान्ति भी नहीं मिल सकती। इस लिये पूर्वोक्त मंत्रों द्वारा अभ्युदयका मार्ग बताकर षष्ठ मंत्रमें निःश्रेयसका मार्ग बताया जाता है। हृदयकी तृप्तिका मार्ग यह है—

ते हृदयं शिवाभिः सर्पयामि। (मं० ०६)

"तेरा हृदय मंगल वृत्तियोंसे तृप्त करता हूं।" शिवा शब्द शुभता का वाचक है। जो मंगल मय है वह शिव है, फिर यह भावना हो सकती है, कामना हो सकती है और विद्या भी हो सकती है। कुछभी हो जो शिव है उसीसे हृदयकी सन्तुष्टी होती है, किसी अन्य बातसे नहीं। पाठक यहां अनुभव करलें कि जब कभी बुरा विचार उनके मनमें आता है, तब मन कैसा अशांत होता है और जब कभी शुभ भावना आती है तब मन कैसा प्रसन्न हो आता है। शुभ विचार, शुभ उच्चार और शुभ आचार ही मनुष्यके हृदयका संतोष कर सकता है। इनके मनमें स्थिर होनेसे मनुष्यका हृदय तृप्त शांत और मंगलमय हो जाता है। इस हृदयकी शोभन अवस्थासे मनुष्य दीर्घायु, नीरोग,तेजस्वी, वर्चस्वी, तथा बलवान् होता है और ऐसे शांतिपूर्ण मनुष्यको ही सुसंतान होती है। पाठक यहां देखें कि हृदय की शांतिका महत्त्व कितना है और हृदयकी अशांतिसे हानि कितनी है। यही बात आगेके मंत्र भागमें कही है—

अनमीवाः सुवर्चाः मोदिषीष्ठाः (मं० ६)

" नीरोग और उत्तम तेजस्वी होकर आनन्दित हो" अर्थात् पूर्वोक्त रीतिसे हृदयकी शान्ति स्थिर होनेसे मनुष्य नीरोग और उत्तम तेजस्वी हो कर आनन्दित हो सकता है, इस लिये मनुष्यको उचित है कि वह अपने अंतःकरणको शान्त और मङ्गलमय बनावे और अशान्तिसे दूर रहे। इतनाही नहीं परन्तु अशान्त अवस्था चारों ओर खडी होने पर भी अपना अंतःकरण शान्त और शुभ मंगल कामनाओंसे परिपूर्ण रखे। यह तो अंतःकरण के निश्चलत्व के विषयमें उपदेश हुआ। बाहरका व्यवहार कैसा करना चाहिये इस विषयमें इसी मन्त्रका उत्तरार्ध देखिये-

सवासिनौ मायां परिधाय मन्थं पिबतम्। (मं० ६)

" सब मिलकर एक स्थानपर रहते हुए कौशल्यको धारण करके रस का पान करो" इसमें निम्नलिखित उपदेशबोधक शब्द महत्त्व पूर्ण हैं-

१ स-वासिनौ— एकत्र निवास करने वाले, समान अधिकारसे एक स्थानपर रहनेवाले। उच्चनीच भेदको न बढाते हुए समान विचारसे इकट्ठे रहने वाले। एक प्रकारके आचार व्यवहारसे रहनेवाले।

यह शब्द एकताका बल अपने समाज में बढानेका उपदेश दे रहा है। परस्पर विद्वेष न बढे, परन्तु एकताका बल बढे; यह भाव यहां स्मरण रखने योग्य है।

२ मायां परिधाय— माया का अर्थ कुशलता, हुनर, कर्म करनेकी प्रवीणता,

कौशल आदि प्रकार का है। यह शब्द बुद्धिशक्ति और कर्मशक्तिको समानतया प्रयुक्त होता है। कुशलतासे कार्य करनेकी बुद्धि और शक्ति धारण करने की सूचना इस शब्दद्वारा मिलती है। जगत् का व्यवहार करनेके लिये यह कुशलता अत्यन्त आवश्यक है। कुशलताके विना कार्य करने वाला यशका भागी नहीं हो सकता।

एकता के साथ, समताभावके साथ रहनेवाले और कुशलतासे कार्य व्यवहार करने वाले लोग ही भोगरूपी रस पान करके आनंद प्राप्त कर सकते हैं। पाठक इस आशय को मनमें रखकर इस मंत्रका विचार करें और बोध प्राप्त करें।

स्वधा।

मंत्र ७ में " स्वधा अजर और बलवती है, यह इन्द्रकी बनाई है, इसका सेवन करके तेजस्वी बनकर सौ वर्ष जीओ " यह उपदेश है। यह स्वधा क्या चीज है, इसका विचार करना चाहिये—

" स्व+धा " अपनी धारण शक्तिका नाम स्वधा है। जिस शक्तिसे अपने शरीरके विविध अणु इकठ्ठे रहते हैं उसको स्वधा शक्ति कहते हैं। यह स्वधा शक्ति जितनी मनुष्यमें होती है उतनी ही उसकी आयु होती है। शरीरकी स्वधाशक्ति कम होनेपर कोई औषधि सहायक नहीं होती। जबतक यह स्वधाशक्ति शरीरमें कार्य करती है तब तक ही मनुष्य जीवित रह सकता, बढ सकता और विजय पासकता है। यह स्वधा शक्तिका महत्त्व है। इसके विना मृत्यु निश्चित है। इसी लिये सप्तम मन्त्रमें कहा है कि " यह स्वधाशक्ति अजर है " अर्थात् यह जरा वाली नहीं है, इससे (जरा) बुढापा जलदी नहीं आता, वृद्ध आयुमें भी जवानी रहती है। यह स्वधा (ऊर्जा) बल बढाने वाली है, इसीकी सहायतासे मनुष्य (सुवर्चाः) उत्तम कान्तिवाला तेजस्वी और प्रभाव शाली होता है और (शतं जीव) सौ वर्षकी पूर्ण निरोग आयु प्राप्त कर सकता है।

इस लिये ब्रह्मचर्यादि सुनियमोंका पालन करके तथा आयुष्यगणके सूक्तोंमें कहे उपदेशोंके अनुकूल आचरण करके मनुष्य अपनी स्वधाशक्तिको बढावे और मनुष्यको प्राप्त होने वाले अनेक कार्यक्षेत्रोंमें विजय कमावे तथा इस सूक्तके षष्ठ मन्त्रमें कहे उपदेशानुसार अपने अन्तःकरणको शुभ भावोंसे शान्त और गंभीर बनावे और इह पर लोकमें कृतकृत्य बने। यही —

" नः आशीः "

"हमारेलिये आशीर्वाद मिले" और सर्वत्र निर्वैरता और शान्तिका बडा साम्राज्य हो!

पति और पत्नीका मेल।

[३०]

(ऋषिः- प्रजापतिः। देवता-अश्विनौ)

यथेदं भूम्या अधि तृणं वातो मथायति।
एवा मथ्नामि ते मनो यथा मां कामिन्यसो यथा मन्नापगा असः ॥१॥
सं चेन्नयाथो अश्विना कामिना सं च वक्षथः।
सं वां भगासो अग्मत सं चित्तानि समु व्रता ॥ २ ॥
यत्सुपर्णा विवक्षवो अनमीवा विवक्षवः।
तत्र मे गच्छताद्धवं शल्य इव कुल्मलं यथा ॥ ३ ॥
यदन्तरं तद्बाह्यं यद्बाह्यं तदन्तरम्।
कन्यानां विश्वरूपाणां मनो गृभायौषधे ॥ ४ ॥
एयमगन्पतिकामा जनिकामोऽहमागमम्।
अश्वः कनिक्रदद्यथा भगेनाहं सहागमम् ॥ ५ ॥

अर्थ— (यथा वातः) जैसा वायु (भूम्याः अधि) भूमिपर (इदं तृणं मथायति) यह घास हिलाता है, (एव ते मनः मथ्नामि) वैसाही तेरा मन मैं हिलाता हूं; जिससे तू (मां कामिनी असः) मेरी इच्छा करनेवाली होवे और (यथा मत् अप-गाः न असः) मुझसे दूर जानेवाली न होवे ॥ १ ॥ (हे कामिनौ अश्विनौ) परस्पर कामना करनेवाले दो बलवानो ! (च इत सं नयाथः) मिलकर चलो, (च सं वक्षथः) और मिलकर आगे बढो। (वां भगासः सं अग्मत) तुम दोनों को ऐश्वर्य इकट्ठे प्राप्त हों, (चित्तानि सं) तुम दोनोंके चित्त परस्पर मिलें और (व्रतानि सं) तुम्हारे कर्म भी परस्पर मिल जुल कर हों ॥ २ ॥ (यत्) जहां (विवक्षवः सुपर्णाः) बोलनेवाले सुंदर पंखवाले पक्षी जाते हैं और (विवक्षवः अनमीवाः) बोलनेवाले नीरोग मनुष्य जाते हैं, (तत्र) वहां (मे हवं गच्छतात्) मेरी प्रेरणानुसार जाओ, (यथा शल्यः कुल्मलं इव) जैसा बाण

की नोक निशानेपर जाती है ॥ ३ ॥ (यत् अन्तरं तत् बाह्यं) जो अंदर है वही बाहर है और (यत् बाह्यं तत् अन्तरं) जो बाहर है वही अन्दर है। हे औषधे ! (विश्वरूपाणां कन्यानां) विविध रूपवाली कन्याओंका (मनः गृभाय) मन ग्रहण कर ॥ ४ ॥ (इयं पति-कामा आ अगन्) यह कन्या पतिकी इच्छा करती हुई आयी है और (जनि-कामः अहं आ अगमं) स्त्री की इच्छा करने वाला मैं आया हूं। (अहं भगेन सह आ अगमं) मैं धनके साथ आया हूं; (यथा कनिक्रदत् अश्वः) जैसा हिनहिनाता हुआ घोडा आता है ॥ ५ ॥

भावार्थ- जिस रीतिसे वायु घांस हिलाता है उस रीतिसे मैं तेरा मन हिलाता हूं, जिससे तू मेरे ऊपर प्रीति करनेवाली होकर सदा मेरे साथ रहनेवाली तथा मेरेसे दूर न होनेवाली हो ॥ १ ॥ हे परस्पर प्रेम करनेवाले स्त्री पुरुषो ! तुम दोनों मिलकर चलो, मिल कर आगे बढो, मिलकर ऐश्वर्य प्राप्त करो, तुम दोनोंके चित्त परस्पर मिले रहें और तुम्हारे कर्म भी मिल जुल कर होते रहें॥२॥जहां सुन्दर पङ्खवाले पक्षी शब्द करते हैं और जहां नीरोग मनुष्य भ्रमण करने जाते हैं ऐसे सुंदर स्थानपर तू मेरी प्रेरणासे चल ॥३॥ जो हमारे अंदर है वही बाहर है और जो बाहर है वही अंदर है। मैं निष्कपट भावसे बर्ताव करता हूं और इस निष्कपट आचरणसे मैं विविध रूपवाली कन्याओंका मन आकर्षित करता हूं ॥ ४ ॥ पतिकी इच्छा करने वाली यह स्त्री प्राप्त हुई है और स्त्री की इच्छा करनेवाला घोडेके समान हिनहिनाता हुआ मैं धनके साथ आया हूं। हम दोनोंका इस रीतिसे मेल अर्थात् विवाह हुआ है ॥ ५ ॥

अश्विनी देव।

यह सूक्त विवाह के विषयमें बडे महत्त्वपूर्ण उपदेश दे रहा है। इस सूक्त की देवता "अश्विनौ" है। ये देव सदा युग्ममें रहते हैं, कभी एक दूसरेसे पृथक् नहीं होते। विवाहमें भी स्त्रीपुरुष एकवार विवाह हो जानेपर कभी पृथक् न हों, आमरण विवाह बंधन से बंधे रहें, इस उद्देश्यसे इस सूक्तकी यह देवता रखी है। जिस प्रकार अश्विनी देव सदा इकट्ठे रहते हैं कभी वियुक्त नहीं होते, उसी प्रकार विवाहित स्त्रीपुरुष गृहस्थाश्रम में इकट्ठे रहें और परस्परसे वियुक्त न हों अर्थात् विवाह बंधन तोडकर स्वैर वर्तन करने वाले कभी न बनें।

द्वितीय मंत्रमें " कामिनौ अश्विनौ " कहा है, अर्थात् परस्पर की कामना करनेवाले अश्विनी देव जिस प्रकार एक कार्यमें इकट्ठे रहते हैं; उसी प्रकार विवाहित स्त्रीपुरुष गृहस्थाश्रममें मिल जुलकर रहें और एक दूसरे से विभक्त न हों। यहां " अश्विनी " शब्द "अश्वशक्तिसे युक्त" होनेका भाव बता रहा है। पुरुष गर्भाधान करनेमें समर्थ होनेके लिये वैद्य शास्त्रमें " वाजीकरण " के प्रयोग लिखे हैं। वाजीकरण, अश्वीकरण ये शब्द समानार्थक ही हैं। स्त्रीपुरुष अश्विनी हों, इसका अर्थ वाजीकरणसे प्राप्त होनेवाली शक्ति से युक्त हों, अर्थात् गर्भाधान करनेकी शक्तिसे युक्त पुरुष हो, और गर्भधारण करनेकी शक्तिसे युक्त स्त्री हो। " अश्वि " शब्दका यह श्लेषार्थ यहां पाठक अवश्य देखें। स्त्री पुरुष परस्पर "कामिनौ" अर्थात् परस्परकी इच्छा करनेवाले हों, स्त्री पुरुष की प्राप्ति की इच्छा करे और पुरुष स्त्रीकी प्राप्तिकी इच्छा करे। इस शब्दसे विवाहका समय भी निश्चित हो सकता है। देखिये—

विवाह का समय।

मंत्र पांचमें निम्नलिखित मंत्र भाग आता है, उससे विवाहका काल निश्चित हो सकता है—

इयं पतिकामा आ अगन्।
अहं जनिकामः आ अगमम् ॥ (मं० ५)

" यह स्त्री पतिकी इच्छा करती हुई आगई है और मैं स्त्रीकी इच्छा करता हुआ आया हूं। " यह समय है जो विवाहके लिये योग्य है। स्त्रीके अंदर पतिकी प्राप्तिकी इच्छा और पतिके अंदर स्त्रीकी प्राप्तिकी इच्छा प्रबल होनी चाहिये। इस समय विवाह करना चाहिये। परंतु यहां यहभी संभव माना जा सकता है कि यह गर्भाधानका समय हो। सिर सजावट करनेके पूर्व विवाह करनेकी बात प्रथम काण्ड सूक्त १४ में लिखी है। यदि विवाह पहिले हुआ तो यह समय गर्भाधान का मानना पडेगा। तथापि निश्चय यही प्रतीत होता है कि ब्रह्मचर्य समाप्तिके पश्चात् प्रौढ और गृहस्थाश्रम योग्य स्त्रीपुरुष होनेके पश्चात् ही विवाह करना चाहिये। इस विषयमें इसी मंत्रमें आगे देखिये—

यथा कनिक्रदत् अश्वः।
अहं भगेन सह आगमम् ॥ (मं० ५)

" जैसा हिनाहिनाता हुआ घोडा आता है वैसा मैं धनके साथ आया हूं। " यहां उत्तम तारुण्य और गर्भाधान की अत्युत्तम शक्ति जिसके शरीरमें है ऐसे तरुणका वर्णन है; यही विवाह के लिये योग्य है। विवाह के लिये न केवल तारुण्य और वीर्य की

आवश्यकता है, प्रत्युत (भगं) धनकी भी आवश्यकता है। कुटुंब का पालन पोषण करनेके लिये आवश्यक धन कमानेकी योग्यता पुरुष प्राप्त करे, धन कमाने लगे और तत्पश्चात् विवाह करे; यह बोध यहां मिलता है। पहले ब्रह्मचर्य पालन करे, तरुण बने, वीर्यवान और बलवान हो, धन कमाने लगे और पश्चात् सुयोग्य स्त्रीसे विवाह करे। यह पंचम मंत्रका आशय सतत ध्यानमें धारण करने योग्य है।

द्वितीय मंत्रमें " कामिनौ अश्विनौ " शब्द हैं, इनका आशय इससे पूर्व बतायाही है। "कामिनौ" शब्दका विशेष स्पष्टीकरण पंचम मंत्रके पूर्वार्धने किया है और "अश्विनौ" का स्पष्टीकरण पंचम मंत्रके तृतीय चरण द्वारा हुआ है। यह बात पाठक मनन पूर्वक देखेंगे, तो "अश्विनौ" शब्द यहां उत्तम तारुण्यसे युक्त पतिपत्नीका वाचक है और "अश्व" शब्द वाजीकरण सिद्ध वीर्यवान् पुरुष का विशेषतया वाचक है, यह बात स्वयं स्पष्ट हो जायगी।

पंचम मंत्रमें धन कमानेके पश्चात् विवाह करनेका उपदेश तो विशेष ही मनन करने योग्य है। ' धीः, श्रीः, स्त्रीः ' यह वैदिक क्रम प्रसिद्ध है।

निष्कपट बर्ताव।

स्त्रीपुरुषोंका परस्पर बर्ताव, पतिपत्नीका परस्पर व्यवहार निष्कपट भावसे और हृदय की एकता से ही होना चाहिये। तभी गृहस्थाश्रमी पुरुषों को सुख प्राप्त हो सकता है। इस विषयमें चतुर्थ मंत्रका उपदेश विशेष महत्त्वपूर्ण है—

यदन्तरं तद्बाह्यं, यद्बाह्यं तदन्तरम्। (मं० ४)

"जो अंदर है वही बाहर, और जो बाहर है वही अंदर है।" यह निष्कपट व्यवहारका परम उच्च आदर्श है। पति पत्नीके विषयमें तथा पत्नी पतिके विषयमें अंतर्बाह्य एक जैसा व्यवहार करें, अंदर एक भाव रखते हुए बाहर दूसरा भाव न रखें। गृहास्थियोंके लिये व्यवहारका आदर्श यहां वेदने सुबोध शब्दोंद्वारा बताया है। वैदिक धर्मका पालन करनेवाले गृहस्थी इसका अवश्य आचरण करें और अपना गृहस्थपनका सुख बढावें।

विश्वरूपाणां कन्यानां मनः गृभाय। (मं० ४)

"विविध रूपवाली कन्याओंका मन इसी प्रकार आकर्षित किया जावे।" कोई तरुण किसी कन्याके साथ बातचीत करने तथा अन्य व्यवहार करनेके समय अपना अंदर बाहरका बर्त्ताव सीधा और कपट रहित रखे। कपट भावसे कन्याको धोखा देकर उसको फंसानेका यत्न कोई न करे। सरल निष्कपट भावसे ही अपनी धर्मपत्नी बनने के लिये किसी कन्याका मन आकर्षित किया जाय। कभी कोई छल या कपट न किया

जाय । स्त्रीपुरुष व्यवहारके विषयमें इस मंत्रका यह उपदेश अत्यंत महत्त्वपूर्ण है, गृहस्थाश्रममें प्रवेश करनेवाले और प्रविष्ट हुए पाठक इस मंत्रका वारंवार मनन करें ।

आदर्श पतिपत्नी ।

चतुर्थ मंत्रमें परस्पर निष्कपट व्यवहार करनेका उपदेश दिया है, उस उपदेशके पालन करनेसे आदर्श कुटुंब बन सकता है इसमें कोई संदेहही नहीं है, इसका थोडासा नमूना द्वितीय मंत्रमें बताया है, इसमें पांच उपदेश हैं, देखिये—

१ **संनयथः**-सन्मार्गसे चलो और चलाओ । एक मत से चलो। एक मतसे संसार चलाओ । स्त्री और पुरुष एक दिलसे चलें और परिवारको चलावें ।

२ **संवक्षथः**—मिलकर आगे बढो । स्त्री और पुरुष एक विचारसे आगे बढने तथा उन्नति संपादन करनेका प्रयत्न करें ।

३ **भगासः सं अग्मत**--सब मिलकर ऐश्वर्य प्राप्त करें । मिलकर ऐसा प्रयत्न करें कि जिससे विपुल धन प्राप्त हो जावे ।

४ **चित्तानि सं**—आपके चित्त मिले हुए हों।

५ **व्रतानि सं**— आपके कार्य भी मिलजुल कर किये जांय ।

अर्थात् पतिपत्नीमें वैर भाव, द्वेष भाव या कठोर भाव न हो । यहांतक एकता का भाव हो कि ये दोनों मिलकर एकही शरीरके अवयव हैं ऐसा माना जावे । यहांके ये शब्द यद्यपि सामान्यतः पतिपत्नीके कर्तव्य बतानेके लिये प्रयुक्त हुए हैं, तथापि सामान्यतः ऐक्य प्रतिपादन परक भी इस मंत्रका भाव लिया जा सकता है और इस दृष्टिसे यह मंत्र सामाजिक ऐक्य भावका उत्तम उपदेश दे रहा है । पाठक इस दृष्टीसे भी इस मंत्रका विचार करें और आदर्शपतिपत्नीके विषयमें इसका उज्वल उपदेश स्मरण रखें ।

भ्रमण का स्थान ।

पतिपत्नीको मिलकर भ्रमण के लिये जाना हो, तो किस प्रकारके स्थानमें जांय, इस बातका उपदेश तृतीय मंत्रमें किया गया है; उसको भी यहां देखिये—

यत् सुपर्णा विवक्षवः ।
अनमीवा विवक्षवः ॥
तत्र मे हवं गच्छतात् ॥ (मं० ३)

" जहां सुंदर पंखवाले पक्षी शब्द करते हैं और जहां नीरोग पुरुष वार्तालाप करते हुए जाते हैं, वहां प्रेरणानुसार जांय । " ऐसे स्थानमें पतिपत्नी परस्परकी इच्छानुसार अथवा प्रेरणानुसार, परस्परकी रुचीके अनुकूल भ्रमण के लिये जांय । जहां सुंदर सुंदर

पक्षी मंजुल शब्द कर रहे हैं और जहां नीरोग मनुष्य जानेके इच्छुक होते हैं वहां जांय। यह स्थानका वर्णन कितना मनोरम है! पाठक ही इसका अनुभव अपने मनमें कर लें। उत्तम भाग्यसे ही ऐसे वन अथवा उद्यान स्त्री पुरुषोंको भ्रमण के लिये प्राप्त हो सकते हैं। यहां वेदने आदर्श स्थानही भ्रमण के लिये बताया है, यदि ऐसा स्थान हर एक परिवार के लिये न मिला, तो इसी प्रकारका कोई अन्य स्थान भ्रमण के लिये पसंद करें और निष्कपट भावसे उत्तम वार्तालाप करते हुए गमन करें।

स्त्रीके साथ बर्ताव।

पुरुष स्त्रीके साथ कैसा बर्ताव करे और स्त्री भी पुरुषके साथ कैसा बर्ताव करे, इस विषयमें एक उत्तम उपमा प्रथम मंत्रमें ली है और इस विषयका उपदेश किया है। "जिस प्रकार वायुसे घांस हिलाया जाता है उस प्रकार स्त्रीका मन हिलाता हूं।" (मं० १) यह कथन बडा बोधप्रद है। वायुके अंदर प्रचण्ड शक्ति है, वायु वेगसे चलने लगा, तो बडे बडे वृक्ष भी टूट जाते हैं; परंतु वही वायु कोमल घासको नहीं तोडता, परंतु केवल हिलाता है। इसी प्रकार वीर पुरुषका कोप प्रबल शत्रुको छिन्न भिन्न कर सकता है, परंतु वही वीर पुरुष स्त्रियोंसे वैसा क्रूरताका बर्ताव न करे। जिस प्रकार वृक्षोंको तोडने वाला वायु घांसको केवल हिलाता है, उसी प्रकार शत्रुको नष्टभ्रष्ट करनेवाला पुरुष भी स्त्रियोंसे कोमल रीतिसे ही बर्ताव करे। कठोर व्यवहार कभी न करे।

स्त्रियां भी अपने अंदर घांसके समान कोमलता धारण करें और प्रचण्ड वायु चलने पर भी जैसा घांस टूटता नहीं, उसी प्रकार अपने कुटुंबके स्थानसे कभी विचलित न हों।

यहां इस उपमासे दोनोंके उत्तम कर्तव्य बताये हैं। इस उपमाका विचार जितना अधिक किया जाय उतना अधिक बोध मिल सकता है। यह पूर्ण उपमा है, इतनी योग्य उपमा अन्यत्र नहीं मिल सकती। पाठक इसका विचार करें और बोध लें और वह बोध अपने परिवारमें ढाल दें।

यह सूक्त पतिपत्नीके गृहस्थधर्मका आदर्श बता रहा है; यदि पाठक इसका अधिक विचार करेंगे, तो उनको बहुत उत्तम उपदेश मिल सकता है। विवाह विषयक अन्यान्य सूक्तोंके साथ पाठक इस सूक्तका विचार करें।

रोगोत्पादक क्रिमि ।

[३१]

(ऋषि— काण्वः । देवता – मही)

इन्द्रस्य या मही दृषत्क्रिमेर्विश्वस्य तर्हणी ।
तया पिनष्मि सं क्रिमीन्दृषदा खल्वाँ इव ॥ १ ॥
दृष्टमदृष्टमतृहमथो कुरूरुमतृहम् ।
अल्गण्डून्त्सर्वाञ्छलुनान्क्रिमीन्वचसा जम्भयामसि ॥ २ ॥
अल्गण्डून्हन्मि महता वधेन दूना अदूना अरसा अभूवन् ।
शिष्टानशिष्टान्नि तिरामि वाचा यथा क्रिमीणां नकिरुच्छिषातै ॥ ३॥
अन्वान्त्र्यं शीर्षण्य१मथो पार्ष्टेयं क्रिमीन् ।
अवस्कवं व्यध्वरं क्रिमीन्वचसा जम्भयामसि ॥ ४ ॥
ये क्रिमयः पर्वतेषु वनेष्वोषधीषु पशुष्वप्स्व१न्तः ।
ये अस्माकं तन्वमाविविशुः सर्वं तद्धन्मि जनिम क्रिमीणाम् ॥ ५ ॥

इति पञ्चमोऽनुवाकः ।

अर्थ— (इन्द्रस्य या मही दृषत) इन्द्रकी जो बडी शिला है जो (विश्वस्य क्रिमेः तर्हणी) सब क्रिमियोंका नाश करनेवाली है (तया क्रिमीन् सं पिनष्मि) उससे मैं क्रिमियोंको पीस डालूं (दृषदा खल्वान् इव) जैसे पत्थरसे चणोंको पीसते हैं ॥ १ ॥ (दृष्टं अदृष्टं अतृहम्) दीखने वाले और न दिखाई देनेवाले इन दोनों प्रकारके क्रिमियोंका मैं नाश करता हूं। (अथो कुरूरुं अतृहम्) और भूमिपर रेंगने वाले क्रिमियोंको भी मैं नष्ट करता हूं। (सर्वान् अल्गण्डून् सब बिस्तरे आदिमें रहनेवाले तथा (शलुनान्) वेगसे इधर उधर चलनेवाले सब (क्रिमीन्) क्रिमियोंको (वचसा जम्भयामसि) वचाके द्वारा हटाता हूं॥ २॥ (अल्गण्डून् महता वधेन हन्मि) विविध स्थानोंमें रहनेवाले क्रिमियोंको बडे

आघातसे मैं मारता हूं। (दूनाः अदूनाः अरसाः अभूवन्) चलनेवाले और न चलनेवाले सब क्रिमी रसहीन होगये। (शिष्टान् अशिष्टान् वाचा नि तिरामि) बचे हुए और न बचे हुए भी सब क्रिमियोंको वचासे मैं नाश करता हूं। (यथा क्रिमीणां नकिः उच्छिषातै) जिससे क्रिमियोंमेंसे कोई भी न बचे ॥ ३ ॥ (अन्वान्त्र्यं) आंतोंमें होनेवाले, (शीर्षण्यं) सिरमें होनेवाले (अथो पार्ष्टेयं क्रिमीन्) और पसलियोंमें होने वाले क्रिमियोंको तथा (अवस्कवं) रेंगनेवाले और (व्यध्वरं) बुरे मार्गपर होनेवाले सब क्रिमियोंको मैं (वचसा जम्भयामसि) वचा औषधिसे हटाता हूं ॥ ४ ॥ (ये पर्वतेषु क्रिमयः) जो पहाडियोंपर क्रिमि होते हैं, (वनेषु, औषधीषु, पशुषु, अप्सु अन्तः) वन, औषधि, पशु, जल आदिमें होते हैं, और (ये अस्माकं तन्वं आविविशुः) जो हमारे शरीरमें प्रविष्ट हुए हैं (तत् क्रिमीणां सर्वं जनिम हन्मि) वह क्रिमियोंका सम्पूर्ण जन्म मैं नष्ट करता हूं ॥ ५ ॥

भावार्थ—सब प्रकारके क्रिमियोंका नाश करनेमें समर्थ इन्द्र अर्थात आत्माकी दृढ शक्ति है उससे मैं रोगोत्पादक क्रिमियोंका नाश करता हूं ॥ १ ॥ आंखसे दिखाई देनेवाले और न दिखाई देनेवाले तथा भूमिपर रेंगनेवाले अनेक प्रकारके क्रिमियोंको वचा औषधिसे हटाता हूं ॥ २ ॥ वचा औषधिसे मैं सब क्रिमियोंको हटाता हूं जिससे एक भी न बच सके ॥ ३ ॥ आतोंमें, सिरमें, पसलीमें जो कृमि कुमार्गके आचरणसे होते हैं उन सबको मैं वचा से हटाता हूं ॥ ४ ॥ जो पर्वतोंमें, वनोंमें, औषधियोंमें, पशुओंमें तथा जलोंमें क्रिमि होते हैं तथा जो हमारे शरीरोंमें घुसते हैं उन सब क्रिमियोंका मैं नाश करता हूं ॥ ५ ॥

क्रिमियोंकी उत्पत्ति।

रोगोत्पादक क्रिमियोंकी उत्पत्ति " पर्वत, वन, औषधि, पशु, और जल इनके बीच में होती है " (मं० ५) तथा ये क्रिमि—

अस्माकं तन्वं आविविशुः। (मं० ५)

" हमारे शरीरमें घुसते हैं " और पीडा करते हैं, इसलिये इन क्रिमियोंको हटाकर आरोग्य साधन करना चाहिये। यह पंचम मंत्रका कथन विशेष विचार करने योग्य है। जलमें सडावट होनेसे विविध प्रकारके क्रिमि होते हैं, पशुके शरीर में अनेक जंतु होते

हैं, हरी वनस्पतियोंपर अनेक क्रिमि होते हैं, वनों में जहां दलदलके स्थान रहते हैं वहां भी विविध जाती के क्रिमि होते हैं और इनका संबंध मनुष्य शरीरके साथ होनेसे विविध रोग उत्पन्न होते हैं । शरीरमें ये कहां जाते हैं इसका वर्णन मंत्र ४ कर रहा है--

अन्वान्त्र्यं शीर्षण्यं अथो पार्ष्टेयं क्रिमीन्। (मं० ४)

"आंतोंमें, सिरमें,पसलियोंमें ये क्रिमि जाते हैं और वहां बढते हैं।" इस कारण वहां नाना प्रकारके रोग उत्पन्न होते हैं । इस लिये आरोग्य चाहनेवालोंको इनको दूर करना चाहिये । इनकी उत्पत्तिके विषयमें मंत्र ४ में दो शब्द बडे महत्त्वके हैं —

" अवस्कवं, व्यध्वरं "(मं० ४)

१ अवस्कव– (अव+स्कव) नीचे गमन। नीच स्थानमें गमन करनेसे इनकी उत्पत्ति होती है। यहां आचरणकी नीचता समझना योग्य है। २ व्यध्वर–(वि–अध्व–र) विरुद्ध मार्ग पर रमना । धर्म विरुद्ध व्यवहारके जो जो मार्ग हैं उनपर रमनेसे रोगके बीज उत्पन्न होते हैं । ब्रह्मचर्यादि नियमोंका न पालन करना आदि बहुतसे धर्म विरुद्ध व्यवहार हैं जो रोग उत्पन्न करनेमें हेतु होते हैं । इस दृष्टिसे ये दोनों शब्द बडे महत्त्वके हैं।

दूर करनेका उपाय।

इन क्रिमियोंको दूर करनेका उपाय दो प्रकारका इस सूक्तमें कहा है —

१ वचा—वचा नामक वनस्पतिका उपयोग करना । भाषामें इसको वच कहते हैं । क्रिमि नाशक औषधियोंमें इसका महत्त्व सबसे अधिक है । इसका चूरण शरीरपर लगानेसे क्रिमि बाधा नहीं होती, वचाका मणि गलेमें या शरीरपर धारण करनेसे भी क्रिमिपीडा दूर होती है और जलमें घोलकर भी इसका सेवन करनेसे पेटके अंदरके क्रिमिदोष दूर हो जाते हैं । औषधि जन्य उपायोंमें यह सुलभ और निश्चित उपाय है ।

२ इन्द्रस्य मही दृषत्–इन्द्रका बडा पत्थर । इस नामका कोई पदार्थ है या यह आध्यात्मिक शक्तिका नाम है, इस विषय में अभीतक कोई निश्चय नहीं हो सका। इन्द्र शब्दका अर्थ आत्मा है, उसका बडा पत्थर अर्थात् जिसपर टक्कर खाकरये रोग जन्तु मर जाते हैं वह उसकी प्रबल जीवन शक्ति है। आत्म शक्तिके मुकाबलेमें इन रोगक्रिमियोंकी क्षुल्लक शक्ति ठहर नहीं सकती। यह सब ठीक है,परंतु इस विषयमें अधिक खोज होने की आवश्यकता है । ये क्रिमी इतने सूक्ष्म होते हैं, कि आंखसे दिखाई नहीं देते। (अदृष्ट), दूसरे ऐसे होते हैं कि जो आंखसे दिखाई देते हैं। कई शरीरपर होते हैं कपडोंपर चिपकते हैं, बिस्तरेमें होते हैं, इसप्रकार विविध स्थानोंमें इनकी उत्पत्ति होती है। इनका नाश उक्त प्रकार करनेसे इनकी पीडा दूर होती है और आरोग्य मिलता है।

क्रिमि-नाशन।

[३२]

(ऋषिः— काण्वः । देवता—आदित्यः)

उ॒द्यन्ना॑दि॒त्यः क्रिमी॒न्हन्तु नि॒म्रोच॑न्हन्तु र॒श्मिभिः॑ ।
ये अ॒न्तः क्रिम॑यो॒ गवि॑ ॥ १ ॥
वि॒श्वरू॑पं चतुर॒क्षं क्रिमिं॒ सा॒रङ्ग॒मर्जु॑नम् ।
शृ॒णाम्य॑स्य पृ॒ष्टीरपि॑ वृ॒श्चामि॒ यच्छिरः॑ ॥ २ ॥
अ॒त्रि॒वद्वः॑ क्रिमयो हन्मि कण्व॒वज्ज॑मद॒ग्निवत् ।
अ॒गस्त्य॑स्य॒ ब्रह्म॑णा सं पि॑नष्म्य॒हं क्रिमी॑न् ॥ ३ ॥
ह॒तो रा॒जा क्रिमी॑णामु॒तैषां॑ स्थ॒पति॑र्ह॒तः ।
ह॒तो ह॒तमा॑ता क्रिमि॑र्ह॒तभ्रा॑ता ह॒तस्व॑सा ॥ ४ ॥
ह॒तासो॑ अस्य वे॒शसो॑ ह॒तासः॒ परि॑वेशसः ।
अथो॒ ये क्षु॑ल्ल॒का इ॑व॒ सर्वे॒ ते क्रिम॑यो ह॒ताः ॥ ५ ॥
प्र ते॑ शृणामि॒ शृङ्गे॒ याभ्यां॑ वितुदा॒यसि॑ ।
भि॒नद्मि॑ ते कु॒षुम्भं॒ यस्ते॑ विष॒धानः॑ ॥ ६ ॥

अर्थ— (उद्यन् आदित्यः क्रिमीन् हन्तु) उदय होता हुआ सूर्य क्रिमियोंका नाश करे। (निम्रोचन् रश्मिभिः हन्तु) अस्तको जाता हुआ सूर्य भी अपने किरणोंसे क्रिमियोंका नाश करे। (ये क्रिमयः गवि अन्तः) जो क्रिमि भूमीपर हैं ॥ १ ॥ (विश्वरूपं) अनेक रूपवाले (चतुरक्षं) चार आंखवाले, (सारंगं अर्जुनं क्रिमिं) रींगनेवाले श्वेत रंगके क्रिमि होते हैं। (अस्य पृष्टीः शृणामि) इनकी हड्डियोंको मैं तोडता हूं। (अपि यत् शिरः वृश्चामि) इनका जो सिर है वह भी तोडता हूं॥ २॥ हे (क्रिमयः) क्रिमियो ! (अत्रिवत्, कण्ववत्, जमदग्निवत्) अत्रि, कण्व और जमदग्निके

समान (वः हन्मि) तुमको मार डालता हूं। (अहं अगस्त्यस्य ब्रह्मणा) मैं अगस्तिकी विद्यासे (क्रिमीन् सं पिनष्मि) क्रिमीयोंको पीस डालता हूं ॥ ३ ॥ (क्रिमीणां राजा हतः) क्रिमियोंका राजा मारा गया। (उत एषां स्थपतिः हतः) और इनका स्थानपति भी मारा गया। (हत-माता, हत-भ्राता, हत-स्वसा क्रिमिः हतः) क्रिमीकी माता, भाई, बहीन तथा वह क्रिमिभी मारा गया है ॥ ४ ॥ (अस्य वेशसः हतासः) इसके परिचारक मारे गये। (परिवेशसः हतासः) इसके सेवक पीसे गये। (अथो ये क्षुल्लकाः इव) अब जो क्षुल्लक क्रिमी हैं (ते सर्वे क्रिमयः हताः) वे सब क्रिमी मारे गये ॥ ५ ॥ (ते शृंगे प्र शृणामि) तेरे दोनों सींग तोड डालता हूं (याभ्यां वितुदायसि) जिनसे तू काटता है। (ते कुषुम्भं भिनाद्मि) तेरे विषके आशयको मैं तोडता हूं (यः ते विषधानः) जो तेरा विषका स्थान है ॥ ६ ॥

भावार्थ- सूर्य उदय होनेके पश्चात् अस्त होने तक अपने किरणोंसे रोगोत्पादक क्रिमियोंका नाश करता है। ये क्रिमि भूमिपर रहते हैं ॥ १ ॥ ये क्रिमी बहुत प्रकारके विविध रंगरूपवाले होते हैं,कई श्वेत होते हैं और कई अन्य रंगोंके होते हैं। इनमेंसे कईयोंको चार अथवा अनेक आंख होते हैं ॥ २ ॥ अत्रि, कण्व, जमदग्नि और अगस्त्य इन नामों द्वारा सूचित होनेवाले उपाय हैं कि जिनसे इन रोग बीजोंका नाश हो जाता है ॥ ३ ॥ इन उपायोंसे इन क्रिमियोंके मूल बीज ही नष्ट होते हैं ॥ ४ ॥ इनके सब परिवार पूर्णतासे दूर हो जाते हैं ॥ ५ ॥ इनमें जो विषका स्थान होता है उसका भी पूर्वोक्त उपायोंसे ही नाश होजाता है ॥ ६ ॥

सूर्यकिरण का प्रभाव।

सूर्य किरणोंमें ऐसी जीवन शक्ति है कि जिससे संपूर्ण प्रकारके रोगबीज दूर होते हैं। इसलिये जिस स्थानपर रोग जन्तुओंके बढनेसे रोग उत्पन्न हुए हों, उस स्थानमें सूर्य किरण पहुंचानेसे वे सब रोग दूर हो जाते हैं। जिस घरमें रोग उत्पन्न हुए हों, उस घरके छप्परमें से सूर्य किरण विपुल प्रमाणमें उस घरमें प्रविष्ट करानेसे वहांके रोग दूर हो जाते हैं। क्यों कि रोगबीजोंको हटानेवाला सूर्यके समान प्रभाव शाली दूसरा कोई भी नहीं है।

क्रिमियोंके लक्षण।

इस सूक्तके द्वितीय मंत्रमें इन क्रिमियोंके कुछ लक्षण कहे हैं, देखिये (मं० २)—

१ अर्जुनः- श्वेत रंगवाला,

२ सारंगः-विविध रंगवाला, चित्रविचित्र वर्ण वाला, धब्बे जिसके शरीरपर हैं।

३ चतुरक्षः- चार नेत्र वाला, चारों तर्फ जिसके शरीरमें नेत्र हैं।

४ विश्वरूपः- विविध रंगरूप वाला।

इन लक्षणोंसे ये क्रिमि पहचाने जा सकते हैं।

रोगबीजोंके नाशकी विद्या।

इन रोग बीजोंका नाश करनेकी विद्या तृतीय मंत्रमें कही है। इस मंत्रमें इस विद्याके चार नाम आगये हैं, देखिये-

(१) अत्रि, (२) कण्व, (३) जमदग्नि और (४) अगस्त्य के (ब्रह्मणा) ब्रह्मसे अर्थात् इनकी विद्यासे मैं रोगबीजभूत क्रिमियोंका नाश करता हूं। रोगबीजों का नाश करनेकी विद्याके ये चार नाम हैं। प्राचीन विद्याकी खोज करनेवालोंको उचित है कि वे इन विद्याओंकी खोज करें। इस समय तक हमने जो खोज की उससे कुछभी परिणाम नहीं निकला है।

विष स्थान।

इन क्रिमियोंके शरीरमें एक स्थान ऐसा होता है कि जहां विष रहता है, (मं०६) यह विष ही मनुष्यके शरीरमें पहुंचता है और वहां विविध रोग उत्पन्न करता है। इस लिये इनसे बचने के उपाय की शक्ति ऐसी चाहिये कि जिससे यह विष दूर हो जाय और मनुष्यके शरीर पर यह विष अनिष्ट परिणाम न कर सके।

यक्ष्म-नाशन ।

[३३]

(ऋषिः— ब्रह्मा । देवता-यक्ष्मविबर्हणं, चन्द्रमाः, आयुष्यम् ।)

अक्षीभ्यां ते नासिकाभ्यां कर्णाभ्यां छुबुकादधि ।
यक्ष्मं शीर्षण्यं मस्तिष्काज्जिह्वाया वि वृहामि ते ॥ १ ॥
ग्रीवाभ्यस्त उष्णिहाभ्यः कीकसाभ्यो अनूक्यात् ।
यक्ष्मं दोषण्य १ मंसाभ्यां बाहुभ्यां वि वृहामि ते ॥ २ ॥
हृदयात्ते परि क्लोम्नो हलीक्ष्णात्पार्श्वाभ्याम् ।
यक्ष्मं मतस्नाभ्यां प्लीह्नो यक्नस्ते वि वृहामसि ॥ ३ ॥
आन्त्रेभ्यस्ते गुदाभ्यो वनिष्ठोरुदरादधि ।
यक्ष्मं कुक्षिभ्यां प्लाशेर्नाभ्या वि वृहामि ते ॥ ४ ॥
ऊरुभ्यां ते अष्ठीवद्भ्यां पार्ष्णिभ्यां प्रपदाभ्याम् ।
यक्ष्मं भसद्यं १ श्रोणिभ्यां भासदं भंससो वि वृहामि ते॥ ५ ॥
अस्थिभ्यस्ते मज्जभ्यः स्नावभ्यो धमनिभ्यः ।
यक्ष्मं पाणिभ्यामङ्गुलिभ्यो नखेभ्यो वि वृहामि ते ॥ ६ ॥
अङ्गेअङ्गे लोम्निलोम्नि यस्ते पर्वणिपर्वणि ।
यक्ष्मं त्वचस्यं ते वयं कश्यपस्य वीबर्हेण विष्वञ्चं वि वृहामसि ॥ ७ ॥

अर्थ— (ते अक्षीभ्यां नासिकाभ्यां) तेरे आंखोंसे और दोनों नथुनोंसे (कर्णाभ्यां छुबुकात् अधि) कानोंसे और ठोडीमेंसे, (ते मस्तिष्कात् जिह्वाया) तेरे मस्तकसे तथा जिह्वासे (शीर्षण्यं यक्ष्मं वि वृहामि) सिर संबंधी रोग को हटाता हूं ॥ १ ॥ (ते ग्रीवाभ्यः उष्णिहाभ्यः) तेरे गले से और गुद्दी की नाडीसे (कीकसाभ्यः अनूक्यात्) हंसली की हड्डियोंसे और रीढसे और (ते अंसाभ्यां, ते बाहुभ्यां) तेरे कंधोंसे और

भुजाओंसे (दोषण्यं यक्ष्मं वि वृहामि) भुड्डेके रोगको हटाता हूं ॥२॥ (ते हृदयात्, क्लोम्नः, हलीक्ष्णात्) तेरे हृदयसे फेफडेसे और पित्ताशयसे, (पार्श्वाभ्यां परि) दोनों कांखोंसे (ते मतस्नाभ्यां) तेरे गुर्दोंसे (प्लीह्नः यक्नः) तिल्ली और जिगरसे (यक्ष्मं वि वृहामि) रोग को हटाता हूं॥३॥ (ते आन्त्रेभ्यः गुदाभ्यः) तेरी आंतोंसे और गुदासे (वनिष्ठोः उदराद् अधि) मलस्थानसे और उदरसे (ते कुक्षिभ्यां प्लाशेः नाभ्याः) तेरी कोखोंसे अंदरकी थैलीसे और नाभिसे (यक्ष्मं वि वृहामि) रोग हटाता हूं ॥४॥ (ते ऊरुभ्यां अष्ठीवद्भ्यां) तेरी जंघाओंसे और घुटनोंसे (पार्ष्णिभ्यां प्रपदाभ्यां) एडियोंसे और पैरोंसे, (ते श्रोणिभ्यां) तेरे कुल्हेंसे (भंससः भसद्यं भासदं) गुह्यस्थानसे कटिके संबंधके गुह्य (यक्ष्मं विवृहामि) रोगको मैं हटाता हूं ॥ ५ ॥ (ते आस्थिभ्यः मज्जभ्यः) तेरी हड्डियोंसे और मज्जासे (स्नावभ्यः धमनिभ्यः) पुट्ठोंसे और नाडियोंसे (ते पाणिभ्यां अंगुलिभ्यः नखेभ्यः) तेरे हाथ अंगुलि और नाखूनोंसे (यक्ष्मं विवृहामि) रोग को हटाता हूं ॥ ६ ॥ (यः ते) जो तेरे (अङ्गे अङ्गे लोम्नि लोम्नि पर्वणि पर्वणि) प्रत्येक अंग, प्रत्येक रोम और प्रत्येक गांठमें (ते त्वचस्यं विष्वञ्चं यक्ष्म) तेरी त्वचा संबंधी फैलनेवाले क्षय रोगको (कश्यपस्य विबर्हेण) कश्यपके उपायसे (वयं विवृहामसि) हम हटादेते हैं ॥ ७ ॥

भावार्थ— आंख नाक कान बाहु आदि स्थूल शरीरके मोटे अवयवोंसे, हृदय प्लीहा यकृत आदि आंतरिक अवयवोंसे, अस्थि मज्जा आदि धातुओंसे अथवा जहां कहां रोग हो वहांसे कश्यप की विद्यासे हम रोगको हटा देते हैं ॥ १—७ ॥

कश्यप-विबर्हण ।

पूर्व सूक्तमें अत्रि, कण्व, जमदग्नि और अगस्त्य नामकी रोगदूरीकरण की विद्या आगई है। उसी प्रकारकी कश्यप विबर्हण नामक विद्याका उल्लेख इस सूक्तमें आगया है। खोज करनेवालोंको उन विद्याओंके साथ इस विद्याकी भी खोज करना चाहिये। इस समय तो यह विद्या अज्ञात ही है।

[यह सूक्त कुछ पाठभेदसे ऋ० १० । १६३) में आया है]

मुक्ति का सीधा मार्ग।

[३४]

(ऋषिः- अथर्वा। देवता—पशुपतिः)

य ईशे पशुपतिः पशूनां चतुष्पदामुत यो द्विपदाम्।
निष्क्रीतः स यज्ञियं भागमेतु रायस्पोषा यजमानं सचन्तात् ॥ १ ॥
प्रमुञ्चन्तो भुवनस्य रेतो गातुं धत्त यजमानाय देवाः।
उपाकृतं शशमानं यदस्थात्प्रियं देवानामप्येतु पाथः ॥ २ ॥
ये बध्यमानमनु दीध्याना अन्वैक्षन्त मनसा चक्षुषा च।
अग्निष्टानग्रे प्र मुमोक्तु देवो विश्वकर्मा प्रजया संरराणः ॥ ३ ॥
ये ग्राम्याः पशवो विश्वरूपा विरूपाः सन्तो बहुधैकरूपाः।
वायुष्टानग्रे प्र मुमोक्तु देवः प्रजापतिः प्रजया संरराणः ॥ ४ ॥
प्रजानन्तः प्रति गृह्णन्तु पूर्वे प्राणमङ्गेभ्यः पर्याचरन्तम्।
दिवं गच्छ प्रति तिष्ठा शरीरैः स्वर्गं याहि पथिभिर्देवयानैः ॥ ५ ॥

अर्थ— (यः पशुपतिः) जो पशुपति (यः द्विपदां उत चतुष्पदां ईशे) द्विपाद और चतुष्पादोंका स्वामी है (सः निष्क्रीतः) वह पूर्ण रीतिसे प्राप्त हुआ हुआ (यज्ञियं भागं एतु) यजनीय विभाग को प्राप्त होवे। (रायः पोषाः यजमानं सचन्ताम्) धन और पुष्टियां यज्ञ करनेवालेको प्राप्त हों ॥ १ ॥ हे (देवाः) देवो ! (भुवनस्य रेतः प्र मुञ्चन्तः) भुवन के वीर्यका दान करते हुए (यजमानाय गातुं धत्त) यज्ञ करनेवाले के लिये सन्मार्ग प्रदान करो। (यत् शशमानं उपाकृतं देवानां प्रियं पाथः अस्थात्) जो सोमरूप सुसंस्कृत देवोंका प्रिय अन्न है वह हमें (एतु) प्राप्त हो ॥ २ ॥

(ये दीध्यानाः) जो प्रकाशमान (बध्यमानं अनु) बंधे हुए को अनुकूलता के साथ (मनसा च चक्षुषा अन्वैक्षन्त) मनसे और आंखसे देखते हैं, (विश्वकर्मा प्रजया संरराणः देवः अग्निः) विश्वकर्ता प्रजासे रमनेवाला प्रकाशमान देव (तान् अग्रे प्रमुमोक्तु) उनको सबसे पहले मुक्त करे ॥ ३ ॥ (ये ग्राम्याः विश्वरूपाः पशवः) जो ग्रामीण विविधरंग रूपवाले पशु (बहुधा विरूपाः सन्तः एकरूपाः) बहुत करके अनेक रूपवाले होनेपरभी एक रूप होनेके समान ही हैं (प्रजया संरराणः प्रजापतिः वायुः देवः) प्रजाके साथ रमनेवाला प्रजा पालक प्राण देव (तान् अग्रे प्रमुमोक्तु) उनको पहले मुक्त करे ॥ ४ ॥ (पूर्वे प्रजानन्तः) पहले विशेष जाननेवाले ज्ञानी (परि आचरन्तं प्राणं) चारों स्थानोंमें भ्रमण करनेवाले प्राणको (अंगेभ्यः प्रति-गृह्णन्तु) सब अंगोंसे ग्रहण करें। (शरीरैः प्रतितिष्ठ) सब शरीरांगोंमें प्रतिष्ठित रह, पश्चात् (देवयानैः पथिभिः स्वर्गं याहि, दिवं गच्छ) देवोंके जाने योग्य मार्गोंसे स्वर्गको जा, प्रकाशमय स्थानको प्राप्त हो ॥ ५ ॥

भावार्थ— जो द्विपाद् और चतुष्पात् आदि सब प्राणियोंका स्वामी एक ईश्वर है, वह निःशेष रीतिसे प्राप्त होनेके पश्चात् पूजाके स्थानमें पूजित होता है और उसकी कृपासे सब प्रकारके धन और पुष्टियां उपासक को प्राप्त होती हैं ॥ १ ॥ सब देव इस उपासक को संसारका वीर्य प्रदान करते हुए सन्मार्ग बताते हैं और वनस्पति संबंधी सुसंकृत देवोंके लिये प्रिय ऐसा जो अन्न होता है वह इसको देते हैं ॥ २ ॥ जो तेजस्वी ज्ञानी पुरुष अपने मनसे और आंखसे बद्ध स्थितिमें रहे हुए प्राणीको अनुकम्पा की दृष्टिसे देखते हैं, उनकोही विश्वका निर्माण करनेवाला और प्रजाओंमें रमनेवाला प्रकाशमय देव सबसे पहले मुक्त करता है ॥ ३ ॥ ग्राम्य पशु जो वास्तवमें विविध रंगरूपवाले होते हुए भी एक रूपवाले जैसे होते हैं, उनको भी सब प्रजाओंके साथ रहनेवाला प्राणोंका प्राणदेव पहिले मुक्त करता है ॥ ४ ॥ जो ज्ञानी लोग सब शरीरमें संचार करनेवाले प्राणको सब अंगों और अवयवोंसे इकट्ठा करके अपने अधिकारमें लाते हैं, वे शरीरसे सुदृढ होते हुए दिव्य मार्गसे सीधे स्वर्गको जाते हैं और प्रकाश का स्थान प्राप्त करते हैं ॥ ५ ॥

प्राणका आयाम।

शरीरमें प्राण एक अद्भुत शक्ति है। वास्तवमें यह एकही प्राण शरीरके विभिन्न अवयवों और अंगोंमें कार्य करनेके कारण अनेक प्रकारका माना जाता है और इसी एकको अनेक नाम भी दिये जाते हैं। ईश्वरी नियमसे एक प्राण अनेक अवयवोंमें जाता है और वहांसे स्वेच्छासे निवृत्त होता है। यदि इस प्राणपर मनुष्यकी इच्छाका स्वामित्व होगा अर्थात् मनुष्यकी इच्छाके अनुसार प्राणका अंगों और अवयवोंमें गमन होगा, और इच्छानुसार इसकी शरीरमें स्थिति हो सकेगी, तो शरीरका कोई भी अवयव कभी रोगी न होगा और इच्छा मरण की सिद्धि भी प्राप्त होगी। यह सब बात प्राणपर प्रभुत्व प्राप्त होने पर ही निर्भर है। इसी लिये पञ्चम मंत्रमें कहा है—

प्रजानन्तः पूर्वे पर्याचरन्तं प्राणं अङ्गेभ्यः प्रतिगृह्णन्तु। (मं० ५)

"जाननेवाले बडे लोग संचार करनेवाले प्राणको सब अंगोंसे इकट्ठा करके अपने स्वाधीन कर लेवें।" इस मंत्रमें इस कर्मके अधिकारी कौन हैं यह भी कहा है, प्राणका कार्य बताया है और प्राणको स्वाधीन करनेका भी उपदेश दिया है; इसका अनुसंधान देखिये—

१ प्र- जानन्तः पूर्वे= (प्र-जानन्तः) विशेष जानने वाले अर्थात् शरीर शास्त्र और योग शास्त्रके विशेष ज्ञाता। प्राणायामके शास्त्रको उत्तम प्रकार जाननेवाले योगी (पूर्वे) पहले, अर्थात् नवीन सीखनेवाले नहीं, जो पुराने अनुभवी हैं। वे लोग अपने अंगों और अवयवोंसे प्राणको इकट्ठा करके अपने आधीन करें।

२ पर्याचरन्तं प्राणं- (परि+ आचरन्) चारों ओर संचार करनेवाले प्राणको स्वाधीन करें। प्राण संपूर्ण शरीरमें संचार कर रहा है, स्वेच्छासे संचार कर रहा है, उसको अपनी इच्छासे कार्य करनेमें लगावें। प्राणका संचार जहां योग्य रीतिसे नहीं होता है वहां रोग होते हैं; इस लिये प्राणको अपनी इच्छासे प्रेरित करनेकी शक्ति प्राप्त होगई तो सब शरीर नीरोगी रखना और दीर्घ आयु प्राप्त करनाभी संभवनीय है।

३ अङ्गेभ्यः प्राणं प्रतिगृह्णन्तु- शरीरके अंगों और अवयवोंसे प्राणको इकट्ठा करना और अपनी इच्छानुसार उसे शरीरमें प्रेरित करना यहां सूचित किया है।

योग शास्त्रमें प्राणायाम विधि कही है। इसके अनुष्ठान से यह सिद्धि प्राप्त हो सकती है। जो पाठक इस विषयमें अधिक परिश्रम करना चाहते हैं, वे अच्छे योगीके पास रहकर ब्रह्मचर्य आदि सुनियमोंका अनुष्ठान करके अपनी इष्ट सिद्धि प्राप्त कर

सकते हैं । अपने शरीरके सब अंगों और अवयवोंसे प्राणको इकट्ठा करना और पुनः प्रत्येक अवयवमें उसको भेजना यह सब क्रिया अपने आधीन होनी चाहिये, इससे कौनसी सिद्धि हो सकती है इसका वर्णन इसी मंत्रमें देखिये—

शरीरैः प्रतितिष्ठ । (मं० ५)

" अपने शरीरोंके साथ स्थिर हो " यह पहिली सिद्धि है । स्थूल सूक्ष्म और कारण ये तीन शरीर हैं, इसी प्रकार सात शरीरभी गिने जा सकते हैं, अंगों और अवयवोंकी गिनती करनेसे बहुत सूक्ष्म विचारमें जाना पडेगा, इस लिये वह विचार हम छोड देते हैं । इन शरीरोंके साथ मनुष्य सुदृढ और सु प्रतिष्ठित हो सकता है । जो पूर्वोक्त साधन करेगा और प्राणको अपने आधीन बनायेगा, वह शरीरसे नीरोग, सुदृढ तथा दीर्घायु हो सकता है । यह तो प्रत्यक्ष लाभ हुआ, परंतु प्राणायाम साधन करनेसे अप्रत्यक्षभी बहुतसे लाभ होते हैं । इस अप्रत्यक्ष लाभ के विषयमें यही मंत्र इस प्रकार कहता है—

दिवं गच्छ । देवयानैः पथिभिः स्वर्गं याहि । (मं० ५)

" प्रकाश मय स्थान प्राप्त कर । देवोंके मार्गसे स्वर्गमें जा " यह है अन्तिम सिद्धि, जो इस प्रकाशके मार्गसे और प्राणके वशी करणसे प्राप्त हो सकती है । योग साधनके द्वारा प्राप्त होनेवाली यह अन्तिम सिद्धि है, जो प्रायः सब धर्म ग्रंथोंमें वर्णित हो चुकी है ।

पशुपति रुद्र ।

पूर्वोक्त पंचम मंत्रमें प्राण का वर्णन किया है, उसके वशी करणसे लाभ बताये और उसकी विधि भी कही है । इसी प्राणको वेदमें " रुद्र, पशुपति " आदि नाम आये हैं । प्राण शब्द परमात्माका वाचक हो, या शरीरस्थ प्राणका वाचक हो, दोनों अवस्थामें ये शब्द उसके वाचक होते हैं । यजुर्वेदके रुद्राध्यायमें ये शब्द रुद्रके वाचक कहे हैं और प्राण रुद्र है यह बात शतपथादि ब्राह्मणोंमें अनेकवार कही जा चुकी है । इस लिये पशुपति शब्द रुद्र और प्राण एकही अर्थमें प्रयुक्त होनेमें किसीको संदेह नहीं हो सकता ।

शरीरमें " पशुभाव " हैं, स्थूलशरीरमें पाशवी बल रहता है, इंद्रियोंमें भोगेच्छा, काम क्रोध आदि पशुभाव हैं, मनमें कुवासना आदि पशुभाव हैं, इस प्रकार स्थूल सूक्ष्म कारण शरीरोंके क्षेत्रोंमें बहुतसे पशु विद्यमान हैं, उनको वशमें रखनेवाला, उनका

स्वामी यह प्राणही है। प्राणके वशमें होनेसे ये सब पशु वशमें हो जाते हैं और कोई कष्ट नहीं देते। पशुपति होना यह भी एक बडी भारी सिद्धि है, जो प्राणको वश करनेसे प्राप्त हो सकती है। प्राणका वर्णन अन्यत्र इसी प्रकार हुआ है—

प्राणाय नमो यस्य सर्वमिदं वशे।
यो भूतः सर्वस्येश्वरो यस्मिन्त्सर्वं प्रतिष्ठितम्। अथर्व. ११।(६)।४।१

"प्राणके लिये प्रणाम है जिसके वशमें यह सब है, जो सबका स्वामी है और जिसमें सब ठहरा है।" यह प्राणका वर्णन देखिये और इस सूक्तका प्रथम मंत्र देखिये—"द्विपाद और चतुष्पाद पशुओंका जो पशुपति स्वामी है वह अपना बननेके पश्चात् वह पूज्य स्थानमें जाता है और धन तथा पुष्टियां उपासकको मिलती हैं॥" (मं० १)

द्विपाद और चतुष्पादोंके शरीरोंका चलानेवाला प्राणही है, इसके होनेसे सब इंद्रिय कार्य करते हैं और इसके चले जानेसे यह शरीर मुर्दा हो जाता है, इस लिये द्विपाद चतुष्पादोंका स्वामी प्राण है। यह प्राण (निः-क्रीतः) पूर्ण रीतिसे खरीदा जाय, तब ही वह आधीन हो जाता है। कोई पदार्थ खरीदा जाने परही अपने स्वामित्व में आ-जाता है। यह प्राण किस रीतिसे खरीदा जा सकता है, इसका विचार करना चाहिये।

द्रव्य देकर अन्य पदार्थ खरीदे जाते हैं, वैसा यह प्राण धनसे खरीदा नहीं जा सकता। इसको योगानुष्ठानरूपी तपके द्वारा खरीदनेकी आवश्यकता है। वैराग्य और अभ्यास द्वारा यह खरीदा जाता है अर्थात् यह पूर्ण स्वाधीन हो जाता है। स्वाधीन होनेके पश्चात् "यह (यज्ञियं भागं) पूजाके स्थानमें प्राप्त होता है," यज्ञ स्थलमें यह प्राप्त होता है, योगी जन इसकी प्राणायाम द्वारा उपासना करते हैं, जिससे—

रायस्पोषाः यजमानं सचन्ताम्। (मं० १)

"शोभा और पुष्टियां यजमानको मिलती हैं।" मंत्रमें "राय" शब्द है जो "धन, शोभा" आदिका वाचक है। योगमार्गसे प्राणकी उपासना करनेसे यह प्रत्यक्ष फल प्राप्त होता है। इसके साथ "शरीर-प्रतिष्ठा" अर्थात् शरीर स्वास्थ्य रूप फल जो कि मंत्र ५ में कहा है, वह भी यहां देखने योग्य है, क्योंकि "शरीरकी प्रतिष्ठा" भी शरीरकी शोभा और पुष्टि होनेसे ही हो सकती है।

बीजशक्ति।

इस प्राणके अनुष्ठानसे और एक महत्त्व पूर्ण शक्ति प्राप्त होती है, उसका वर्णन द्वितीय मंत्र द्वारा हुआ है—

भुवनस्य रेतः प्रमुञ्चन्तः देवाः गातुं धत्त। (मं० २)

"त्रिभुवनका बीज फैलानेवाले देव इसको योग्य मार्ग देते हैं।" त्रिभुवनके अंदर अनंत पदार्थ हैं और उन पदार्थोंके अनंत सूक्ष्म बीज हैं, यही त्रिभुवनका "रेत" अथवा वीर्य है। यह वीर्य सूर्यादि देवोंके पास है। यह बीज शक्ति इन देवोंसे इस पुरुषको प्राप्त होती है जो प्राणको पूर्वोक्त प्रकार वश करता है। ब्रह्मचर्य प्रतिष्ठासे जो वीर्य लाभ होनेका वर्णन योगसूत्रोंमें है वह वीर्य यही है। पाठक विचार करके देखेंगे तो उनको पता लग जायगा कि बीजमें केन्द्रीभूत शक्ति होती है और वह बडी भारी शक्ति है, उसका विस्तार अपरिमित हो सकता है। यह बीजशक्ति यदि अपने अंदर आगई, बढी या वृद्धिंगत हुई, तो अपनी शक्ति बहुत ही बढ सकती है। योगीके अंदर जो विलक्षण शक्ति आती है उसका कारण यही है कि, वह सूर्यादि देवोंसे बीजशक्ति प्राप्त करता है और उसका उपयोग करता है।

योगीका अन्न।

द्वितीय मंत्रके उत्तरार्धमें योगीके सेवन करने योग्य सात्विक अन्नका वर्णन हुआ है-

यत् शशमानं उपाकृतं देवानां प्रियं पाथः अस्थात्
तत् अपि एतु ॥ (मं० २)

" जो वनस्पति संबंधी उत्तम संस्कार किया हुआ देवोंको प्रिय अन्न होता है वह अन्न हमें प्राप्त हो।" इसमें दिव्य अन्नका थोडासा वर्णन है। अन्न नरम अर्थात् सुपच हो, हाजमा बिगाडनेवाला न हो। "शशमान" शब्द चन्द्र या सोम औषधि का वाचक है। यह देवोंका अन्न है। सोम अन्न वनस्पतिका रस ही है। इस रसमें गौका ताजा दूध मिलाया जाता है और सत्तू भी मिला होता है। यह रस पुष्टि कान्ति और बल बढानेवाला है। अन्न (देवानां प्रियं) देवताओंके लिये प्रिय हो,देव शब्दका अर्थ इन्द्रिय भी है। यह अर्थ लेनेसे अन्न ऐसा हो कि जो इंद्रियोंका हित करनेवाला, अर्थात् इन्द्रियोंके लिये हितकारी हो, यह अर्थ इसी वाक्यसे मिलता है। कोई पदार्थ ऐसा नहीं लेना चाहिये कि जो शरीरकी हानि करनेवाला हो और इन्द्रियोंको निर्बल करनेवाला हो। इस मंत्रका "पाथः" शब्द भी पीने योग्य अन्नका बोध करता है। यह सब वनस्पतिजन्य रसरूप बलवर्धक और पुष्टिकारक अन्नका बोध करनेवाला वर्णन है। दूध के साथ सोमरस या अन्न, अथवा औषधिरस आदि सेवन करना योग्य है। सोमरस पानका विधि यज्ञप्रकरणमें प्रसिद्ध है।

मुक्तिका मार्ग ।

तृतीय मंत्रमें मुक्तिका सीधा मार्ग बताया है, जो हरएक को मनमें धारण करना चाहिये-

ये दीध्यानाः मनसा चक्षुषा च बध्यमानं अनु अन्वैक्षन्त । (मं० ३)

"जो तेजस्वी लोग बद्ध हुए को मनसे और आंखसे अनुकम्पा की दृष्टिसे देखते हैं," वे मुक्तिके अधिकारी हैं। वेही बंधनसे छूट सकते हैं और कैवल्य धाम में पहुंच कर विराजमान हो सकते हैं ।

स्वयं (दीध्यानाः) तेजस्वी होते हुए, पूर्वोक्त तपोनुष्ठानसे अपना तेज जिन महात्माओंने बढाया है, उनको चाहिये, कि वे अपने (मनसा) मनसे, अपने अन्तःकरण के गहरे भावसे तथा अपने (चक्षुषा) आंखसे बंधनमें फंसे, गुलामीमें सडनेवाले, परतंत्र जीवोंपर दयाकी दृष्टीसे देखें अर्थात् यहां केवल आंखसेहि देखना नहीं है अपितु अंतःकरणसे उनकी हीन अवस्थाको सोचना है, उस अवस्थाका दिलसे मनन करना है और उनकी सहायता करनेके लिये अपनी ओरसे जहां तक हो सकता है वहां तक यत्न भी करना है । उनकी सहायताके लिये आत्म समर्पण करना है । जो महात्मा दीनोंके उद्धारके लिये आत्म समर्पण करते हैं वेही मुक्तिके अधिकारी हैं । परमात्माको दीनोंके अंतःकरणमें अनुभव करके उसकी सेवा करना, अथवा दीनोंके उद्धारके प्रयत्नसे परमात्माकी उपासना करना, आदि कार्य जो करते हैं वे मुक्तिके अधिकारी हैं । इनकी सद्गति कैसी होती है यह भी देखिये —

प्रजया संरराणः विश्वकर्मा अग्निः देवः
अग्रे तान् प्रमुमोक्तु । (मं ३)

" प्रजाके साथ रहनेवाला विश्वका कर्ता तेजस्वी देव पहले उनको मुक्त करे। " इस मंत्रमें स्पष्ट शब्दों द्वारा कहा है कि ईश्वर प्रजाके साथ रहता है, अर्थात् प्रजाजनोंके अन्तःकरण में रहता है । दीन प्रजाओंमें उसको जो कष्ट होते हैं, वे कष्ट दीन प्रजाकी सेवा करनेसे ही दूर होनेके कारण दीन प्रजाकी सेवा करना ही परमात्माकी भक्ति करना है । इसी लिये इस मंत्रके पूर्वार्धमें कहा है कि " बद्ध स्थितिमें दीन और दुःखी बने हुए जनोंको अनुकंपा की दृष्टिसे मनसे और आंखसे देखने वाले सबसे पहले मुक्त होते हैं । " पाठक यहां परमात्मोपासना का सच्चा मार्ग देखें और उस मार्गसे चलकर मुक्तिके अधिकारी बनें ।

विश्वरूपमें एकरूपता।

विश्वका रूप अनेक प्रकारका है, विविधता इस विश्वमें स्थान स्थानपर दिखाई देती है, एकसे दूसरा भिन्न और दूसरे से तीसरा भिन्न, यह भेदकी प्रतीति इस जगत्में सर्वत्र है। विचार होता है कि क्या यह भेद सदा रहना है अथवा इसका अभेद होनेकी कोई युक्ति है। चतुर्थ मंत्र कहता है कि भेदमें अभेद देखनेका अभ्यास करो, जैसा—

विश्वरूपा विरूपाः सन्तः बहुधा एकरूपाः। (मं० ४)

"विश्वमें दिखाई देनेवाले रूप विविध प्रकारके रूप होने पर भी वे बहुत प्रकारसे एकरूप ही हैं।" उदाहरण ग्राम्य पशुही लीजिये—गौवें रूप रंग और आकारसे भिन्न हैं, यह भेद दृष्टि है। इस दृष्टिसे देखनेसे भिन्नता अनुभवमें आती है। अब यह दृष्टि छोड दें और "गौ-पन"(गोत्व) की सामान्य दृष्टिसे सब गौओंको देखिये, इस दृष्टिसे सब विविध गौवें एक गोजातीमें मिल जाती हैं, जाति दृष्टिसे अभिन्नता और व्यक्ति दृष्टिसे भिन्नता का इस प्रकार अनुभव आता है। अब ग्रामीण पशुओं में गौ, बैल, घोडी, घोडा, बकरी, मेंडी, गधा, गधी आदि अनेक पशु आते हैं, ये परस्पर भिन्न हैं इसमें किसी को भी शंका नहीं हो सकती। परंतु यह सब जाति भेदकी भिन्नता 'पशुत्व" सामान्य में, अर्थात् ये सब "पशु" हैं, इस दृष्टिसे देखनेसे लुप्त हो जाती है और पशुभावमें सब एक दिखाई देते हैं। पशु और मनुष्य निःसंदेह भिन्न हैं, परंतु "प्राणी" होनेके कारण दोनोंकी एकता "प्राणी" भावमें होती है। इसी प्रकार भिन्नता और अभिन्नता का विचार करना उचित है और किस दृष्टिसे भिन्नता अनुभवमें आती है और किस दृष्टिसे अभिन्नता दिखाई देती है, इसका निश्चय करना चाहिये। चतुर्थ मंत्र कहता है कि "विविध रूप होनेपर भी बहुत प्रकारसे एक रूपता है" और इस एक-रूपताका ही विचार करना चाहिये। अपने शरीरमें ही देखिये, प्राण दस स्थानोंमें विभक्त होनेके कारण उसको दस नाम प्राप्त होते हैं, परंतु वह दस प्रकारका नहीं है, विभिन्न दस कार्य करने पर भी वह सब मिलकर एकही है। विभिन्न प्राणोंमें अभिन्न प्राणके कार्यको देखना ही शास्त्रकी दृष्टि है। इसी प्रकार विभिन्न इंद्रियोंमें अभिन्न इन्द्रकी (आत्माकी) शक्ति कार्य कर रही है, यह अनुभव करना शास्त्रकी दृष्टिसे देखना होता है। इंद्रियोंकी भिन्नता बच्चा भी जान सकता है, परंतु उनमें एक आत्माकी शक्ति समान नियमसे कार्य कर रही है, यह देखना विशेष अभ्यास से ही साध्य हो

सकता है। इसी प्रकार जल, अग्नि, वायु, सूर्य आदि विभिन्न तैंतीस देवताओंमें एक अभिन्न आत्माकी परम शक्ति कार्य कर रही है, विविध प्रकारके विभिन्न जगत्में अभिन्न रीतिसे वह ओत प्रोत हुई है, इस दृष्टिसे जगत्की ओर देखना यह एक उच्च दृष्टिकी अवस्था है, इस उच्च दृष्टिसे देखनेवाले महात्मा मुक्तिके अधिकारी हैं, इस विषयमें चतुर्थ मंत्रका उत्तरार्ध देखिये—

प्रजया संरराणः प्रजापतिः वायुः देवः
तान् अग्रे प्रमुमोक्तु ॥ (मं० ४)

" प्रजाके साथ रहनेवाला प्रजाका पालक प्राण देव उन महात्माओंको पहले मुक्त करे " जो विविध प्रकारके विभिन्न जगत् में अभिन्न एक शक्तिके कार्यका अनुभव करते हैं। पूर्वोक्त मुक्तिके अधिकारीका यह भी एक लक्षण है। इस रीतिसे इस सूक्तने मनुष्य की आत्मिक उन्नतिका मार्ग क्रमशः बताया है। यदि पाठक इस दृष्टिसे इस सूक्तका विचार करेंगे तो उनको बडा बोध प्राप्त हो सकता है। सुबोधताके लिये यहां संक्षेपसे फिर सारांश कह देते हैं—

१ ज्ञानी योगी अपने सब शरीरमें संचार करनेवाले प्राणको अपने सब अवयवों और इंद्रियोंसे इकट्ठा करके अपने आधीन करे। इससे शरीरकी दृढता होगी और प्रकाशके दिव्य मार्गसे स्वर्गकी प्राप्तिभी होगी। (मं० ५)

२ प्राण सब द्विपाद चतुष्पादोंका संचालक है, वह स्वाधीन होनेपर पुष्टि और शोभा बढाता है। (मं० १)

३ प्राणको वशमें करनेसे विश्वचालक सूर्यादि देवोंसे बडी वीर्यकी शक्ति प्राप्त होती है, इसके लिये दिव्य सुसंस्कार किया हुआ भोजन करना योग्य है। (मं० २)

४ जो अपने मनसे और आंखसे दीनोंको अनुकंपा की दृष्टिसे देखता है और उनके उद्धार करनेके लिये आत्मसमर्पण करता है, उसको विश्वकर्ता देव सबसे पहले मुक्त करता है। (मं० ३)

५ जगत् की विविधतामें जो एक शक्तिकी अभिन्न एकताका अनुभव करता है, उसको प्रजापालक देव सबसे पहले मुक्त करता है। (मं० ४)

यह सारांशसे इस सूक्तका तात्पर्य है। पाठक यदि इस दृष्टिसे इस सूक्तका विचार करेंगे तो उनको इस दिव्य मार्ग संबंधी अनेक बोध प्राप्त हो सकते हैं।

पशु।

पशु वाचक शब्द प्रयोग द्वारा इस सूक्तमें बडाही महत्त्व पूर्ण उपदेश दिया है। यहां पशु शब्दसे गाय घोडे आदि पशु ऐसा अर्थ समझने की आवश्यकता नहीं है। क्योंकि मनुष्य भी एक पशुही है। जब तक इसके पशु भावका पूर्णतया नाश नहीं होता है, तब तक यह पशुही रहता है। जितने प्रमाणसे इसका पशु भाव दूर होगा, उतने ही प्रमाणसे इसके मनुष्यत्व का विकास होगा। मनुष्य शरीरके अंदर सब इंद्रि-



मन सारथी है और इंद्रियरूपी दस घोडे जोते हैं।

शरीर रूपी रथमें आत्मा और बुद्धि बैठी है।

यां पशुरूप ही हैं। इस शरीर रूपी रथको ये इतने पशु जोते हैं। इन पशुओंके उन्मत्त होनेसे इसका सर्वस्व नाश हो सकता है। इस लिये इन पशुओंको स्वाधीन करनेका प्रयत्न मनुष्यको करना चाहिये। मनके अंदर भी काम क्रोधादि पशुभाव हैं। इन सब पशुओंको सुशिक्षासे वश करना चाहिये और मनुष्यत्व (मननशीलत्व) का विकास करना चाहिये। मनुष्य बनने का प्रारंभ होनेके पश्चात् ही इस सूक्तके उपदेशका अनुष्ठान करनेका अधिकार मनुष्यको प्राप्त हो सकता है। इत्यादि विचार पाठक करें और इस सूक्तसे अधिकसे अधिक लाभ प्राप्त करनेकी पराकाष्ठा करें।

यज्ञमें आत्मसमर्पण।

[३५]

(ऋषिः- अङ्गिराः। देवता —विश्वकर्मा)

ये भक्षयन्तो न वसून्यानृधुर्यानग्नयो अन्वतप्यन्त धिष्ण्याः।
या तेषामवया दुरिष्टिः स्विष्टिं नस्तां कृणवद्विश्वकर्मा ॥ १ ॥
यज्ञपतिमृषय एनसाहुर्निर्भक्तं प्रजा अनुतप्यमानम्।
मथव्यान्त्स्तोकानप यान्रराध सं नस्तेभिः सृजतु विश्वकर्मा ॥ २ ॥
अदान्यान्त्सोमपान्मन्यमानो यज्ञस्य विद्वान्त्समये न धीरः।
यदेनश्चकृवान्बद्ध एष तं विश्वकर्मन्प्र मुञ्चा स्वस्तये ॥ ३ ॥
घोरा ऋषयो नमो अस्त्वेभ्यश्चक्षुर्यदेषां मनसश्च सत्यम्।
बृहस्पतये महिष द्युमन्नमो विश्वकर्मन्नमस्ते पाह्य१स्मान् ॥ ४ ॥
यज्ञस्य चक्षुः प्रभृतिर्मुखं च वाचा श्रोत्रेण मनसा जुहोमि।
इमं यज्ञं विततं विश्वकर्मणा देवा यन्तु सुमनस्यमानाः ॥ ५ ॥

अर्थ—(ये भक्षयन्तः) जो मनुष्य अन्न सेवन करते हुए भी (वसूनि न आनृधुः) अच्छी बातोंकी वृद्धि नहीं करते, तथा (यान् धिष्ण्या अग्नयः) जिनके संबंधमें बुद्धिके अग्नि (अन्वतप्यन्त) पश्चात्ताप करते हैं, (तेषां या अवया दुरिष्टिः) उनकी जो अवनति कारक सदोष इष्टिकी पद्धति है, (विश्व-कर्मा तां नः सु+इष्टिं कृणवत्) विश्वका रचयिता देव उसको हमारे लिये उत्तम इष्टि बनावे ॥ १ ॥ (प्रजाः अनुतप्यमानं) प्रजाओं के संबंधमें अनुताप करने वाले (यज्ञपतिं ऋषयः एनसा निर्भक्तं आहुः) यज्ञके पतिको ऋषि पापसे पृथक् कहते हैं। (यान् मथव्यान् स्तोकान् अप रराध) जिन मथने योग्य रसभागोंको समर्पित करता रहा (विश्वकर्मा तेभिः नः सं सृजतु)

विश्व की रचना करनेवाला उन के साथ हमें संयुक्त करे ॥ २ ॥ (सोमपान् अदान्यान् मन्यमानः) सोमपान-यज्ञ-करनेवालों को दान देने अयोग्य समझने वाला (न यज्ञस्य विद्वान्) न तो यज्ञ का ज्ञाता होता है और (न समये धीरः) न समयपर धैर्य धरनेवाला होता है। (एषः बद्धः यत् एनः चकृवान्) यह बद्ध हुआ मनुष्य जो पाप करता है, हे (विश्वकर्मन्) विश्वके रचयिता ! (तं स्वस्तये प्रमुञ्च) उसको कल्याणके लिये खुला कर दो ॥ ३ ॥ (ऋषयः घोराः) ऋषि लोग बडे तेजस्वी होते हैं, (एभ्यः नमः अस्तु) इनके लिये नमस्कार होवे । (यत् एषां चक्षुः मनः च सत्यं) क्यों कि इनका आंख और मन सत्यभावसे पूर्ण होता है। हे (महिष विश्वकर्मन्) विश्वके बलवान् रचयिता ! (बृहस्पतये द्युमत् नमः) ज्ञान पतिके लिये व्यक्त नमस्कार हो, (अस्मान् पाहि) हमारी रक्षा कर, (ते नमः) तेरे लिये नमस्कार हो ॥ ४ ॥ (यज्ञस्य चक्षुः प्रभृतिः मुखं च) जो यज्ञका आंख, भरणकर्ता और मुखके समान है उसको (वाचा श्रोत्रेण मनसा जुहोमि) वाणी कान और मनसे मैं अर्पण करता हूं। (सुमनस्यमानाः देवाः) उत्तम मनवाले देव (विश्वकर्मणा विततं इमं यज्ञं आयन्तु) विश्वके कर्ताद्वारा फैलाये हुए इस यज्ञके प्रति आजांय ॥ ५ ॥

भावार्थ— जो अन्न खाते हुए भी श्रेष्ठ कर्तव्योंको नहीं करते, जिसके कारण उनकी बुद्धियोंके अंदर रहने वाले अग्नि भी बडा पश्चात्ताप करते हैं, उनसे जो दोष होते हैं वे सुधर जांय और विश्वकर्ताकी कृपासे वे हमारे सत्कर्ममें संमिलित हों ॥ १ ॥ दुखी प्रजाजनों के संबंध में हृदयसे तपनेवाले यज्ञकर्ता पुरुषको निष्पाप समझते हैं, जो सोम का मन्थन करके याग करता है उनके साथ विश्वकर्माकी कृपासे हमारा संबंध जुड जाय ॥ २ ॥ जो यज्ञ करने वाले ब्राह्मणोंको दान देनेके लिये अयोग्य समझता है, न उसको यज्ञका तत्त्व समझा होता है और न वह समयपर धैर्य दिखानेमें समर्थ होता है। यह अज्ञानी मनुष्य इस बद्ध अवस्थामें जो पाप करता है, उससे विश्वकर्ता ही उसे छुडावे और उसका कल्याण करे ॥ ३ ॥ ऋषि बडे तेजस्वी और प्रभावशाली होते हैं क्यों कि उनके मनमें और आंखमें सत्य चमकता रहता है। उस ज्ञानी के लिये हम प्रणाम करते हैं, हे सर्वशक्ति-

मान विश्वके कर्ता ! हमारी सब प्रकारसे रक्षा कर, तेरे लिये हम नमन करते हैं ॥ ४ ॥ मैं अपनी वाणी कान और मनसे यज्ञ के चक्षु पेट और मुखमें आत्मार्पण करता हूं क्योंकि विश्वकर्ताने यह यज्ञ फैलाया है, जिसमें सब देव आकर कार्य करते हैं ॥ ५ ॥

अयाजकोंकी निन्दा ।

प्रथम और तृतीय मंत्रमें अयाजकोंकी निंदा की है । कहा है कि—"जो अन्न खाते हुए भी यज्ञ जैसे सत्कर्मोंको करनेकी रुची नहीं रखते, अन्य सत्कर्म भी नहीं करते, सद्भावना भी नहीं फैलाते" (मं० १) उनकी सद्गति कैसी होगी ? मनुष्यकी बुद्धिमें कई प्रकारके अग्नि हैं, वे सत्कर्म, सद्भावना और सद्विचारके अभाव के कारण, इसकी बुद्धिमें वसनेके कारण पश्चात्ताप करते हैं । क्योंकि दुष्ट मार्गमें यह मनुष्य सदा रत होनेके कारण उन बुद्धि शक्तियोंका विकास नहीं होता । "धिषणा" शब्द बुद्धिका वाचक है उसमें रहनेवाला "धिष्ण्यः अग्निः" है । हरएक मनुष्यकी बुद्धिमें यह रहता ही है । ऐसा मनुष्य जो दुष्कर्म करता है, उससे उसको परमात्मा ही बचावे और यह सुधरकर प्रशस्ततम यज्ञकर्ममें रत हो जावे (मं० १) । यज्ञ करनेवाले ब्राह्मण श्रेष्ठ होते हैं, इस विषयमें किसीको भी संदेह नहीं हो सकता । परंतु "जो मनुष्य ऐसे श्रेष्ठ ब्राह्मणोंको भी दानके लिये पात्र नहीं समझता, न तो उसको यज्ञका तत्त्व और न उसको समय का महत्व समझा होता है । यह उसकी बद्ध स्थिति है, इस स्थितिमें जो वह कुछ कर्म करता है वह तो पापमय होनेमें संदेह ही नहीं है, परमात्माही उसे इस पाप से बचावे और सन्मार्ग पर चलावे । (मंत्र० ३)"

इस रीतिसे इन दो मंत्रोंमें अयाजकोंकी निन्दा की है ।

याजकोंकी प्रशंसा ।

द्वितीय मंत्रमें याजकोंकी प्रशंसा की है । "जो दीन और दुखी प्रजाकी ओर अनुताप की भावनासे देखता है और उनके कल्याणका चिंतन करता है वह याजक निष्पाप है, ऐसे याजकोंके साथ परमात्माकी कृपासे हमारा स्थिर संबंध होवे ।" (मं० २) यज्ञसे ही पाप दूर होता है और दूसरोंकी भलाईके लिये आत्मसमर्पण करना यज्ञ है जो पाप दूर करनेमें समर्थ है ।

ऋषियोंकी प्रशंसा।

चतुर्थ मंत्रमें ऋषियोंकी प्रशंसा इस प्रकार की है — " ऋषि बडे तेजस्वी हैं और उनके मनमें तथा आंखमें सत्य रहता है, इन ऋषियोंके लिये नमस्कार है। " (मं० ४)

इस वर्णनमें (घोरा ऋषयः) ऋषियोंके लिये "घोर" यह विशेषण आया है। इसका अर्थ " उच्च " (Sublime) श्रेष्ठ उन्नत ऐसा होता है। ऋषि उन्नत होनेका हेतु इस मंत्रमें यह दिया है कि " उनके मनमें और आंखमें सदा सत्य रहता है। " वे असत्य विचार कभी मनमें नहीं लाते और उनकी दृष्टि सत्यसे उज्वल हुई होती है। यह बात तो ऋषियोंके विषयमें हुई। परंतु यहां हमें बोध मिलता है कि " जिसके मनमें और आंखमें ओत प्रोत सत्य बसेगा, वह पुरुष भी ऋषियोंके समान उच्च बनेगा; " उच्च होनेका यह उपाय है। सत्यकी पालना करनेसे मनुष्य उच्च होता है।

विश्वकर्ता की पूजा।

इस सूक्तकी देवता "विश्वकर्मा" है। विश्वका कर्ता एक प्रभु है, उसकी उपासना करना मनुष्य मात्रका कर्तव्य है। "इसी प्रभुने यज्ञरूपी प्रशस्ततम सत्कर्मका प्रारंभ किया है।" (मं० ५) इस प्रभुने आत्मसमर्पण करके संपूर्ण जीवोंकी भलाईके लिये विश्वरूपी महान् यज्ञकी रचना सबसे प्रथम की है, इसको देखकर अन्यान्य महात्माओंने भी विविध यत्न करना प्रारंभ किया। इस लिये ऐसे " विश्वकर्ताको हम नमन करते हैं, वह हम सबकी रक्षा करे।" (मं० ४) इस रीतिसे उस प्रभुकी उपासना और पूजा करना मनुष्य मात्रके लिये योग्य है।

इस प्रकार यह सूक्त यज्ञमें आत्म समर्पण करनेका उपदेश दे रहा है। यह सूक्त प्रत्येक मनुष्यको कहता है कि—

वाचा श्रोत्रेण मनसा च जुहोमि। (मं० ५)

"वाणी, कान और मनसे अर्पण करता हूं।" यज्ञमें आत्म समर्पण करनेकी तैयारी हरएक मनुष्य करे, समर्पण करनेके समय पीछे न हटे। क्योंकि इस प्रकारके समर्पणसे ही उच्च अवस्था प्राप्त होती है।

विवाहका मंगल कार्य ।

[३६]

(ऋषिः— पतिवेदनः । देवता-अग्नीषोमौ)

आ नो अग्ने सुमतिं संभलो गमेदिमां कुमारीं सह नो भगेन ।
जुष्टा वरेषु समनेषु वल्गुरोषं पत्या सौभगमस्त्वस्यै ॥ १ ॥
सोमजुष्टं ब्रह्मजुष्टमर्यम्णा संभृतं भगम् ।
धातुर्देवस्य सत्येन कृणोमि पतिवेदनम् ॥ २ ॥
इयमग्ने नारी पतिं वेदिष्ट सोमो हि राजा सुभगां कृणोति ।
सुवाना पुत्रान्महिषी भवाति गत्वा पतिं सुभगा वि राजतु ॥ ३ ॥
यथाखरो मघवंश्चारुरेष प्रियो मृगाणां सुषदा बभूव ।
एवा भगस्य जुष्टेयमस्तु नारी संप्रिया पत्याविराधयन्ती ॥ ४ ॥
भगस्य नावमा रोह पूर्णामनुपदस्वतीम् ।
तयोपप्रतारय यो वरः प्रतिकाम्यः ॥ ५ ॥
आ क्रन्दय धनपते वरमामनसं कृणु ।
सर्वं प्रदक्षिणं कृणु यो वरः प्रतिकाम्यः ॥ ६ ॥
इदं हिरण्यं गुल्गुल्वयमौक्षो अथो भगः ।
एते पतिभ्यस्त्वामदुः प्रतिकामाय वेत्तवे ॥ ७ ॥
आ ते नयतु सविता नयतु पतिर्यः प्रतिकाम्यः ।
त्वमस्यै धेह्योषधे ॥ ८ ॥

इति षष्ठोऽनुवाकः ।

(इति द्वितीयं काण्डम् ।)

अर्थ-हे अग्ने ! (भगेन सह) धनके साथ (सं-भलः) उत्तम वक्ता पति (इमां नः नः सुमतिं कुमारीं) इस हमारी उत्तम बुद्धिवाली कुमारी कन्याको

(आ गमेत्) प्राप्त होवे । (अस्यै पत्या सौभगं अस्तु) इसको पतिके साथ सौभाग्य प्राप्त होवे । क्योंकि यह कन्या (वरेषु जुष्टा, समनेषु वल्गु) श्रेष्ठोंमें प्रिय और उत्तम मनवालोंमें मनोरम है ॥ १ ॥ (सोमजुष्टं) सोम द्वारा सेवित, (ब्रह्मजुष्टं) ब्राह्मणों द्वारा सेवित, (अर्यम्णा संभृतं भगं) श्रेष्ठ मनवालेसे इकट्ठा किया हुआ धन (धातुः देवस्य सत्येन) धारक देवके सत्य नियमसे (पति-वेदनं कृणोमि) पतिकी प्राप्ति के लिये योग्य करता हूं॥ २ ॥ हे अग्ने ! (इयं नारी पतिं विदेष्ट) यह स्त्री पतिको प्राप्त करे । (हि सोमः राजा सुभगां कृणोति) क्यों कि सोमराजा इसको सौभाग्यवती करता है। यह (पुत्रान् सुवाना महिषी भवाति) पुत्रोंको उत्पन्न करती हुई घरकी रानी होवे । यह (सुभगा पतिं गत्वा विराजतु) सौभाग्यवती पतिको प्राप्त करके शोभित हो ॥ ३ ॥ हे(मघवन्) इन्द्र ! (यथा एव आखरः) जैसा यह गुहाका स्थान (मृगाणां प्रियः सुषदाः बभूव) पशुओंके लिये प्रिय और बैठने योग्य स्थान होता है (एवा) ऐसेही (पत्या अ-विराधयन्ती) पतिसे विरोध न करती हुई और (भगस्य जुष्टा इयं नारी) ऐश्वर्यसे सेवित हुई यह स्त्री पतिके लिये (सं प्रिया) उत्तम प्रिय (अस्तु) होवे ॥ ४ ॥ हे स्त्री ! (पूर्णां अनुप+दस्वतीं) पूर्ण और अटूट (भगस्य नावं आरोह) ऐश्वर्य की इस नौकापर चढ और (तया उपप्रतारय) उससे उसके पास तैर कर जा कि (यः वरः प्रतिकाम्यः) जो वर तेरी कामना के योग्य है ॥ ५ ॥ हे धनपते ! (वरं आक्रन्दय) अपने वर को बुला और (आ-मनसं कृणु) अपने मनके अनुकूल वार्तालाप कर । (सर्वं प्रदक्षिणं कृणु) सब उसके दहिनी ओर कर कि (यः वरः प्रतिकाम्यः) जो वर तेरी कामना के योग्य है ॥ ६ ॥ (इदं गुल्गुलु हिरण्यं) यह उत्तम सुवर्ण है, (अयं औक्षः) यह बैल है और (अथो भगः) यह धन है । (एते त्वां पतिकामाय वेत्त-वे) ये तुझे पतिकी कामना के लिये और तेरे लाभ के लिये (पतिभ्यः अदुः) पतिको देते हैं ॥ ७ ॥ (सविता ते आ नयतु) सविता तुझे चलावे। (यः प्रतिकाम्यः पतिः) जो कामना करने योग्य पति है वह (नयतु) तुझे ले जावे । हे औषधे ! (त्वं अस्यै धेहि) तू इसके लिये धारण कर ॥८॥

भावार्थ—जिसने धन प्राप्त किया है, ऐसा उत्तम विद्वान् वक्ता पति इस हमारी बुद्धिमती कुमारीको प्राप्त होवे । यह हमारी कन्या श्रेष्ठोंको

प्रिय और उत्तम मनवालोंमें सुंदर है, इसलिये इस कन्याको इस पतिके साथ उत्तम सुख प्राप्त होवे ॥ १ ॥ सौम्यता, ज्ञान और श्रेष्ठ मन द्वारा संगृहित और सत्यमार्गसे प्राप्त किया हुआ यह धन केवल पतिके लिये है ॥ २ ॥ यह स्त्री पतिको प्राप्त करे, परमेश्वर इसे सुखी बनावे; यह स्त्री घरमें रानीके समान बन कर पुत्रोंको उत्पन्न करती हुई सुखी होकर शोभित होवे ॥ ३ ॥ यह स्त्री पतिसे कभी विरोध न करे और ऐश्वर्यसे शोभित होती हुई सबको प्रिय होवे ॥ ४ ॥ स्त्री इस गृहस्थाश्रम रूपी पूर्ण और सुदृढ नौका पर चढे और अपने प्रिय पतिके साथ संसार का समुद्र पार करे ॥ ५ ॥ जो वर अपने मनके अनुकूल हो उस वरको बुलाकर उसके साथ अपने मनके अनुकूल वार्तालाप करके उसके साथ सन्मान पूर्वक व्यवहार करे ॥ ६ ॥ यह उत्तम सुवर्ण है, यह गाय और बैल है, और यह धन है। यह सब पतिको देने हैं इस लिये कि तुझे पति प्राप्त होवे ॥ ७ ॥ सविता तुझे मार्ग बतावे, तेरा पति तेरी कामनाके अनुकूल चलता हुआ तुझे उत्तम मार्गसे ले चले। औषधियोंसे तुझको पुष्टि प्राप्त हो ॥ ८ ॥

वरकी योग्यता।

विवाहका कार्य अत्यंत मंगलमय है, इसलिये उसके संबंधके जो जो कर्तव्य हैं, वे भी मंगल भावना से करना उचित हैं। विवाहके मंगल कार्यमें वर और वधु का सबसे प्रधान स्थान होता है। इसलिये इनके विषयमें इस सूक्तके आदेश प्रथम देखेंगे। वरके विषयमें इस सूक्तमें निम्न लिखित बातें कहीं हैं—

१ संभलः=(सं+भलः) उत्तम प्रकार व्याख्यान करनेवाला। (मं० १) जो किसी विषयका उत्तम प्रतिपादन करता है। विशेष विद्वान्।

यह शब्द वरकी विद्वत्ता बता रहा है। वर विद्वान हो, शास्त्रका ज्ञाता हो, चतुर और सन्मान्य विद्वान हो। केवल विद्वत्ता होनेसे पर्याप्त नहीं है, कुटुंब पोषणके लिये आवश्यक धन कमानेवाला भी चाहिये, इस विषयमें कहा है—

२ भगेन सह कुमारीं आगमेत्-धनके साथ आकर कन्याको प्राप्त करे (मं० १)। अर्थात् पहले धन कमावे और पश्चात कन्याको प्राप्त करे, विवाह करे। धन प्राप्त न होने की अवस्था में विवाह न करे, क्यों कि विवाह होनेके पश्चात कुटुंबका परिवार बढेगा, इसलियें उसके पोषण करनेकी योग्यता इसमें अवश्य होनी चाहिये।

३ पतिः नयतु—पति अपनी धर्मपत्नी को सन्मार्गसे चलावे । धर्म नीतिके मार्गसे चलावे, परंतु साथ साथ वह (प्रति-काम्यः) पत्नीकी मन कामनाके अनुकूल भी चले । इसका तात्पर्य यह है कि पति अपनी धर्मपत्नीके साथ अल्प कारणसे कभी झगडा न करे, धर्म पत्नीपर प्रेम करे, परंतु उसको सच्चे धर्म मार्गपर चलानेका यत्न करे । (मं० ८)

इस सूक्तमें इतने आदेश पतिके लिये दिये हैं । इससे पूर्व विवाह विषयक कई सूक्त आचुके हैं, उनमें पतिके गुण धर्म और कर्म बताये हैं; उनके साथ इस सूक्तके आदेशोंका विचार करना चाहिये ।

वधूकी योग्यता ।

वधूके विषयमें बहुतसे उपदेश इस सूक्तमें कहे हैं जो पारिवारिक जगत्में रहनेवालोंको अवश्य मनन करना योग्य हैं । देखिये—

१ कुमारी—कुमार और कुमारी ये शब्द बडे महत्त्व पूर्ण हैं । पूर्ण ब्रह्मचर्य स्थिर होनेका भाव सूचित करनेवाले ये शब्द हैं । तरुण स्त्री पुरुषोंमें जो विकारी भाव मनके अंदर उत्पन्न होता है, वह जिनके मनमें उत्पन्न नहीं हुआ, उनको " कुमार " कहते हैं । यह शब्द अखंड स्थिर ब्रह्मचर्य धारण करने वाले का द्योतक है । जब तक मन में कुमार भाव रहता है, तबतक वीर्यदोष उत्पन्न होता ही नहीं । इस प्रथम मंत्रमें " कुमारी " शब्द आया है, जो कन्याका बोध कराता है । कन्या ऐसी हो कि जो कुमारी हो अर्थात् पुरुष विषयक काम विकार संबंधी चंचल भाव जिसके मनमें किंचित् भी उत्पन्न न हुए हों । यहां विवाह के लिये योग्य कुमारी का वर्णन किया है । जिससे तारुण्यके कारण उत्पन्न होने वाले दोष जिस कन्यामें उत्पन्न न हुए हों उसका बोध होता है । इससे छोटी आयुमें विवाह करने की पद्धति बताई जाती है ऐसा मानना अयुक्त है, क्योंकि इससे पूर्व बताया ही है कि " पतिकी इच्छा करनेवाली स्त्रीका विवाह है । " [देखो कां० २ सू० ३०] इस लिये इस सूक्तमें छोटी आयुमें विवाह कहने की संभावना नहीं है । इस कारण यहांका " कुमारी " शब्द ऐसी कन्याका बोध करता है कि जो प्रौढ तो हो, पतिकी इच्छा तो करती हो, परंतु मनके चंचल विकारोंसे पूर्णतया अलिप्त हो । पाठक इससे समझेंगे कि वेदकी दृष्टिसे कन्याओंकी शिक्षा कैसी होनी चाहिये और विवाहके पूर्व उनके मन कैसे पवित्र रहने चाहिये । (मं० १)

२ सुमतिः-कन्या उत्तम मतिवाली हो, उत्तम बुद्धिवाली हो। जिसके मनपर सुसंस्कार हुए हैं ऐसी पवित्र मति धारण करनेवाली कन्या हो। (मं० १)

३ समनेषु वरेषु जुष्टा वल्गु-उत्तम मनवाले श्रेष्ठ पुरुषोंमें सेवा करने योग्य और सुंदर कन्या हो। समताके विचार मनमें रखनेवाले, विषम भावना मनमें न रखनेवाले जो श्रेष्ठ लोग होते हैं, उनमें जाकर विद्याका मनन करने वाली और अपने स्त्रीत्वके कारण मनोहर ऐसी परिशुद्ध विचार वाली कन्या हो। 'श्रेष्ठोंमें जाने योग्य' (वरेषु जुष्टा) इतना कहने मात्रसे कन्याका धार्मिक दृष्टिसे पावित्र्य बोधित होता है। कन्या ऐसी हो कि जिसका आचरण काया वाचा मनसे कभी बुरा नहीं हुआ है। शुद्ध आचारसे संपन्न हो और साथ साथ मनोरम तथा दर्शनीय भी हो। कन्याएं ऐसीं बनें, इस प्रकारकी शिक्षा उनको मिलनी चाहिये। (मं० १)

इस रीतिसे कन्याके शुद्धाचारके विषयमें वेदका आदेश है। यह हरएक वैदिक धर्मीको सदा मनमें धारण करने योग्य है। कुमार और कुमारिकाओंकी पवित्रता रखकर उनको विवाह संबंधसे जोडना वेदको अभीष्ट है। इसलिये विवाह के पूर्व कुमार और कुमारिकाओंका इस प्रकारका मेल वेदको अभीष्ट नहीं है कि जो अनीतिके मार्गमें उनको ले जानेकी संभावना रख सकता हो। पाठक इससे सब कुछ समझलें।

विवाहके पश्चात् ।

विवाह होनेके पश्चात् स्त्रीपुरुषोंका परस्पर बर्ताव कैसा हो इस विषयमें इस सूक्तने अत्यंत उत्तम उपदेश दिये हैं-

भगस्य जुष्टा इयं नारी, पत्या अविराधयन्ती,
संप्रिया अस्तु ॥ (मं०४)

"ऐश्वर्य को प्राप्त हुई यह स्त्री, पतिसे विरोध न करती हुई, पतिको अत्यंत प्रिय हो।" विवाह होनेके पश्चात् स्त्री अधिक ऐश्वर्य में जाती है, इसलिये यह मंत्र सूचित करता है, कि विशेष भाग्य और ऐश्वर्य में पंहुचनेके कारण यह स्त्री उन्मत्त न हो, परंतु पतिके साथ प्रेमसे रहे और पतिसे कभी विरोध न करे। घमंडमें आकर पतिका अपमान कभी न करे, परंतु ऐसा आचरण करे कि जिससे दोनोंका प्रेम दिन प्रतिदिन बढजाय। तथा-

सर्वं प्रदक्षिणं कृणु यो वरः प्रतिकाम्यः। (मं०६)

"जो करना है वह पतिको प्रदक्षिणा करके कर जो वर तेरी कामना रूप है।"

प्रदक्षिण करनेका आशय है सन्मान करना, आदर प्रदर्शित करना, सत्कार करना। पतिका सत्कार करते हुए जो करना है करना चाहिये। पत्नी का "प्रति-काम" पति ही होता है। अपने मनके अंदर जो (काम) इच्छा होती है उसका जो बाह्य स्वरूप होता है उसको "प्रति काम" कहते हैं। अपना रूप होता है और शीशेमें जो दिखाई देता है उसको "प्रतिरूप" कहते हैं, लेखकी दूसरी प्रति करने का नाम "प्रति लेख" है। इसी प्रकार स्त्रीके मनके अंदर के कामका " प्रतिकाम " पति है। पत्नी अपने पतिको अपना "प्रतिकाम" समझे और उसका सत्कार करके हरएक कर्तव्य करे। तथा-

पत्या अस्यै सौभाग्यं अस्तु। (मं० ३)

"पतिसे इसको शोभा प्राप्त हो।" स्त्री की शोभा पतिही है। पतिनिरहित स्त्री शोभा रहित होती है। यह भाव मनमें रखकर धर्मपत्नी मनमें समझे कि अपनी संपूर्ण शोभा पतिके कारण ही है और उस कारण मनसे पतिका सदा सत्कार करे। तथा--

पतिं गत्वा सुभगा विराजतु ॥
पुत्रान् सुवाना महिषी भवाति। (मं० ३)

"यह स्त्री पतिको प्राप्त करके ऐश्वर्यसे विराजती रहे और उत्तम पुत्रोंको उत्पन्न करती हुई घरकी रानी बने।" यहां पति को प्राप्त करके पतिके साथ रहना, पतिके ऐश्वर्यसे अपने आपको ऐश्वर्यवती समझना, पुत्रोंको उत्पन्न करना और घरकी स्वामिनी बनना स्त्रीका कर्तव्य बताया है। कई शिक्षित स्त्रियां संतान उत्पन्न करनेके अपने कर्तव्यसे परावृत्त होती हैं। यह योग्य नहीं है। स्त्रीकी शरीर रचनाही इस कर्तव्यकी सूचना देती है और वही बात इस मंत्रद्वारा बताई है। सुसंतति, सुदृढ संतान उत्पन्न करना विवाहित स्त्रीका कर्तव्य ही है। यह बात ध्यानमें रखकर उत्तम संतति निर्माण करने योग्य अपना शरीरस्वास्थ्य रखनेमें स्त्रियां प्रथमसे ही दत्तचित्त हों। जो स्त्रियां पहलेसे अपने स्वास्थ्यका विचार नहीं करतीं, वे आगे संतानोत्पत्ति करनेमें असमर्थ हो जाती हैं। इस लिये स्त्रियोंके स्वास्थ्यका विचार प्रारंभसे ही करना योग्य है।

ऐश्वर्य की नौका।

पञ्चम मन्त्रमें गृहस्थाश्रमको ऐश्वर्यकी नौका की उपमा दी है। यह उपमा बडी बोधप्रद है। देखिये—

पूर्णां अनुप-दस्वतीं भगस्य नावं आरोह।
यः प्रतिकाम्यः वरः, तया उप प्रतारय ॥ (मं ५)

"सब प्रकारसे परिपूर्ण और कभी न टूटने वाली ऐश्वर्यकी नौका यह है, उसपर चढ और जो तेरा पति है उसको इस नौका के आश्रयसे परतीर पर ले जा।" यह गृहस्थाश्रम रूपी नौका है, जिसपर पति पत्नी वस्तुतः इकट्ठी ही सवार होती हैं; परंतु स्त्री घरकी सम्राज्ञी होनेके कारण इस स्त्री को ही नौका चलानेवाली इस मंत्रने कहा है। यह स्त्रीका बडा भारी सन्मान वेदने किया है और साथ साथ स्त्रीके हाथमें बडा भारी अधिकार भी दिया है। वास्तविक घर गृहिणी ही है, ईंटोंका घर घर नहीं है। इसी प्रकार स्त्रीके होनेसे ही गृहस्थाश्रम होता है और स्त्रीके न होनेसे गृहस्थाश्रम नहीं रहता। इस लिये गृहस्थाश्रममें स्त्रीका महत्त्व विशेष ही है। इस हेतुसे इस मंत्रमें स्त्रीके उद्देश्यसे कहा है कि इस गृहस्थाश्रम रूपी नौकापर स्त्री चढे और इस नौका को ऐसे ढंगसे चलावे कि यह सब नौका अपने पंहुंचनेके स्थानपर सीधी पंहुंचे और मार्गमें कोई कष्ट न हों। इसी प्रकार स्त्रीके अधिकार के विषयमें निम्न लिखित मंत्रभाग देखने योग्य है—

धनपते! वरं आक्रन्दय। आमनसं कृणु। (मं० ६)

"हे गृहस्थाश्रमके संपूर्ण धनके स्वामिनि! अपने पतिको बुलाकर उसको अपने मनके अनुकूल कर।" यह अधिकार है गृहस्थाश्रममें प्रविष्ट स्त्रीका। यह स्त्री गृहस्थाश्रम के संपूर्ण ऐश्वर्य की स्वामिनी है और यदि पति हीन मार्गपर चलने लगे, तो उसको सन्मार्गपर लानेका उसका अधिकार ही है। स्त्रियोंको यह अपना अधिकार जानना चाहिये और इस अधिकारके चलानेकी योग्यता अपने अंदर लानेका प्रयत्न भी उनको करना चाहिये।

पुरुषका स्थान।

जब स्त्रीको गृहस्थाश्रम में इतना अधिकार प्राप्त हुआ है, तब पुरुषका स्थान गृहस्थाश्रममें कहां है, इसका भी विचार करना यहां प्राप्त है, देखिये यह स्थान—

यः प्रतिकाम्यः पतिः नयतु। (मं० ८)

"कामनाके अनुकूल पति है वह चलावे" अर्थात् गृहस्थाश्रम का रथ चलावे। स्त्रीको सन्मार्गपर चलावे, गृहस्थाश्रममें यदि कुछ त्रुटियां रहीं, तो उनको ठीक करे, गृहव्यवस्थाको दोषयुक्त रहने न दें। यह पुरुष गृहस्थाश्रममें रहता हुआ—

सविता ते आ नयतु। (मं० ८)

"यह पति सूर्यके समान स्त्रीको ले आवे।" यह पति घर में सूर्यके समान है। जिस प्रकार सूर्य अपनी ग्रह मालाका संचालक है, उसी प्रकार यह गृहस्थाश्रम का सूर्य-पति-संपूर्ण गृहस्थाश्रम का चालक है। यह पतिको साथ लेकर संपूर्ण गृहस्थाश्रम को चलावे। यहां पाठक स्मरण रखें की गृहस्थाश्रम का चलाना तो केवल पतिसे नहीं हो सकता और ना ही केवल स्त्रीसे हो सकता है; दोनोंके द्वारा वस्तुतः यह गृहस्थाश्रम चलाया जाता है। इसीलिये इस सूक्तमें स्त्रीको भी कहा है कि वह गृहस्थाश्रम चलावे और पुरुषको भी वैसाही कहा है। इसका स्पष्ट तात्पर्य यह है कि, दोनों मिलकर परस्परों के विचार से गृहस्थाश्रम चलावें। दोनोंका समान अधिकार होनेसे दोनोंको समान आज्ञा द्वारा कहा है। यह देख कर गृहस्थाश्रममें स्त्री पुरुष अपने सम अधिकारों को जानकर मिलजुलकर समानतया अपना कार्यका बोझ उठावें और आनंदसे इस संसार यात्रा को पूर्ण करें। तथा —

सोमो हि राजा सुभगां कृणोति। (मं० ३)

"सोम राजा इस स्त्री को ऐश्वर्य युक्त करता है।" यह पति घरमें राजाके समान है। पत्नीको महारानी इससे पूर्व कहा ही है। जब पत्नी रानी है,तब पति राजा होनेमें कोई शंका नहीं है। यह राजा रानी एक मतसे इस गृहस्थाश्रमका राज्य चलावें। परस्पर में विरोध न होने दें। एक दूसरेके सहायक बनकर उन्नति करते जांय।

इस ढंगसे वेदने पतिका स्थान गृहस्थाश्रममें निश्चित किया है। दोनोंको उचित स्थान दिया गया है। इसका विचार करके दोनों अपने स्थानके योग्य व्यवहार करके आदर्श गृहस्थी बनें।

पतिके लिये धन।

पत्नीकी ओरसे अथवा वधुके घरसे कुछ धन वरको दिया जाता है। दहेजके रूपमें यह धन वधुके घरसे वरके पास आता है, इस विषयमें सप्तम मंत्र बडा स्पष्ट है—

इदं गुल्गुलु हिरण्यं, अयं औक्षः, अथो भगः,

एते त्वा पतिभ्यः अदुः॥ (मं० ७)

"यह सुंदर सुवर्ण है, ये गौवें और बैल हैं, यह धन है, यह सब पतिको दिया है।" यहां सन्मान के लिये पति शब्दका बहुवचन हुआ है। विवाहके मंगल कार्यमें पतिका ही विशेष सन्मान होना उचित है। यहां स्मरण रहे कि यद्यपि यह दहेज स्त्रीके

घरसे पतिके घर आनी है, तथापि यह धन कुमार्गसे कमाया नहीं होना चाहिये । इस विषयमें द्वितीय मंत्र देखिये—

सोमजुष्टं, ब्रह्मजुष्टं, अर्यम्णा संभृतं भगम् ।
धातुर्देवस्य सत्येन पतिवेदनं कृणोमि ॥ (मं० २)

" सौम्यवृत्तिसे, ज्ञानसे और श्रेष्ठ मनोवृत्तिसे प्राप्त और इकट्ठा किया हुआ धन विधाता ईश्वरकी सत्यनिष्ठासे पतिको प्राप्त होने योग्य करता हूं ।"

"सोम, ब्रह्म और अर्यमा" ये तीन शब्द क्रमशः "सौम्य वृत्ति, विद्या—ज्ञान और श्रेष्ठ मन" के बोधक हैं। "अर्य+मन" का अर्यमन् बना है, जो श्रेष्ठ मनवालेका द्योतक है। जिस का उच्च मन है वह अर्यमा कहलाता है। ब्रह्म शब्द ज्ञान और विद्याका वाचक प्रसिद्ध है, सोम शब्द सौम्यता का केन्द्र होनेमें शंका नहीं है। ये तीन शब्द शांत और श्रेष्ठ विद्यासे सुसंस्कृत मनोवृत्तिके वाचक हैं। इस मनोवृत्तिसे कमाया हुआ, संगृहित किया हुआ और बढाया हुआ धन परमेश्वर विषयक सत्यनिष्ठाके साथ पतिको समर्पित किया जाना चाहिये। अथवा इस प्रकार प्राप्त किया हुआ धन पतिको समर्पित करना चाहिये। हीन वृत्तिसे इकट्ठा किया हुआ धन पतिको नहीं देना चाहिये। यहां कन्या विचार करे कि जो धन पतिको दहेजके रूपमें दिया जाता है, वह किस रीतिसे कमाया हुआ है। हीन वृत्तिसे कमाया धन पतिके घरमें हीनता उत्पन्न करेगा। इसलिये सावधानीसे और विचारसे दहेजका धन पतिको देना चाहिये। जो दिया जाय वह पवित्र विचारसे कमाया हुआ हो और पवित्र विचार के साथ दिया जाय।

इस प्रकार इस विवाहके मङ्गल कार्यका विचार इस सूक्तमें दर्शाया है। इस सूक्तका विचार विवाह विषयक अन्य सूक्तोंके साथ पाठक करेंगे, तो उनको बहुत बोध प्राप्त हो सकता है और ऐसे तुलनात्मक विचारसे वैदिक विवाहकी पद्धति भी ज्ञात हो सकती है।

यहां षष्ठ अनुवाक और
द्वितीय काण्ड समाप्त।



अथर्ववेद द्वितीय काण्ड का

थोडासा मनन।

गणविभाग।

अथर्ववेदके इस द्वितीय काण्डमें ३६ सूक्त, ६ अनुवाक और २०७ मंत्र हैं। प्रथम काण्डमें ३५ सूक्त, ६ अनुवाक और १५३ मंत्र थे। अर्थात् प्रथम काण्डकी अपेक्षा इस द्वितीय काण्डमें ५४ मंत्र अधिक हैं। इसमें गणोंके विचारसे सूक्तोंके ऐसे विभाग होते हैं-

१ शांतिगण- इस द्वितीय काण्डमें शान्तिगणके निम्न लिखित सूक्त हैं-२, ५-७, ११, १४ ये छः सूक्त शांति गणके हैं। इनमें ७ वाँ सूक्त भार्गवी शांति, ११ वाँ सूक्त वार्हस्पत्या महाशांति और १४ वाँ सूक्त बृहच्छान्ति के प्रकरण बता रहे हैं। अन्य सूक्त सामान्यतया "महाशान्ति" का विषय बताते हैं।

२ तक्मनाशन गण— सूक्त ८—१० ये तीन सूक्त इस गणके हैं।

३ आयुष्यगण— सूक्त १५, १७, २८, ३३ ये सूक्त आयुष्य गणके हैं। इनमें ३३ वाँ सूक्त आयुष्यगणका होते हुए भी "पुरुषमेध" प्रकरणमें समाविष्ट है। पाठक यहां इस सूक्तका विषय देखकर पुरुषमेधके वास्तविक स्वरूपका भी विचार कर सकते हैं। ३३ वाँ सूक्त "यक्ष्म नाशन" अर्थात रोगका दूर करनेका विषय बताता है। मनुष्यके संपूर्ण शरीरके अवयवों से सब प्रकारके रोग दूर करनेका विषय इस सूक्तमें है और इस कारण यह सूक्त "पुरुषमेध" प्रकरणके अन्दर आगया है। जो लोग समझते हैं कि पुरुषमेध, नरमेध, आदि मेधोंमें मनुष्यादि प्राणियोंका वध होता है, वे इस सूक्तके विचारसे जान सकते हैं कि मेधमें मनुष्यादि प्राणियोंके वधकी आवश्यकता नहीं है, प्रत्युत पुरुषमेध प्रकरणमें मनुष्य के संपूर्ण रोग दूर करके उसको उत्तम आरोग्य देनेका विचार प्रमुख स्थान रखता है। यदि पाठक यह बात इस सूक्तके विचार से जानेंगे तो उनको न केवल पुरुषमेध प्रकरण प्रत्युत गोमेध आदि प्रकरण भी इसी प्रकार गौ आदिकोंके स्वास्थ्य साधनके प्रकरण होनेके विषयमें सन्देह नहीं रहेगा। पाठक इस दृष्टिसे इस सूक्तका विचार करें।

४ अपराजित गण— २७ वाँ सूक्त अपराजित गणका है।

पाठक इन गणोंके इन सूक्तोंका विचार प्रथम काण्डके इन गणोंके सूक्तोंके साथ करें

और एक विषयके सूक्तोंका साथ साथ विचार करके अधिकसे अधिक बोध प्राप्त करें ।

विषय-विभाग ।

द्वितीय काण्डमें प्रथम काण्डके समान ही बडे महत्त्वपूर्ण विषय हैं । इनके विभाग निम्न लिखित प्रकार हैं—

१ अध्यात्मविद्या— इस द्वितीय काण्डमें आत्मविद्याके साथ संबंध रखनेवाले आठ सूक्त हैं । प्रथम सूक्त में "गुह्य अध्यात्मविद्या" का अत्यंत उत्तम वर्णन है। द्वितीय काण्डके प्रारंभमें ही यह अत्यंत महत्त्वपूर्ण सूक्त आया है । पढते पढते मन अध्यात्मरसमें मग्न होता है और इसके मननसे जो आनंद होता है, उसका वर्णन शब्दों द्वारा नहीं हो सकता । यदि पाठक इसको कंठ करके प्रतिदिन ईश्वर उपासनाके समय इस का मननपूर्वक पाठ करेंगे, तो पाठक भी इससे वैसाही आनंद प्राप्त कर सकते हैं। द्वितीय सूक्तमें " एक पूजनीय ईश्वर " का गुणगान है । यह विषयभी आत्माके साथ ही सम्बन्ध रखनेवाला है । १६ वें सूक्तमें " विश्वम्भरकी भक्ति " करनेकी सूचना है। इस भक्तिसे ही आध्यात्मिक उन्नति होती है। इस के अतिरिक्त क्रमशः निम्न लिखित सूक्त इस अध्यात्म प्रकरण के साथ सम्बन्ध रखते हैं ।

सूक्त		विषय
११ वाँ सूक्त	...	आत्माके गुण,
१२ ,,	...	मन का बल बढाना,
१७,१८ ,,	...	आत्मसंरक्षण का बल,
३४ ,,	...	मुक्तिका सीधा मार्ग,
१५ ,,	...	निर्भय जीवन,
३५ ,,	...	यज्ञमें आत्मसमर्पण ।

ये सात सूक्त और पूर्वोक्त तीन सूक्त मिलकर दस सूक्त अध्यात्म विषयक इस द्वितीय काण्ड में आगये हैं । प्रथम काण्डकी अपेक्षा यह विषय इस काण्डमें मुख्यतया विशेष प्रतिपादन किया है । पाठक इस लिये इन दस सूक्तोंका साथ साथ मनन करें और उचित बोध प्राप्त करें । अथर्ववेदका यही मुख्य विषय है; इस लिये पाठक इस विषयकी ओर उदासीनतासे न देखें ।

सू० १२ " मानसिक बल बढाना, " और सू० १५ " निर्भय जीवन " ये दो सूक्त अध्यात्म विषयके अतिरिक्त स्वतंत्र महत्त्व रखते हैं और आरोग्य विषयके साथ

भी संबंध रखते हैं, तथापि इनका विशेष संबंध अध्यात्मविषयके साथ होनेसे ये यहां दिये हैं।

२ आरोग्य और स्वास्थ्य— द्वितीय काण्डका तीसरा सूक्त "आरोग्य" विषय का प्रतिपादन करता है। इसके साथ—

सूक्त ४	...	जङ्गिड मणि से आरोग्य,
,, ८	....	क्षेत्रियरोग दूर करना,
,, ९	...	सन्धिवात ,, ,,
,, २५	...	पृश्निपर्णीसे आरोग्य,
,, ३३	...	यक्ष्म नाशन,
,, ३१, ३२	...	रोगोत्पादक क्रिमियोंको दूर करना।

आरोग्य और स्वास्थ्य से संबंध रखनेवाले इतने सूक्त इस द्वितीय काण्डमें हैं। पाठक इन सूक्तोंका इकठ्ठा विचार करेंगे, तो उनको आरोग्य और स्वास्थ्यके साथ साथ वेदकी भैषज्य विद्या का भी पता लग सकता है। चतुर्थ सूक्तमें "जङ्गिड मणि" धारणसे आरोग्य प्राप्त होनेका अद्भुत उपाय कहा है। यह अथर्व वेदकी विशेष विद्या है। जो वैद्य इस विषयकी खोज करना चाहें वे अथर्ववेदमें इसी प्रकारके कई विषय देखेंगे। कई लोग "मणि" शब्दका अर्थ बदल कर इन सूक्तोंके अन्य अर्थ करना चाहते हैं! यह प्रयत्न उनके अज्ञानका प्रकाशक है। वेदके विषयका ऐसा विपर्यास करना किसीको भी उचित नहीं है। "मणि धारण विधि" यह शास्त्रीय उपाय है इस लिये पाठक इसकी खोज प्रेमके साथ करें। विशेषकर सुविज्ञ वैद्य यदि इसकी खोज करेंगे तो चिकित्साका एक नया मार्ग निकाल सकते हैं।

३ दीर्घायुष्य प्राप्ति— पूर्वोक्त विषयके साथ ही यह विषय संबंधित है। चिकित्सा अथवा वैद्यशास्त्रका नाम "आयुर्वेद" है। इससे भी वैद्य शास्त्र का संबंध "दीर्घ आयुष्य" के साथ कितना है यह बात पाठक जान सकते हैं। इस विषयके सूक्त इस काण्डमें निम्न लिखित हैं—

सूक्त २८	...	दीर्घायुष्य,
,, २९	...	दीर्घायु, पुष्टि और सुप्रजा।

ये दो सूक्त इस विषयमें इकट्ठे पढने योग्य हैं।

४ पुष्टि—पूर्वोक्त २९ वें सूक्तमें पुष्टिका संबंध है। इस पुष्टिके साथ २६ वाँ "गोरस" का वर्णन करनेवाला सूक्त बडा संबंध रखता है। गोरस सेही मनुष्योंकी पुष्टि होती है।

५ विवाह— पूर्वोक्त २९ वें सूक्तमें सुप्रजाका वर्णन है, विवाहसे ही सुप्रजा निर्माण होना संभव है । इस विवाह विषयका उपदेश देनेवाले तीन सूक्त इस काण्डमें हैं—

सूक्त ३० .... पति और पत्नीका मेल,
„ ३६ ... विवाहका मंगल कार्य,
„ १३ ... प्रथम वस्त्र परिधान ।

इनमें सू० १३ " प्रथम वस्त्र परिधान " का वर्णन करनेवाला सूक्त विवाहित स्त्री पुरुषोंका कर्तव्य बताता है। इसलिये इन तीन सूक्तोंका विचार इकट्ठा करना योग्य है।

६ वर्णधर्म—वर्णधर्म का वर्णन करनेवाले निम्न लिखित दो सूक्त इस काण्डमें हैं-

सूक्त ६ .... ब्राह्मण धर्मका वर्णन
" ५ ... क्षत्रिय धर्मका वर्णन,

इसीके साथ संबंध रखनेवाले निम्नलिखित चार सूक्त हैं, इस कारण इनका विचार इकट्ठा ही होना योग्य है—

सूक्त २७ .... विजय की प्राप्ति,
" २४ .... डाकुओंकी असफलता,
" १४ ... विपत्तियोंको हटाना,
" १० ... दुर्गतिसे बचना।

ये चार सूक्त क्षत्रिय धर्मके साथ संबंध रखनेवाले हैं और ब्राह्मण धर्मसे संबंध रखनेवाले सूक्त निम्नलिखित छः हैं—

सूक्त ७ ... शापको लौटा देना
" १९-२३ .... शुद्धिकी विधि

इस प्रकार इन सूक्तोंका विषयानुसार विभाग है। जो पाठक वेदका अभ्यास मननपूर्वक करनेके इच्छुक हैं, वे इस प्रकार सूक्तोंका विषयानुरूप विभाग देखकर एक एक विषयके सूक्त साथ साथ मनन करते जांयगे, तो वेदके मर्मको अधिक शीघ्र जाननेमें समर्थ होंगे।

विशेष द्रष्टव्य ।

निर्भय जीवन ।

विषयके महत्त्व की दृष्टिसे इस द्वितीय काण्डमें कई ऐसे विषय हैं, कि जिनकी ओर पाठकोंका ध्यान विशेष रीतिसे खींचना अत्यंत आवश्यक है । इस प्रकारका विषय सूक्त १५ में " निर्भय जीवन " नामसे आया है, वह पाठक अवश्य वारंवार मनन पूर्वक देखें ।

भयही मृत्यु है, जिसके मनमें भय है, जो सदा डरता रहता है, उस डरपोक मनुष्यको आनंद कहांसे प्राप्त हो सकता है? अर्थात् भय और आनंद कदापि इकट्ठे नहीं रह सकते। मनुष्य तो आनंदप्राप्तिके लिये यत्न करने वाला प्राणी है, इसलिये उसको अपने अंदरकी भयकी भावना दूर करना अत्यंत आवश्यक है, अन्यथा वह आनंद का भागी कदापि नहीं हो सकता। इस पंद्रहवें सूक्तमें कहा है कि "निर्भय होनेके कारण सूर्य क्षीण नहीं होता" इसका अर्थ यह है कि जो कोई निर्भय होकर अपना कर्तव्य-पालन करेगा वह भी कदापि क्षीण, अशक्त अथवा दुर्बल नहीं होगा, इतना ही नहीं, प्रत्युत बढता जायगा। शरीरकी पुष्टि, मन की बलिष्ठता, आत्माकी शक्ति सब प्रकारसे निर्भयतापर अवलंबित है। निर्भयता के विना मनुष्यकी उन्नति किसी रीतिसे भी नहीं हो सकती। चार वर्णोंके कर्तव्य, चार आश्रमोंके अथवा अन्य जो भी कर्तव्य मनुष्य को करने होते हैं वे ठीक प्रकार करनेके लिये सबसे प्रथम निर्भयता की आवश्यकता है। पाठक इस गुणका इतना महत्त्व जानकर इस गुणको अपने अंदर बढावें और अपनी उन्नतिका साधन करें।

जो पाठक निर्भयता का संबंध मानवी उन्नतिके साथ देखते अथवा अनुभव कर सकते हैं, वेही इस सूक्त का गंभीर संदेश जान सकते हैं।

शुद्धिकरण।

इसी प्रकार "शुद्धिकरण विधि" का अत्यंत महत्त्व है। सूक्त १९ से २३ तक के पांच सूक्त इस एकही विषयका प्रकाश कर रहे हैं। इनमें उपदेश देनेका ढंगही और है, अन्योक्ति अलंकार की अपूर्व झलक यहां पाठक देख सकते हैं। वैदिक उपदेश में "अग्नि, वायु, सूर्य, चन्द्र और आप" ये पांच देवताएं कितना महत्त्व रखती हैं, इसकी साक्षी इन सूक्तोंके मननसे मिल सकती है। वेदका उपदेश जिस समय होता है उस समय सूर्य, चन्द्र आदि देव जड नहीं रहते, वे जीवित और जाग्रत रूपमें उपदेशका अमृत देते हैं।

बाह्य देवताओंके अंशावतार अपने शरीरमें कहां और कैसे हैं और उनका बाह्य जगत् से तथा अपनी उन्नतिसे क्या संबंध है, इस बातका ज्ञान जिनको हुआ है, वेही इन पांच सूक्तोंको ठीक प्रकार समझ सकते हैं। अन्य लोग उतना लाभ प्राप्त नहीं कर सकते। क्योंकि वेदका ज्ञानामृत पान करनेके पूर्व उक्त बात ठीक प्रकार समझमें

आना अत्यंत आवश्यक है। इन सूक्तोंके स्पष्टीकरणमें इस अपूर्व वैदिक पद्धतिका थोडासा आविष्कार किया है। जो पाठक मननपूर्वक इन सूक्तोंका अभ्यास करेंगे वे इस पद्धतिको समझ सकते हैं।

मुक्तिका सीधा मार्ग।

द्वितीय काण्डके ३४ वें सूक्तमें इस मुक्तिके सीधे और सरल मार्गका उपदेश हुआ है। मुक्तिका मार्ग बतानेवाले ग्रंथ आर्य शास्त्रों में अनंत हैं, परंतु जो बात अन्य ग्रंथों में कहीं भी नहीं कही है, वह अपूर्व बात इस सूक्तमें कही है और इस दृष्टिसे इस सूक्त का महत्त्व अत्यंत है।

" दीन और दुःखी जनोंकी सेवा करके उनके कष्टोंको दूर करना " यह एक मात्र सच्चा मार्ग है जो सीधा मनुष्य को मुक्तिधाम तक ले जाता है। परमेश्वर जैसा ज्ञानी शूर और धनी मनुष्यों के अंतःकरणों में रहता है, उसी प्रकार दीन, दुःखी और अनाथ जनोंके हृदयों में भी रहता है। परंतु पूर्वोक्त तीनों लोग समर्थ होने के कारण वे दूस-रोंसे सेवा अपने अधिकार से ही ले सकते हैं। परंतु जो दीन और अनाथ रहते हैं, उनके कष्ट कौन दूर कर सकता है? वे तो दुःखमें सडते ही रहते हैं। दीन जनोंको जो अपने परिवारमें देखता है, नहीं नहीं, जो दीन जनोंको अपना ही समझता है, और अपना सुख देखनेके समान भावसे जो दीनोंको सुखी करनेका विचार करता है और तदनुकूल आचरण करता है वही मुक्तिके सीधे मार्ग पर है। जो दीन और दुःखी मनुष्योंको अपना कहता है, वही महात्मा है और परमात्मा वहीं रहता है। किसी दीन मनुष्य को दुःखी देखकर जो सुखका अनुभव कर नहीं सकता, परंतु जिसका आत्मा तडफडता रहता है वही मुक्तिका अधिकारी है। निराश्रित, दीन और दुःखी मनुष्योंकी रक्षा करनेके लिये ही श्रेष्ठ पुरुषोंने आत्मार्पण किया और उसी कारण वे पूज्य बने हैं।

इस प्रकार स्पष्ट शब्दोंद्वारा मुक्तिका सीधा मार्ग बतानेका वेद का ही अधिकार है। पाठक यहां वेदकी अपूर्वता देखें और इस सीधे मार्ग पर चलते हुए मुक्तिका परम आनंद प्राप्त करें।

ओम् शान्तिः शान्तिः शान्तिः।

अथर्ववेद का स्वाध्याय।

द्वितीय काण्ड की विषय सूची ।

अथर्ववेदका

द्वितीय काण्ड समाप्त।

वैदिक यज्ञ संस्था ।

प्रथम भाग । मूल्य १) रु. डा. व्य. ।)

इस पुस्तक में निम्न लिखित विषयों का विचार हुआ है ।

प्राचीन संस्कृत निबंध ।

१-३ विष्ट-पशुमीमांसा । लघु-पुरोडाश-मीमांसा । **भाषाके लेख** । (ले०-श्री० पं० बुद्धदेवजी) ४ दर्श और पौर्णमास, ५ अद्भुत कुमार संभव । (ले० -श्री० पं० चंद्रमणिजी) ६बुद्धके यज्ञ विषयक विचार । (संपादकीय) ७ यज्ञका महत्त्व, ८ यज्ञका क्षेत्र, ९ यज्ञका गूढ तत्त्व, १० औषधियोंका महामख, (ले० श्री ० पं० धर्मदेवजी) ११ वैदिक यज्ञ औरपशु हिंसा । (ले० श्री ० पं ० पुरुषोत्तम लालजी) १२ क्या वेदोंमें यज्ञों में पशुओंका बलि करना लिखा है ?

वैदिक यज्ञ संस्था द्वितीय भाग । मूल्य १) रु. डा. व्य. ।)

इस द्वितीय भागमें निम्न लिखित विषयोंका विचार हुआ है- (ले०-श्री. पं. देवशर्माजी विद्यालंकार) भारतवर्षमें यज्ञकी कमी, यज्ञकी महिमा, यज्ञसे जो चाहे सो प्राप्त कर लो, यज्ञपुरुष का वर्णन, हवन प्रक्रिया, यज्ञशेष और उच्छेष, राजसूय, विश्वजित्, अश्वमेध, गोमेध, सर्वमेध, वाजपेय, पंचमहायज्ञ, यज्ञ संसारकी नाभि है ।

पं. बुद्धदेवजी लिखित-संज्ञपन और अवदान ।

संपादकीय-नरमेध का वैदिक तात्पर्य ।

इतने विषयोंका विचार इस पुस्तक में हुआ है ।

प्रत्येक विषयके प्रतिपादनके लिये वेदके अनेक प्रमाण दिये हैं और विषयका प्रतिपादन अति सुगम है । मूल्य १) डा. व्य. ।)

वैदिक यज्ञ संस्था तृतीय भाग । गोमेध ।

इस पुस्तकमें निम्न लिखित विषयोंका विचार हुआ है—

योगमें गोमांस, प्रकरणानुकूल अर्थ विचार, ऋषिपंचमी, वेदका महासिद्धान्त, यज्ञकी पूर्व और उत्तमवेदी, मधुपर्क, कलिवर्ज्यप्रकरण, बृहदारण्यक का वचन,गौके वैदिक नाम, गोमेधका विचार, चरक की साक्षी, विवाहमें गोमांस, अतिथिके लिये गौ, यज्ञमें मांस, अन्त्य यज्ञ, वेदमें अहिंसा, अवध्य गौ और बैल, यज्ञका तत्त्व, गौको खाना । गौ दान लेने का अधिकारी, रक्षक और पाचक, गौका महत्त्व, राष्ट्ररक्षक गौ, गौके लिये सोमरस, सबकी माता गौ ।

इत्यादि अनेक विषय इसमें आगये हैं । हरएक विषयका प्रतिपादन करनेके लिये अनेक वेदमंत्रोंके प्रमाण दिये हैं ।जो कहते हैं कि " वैदिक समयमें गोमांस भक्षण की प्रथा थी," उनके लिये यह उत्तम उत्तर है । यह पुस्तक पढनेके पश्चात् उक्त विषयमें कोई शंका नहीं रहेगी ।

मूल्य १) रु. डा. व्य० ।)

मुद्रक तथा प्रकाशक- श्री० दा० सातवळेकर, भारत मुद्रणालय, औंध, (जि० सातारा)

REGISTERED No 1463

ॐ

वैदिक धर्म।

वैदिक तत्त्व ज्ञान प्रचारक मासिक पत्र।

संपादक— श्रीपाद दामोदर सातवळेकर.

वर्ष ९

अंक ६

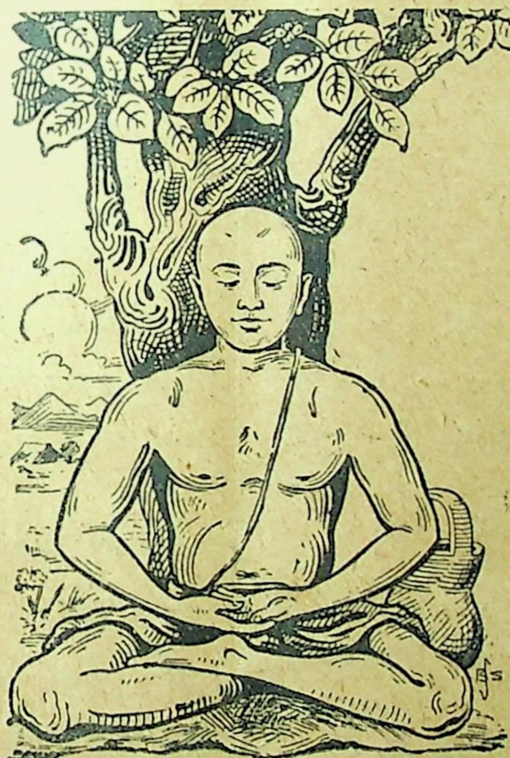
क्रमांक १०२

ज्येष्ठ

संवत् १९८५

जून

सन१९२८



वार्षिक मूल्य— म० आ० से ४) वी० पी० से ४॥) विदेशके लिये ५)

विषयसूची।



वर्ष ९
अंक ६
क्रमांक १०२

ज्येष्ठ
संवत् १९८५
जून
सन १९२८

वैदिक धर्म.

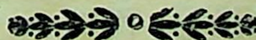
वैदिक तत्वज्ञान प्रचारक मासिक पत्र।
संपादक—श्रीपाद दामोदर सातवळेकर।
स्वाध्यायमंडल, औंध (जि. सातारा)

ब्राह्मण और क्षत्रिय।

इदं च मे ब्रह्म च क्षत्रं चोभे श्रियमश्नुताम्।
मयि देवा दधतु श्रियमुत्तमां तस्यै ते स्वाहा॥

मेरा यह (ब्रह्म) ज्ञान तेज (च मे इदं क्षत्रं) और मेरा यह क्षात्र तेज (च उभे) ये दोनों (श्रियं अश्नुतां) शोभा को प्राप्त हों। (देवाः) विद्वान् अथवा दिव्यगुण (मयि उत्तमां श्रियं) मुझमें उत्तम शोभाको (दधतु) धारण करें। (तस्यै ते स्वाहा) उस तेरे लिये स्वार्थत्याग है।

ब्राह्मण और क्षत्रिय, ज्ञान और शौर्य, मिलकर उत्तम तेजस्विताकी प्राप्ति करें। सब उत्तम विद्वान और सब उत्तम सद्गुण मुझमें तेजस्विताकी स्थापना करें। उस तेजस्विता की प्राप्तिके लिये मैं स्वार्थत्याग करता हूं।



स्वाध्याय वृत्त ।

महाभारत, वैदिक धर्म, और पुरुषार्थ ये तीनों मासिकों के विषयमें ग्राहक शिकायत कर रहे हैं कि इन दो महिनों में ये समयपर नहीं प्रकाशित होते हैं। इस विषयमें बात यह है कि स्वाध्याय मंडल का भारत मुद्रणालय जंगलमें हैं, शहरमें नहीं है। और पासके पिंडके लोग यहां के कर्मचारी हैं। जिस समय आसपास मेले होते हैं उस समय ये लोग कामपर नहीं आते और गत दो तीन महिनोंसे प्रायः सभी कर्मचारी शादियोंके निमित्तसे उपस्थित नहीं हैं। जहां मुद्रणालयमें३०।३५ कर्मचारी उपस्थित होते थे, वहां इन दिनों में ८ या १० ही आते रहे हैं। इस कारण यहां के सभी मुद्रणके कार्य गत दोमासोंमें स्थगित रहे हैं। केवल वैदिकधर्म और पुरुषार्थ बडी मुष्कील से मुद्रित किये जाते हैं। बडे शहरोंमें दूसरे कर्मचारी तत्काल मिल सकते हैं वैसी सुविधा पिंडमें नहीं होती। इस कारण कार्यकर्ताओंकी अनुपस्थितिमें चुपही रहना पडता है। वही अवस्था इस समय हमारी बनी है। विवाह ऐसा अवसर है कि जिस समय कार्यकर्ताको छुट्टी अवश्य देनी ही चाहिये। अब विवाहके दिन समाप्त हुए हैं इसलिये चार आठ दिनोंमें सब कर्मचारी उपस्थित हो जांयगे और पूर्ववत् नियमपूर्वक कार्य होता रहेगा। तबतक महाभारतकी देरीकी क्षमा पाठक अवश्य करेंगे ही। वैदिक धर्म मासिक आठ दस दिनकी देरीसे इसी कारण निकल रहा है वह भी अगले माससे समयपर प्रकाशित होगा।

इसी कारण महाभारतका मुद्रण इस मासमें बिलकुल नहीं हुआ। आठ दिनके पश्चात् फिर शुरू होगा और नियमपूर्वक दो अंक प्रतिमास ग्राहकों के पास रवाना हो जांयगे। इस समय तक महाभारतके ६० अंक प्रकाशित हो चुके हैं, ६५ वें अंकमें द्रोणपर्व समाप्त होगा। साठवें अंकसे जिनका चंदा समाप्त होता है वे अपना आगेका चंदा शीघ्र भेज दें। इस समय महाभारतका पेशगी मूल्य ६०) साठ रु. है जो लोग इकट्ठा मूल्य भेजेंगे उनको पांच से अधिक रु. का लाभ होगा। अन्यथा बारह अंकोंका मूल्य ६) रु. है इस हिसाबसे खंडशः अंक पाठक मंगावें।

यजुर्वेद पादसूची !

यजुर्वेद की मांग बढरही है। इस यजुर्वेदका मूल्य विना जिल्द १॥); कागजी जिल्द २); कापडी जिल्द २॥); और रेशमी जिल्द ३)रु. है। जो लोग मंगवाते हैं वे केवल " यजुर्वेद " इतनाही लिखते हैं। इस लिये उनके साथ फिर पत्रव्यवहार करना पडता है। अतः यजुर्वेद मंगानेवाले कौनसी जिल्दवाला यजुर्वेद चाहिये उस जिल्दका नाम लिखें, इससे भेजनेमें सुविधा होगी। यजुर्वेद मंगाने वाले उसकी पाद सूची भी मंगवाते हैं, वह अबतक छपकर तैयार नहीं हुई। कुछ पृष्ठ छप चुके हैं और आगे छपाई चल रही है, तैयार होनेपर सूचना दी जायगी! मूल्यके विषयमें हम इस समय कुछ कह नहीं सकते।

यजुर्वेद सर्वानुक्रम।

यजुर्वेद सर्वानुक्रम भी छप रहा है और ऐसी टिप्पणी के साथ छप रहा है कि जिसको देखनेसे अधिक संस्कृत न जाननेवाला मनुष्य भी उसको देखकर मंत्रका देवता, ऋषि और छंद जान सकेगा। तैयार होनेपर सूचना दी जायगी।

प्रबंधकर्ता।





अथर्ववेद

स्वाध्याय।

(अथर्ववेदका सुबोध भाष्य।)

तृतीयं काण्डम्

लेखक और प्रकाशक.

श्रीपाद दामोदर सातवळेकर

स्वाध्याय मंडल, औंध (जि. सातारा)

प्रथम वार

संवत् १९८५, शक १८५०, सन १९२८

अपने राष्ट्रका विजय !

समहमेषां राष्ट्रं स्यामि समोजो वीर्यं१ बलम् ।
वृश्चामि शत्रूणां बाहूननेन हविषाहम् ॥ २ ॥
नीचैः पद्यन्तामधरे भवन्तु ये नः सूरिं मघवानं पृतन्यान् ।
क्षिणामि ब्रह्मणामित्रानुन्नयामि स्वानहम् ॥ ३ ॥
एषामहमायुधा सं स्याम्येषां राष्ट्रं सुवीरं वर्धयामि ।
एषां क्षत्रमजरमस्तु जिष्ण्वेऽेषां चित्तं विश्वेऽवन्तु देवाः ॥ ५ ॥

अथर्व० का० ३।१९

" मैं इन अपने लोगोंके राष्ट्रको बल वीर्य और प्रभावसे युक्त करता हूं, तथा मैं शत्रुओंके बाहुओंको इस आह्वानके साथ काटता हूं ॥ २ ॥ हमारे शत्रु नीचे गिर जांय, जो हमारे ज्ञानियों और धनिकोंपर सेनासे हमला चढाते हैं वे नीचे गिर जांय ॥ ३ ॥ मैं इनके आयुधोंको तीक्ष्ण बनाता हूं, मैं इनका राष्ट्र उत्तम वीरतासे युक्त कराके बढाता हूं, इनका क्षात्रतेज अजर और विजयी हो, इन के चित्त को सब देव सचेत करें ॥ ५ ॥ "

मुद्रक तथा प्रकाशक – श्रीपाद दामोदर सातवळेकर ।
भारत मुद्रणालय, स्वाध्याय मंडल, औंध (जि.सातारा)



अथर्ववेद का स्वाध्याय।

[अथर्ववेदका सुबोध भाष्य ।]

तृतीय काण्ड।

इस तृतीय काण्डका प्रारंभ " अग्नि " शब्दसे हुआ है । यह अग्नि देवता प्रकाशकी देवता है । अंधेरेका नाश करना और प्रकाशको फैलाना इस देवता का कार्य है। प्रकाश मनुष्य का सहायक और मित्र है और अंधेरा मनुष्यका घातक और शत्रु है। प्रकाशमें मनुष्य बढता है और अंधेरेमें घटता है । इस लिये प्रकाशके देवताका महत्त्व अधिक है और इसलिये इसका नाम मंगलकारक समझा जाता है । ऐसे मंगल वाचक अग्नि शब्दसे इस काण्डका प्रारंभ हुआ है ।

जिस प्रकार प्रथम कांड में चार मंत्रवाले सूक्त और द्वितीय काण्ड में पांच मंत्रवाले सूक्त अधिक थे, इसी प्रकार इस तृतीय काण्डमें छः मंत्रवाले सूक्त विशेष हैं, देखिये—

६ मंत्रवाले	१३	सूक्त	हैं,	इनकी	मंत्रसंख्या	७८	है,
७ ,,	६	,,	,,	,,	,,	४२	,,
८ ,,	६	,,	,,	,,	,,	४८	,,
९ ,,	२	,,	,,	,,	,,	१८	,,
१० ,,	२	,,	,,	,,	,,	२०	,,
११ मंत्रवाला	१	सूक्त	है	इसकी	,,	११	,,
१३ ,,	१	,,	,,	,,	,,	१३	,,

कुल सूक्तसंख्या ३१   कुल मंत्रसंख्या २३०

प्रथम, द्वितीय, और तृतीय इन तीन काण्डोंकी तुलना मंत्रसंख्या की दृष्टिसे अब देखिये-

काण्ड,	प्रपाठक	अनुवाक	सूक्त	काण्डप्रकृति	मंत्रसंख्या
१	२	६	३५	सूक्तमें ४ मंत्र	१५३
२	२	६	३६	,, ५ ,,	२०७
३	२	६	३१	,, ६ ,,	२३०

सूक्तोंमें मंत्रोंकी जो संख्या होती है वह उसकी प्रकृति होती है, जैसा प्रथम काण्डके सूक्तोंकी प्रकृति "मंत्र चार" है अर्थात् इस काण्डके सूक्तोंमें चार मंत्रवाले सूक्त अधिक हैं और जो अधिक मंत्रवाले सूक्त हैं वे भी कई सूक्तोंमें चार मंत्रवाले बनाये जा सकते हैं,इसी प्रकार द्वितीय कांडकी प्रकृति पांच मंत्रकी है और तृतीय काण्डकी छः मंत्रकी है, इस विषयमें अथर्व सर्वानुक्रमणी का कथन यह है—

वेनस्तादिति प्रभृतिराकाण्डपरिसमाप्तेः
पूर्वकाण्डस्य चतुर्ऋचप्रकृतिरित्येवमुत्तरोत्तर
काण्डेषु षष्ठं यावदेकैका तावत्सूक्तेष्वृगिति विजानीयात।

अथर्व बृ. सर्वानु. १। १३। १

अग्निर्नः इति ... षडृचं प्रकृतिरन्या विकृतिरिति विजा--
नीयात्।

अथर्व बृ० सर्वानु. २। १। १

"पहिले काण्डकी चार ऋचाओंकी प्रकृति, द्वितीय काण्ड की पांच ऋचाओंकी प्रकृति, इस प्रकार छठे काण्डतक एक एक ऋचा सूक्तमें बढती है। तृतीय काण्डकी छः ऋचाओंकी प्रकृति है, अन्य विकृति है।"

यद्यपि प्रथम द्वितीय और तृतीय काण्डकी प्रकृति क्रमशः चार, पांच और छः ऋचाओंकी है, तथापि इन काण्डोंमें कई सूक्त ऐसे हैं कि जो इस प्रकृतिसे अधिक मंत्रसंख्यावाले हैं, इसको अथर्व-बृहत्सर्वानुक्रमणिकारने विकृति नाम दिया है। विकृति का अर्थ प्रकृतिमें कुछ विशेषता (विशेष कृति) है। यह विशेषता कई प्रकारकी होती है और विशेष रीतिसे मंत्रोंका निरीक्षण करनेसे इसका पता भी लग सकता है, जैसा द्वितीय काण्डके दशम सूक्त को देखिये। द्वितीय काण्डकी प्रकृति पांच मंत्रोंके सूक्तोंकी है, परंतु इस दशम सूक्तमें आठ मंत्र हैं, अर्थात् यह विकृति है। यह विकृति इस कारण हुई है कि "एवाहं त्वा ०-० स्ताम्।" यह मंत्र भाग इस सूक्तमें वारंवार आगया है। यदि यह वारंवार आया हुआ मंत्रभाग अलग किया जाय और एक मंत्र के साथ

ही रखा जाय और शेष मंत्र भागोंके दो दो चरणोंके मंत्र माने जांय तो केवल पांच मंत्रोंका ही यह सूक्त हो सकता है। इसी प्रकार कई अन्य रीतियां हैं कि जो अन्य सूक्तों को लग सकतीं हैं और विकृतिकी प्रकृति बनाई जा सकती है। इससे पाठक जान सकते हैं कि यह विकृति भी बुद्धिपूर्वक ही हुई है और इसके होनेसे सूक्तकी प्रकृति में कोई दोष नहीं आता है। इस प्रकार इस काण्डकी प्रकृतिका विचार करनेके पश्चात् अब हम तृतीय काण्डके सूक्तोंके क्रमशः ऋषि देवता और छन्द देखते हैं—

सूक्त.	मंत्रसंख्या	ऋषि.	देवता	छंद.
प्रथमोऽनुवाकः। प्रथमः प्रपाठकः।				
१	६	अथर्वा.	सेनामोहनं, बहुदैवत्यं	त्रिष्टुप्; २ विराड्गर्भा भूरिक्; ३, ६ अनुष्टुभ् ५ विराट्पुरउष्णिग्।
२	६	,,	,, ,,	त्रिष्टुप्; २—४ अनुष्टुभ्।
३	६	,,	अग्निः,नानादेवताः,	त्रिष्टुप्; ३च. भूरिक् पंक्तिः,५,६अनुष्टुभ्।
४	७	,,	इंद्रः	त्रिष्टुप्; १ जगती; ४, ५ भूरिक्
५	८	,,	सोमः	अनुष्टुप्; १पुरोऽनुष्टुप् त्रिष्टुप्,८विराडुरोबृहती।
द्वितीयोऽनुवाकः।				
६	८	जगद्बीजं पुरुषः	वानस्पत्याश्वत्थ-देवत्यं	अनुष्टुभ्।
७	७	भृगुः-अंगिराः	यक्ष्मनाशनं बहुदेवता.	,, ; ६ भुरिक्।
८	६	अथर्वा	मित्रः,विश्वेदेवाः.	त्रिष्टुभ्; २,६ जगती; ४ च. विराड्बृहतीगर्भा, ५ अनुष्टुभ्।
९	६	वामदेवः	द्यावापृथिवी, विश्वेदेवाः	अनुष्टुप्; ४ च. निचृद् बृहती; ६ भुरिक्।
१०	१३	अथर्वा	अष्टका	अनुष्टुप्; ४,६, १२ त्रिष्टुप्; ७-य.ष.विराड्गर्भातिजगती।
तृतीयोऽनुवाकः।				
११	८	ब्रह्मा भृगु-अंगिराः	इन्द्रः, अग्निः, आयुष्यं, यक्ष्मनाशनं,	त्रिष्टुप्; ४ शक्वरीगर्भा जगती; ८ त्र्य. प. बृहती-

				गर्भा जगती; ५, ६ अनुष्टुप्; ७ उष्णिग्बृहतीगर्भा पथ्यापंक्तिः
१२	९	ब्रह्मा	वास्तोष्पतिः, शाला।	त्रिष्टुप्; ३ बृहती; ६ शक्वरीगर्भा जगती; ७ आर्षीअनुष्टुप्; ८ भूरिक्; ९ अनुष्टुप्
१३	७	भृगुः	वरुणः, सिन्धुः।	अनुष्टुप्; १ निचृत्; ५ विराड्जगती; ६ निचृदनुष्टुप्
१४	६	ब्रह्मा	नानादेवताः गोष्ठदेवता।	अनुष्टुप्; ६ आर्षीत्रिष्टुप्
१५	८	अथर्वा (पण्यकामः)	विश्वेदेवाः इन्द्राग्नी	त्रिष्टुप्; १ भुरिक्; ४ त्र्य. ष. बृहतीगर्भा विराडत्यष्टिः ५ विराड्जगती;७अनुष्टुप्;८निचृत्।

चतुर्थोऽनुवाकः। द्वितीयः प्रपाठकः।

१६	७	अथर्वा	बृहस्पतिः बहुदेवत्यं	त्रिष्टुप्; १ आर्षीजगती; ४ भूरिक्पंक्तिः।
१७	९	विश्वामित्रः	सीता	अनुष्टुप्; १ आर्षी गायत्री; २, ५, ९ त्रिष्टुभः; ३ पथ्या पंक्तिः; ७ विराट्पुरउष्णिक् ८ निचृत्।
१८	६	अथर्वा	वनस्पतिः	अनुष्टुप्; ४ अनुष्टुब्गर्भा चतु० उष्णिक्. ६ उष्णिग्गर्भा पथ्या पंक्तिः।
१९	८	वसिष्ठः	विश्वेदेवाः, चंद्रमाः. इन्द्रः	अनुष्टुप्; १ पथ्याबृहती; ३ भूरिग्बृहती; ६ त्र्य० ष० त्रि. क. गर्भातिजगती;७विराडस्तारपंक्तिः; ८ पथ्यापंक्तिः।
२०	१०	,,	अग्निः मंत्रोक्तदेवताः	अनुष्टुप्; ६ पथ्यापंक्तिः; ८ विराड्जगती।

पञ्चमोऽनुवाकः।

२१	१०	वसिष्ठः	अग्निः	त्रिष्टुप्; १ पुरोनुष्टुप्; २,३,८ भूरिक्; ५ जगती; ६ उपरिष्टाद्विराड्बृहती; ७ विराड्गर्भा; ९. निचृदनुष्टुप्; १० अनुष्टुप्।
२२	६	,,	बृहस्पतिः, विश्वेदेवाः,	अनुष्टुप्; १ विराट्त्रिष्टुप्; ३ पंचपदा परानुष्टुप्विराडतिजगती;४त्र्यवसानाषट्पदाजगती

२३	६	ब्रह्मा	चन्द्रमाः, योनिः	अनुष्टुप्; ५ उपरिष्टाद्भुरिग्बृहती; ६ स्कंधोग्रीवीबृहती।
२४	७	भृगुः	वनस्पतिः प्रजापतिः	अनुष्टुप् ;२निचृत्पथ्यापंक्तिः।
२५	६	भृगुः (जायाकामः)	मित्रावरुणौ कामेषुदेवता.	अनुष्टुप्

षष्ठोऽनुवाकः ।

२६	६	अथर्वा	रुद्रः अग्न्यादिबहुदेवत्यं	त्रिष्टुप्; २ त्रिष्टुप्; २, ५, ६ जगती; ३, ४ भुरिक् ।
२७	६	,,	रुद्रः	अष्टिः;२ अत्यष्टिः, ५भुरिक्
२८	६	ब्रह्मा	यामिनी	अनुष्टुप्; १ अतिशक्वरीगर्भा च. अ. जगती; ४ यवमध्या विराट् ककुप् ; ५ त्रिष्टुप्; ६ विराड्गर्भा प्रस्तारपंक्तिः ।
२९	८	उद्दालकः	शितिपादविः ७ कामः;८भूमिः	अनुष्टुप्; १, ३ पथ्यापंक्तिः; ७ त्र्य. ष. उपरिष्टाद्दैवीबृहती ककु० ग० विराड्जगती; ८ उपरिष्टाद्बृहती ।
३०	७	अथर्वा	चन्द्रमाः सांमनस्यं	अनुष्टुप् ; ५ विराड्जगती; ६ प्रस्तारपंक्तिः ७ त्रिष्टुप् ।
३१	११	ब्रह्मा	पाप्म-हा	अनुष्टुप् ; ४ भुरिक् ; ५ विराट् प्रस्तारपंक्तिः

तृतीय काण्डके सूक्तोंके ये ऋषि देवता और छन्द हैं। अब इनका विभाग ऋषि क्रमानुसार देखिये—

१ अथर्वा— १-५, ८, १०, १५, १६, १८, २६, २७, ३०, ये तेरह सूक्त।

२ ब्रह्मा- ११, १२, १४, २३, २८, ३१ ये छः सूक्त।

३ वासिष्ठः- १९-२२ ये चार सूक्त।

४ भृगुः — १३, २४, २५ ये तीन सूक्त।

भृगु-अंगिराः- ७, ११ ये दो सूक्त।

५ जगद्बीजं पुरुषः- ६ वाँ एक सूक्त।

६ वामदेवः- ९ वाँ एक सूक्त।

७ विश्वामित्रः- १७ वाँ एक सूक्त।

८ उद्दालकः— २९ वाँ एक सूक्त ।

ये ऋषिक्रमानुसार सूक्त हैं । अब देवताक्रमानुसार सूक्त देखिये—

१ बहुदैवत्यं, नाना देवताः–१–३,७,१४,१६,२६,२७,ये आठ सूक्त ।
२ विश्वेदेवाः— ८, ९, १५, १९, २२ ये पांच सूक्त ।
३ अग्निः– ३, ११, २०, २१ ये चार सूक्त ।
४ इन्द्रः– ४, ११, १९ ये तीन सूक्त ।
५ चन्द्रमाः—१९, २३, ३० ये तीन सूक्त ।
६ बृहस्पतिः—१६, २२ ये दो सूक्त ।
७ रुद्रः—२६, २७ ,, ,,
८ वनस्पतिः—१८, २४ ,, ,,
९ यक्ष्म नाशनं—७, ११ ,, ,,
१० सेना मोहनं—१, २ ,, ,,
११ इन्द्राग्नी—१५ यह एक सूक्त।
१२ सोमः—५ ,, ,,
१३ वनस्पत्यश्वत्थः—६ ,, ,,
१४ मित्रः—८ ,, ,,
१५ द्यावापृथिवी—९ ,, ,,
१६ वरुणः—१३ ,, ,,
१७ प्रजापतिः—२४ ,, ,,
१८ मित्रावरुणौ —२५ ,, ,,
१९ भूमिः—२९ ,, ,,
२० अष्टका—१० ,, ,,
२१ सिंधुः—१३ ,, ,,
२२ आयुष्यं—११ ,, ,,
२३ वास्तोष्पतिः—१२ ,, ,,
२४ शाला—१२ ,, ,,
२५ गोष्ठः—१४ ,, ,,
२६ सीता—१७ ,, ,,
२७ योनिः—२३ ,, ,,

२८ कामेषुः—२५ यह एक सूक्त
२९ यामिनी—२८ ,, ,,
३० कामः २९ ,, ,,
३१ सांमनस्यं—३० ,, ,,
३२ पाप्म-हा—३१ ,, ,,
३३ शितिपादविः—२९ ,, ,,
३४ मंत्रोक्ताः—२० ,, ,,

इस प्रकार इन सूक्तोंके मंत्रोंकी देवताएं हैं। इन से और भी देवताएं हैं जिनका संबंध पाठक विवरणके समय स्वयं समझ जांयगे। अब इन सूक्तोंके गणोंका विचार देखिये-

सूक्तोंके गण।

इस तृतीय काण्डके सूक्तोंके गण इस प्रकार लिखे हैं—

१ अपराजितगण – १९ वाँ सूक्त।
२ तक्मनाशनगण – ७, ११ ये दो सूक्त।
३ वर्चस्यगण – १६, २२ ,, ,,
४ आयुष्यगण – ८, ११ ,, ,,
५ रौद्रगण – २६, २७ ,, ,,
६ अंहोलिंगगण – ११ वाँ एक सूक्त।
७ पाप्म-हा-गण – ३१ ,, ,,
८ बृहच्छान्तिगण – २१ ,, ,,

इस प्रकार ये सूक्त इन गणोंके साथ संबंध रखते हैं। इस काण्डके अन्य सूक्तोंके गणोंका पता नहीं चलता। इस काण्डके सूक्तों द्वारा कुछ शांतियां सूचित होती हैं उनके नाम ये हैं –

१ आंगिरसी महाशान्ति – ५, ६ ये दो सूक्त।
२ कौमारी ,, ७ वाँ एक सूक्त।
३ ब्राह्मी ,, २२ ,, ,,

इन सूक्तोंका संबंध इन शान्तियोंके साथ है । इस लिये अध्ययन करनेके समय पाठक इस बातका विचार करें । खोज करने वालोंको उचित है कि वे इस शांति प्रकरण की खोज करें अर्थात् इन शांतियोंका तात्पर्य क्या है और इनकी विधि भी कैसी होती है इत्यादि खोजका विषय है । संभव है कि इस खोजसे अपूर्व ज्ञान प्राप्त होगा । इस काण्डमें शत्रुसेनाके संमोहन का विषय पहले दो सूक्तोंमें आया है और सांमनस्य अर्थात् एकता का विषय तीसवें सूक्तमें आया है । -

शत्रुसेनासंमोहनं— १, २ ये दो सूक्त ।
सांमनस्यं—३० वाँ एक सूक्त ।

ये सूक्त विशेष विचार पूर्वक इस दृष्टिसे पढने योग्य हैं । इसके अतिरिक्त इस तृतीय काण्डका १५ वां "इन्द्र महोत्सव" के विषयका सूक्त है, ऐसा कौशीतकी सूत्रमें कहा है । इसलिये इस इन्द्र महोत्सव के विषयमें भी विचार होना चाहिये ।

ये सब विषय बडे गंभीर हैं इसलिये आशा है कि पाठक भी इसका विचार गंभीरता के साथ करेंगे । इतनी भूमिका के साथ अब तृतीय काण्ड शुरू किया जाता है—



अथर्ववेदका स्वाध्याय ।

तृतीय काण्ड ।

शत्रुसेना का संमोहन ।

(१)

(ऋषिः—अथर्वा । देवता — सेनामोहनं, बहुदेवत्यम् ।)

अग्निर्नः शत्रून्प्रत्येतु विद्वान्प्रतिदहन्नभिशस्तिमरातिम् ।
स सेनां मोहयतु परेषां निर्हस्तांश्च कृणवज्जातवेदाः ॥ १ ॥
यूयमुग्रा मरुत ईदृशे स्थाभि प्रेत मृणत सहध्वम् ।
अमीमृणन्वसवो नाथिता इमे अग्निर्ह्येषां दूतः प्रत्येतु विद्वान् ॥ २ ॥
अमित्रसेनां मघवन्नस्माञ्छत्रूयतीमभि ।
युवं तानिन्द्र वृत्रहन्नग्निश्च दहतं प्रति ॥ ३ ॥
प्रसूत इन्द्र प्रवता हरिभ्यां प्र ते वज्रः प्रमृणन्नेतु शत्रून् ।
जहि प्रतीचो अनूचः पराचो विष्वक्सत्यं कृणुहि चित्तमेषाम् ॥ ४ ॥
इन्द्र सेनां मोहयामित्राणाम् ।
अग्नेर्वातस्य ध्राज्या तान्विषूचो वि नाशय ॥ ५ ॥
इन्द्रः सेनां मोहयतु मरुतो घ्नन्त्वोजसा ।
चक्षूंष्यग्निरा दत्तां पुनरेतु पराजिता ॥ ६ ॥

अर्थ— (विद्वान् अग्निः) विद्वान् अग्निसमान तेजस्वी वीर (अभिशस्ति अरातिं) घातपात करनेवाले शत्रुको (प्रति दहन्) जलाता हुआ (नः शत्रून् प्रत्येतु) हमारे शत्रुओंपर चढाई करे। (सः जातवेदाः) वह ज्ञानी (परेषां सेनां) शत्रुओंकी सेनाको (मोहयतु) मोहित करे (च निर्हस्तान् कृणवत्) और उनको हस्तरहित करे ॥ १॥ हे (मर्+उतः) मरनेके लिये तैयार वीरो ! (ईदृशे यूयं उग्राः स्थ) ऐसे समयमें तुम बडे वीर हो, इस लिये (अभि-प्र-इत, मृणत, सहध्वम्) आगे बढो, काटो, और जीत लो।

(इमे नाथिताः वसवः) ये बलवान् बसनेवाले वीर (अमीमृणन्) काटते रहे हैं। (एषां दूतः विद्वान् अग्निः) इनका दाहकर्ता ज्ञानी अग्निके समान तेजस्वी वीर (प्रत्येतु) विशेष चढाई करे ॥ २ ॥ हे (मघवन् वृत्रहन् इन्द्र) धनवान् शत्रुनाशक सम्राट् तथा (च अग्निः) हे ज्ञानी ! (युवं) तुम दोनो मिलकर (अस्मान् शत्रूयतीं अमित्र-सेनां) हमारी शत्रुता करनेवाली शत्रु-सेनाको (अभि) पराभूत करके (तान् प्रति दहतं) उनको जला दो ॥ ३॥ हे (इन्द्र) नरेन्द्र ! (प्रवता ते हरिभ्यां) वेगसे तेरे हरणशील वेगों द्वारा (प्रसूतः वज्रः) चलाया हुआ वज्र (शत्रून् प्रमृणन् प्र+एतु) शत्रुओंको काटता हुआ आगे बढे। (प्रतीचः, अनूचः, पराचः) सन्मुख, पीछे और परे भागनेवाले शत्रुओंको (जहि) हनन कर दे और (एषां चित्तं) इन शत्रुओंके चित्तको (सत्यं विष्वक् कृणुहि) ठीक प्रकार चारों ओर भटका दे ॥ ४ ॥ हे (इन्द्र) नरेश! (अमित्राणां सेनां मोहय) शत्रुओंकी सेनाको घबराओ। (अग्नेः वातस्य ध्राज्या) अग्निके और वायुके प्रचंड वेगसे (तान्) उन शत्रुसैनिकों को (विषूचः विनाशय) चारों ओर भटकाकर नाश कर डाल ॥ ५ ॥ (इन्द्रः सेनां मोहयतु) नरेश शत्रुसेनाको मोहित करे, (मर्+उतः) मरनेके लिये सिद्ध हुए वीर (ओजसा घ्नन्तु) वेगसे हनन करें। (अग्निः चक्षूंषि आदत्तां) अग्नि अर्थात् प्रकाश उनके आंखोंको लेलेवे। इस प्रकार शत्रुकी (पराजिता) पराभूत हुई सेना (पुनः एतु) फिर भी पीछे हटे ॥ ६ ॥

भावार्थ— राजनीतिको जाननेवाले विद्वान् और तेजस्वी पुरुष घातपात करनेवाली शत्रुसेनाको जलाते हुए शत्रुओंपर चढाई करें। सेनासंमोहन की विद्याको जाननेवाले ज्ञानी शत्रुसेनाको मोहित करें और उनको हस्त-हीन जैसे बना देवें ॥ १ ॥ हे मरनेके लिये सिद्ध हुए शूरवीरो ! ऐसे युद्ध समयमें तुम बडे वीर हो, इस लिये आगे बढो, शत्रुको काटो और उनको जीत लो। ये बलवान् अपने देशनिवासी वीर शत्रुको काटते हैं; इनका साथी ज्ञानी तेजस्वी वीर भी शत्रुको जलाता हुआ शत्रुपर चढाई करे ॥ २ ॥ हे धनवान् शत्रुनाशक नरेश ! तथा हे तेजस्वी ज्ञानी वीर! तुम दोनों मिलकर हमारी शत्रुता करनेवाली शत्रुसेनाको पराभूत करो और उनको जला दो ॥ ३ ॥ हे नरेश ! वेगसे चलाया हुआ तुम्हारा शस्त्रका समुदाय

शत्रुओंको काटता हुआ आगे बढे । संमुखसे, पीछेसे और चारों ओरसे भागनेवाली शत्रुसेनाका हनन करके उनके चित्तमें ऐसी घबराहट उत्पन्न करो कि जिससे वे चारों दिशाओंमें भाग जांय ॥ ४ ॥ हे नरेश ! अग्न्यस्त्र के दाहसे और वायव्यास्त्रके वेगसे शत्रु सेनाको ऐसा घबराओ कि वे चारों दिशाओंमें भाग जांय और इस रीतिसे उनका नाश कर ॥ ५ ॥ नरेश शत्रुके सैन्यको घबरावे, शूर वीर वेगसे शत्रुसेनाका हनन करें और शत्रु-सेनाकी ऐसी घबराहट करें कि जिससे उनको कुछभी न दीख पडे और इस प्रकार शत्रुका पूर्ण पराजय होकर उनका पूर्ण नाश हो जावे ॥ ६ ॥

इसी विषयका द्वितीय सूक्त है इसलिये उस सूक्तका भी अर्थ हम यहां पहले देखते हैं, और पश्चात् दोनों सूक्तोंका मिलकर विचार करेंगे । द्वितीय सूक्त यह है—

[२]

(ऋषिः— अथर्वा । देवता — सेनामोहनं, बहुदैवत्यम् ।)

अग्निर्नो दूतः प्रत्येतु विद्वान्प्रतिदहन्नभिशस्तिमरातिम् ।
स चित्तानि मोहयतु परेषां निर्हस्तांश्च कृणवज्जातवेदाः ॥ १ ॥
अयमग्निरमूमुहद्यानि चित्तानि वो हृदि ।
वि वो धमत्वोकसः प्र वो धमतु सर्वतः ॥ २ ॥
इन्द्र चित्तानि मोहयन्नर्वाङाकूत्या चर ।
अग्नेर्वातस्य ध्राज्या तान्विषूचो वि नाशय ॥ ३ ॥
व्याकूतय एषामिताथो चित्तानि मुह्यत ।
अथो यदद्यैषां हृदि तदेषां परि निर्जहि ॥ ४ ॥
अमीषां चित्तानि प्रतिमोहयन्ती गृहाणाङ्गान्यप्वे परेहि ।
अभि प्रेहि निर्दह हृत्सु शोकैर्ग्राह्यामित्रांस्तमसा विध्य शत्रून् ॥ ५ ॥
असौ या सेना मरुतः परेषामस्मानैत्यभ्योजसा स्पर्धमाना ।
तां विध्यत तमसापव्रतेन यथैषामन्यो अन्यं न जानात् ॥ ६ ॥

अर्थ— (नः दूतः विद्वान् अग्निः) हमारा दूत ज्ञानी तेजस्वी वीर (अभिशस्तिं अरातिं प्रतिदहन्) घात पात करनेवाले शत्रुको जलाता

हुआ (प्रत्येतु) चढाई करे। (सः जातवेदाः परेषां चित्तानि मोहयतु) वह ज्ञानी शत्रुओंके चित्तोंको मोहित करे और उनको (निर्हस्तान् च कृणवत्) हस्त हीन जैसे करे॥ १॥ (यानि वः हृदि) जो तुम्हारे हृदय में संबंधित हैं वे (चित्तानि) चित्त (अयं अग्निः अमूमुहत्) यह तेजस्वी वीर घबराहटमें डालता है। वह (वः ओकसः विधमतु) तुमको-शत्रुको-घरसे निकाल देवे और (वः सर्वतः प्रधमतु) तुमको-शत्रुको-सर्व प्रदेशसे हटा देवे॥ २॥ हे (इन्द्र) नरेश! शत्रुके (चित्तानि मोहयन्) चित्तोंको मोहयुक्त करता हुआ तू (आकूत्या अर्वाङ् चर) शुभसंकल्पसे हमारे पास आ। (अग्नेः वातस्य ध्राज्या) अग्नि और वायुके वेगसे (तान् विषूचः विनाशय) उनको चारों ओरसे नष्ट भ्रष्ट कर दे॥ ३॥ हे (एषां) इन शत्रुओंके (आकूतयः) संकल्पो! (वि) तुम परस्पर विरुद्ध हो जाओ, पश्चात् तुम (इत) हट जाओ (अथो चित्तानि) और इनके चित्तो! (मुह्यत) मोहित होओ। (अथो अद्य) और आज (यत् एषां हृदि) जो इनके हृदयमें संकल्प है (एषां यत् परि निर्जहि) इनका वह संकल्प पूर्णतासे नाश कर॥ ४॥ हे (अप्वे) व्याधि! (अमीषां चित्तं प्रतिमोहयन्ती) इनके चित्तको मोहमें डालती हुई शत्रुसेनाके (अंगानि गृहाण) अवयवों को पकडे रखो और (परा इहि) परे तक चली जा। (अभि प्र इहि) सब प्रकारसे आगे बढ। (हृत्सु शोकैः निर्दह) हृदयके शोकोंके साथ शत्रुको जलादे। तथा (ग्राह्या तमसा) जकडनेवाले रोगसे और मूर्च्छा रोगसे (अमित्रान् शत्रून् विध्य) दुष्ट शत्रुओंको त्रस्त कर दे॥ ५॥ हे मर्+उतः) मरनेके लिये सिद्ध वीरो! (परेषां असौ या सेना) शत्रुओंकी यह जो सेना (स्पर्धमाना अस्मान् ओजसा अभि-आ-एति) स्पर्धा करती हुई हमपर वेगसे चढाई करके आती है, (तां अपव्रतेन तमसा विध्यत) उसको कर्महीन करनेवाले अंधकारसे मोहित कर डालो, (यथा) जिससे (एषां अन्यः अन्यं न जानात्) इनमेंसे एक दूसरेको भी न जान सके॥ ६॥

भावार्थ-- हमारे ज्ञानी स्वयंसेवक वीर घातपात करने वाले शत्रुसेना पर चढाई करें, शत्रुओंको घबराहटमें डालें और उनको हस्तहीन जैसे बना देवे॥१॥ शत्रुके चित्तोंको मोहित करे, उनको घरोंसे निकाल देवे और सब देशसे उनको हटा देवे॥ २॥ हे राजन्! तू शत्रुसेना के चित्तोंको मोहित

कर, अग्न्यस्त्र और वायव्यास्त्र के वेगसे उनको चारों दिशाओंमें भगा दे और पश्चात् विजयपूर्ण शुभ संकल्पसे हमारे पास आ ॥ ३ ॥ शत्रुओंके संकल्प आपसमें एक दूसरेके विरोधी हों, उनके दिलोंमें घबराहट पैदा हो, और उनके दिलोंमें जो संकल्प आज हों वे संकल्प कल तक भी स्थिर न रहें ॥ ४ ॥ व्याधियां तथा अन्य भय भी शत्रुके दिलको भयभीत कर दे, शत्रुसैनिकों के अंगप्रत्यंग व्याधियोंसे जकड जांय, शत्रुसैन्य रोगोंसे और नाना प्रकारके भयोंसे त्रस्त हो जाय। संधिवात और मूर्च्छा रोग शत्रुको घबरा देवे ऐसे कठिन समयमें उनपर हमला कर और शत्रुके हृदयोंको शोकसे जला दे ॥ ५ ॥ हे वीर पुरुषो! जो सेना हमारे साथ स्पर्धा करती हुई हमपर चढाई करके आरही है उसको ऐसा मोहित करो कि वे पुरुषार्थ-हीन होकर मूर्च्छितसे हो जांय और उनमेंसे एक मनुष्य दूसरे को जान भी न सके ॥ ६ ॥

सेनाका संमोहन।

ये दो सूक्त शत्रुसेनाके संमोहनका विषय बतारहे हैं। जो शत्रुकी सेना मारती और काटती हुई अपने राष्ट्रपर अथवा अपने सैनिकोंपर चढाई करके आरही है, वह मोहित करके, घबराकर पराभूत करनी चाहिये और उसको भगा देना चाहिये। इसका नाम है " सेना-संमोहन "।

कई लोग कल्पना करते हैं कि यह शत्रुकी सेनाका संमोहन मंत्रसामर्थ्यसे होता है, परंतु वास्तविक बात वैसी नहीं है। यह संमोहन केवल घबराहट ही है अर्थात् शत्रुसेना पर ऐसे हमले करने कि शत्रुसैनिकोंको कर्तव्य मूढ बन कर भागजाना ही एक मार्ग जीव बचानेके लिये अवशिष्ट रहे।

ये दोनों सूक्त स्पष्ट हैं और इतनेही विषयका यहां अधिक विवरण करनेकी भी कोई आवश्यकता नहीं है। तथापि इन सूक्तोंमें कई शब्द प्रयोग ऐसे किये गये हैं, कि जिनका विशेष स्पष्टीकरण करना अत्यंत आवश्यक है, अन्यथा संदेह उत्पन्न होना संभव है। इन सूक्तोंमें " अग्नि, इन्द्र, मरुत् " आदि शब्द हैं, जिनके अर्थ देवता प्रसंगमें अग्नि, विद्युत्, वायु आदि लिये जाते हैं, तथा अध्यात्म प्रसंगमें वाणी, मन, और प्राण लिये जाते हैं; इस विषयका स्पष्टीकरण पूर्व काण्डोंमें आचुका है। ये दोनों प्रसंग इन दोनों सूक्तोंमें नहीं हैं। इन सूक्तोंका विषय युद्ध है, शत्रुसेना मोहनका संबंध

है, अपनी सेना और शत्रुसेना का झगडा होनेका अवसर है, इस लिये यह न अध्यात्म का विषय है और ना ही आधिदैवत का विषय है। प्राणियोंके परस्परके संबंधका वर्णन आधिभौतिक प्रकरणमें हुआ करता है। इस कारण आधिभौतिक प्रकरणको प्राणि समष्टि विषय का प्रकरण कहा जाता है और इस प्रकरणमें उक्त शब्दोंके अर्थ प्राणि-विषयक होते हैं अर्थात् यहां मनुष्यप्राणि विषयक भाव समझना उचित है। अब उक्त शब्दोंके अर्थ देखिये—

१ इन्द्र।

(इन्+द्र) शत्रुसेनाका भेदन करनेवाला, यह इसका धात्वर्थ है परंतु मुखिया इस अर्थमें इस शब्दका प्रयोग होता है, जैसा—मृगेन्द्र= मृगोंका मुखिया, सिंह; खगेन्द्र=पक्षियोंका मुखिया गरुड; नरेन्द्र=मनुष्योंमें मुख्य राजा अथवा सम्राट् इ०। इन्द्र शब्दके ये अर्थ प्रसिद्ध हैं, परंतु प्रायः लोग केवल " इन्द्र " शब्दका अर्थ " राजा " करनेके समय डरते हैं। उनको इन दो सूक्तोंका अच्छा मनन करना उचित है। इस मननसे उनको पता लग जायगा कि ऐसे प्रसंगोंमें मनुष्य विषयक ही इन्द्रादि शब्दों का अर्थ लेना योग्य है। इस विषयको अच्छी प्रकार समझमें आनेके लिये इन दो सूक्तों के कई वाक्य उदाहरण के लिये लेते हैं—

१ इन्द्र ! ते प्रसूतः वज्रः शत्रून् प्रमृणन् एतु।
प्रतीचः अनूचः जहि। एषां चित्तं विष्वक् कृणुहि ॥ (सू० १ मं० ४)
२ इन्द्र ! अमित्राणां सेनां मोहय।
अग्नेः वातस्य ध्राज्या विषूचः तान् विनाशय ॥ (सू० १ मं० ५)
३ इन्द्रः सेनां मोहयतु ॥ (सू० १ मं० ६)
४ इन्द्र ! चित्तानि मोहयन् आकूत्या अर्वाङ् चर ॥ (सू० २ मं० ३)

" (१) हे राजन् ! तेरे द्वारा चलाया हुआ शस्त्र शत्रुओंको काटता हुआ आगे चले। सब ओरके शत्रुओंका हनन कर। इन शत्रुओंके चित्तको चारों ओर भटकनेवाला कर॥ (२) हे राजन् ! शत्रुकी सेनाको मोहित कर। अग्नि और वायु के प्रवाहसे शत्रुसेनाको चारों ओर भगादे ॥ (३) राजा शत्रुसेनाको घबरा देवे ॥ (४) हे राजन् ! शत्रुसेनाको मोहित करके अपने शुभ संकल्पसे हमारे पास चला आ ॥ "

इस प्रकारके ये मंत्र इन्द्र शब्द द्वारा राजाका कर्तव्य बता रहे हैं। यहां "राजा, नरेन्द्र, सम्राट्" आदि प्रकारका ही इस शब्द का अर्थ है। यहां इन्द्र शब्द क्षात्रशिरोमणी वीर

राजाका वर्णन कर रहा है, जो स्वयं युद्ध भूमि में उपस्थित रहकर अपनी सेनाको चलाता है, और केवल सेनापति पर ही निर्भर नहीं रहता है। इसी इन्द्रके अन्य पर्याय भी इन सूक्तोंमें आगये हैं वे अब देखेंगे—

२ मघवन् ।

" (मघ) धन (वन्) वाला। जिसके पास धन है। जो राजा अपने पास बहुत धन-संग्रह रखता है वही युद्धमें विजय पासकता है। युद्धमें विजय प्राप्त करनेका यह एक बडा भारी साधन है, धनहीन राजा यदि युद्ध का प्रारंभ करेगा तो उसके पराभूत होनेमें कोई संदेह ही नहीं है। इस शब्दसे बोध होने वाला यह अर्थ पाठक देखें और राजाका बल धनकोश में होता है यह बात जानलें।

३ वृत्रहन् ।

" (वृत्र) घेरनेवाले शत्रुको (हन्) हनन करनेवाला। अर्थात् जो शत्रु घेरकर हमला करता है अथवा मार्ग रोकता है उसको अपने शस्त्रोंके प्रभावसे मारता है, उसका यह नाम है।

इस प्रकार इन्द्र वाचक शब्द और उसके वर्णन परक मंत्र वीर राजाके कर्तव्य बता रहे हैं। पाठक यह वैदिक शैली जानेंगे तो उनको बहुत मंत्रोंका गंभीर आशय इस रीतिसे स्पष्टतया ध्यानमें आसकता है। इन्द्रके साथ " मरुत् " रहते ही हैं, इनके विषयमें अब देखिये–

४ मरुतः ।

(मर्+उत्) मरनेके लिये जो उठकर खडे हुए हैं, मरनेके लिये जो तैयार हुए हैं, शत्रुका पराभव करनेके लिये अपने प्राणोंकी आहुती देनेके लिये जो कटिबद्ध हुए हैं, उन वीरोंका यह नाम है। इन्द्रकी सेनाके मरुत् नामक जो वीर हैं उनका वर्णन भी इस अर्थकी सार्थकता बतारहा है। यह शब्द सैनिकोंका उत्साह बता रहा है। इस प्रकारके उत्साही वीर जिस सेनामें होंगे उनका विजय निःसंदेह हो सकता है। इस शब्दका प्रयोग जिन मंत्रोंमें है उनके उदारण यहां देखिये–

१ हे मरुतः ! ईदृशो यूयं उग्राः स्थ। अभिप्रेत, मृणत, सहध्वम्। (सू० १ मं. २)

२ मरुतः ओजसा घ्नन्तु। (सू० १ मं. ६)

३ हे मरुतः ! या असौ परेषां सेना स्पर्धमाना अस्मान् अभ्येति,

तां अपव्रतेन तमसा विध्यत, यथा एषां
अन्यः अन्यं न जानात् ॥ (सू० २ मं० ६)

(१) हे मरनेके लिये तैयार वीरो ! ऐसे प्रसंगमें तुम सब बडे उग्र हो। इस लिये आगे बढो, काटो और वैरीको पराभूत करो ॥ (२) वीर लोग बलके साथ वैरीको काटें ॥ (३) हे वीरो! यह जो वैरीकी सेना हमारे साथ स्पर्धा करती हुई हमपर धावा कर रही है, उसको कर्महीन मोहमय तमसे विद्ध करो, जिससे उनका एक मनुष्य दूसरेको पहचान न सके ॥ "

ये मरुतोंके मंत्र स्पष्टतया सैनिक वीरोंके कर्तव्य बतारहे हैं। युद्धमें सेनाके वीर कैसा उग्र कर्म करें, उसका उपदेश यहां इस प्रकार मिल रहा है। इसका मनन करके क्षात्र तेजसे युक्त वीर पुरुषोंको बडा उत्साह आ सकता है। इसके नन्तर " वसवः " शब्द देखिये-

५ वसवः।

वसनेवालोंका नाम " वसु " है। जो अपने राष्ट्रमें अपने अधिकारसे वसना चाहते हैं, शत्रुके हमले होने पर भी स्वयं अपने स्थानसे हिलना नहीं चाहते वे " वसु " होते हैं। इन वसुओंके विषयमें अथर्ववेदमें ही अन्य स्थानमें कहा है-

संवसव इति वो नामधेयं उग्रंपश्या राष्ट्रभृतो ह्यक्षाः ॥

अथर्व. ७। १०९। ६

" आपका नाम संवसु (संवसवः) है, आप देखनेके लिये अति उग्र हैं और राष्ट्रका भरण पोषण करनेवाले हैं और आप राष्ट्रके (अक्षाः) आंख ही हैं। " इस मंत्रमें वसु उग्र राष्ट्रभृत्य हैं ऐसा कहा है। इस लिये हम यहां इस सूक्तके प्रसंगमें " वसु " पदका अर्थ " उग्र राष्ट्रभृत्य " अर्थात् " शूरवीर राष्ट्रीय स्वयं सेवक " करते हैं। यह अर्थ लेनेसे प्रचलित सूक्तके मंत्र भागका अर्थ निम्न लिखित प्रकार होता है देखिये-

इमे नाथिता वसवः अमीमृणन्।
एषां दूतः अग्निः विद्वान् प्रत्येतु । (सू० १ मं० २)

" ये प्रभावशाली राष्ट्रभृत्य वैरीसेनाको काटते हैं। इनका विद्वान् दूत अग्नि वैरीपर चढाई करे। " इस मंत्रमें हमें पता लगता है कि यहां का अग्नि शब्द वसुओंमेंसे एक वसुका वाचक है अर्थात् यदि उक्त प्रकार " वसु " राष्ट्रभृत्य हैं, तो " अग्नि " भी वसुओंमें से एक राष्ट्रभृत्य अथवा राष्ट्रका दूत " है जो समय-ज्ञ है और बडा चतुर भी है। इन्द्र और अग्निमें यह भेद है, पाठक इसका मनन करें। इन्द्र स्वयं सम्राट् अथवा राजा

है, वह स्वयंसेवक या राष्ट्रभृत्य नहीं है, और अग्नि राजा नहीं है परंतु राष्ट्रभृत्य है। अग्नि विद्वान् है और इन्द्र धनवान् है। ये विशेषणों द्वारा बताये भेद पाठक मनन पूर्वक देखें और सोचें। ये भेद ही वैदिक राज्य पद्धतिका स्वरूप स्पष्ट करदेते हैं। इस प्रकार वसु शब्दका अर्थ देखनेके पश्चात्, और अग्निको उनमें से एक जाननेके पश्चात् अब अग्निका अर्थ देखते हैं —

६ अग्निः।

वसु शब्दके जो लक्षण पूर्व शब्दके वर्णनके प्रसंगमें बताये हैं वे इसके साथ भी संगत होते हैं। यह प्रकाशका देव है, शत्रुको जलाता है और उपासकको तेज प्रदान करता है। यह (विद्वान्) ज्ञानी है, समयज्ञ है, कर्तव्य अकर्तव्य को ठीक प्रकार समझता है। यह (जात-वेदाः=जातं वेत्ति) बने हुए वस्तुस्थितिको यथावत् जाननेवाला है। पाठक देखें कि ऐसा योग्य राष्ट्रभृत्य (दूतः) राष्ट्रका दूत, कितना उपयोगी होगा, और ऐसे युद्धके प्रसंगमें इस प्रकारके राष्ट्रदूत की सेवाका कितना लाभ राष्ट्रको हो सकता है।

अग्नि ब्राह्म तेज और इन्द्र क्षात्रतेज व्यक्त करता है, जिस समय राष्ट्रपर आपत्ति आती है उस समय ये दोनों मिल जुलकर राष्ट्रकार्य करें, इस विषयकी सूचना इन सूक्तोंमें मिलती है। इस विषयका मंत्र देखिये—

हे वृत्रहन् इन्द्र ! अग्निः च यूयं तान् प्रतिदहतम्। (सू० १ मं.३)

"हे वीर राजन् ! तू और ज्ञानी राष्ट्रभृत्य दोनों मिलकर शत्रुको जला दो।" यहां मिल कर कार्य करनेका उपदेश है ब्राह्मतेज और क्षात्रतेज इकट्ठा होकर वैरीका नाश करे। ऐसा कभी न हो कि वैरी राष्ट्रके द्वारमें उपस्थित होवे और राष्ट्रके ये दोनों भाग आपसमें झगडते रहें। यह तो राष्ट्र घातकी अवस्था होगी, इसलिये ब्राह्मण क्षत्रियोंको अपना अभेद्य ऐक्य रखना चाहिये और अपने राष्ट्रकी उन्नतिमें ही अपनी उन्नति देखनी चाहिये।

शत्रुको घबरानेकी रीति।

वैरीको घबराना, उसको मोहित करना, उसको भ्रमित करना और उसको परास्त करना, इत्यादिके उपाय इन दो सूक्तोंमें कहे हैं। जिनमेंसे हमले करनेकी कई विधियां इससे पूर्वके स्पष्टीकरणमें आचुकी हैं। अब कुछ विशेष साधनोंका उल्लेख करना है जो यहां करेंगे—

१ अग्न्यस्त्र और वायव्यास्त्र के प्रयोगसे वैरीका नाश करनेकी पहिली रीति इन सूक्तोंमें कही है—

अग्नेः वातस्य ध्राज्या तान् विनाशय ॥ सू० १ मं०५; सू० २ मं०२

" अग्नि के वेगसे और वायुके वेगसे उन शत्रुओंका नाश कर । यहां ध्राजी शब्द है, अग्निका (ध्राजी) महावेग और वायुका महावेग, इनके धक्केसे शत्रुका नाश करना लिखा है। ध्राजी शब्दका अर्थ केवल वेग, गति इतनाही नहीं है,जिस वेगके धक्केसे मनुष्य नष्टभ्रष्ट होते हैं, मनुष्य अपने स्थानपर ठहर नहीं सकते, उस महावेगके प्रबल धक्केका आशय इस " ध्राजी " शब्द में है । इस लिये ऐसा प्रतीत होता है कि यहां के " अग्नेः ध्राजी, वातस्य ध्राजी " ये दो शब्द क्रमशः अग्न्यस्त्र और वायव्यास्त्र अथवा इसी प्रकारके शस्त्रास्त्र विशेषके वाचक होंगे । इसी स्पष्टीकरण में इससे पूर्व अग्नि शब्दका अर्थ मनुष्य वाचक बताया है, परंतु वह अर्थ यहां नहीं है । एकही सूक्तमें एकही अग्नि शब्दके दो परस्पर भिन्न अर्थ हैं यह बात यहां स्मरण रखना चाहिये, अन्यथा अर्थका विपर्यास होनेमें देरी नहीं लगेगी ।

२ तमसास्त्र— तमसास्त्रका प्रयोग भी इसमें है ऐसा स्पष्ट प्रतीत होता है —

तां विध्यत तमसापव्रतेन यथैषामन्यो अन्यं न जानात् । सू० २ मं० ६

" उस शत्रुसेनाको पुरुषार्थहीन करनेवाले तमसास्त्रके प्रयोग से विद्ध करो जिससे उनका एक सैनिक दूसरे सैनिक को न पहचान सके । " इस मंत्रमें " अपव्रतं तमः " शब्दका प्रयोग है । तम शब्दका अर्थ " अंधकार " है । अपव्रतका अर्थ " कर्महीन " है । दोनोंका तात्पर्य " कर्महीन करनेवाला अंधेरा " है । इससे शत्रुसेनाको वेध करना है । वेध करनेके लिये शस्त्रास्त्रही चाहिये, अन्यथा वेध नहीं हो सकता । इस लिये इस मंत्रमें तमसास्त्र का उल्लेख है ऐसा स्पष्ट दीख रहा है । अंधकारास्त्रके प्रयोगसे ही सैनिक एक दूसरेको पहचाननेमें असमर्थ होंगे । इसी अर्थका एक मंत्रभाग प्रथम सूक्तमें है—

अग्निः चक्षूंषि आदत्ताम् । (सू० १ मं० ६)

"अग्नि शत्रुकी आंखें ले लेवे" इस वाक्यका भी आशय तमसास्त्र प्रयोग का ही है क्योंकि यहां हरएक की आंखें निकाल देनेका आशय नहीं है, परंतु उनको कुछ भी न दीख पडे यही आशय है । तथा और देखिये—

अमित्रान् शत्रून् तमसा विध्य । (सू० २ मं० ५)

" शत्रुओंको अंधकारास्त्रसे विद्ध कर । " यहांका " विध्य " शब्द भी अस्त्र रूप तमको सूचित करता है । यह मंत्र अन्यत्र आगया है वह भी यहां देखिये—

अन्धेन तमसा अमित्रान् सचन्ताम् ।

ऋ० १०।१०३।१२ ; यजु० १७ । ४४; साम उ०९।३।५; निरु० ९।३३

तां गूहत तमसापव्रतेन यथामी अन्यो अन्यं न जानात् । यजु.१७।४७

"शत्रुओंको अन्धतमसे ढांप दो" इत्यादि मंत्र भागोंमें भी किसी प्रकारके अस्त्रका ही उल्लेख है अन्यथा वेध करना असंभव है।

३ अप्वा, ग्राही— सूक्त २ मं० ५ में "अप्वा और ग्राही" इन दो रोगोंके द्वारा शत्रुके चित्तोंको मोहित करने अथवा उनको त्रस्त करनेका उल्लेख है। "ग्राही" शब्दका अर्थ संधिवात इसी अथर्ववेदमें इससे पूर्व अनेक वार आया है। यह अर्थ यदि यहां लिया तो संधिवात जैसे जकडनेवाले रोगद्वारा शत्रुको त्रस्त करनेकी बात व्यक्त हो सकती है। अप्वा शब्दका अर्थ रोग व्याधि अथवा भय है। परंतु यह युद्ध प्रसंग है इस लिये इन शब्दोंके कोई दूसरे अर्थ भी होना संभव है। यद्यपि ठीक पता नहीं है तथापि "ग्राही" शब्दका अर्थ "पाश" होना संभव है जिससे शत्रुको पकडा जाय और जकडकर बांधा जाय। "अप-वे" धातुसे यदि "अप्वा" शब्द बनाया जाय तो "वे" धातुका अर्थ "तन्तु-संतान" होनेके कारण अप्वा शब्दका अर्थ "जाल अथवा जाला" होना संभव है। मंत्रमें—

अप्वे ! परेहि; अमीषां चित्तानि प्रतिमोहयन्ती
अङ्गानि गृहाण ॥ (सू० २ मं० ५)

"हे अप्वे! आगे बढ, इनके चित्तोंको मोहित करके उनके अंगोंको पकड रख।" यह अप्वा अस्त्रका वर्णन स्पष्ट बता रहा है कि इस नामका किसी प्रकारका जाला शत्रु पर फेंका जाता है, जिसमें पकडे जानेके कारण शत्रु मोहित हो जाते हैं और पश्चात् उनके शरीर पकड या जकडकर बांधे जाते हैं। इस मंत्रमें "परेहि, अंगानि गृहाण" आदि वर्णन यह 'अप्वा' कोई शत्रुपर फेंकने योग्य जालेका अस्त्र है ऐसा निश्चय करता है। अर्थात् "ग्राही और अप्वा" ये दोनों जालेके समान शत्रुको पकडनेके कुछ साधन विशेष होंगे ऐसा हमारा तर्क है, इस विषयके अर्थके लिये इस समयतक कोई प्रमाण हमें मिला नहीं है। खोज करनेवाले पाठक इस विषयकी विशेष खोज करके अर्थनिश्चय करनेमें सहायता दें।

मंत्रोंकी समानता।

इन दोनों सूक्तों में मंत्रोंकी समानता है। दोनों सूक्तोंका पहला मंत्र कुछ थोडे पाठ भेदसे करीब एक जैसाही है। प्रथम सूक्तका ५ वाँ मंत्र और द्वितीय सूक्तका ३ रा मंत्र करीब एक जैसा ही है। प्रथमार्धमें थोडा पाठभेद है। यह समानता पाठक अवश्य देखें।

इन दोनों सूक्तोंके मननसे युद्ध विषयक बहुत ही बोध प्राप्त हो सकता है। आशा है कि इस दृष्टिसे पाठक इन सूक्तोंका अध्ययन करके लाभ उठावेंगे।

राजाकी स्वराज्यपर पुनः स्थापना।

[३]

(ऋषिः- अथर्वा। देवता- अग्निः, नानादेवताः)

अचिक्रदत्स्वपा इह भुवदग्ने व्यचस्व रोदसी उरूची।
युञ्जन्तु त्वा मरुतो विश्ववेदस आमुं नय नमसा रातहव्यम् ॥ १ ॥
दूरे चित्सन्तमरुषास इन्द्रमा च्यावयन्तु सख्याय विप्रम्।
यद्गायत्रीं बृहतीमर्कमस्मै सौत्रामण्या दधृषन्त देवाः ॥ २ ॥
अद्भ्यस्त्वा राजा वरुणो ह्वयतु सोमस्त्वा ह्वयतु पर्वतेभ्यः।
इन्द्रस्त्वा ह्वयतु विड्भ्य आभ्यः श्येनो भूत्वा विश आ पतेमाः ॥ ३ ॥
श्येनो हव्यं नयत्वा परस्मादन्यक्षेत्रे अपरुद्धं चरन्तम्।
अश्विना पन्थां कृणुतां सुगं त इमं सजाता अभिसंविशध्वम् ॥ ४ ॥
ह्वयन्तु त्वा प्रतिजनाः प्रति मित्रा अवृषत।
इन्द्राग्नी विश्वे देवास्ते विशि क्षेममदीधरन् ॥ ५ ॥
यस्ते हवं विवदत्सजातो यश्च निष्ट्यः।
अपाञ्चमिन्द्र तं कृत्वाथेममिहाव गमय ॥ ६ ॥

अर्थ-- (इह स्व-पाः भुवत्) यहां अपना रक्षण करने वाला मनुष्य होवे ऐसा (अचिक्रदत्) पुकारकर कहा गया है। हे (अग्ने) अग्ने ! (उरूची रोदसी व्यचस्व) विस्तृत द्यावा पृथिवीमें अपना तेज फैलाओ। (विश्ववेदसः मरुतः त्वा युञ्जन्तु) सब जानने वाले मरुत् तुझे योग्य बनावें। (रात-हव्यं अमुं) हवनीय पदार्थोंको देनेवाले इस पुरुषको (नमसा आनय) नमस्कार पूर्वक यहां ला ॥ १ ॥ (दूरे चित सन्तं विप्रं इन्द्रं) दूर रहनेवाले प्राज्ञ इन्द्रको भी (अरुषासः सख्याय आच्यावयन्तु) तेजस्वी लोक मित्रताकेलिये यहां ले आवें। (यत् देवाः) क्योंकि सब देव (सौ-त्रामण्या) सौत्रामणीके द्वारा (गायत्रीं बृहतीं अर्क अस्मै दधृषत) गायत्री बृहती रूप अर्चन इसके लिये धारण करते हैं ॥ २ ॥ (वरु-

णः राजा) राजा वरुण (अद्भ्यः त्वा ह्वयतु) जलके लिये तुझे बुलावे, (सोमः त्वा पर्वतेभ्यः ह्वयतु) सोम तुझे पर्वतों के लिये बुलावे (इन्द्रः त्वा आभ्यः विड्भ्यः ह्वयतु) इन्द्र तुझे इन् प्रजाओंके लिये बुलावे। (श्येनः भूत्वा इमाः विशः आपत) तू श्येन पक्षी के समान वेग धारण करके इन प्रजाओंमें आजा ॥ ३ ॥ (अन्यक्षेत्रे अपरुद्धं चरन्तं हव्यं) अन्य देशमें छिपकर घूमनेवाले बुलानेयोग्य राजाको (श्येनः परस्मात् आनयतु) श्येनवत् शीघ्रगामी दूसरे देशसे ले आवे। (अश्विनौ सुगं ते पन्थां कृणुतां) दोनों अश्विनी सुखसे जाने योग्य तेरा मार्ग बनावें। (सजाताः इमं अभि सं विशध्वं) सजातीय लोग इसको प्रविष्ट करावें ॥ ४ ॥ (प्रतिजनाः त्वा ह्वयन्तु)प्रत्येक प्रकारके लोग तुझे बुलावें। (मित्राः प्रति अवृषत) मित्र तेरा बल बढावें। (इन्द्राग्नी विश्वेदेवाः) इन्द्राग्नी और सब देव (विशि ते क्षेमं अदीधरन्) प्रजाजनोंमें तेरेलिये क्षेम धारण करें ॥ ५ ॥ हे (इन्द्र) नरेन्द्र! (यः सजातः) जो सजातीय है (च यः निष्ट्यः) और जो विजातीय है (ते हवं विवदत्) तेरे आदरणीयताके विषयमें विवाद करे, (तं अपाञ्चं कृत्वा) उसको बहिष्कृत करके (अथ इमं इह अव गमय) पश्चात् इसको यहां लाओ ॥ ६)

भावार्थ-- इस जगत्में मनुष्यको अपना संरक्षण स्वयं करना चाहिये, यह बात पुकार पुकार कर सब आप्तपुरुषों ने कही है। मनुष्य अग्निवत् तेजस्वी बने और अपना प्रकाश जगत्में फैलावे। ऐसे अपने राजाको सब जाननेवाले वीर शक्तिमान करें और उसको नमन पूर्वक अपने राज्य गद्दीपर स्थापित करें ॥ १ ॥ राजा दूर भी क्यों न गया हो उसको अपने राज्यके हितके लिये तेजस्वी वीर पुनः ले आवें उत्तम रक्षण करनेके योग्य प्रबंधसे उसका उत्तम सत्कार करें ॥ २ ॥ जल स्थानकी रक्षाके लिये जलाधिपति, पर्वतों की रक्षाके लिये पर्वतोंका अधिकारी, जनोंकी रक्षाके लिये मनुष्योंका अधिपति किंवा मुखिया सम्राट्को बुलावें, तब सम्राट् अपने प्रजाओंमें शीघ्रतासे जाकर विराजे ॥ ३ ॥ राजा संकट समयमें अन्य देशमें छिप छिपकर भी क्यों न रहता हो, उसको पुनः अपनी राजगद्दीपर लाकर बिठलाना उचित है, ज्ञानी उसका मार्ग सुगम करें और सजातीय लोग उसको अपने राज्यमें प्रविष्ट करावें ॥ ४ ॥ मित्रजन उस राजाका

की सहायता करें, सब देव प्रजाके समेत उस राजाका कल्याण करें ॥ ५ ॥ यदि सजातीय अथवा विजातीय कोई मनुष्य इस योग्य राजाका विरोध करनेवाला हो तो उसको राज्यसे बाहर करके बडे आदर सत्कारसे राजाका प्रवेश अपने राज्यमें कराना चाहिये ॥ ६ ॥

यहां तृतीय मंत्रका अर्थ और भावार्थ हुआ। इसी के साथ चतुर्थ सूक्तका अत्यंत घनिष्ठ संबंध है इस लिये उसका अर्थ और भावार्थ पहले देखकर पश्चात् दोनों सूक्तोंका मिलकर विचार करेंगे—

राजाका चुनाव।

[४]

(ऋषिः—अथर्वा। देवता—इन्द्रः)

आ त्वा गन्राष्ट्रं सह वर्चसोदिहि प्राङ् विशांपतिरेकराट् त्वं वि राज।
सर्वास्त्वा राजन्प्रदिशो ह्वयन्तूपसद्यो नमस्यो भवेह ॥ १ ॥
त्वां विशो वृणतां राज्याय त्वामिमाः प्रदिशः पञ्च देवीः।
वर्ष्मन्राष्ट्रस्य ककुदि श्रयस्व ततो न उग्रो वि भजा वसूनि ॥ २ ॥
अच्छ त्वा यन्तु हविनः सजाता अग्निर्दूतो अजिरः सं चरातै।
जायाः पुत्राः सुमनसो भवन्तु बहुं बलिं प्रति पश्यासा उग्रः ॥ ३ ॥
अश्विना त्वाग्रे मित्रावरुणोभा विश्वे देवा मरुतस्त्वा ह्वयन्तु।
अधा मनो वसुदेयाय कृणुष्व ततो न उग्रो विभजा वसूनि ॥ ४ ॥
आ प्र द्रव परमस्याः परावतः शिवे ते द्यावापृथिवी उभे स्ताम्।
तदयं राजा वरुणस्तथाह स त्वायमह्वत्स उपेदमेहि ॥ ५ ॥
इन्द्रेन्द्र मनुष्या३ः परेहि सं ह्यज्ञास्था वरुणैः संविदानः।
स त्वायमह्वत्स्वे सधस्थे स देवान्यक्षत्स उ कल्पयाद्विशः ॥ ६ ॥
पथ्या रेवतीर्बहुधा विरूपाः सर्वाः सङ्गत्य वरीयस्ते अक्रन्।
तास्त्वा सर्वाः संविदाना ह्वयन्तु दशमीमुग्रः सुमना वशेह ॥ ७ ॥

अर्थ—हे राजन्! (राष्ट्रं त्वा आगन्) यह राष्ट्र तुझको प्राप्त हुआ है, अब (वर्चसा सह उद्+इहि) तेजके साथ उदयको प्राप्त हो। (विशांपतिः

प्राङ् एकराट् त्वं विराज) प्रजाओंका स्वामी प्रमुख एक सम्राट् होकर तू विराजमान हो । (सर्वाः प्रदिशः ह्वयन्तु) सब दिशा और उपदिशाएं तुझे पुकारें और (इह उपसद्यः नमस्यः भव) यहां पास पहुंचने योग्य और नमस्कार के लिये योग्य हो ॥ १ ॥ (विशः त्वां राज्याय वृणतां) प्रजायें तुझको राज्यके लिये स्वीकार करें (इमाः देवीः पञ्च प्रदिशः) ये दिव्य पांच दिशायें (त्वां वृणतां) तुझको राज्यके लिये स्वीकार करें । तू (राष्ट्रस्य वर्ष्मन् ककुदि श्रयस्व) राष्ट्रके ऐश्वर्य मय उच्च स्थानपर आश्रय कर (ततः उग्रः) पश्चात् उग्र वीर बनकर (नः वसूनि वि भज) हम सबके लिये धनोंका विभाग कर ॥ २ ॥ (हविनः सजाताः त्वा अच्छ यन्तु) बुलानेवाले सजातीय लोग तुझको सन्मान पूर्वक मिलें (अग्निः अजिरः दूतः संचराते) अग्नि वेगवान् दूत संचार करे। (जायाः पुत्राः सुमनसः भवन्तु) स्त्रियां और पुत्र उत्तम मनवाले हों । (उग्रः बहुं बलिं प्रति पश्यासै) उग्र होकर तू बहुत भेंटको देख ॥ ३ ॥ (अग्रे) आगे (अश्विनौ, मित्रावरुणौ, विश्वेदेवाः, मरुतः) अश्विनी मित्रावरुण सब देव और मरुत (त्वा त्वा ह्वयन्तु) तुझको बुलावें । (अध वसु-देयाय मनः कृणुष्व) पश्चात् तू धनका दान करनेके लिये अपना मन कर (ततः उग्रः नः वसूनि विभज) पश्चात् उग्र होकर हम सबको धनका भाग दे ॥ ४ ॥ (परमस्याः परावतः आ प्रद्रव) अति दूर देशसे यहां आ । (उभे द्यावापृथिवी ते शिवे स्तां) दोनों द्यावा पृथिवी तेरे लिये कल्याणकारी होवें । (तथा अयं राजा वरुणः) वैसा ही यह वरुण राजा (तत् आह) यह कहता है (सः अयं त्वा अह्वत्) वह यह तुझको बुलावे (सः इदं उप-आ-इहि) वह तू इस राष्ट्रको प्राप्त कर ॥ ५ ॥ हे (इन्द्र-इन्द्र) राजाओंके महाराजा! (मनुष्याः परेहि) मनुष्योंके समान परे जा और (हि वरुणैः संविदानः) वरिष्ठोंसे मिल कर तू (सं अज्ञास्थाः) ठीक प्रकार जान सकता है । (सः अयं स्वे सधस्थे त्वा अह्वत्) वह यह अपने घर तुझे बुलावे (सः देवान् यक्षत) वह देवोंका यज्ञ करे, और (स उ विशः कल्पयतात्) वह निश्चयसे प्रजाओंको समर्थ करे ॥ ६ ॥ (पथ्याः रेवतीः) सन्मार्गसे चलनेवाली धनवाली (बहुधा विरूपाः सर्वाः संगत्य) बहुत प्रकारसे विविध रूपवाली सब प्रजाएं मिलकर (ते वरीयः अक्रन्) तेरे लिये श्रेष्ठ स्थान बनाती हैं । (ताः सर्वाः संविदानाः त्वा ह्वयन्तु) वे

सब एकमत होकर तुझे बुलावें पश्चात तू (इह उग्रः सुमनाः दशमीं वश) यहां उग्र और उत्तम मन वाला होकर दसवी दशाक तक राज्यको वशवर्ती कर ॥ ७ ॥

भावार्थ--हे राजन् ! यह राष्ट्र अब तुझको प्राप्त हुआ है अब अपने तेजको प्रकाशित कर, सब प्रजाओंका एक सम्राट् होकर विराजमान हो। सब दिशा और उपदिशाओंमें रहनेवाले सब लोग तुझे ही चाहें और तू सबके लिये प्राप्त होनेवाला बनकर सबसे सुपूजित हो ॥ १ ॥ सब प्रजाएं राज्य चलानेके लिये तेरा ही स्वीकार करें। सब दिशा और उपदिशाओंमें रहनेवाले प्रजाजन तुझे ही पसंद करें। तू राष्ट्रके परम उच्च ऐश्वर्यवान् राजपद पर आरूढ होकर, वीर बनकर, हम सबके लिये धनको योग्य विभागसे बांट दे ॥ २ ॥ तेरी इच्छा करनेवाले सजातीय लोग सन्मान पूर्वक तेरे पक्षमें रहें, अग्निके समान तेरे तेजस्वी दूत चारों देशोंमें संचार करें। तेरे राष्ट्रमें धर्मपत्नियां और बालबच्चे उत्तम मनवाले हों। तू शूरवीर होकर बहुत भेंट प्राप्त कर ॥ ३ ॥ सब देवताएं तेरी सहायता करें । तू धनका दान करनेमें अपना मन स्थिर कर और शूरवीर होकर हम सबमें योग्य विभाग से धन बांट दे ॥ ४ ॥ यदि तू दूर देशमें भी गया तो भी अपने राष्ट्रमें शीघ्रही वापस आ। सब देव तेरी सहायता करें। तू सदा अपने राष्ट्रमें ही रह ॥ ५ ॥ तू साधारण मनुष्योंके समान ही अपने आपको मानकर देशमें सर्वत्र भ्रमण कर और राष्ट्रके वरिष्ठ मनुष्योंसे मिल कर सब बातें ठीक प्रकार समझ लो। ऐसा करनेसे लोग अपने घरमें तुझे आदरसे बुलावेंगे और वे यज्ञयाग भी करेंगे। इस प्रकार प्रजाओंके साथ मिलजुलकर सब प्रजाको सब प्रकारसे समर्थ कर ॥ ६ ॥ प्रजा सन्मार्गसे चलनेवाली हो, और धनवान् हो। बहुत प्रकारके रंगरूपोंसे विभिन्न रहने पर भी सब प्रजा मिलकर एक भावसे तुझे श्रेष्ठ माने और सब एकमतसे तेरी प्रशंसा करे। इस प्रकार वीरतासे और शुभ मनोभावसे राज्य करता हुआ तू सौ वर्ष तक राज्य अपने वशमें रख ॥ ७ ॥

पूर्व संबंध।

इस तृतीय काण्डके प्रारंभ के दो सूक्तोंमें युद्ध विषय है। शत्रुसेना के साथ युद्ध करके उसका पूर्ण पराभव करनेका महत्त्वपूर्ण उपदेश इन दो सूक्तोंमें है। इस प्रकार

विजय प्राप्त होनेके पश्चात् अपने राजाका राजधानीमें प्रवेश होता है, उस समय के उत्सव के ये मंत्र हैं, अथवा इस विजयको प्राप्त करके राजा वापस आगया तो उस समय उसे करने योग्य उपदेश इन दो सूक्तोंमें है। तृतीय और चतुर्थ सूक्त विशेष सूक्ष्म दृष्टिसे देखनेसे और एक बात प्रतीत होती है, वह यह है कि— " किसी समय शत्रु-सैन्य द्वारा परास्त हुआ राजा किसी दूसरे देशमें या जंगलोंमें छिपकर रहता है और उसके राज्यपर दूसरे विदेशी राजाका अधिकार होता है। ऐसे समयमें राज्यमें रहनेवाले लोग तथा पुराने समयके अधिकार संपन्न वीर राज्यक्रान्ति करनेका यत्न करें, पुरुषार्थ प्रयत्नसे शत्रुका पराभव करें और अपने पुराने राजाको लाकर बडे सन्मानके साथ पुनः राजगद्दीपर स्थापित करें। " यह भी उपदेश यहां दिखाई देता है। पुराणोंमें इन्द्रकी एक कथा भी इस प्रकार की रची हुई है, कि असुरोंके द्वारा इन्द्रका पराभव हुआ, वह भाग गया और छिपकर किसी प्रदेशमें रहा, देवोंने अपने पुरुषार्थ प्रयत्नसे असुरोंका पराभव करके इन्द्रको ढूंढा और पुनः इन्द्रपद पर स्थापित किया। यह कथा महाभारत उद्योगपर्व अ० १० से १७ तक पाठक देख सकते हैं। पाठक इन सब राजकीय घटनाओंको मनमें रखते हुए इन दो सूक्तोंका अभ्यास करें और मनन करें। ऐसा करनेसे ही इन सूक्तों द्वारा राजनीतिका बहुतसा उपदेश मिल सकता है।

आत्मरक्षा ।

तृतीय सूक्तने सबसे प्रथम आत्म रक्षाका बडा महत्त्वपूर्ण संदेश प्रारंभमें ही कहा है। यह संदेश हरएक वैदिक धर्मीको ध्यानमें धारण करना चाहिये—

इह स्व-पा भुवत् (इति) अचिक्रदत् ॥ (सू० ३ मं० १)

" यहां आत्मरक्षा करनेवाला मनुष्य बने, ऐसा पुकार पुकार कर कहा गया है।" इस जगत्में यदि मनुष्यको संमान से जीवित रहना है तो (स्वपाः) आत्मरक्षा करना उसके लिये अत्यावश्यक है। यह बात जैसी एक मनुष्यके लिये सत्य है वैसीही एक समाज और एक राष्ट्रके लिये भी सत्य है। जिस समय एक समाज आत्मरक्षा करनेमें दक्ष नहीं रहता उस समय दूसरा समाज उसपर हमला चढानेमें प्रवृत्त होता है। इसी प्रकार जिस समय एक राष्ट्र आत्मरक्षा करनेमें समर्थ नहीं होता है, उसी समय दूसरा राष्ट्र उसपर आक्रमण करता है और उसको परतंत्र बनाकर उसपर अधिकार चलाने लगता है। आत्मरक्षा करनेकी असमर्थता बडाभारी अपराध है, जो राष्ट्र परतंत्र हुए हैं वे स्वानुभवसे इस वैदिक उपदेशका महत्त्व जान सकते हैं। आत्मरक्षाका अत्यंत महत्त्व है इसी लिये इस मंत्रने कहा है कि यह बात वारंवार पुकार पुकार कर कही है। जो

बात अत्यंत महत्त्वकी होती है वही वारंवार पुकार पुकार कर कही जाती है। इस कारण जो बात वेदने अनेक वार पुकार पुकार कर कही है वह मनुष्यमात्रकी उन्नतिकी दृष्टिसे अत्यंत महत्त्व पूर्ण है इसमें कोई संदेह ही नहीं है। पाठक इस दृष्टिसे इस आत्मरक्षाके वैदिक उपदेशका स्मरण रखें।

आत्मरक्षाका सामर्थ्य न रखनेवाला राष्ट्र और उसका राजा ही परास्त होता है और आपत्तिमें गिरता है। आत्मरक्षा करनेवालेकी तेजोवृद्धि होती है इस विषयमें इसी मंत्रका अगला भाग देखिये—

अग्ने ! उरूची रोदसी व्यचस्व ॥ (सू० ३ मं० १)

"अग्निके समान तेजस्वी ! तू इस विशाल द्यावापृथिवीके अंदर फैल जाओ।" आत्मरक्षा करनेवालेका आदर्श अग्नि है, यह अग्नि सदा उर्ध्व गतिसे जलता और प्रकाशता है। "अग्नेः ऊर्ध्वज्वलनं" अग्निकी ज्वलनकी गति उच्चगति है। उच्चगतिवाले सदा उन्नतही होते रहेंगे और अपना तेज फैलायेंगे और संपूर्ण जगत्को प्रकाशमान करेंगे। आत्मरक्षा करनेवालोंका यश जगत्में चारों दिशाओंमें फैलता ही है॥ आत्मरक्षा करने वाले की गति तो अग्निके प्रचंड प्रकाश से बताई है। जिसको नित्य देखकर वैदिक धर्मी आत्मरक्षा करनेके अपने कर्तव्यको कभी न भूलें। अब देखिये कि आत्मरक्षा न करनेवालेकी अवस्था क्या होती है—

अन्यक्षेत्रे अपरुद्धं चरन्तं ॥ (सू० १ मं० ४)

"दूसरेके देशमें प्रतिबंधमें भटकता है।" जो आत्मरक्षा नहीं करता वह दूसरेके अधिकारमें प्रतिबंधमें पडता है, दूसरे देशमें छिपछिपकर रहता है, किसी न किसी प्रकार बंदिखानेमें सडता रहता है। यह आत्मरक्षा न करनेका परिणाम है। यह परवशता का भयानक परिणाम आत्मरक्षा न करनेसे प्राप्त होता है यह जानकर मनुष्य, समाज, राष्ट्र तथा राजा आत्मरक्षाका अपना परमश्रेष्ठ कर्तव्य कभी न भूले; यह आदेश वेद इस सूक्तद्वारा देता है और वारंवार उद्घोषित करता है कि मनुष्य इस आत्मरक्षाकी बातको कभी न भूले।

सौत्रामणी याग।

"सौत्रामणी" नामक एक बडाभारी यज्ञ है। इसमें मुख्य ध्येय अथवा साध्य क्या है वह तैत्तिरीय संहिताके वचनसे स्पष्ट होता है—

इन्द्रस्य सुषुवाणस्य दशधेन्द्रियं वीर्यं परापतत्।
तद्देवाः सौत्रामण्या समभरन्॥ तै० सं० ५।६।३।४

" इन्द्रका वीर्य दस दिशाओंमें विभिन्न मार्गोंसे विभक्त हो गया था, वह देवोंने सौत्रामणी यागसे एकत्रित किया। " अर्थात् इस सौत्रामणी याग का साध्य बिखरी हुई शक्तिको इकट्ठा करना है। " सु+त्रामन् " शब्द का अर्थ है (सु) उत्तम (त्रा-मन्) रक्षा करनेकी बुद्धिपूर्वक शक्ति। यह जिससे प्राप्त होती है उसको " सौ-त्रा-मणी याग " कहते हैं। पूर्वोक्त तैत्तिरीय संहिताके वचनमें भी बिखरी हुई इन्द्रकी शक्ति इकट्ठी करने के लिये ही सौत्रामणी याग बनाया गया और उस यागसे वह शक्ति केन्द्रीभूत होगई इत्यादि बात स्पष्ट है। अर्थात् सौत्रामणीयाग से संगठन होता है और राष्ट्रीय शक्ति बढती है। इसीलिये इस तृतीय सूक्तके द्वितीय मंत्रमें सौत्रामणी यज्ञ के द्वारा राज्यभ्रष्ट राजाको फिर राज गद्दीपर लाते हैं, ऐसा कहा है-

दूरे सन्तं विप्रं इन्द्रं सख्याय अरुषासः आच्यावयन्तु।

(सू० ३ मं० २)

" राज्यसे दूर हुए ज्ञानी नरेन्द्रको सख्यके लिये तेजस्वी लोग उस गुप्त स्थानसे यहां लावें। " राज्यभ्रष्ट राजा जंगलों में या (अन्य-क्षेत्रे अपरुद्धं चरन्तं। मं० ४) दूसरे देशमें छिप छिप कर रहता है उसको पुनः राज्यपर स्थापित करनेके लिये ज्ञानी लोग अपने राज्यमें ले आवें; उसका सख्य पुनः जनताके साथ पूर्ववत् हो; और ज्ञानी इन्द्रही राजगद्दीपर बैठ जावे; इस लिये यह सब प्रयत्न है। यह सब प्रयत्न करने के लिये सौत्रामणी याग किया जाता है ऐसा इसी द्वितीय मंत्रके उत्तरार्धमें कहा है—

देवाः अस्मै गायत्रीं बृहतीं अर्कं सौत्रामण्या दधृषन्त।

(सू० ३ मं. २)

" देव इस राजाके लिये गायत्री बृहती आदि रूप अर्चन सत्कार सौत्रामणी यागके द्वारा करते हैं। " राजगद्दीपर राजाको बिठलानेका प्रबंध करनेके लिये सौत्रामणी याग करते हैं; इस यागसे अपनी बिखरी हुई शक्तिको इकट्ठी करते हैं और उस शक्ति द्वारा उस राजाको अपने राज्यमें लाकर उसका बडा सत्कार करते हैं। इस सत्कारका स्वरूप देखिये—

वरुणो राजा त्वा अद्भ्यः ह्वयतु।
सोमः त्वा पर्वतेभ्यः ह्वयतु।
इन्द्रः त्वा आभ्यः विड्भ्यः ह्वयतु ॥ (सू० ३ मं. ३)
अश्विना ते सुगं पन्थां कृणुताम् ॥ (सू० ३ मं. ४)
प्रतिजनाः त्वा ह्वयन्तु, मित्राः प्रति अवृषत ॥ (सू० ३ मं. ५)

" वरुण राजा जलस्थानों के संरक्षणके लिये तुझे बुलावे, सोम राजा पर्वतोंकी रक्षाके लिये तुझे बुलावे, इन्द्र तुझे इन प्रजाजनोंकी सुव्यवस्था के लिये बुलावे ॥ अश्विदेव यहां आनेका तेरा मार्ग सुगम करें। प्रत्येक प्रजाजन आदरसे तुझे बुलावे और मित्र सदा तेरा बल बढावें।"

राज्य प्रबंधमें समुद्र किनारेका प्रबंध, पर्वत स्थानोंका प्रबंध ये दो प्रबंध अन्तर्राष्ट्रीय महत्त्वके हैं और प्रजाजनोंके सुप्रबंधका कार्य राष्ट्रके अंतर्गत व्यवहारका है। समुद्रमें नौका, जलदुर्ग आदिकी रक्षाका प्रबंध करना होता है और पर्वतों पर भी कीले आदि का प्रबंध आवश्यक होता है। प्रजाकी सुव्यवस्थाका प्रबंध तो राज्य शासनका मुख्य भाग है ही, इसमें कोई संदेह नहीं है। इन प्रबंधोंको करनेके लिये राजाको पुनः राजगद्दीपर स्थापित किया जाय, यह तात्पर्य यहां है। राजाके कर्तव्योंकी भी सूचना यहां मिलती है। सब देवताओंकी सहायता भी इस राजाको प्राप्त हो और इस प्रकार देवताओंकी सहायतासे बलवान बनाहुआ अपने देशका राजा शत्रुके लिये असह्य हो, यह इच्छा प्रजाजनोंके नेताओंके अंतःकरणमें रहना चाहिये। देखिये इस विषयमें अगला मंत्रही कहता है --

इन्द्राग्नी विश्वे देवाः विशि ते क्षेमं अदीधरन्। सू० ३ मं० ५

" इन्द्र, अग्नि और संपूर्ण अन्य देव प्रजामें तेरा कल्याण संवर्धित करें।" अर्थात् इन देवोंकी कृपासे तेरी प्रजाका भी कल्याण होवे और प्रजाके आनंदके साथ तेरा भी कल्याण होवे। यहां--

ते क्षेमं विशि। (सू० ३ मं० ५)

"तेरा (राजाका) कल्याण प्रजामें वसता है।" अर्थात् प्रजा जनोंके कल्याण होनेसेही राजाका कल्याण होना संभव है अन्यथा नहीं। जो राजा प्रजाके कल्याणके साथ अपने कल्याणका संबंध नहीं जानता वह सच्चा राजा ही नहीं है। यजुर्वेदमें भी कहा है कि-

विशि राजा प्रतिष्ठितः। यजु. २०।९

"प्रजाके आश्रयसे राजा सुप्रतिष्ठित होता है।" प्रजा न हो तो राजा कहां रहेगा ? परंतु राजा न होनेकी अवस्थामें प्रजा रह सकती है, इस कारण कहते हैं कि राजा प्रजाके आश्रयसे रहता है, परंतु प्रजा राजाके आश्रयके विना भी रह सकती है। अत एव राजा का कल्याण प्रजाके कल्याणमें है। "ते क्षेमं विशि" इस अथर्व मंत्रका इस दृष्टिसे पाठक मनन करें। ऐसे राजाको सजातीय लोग अपने राज्यमें पुनः स्थापन करें, इसविषयमें इस सूक्तका चतुर्थ मंत्र देखिये-

सजाताः इमं (राजानं) अभि-सं-विशध्वम् ॥ (सू० ३ मं ४)

"सजातीय लोग इस राजाको (अभि) चारों ओरसे (सं) ठीक प्रकार (विशध्वं) प्रवेश करावें ।" राजा अपने राष्ट्रमें आवे तो स्वजातीयों के साथ ही आवे । वे उसकी सुरक्षितताका प्रबंध करें और चारों ओर उत्तम प्रबंध रखें, राजाकी सुरक्षितताके लिये उत्तम यत्न किया जाय और स्वराष्ट्रमें ऐसे सुप्रबंधके साथ उसका प्रवेश कराया जाय। स्वजातीय (सजाताः) लोग ही राजाके रक्षक हो सकते हैं, परजातीय लोग किस समय धोखा देंगे इसका कोई नियम नहीं है, इसलिये राजा भी स्वजातीय लोगोंके ऊपर अधिक विश्वास रखे और उनका योग्य सन्मान करता रहे। नहीं तो कई राजा ऐसे होते हैं कि जो विदेशियों और परकीयोंपर तो अधिक विश्वास रखते हैं और स्वदेशीयों तथा स्वजातीयोंपर अविश्वास करते हैं । इस आत्मघातके बर्ताव का परिणाम उसको अंतमें बुरी तरह भोगना पडता है । इस लिये इस मंत्रभागने स्वजातीय लोगोंको विश्वासमें लेनेकी सूचना की है जो राजनीतिमें विशेष महत्त्व की है । जहां स्वजातीय लोग सहायताके लिये तैयार हैं वहां राजा विश्वाससे वेगपूर्वक जावे और अपना कार्य प्रारंभ करे; इस विषयमें यह मंत्र देखिये—

श्येनः भूत्वा इमाः विशः आपत ॥ (सू० ३ मं० ३)

" श्येन पक्षीके समान वेगसे इस प्रजामें आ पड " अर्थात् जहां प्रजाजनों के भद्र पुरुष सहायता करनेको तैयार हैं वहां राजाको त्वराके साथ पहुंच कर अपना प्रजापालन का कार्य करना चाहिये ।

विरोधी मनुष्य ।

सजातीय लोग प्रायः सदा राजाकी सहायताके लिये तैयार ही रहेंगे, क्यों कि राजाका गौरव बढनेसे उनका भी यश बढता ही है, तथापि कई लोग शत्रुपक्षको मिल कर उत्तम राजाको राष्ट्रमें पुनः स्थापित करनेके विरोधी भी होना संभव है, उनका क्या किया जाय, यह शंका यहां हो सकती है; इस शंका का उत्तर इस सूक्तके षष्ठ मंत्रने दिया है, देखिये —

यः सजातः, यः च निष्ट्यः, ते हवं विवदत्,
तं अपाञ्चं कृत्वा, अथ इमं इह अवगमय ॥
(सू० ३ मं० ६)

" कोई सजातीय अथवा कोई विजातीय या विदेशीय मनुष्य तेरे राज्यारोहणके

शुभ प्रसंगके विरुद्ध विवाद खडा करनेवाला हो तो उसको बहिष्कृत करके, पश्चात् इस राजाको यहां ले आओ।"

सर्व संमतिसे जिस राजाको राज्यकी गद्दी दी जाती है, उसके विरुद्ध कार्यवाही करने वाला यदि कोई मनुष्य हो तो (अपाश्र्वं तं कृत्वा) उसको अलग करके ही अन्य श्रेष्ठ लोगोंको अपना प्रशस्त कर्तव्य करना चाहिये। राज्यकी अंतर्गत व्यवस्था करनेके प्रसंगमें इस प्रकारके कई झगडे होते ही रहते हैं, इस लिये उसको दूर करनेका एक उपाय यहां बताया है, इसके अनुसंधानसे पाठक अन्य उपद्रव दूर कर सकते हैं।

चतुर्थ सूक्त ।

यहां तृतीय सूक्तका विचार समाप्त हुआ और अब इसी विषयसे संबंध रखनेवाले चतुर्थ सूक्तका विचार करते हैं। तृतीय सूक्तका संबंध बाहर रहनेवाले राजाको पुनः स्वराज्यमें लाकर राज्यपर स्थापित करनेके महत्त्वपूर्ण कार्यके साथ है और इस चतुर्थ सूक्तका संबंध सर्व साधारण राजाको और विशेषतः प्रजाके चुने हुए राजाको राज गद्दीपर बिठलानेके कार्य के साथ है, इस लिये इस चतुर्थ सूक्तका संबंध एक रीतिसे तृतीय सूक्तके साथ है और दूसरे विचार से देखा जाय तो यह चतुर्थ सूक्त स्वतंत्र भी है। राजाका राज्याभिषेक इस चतुर्थ सूक्तका मुख्य विषय है। इस सूक्तमें प्रजाद्वारा राजाका चुनाव होनेका वर्णन मुख्य स्थान रखता है, वही पहले देखेंगे—

राजाका चुनाव ।

राजाका पुत्र हो अथवा नयाही योग्य वीर हो, उसको प्रजाकी संमतिसे ही राज्य प्राप्त होता था। श्री रामचंद्र जैसे सर्व मान्य पुरुषोंको भी राज्य प्राप्त होने के लिये प्रजाकी अनुमति लेनी पडी थी, इस बातको देखनेसे प्रजाकी संमती प्रबल शक्ति रखती थी ऐसा स्पष्ट प्रतीत होता है, इस सूक्तने इस वैदिक रीतिपर बहुत ही उत्तम प्रकाश डाला है, देखिये—

प्रदिशः देवीः इमाः पञ्च विशः त्वां राज्याय वृणताम् ।

(सू० ४ मं० २)

" दिशा उपदिशाओंमें रहनेवाली यह दिव्य पांच प्रकारकी प्रजा तुझको राज्यके आधिपत्यके लिये चुनें।" प्रजा राज्यशासन चलाने के लिये तेरा स्वीकार करे, ऐसा कहने मात्रसे राजगद्दीपर राजाको रखने या न रखनेका अधिकार प्रजाके आधीन है यह बात स्वयं सिद्ध होती है। अथर्व वेदमें इस बातको जताने वाले कई सूक्त हैं,

उनका विचार उनके स्थानपर यथावकाश होगा, पाठक भी ऐसे स्थान स्थानपर आने-वाले उल्लेखोंको इकट्ठा करके सबका मिलकर इकट्ठा विचार करेंगे तो उनको वैदिक राजनीति शास्त्रका ज्ञान होगा। अस्तु। इस प्रकार राजाका चुनाव करके उनको राज्य-पदके लिये स्वीकार करनेका अधिकार प्रजाका हैं यह बात इस मंत्रभाग द्वारा सिद्ध होगई, अब इस सूक्तके इसी भावके पोषक मंत्र भाग यहां देखिये—

हे राजन्! सर्वाः प्रदिशः (प्रजाः) त्वा ह्वयन्तु। (मं० १)
हविनः सजाताः त्वा अच्छ यन्तु। (मं० ३)
बहुधा विरूपाः सर्वाः (प्रजाः) संगत्य ते वरीयः अक्रन्। (मंत्र० ७)
ताः संविदानाः सर्वाः (प्रजाः) त्वा ह्वयन्तु। (मं० ७)

"हे राजन्! सब दिशाओंमें रहनेवाली सब प्रजा तुझे पुकारें॥ भेंट लानेवाले स्व-जातीय लोग तेरे संमुख आजावें। बहुत करके विभिन्न रूपवाली सब प्रजा एकत्र सभा करके तुझे श्रेष्ठ बनावे॥ वह जाननेवाली सब प्रजा तुझे ही बुलावें॥" इत्यादि मंत्र-भाग प्रजाकी अनुमति राजाके लिये अत्यंत आवश्यक है यही बात बता रहे हैं। इस लिये इस सूक्तका स्पष्ट आशय यही है कि प्रजाद्वारा स्वीकृत होकर ही राजा राजगद्दी पर आजावे। किसी पुरुषको जन्मतः राजगद्दीका अधिकार नहीं हो सकता, परंतु जिस-को प्रजा स्वीकृत करे वही राजपदके लिये योग्य हो सकता है। इस सूक्तके उपदेशमें यह महत्त्वपूर्ण बात पाठक अवश्य देखें और वैदिक धर्म के अनुकूल प्रजानियुक्त तथा प्रजासंमत ही राजा है यह स्मरण रखें।

प्रजाका पालन।

राज्याभिषेक के समयही प्रजाके चुने और पसंद किये राजाको राजगद्दीपर अभिषि-क्त होनेके समय बताया जाता है कि अब तेरा प्रजापालनरूप कर्तव्य है देखिये—

१ राष्ट्रं त्वा आगन्,
२ वर्चसा सह उदिहि,
३ विशां पतिः प्राङ् एकराट् त्वं विराज,
४ उपसद्यः नमस्यः च इह भव॥ (मं० १)

"हे राजन्! (१) अब तेरे पास यह राष्ट्र आगया है, (२) अपने प्रकाशके साथ उदयको प्राप्त हो, (३) प्रजाका पालक मुख्य एक राजा होकर तू विशेष प्रकाशमान

हो, (४) तथा सब प्रजाओंको पास जाने योग्य और नमस्कार करने योग्य बन।" इस प्रथम मंत्र में "प्रजा-पति" बन, यह आदेश है, पति शब्दका यद्यपि प्रसिद्ध अर्थ स्वामी या मालिक है तथापि यह शब्द "पा" धातुसे बननेके कारण (पाति रक्षति) पालन करनेवालेका वाचकही मुख्यतया यह शब्द है। जो पालन करता है वही पति कहलाने योग्य है, इस लिये प्रजापति (विशां पतिः) ये शब्द प्रजापालन रूप राजाका कर्तव्य बताते हैं। राजा शब्द भी वस्तुतः अनियंत्रित राजाका वाचक नहीं है, प्रत्युत (रंजयति) प्रजाका रंजन करनेवाले उत्तम राजाका वाचक है। इस प्रकार यहां प्रजा-पालन रूप राजाका मुख्य कर्तव्य बताया है। ऐसे राजाको ही प्रजा प्रेमसे (नमस्यः) नमन करती है अर्थात् उसीका सत्कार करती है। राजा ऐसा हो कि जो आवश्यकता पडनेपर प्रजाको (उपसद्यः) मिल सके। जिसका दर्शन प्रजा कर सके ऐसा राजा हो। जो राजा सदा मंत्रियोंसे घिरा रहता है और त्रस्त प्रजाका दर्शनभी नहीं कर सकता वह प्रजासे नमस्कार कैसा प्राप्त कर सकता है ? इससे स्पष्ट हो सकता है कि प्रजाका नमस्कार प्राप्त करनेके लिये प्रजाको मिलना आवश्यक ही है।

इस मंत्रके (राष्ट्रं त्वा आगन्) राष्ट्र तेरे पास आगया है इस वाक्यसे स्पष्ट हो रहा है कि राष्ट्र अपनी संमतिसे तेरे समीप आया है, अर्थात् राष्ट्रके पांच प्रकारके प्रजाजनों ने राजगद्दीके लिये तुझे चुना है इस लिये उनकी निज संमतिसे ही यह राष्ट्र तुझे प्राप्त हुआ है, इस कारण तुझे उचित है कि तू राष्ट्रका पालन ऐसा कर कि सदा सर्वदा भविष्य कालमें राष्ट्रकी संमति तेरे अनुकूल ही रहे और कभी प्रतिकूल न बने। इस मंत्रका विचार करके पाठक जानें कि राजाको प्रजाकी अनुकूल संमतिकी कितनी आव-श्यकता है। प्रजाकी अनुमतिके विना राजा राजगद्दीपर रह ही नहीं सकता, यह स्पष्ट आशय यहां प्रतीत होता है।

धनोंका विभाग।

प्रजाओंमें धनका विषम विभाग हुआ तो अतिधनी बने हुए लोग निर्धनोंपर बडा दबाव डालते हैं और उस कारण निर्धन लोग पीसे जाते हैं। इसलिये राजाके आवश्यक कर्तव्योंमेंसे एक यह कर्तव्य वेदने बताया है कि वह प्रजाओंमें योग्य प्रमाणसे वसु-विभाग करे। धन की विषमता प्रजामें न हो इस विषयमें वेदमें स्थान स्थान पर आदेश है—

१ राष्ट्रस्य वर्ष्मन् ककुदि श्रयस्व
ततः उग्रः (भूत्वा) नः वसूनि विभज ॥ (मं० २)
२ अध मनः वसुदेयाय कृणुष्व
ततः उग्रः (भूत्वा) नः वसूनि विभज ॥ (मं० ४)

" (१) राष्ट्रके ऐश्वर्यमय उच्च स्थानपर चढकर, उग्र बनकर हमारे लिये धनको विभक्त कर ॥ (२) पश्चात् अपना मन धन के दान के लिये अनुकूल कर, उग्र बनकर हमारे लिये धनका विभाग करके बांट दे। " इन दो मंत्रभागोंमें पहले कहा है कि "हे राजन् ! तू सबसे पहले राष्ट्रके अत्यंत उच्च स्थानपर अर्थात् राजगद्दीपर आरूढ हो, पश्चात् उग्र बन अर्थात् नरम दिलवाला न बन और प्रजामें धनका विभाग कर। "

यद्यपि राजा प्रजाकी अनुमतिसे ही राजगद्दीपर बैठता है तथापि उसको गद्दीपर बैठनेके पश्चात् उग्र बनना चाहिये। यदि वह नरम दिलवाला बनेगा तो उससे राजाके कर्तव्य ठीक प्रकार निभाये जाना अशक्य है। धर्माधर्मका निर्णय करके अधर्माचरण करनेवालेको योग्य शासन करनेका कार्य उग्र बननेके विना नहीं हो सकता। इसलिये राजाको उग्र बनना अत्यंत आवश्यक है। उग्र बनकर और पक्षपात छोडकर अपना कर्तव्य राजाको करना चाहिये।

धन विभाग ठीक प्रकार करनेके लिये राजाको न तो धनिकोंका पक्षपात करना योग्य है और ना ही निर्धनोंका पक्ष लेना चाहिये। राष्ट्रमें धन विषम प्रमाण में न बंट जाय यह देखते हुए अपना वसुविभाग का कर्तव्य पूर्ण करना चाहिये। यह बडा कठिन है, परंतु राज्यकी सुस्थिति के लिये अत्यंत आवश्यक है। धनकी विषमता, अधिकार की विषमता, ज्ञानकी विषमता और जातीकी उच्चनीचताकी विषमता आदि अनेक विषमताएं होती हैं, उनमें धन और अधिकार की विषमता बडी घातक होती है, इस विषमता के कारण दबे हुए मनुष्य उठना कठिन हो जाता है और जो दबी जातीकी भयानक स्थिति होती है वह सब जानते ही हैं। इसलिये वसुविभाग नामक राजाके कर्तव्य में धनविषयक विषमता दूर करनेका उपदेश किया है। इसका महत्त्व पाठक समझें।

शुभसंकल्प।

प्रजाजनोंको शुभसंकल्पवाले बनाना भी राजाका एक मुख्य कर्तव्य है, इसका प्रारंभ राष्ट्रकी माताओं और राष्ट्रके सुपुत्रोंसे होना योग्य है इस विषयमें देखिये—

जायाः पुत्राः सुमनसः भवन्तु। (मं० १)

हे राजन्! तू अपने राज्यमें शिक्षाका प्रबंध ऐसा कर कि जिससे " स्त्रियां और बालबच्चे उत्तम विचार वाले बनें। " जिस राष्ट्रकी माताएं और बालबच्चे सब उत्तम विचारवाले बने हों उस राष्ट्रकी गणना स्वर्गमें ही हो सकती है। सुविचार वाली कन्याएं और शुभ संकल्पवाले कुमार राष्ट्रमें बढनेसे ही ब्रह्मचर्यका वायुमंडल बन सकता है, अन्यथा जो होना संभव है वह आजकल प्रत्यक्षही दिखाई देरहा है। राष्ट्रमें विद्याके अधिकारी शिक्षक तथा अन्य प्रबंधके शासनाधिकारी जिस समय उत्तम ब्रह्मचारी होसकते हैं उस समय ही राष्ट्रकी सब कन्याएं और सब कुमार उत्तम संकल्पवाले हो सकते हैं। पाठक इस बातका खूब विचार करें। यह एक अपूर्व उपदेश वेदने यहां बताया है जो प्राचीन समय व्यवहारमें आता था, परंतु अब वह फिर शीघ्र व्यवहारमें आवेगा ऐसा दिखाई नहीं देता। क्योंकि अवैदिक वायुमंडल बढ रहा है। इस लिये वैदिक धर्मी आर्योंको उचित है कि वे कुमारी और कुमारोंके अंदर पवित्र विचारका वायुमंडल उत्पन्न करनेका प्रयत्न करें और यह आदर्श अपने मनमें सदा जाग्रत रखें।

राजाका रहना सहना।

राजाका व्यवहार सीधासादा हो, राजा साधारण मनुष्य जैसा बनकर किसी किसी समय राष्ट्रमें भ्रमण भी करे और प्रत्यक्ष जनताका सुख दुःख अवलोकन करे इस विषयमें आदेश देखिये—

इन्द्रेन्द्र! मनुष्याः (वत्) परेहि,
वरुणैः संविदानः सं अज्ञास्थाः॥
स अयं त्वा स्वे सधस्थे अह्वत्,
स उ देवान् यक्षत्; विशः कल्पयात्॥ (मं० ६)

" हे राजन्! साधारण लोगोंके समान बनकर दूर दूर तक जनतामें भ्रमण कर, वहांके श्रेष्ठ मनुष्योंके साथ मिलजुल कर उनकी सच्ची अवस्थाको जान॥ वे तुझे अपने घर बुलावें और यज्ञ करें; इस प्रकार प्रजाओंकी उन्नति कर॥ "

यह मंत्र बहुत दृष्टियोंसे मनन पूर्वक देखने योग्य है। सबसे पहिले इसमें यह कहा है कि राजा किसी किसी समय अपने दरबारी थाट को अलग करके स्वयं साधारण मनुष्योंके भेषमें होकर साधारण मनुष्योंके समान बनकर नगरोंमें भ्रमण करे और अपने

आंखोंसे देखे कि अपने प्रजाकी अवस्था कैसी है, क्या प्रजा किसी प्रकार कष्टमें है या सुखमें है । अपने कर्मचारी प्रजाके साथ कैसा व्यवहार करते हैं । वहांके जो (वरुणैः= वरैः) प्रमुख लोग हों जो विशेष समझदार हों उनसे मिलकर सब अवस्थाको जान लो कि किस बातमें सुधार करके प्रजाका सुख बढाना चाहिये । ऐसा स्वयं देखनेसे तुम्हें पता लग जायगा कि राज्य प्रबंधमें दोष कहां हैं और गुण कहां है ।

दूसरी बात इसी मंत्रमें जो कही है वह यह है कि प्रजाके लोग राजाको विशेष समय अपने घर बुलावें, राजा वहां जावे, उनके साथ मिलजुलकर बातचीत करे, सब मिलकर यज्ञ याग आदि करें; इस रीतिसे राजा प्रजाको समर्थ बनावे और प्रजाकी उन्नति करे।

ये सभी उपदेश उत्तम हैं और जैसे राजाको वैसे ही राजपुरुषोंको भी सदा मनन करने योग्य हैं ।

दूतका संचार ।

राजा स्वयं अपने राज्यमें भ्रमण करे और सब व्यवस्था स्वयं अपने आंखसे देखे, इस विषयमें ऊपर कहा ही है; परंतु अकेला राजा कहांतक भ्रमण कर सकता है और कहांतक देख सकता है, राजा लोग दूतोंके आंखोंसे ही देख सकते हैं, इसलिये दूतोंका संचार करानेके विषयमें तृतीय मंत्रमें कहा है—

अजिरः दूतः संचरातै । (मं० ३)

"युवा दूत संचार करे ।" राष्ट्रमें दूतोंका संचार कराके राजा सब जानने योग्य बातें जान लेवे । और इस ज्ञानसे अपने शासन प्रबंधमें जो कुछ न्यूनाधिक करना हो वह करता रहे । अर्थात् दूत संचार यह शासनका एक आवश्यक अंग है क्योंकि इससे राजाको शासन विषयक प्रजाके सुख दुःखोंका पता लगता है । इस प्रकार ज्ञान प्राप्त करके अपना शासन चलानेवाला राजा प्रजाको अत्यंत प्रिय होता है, इसलिये प्रजा भी उस राजाका सत्कार विविध प्रकारकी भेंट देकर करती है । इस विषयमें देखिये—

(१) हविनः सजाताः त्वा अच्छ यन्तु ॥ (मं० ३)
(२) उग्रः बहुं बलिं प्रति पश्यासै ॥ (मं० ३)

(१) " हवि लेकर स्वजातीके लोग तेरे सन्मुख उपस्थित हों। (२) उग्र बन कर बहुत भेंट तू देखेगा। " इत्यादि प्रकार प्रजासे बडा सत्कार राजा प्राप्त कर सकता है। तथा—

(१) ते द्यावापृथिवी शिवे स्ताम्। (मं० ५)
(२) उग्रः सुमना इह दशमीं वश। (मं० ७)

(१) " हे राजन्! तेरे लिये द्यावापृथिवी कल्याणपूर्ण हों, और (२) तू उग्र तथा उत्तम मनवाला बनकर यहां सौ वर्ष तक राज्यको अपने वशमें कर। " इसीप्रकार " सब देवोंकी सहायता इस राजाको मिले " (मं० ४) इत्यादि प्रकारकी इच्छा लोग उसी समय करेंगे कि जिस समय राजाभी प्रजाका सुख बढानेमें दत्तचित्त होता हो। जो राजा प्रजाके सुख की पर्वाह न करता हो उसके हिताहित की फिक्र प्रजा भी नहीं करती। इस लिये हरएक राजाको सदा ध्यानमें यह बात रखना चाहिये कि " मेरे पास जो राजपद आया है वह प्रजापालन करनेके लिये आया है, न कि अपने सुखभोग भोगने के लिये। " यह भाव मनमें रखता हुआ राजा अपना कर्तव्य योग्य रीतिसे पालन करे।

वरुण।

यहां एक वैदिक वर्णन शैलीकी विशेषता आगई है वह अवश्य देखने योग्य है। इन्द्र वरुण आदि शब्द देवतोंके वाचक ही होते हैं अन्य किसी के वाचक नहीं हो सकते। ऐसा सामान्यतया साधारण लोग समझते हैं। परंतु ये शब्द कभी कभी विशेषण रूप होकर किसी अन्यके गुण बोधक होते हैं और कभी स्वयं किसी अन्य पदार्थ के वाचक भी होते हैं। यहां वरुण शब्द बहुवचनमें आया है इसलिये यह वरुण देवता वाचक निःसंदेह नहीं है, क्यों कि जिस समय वरुण देवताका वाचक यह शब्द होता है उस समय यह सदा एकवचन में ही होता है। यह बहुवचनमें होनेके कारण यह यहां प्रजाजनों का वाचक है। "वरुण, वरण, वर्ण" इस प्रकार यह " चार वर्णोंके लोगों " का वाचक हो सकता है किंवा वर अर्थात् श्रेष्ठोंका भी वाचक हो सकता है। यहां हमारे मतसे " वर्ण " अर्थ लेना अधिक योग्य है, तथापि इसका अधिक विचार पाठक करें।

राजा और राजाके बनानेवाले।

[५]

(ऋषिः - अथर्वा । देवता — सोमः)

आयमगन्पर्णमणिर्बली बलेन प्रमृणन्त्सपत्नान् ।
ओजो देवानां पय ओषधीनां वर्चसा मा जिन्वत्वप्रयावन् ॥ १ ॥
मयि क्षत्रं पर्णमणे मयि धारयताद्रयिम् ।
अहं राष्ट्रस्याभीवर्गे निजो भूयासमुत्तमः ॥ २ ॥
यं निदधुर्वनस्पतौ गुह्यं देवाः प्रियं मणिम् ।
तमस्मभ्यं सहायुषा देवा ददतु भर्तवे ॥ ३ ॥
सोमस्य पर्णः सह उग्रमागन्निन्द्रेण दत्तो वरुणेन शिष्टः ।
तं प्रियासं बहु रोचमानो दीर्घायुत्वाय शतशारदाय ॥ ४ ॥
आ मारुक्षत्पर्णमणिर्मह्या अरिष्टतातये ।
यथाहमुत्तरोऽसान्यर्यम्ण उत संविदः ॥ ५ ॥
ये धीवानो रथकाराः कर्मारा ये मनीषिणः ।
उपस्तीन्पर्ण मह्यं त्वं सर्वान्कृण्वभितो जनान् ॥ ६ ॥
ये राजानो राजकृतः सूता ग्रामण्यश्च ये ।
उपस्तीन्पर्ण मह्यं त्वं सर्वान्कृण्वभितो जनान् ॥ ७ ॥
पर्णोऽसि तनूपानः सयोनिर्वीरो वीरेण मया ।
संवत्सरस्य तेजसा तेन बध्नामि त्वा मणे ॥ ८ ॥

[इति प्रथमोऽनुवाकः ।]

अर्थ— (अयं बली पर्णमणिः) यह बलवान् पर्णमणि (बलेन सपत्नान् प्रमृणन्) बलसे शत्रुओंका नाश करता हुआ (आ अगन्) आया है। यह (देवानां ओजः) देवोंका बल और (ओषधीनां पयः) औषधियोंका रस है। यह (अप्रयावन् वर्चसा मा जिन्वतु) विरोध न करता हुआ तेजसे मुझे संयुक्त करे ॥ १॥ हे पर्णमणे ! (मयि क्षत्रं) मुझमें क्षात्र बल और (मयि रयिं धारयतात्) मुझमें धन धारण कर। (अहं राष्ट्रस्य अभीवर्गे)

मैं राष्ट्रके आप्तपुरुषोंमें (उत्तमः निजः भूयासं) उत्तम निज बनकर रहूं ॥ २ ॥ (यं गुह्यं प्रियं मणिं देवाः वनस्पतौ निदधुः) जिस गुह्य और प्रिय मणिको देवोंने वनस्पतिमें धारण किया था, (तं देवाः अस्मभ्यं आयुषा सह भर्तवे ददतु) उस मणिको देव हमें आयुके साथ पोषणके लिये देवें ॥ ३ ॥ (इन्द्रेण दत्तः) इन्द्रने दिया हुआ, (वरुणेन शिष्टः) वरुण द्वारा संस्कृत बना (सोमस्य पर्णः) सोम देवताका यह पर्णमणि (उग्रं सहः आ अगन्) उग्र बलसे युक्त होकर प्राप्त हुआ है। (तं) उस मणिके लिये (बहु रोचमानः) बहुत तेजस्वी मैं (दीर्घायुत्वाय शतशारदाय) दीर्घ आयुके लिये और सौ वर्षके जीवन के लिये (प्रियासं) प्रिय करूं ॥ ४ ॥ (पर्णमणिः मह्यै अरिष्टतातये) यह पर्णमणि बडे कल्याणके फैलाने के लिये (मा आ अरुक्षत्) मुझपर आरूढ हुआ है। (यथा अहं अर्यम्णः) जिससे मैं श्रेष्ठ मनवाले (उत संविदः) और ज्ञानीसे भी (उत्तरः असानि) अधिक श्रेष्ठ हो जाऊं ॥ ५ ॥ (ये धीवानः रथकाराः) जो बुद्धिवान् और जो रथ करनेवाले हैं तथा (ये मनीषिणः कर्माराः) जो बुद्धिवान लुहार हैं, हे (पर्ण) पर्णमणे ! (त्वं सर्वान् जनान् अभितः मह्यं उपस्तीन् कृणु) तूं सब जनोंको मेरे चारों ओर उपस्थित कर ॥ ६ ॥ (ये राजानः राजकृतः) जो राजा और जो राजाओंको बनाने वाले हैं, (ये सूताः ग्रामण्यः च) और जो सूत और ग्रामके नेता हैं, हे पर्णमणे ! तू सब जनों को मेरे चारों ओर उपस्थित कर ॥ ७ ॥ हे (मणे) पर्णमणे ! तू (पर्णः तनूपानः असि) पर्णरूप और शरीररक्षक है, (मया वीरेण सयोनिः वीरः असि) मुझ वीर के साथ समान उत्पत्ति वाला वीर है, इसलिये मैं (त्वा संवत्सरस्य तेन तेजसा बध्नामि) तुझको संवत्सरके उस तेजके साथ बांधता हूं ॥ ८ ॥

भावार्थ-यह पर्णमणि बल बढानेवाला, अपने बलसे शत्रुओंका नाश करनेवाला, देवोंका शक्तिरूप और औषधियों के रस से बननेवाला है, यह मुझे अपने तेजसे युक्त करे ॥ १ ॥ इससे मुझमें क्षात्रतेज और ऐश्वर्य बढे और में राष्ट्रका हित साधन करनेवाला, अर्थात् राष्ट्रका निज संबंधी बन कर रहूंगा ॥ २ ॥ जिस मणि को देवोंने वनस्पतिसे बनाकर धारण किया था, उस मणिको देव हमें आयु और पुष्टिकी वृद्धिके लिये देवें ॥ ३ ॥ यह वनस्पतिसे बना हुआ, वरुणने सुसंस्कारयुक्त किया हुआ और इन्द्रने हमें

पहले दिया हुआ, वीर्य और बलकी वृद्धि करनेवाला मणि है। उस मणिको मैं सौ वर्षकी दीर्घ आयुके लिये प्रेमपूर्वक धारण करता हूं ॥ ४ ॥ यह मणि मेरे शरीर पर धारण करनेसे मेरा सुख बढावे और इससे मैं श्रेष्ठ मनवाले और ज्ञानी पुरुषसे भी अधिक श्रेष्ठ होऊंगा ॥ ५ ॥ जो बुद्धिमान् रथकार और कुशल लुहार हैं वे सब मेरे पास उपस्थित हों ॥ ६ ॥ जो सरदार और राजाका चुनाव करके राजाको बनानेवाले हैं और जो सूत और ग्रामके नेता हैं वे सब मेरे चारों ओर उपस्थित हों ॥ ७ ॥ यह मणी उत्तम शरीर रक्षक है और वीरताका उत्साह बढानेवाला है, इसको मैं एक वर्ष पर्यंत स्थिर रहनेवाले तेज के साथ धारण करता हूं ॥ ८ ॥

पर्ण मणि ।

इस सूक्तमें पर्णमणिके धारणका उल्लेक है। अथर्ववेद काण्ड २ सू० ४ में जङ्गिड मणिका वर्णन है, उस प्रसंगमें मणिधारणके विषयमें जो लेख लिखा है वह पाठक यहांभी देखें। यह पर्णमणि इसलिये कहा जाता है कि यह औषधियोंके स्वरससे बनाया होता है, देखिये —

१ पर्णमणिः ओषधीनां पयः। (मं० १)
२ पर्णः (पर्णमणिः) सोमस्य उग्रं सहः। (मं० ४)
३ देवाः (पर्ण-) मणिं वनस्पतौ निदधुः। (मं० ३)

(१) "पर्ण मणि औषधियोंका दूध ही है। (२) यह पर्णमणि सोमवल्लीका उग्र बल है। (३) देवोंने पर्णमणिको वनस्पतिमें रखा है।" ये इस के वर्णन स्पष्टतासे बता रहे हैं कि यह मणि वनस्पतियोंके दूध से बनाया जाता है। "पर्ण-मणि" यह शब्द भी स्वयं अपना अर्थ व्यक्त कर रहा है कि यह (पर्ण) पत्तोंका मणि है अर्थात् वनस्पतिके पत्तोंके रससे बना है। इसके धारणसे वनस्पति-रसके वीर्यके कारण शरीरपर बडा प्रभाव होता है, इस विषयमें देखिये —

१ अयं पर्णमणिः बली। (मं १)
२ पर्णः तनूपानः। (मं० ८)
३ बलेन सपत्नान् प्रमृणन्। (मं १)
४ देवानां ओजः ... मा वर्चसा जिन्वतु। (मं० १)
५ मयि क्षत्रं मयि रयिं धारयतात्। (मं० २)
६ आयुषे भर्तवे च तं अस्मभ्यं ददतु। (मं ३)
७ पर्णः उग्रं सहः ... दीर्घायुत्वाय शतशारदाय। (मं ४)

८ पर्णमणिः अरिष्टतातये मा आरुक्षत्। (मं० ५)

"(१) यह पर्णमणि बल बढानेवाला है, (२) यह (तनू-पानः) शरीरका रक्षक है, (३) यह अपने बलसे रोगरूपी शत्रुओंको नाश करता है, (४) यह (देवानां) इंद्रियोंका बल बढानेवाला है यह मेरा तेज बढावे, (५) यह मुझमें क्षात्रतेज और शरीरकी कान्ति बढावे, (६) दीर्घ आयुष्य और शरीरकी पुष्टि इससे बढे, (७) यह मणि बडा बल बढानेवाला है, इससे सौ वर्षकी दीर्घायु मुझे प्राप्त हो, (८) यह मणि शरीरपर धारण करनेपर मेरी शक्ति बढावे।"

इस प्रकारके वर्णन बता रहे हैं कि इस "पर्णमणि" के अंदर बडा प्रभाव है और इसके शरीर पर धारण करनेसे शरीरमें नित्य उत्साह रहता है, बलके कार्य करनेके योग्य शरीरकी शक्ति होती है, शरीरका तेज बढता है और मनुष्य बडा तेजस्वी होनेके कारण प्रभावशाली दिखाई देता है। यह वनस्पतिके रसोंका प्रभाव है। वैद्य लोग इस मणिकी खोज करें।

राष्ट्रका निज बनना।

" राष्ट्रका निज " बन कर रहनेका उपदेश इस सूक्तमें विशेष मनन करने योग्य है। जो लोग राष्ट्रमें रहें वे निज बन कर रहेंगे तो ही राष्ट्रका भला हो सकता है; इस विषयमें द्वितीय मंत्र मनन करने योग्य है —

अहं राष्ट्रस्य अभीवर्गे निजो भूयासमुत्तमः॥ (मं० २)

" मैं इस राष्ट्रके हितचिंतक वर्गमें उत्तम निज बन कर रहूंगा। " यहां राजा, राज-पुरुष, अधिकारी वर्ग आदि सब राष्ट्रके निज बन कर रहें यह उपदेश स्पष्ट है। राष्ट्रमें रहता हुआ कोई मनुष्य राष्ट्रके लिये पराया बनकर न रहे। यहां निज बनकर रहनेका भाव क्या है और पराया बनकर रहनेका भाव क्या है यह अवश्य देखना चाहिये। अपने यहां का ही उदाहरण लीजिये। इस भारत वर्षमें जापानी, चीनी, अमरिकन और योरोपीयन आते हैं और रहते भी हैं, परंतु इनमेंसे कोई भी " भारतवर्षका निज " बनकर नहीं रहता। जो ये आते हैं वे " उपरी " बनकर आते हैं, उपरी बनकर यहां रहते हैं, उपरी बनकर यहांका कारोबार करते हैं और पश्चात् चले जाते हैं। इस कारण इनके उपरी भावसे भारत वर्षका अहित ही होता है। इस लिये उपरी भावसे रहना राष्ट्रके लिये घातक है। जो " निजभाव " से रहेंगे, राष्ट्रका जो हित और अहित है वह अपना हित और अहित है, इस दृष्टिसे व्यवहार करेंगे उनसे राष्ट्रका अहित नहीं होगा। यह तो साधारण मनुष्योंकी बात होगई है, परंतु जो राष्ट्रके कर्मचारी हैं, यदि वे उपरी या पराये भावसे राष्ट्रमें रहने लगे, तो राष्ट्रका नुकसान कितना होगा इसका

हिसाब लगाना कठीन है । इस दृष्टिसे पाठक देखें कि " राष्ट्रका निज " बनकर रहनेका भाव कितना उच्च है और राष्ट्र हितकी दृष्टि से कितना आवश्यक है। " निजभाव " से रहनेके कारण विदेशी लोग भी स्वदेशीके समान राष्ट्रहित करनेवाले बनेंगे और " निज भाव " न रखनेवाले स्वदेशी लोगभी परदेशी लोगोंके समान राष्ट्रहित का घात करनेवाले बनेंगे । यहां पाठक " राष्ट्रका निज " बनकर रहनेका कितना महत्त्व है यह देखें और अपने राष्ट्रके निज बनकर रहें।

राजाको निर्माण करनेवाले ।

इस सूक्त के सप्तम मंत्रमें " राज-कृतः " शब्द है इसका अर्थ " राजाको निर्माण करनेवाले (King makers) " है । राजाको किस रीतिसे निर्माण करते हैं यह प्रश्न यहां उत्पन्न हो सकता है । इसका उत्तर इसके पूर्वके चतुर्थ सूक्तने ही दिया है, राजाका चुनाव प्रजा द्वारा होता है और वह राजगद्दीपर आता है, इसीको प्रजाद्वारा राजाका निर्वाचन, राजाका स्वीकार, राजा का नियोजन अथवा राजाका चुनाव कहते हैं। जिसका चुनाव प्रजा करती है, उसका मानो " निर्माण " ही प्रजा करती है। इस प्रकार राजाके पितृ या मातृस्थानमें प्रजा होती है, इसी लिये राजसभाके सदस्य राजाके " पितर " हैं ऐसा वेदमें ही अन्यत्र कहा है (देखो अथर्व. कां. ७ सू. १२ मं० १, २)। प्रजाके जो महाजन नेता अथवा शिष्ट लोग होते हैं वे राजाका चुनाव करते हैं और उसको निर्माण करते हैं, इसी लिये प्रजाकी रक्षा करना राजाका परम श्रेष्ठ कर्तव्य है। मातृरक्षा के समानही प्रजारक्षाका यह राजधर्म है ।

मंत्र ६ और ७ में कहा है कि रथकार, सुतार, लुहार, ज्ञानी पुरुष, मंत्री, सूत, ग्रामनेता, सरदार तथा राजाका चुनाव करनेवाले ये सब लोग राजाके पास रहें, राजाके अनुगामी बनें, राजाके साथ रहकर राजाको योग्य सलाह दें । इस प्रकार राज्यका शासन प्रजाके द्वारा नियुक्त किये राज पुरुषोंद्वारा प्रजाके हितके लिये प्रजाकी अनुमतिसे चलाया जावे । इसीसे राष्ट्रका सच्चा हित हो सकता है ।

यद्यपि यह सूक्त वस्तुतः पर्णमणिका वर्णन करता है, तथापि प्रसंगसे राष्ट्रका निज बनकर रहना, राजाका चुनाव प्रजाद्वारा करना इत्यादि महत्त्वपूर्ण बातोंका उपदेश होने के लिये वैदिक राजनीति शास्त्र की दृष्टिसे यह सूक्त बडे महत्त्वपूर्ण आदेश दे रहा है । इसलिये पाठक भी इसी दृष्टिसे इस सूक्तका मनन करें ।

[यहां प्रथम अनुवाक समाप्त होता है । यह संपूर्ण अनुवाक राजप्रकरण का ही उपदेश देता है ।]

वीर पुरुष।

[६]

(ऋषिः—जगद्बीजं पुरुषः । देवता—वानस्पत्योऽश्वत्थः)

पुमान्पुंसः परिजातोऽश्वत्थः खदिरादधि ।
स हन्तु शत्रून्मामकान्यानहं द्वेष्मि ये च माम् ॥ १ ॥
तानश्वत्थ निः शृणीहि शत्रून्वैबाधदोधतः ।
इन्द्रेण वृत्रघ्ना मेदी मित्रेण वरुणेन च ॥ २ ॥
यथाश्वत्थ निरभनोऽन्तर्महत्यर्णवे ।
एवा तान्त्सर्वान्निर्भङ्ग्धि यानहं द्वेष्मि ये च माम् ॥ ३ ॥
यः सहमानश्चरसि सासहान इव ऋषभः ।
तेनाश्वत्थ त्वया वयं सपत्नान्त्सहिषीमहि ॥ ४ ॥
सिनात्वेनान्निर्ऋतिर्मृत्योः पाशैरमोक्यैः ।
अश्वत्थ शत्रून्मामकान्यानहं द्वेष्मि ये च माम् ॥ ५ ॥
यथाश्वत्थ वानस्पत्यानारोहन्कृणुषेऽधरान् ।
एवा मे शत्रोर्मूर्धानं विष्वग्भिन्द्धि सहस्व च ॥ ६ ॥
तेऽधराञ्चः प्र प्लवतां छिन्ना नौरिव बन्धनात् ।
न वैबाधप्रणुत्तानां पुनरस्ति निवर्तनम् ॥ ७ ॥
प्रैणान्नुदे मनसा प्र चित्तेनोत ब्रह्मणा ।
प्रैणान्वृक्षस्य शाखयाश्वत्थस्य नुदामहे ॥ ८ ॥

अर्थ- जैसा (खदिरात् अधि अश्वत्थः) खैरके वृक्षके ऊपर अश्वत्थ वृक्ष होता है इसी प्रकार (पुंसः पुमान् परिजातः) वीर पुरुषसे वीर पुरुष उत्पन्न होता है। (सः मामकान् शत्रून् हन्तु) वह मेरे शत्रुओंका वध करे (यान् अहं द्वेष्मि, ये च माम्) जिनका मैं द्वेष करता हूं और जो

मेरा द्वेष करते हैं ॥ १ ॥ हे (अश्व-त्थ) अश्वके समान बलिष्ठ वीर ! (तान् वैबाधदोधतः शत्रून्) उन विविध बाधा करनेवाले द्रोही शत्रुओंको (निः शृणीहि) मार डाल और (वृत्रघ्ना इन्द्रेण मित्रेण वरुणेन च मेदी) वृत्रका नाश करनेवाले इन्द्र, मित्र और वरुणसे मित्रता कर ॥ २ ॥ हे अश्वत्थ ! (यथा महति अर्णवे निरभनः) जैसे बडे समुद्रमें तू भेदन करता है, (एव) उसी प्रकार (तान् सर्वान् निर्भङ्ग्धि) उन सबको छिन्न भिन्न कर (यान् अहं द्वेष्मि ये च मां) जिनका मैं द्वेष करता हूं और जो मेरा द्वेष करते हैं ॥ ३ ॥ हे अश्वत्थ ! (यः सहमानः सासहानः) जो तू शत्रुको दबानेवाला बलवान् (ऋषभः इव) बैलके समान बलवान् होकर (चरसि) विचरता है, (तेन त्वया वयं सपत्नान् सहिषीमहि) उस तेरे साथ हम शत्रुओंको पराजित करेंगे ॥ ४ ॥ हे अश्वत्थ ! (निर्ऋतिः मृत्योः अमोक्यैः पाशैः एनान् मामकान् शत्रून् सिनातु) आपत्ति मृत्युके न टूटनेवाले पाशोंसे इन मेरे शत्रुओंको बांध देवे जिनका मैं द्वेष करता हूं और जो मेरा द्वेष करते हैं ॥ ५ ॥ हे अश्वत्थ ! (यथा आरोहन् वानस्पत्यान् अधरान् कृणुषे) जैसा तू ऊपर रहता हुआ अन्य वृक्षोंको नीचे करता है, (एवा) इसी प्रकार (मे शत्रोः मूर्धानं विष्वक् भिन्धि) मेरे शत्रुओंके सिरको सब ओरसे तोड दे और (सहस्व च) उसको जीत लो ॥ ६ ॥ (बन्धनात् छिन्ना नौः इव) बन्धनसे छूटी हुई नोकाके समान (ते अधराञ्चः प्रप्लवतां) वे अधोगतिके मार्गसे बहते चले जावे (वैबाध-प्रणुत्तानां पुनः निवर्तनं न अस्ति) विशेष बाधा करनेवालों का पुनः लौटना नहीं होता है ॥ ७ ॥ (एनान् मनसा प्रनुदे) इन शत्रुओंको मनसे मैं हटाता हूं । (चित्तेन उत ब्रह्मणा प्र) मैं चित्तसे और ज्ञानसे हटाता हूं। (अश्वत्थस्य वृक्षस्य शाखया) अश्वत्थ वृक्षकी शाखासे (एनान् प्र नुदामहे) इनको हम हटा देते हैं ॥ ८ ॥

भावार्थ– खैरके वृक्षपर अश्वत्थ वृक्ष उगता है और उसीपर बढता है, इसी प्रकार वीर पुरुषसे वीर संतान उत्पन्न होती है और वीरोंके साथ ही बढती है। ऐसे वीर हमारे वैरियोंको हटा देवें ॥ १ ॥ हे वीर ! तू शत्रुनाश करनेवाले वीरोंके साथ मिलकर विशेष बाधा करनेवाले शत्रुओंको मार डाल ॥ २ ॥ हे शूर ! जिस प्रकार नौकासे बडे समुद्रके पार होते हैं उसी

प्रकार तू उन सब शत्रुओंका भेदन करके पार हो ॥ ३ ॥ हे बलवान! जो तू बलिष्ठ होकर शत्रुको दबाते हुए सर्वत्र संचार करता है, उस तेरी सहायतासे हम अपने सब शत्रुओंको पराजित कर सकते हैं ॥ ४ ॥ हे शक्तिमान! मेरे वैरी आपत्तियोंके पाशोंसे बांधे जावें अर्थात् वे आपत्तियोंमें पडें ॥ ५ ॥ जिस प्रकार पीपल का वृक्ष अन्य वृक्षोंपर उगता है और उनको नीचे दबाता है उसी प्रकार वीर मेरे शत्रुओंको नीचे दबा देवे और उनके सिर तोड देवे ॥ ६ ॥ विशेष बाधा करनेवाले शत्रु अधोगतिसे नीचेकी ओर गिरते जांयगे। ऐसे एकबार गिरे हुए फिर कभी उठते नहीं ॥ ७ ॥ मनसे, चित्तसे और अपने ज्ञानसे मैं शत्रुओंको दूर करता हूं ॥ ८ ॥

अश्वत्थ की अन्योक्ति।

यह सूक्त अश्वत्थ की अन्योक्ति है। अन्योक्ति अलंकार पाठक जानते ही हैं। एक का प्रत्यक्ष उल्लेख करके दूसरे के ही विषयमें कहनेका नाम अन्योक्ति है। इसी प्रकार यहां अश्वत्थ वृक्षका वर्णन करते हुए वीर पुरुषका वर्णन किया है। इसलिये यह अश्वत्थान्योक्ति है।

"अश्वत्थ" शब्दके बहुत अर्थ हैं-- (१) पीपल वृक्ष; (२) [अश्व-स्थ] अश्वके समान बलवान बनकर रहनेवाला वीर; (३) [अ-श्व-स्थ] जो कल रहेगा ऐसा निश्चय नहीं कहा जाता, नश्वर; (४) सूर्य; (५) अश्विनी नक्षत्र; इत्यादि अनेक अर्थ इस शब्दके हैं। यहां पहले दो अपेक्षित हैं।

अश्वत्थ अर्थात् पीपल वृक्ष दूसरे वृक्षोंपर उगा हुआ दिखाई देता है, "यथा अश्वत्थ वानस्पत्यान् आरोहन् अधरान् कृणुषे। (मं० ६)" इस दृश्यपर काव्य दृष्टिसे यह अलंकार हो सकता है कि यह अश्वत्थ वृक्ष बडाभारी वीर है जो अन्य वृक्षोंको अपने पांव के नीचे दबाता है और अन्यवृक्षोंके सिरपर अपना पांव रख कर खडा हो जाता है। जिस प्रकार वीर पुरुष शत्रुके सिरको अपने पांव के नीचे दबाता है उसी प्रकार मानो पीपल का यह कृत्य है। इसलिये अश्वत्थवृक्ष की अन्योक्ति से इस सूक्तमें शूर पुरुषका वर्णन किया है। पाठक इस दृष्टिसे यह सूक्त पढें।

आनुवंशिक संस्कार ।

इस सूक्तके प्रथमही मंत्रमें कहा है कि "पुंसः पुमान् परिजातः" वीर से वीर संतान उत्पन्न होती है, वीर के कुलमें वीर उत्पन्न होते हैं। इसका यह तात्पर्य नहीं है कि अन्यकुलमें वीर उत्पन्न नहीं हो सकते; परंतु यहां वीर संतान उत्पन्न होनेके योग्य वायुमंडल कहां रहता है यही दिखाया है। बचपनसे वीरताकी बातें श्रवण करने के कारण वीरके संतान वीरता से युक्त होना अत्यंत स्वाभाविक है, यही यहां कहनेका तात्पर्य है।

यह वीर सब प्रकारके शत्रुओंको हटा देवे, यही सब मंत्रोंमें कहा है और मंत्रोंका यह आशय सरल होनेसे इसका अधिक स्पष्टीकरण करनेकी कोई आवश्यकता नहीं है।

शत्रुका लक्षण ।

इस सूक्तमें "वै-बाध" (विशेष बाधा करना) यही एक वैरी होने का लक्षण कहा है (मं० २ ; ७)। वैयक्तिक, सामाजिक, धार्मिक, राजकीय आदि अनेक प्रकार के शत्रु हो सकते हैं और इन केन्द्रोंमें ये शत्रु विशेष प्रकारकी बाधा भी करते हैं। यह अनुभव पाठकोंको है ही। ये सब शत्रु दूर करने चाहिये और जनताका सुख बढाना चाहिये। यह इस सूक्तके उपदेशका सार है। शत्रुको दूर करनेका उपाय इसप्रकार करना चाहिये—

मनसा, चित्तेन उत ब्रह्मणा एनान् प्र नुदे। (मं० ८)

"मन, चित्त और ज्ञानसे शत्रुओंको दूर करनेके उपाय सोचने चाहिये" और उन उपायोंका मनन करना चाहिये। मनसे शत्रुनाश करनेका मनन करना चाहिये, चित्तसे इसी बातका चिंतन करना चाहिये, और अपना ज्ञान बढाकर उस ज्ञानसे ऐसी योजनाएं करना चाहिये कि जिससे शत्रु शीघ्रही नष्ट हो जावे। तात्पर्य हरएक प्रकारकी युक्ति करके शत्रुको हटाना चाहिये।

गिरावटका मार्ग ।

जो विशेष बाधा करते हैं, जो जनताको सताते हैं, जो लोगोंको उपद्रव देते हैं वे स्वकर्मसे ही गिरते हैं। उनके बुरे कर्मके कारण वे स्वयं अधोगतिके मार्गसे गिरते रहते हैं, इस विषयमें सप्तम मंत्रका कथन हरएक मनुष्यके लिये मनन करने योग्य है—

बन्धनात् छिन्ना नौः इव, ते अधराञ्चः प्र प्लवताम्।
वैबाधप्रणुत्तानां पुनः निवर्तनं नास्ति ॥ (मं० ७)

"बंधनसे नौका जैसी छूटती है और जल प्रवाहसे बहती जाती है उस प्रकार वे जनताको विशेष कष्ट देनेवाले दुष्टलोग अधोगतिसे नीचे की ओर गिरते जाते हैं। उनके उठनेकी कोई आशा नहीं है। जो दुष्ट जनताको विशेष बाधा करते हैं और उस कारण पतित होते जाते हैं, उनके ऊपर उठनेकी कोई आशा नहीं है।"

इस मंत्रने पाठकोंको सावधान किया है कि वे अपने चरित्र का अवलोकन करें और सोचें कि अपनी ओरसे तो किसीको कष्ट नहीं होते हैं? क्योंकि जो दूसरोंको कष्ट देते हैं उनकी उन्नतिकी कोई आशा नहीं है। एक मनुष्य दूसरे मनुष्यको कष्ट देगा, एक जाती दूसरी जातीको कष्ट देगी, एक राष्ट्र दूसरे राष्ट्रको सतायेगा, तो वह सतानेवाले अन्य रीतिसे गिरते जाते हैं और उनके उठनेकी कोई आशा नहीं होती है। जो राष्ट्र दूसरे देशोंको परतंत्रतामें रखते हैं वे इसी प्रकार गिरते जाते हैं। साम्राज्यमदके कारण भी इस प्रकार गिरावट होती जाती है। यदि किसीको दबाकर एक स्थानपर रखना हो तो जैसा दबे हुएको वहां दबकर रहना पडता है, उसी प्रकार दबानेवालेकोभी वहां ही रहना पडता है। इसी प्रकार अन्य बातें पाठक जान सकते हैं। तात्पर्य यह है कि कोई भी जाती जो दूसरोंपर अत्याचार करती है, स्वयं अधोगतिके मार्गसे गिरती जाती है और जबतक वह अपना अत्याचार बंद नहीं करती, तबतक उसके उठनेका कोई मार्ग नहीं होता है। यह जान कर कोई किसी दूसरेपर कभी अत्याचार न करे। दूसरे पर अत्याचार न करनेसे ही उन्नतिका मार्ग खुला रह सकता है।

विजय की तैयारी।

इस सूक्तमें "सहमान, सासहान" (मं० ४) ये दो शब्द हैं, अन्यस्थानोंमें "सहमान, असह्य" ये शब्द हैं, जो विजयकी तैयारीके सूचक हैं—

१ सहमान— शत्रुके हमले होनेपर जो अपना स्थान नहीं छोडता।

२ असह्य, सासहान— इसके हमले शत्रुपर होनेपर शत्रु इसके संमुख ठहर नहीं सकता।

विजय प्राप्त करना हो तो अपनी तैयारी ऐसी करनी चाहिये। तभी विजय होगा। पाठक इस सूक्तका इस दृष्टिसे विचार करें। और शत्रुको दूर भगाने के विषयमें योग्य बोध प्राप्त करें॥

महाभारतका मुद्रण ।

आपकी क्रम संख्या

आपका चंदा ।

उत्तर देनेके समय आप क्रमसंख्या लिखिये

(१)

आपने ....) ... रु० चंदेके रूपमें इस समय तक भेजे हैं और आपको इस समय तक उस चंदेमें ... अंक प्राप्त हुए हैं । तबसे अबतक महाभारतके क्रमांक ६० तक अंक छपचुके हैं और आगे छपाई चलरही है । इसलिये आगे छपे हुए पर्वोंमेंसे जो पर्व आप इस समय लेना चाहते हैं, उनका मूल्य म० आ० द्वारा यथावकाश शीघ्रही भेज कर मंगवाईये । ऐसे ग्रंथ बार बार मुद्रित नहीं होते हैं, और पश्चात् मूल्य बढता भी है । इसलिये जो सज्जन महाभारत का पठन करना चाहते हैं वे इस समय से लाभ अवश्य उठावें ।

(२)

यदि आपने अपना चंदा ६० वें अंकतक भेजा है तो आप आगेके अंकोंके लिये चंदा शीघ्र भेजिये । द्रोणपर्व ६५ वें अंक में समाप्त होगा और आगे मनोरंजक कर्ण पर्व शुरू होगा ।

(३)

इसके अतिरिक्त आप अपने इष्टमित्रोंमें इसके ग्राहक बढानेका यत्न कीजिये । यदि आप प्रयत्न करेंगे तो ऐसे अमूल्य ग्रंथ के लिये कुछ ग्राहक बना देना आपके लिये कठिन नहीं है । आशा है कि आप इस कार्यकी सहायता करेंगे ।

निवेदक

स्वध्याय मंडल
औंध (जि. सातारा)

श्रीपाद दामोदर सातवळेकर
संपादक " महाभारत "

आर्योंके विजयका प्राचीन इतिहास।

महाभारत।

इस समय तक छपकर तैयार पर्व।

पर्वका नाम	अंक	कुल अंक	पृष्ठसंख्या	मूल्य
१ आदिपर्व	[१ से ११]	११	११२८	६) छः रु.
२ सभापर्व	[१२,, १५]	४	३५६	२) दो ,,
३ वनपर्व	[१६,, ३०]	१५	१५३८	८) आठ ,,
४ विराटपर्व	[३१,, ३३]	३	३०६	१॥) डेढ ,,
५ उद्योगपर्व	[३४,, ४२]	९	९५३	५) पांच ,,
६ भीष्मपर्व	[४३,, ५०]	८	८००	४) चार ,,

७ द्रोणपर्व ५१ से ६० अंक छप चुके हैं, आगे छपाई चल रही है, ६५ क्रमांकमें द्रोणपर्व समाप्त होगा और उसका मूल्य करीब ८ आठ) रु० होगा।

सूचना—- ये पर्व छप कर तैयार हैं। अतिशीघ्र मंगवाइये। मूल्य मनी आर्डर द्वारा भेज दीजिये तो डाक व्यय माफ करेंगे; अन्यथा प्रत्येक रु० के मूल्यके ग्रंथको तीन आगे डाकव्यय मूल्यके अलावा देना होगा।

प्रबंधकर्ता,

ॐ

स्वाध्याय मण्डल।

वैदिक तत्त्वज्ञान प्रचारक संघ।

औंध (जि० सातारा)

तिथि १ ज्येष्ठ संवत् १९८५

श्रीमान्‌जी नमस्ते।

आप वैदिक धर्मके प्रेमी और प्राचीन आर्य सभ्यताके भक्त हैं, इसलिये आपको यह पत्र भेजा जाता है। स्वाध्याय मंडल द्वारा वैदिक धर्मके ग्रंथ मुद्रण करनेका कार्य गत दस वर्षोंसे हो रहा है, और प्राचीन आर्य सभ्यता के ग्रंथ जो "रामायण और महाभारत" नामसे प्रसिद्ध हैं, उनका मुद्रण भी कुछ वर्ष पूर्व शुरू किया गया है। आर्य सभ्यताके महत्त्वपूर्ण ग्रंथ "महाभारत" का ही मुद्रण सबसे पहले शुरू किया गया है। इस समय यह महाभारत करीब आधा छप चुका है और आगे मुद्रण चल रहा है, थोडे ही समय में समाप्त होगा।

महाभारत अत्यंत अद्भुत ग्रंथ है, जगत्‌में इसके समान दूसरा ग्रंथही नहीं है, इसलिये यह ग्रंथ हरएक आर्य सभ्यताके प्रेमी सज्जनके घरमें होना अत्यंत आवश्यक है। इस ग्रंथसे प्राचीन आर्य सभ्यताका ज्ञान जैसा हो सकता है वैसा किसी दूसरे ग्रंथसे नहीं हो सकता। इसलिये जैसा आर्योंको वैसाही हिंदुओंको इसका पाठ अवश्य करना चाहिये और अपनी प्राचीन सभ्यता का मनन करना चाहिये। आज कलके जीवन युद्धके समय यह महाभारत ग्रंथ ही विजय पानेकी कुंजी पाठकोंको दे सकता है।

इसी उद्देश्यसे हम यह ग्रंथ सुबोध रीतिसे मुद्रित कर रहे हैं।

इस समय तक भारतवर्षमें कईवार इस महाभारतग्रंथ का मुद्रण किया गया और प्रायः प्रत्येक वार धनाढ्य पुरुषोंसे और राजा महाराजाओंसे लाखों रु० दानके रूपमें प्राप्त करके ही मुद्रण किया गया है। धनाढ्य पुरुषों और राजा महाराजाओंके पास जाकर धनकी याचना करने के योग्य कोई मनुष्य हमारे पास नहीं है और संपादकही स्वयं जाये तो यहांका कार्य बंद होता है; इस लिये हम यह कार्य केवल आप जैसे धर्मके प्रेमी ग्राहकोंकी सहायतापर ही कर रहे हैं और आपसे आशा करते हैं कि आप अपनी शक्ति से जो हो सके वह सहायता इस कार्यकी पूर्तिके लिये करेंगे।

आपसे एक सहायता ।

महाभारतके ग्राहक बढाईये ।

आप इस महाभारत के लिये अपने मित्रोंमेंसे एक या दो नये ग्राहक बना कर उनका चंदा म० आ० द्वारा हमारे पास भेज दीजिये अथवा उनको चंदा भेज देनेकी प्रेरणा कीजिये । चंदा आतेही अंक हम यहांसे भेज देंगे । एकदम जितने पर्व चाहिये उतने पूर्ण पर्वोंका चंदा भेजना लाभकारी है । अथवा चाहे तो एक एक पर्व भी अलग अलग मंगवा सकते हैं ।

हम महाभारत वी० पी० से नहीं भेजते । कई सज्जन पहले वी० पी० मंगवाते हैं और पश्चात् वी० पी० वापस करते हैं, इस कारण बडा नुकसान उठाना पडता है । यह महाभारत बडा भारी ग्रंथ होनेसे इस पर डा० व्य० बहुत होता है और वी० पी० वापस आनेपर बडा नुकसान उठाना पडता है, इस लिये महाभारत वी० पी० से भेजना बंद किया है । इस कारण आप जो ग्राहक बनायेंगे उनका चंदा म० आ० से ही भिजवाइये । तो यह कार्य शीघ्र पूर्ण किया जा सकता है ।

अल्प मूल्य ।

हमने निश्चय किया है कि यह महाभारत थोडा नुकसान उठाकर भी अल्पसे अल्प मूल्यमें जहांतक हो सके वहां तक दिया जावे । आप जानते ही हैं कि केवल मूल संस्कृत महाभारत का मूल्य इस समय ७०) रु. है, केवल भाषाके महाभारतका मूल्य ५०) रु. है । दोनों का मिलकर मूल्य १२०) रु. होता है, तथापि हमने मूल और भाषाटीका समेत महाभारतका मूल्य इस समय केवल ६०) साठ रु० ही रखा है, और जो फुटकर पर्व लेंगे उनके लिये केवल ६५) पैंसठ रु. रखा है । स्मरण रखिये कि,

आगे इसका मूल्य १००) रु. होगा ।

इस समय तक जितने भी पुस्तकाकार महाभारत छपे हैं,उन सबसे हमारे महाभारतके मूल श्लोकोंका टाइप तथा भाषाटीका का टाइप बडा है; जिससे पढनेवाले पाठकोंको ग्रंथ पढनेकी बडी सुगमता होगी ।

यह महाभारत— मूल श्लोक और भाषाटीका— मिल कर करीब १३००० तेरह हजार पृष्ठोंका ग्रंथ होगा । इससे आप इसके बडेपन का ख्याल कर सकते हैं ।

हम प्रत्येक अंक सौ पृष्ठोंका प्रकाशित कर रहे हैं, इससे संपूर्ण ग्रंथके करीब १३० अंक प्रकाशित होंगे और इसमें १०० चित्र भी होंगे। प्रत्येक अंक का मूल्य केवल आठ आना ही रखा है।

अर्थात् संपूर्ण महाभारतका मूल्य करीब ६५) रु. होगा। परंतु जो लोग इस समय पेशगी मूल्य इकट्ठा भेजदेंगे उनको यह ग्रंथ हम केवल ६०) साठ रु. में देंगे। जो सज्जन इस सुविधासे लाभ उठाना चाहते हैं, वे शीघ्र अपना चंदा भेज दें, आगे यह सहूलियत नहीं रहेगी।

पुराने ग्राहक।

जिन्होंने पहले जितना चंदा भेजा है, उतना कम करके साठ रु० की पूर्णताके लिये जितनी रकम और भेजना आवश्यक होगी उतनी ही रकम पुराने ग्राहक भेज दें, नये ग्राहक एक दम साठ रु० भेजें।

सहूलियत।

जो सज्जन एकदम इतनी रकम नहीं भेज सकते वे प्रत्येक अंकका ॥) आठ आने मूल्य है यह जानकर जितने चाहे उतने अंक पेशगी मूल्य भेज कर ही मंगावें। बारह अंकोंका मूल्य ६) छः रु० है। प्रत्येक पर्वका मूल्य इस पत्रके द्वितीय पृष्ठपर पाठक देख सकते हैं। जो पेशगी मूल्य भेजेंगे उनको डा० व्य० माफ होगा, अन्योंके लिये एक रु० मूल्यके महाभारत के लिये तीन आने डा० व्यय अधिक होगा। अर्थात् मूल्य पेशगी भेजनेसे हरएक अवस्थामें अत्यंत लाभ है।

जो सज्जन प्राचीन आर्य सभ्यताका ज्ञान साक्षात् स्वयं प्राप्त करना चाहते हैं उनको इस सहूलियतसे अतिशीघ्र लाभ उठाना चाहिये।

१ ग्राहक बढाइये।

२ पेशगी मूल्य भेजकर पुस्तक मंगवाइये।

३ आगे मूल्य बढेगा, इस लिये शीघ्रही मंगवाइये, देरी करनेसे यह सहूलियत नहीं रहेगी।

अन्य पुस्तकें ।

जो पाठक वैदिक धर्म के ग्रंथोंका स्वयं अभ्यास करके वैदिक धर्मका अंतरंग स्वयं देखना चाहते हैं वे निम्न लिखित ग्रंथ अवश्य पढें--

(१)

महाभारतकी समालोचना ।

१ समालोचना प्रथम भाग, इसमें कुछ कथाओंका संबंध बताया है । मू० ॥)

२ समालोचना द्वितीय भाग, इसमें देवजाती, नागजाती, सुर असुर, भूत, पिशाच तथा आर्य इतनी जातियोंका संबंध बताया है । प्राचीन इतिहास समझनेके लिये इस ज्ञानकी बडी आवश्यकता है । मू० ॥)

३ समालोचना तृतीय भाग— (छप रहा है) इसमें जय इतिहास का अद्भुत उपदेश दिया है । इसके पढनेसे वीरता बढेगी । मू० ॥)

समालोचना का लेखन आगे चल रहा है । मूल्य प्रतिभाग ॥) डा० व्य० ≡)

(२) अथर्ववेदका सुबोध भाष्य ।

१ प्रथम काण्ड सजिल्द मूल्य २) दो रु०
२ द्वितीय काण्ड ,, २) ,,

जो पाठक इन दो काण्डोंको पढेंगे उनको अथर्ववेद के ज्ञानका स्वरूप अच्छी प्रकार विदित होगा । यह भाषा भाष्य इतना सुबोध है कि जो केवल साधारण भाषा ही जानते हैं और थोडाभी संस्कृत नहीं जानते वे भी इससे अच्छी प्रकार लाभ प्राप्त कर सकते हैं । इस लिये पाठक इन दो पुस्तकोंको एकवार अवश्य पढें । अथर्ववेद सुबोध भाष्य का तृतीय काण्ड छप रहा है ।

यजुर्वेदका स्वाध्याय ।

१ यजुर्वेद अध्याय ३० नरमेध की सुबोध व्याख्या । मू० १)
२ ,, ,, ३२ सर्वमेध ,, ,, ,, मू० ॥)
३ ,, ,, ३६ शांतिकरण ,, ,, ॥=)

गोमेध ।

गोमेधके विषयमें बडी विलक्षण कल्पनाएं प्रचलित हैं। बहुतसे लोग समझते हैं कि प्राचीन कालमें गोवध होता था और गौके अंगोंका यज्ञ किया जाता था। इस मतका सप्रमाण उत्तर इस पुस्तकमें दिया है। वेदके गौविषयके मंत्र और गोमेधके सूक्त इसमें अर्थ और विवरणके समेत दिये हैं जिसके पढनेसे गोमेधकी वैदिक रीति स्पष्टतासे ज्ञात हो सकती है। मूल्य १) एक रु.।

वैदिक यज्ञ संस्था।

प्रथमभाग मूल्य १); और द्वितीय भाग मू० १)

इन दो पुस्तकों में वैदिक यज्ञोंका स्वरूप बताया है। ये दो पुस्तक पढनेसे वैदिक यज्ञोंकी पवित्रता का ज्ञान हो सकता है।

वैदिकधर्मके ग्रंथ।

१ संस्कृतपाठ माला।

१२ अंकोंका मूल्य ३) रु.
२४ अंकोंका मूल्य ६) ,,

२ वैदिक यज्ञ संस्था।

प्रथम भाग मूल्य १)
द्वितीय भाग ,, १)
तृतीय भाग गोमेध ,, १)

३ अथर्व वेदका सुबोध भाष्य

१ प्रथम काण्ड। सजिल्द। मूल्य २)
२ द्वितीय काण्ड ,, ,, २)

४ छूत और अछूत ।

१ प्रथम भाग। मूल्य १)
२ द्वितीय भाग। ,, ।।।)

५ महाभारतकी समालोचना।

१ प्रथम भाग मूल्य ॥)
२ द्वितीय भाग (देवलोक) ,, ॥)
३ तृतीय भाग(जय इतिहास) ,, ॥)

६ स्वयंशिक्षक माला ।

वेदका स्वयंशिक्षक।

१ प्रथम भाग मूल्य १॥)
२ द्वितीय भाग ,, १॥)

७ योगसाधन माला।

1 संध्योपासना। मूल्य १॥)
2 संध्याका अनुष्ठान। ,, ॥)
3 वैदिक प्राण विद्या ,, १)
4 ब्रह्मचर्य (सचित्र)। ,, १।)
5 योग साधन की तैयारी। ,, १)
6 योगके आसन। (सचित्र) ,, २)
7 सूर्य भेदन व्यायाम। (सचित्र) ।॥)
8 इन्द्रशक्तिका विकास ॥)

८ यजुर्वेदका स्वाध्याय।

1 यजु. अ. ३० नरमेध। मूल्य। १)
2 यजु. अ. ३२ एकेश्वर उपासना। ॥)
3 यजु. अ. ३६ शांतिका उपाय। ॥=)

९ देवतापरिचय ग्रंथमाला।

1 रुद्र देवता परिचय। मूल्य ॥)
2 ऋग्वेदमें रुद्र देवता ,, ॥=)
3 ३३ देवताओंका विचार ,, ≡)
4 देवता विचार। ,, ≡)
5 अग्निविद्या। ,, १॥)

१० धर्म शिक्षाके ग्रंथ।

1 बालक धर्म शिक्षा। प्रथम भाग मू. -)
2 बालक धर्म शिक्षा। द्वितीय भाग,, =)
3 वैदिक पाठमाला। प्रथम पुस्तक ,, ≡)

११ आगम निबंध माला।

1 वैदिक राज्य पद्धति। मू ।-)
2 मानवी आयुष्य। ,, ।)
3 वैदिक सभ्यता। ,, ।॥)
4 वैदिक चिकित्साशास्त्र। ,, ।=)
5 वैदिक स्वराज्य की महिमा। ,, ॥)
6 वैदिक सर्प विद्या। ,, ॥)
7 मृत्युको दूर करनेका उपाय। ,, ॥)
8 वेदमें चर्खा। ,, ॥)
9 शिवसंकल्पका विजय। ,, ।॥)
10 वैदिक धर्मकी विशेषता। ,, ॥)
11 तर्कसे वेदका अर्थ। ,, ॥)
12 वेदमें रोगजंतु शास्त्र। ,, ≡)
13 ब्रह्मचर्यका विघ्न। ,, =)
14 वेदमें लोहेके कारखाने। ,, ।-)
15 वेदमें कृषिविद्या। ,, ≡)
16 वैदिक जलविद्या। ,, =)
17 आत्मशक्तिका विकास। ,, ।-)
18 वैदिक उपदेश माला। ,, ॥)

१२ ब्राह्मण-बोध माला।

1 शतपथ बोधामृत मूल्य।)

१३ उपनिषद् ग्रंथ माला।

1 केन उपनिषद्। मू. १।)

मंत्री—स्वाध्यायमंडल, औंध (जि. सातारा)

(भा० मु० औंध)

वैदिक यज्ञ संस्था।

प्रथम भाग। मूल्य १) रु. डा. व्य. ।)

इस पुस्तक में निम्न लिखित विषयों का विचार हुआ है।

प्राचीन संस्कृत निबंध।

१-३ पिष्ट-पशुमीमांसा। लघु-पुरोडाश-मीमांसा।

भाषाके लेख (ले०-श्री० पं० बुद्धदेवजी) ४ दर्श और पौर्णमास, ५ अद्भुत कुमार संभव। (ले० -श्री० पं० चंद्रमणिजी) ६बुद्धके यज्ञ विषयक विचार।

(संपादकीय) ७ यज्ञका महत्त्व, ८ यज्ञका क्षेत्र, ९ यज्ञका गूढ तत्त्व, १० औषधियोंका महामख, (ले० श्री० पं० धर्मदेवजी) ११ वैदिक यज्ञ औरपशु हिंसा। (ले० श्री० पं० पुरुषोत्तम लालजी) १२ क्या वेदोंमें यज्ञों में पशुओंका बलि करना लिखा है?

वैदिक यज्ञ संस्था द्वितीय भाग। मूल्य १) रु. डा. व्य.।)

इस द्वितीय भागमें निम्न लिखित विषयोंका विचार हुआ है- (ले०-श्री. पं. देवशर्माजी विद्यालंकार)

भारतवर्षमें यज्ञकी कमी, यज्ञकी महिमा, यज्ञसे जो चाहे सो प्राप्त कर लो, यज्ञपुरुष का वर्णन, हवन प्रक्रिया, यज्ञशेष और उच्छेष, राजसूय, विश्वजित्, अश्वमेध, गोमेध, सर्वमेध, वाजपेय, पंचमहायज्ञ, यज्ञ संसारकी नाभि है।

पं. बुद्धदेवजी लिखित-संज्ञपन और अवदान। संपादकीय-नरमेध का वैदिक तात्पर्य।

इतने विषयोंका विचार इस पुस्तक में हुआ है। प्रत्येक विषयके प्रतिपादनके लिये वेदके अनेक प्रमाण दिये हैं और विषयका प्रतिपादन अति सुगम है। मूल्य १) डा. व्य.।)

वैदिक यज्ञ संस्था तृतीय भाग। गोमेध।

इस पुस्तकमें निम्न लिखित विषयोंका विचार हुआ है—

योगमें गोमांस, प्रकरणानुकूल अर्थ विचार, ऋषिपंचमी, वेदका महासिद्धान्त, यज्ञकी पूर्व और उत्तमवेदी, मधुपर्क, कलिवर्ज्यप्रकरण, बृहदारण्यक का वचन, गौक वैदिक नाम, गोमेधका विचार, चरक की साक्षी, विवाहमें गोमांस, अतिथिके लिये गौ, यज्ञमें मांस, अन्त्य यज्ञ, वेदमें अहिंस, अवध्य गौ और बैल, यज्ञका तत्त्व, गौको खाना। गौ पान लेने का अधिकारी, रक्षक और पाचक, गौका महत्त्व, राष्ट्ररक्षक गौ, गौके लिये सोमरस, सबकी माता गौ।

इत्यादि अनेक विषय इसमें आगये हैं। हरएक विषयका प्रतिपादन करनेके लिये अनेक वेदमंत्रोंके प्रमाण दिये हैं। जो कहते हैं कि "वैदिक समयमें गोमांस भक्षण की प्रथा थी," उनके लिये यह उत्तम उत्तर है। यह पुस्तक पढनेके पश्चात् उक्त विषयमें कोई शंका नहीं रहेगी।

मूल्य१) रु. डा. व्य०।)

मुद्रक तथा प्रकाशक—श्री० दा० सातवळेकर, भारत मुद्रणालय, औंध, (जि० सातारा)

REGISTERED No 1463

ॐ

वैदिक धर्म।

वैदिक तत्त्व ज्ञान प्रचारक मासिक पत्र।

संपादक— श्रीपाद दामोदर सातवळेकर.

वर्ष ९

अंक ७

क्रमांक १०३

आषाढ

संवत् १९८५

जोलाई

सन १९२८



वार्षिक मूल्य— म० आ० से ४) वी० पी० से ४॥) विदेशके लिये ५)

विषयसूची।



वर्ष ९

अंक ७

क्रमांक

१०३

वैदिक धर्म.

आषाढ

संवत् १९८५

जुलै

सन १९२८

वैदिक तत्त्वज्ञान प्रचारक मासिक पत्र।

संपादक— श्रीपाद दामोदर सातवळेकर।

स्वाध्यायमंडल, औंध (जि. सातारा)

राजसभा।

ध्रुवोऽच्युतः प्र मृणीहि शत्रूञ्छत्रूयतोऽधरान्पादयस्व।
सर्वा दिशः संमनसः सध्रीचीर्ध्रुवाय ते समितिः कल्पतामिह।

अथर्व. ६।८८।३

हे राजन्! (ध्रुवः अ-च्युतः) स्थिर और पदच्युत न होता हुआ (शत्रून् प्र मृणीहि) शत्रुओंका नाश कर। (शत्रूयतः अधरान् पादयस्व) शत्रुके समान आचरण करनेवालों को नीचे गिरा दे। (सर्वाः दिशः संमनसः) सब दिशाओं में रहनेवाले लोग उत्तम मनवाले और (सध्रीचीः) मिलजुल कर रहनेवाले हों और (इह ते ध्रुवाय समितिः कल्पतां) इस राष्ट्रमें तेरी स्थिरता के लिये सभा समर्थ होवे।

राजा अपनी उत्तम शासन प्रणालीसे सुदृढ होकर उत्तमतासे राज्य करे। सब शत्रुओंका पूरा नाश करे, तथा जो शत्रु के समान आचरण करनेवाले हों उनको दबाकर रखे। सब लोगोंकी संघशक्ति बनाकर राष्ट्रमें अपूर्व सामर्थ्य उत्पन्न करे और समितिद्वारा राज्य शासन कराके, लोकसमितिकी अनुमतिसे स्वयं सुदृढ होकर उत्तम राज्य शासन करे।



वामन अवतारका सन्देश।

" स्वकीय स्वराज्यकी भूख परकीय सुराज्यसे शांत नहीं हो सकती। "

—— o ——

निंदकोंका मत।

वामन अवतार के विषयमें बहुतसे विद्वान् शंका करते हैं कि इस को अवतार ही क्यों माना है। इस वामनने कौनसा ऐसा महत्कार्य किया कि जिसके कारण वह इतना पूज्य माना गया? बलिराजा बडा धर्मात्मा था, यज्ञयाग और दान धर्म करनेमें वह बडा रत था, ऐसे धर्मात्माराजा को दान लेनेके मिषसे वामनने दबा दिया, इसमें उसका बडापन कैसा माना जा सकता है। इस वामन के कृत्यमें तो बडा धोखा, कपट और छल प्रतीत होता है। बलि की यज्ञशालामें वामन बटुके वेष में जाता है, राजा से दान मांगता है; बलिराजा दान देने लगता है, ऐसी अवस्थामें बलिके सिरपर पांव रखकर वामन उसे धोखा देकर उसको पांव के नीचे दबाता है। क्या यह धर्म है? ऐसे धोखा देनेवाले कपटी वामन को अवतार मानना बडे आश्चर्य की बात है!!

वामन अवतार के संदेश को न समझनेवाले विद्वान् इस प्रकार वामन के कृत्य का निषेध करते हैं और वे बलि की ही प्रशंसा कहते हैं, उनका पक्ष देखिये—

(१) बलिराजा असुर हो, देव हो, या आर्य हो। इतना तो स्पष्ट है कि वह उत्तम धर्मात्मा क्षत्रिय था।

(२) बलिराजा अवश्य ही उत्तम न्यायी, कीर्तिमान् और पुण्यवान् राजा था।

(३) बलि और इन्द्र दोनों क्षत्रिय थे।

(४) बलिका खास और राजकीय चरित्र दोनों पूर्ण निर्दोष थे। प्रजामेंसे किसी ने भी बलिकी निंदा नहीं की है। उसके राज्यमें सर्व भूमि बडे आनंद में मग्न थी।

(५)बलि के राज शासन की सबने प्रशंसा ही की है, उसके राज्य में प्रजा आनंदमें विहार कर रही थी। और उसके राज्यमें खूब जोर से यज्ञयाग भी चलते थे।

(६) ऐसे धर्मात्मा राजा को धूर्त, भिकारी वामन ने लातसे ठुकराया और कपटसे उसका राज्य छीना!

(७) राजा बलीने वामन का कुछ भी न बिगाडा था, तिसपर भी उसने बलीको लातसे ठुकराया।

(८) वामन ने क्षात्र हत्या की, विश्वासघात किया, कृतघ्नता की और लोककल्याणकारी राजा का नाश करदिया।

(९) बली का नाश करने के लिये वामन ने ऐसा कौनसा महान् पराक्रम किया जिससे उसकी गणना अवतार में की जासके?

वामन को अवतार माननेवाले लोग इन विधानोंपर अवश्य विचार करें। यदि उक्त विधान किसी निःपक्ष मनुष्य के सन्मुख रखें तो उसे निश्चय होगा कि वामन ने, राजा बलिको लात से ठुकराया, एडीसे कुचला, क्षात्रहत्या की, उसका पराभव किया यह सत्य है; परंतु बली भी एक राज्य करने वाला बडा राजा था; अर्थात् वामनने कोई असाधारण पराक्रम

अवश्यही किया होगा । क्योंकि कोई भी राजकर्ता राजा अपना मस्तक साधारण मनुष्यकी एडी से कुचलवाने के लिये अपनी इच्छा से कदापि तैयार नहीं हो सकता । अतएव वामनके विशेष पराक्रम करने के विषयमें शंकाही नहीं है। परंतु यह प्रश्न वारंवार सन्मुख आता है इसलिये इस प्रश्न का सदा के लिये निपटारा होना परम आवश्यक है । अतः सर्व प्रथम वामनावतार के पूर्व की राजकीय स्थितिकी जांच करनी चाहिये: —

प्राचीन देशव्यवस्था ।

(त्रिविष्टप) तिब्बत में देवजाति का राज्य था। भारतवर्ष में आर्यों का राज्य था । हिमालय के मध्य उतार पर गंधर्वों का राज्य था । हिमालय के पूर्व की ओर भूत जाति का राज्य था जिसे अब भूतान (भूतस्थान) कहते हैं। हिमालय के पश्चिम में पिशाच जातिका राज्य था । तिब्बत एवं भरतखण्ड के पश्चिम में असुर, दैत्य, दानव तथा राक्षसोंके राज्य थे । ये असुर राज्य ईरान से रूस तक फैले हुए थे । महाराष्ट्र के जिस भाग को अब 'देश' कहते हैं उसे पहले " महीपृष्ठ " कहते थे और कोंकन को " महीतल " " रसातल " " भूतल " आदि " तल " वा ताल प्रत्ययांत नाम थे । इन्हीं नामों में से " पाताल " एक नाम है ।

तिब्बत, भरतखंड और समुद्र किनारे के प्रदेश को साधारणतः त्रिविष्टप,भूलोक और पाताल समझते थे । त्रिविष्टप के इन्द्र के अधीन ही यह सम्पूर्ण प्रदेश था । अति प्राचीन काल में असुर, दैत्य, दानव एवं राक्षसों के त्रिविष्टप के देवों के साथ जो युद्ध हुए वे सब उनका राज हरने के लिये ही हुए। आगे चलकर भारतीय आर्य अपनी चातुर्वर्ण्य संस्था के और यज्ञसंस्था के साथ ही प्रबल हुए और गंधर्वादि पास पडोस की जातियां हतबल हुई। राजा बली की कथा उस समय की है जब कि भारतवर्ष में देवों का राज्य था और भारतीय आर्यों का विशेष उदय नहीं हुआ था । राजा बली की कथा का पूर्वअपर संबंध समझने में इतना इतिहास काफी होगा ।

राजा बली की जाति ।

राजा बली आर्य संतान न था । वह तिब्बत की देवजाति का भी न था। अति प्राचीन समय में हिरण्याक्ष और हिरण्यकशिपु नाम के ' दैत्य ' जाति के बादशाह थे। ये वास्तव में ईरान के उत्तर के प्रदेशों के बलवान राजा थे। हम कह सकते हैं कि आजकल जैसे पठान हैं वैसे ही वे थे। जिस प्रकार मुसलमानों ने समय समय पर हिन्दुस्थानपर चढाइयां कीं उसीप्रकार इन दैत्योंने भी कीं। हिरण्यकशिपुका पुत्र प्रह्लाद था । प्रह्लाद का पुत्र वैरोचन था । और वैरोचन का पुत्र बली था । जैसे हिरण्यकशिपु का भारतीय आर्य क्षत्रियोंसे बिलकुल संबंध नहीं है,वैसे ही राजा बली का भी नहीं है । क्योंकि वह असुर जातीका था । जो कहता है कि ' राजा बली असली क्षत्रिय थे' वैसेही निरा पागलपन है जैसे 'महमूद गजनवी को असली क्षत्रिय कहना है। अन्यान्य देशों में शूरवीर भलेही हों पर उन्हे भारतीय आर्य क्षत्रियों के समान क्षत्रिय कहना इतिहासका अज्ञान प्रदर्शित करना है । जो लोग महमूद गज्नवी को असल क्षत्रिय मानने को तैयार हों तो वे बली को भी असल क्षत्रिय कह सकते हैं । क्यों कि दोनों भरतखंड के बाहर के निवासी थे और भारतीय आर्योंसे शत्रुता रखने वाली असुर जातियों के थे । हिरण्यकशिपु जिस प्रकार देवोंका और आर्योंका शत्रु था उसी प्रकार बली भी था । दोनों में उतना ही अंतर था, जितना औरंगजेब और अकबर में था। अर्थात् अंतर केवल राजशासनकी पद्धति में था, शत्रुता में नहीं ।

ईरान से रूसतक असुर, दैत्य, दानव और राक्षसोंके देश थे । उन सब का एकमात्र उद्देश्य तिब्बत के देवराजाको हराना और भारतवर्षमें मनमाना उपद्रव मचाने का था । कारण स्पष्टही था । भारतवर्ष में उत्पन्न होनेवाले धान्य की जैसे तिब्बत के देवजाति को आवश्यकता थी वैसे ही असुर आदि को भी थी । इसी हेतु इस सुवर्णभूमि पर अधिकार प्राप्त करने के लिये प्राचीन काल में देव और असुरों के बीच युद्ध हुआ करते थे। पंद्रहवी तथा सोलहवीं शताब्दि में जैसा प्रयत्न इंग्लिश, फ्रेंच, पोर्तुगीज आदि भारतवर्ष में करते थे, वैसा ही प्रयत्न असुर,

दैत्य, दानव एवं राक्षस तिब्बत के द्वार से करते थे । दोनों की कोशिशों में बहुत समानता है ।

बली की पहली चढाई ।

बली देवजाति का न था और न वह भरतखण्ड का ही निवासी था। वह तिब्बत के पश्चिम के असुर देश का निवासी था । उसने देवों को हराकर भरत खण्ड पर प्रभुत्व जमाने के हेतु तिब्बत पर चढाई की । उसकी पहली चढाई का वर्णन श्रीमद्भागवत के अष्टम स्कंध के दसवें अध्याय में है ।

इस समय बली, नमुची, यातुधान, वैरोचन, जंभ आदि सब असुर, दैत्य, दानव और राक्षस मिलकर देवों पर चढाई कर रहे थे । यह असुरों का 'मित्र-दल' था । देवों का मुखिया सम्राट् इन्द्र था और उसका साथ देने को मरुत्, वरुण, हयग्रीव आदि अनेक देव वीर थे ।

यह युद्ध बहुत दिनों तक होता रहा । इस में सब देवों ने अद्वितीय संघशक्ति से काम लिया । इसीसे बली हार गया । इसका वर्णन इस प्रकार है । :-

येऽवशिष्टा रणे तस्मिन्नारदानुमतेन ते ।
बलिं विपन्नमादाय अस्तं गिरिमुपागमन् ॥
श्री० भागवत ८।११।४७

युद्ध में बली मूर्च्छित हुआ, उसके थोडे ही वीर बचे, तब नारद ने उससे कहा कि 'अब आपलोग यहां से जाइए वर्ना तुम्हारा नाश हो जायेगा ।' यह नारद की बात उन्हें जंची और वे असुर सैनिक मूर्च्छित बलीको लेकर पश्चिम के पर्वत के पीछे भाग गए ।

बलीने त्रिविष्टप पर हम्ला किया सो भी पश्चिम की ओर से, और असुर सैनिक मूर्च्छित बली को लेकर भागे सो भी पश्चिम की ओर ही। इससे स्पष्ट होता है कि बलि का देश तिब्बत के पश्चिम में था। वर्तमान रूसी तुर्कस्थान वा उसके पास का अन्य कोई देश बली का देश होगा। इस पहली चढाई में बली के दांत खूबही खट्टे हुए। अपने देश को लौटते समय रास्ते में भगवान् भृगु ऋषि के आश्रम में वह कुछ मास रहा और दवापानी करने पर अच्छा हो गया । इस विषयमें कहा है -

पराजितश्रीरसुभिश्च हापितो हीन्द्रेण राजन् भृगुभिश्च जीवितः । सर्वात्मना तानभजद्भृगू-न्बलिः शिष्यो महात्मार्थनिवेदनेन ॥
श्री० भागवत ८।१५।३

इन्द्र ने बली को पूर्णतया हराया। उस की अवस्था करीब करीब गतप्राण सी हुई । भृगू के आश्रम में पहुंचने पर वहां की दवापानी से वह जीवित रहा । इसी से वह भृगू को मान देने लगा ।

उस बली दैत्य पर, जो मरने को ही था, भृगु ऋषिने उपकार किये और उसके प्राण बचाए। परन्तु उसने इतने पर भी भरतखण्ड की चढाई का विचार छोडा नहीं !! क्या यह असुरों की मनः प्रवृत्ति विचार करने योग्य नहीं है ?

पृथ्वीराज के द्वारा जिसके प्राण बचाए गए थे, उसी महम्मद गोरी ने पृथ्वीराज का नाश किया !! हमारी सूचना है कि वाचक उक्त ऐतिहासिक बात से इस पौराणिक बात की तुलना अवश्य करें ।

दीन दुखियों को सहायता करने के विचार ही से भृगु ऋषीने घायल बली को अपने आश्रम में ठहरा लिया और उसका दवापानी किया। परन्तु उसी बली ने आगे चलकर भृगु ऋषी का ऐसा अपमान किया कि जिससे भृगुऋषिकी आंखें एकदम खुलगईं और तब उन्हों ने बली को श्राप दिया । यहां स्पष्टतया विदित हो जाता है कि असुर और दैत्य किस प्रकार अपनी जाति के गुणों पर लौट पडते हैं । बली अपने देश को लौट गया और उसने फिर देवराष्ट्र पर चढाई की तैयारी की ।

बली की दूसरी चढाई ।

पहली चढाई असफल होनेपर बली ने फिर से नये उत्साह से दूसरी चढाई की तैयारी की । पहले से अधिक अच्छी तैयारी होने पर बली ने देवों के देशपर दूसरी चढाई कीः-

वृतो विकर्षन्महतीमासुरीं ध्वजिनीं विभुः ।
ययाविन्द्रपुरीं स्वृद्धां कंपयन्निव रोदसी ॥११॥
श्री. भागवत ८।१५

बली ने बडी भारी सेना के साथ इन्द्रपुरी पर चढाई की । पर इस समय देवों की ओर से सेना

की तैयारी बिलकुल न थी । अतः इन्द्रको बली की आसुरी सेना का प्रतिकार करना असम्भव मालूम हुआ ।-

भगवन्नुद्यमो भूयान्बलेर्नः पूर्ववैरिणः ।
अविषह्यमिमं मन्ये केनासीत्तेजसोर्जितः ।
श्री. भागवत ८।१५

इन्द्र कहता है-"हमारे पुराने शत्रू बलीने हमला किया है। हमारी तो बिलकुल तैयारी नहीं है। इससे हमले को लौटाना मुझे असंभव मालूम होता है।"

गत यूरपीय महायुद्ध में फ्रान्स की तैयारी न रहते भी जिसप्रकार जर्मनीने हमला किया था, उसी प्रकार देववीर अप्सराओं के साथ नाचने में मग्न थे और बली की इस चढाई के विषय में बिलकुल असावधान थे, ऐसे समय में बलीने बडी तेजी से हमला किया। देव उसका प्रतीकार तक न कर सके। तब देववीर अपने अपने गांव छोडकर जीव रक्षा के लिए भागे और जहां कहीं छिपने को जगह मिली वहां छिप रहे-

देवेष्वथ निलीनेषु बलिर्वैरोचनः पुरीम् ।
देवाधीनमधिष्ठाय वशं निन्ये जगत्त्रयम् ॥
श्री. भाग. ८ । १५ । ३३

"यह देखकर कि देव भागे, बलीने इन्द्र की राजधानीमें प्रवेश किया और त्रिविष्टप, भरतखंड और पाताल तीनों स्थानोंमें अपने विजय का डंका बजाया।"

इस प्रकार युद्ध न करके दूसरे की असावधानता से लाभ उठाकर बली दैत्य ऐसे भारी भूप्रदेश का स्वामी बन बैठा !! बली जानता था कि उसके परनाना हिरण्यकशिपु क्रूरनीति से काम लेते थे, इसी से उनका राज्य लोकप्रिय न हुआ और उनका वध किया गया। अतएव बलीने सौम्य नीतिका आश्रय किया। उसने शासन में ऐसा प्रबंध किया कि, किसी को दुःख न हो और सब वश हो जावें। इस नीति का अवलंब करने में उसका उद्देश यह था कि कोई देव और आर्य राजा बलवा न करें और उसका राज न छुडा लें ! बली की नीति सौम्य थी, परंतु उसने अधिकार के सब स्थानों में दैत्यों की ही नियुक्ति की थी। उसका अंदरूनी प्रबंध ऐसा कडा था कि भारतीय आर्यों या त्रिविष्टपीय देवों में से कोई भी निश्चित सीमासे आगे बढने न पावें। बली का राज बाहर से शांतता प्रधान दिखता था। किसी को खुल्लमखुल्ला कष्ट न होता था। सब को एकसा न्याय मिलता भी था अर्थात् आर्यों और देवोंके आपसके झगडे होनेके समय उनका उत्तम न्याय हो जाता था। किसी के धर्म कर्म में कोई बाधा न होती थी। कोई भी असुर पहले के समान आर्यों को मारपीट न करता था। तथापि उसकी राजनीति का फल यह हो रहा था कि भारतीय आर्य, त्रिविष्टपीय देव और पाताल वासी सर्प आदि जातियां प्रतिदिन वीर्यहीन हो रहीं थीं और उनमें पुनः सिर ऊंचा करनेकी हिम्मत और शक्ति न थी। उसकी नीति ही थी कि उन जातियों का तेजोभंग सदा होता रहे और वे सदैव अंकित रहें।

सदैव तेजोभंग होने के कारण उक्त पादाक्रान्त जातियों की सब शक्तियां निर्बल होने लगीं। उन्हें पुरुषार्थ दिखलाने का अवसर न रहनेसे उनका जीवन उत्साह रहित होने लगा। किसी को भी विशिष्ट मर्यादा से परे कार्यक्षेत्र नहीं मिलता था, अत एव उनकी बाढ रुक गई और उपभोग भी स्थगित हो गये। बली दैत्यके कडे बंदोबस्त और उसकी असाधारण शक्ति के कारण कोई भी देववीर या आर्यवीर उठ नहीं सकता था। सब वीर घरों में छिपकर बैठ गये वा जंगलों में भाग गये। स्त्रियां घरही में बैठ प्राचीन वैभव का स्मरण कर शोक करने लगीं !!

पुरुषों के विचार।

बलि के द्वारा पराजित देववीर और आर्यवीर हतवीर्य हो गये हैं। बली का सुराज्य ही अच्छा है। हमें भी अधिक उपभोग की क्या आवश्यकता? दैत्य कर्तृत्ववान हैं। उनके जैसा कर्तृत्व हममें कहां? देवों का आर्यों पर राज्य होना, वा आर्यों का देवों पर राज्य होना इससे लाख दर्जे यही अच्छा है कि दैत्यों का जो कि न तो आर्य हैं और न देव, इन दोनों पर राज हो। क्यों कि देवों का राज हुआ तो देववीर आर्योंपर अत्याचार करेंगे। और आर्योंका

राज हुआ तो आर्यवीर देवोंपर जबरदस्ती करेंगे; ये दोनों स्थितियां बुरी हैं। अतएव इन दोनों जातियों पर जो बली का सुराज है सो ही अच्छा है। बली के राज में हमें कोई कष्ट नहीं है। बलीने स्वयं यज्ञ याग चलाए हैं। वह हमारे यज्ञों में कोई विघ्न बाधाएं नहीं डालता। उसका यही प्रयत्न है कि हमारी धीरे धीरे उन्नति हो। इससे अच्छा तो यही है कि बलि का राज सदैव रहे।

उस समय के पुरुषों के विचार इस प्रकार के थे। इसी लिए बली का सुराज्य स्थापित हो जाने पर किसी भी देववीर ने वा आर्य वीरने बलीका राज नष्ट करनेकी चेष्टा न की। किंतु आर्यस्त्रियां और देवस्त्रियां पूर्व काल के वैभव का स्मरण कर करके अश्रुपात किया करतीं थीं। कुछ लोग यह देखकर कह देते थे कि वे पुरानी रीति को पसंद करनेवाली पागलनी हैं। पर कुछ लोग उन स्त्रियों के हृदय में धधकनेवाली स्वतंत्रता की अग्नि को पहचानते थे।

स्त्रियों का शोक।

माताओं के हृदय में जो विचार तीव्र होता है वही बालक के हृदय में जड जमाता है। माताओं के हृदय में यदि राजक्रांति के विचार तीव्रता से वास करते हों तो दो एक पीढियों में निश्चय से राज्य-क्रान्ति होती है। परन्तु यदि स्त्रियां स्वयंही परकीय शासन को भूषण समझें,तो राज्यक्रान्ति होना असंभव है।

पराजित देवों और आर्यों की स्त्रियां पूर्व वैभव का स्मरण कर मन में किस तरह तरसती एवं शोक करती थीं देखिए:—

एवं पुत्रेषु नेष्टेषु देवमाताऽदितिस्तदा।
हृते त्रिविष्टपे दैत्यैः पर्यतप्यदनाथवत् ॥
श्री. भाग. ८। १६। २

"दैत्योंने हमारा राज हरण किया और हमारे पुत्रों का सर्वतः नाश हुआ। इस विचार से अनाथ हुई देवमाताएं मनही मन जलतीं थीं।" ये स्त्रियां सोचती थीं कि हमारा प्राचीन वैभव पुनः प्राप्त हो, हमारे पुत्रों की योग्यता राष्ट्रीय दृष्टि से बढे। ऐसी परिस्थिति उत्पन्न होवे जिससे जिस संपत्ति का उपभोग दैत्य, असुर और राक्षस इस समय कर रहे हैं उस संपत्ति का उपभोग हमारे पुत्र अर्थात् देव करें। सारांश यह कि माताओं के हृदय में दिन रात यह विचार तीव्रतासे वास करता था कि हमारा गत वैभव हमें फिर प्राप्त हो।

आक्षेपक कहते हैं कि 'बलि के राज में प्रजा बहुत आनंद से थी।' हम उन्हे सूचित करते हैं कि वे स्त्रियों के हृदय की उक्त जलन पर ध्यान दें। पर यह जलन उन्हे किस प्रकार दिखेगी? देवमाताओं के हृदय की व्यथा क्या थी और कितनी तीव्र थी? यह बात वे ही जान सकते हैं कि जो स्वराज्य के जीवन के प्यासे हैं। अन्य भोगी लोग ऐसा ही कहेंगे कि दैत्य का राजही चिरकाल तक बना रहे। यदि कदाचित् इन लोगों की आत्मा बलि के राज्य में शरीर धारण कर आई होती तो संभव है कि वे उक्त राजद्रोही माताओंका शिरच्छेद ही करते। उस समय माताओंको हमने राजद्रोही कहा क्योंकि वे प्रतिदिन ईश्वर से राजद्रोही प्रार्थना ही करती थीं।

स्त्रियों की इच्छा।

पूजा करके वे दिनरात ईश्वर से यही मांगती थीं कि हमारी हरण की हुई स्वतंत्रता पुनः प्राप्त हो:-

तस्मादीश भजन्त्या मे श्रेयश्चिंतय सुव्रत।
हृतश्रियो हृतस्थानान्त्सपत्नैः पाहि नः प्रभो॥१५॥
परैर्विवासिता साहं मग्ना व्यसनसागरे।
ऐश्वर्यं श्रीर्यशः स्थानं हृतानि प्रबलैर्मम॥१६॥
तथा तानि पुनः साधो प्रपद्येरन्ममात्मजाः।
तथा विधेहि कल्याणं धिया कल्याणसत्तम॥१७॥
श्री. भाग. ८। १६

"हे ईश्वर! मैं तुम्हारी भक्ति करती हूं। अतः ऐसा कर जिससे मेरा कल्याण हो। हे प्रभु! प्रबल शत्रूने हमारी सब संपत्ति हरण करली है और हमें स्थानभ्रष्ट कर दिया है। हमें वैभव के शिखर से दुःख के सागर में फेंक दिया, हमें शहर में घूमने फिरने की भी स्वतंत्रता नहीं है। प्रबल शत्रुने हमारे ऐश्वर्य, संपत्ति यश और सब स्थान हर लिये और हमें निराश्रित बना दिया है। हमारे नवजवानों को प्राचीन वैभव प्राप्त हो, वे पहले के समान ऐश्वर्य

संपन्न हों उनकी धवल कीर्ति चारों दिशाओं में फैले और उनके संपूर्ण अधिकार उन्हे पुनः प्राप्त हों।"

बली के स्वराज्यमें पराजित देवमाताओंकी प्रतिदिन की यह प्रार्थना सब के लिये विचारणीय है। इस प्रार्थना का प्रत्येक शब्द दर्शाता है कि बलि दैत्यने कैसा भारी अनर्थ देवराज्यमें करदिया था और उसने पराजित लोगों को किस निकृष्ट दशा में पहुंचाया था। इस विषयके निम्न लिखित शब्दोंका मनन कीजिये—

१ हृतश्रियः—

दैत्य उनकी सब संपत्ति हरण कर ले गये थे। अतएव दैत्य प्रतिदिन धनवान हो रहे थे और देव धनहीन हो रहे थे।

२ हृतस्थानाः—

देवों के राज के सब अच्छे अच्छे स्थान ओहदे और अधिकार के स्थान दैत्य हडप कर गये थे। अतएव देव युवकों को कोई कार्य क्षेत्र ही बचा न था।

३ विवासिताः—

दैत्यों ने देवों को देशसे निकाल दिया था।

४ व्यसने मग्नाः--

सब को दुःख सागर में फेंक दिया था।

५ ऐश्वर्य, संपत्ति, यश और स्थान-

देवों और आर्यों के राज में होते हुए भी देवों और आर्यों को न मिल, वे सब दैत्यों को मिलते थे।

उक्त कथन से विदित होगा कि बलि के सुराज्य में देवराष्ट्र और आर्यराष्ट्र की कैसी दशा हो चुकी थी और नव युवकों के साथ असुरों का कैसा व्यवहार था।

देवमाताओंको तो ध्यास लगा था कि हमारा गत वैभव हमें फिर प्राप्त हो। ध्यास लगने से ईश्वरी साक्षात्कार होता है। देवमाताओं को भी ईश्वर का साक्षात्कार हुआ। देखो;—

देवमातर्भवत्या मे विज्ञातं चिरकांक्षितम्।
यत्सपत्नैर्हृतश्रीणां च्यावितानां स्वधामतः ॥१२॥
तान्विनिर्जित्य समरे दुर्मदानसुरर्षभान्।
प्रतिलब्धजयश्रीभिः पुत्रैरिच्छस्युपासितुम् ॥१३॥
इन्द्रज्येष्ठैः स्वतनयैर्हतानां युधि विद्विषाम्।
स्त्रियो रुदन्तीमासाद्य द्रष्टुमिच्छसि दुःखिताः॥१४॥
आत्मजान्सुसमृद्धांस्त्वं प्रत्याहृतयशः श्रियः।
नाकपृष्ठमधिष्ठाय क्रीडतो द्रष्टुमिच्छसि ॥१५॥
श्री. भाग. ८।१७

"हे देवमाता। तुम्हारे मनकी बहुत दिनकी इच्छा मुझे ज्ञात है। दैत्योंने तुम्हारे बालकोंका संपूर्ण राज्य हरण किया और उन्हे निजी मकान से भी बाहर कर दिया। तुम्हारी इच्छा है कि तुम्हारे युवक युद्ध में दैत्यों को हरावें और वे गत वैभव पुनः प्राप्तकर लें। तुम्हारी इच्छा है कि तुम्हारे इन्द्रादि पुत्र युद्ध में शत्रु को मार डालें और इस दुःख से दुःखी दैत्य-स्त्रियों को रोते हुए तुम देख सको। तुम्हारी इच्छा है कि तुम्हारे तरुण पुत्र गत वैभव पुनः प्राप्त करें और अपने देश में पूर्ववत् ऐश्वर्य का उपभोग करते हुए तुम उन्हे देख सको।"

उक्त साक्षात्कार के शब्द भी बताते हैं कि बली का राज्य किस प्रकार का था और जित लोगों के विचार उस बलिके सुराज्यमें क्या थे।

उक्त वर्णन से स्पष्ट होता है कि बलि के राजत्वकाल में संपूर्ण देव जाती और संपूर्ण आर्य जाती पूर्णतया निःसत्व हो गयी थी। यदि इस पराधीनता की सीमा के रहते कोई कहे कि 'बलि के राज में प्रजा सुख में थी' तो राष्ट्रीय आपत्ति और किस प्रकार हो सकती है ?

ऐसे बलिराजा को बाल ब्रह्मचारी वामन नाम के ब्राम्हण कुमार ने लात से ठुकराया। क्या यह वामन का अन्याय है ?

वामन की कर्तूत।

जिस समय वामनावतार हुआ, उस समय राज-काज बहुत बिकट हो गयाथा। त्रिविष्टप की देवजाति, भरतखंड की आर्य जाति और अन्य छोटी छोटी जातियों में फूट की गई थी। अनेक वर्ष तक ये लोक

पराधीन रहे थे। अतएव उन में व्यवस्था का अभाव हो गया था। हर कोई अपनी ही भलाई की फिकर करता था। संघशक्ति उत्पन्न होने की संभावना ही नहीं थी। सभी लोग हृदय से समझते थे कि। "चारों ओर फैला हुआ बलि का राज्य उलटा देना बिलकुल असंभव है।" देवों के राजा इन्द्र को दिन दहाडे आम रास्ते से निकलना मुष्किल था। स्त्रियों के नेत्रों से बहने वाली दुःख की अश्रुधाराएं बंद न होती थीं। सब ओर से ऐसी बिकट परिस्थिति थी। स्वतंत्रता की प्राप्ति का सरल मार्ग किसी की दृष्टि में न आता था। और न कोई उसकी आशा ही करता था। ऐसी पूर्ण निराशामय स्थिति में वामन का जन्म हुआ था। अतः उसके कार्य की महत्ता सहज में ज्ञात हो सकती है।

उस समय की वीरांगनाओं की आकांक्षाएं वामन के अंतःकरण में संकुलित हुई थीं। बलि दैत्य असामान्य व्यक्ति था। वह बडा धूर्त एवं नीतिज्ञ था। उसने स्वयं वैदिक धर्म की दीक्षा ली थी। वह स्वतः यज्ञ याग करता था। इस प्रकार वह दिखलाता था कि हम सब प्रकार से प्रजा के ही हैं। परन्तु उक्त तीन देश के लोग अपना मस्तक ऊंचा न करने पावें, इस हेतु जो करना आवश्यक था उसमें वह कदापि न चूकता था। भारतीय लोग प्रथम ही से धर्म के प्रश्न में भोले हैं। बलिराजा यज्ञ करता है। इसी से वे उसकी बडाई गाते थे। पर बहुत थोडे लोग ऐसे थे जो कि उसकी नीति को समझकर यह जानते थे कि उस की राजपर कैसी मजबूत पकड है। इस बातसे हम लोगों को एक शिक्षा मिलती है कि यदि परकीय राजनीतिज्ञ जित लोगों के गुणवर्णन करता है और जित लोगों का धर्म स्वीकार करता है, तो हमें देखना आवश्यक है कि उसके इन कार्यों में राजनैतिक उद्देश क्या है। वामन ने पूर्णतया ताडलिया कि बलि का यह स्वांग केवल इस लिये है कि त्रिविष्टप आदि तीन देशों भर अपनी प्रभुता जारी रहे। इसी लिए, जिस समय बलिका यज्ञ जारी था, सोमाभिषव होने के समय वामन ने यज्ञ में प्रवेश किया और वह बलि के सन्मुख उपस्थित हुआ। याजक लोग सोम का रस निकालने की तैयारी में थे, ऐसे समय वामन की तेजस्वी मूर्ति यज्ञसदः स्थान में खडी हुई।

वामन की पूर्व तैयारी।

वामन यद्यपि छोटा था, वह राज-नीति-निपुण था। उसका शारीरिक बल भी कुछ कम न था। मौके पर वह लडने को तैयार रहता। युद्ध के दांव मल्लयुद्ध के पेंच और चढाई की युक्तियों से वह पूर्ण परिचित था। यही कारण था कि वामन वटु यज्ञमंडप में अकेला न आया था, उसके आने के पूर्व ही गुप्त वेश में सैकडों देववीर और आर्यवीर ब्राह्मणोंके वेषमें यज्ञमंडपमें उपस्थित हुए थे। वे सब अपने अपने अस्त्र-शस्त्र दर्भमुष्टि में, धोती में, छाटी में, कृष्णाजिन में छिपा लाए थे। वे ब्राह्मणों में जाकर बैठे थे। अन्य ब्राह्मणों के सदृश ये वीर भी ब्राह्मणी वेषमें थे। उनकी पोषाक से कोई उन्हें पहचान न सकता था। ऐसी तैयारी कर लेने के पश्चात, वामन स्वतः ब्रह्मचारी के भेष में कौपीन, दण्ड कमण्डलु और छाटी-लंगोटी धारण किये यज्ञ मंडप में आए और बलि के सन्मुख उपस्थित हुए। उमर छोटी पर तेजस्वी, दिखने में छोटा पर बुद्धिमें भारी, आकार छोटा पर कृति महान्, थोडे किन्तु गंभीर शब्द बोलनेवाला वामन जैसा ब्राह्मण कुमार बलि दैत्य नें पहले कभी नहीं देखा था। उसका असामान्य तेज देखकर बलि भी स्तंभित हो गया। उसने वामन का स्वागत किया और उससे कहा आपको जो चाहिये सो मांगिए। वामन ने त्रिपाद भूमि मांगी। बलिने उसे कई प्रकार से समझाने की कोशिश की और उसे दूसरी कोई बडी चीज मांगने को कहा, पर वामन अपने वचन पर अटल रहा।

इसी के समान एक कथा मुगल बादशाह के समय में हुई थी। देहली के मुंगल बादशाह की पुत्री बीमार हुई। उसे एक यूरपीय डाक्टर ने चंगा किया। तब बादशाह ने डाक्टर से कहा 'आप जो चाहें मांगिए मैं दूंगा।' तब डाक्टर ने कहा 'जहांपनाह, बकरे के चमडेके बराबर जमीन मुझे दीजिए।' इस बात को सुनकर बादशाह खिल खिलाकर हंसे और डाक्टर

को समझाने लगे। पर उसने एक न मानी। तब बादशाहने बकरे के चमडे के बराबर जमीन देने का फरमान दिया। तब उस धूर्त डाक्टर ने उस चमडे के बारीक तंतु निकाले और वे एक दूसरे में जड दिये। तब उसकी लम्बाई मीलोंतक हुई। और उतनी ही जमीन मांगी। बादशाह उसकी बुद्धिमत्ता पर खुश हुए और उसे दूनी जमीन उन्होंने दी।

इतिहास में ऐसी अनेक कथाएं प्रसिद्ध हैं। ऐसी विपरीत बात मांगने वाले के कहने में श्लेष रहता है। यदि यह श्लेष जान सकें तो डर नहीं रहता। यदि न जान सके तो समूल नाश होता है। वामन के 'त्रिपाद भूमि' शब्दोंका श्लेष स्पष्ट ही था। उसका मतलब था 'तिब्बत भारतवर्ष और पाताल' के मांगनेसे। पर यह बात बलि के ध्यान में आना संभव न था। क्यों कि बलिको खबर ही न थी कि ब्राह्मणोंने उसके विरुद्ध कोई षड्यंत्र रचा है और उसमें अनेक देव वीर भी संमिलित हैं। अतएव बलि दैत्य असावधान था।

यद्यपि बलि स्वतः और उसके सब वीर असावधान थे तथापि वह बडा सम्राट् था। इससे उस यज्ञ मंडप के पास और भीतर भी सैकडों राक्षस सैनिक तैयार ही थे। वे आपत्ति आनेपर बली की रक्षा के लिए ही उपस्थित थे। किन्तु उनमें से किसी को भी क्रान्ति की आशंका न थी। इतनी गुप्त रीतिसे वामन ने षड्यंत्र रचा था। वामन ऐसी सावधानी न रखता तो वह बलि दैत्य का राज न उलटा सकता।

वामन ने जब देखा कि शत्रु के वीर असावधान हैं और अपने पक्ष के वीर अस्त्र शस्त्रसहित वहांही बिलकुल तैयार हैं, तब उसने समझ लिया कि यही अवसर अनुकूल है। तभी उसने 'त्रिपाद भूमि' का दान मांगा। वह जानता था कि यज्ञके सोमका सवन जब तक नहीं हुआ तब तक उसके अनुकूल परिस्थिति में बदल न होगा।

बलि और वामन में दान के लिए थोडा विनोद होने पर, वामन बलि के सन्मुख दान लेने के लिए बैठ गया। इस समय तक बलि के मन में किसी प्रकार की शंका न थी। बलि के पुरोहित को वामन के बारे में संदेह हुआ। कदाचित् उसे वामन के षड्यंत्र के संबंध में कुछ बात भी मालूम हुई होगी। अतएव उसने बलि को सजग करने की चेष्टा की। पर बलिने उसके कथन पर ध्यान न दिया। यदि बलि अपने पुरोहित के कहने में आ जाता तब भी अब उसे वामन की पकड से छूटना असंभव हो गया था।

योग्य अवसर पाकर वामन ने बलि को नीचे गिराया और उसके सिर पर पैर रखा। यह घटना इतनी फुर्ती से और ऐसे जल्दी हुई कि पहले किसी की समझ ही में न आया कि क्या हुआ। ऋत्विज यज्ञ करने में मग्न थे। अन्य ब्राह्मण वेद घोष में तल्लीन थे। प्रेक्षक जन वार्तालाप में लगे थे। ऐसे समय में वामन ने बलि दैत्य को गिराया। इस घटना को प्रथम पहरे दारोंने देखा, तब वे एकदम चिल्ला उठे—

अनेन याचमानेन शत्रुणा बटुरूपिणा।
सर्वस्वं नो हृतं भर्तुर्न्यस्तदंडस्य बर्हिषि ॥१॥
तस्मादस्य वधो धर्मो भर्तुःशुश्रूषणं च नः।
इत्यायुधानि जगृहुर्बलेरनुचरासुराः॥ २३॥
ते सर्वे वामनं हन्तुं शूलपट्टिशपाणयः॥
श्री. भाग. ८। २१

"अहो! इस याचना करने वाले बटूरूपी ब्राम्हण शत्रुने बिश्वासघात से हमारे सम्राट का सर्वस्व हरण किया है। हमें सम्राट् की रक्षा करनी ही चाहिये। अतएव इस ब्राम्हण कुमार का वध करना ही हमारा धर्म है। यह कहकर बलि के दैत्य सेवकोंने शूल, पट्टिश आदि अपने आयुध लिये, उन्हे तुरन्त सज्जकर वे वामन का वध करने के हेतु वामन की ओर दौडे।"

इस वर्णन से स्पष्ट है कि वामन ने 'राज्यकी भिक्षा' मांगी और बलि ने खुशीसे दी, यह बात सत्य नहीं। वामन भी संपूर्ण भविष्य पहले ही से जानता था। चतुर वामन प्रथम ही से जानता था कि राज्य की भिक्षा कोई किसी को नहीं देता, और भीख मांगकर पाया हुआ राज्य कोई चला भी नहीं सकता। इसी कारण से उसने मंडप में अपने वीर प्रथम हीसे भेज दिये थे। और इस प्रकार कठिन

२

प्रसंग में अपनी रक्षा का तथा अपने विचार की पूर्ति में सहायता का प्रबंध पहले ही से किया था। उसके अंदाज के अनुसार ही उसकी तैयारी उसे इस समय सहायक हुई।

तानभिद्रवतो दृष्ट्वा दितिजानीकपान्नृप।
प्रहस्यानुचरा विष्णोः प्रत्यषेधन्नुदायुधाः॥१५॥
श्री० भाग० ८। २१।

"दैत्य अपने नेता वामनपर हम्ला कर रहे हैं, यह देख कुछ मुस्कराकर, अपने आयुधों को सम्हालकर वामन के अनुयायियों ने दैत्य सैनिकों को प्रतिबंध किया।"

यदि वामन प्रथम ही से पूर्णतया तैयार न होता, तो इस समय उसका अंत ही हुआ होता। वामन ने प्रसंगका अनुसंधान पूर्णतया किया था और उस ने अपनी तैयारी योग्य दिशा में की थी। बलि दैत्य और उसके अनुयायी पूर्ण असावधान थे। वामन के अनुयायी यह भी जानते थे कि इस प्रकार का हम्ला अवश्य ही होगा। इसीलिए वामन की विजय बहुत जल्दी हुई। वामन ने दैत्यों को पूर्णतया दबाया। तब उसने बलि को पकडकर उसे रस्सी से अच्छी तरह बांधकर कैद किया।

बबंध वारुणैः पाशैर्बलिं सौत्येऽहनि क्रतौ॥ २६॥
हाहाकारो महानासीद्रोदस्योः सर्वतोदिशम्।
गृह्यमाणेऽसुरपतौ विष्णुना प्रभविष्णुना॥ २७॥
श्री. भाग. ८। २१

"सोमरस का हवन करने के दिन बलि को वरुण पाशसे कसकर बांध दिया। तब यह देखकर कि बलि जैसे बलवान् सम्राट् को वामन नामके ब्राह्मण कुमार ने कैद किया, चारों दिशाओं में भारी गडबड मच गई।"

इस प्रकार गडबडी मचना स्वाभाविक बात थी। क्यों कि कोई स्वप्न में भी सोच न सकता था कि बलि का राज दो, चार घंटे के भीतर छिन जावेगा। सब लोग यज्ञ के महोत्सव में मग्न थे। बलि के अधिकारी ऐश आराम में तल्लीन थे। कहीं भी खबर न थी कि क्षत्रियों ने चढाई की है। कोई स्वप्न में भी न सोच सकता था कि ब्राह्मण इस प्रकार क्रान्ति का षड्यंत्र रच सकते हैं। परंतु जो किसी के स्वप्न में भी न था वही दो, चार घंटे में प्रत्यक्ष हुआ। इस घटना के कारण संपूर्ण देश में हलचल मच गई तो आश्चर्य ही क्या? किसी भी समय इस प्रकार की भारी राज्यक्रान्ति जब एका एक होती है, तब जनता का कुछ तो भय से और कुछ कर्तव्य मूढता से घबडा जाना स्वाभाविक ही है।

बलि को कैद कर चुकनेपर राजभर में दैत्यों को पकडना आरंभ हुआ। कहीं कहीं दैत्यों ने प्रतिकार करने की चेष्टा की, परंतु उनका बादशाह ही कैद हो चुका था, अतएव उनमें उत्साह की मात्रा बहुतही कम थी। सब दैत्य, असुर, दानव, और राक्षस घबडा गये। अतएव वामन के अनुचरों को, जो सावधान थे, अपना काम करने में सुविधा हुई। अंततः स्वतः बलिने ही सब दैत्यों को वामन के आधीन हो जाने को कहा जिससे दैत्यों का व्यर्थ संहार न हो। तब सर्वत्र शान्ति हुई। वामन ने घोषणा की कि दैत्य साम्राज्य नष्ट हुआ और देवों एवं आर्यों को स्वतंत्रता प्राप्त हुई। और इन्द्र का झण्डा पुनः अमरावती नगरी पर फहराने लगा।

तत्पश्चात् कई लोगों ने विनती की कि बलि को अधिक कष्ट न दिया जावे! बलि ने स्वयं भी सब प्रकार से क्षमा याचना की। तब बलि उसके अनुचरों के साथ छोड दिया गया।

इत्युक्त्वा हरिमानम्य ब्रह्माणं स भवं ततः।
विवेश सुतलं प्रीतो बलिर्मुक्तः सहासुरैः॥ ३॥
श्री. भाग. ८। २३

"बलीने वामन की सब शर्तें कबूल कीं। तदनंतर उसने वामनको नमस्कार किया और अपने अनुचरों के साथ वह सुतल देश में जा बसा।"

यह सुतल देश कोंकण का एक भाग था। कोंकण चौदह ताल है। प्रत्येक ताल के अतल, वितल, सुतल आदि नाम हैं। यदि संपूर्ण कोंकण के चौदह भाग किए जावें, तो तीसरा भाग सुतल उसीजगह आता है जहां अब राजापूर और रत्नागिरि हैं। इसी स्थान में बलि दैत्य के जीवन का अंतिम भाग व्यतीत हुआ। इस प्रकार वामन ने बली को सुतल में भेजकर बडी बुद्धिमानी की। यदि बली पहले के समान अपने साथियों को लेकर दैत्यों के

देशमें गया होता, तो वह अवश्य ही फिरसे चढाई करता। और पुनः रक्तपात होता। पूर्व इतिहास की पुनरावृत्ति न होवे इसीसे वामनने बलि को मुक्त तो किया पर कौंकण में उसे नजर कैद में रखा। बलि के एक भी अनुयायी को लौटकर दैत्यों के देश में वामन ने न जाने दिया। उसकी यह बात निःसंदेह प्रशंसनीय है।

प्रथम युद्ध में बली के हार जाने पर यदि इन्द्रने भी ऐसा ही किया होता, तो देवोंको पराधीनता के संकट में पडनेका मौका न आता। इन्द्रनें उस समय जो गलती की उसका फल उसे बहुत बुरी रीतिसे भोगना पडा। वामन इन्द्र की इस भूल के भयंकर परिणाम को पूर्णतया जानता था। इसीसे उसने किसी भी असुर को असुर देशमें न जाने दिया, बरन् सब को कौंकण में नजर कैद में रखा। और वहां उसने उनके आराम का उचित प्रबंध किया। विशेषतः उसने यह प्रबंध किया कि बली को किसी बात की कमी न हो।

इसके पश्चात् इन्द्रका राज्य इन्द्रको दिया और आर्य राजामहाराजाओंको अपने अपने राज्यमें भेज दिया। वामनने सब को जीवित राजनीति का उपदेश किया और स्वयं तपस्या करने चला गया, स्वयं राज्यका भोग नहीं किया। यह वामन का स्वार्थत्याग अपूर्व है। तात्पर्य यह कि ऐतिहासिक दृष्टिसे जब हम विचार करते हैं, तब हमें यह स्पष्टतया कहना आवश्यक हो जाता है कि वामन के महत्वपूर्ण कार्य से अन्य किसी के कार्य की तुलनाही नहीं हो सकती। वास्तविक इतिहास इस प्रकार है। जो हाल वास्तव में हुआ था उसका वर्णन ऊपर दिया है। वामन में शौर्य, वीर्य, पराक्रम, तेज आदि अनेक गुण थे। उनका वर्णन कितनाही क्यों न करें वह थोडा ही होगा। इसलिये हम कहते हैं कि-

वामनावतार का संदेश।

'स्वकीय स्वराज्य की भूक परकीय सुराज्य से शांत नहीं होती और न शांत होनी चाहिये।' वामनावतारने राजनीति का उक्त सिद्धान्त जो कि अत्यधिक महात्वका है सारे संसारको अति प्राचीन काल में बतलाया था। वामन के पूर्व अन्य किसी ने भी यह सिद्धान्त जनता को न बतलाया था। इस महान् सिद्धान्त के कारण ही जब तक संसार का अस्तित्व है, तबतक राजनीतिज्ञ पुरुष वामन के गुणों का गान अवश्यही करेंगे।

जिस समय देववीर और आर्यवीर बलिके राज्य के अंकित रहने में भूषण मानते थे, उस समय वामन बटुने कहा कि अपना स्वराज्य कैसा भी बुरा क्यों न हो वह परकीय राजाके सुव्यवस्थित सुराज्यसे कई गुणा अधिक लाभ कारी है। जो पाठक मूल कथाको विस्तार से देखना चाहें वे भागवत में देखें और वामनावतार के इस संदेश को जान कर उसका मनन करें।

सच्चा कुमार।

(ले०- श्री. वि. व्यं. जावडेकर, धुळें)

द्यूतं च जनवादं च परिवादं तथानृतम्।
स्त्रीणां प्रेक्षणालम्भमुपघातं परस्य च ॥
(मनु०)

बाल्य अवस्था अथवा युवा अवस्था के विद्यार्थी और विद्यार्थिनियां अब भी कुमार या कुमारिकाएं ही होती हैं। परंतु सच्चा कुमार और सच्ची कुवांरी कुछ और ही होती हैं। कुमारी संज्ञा पार्वती की है। पार्वती ही दुर्गा है, दुर्गा ही भवानी है, और भवानी क्या है? मूर्तिमती शक्ति है। इसी प्रकार कुमार संज्ञा शिवपार्वती से उत्पन्न एवं अजेय कार्तिकेय को ही थी। इसी का दूसरा नाम स्कंद है। भगवान् श्रीकृष्ण ने अर्जुन को जब विभूतियोग सुनाया तब कहा था "सेनानीनामहं स्कंदः"। यदि कुमार-संभव हो तो ऐसा ही हो। परंतु वर्तमान युग में जो कुमार या कुमारिकाएं जन्म लेती हैं वे ऐसी मरी हत्याएं रहती हैं कि उनका जीवन ही कठिन होता है तब

पराक्रम की बात ही कहां?

जीवित रहनेपर यदि अंशतः भी कुमार नाम के योग्य होना हो, तो भगवान् मनू के बनाए ब्रह्मचर्य के नियमों का पालन ठीक ठीक होना चाहिए। सभी लोग चाहते हैं कि हमारे नव-युवक सुदृढ एवं कर्तृत्ववान् होवें; पर कृति करनेवाला एक भी नहीं दीखता। एक कहावत है कि "पुण्यस्य फलमिच्छन्ति पापं कुर्वन्ति यत्नतः"। बस आजकल के लोग इस लोकोक्ति को चरितार्थ करते हैं।

मनु महाराज ने विद्यार्थियों के लिए द्यूत की मनाई की है। वस्तुतः द्यूत संपूर्ण जनता के लिए, शास्त्रकारों के विचार से, मना है। पर ब्रह्मचारीके लिए विशेष रूप से मनाई की गई है। किसी भी खेल में दांव लगाने की पद्धति सर्वथा घातक ही है। इस द्यूत के कारण बडे बडे अनर्थ हुए हैं। पण्डुपुत्र धर्मराज को इस द्यूत के ही कारण सब राजपाटसे हाथ धोकर दासता में पडना आवश्यक हुआ। तब औरों की बात क्या चलाई?

विद्यार्थियों के लिए जनवाद वर्ज्य है। कोशकारोंने जनवाद का अर्थ "News; Rumour" बतलाया है। इससे विदित होता है कि बजारगप्पें फैलाना, अफवाहें उठाना विद्यार्थियों के लिए मना है। जनवार्ता, या अफवाहें जब कभी फैलती हैं, वे प्रायः झूट ही रहती हैं। कभी कभी वे सच्ची या सत्य-असत्य मिश्रित भी रह सकती हैं। अत एव कम से कम विद्यार्थिदशा में तो भी जो सत्य है वही प्रसृत करना चाहिए। असत्य का प्रसार उनसे कदापि न होना चाहिए। लोगों से वाक्कलह करने का भी अर्थ "जनवाद" शब्द से निकल सकता है अतएव विद्यार्थियों को चाहिए कि वे फजूल विवाद न बढावें।

परिवाद।

ब्रह्मचारी के लिए जैसे जनवाद मना है वैसे ही परिवाद भी। "परिवाद" शब्द का अर्थ है 'Scandal'। अतएव विद्यार्थी 'Scandal monger' कदापि न हों। लोगोंसे शरारत करना चुगली करना, कुछ भी झूटमूट बातें कहकर लोगों के मन कलुशित करना आदि काम निंद्य हैं। और विद्यार्थी दशा अत्यंत पवित्र है। तब भला ऐसी पवित्र दशामें रहते उक्त निंदनीय काम करना अच्छा कैसे हो सकता है?

'तथानृतम्।'

ऊपर तीन दोष बतलाए गये। इन तीनों से बढकर यदि दोष है, यदि किसी दोष को उक्त तीनों दोषों से भी पहला स्थान देना है, तो वह दोष है "झूट बोलना"। संपूर्ण विश्व की रचना एक सत्य पर की गई है। व्यक्तिमात्र की जीवदशा किसी भी समय सत्यपर ही निर्भर होती है। सत्य की महती देखिए कैसी भारी हैः—

"नहि सत्यात्परो धर्मः।"

ऐसी भारी महत्ता जिस सत्य की है उसे कैसे छोडा जाय? उसे छोडकर 'अनृत' असत्य झूट का आश्रय लेना कैसे भारी लांछन की बात है? पर शोक है कि जब हम वर्तमान विद्यार्थियों को देखते हैं तो उनमें सत्य का नाम और निशान तक नहीं मिलता। मालूम होता है उन्हे पता ही नहीं कि सत्य क्या है?

जब विद्यार्थि नियम के विपरीत बर्ताव करता है। वह शिक्षक द्वारा पकडा जाता है। उसकी जांच होती है। इस जांच के समय जब शिक्षक डांट कर प्रश्न करता है तब एक छोटी सी सजा से बचने के लिए विद्यार्थी तुरंत असत्य बोल बैठता है। वह सत्य कथन की प्रायः परवाह नहीं करता। विद्यार्थियों की आपसी बातचीत से भी पता चलता है कि उनमें नैतिक—धैर्य का कैसा भारी अभाव है। ब्रह्मचारी तो उसी को कह सकते हैं जो सत्य के लिए प्राण तक निछावर कर दे, किंतु असत्य से एकदम दूर रहे। उससे यदि भूल भी हुई हो तो उस भूलके लिए उसे एक-आध छडी का प्रसाद मिलेगा। जो उस छडी से बचने की चेष्टा करेगा उसकी योग्यता क्या हो सकती है? और ऐसे बालक से आगे चलकर कौन महत् कार्य हो सकता है? लोकमान्य तिलक का विद्यार्थिदशा का नियम बाना था कि चाहे जो कुछ हो मैं असत्य कदापि

न बोलूंगा। महात्मा गांधीजीकी आज जो कीर्ति है वह उनकी विद्वत्ता के कारण नहीं है किंतु वह उनकी सत्य-निष्ठा और उनके नैतिक - धैर्य का परिणाम है। उन्होंने तपस्या में अपने शरीर को सुखा डाला है पर जितना शरीर सुखाया है उस से कहीं अधिक आत्म-सामर्थ्य बढाया है। उनके जैसा आत्मसामर्थ्य अन्य किसी भी नेता में नहीं है। उनका एक मात्र भरोसा उनका आत्म-बल (Soul Force) है। संभव है कि देश में ऐसे भी विद्वान् होंगे जो महात्माजी को विद्वत्ता के लिहाज से बगल में दबाए फिरें। परंतु पता नहीं वे विद्वान देश के किस कोने में पडे हैं? सत्य की महिमाही ऐसी भारी है कि उसकी बदौलत महात्माजीकी कीर्ति केवल त्रिखंड में ही नहीं फैली वरन् आस्ट्रेलिया जैसे पांचवें खंडमें भी वह पहुंच गई। हिंदुस्थान के राज—कारण में पहला अद्वितीयत्व लोकमान्य ने प्राप्त किया और उनके बाद महात्माजीने ही। उन्होंने मुख्यतः दो ही गुणों को अपना आधार स्तंभ बना लिया है। और वे गुण हैं सत्य और नैतिक-धैर्य। हिन्दुस्थान में ब्रिटिश साम्राज्य की जड बहुत ही गहरी जमी है पर उसे भी उन्होने कुछ समय के लिए हिला दिया। उन्होंने यह काम अस्त्र शस्त्र के बलपर नहीं किया केवल सत्य और नैतिक—धैर्य के बलपर। उनका शरीर देखकर मालूम होता है कि पवनकी साधारण झकोर से वह शरीर उड जावेगा। किन्तु उनका पराक्रम ऐसा भारी है कि वे सत्ता रूप गजेन्द्र से सामना कर सकते हैं। सत्य का महत्त्व ही ऐसा भारी है कि वह जितने प्रकार से ब्रह्मचारियों के अर्थात् विद्यार्थियों के हृदय में बसाया जाय उतना ही अच्छा है। यही कारण है कि हम यहां इतना विस्तार कर रहे हैं। उनको चाहिए कि वे सदैव अपनी दृष्टि के सन्मुख ध्रुव, प्रहलाद और हरिश्चंद्र के चरित्रों को रखें।

भक्त प्रहलाद।

प्रहलाद क्या था? केवल एक नन्हा बालक। वह एक विद्यार्थी था। पर उसकी सत्य निष्ठा कैसी भारी थी! उसका पूर्ण विश्वास था कि एक ईश्वर ही सत्य है। उसका बाप हिरण्यकशिपु एक दैत्य था। उस का देवों से वैर था, वह समझता था कि हरि की भक्ति करनेवाला उसका लडका प्रहलाद कुलांगार है। हिरण्यकशिपुने बालक प्रहलाद को हर तरह समझाया। उसने उस बालक को डरानेका भी प्रयत्न किया। पर जब देखा सब प्रयत्न फजूल हुआ। तब उसने समझाना रोक कर दण्डसे काम लिया। प्रहलाद को तप्त तैल कटाहमें डालनेकी आज्ञा हुई। पर भक्त प्रहलाद न मरा। जब देखा कि इससे उसकी जान नहीं जाती, तब जन्मदाता बाप होनेपर भी, हिरण्यकशिपुने हुक्म दिया कि इसे पहाडकी चोटीसे नीचे फेंक दो। ऐसा भी किया गया। परंतु भक्त प्रहलाद फिर भी कायम रहा। अहाहा! कैसा भारी उसका अधिकार था! जिसकी रक्षा स्वयं भगवान् करते हैं उसे कौन मार सकता है?

सत्य राजा हरिश्चंद्र।

राजा हरिश्चंद्रने अपनी पतिव्रता स्त्री तारामती के साथ कैसेकैसे कष्ट सहे, कैसी भारीसे भारी विपदाओं का सामना किया। पर ऐसी आपत्ति सहते भी उन्होने सत्य का त्याग न किया। राजा हरिश्चन्द्र स्वप्न में भी असत्य और अनृत न जानते थे, तब जागृत अवस्था में वे इन पापोंको कैसे जानते?

सुकरात और ईसा मसीह।

ग्रीस का दार्शनिक सुकरात विष का प्याला भी पी गया पर वह सत्य से न डिगा। ईसा मसीह की मृत्यु अत्यंत अमानुषिक रीति से हुई। तथापि उन्होंने सत्य से मुह न मोडा।

महाराज छत्रपति संभाजी।

महाराज छत्रपति संभाजीने सत्य के लिए बलिदान (Self Sacrifice) किया। यह बलिदान की कथा क्या बतलाती है? महाराज संभाजी को औरंगजेब ने कैद किया। औरंगजेबने उनसे कई प्रकार से समझाया कि तुम इस्लामधर्म का स्वीकार करो। उसने संभाजी को धर्मांतर करने को विवश करना चाहा। परंतु जब देखा कि वे केवल बातों से नहीं

मानते तब तो वह तीव्रतर उपायों को काम में लाया। उसने संभाजी को धमकाया कि यदि तुम हमारी इच्छानुसार मुसलमान न बनो तो तुझे अपने शरीर से हाथ धो बैठना होगा। महाराज संभाजी जैसे धर्मवीर पर भला ऐसी डरावनी का कुछ असर हो सकता है? वे तो साक्षात् धर्म-मेरु थे। उन्होंने तडाके से उत्तर दिया कि "इस्लाम सत्य है या मिथ्या मुझे उससे कुछ मतलब नहीं। जिसे तुम काफिर का धर्म कहते हो वह मेरा सनातन वैदिक धर्म ही मेरी समझ में सत्य है। मेरा विश्वास है कि वह पूर्णतया सत्य है और इसी लिए वह मुझे प्राण से भी प्यारा है। मैं इस सत्य धर्म की रक्षा के हेतु अपने प्राणों को निछावर कर दूंगा, पर इस सत्य धर्म का त्याग कदापि न करूंगा।" अहाहा! कैसा जबरदस्त नैतिक-धैर्य है! आज एक कान काट लिया कल दूसरा, आज एक आंख फोड दी गई कल दूसरी, आज एक हाथ काट डाला गया कल दूसरा। इस प्रकार क्रमशः और दिनशः एक एक अवयव काट लिया गया। ऐसी दारुणतर दुःख की दशा रहने पर भी उस बहादुर ने कभी क्षणभर के लिए अन्यथा न सोचा। अंतमें उसके प्राण पखेरू देह को त्याग गये पर वह सत्य से न हटा। वास्तव में वह सिंह का बच्चा था। नर केसरी शिवछत्रपती का पुत्र हो कर क्या वह मृत्यु से डर सकता था। नहीं, नहीं, कदापि नहीं!! जरा देखिए तो सही। कहां तो ये रोमहर्षण सत्य के वीरों के उदाहरण और कहां आजकल के नैतिक धैर्य के मिट्टी के पुतले!! यदि सच कह कर अपराध कबूल कर लिया जाय, तो अधिक से अधिक क्या होगा? यही ना कि एकाध 'श्रीमुख' में मिलेगी वा एकाध छडी लगेगी। पर इस तनिक सी सजा से भी अपनी चमडी बचाने के लिए हमारे वर्तमान ब्रह्मचारी बेखटके असत्य बोल देते हैं। क्या इससे भी हीन दशा अन्य कोई हो सकती है? राष्ट्र की उन्नति और स्वतंत्रता की प्राप्ति तभी हो सकती है जब कि हृदय की दीवाल बना दी जाय। उसके लिए कारागृहवास, देश-निर्वासन (काला पानी) और फांसी तक के लिए तैयार होना चाहिए। जिसने हृदय की दीवाल बनाना नहीं सीखा वह इन में से एक आपत्ति भी सहने में समर्थ नहीं हो सकता। ब्रह्मचारी को असत्य का त्याग करना चाहिए और सत्य के लिए चाहे जैसी आपत्ति सहने को तैयार रहना चाहिए। शास्त्र-कारों के ये विचार कैसी दूर दृष्टि के हैं सो तो आप प्रकट हुआ ही होगा। यह विचार माता के दूध के साथ बालक को छुटपन ही में पिलाए जांय तभी आगे चलकर कुछ बन सकता है। अन्यथा मुंह की बकबक बहुत होगी पर आगी में कूदने के लिए कोई एक भी तैयार न होगा।

योगचिकित्सा का मूलतत्त्व।

(ले०- श्री० पं० अत्रिदेवजी गुप्त।)

जब मैं आगे या पीछे झुक जाता हूं तो फुफ्फुस, आमाशय, सूक्ष्मांत्र, बृहदान्त्र अपनी प्रकृतावस्था में नहीं रहते अर्थात् प्राण, उदान, समान, अपान एवं व्यानका मार्ग विकृत हो जाता है जिससे कि विकार उत्पन्न होता है।

इसी जम्भाई को मैं रोकता हूं उससे वातका निः-सरण बन्द हो गया चूंकि वात बलवान है इसलिये अन्य रास्तेसे निकलनेका यत्न करेगी। उसमें वह मुखपेशियों को वक्र करदेगी जिससे एक विकार उत्पन्न होता है।

अर्थात् वातके स्वाभाविक मार्गके अवरोधसे एक विकृतावस्था उत्पन्न हो गई ठीक इसी प्रकार रक्तके मुख्य केन्द्रोंमें किसीभी प्रकारसे कोई बाधा आजाने से यह रोग का कारण होता है।

" सर्वार्थानर्थकरणे विश्वस्यैककारणम्।
अदुष्टदुष्टः पवनः शरीरस्य विशेषतः।"
तदपुष्टौ प्रयत्नेन यतितव्यमतः सतः।

पित्त — तप- सन्तापे धातुसे पृषोदरादित्वात् पित्त शब्द बनता है।

शरीरमें जो रक्तसंस्थान एवं उष्मा अग्नि है वह

पित्त है, सन्तापका हेतु होनेसे अन्तः शरीरमें जहां भी उष्णिमा या सन्ताप प्रकृतावस्थामें वर्तमान है अथवा विकारावस्थामें उत्पन्न होता है वह सब पित्तका कार्य है ।

द्वितीय परिच्छेद में जिस अग्निके लिये ऋषि अत्रिका "शान्तेऽग्नौ म्रियते" इत्यादि श्लोक उद्धृत किया है वह शरीरस्थ पित्तही अग्नि है ।

"न खलु पित्तव्यतिरेकात् अग्निरूपमुपलभ्यते आग्नेयत्वात् ।" धन्वन्तरिः ।

"अग्निरेव शरीरे पित्तान्तर्गतः शुभाऽशुभानि करोति ।" अत्रिः ।

जिस समय रक्तका मात्रा एवं गुण कम हो जाता है तो उष्णिमा भी कम हो जाती है; एवं जब वृद्धि हो जाती है तो उष्णिमा भी बढ जाती है ।

जिस प्रकार एकही बात, स्थान एवं कर्मसे पांच प्रकारकी हो गई है उसी प्रकार एकही उष्मा संतापका हेतु स्थान और कार्य भेदसे पांच प्रकारका पाचक-रंजक-साधक - आलोचक एवं भ्राजक है ।

पाचक- भुक्त द्रव्य के (रसायनिक क्रिया)रसादि बनानेके लिये उष्मा अग्नि की आवश्यकता है वह उद्रहरिकाम्ल है जिसके भोजन पर क्रिया करनेसे रस, मूत्र, पुरीषादि पृथक् होते हैं एवं थूक के मिलने से जो मधुर रस उत्पन्न हुवाथा वह अम्ल रस बन जाता है इसी को मधुर विपाक और अम्ल विपाक कहते हैं ।

उद्रहरिकाम्लमें उष्ण गुण होनेसे आचार्यने इसे पित्त अर्थात् सन्तापक कहा है। जिस समय यह कम हो जाता है उस समय अग्निवर्धक उष्ण पदार्थ(मसाले आदि)अथवा उद्रहरीकाम्ल को दी औषधरूपमें देते हैं। जिस समय बढ जाता है उस समय इसके ह्रास के लिये शीत औषध, बर्फ का पानी, आमाशय पर बाह्य शीत प्रयोग वमन विरेचन आदि देते हैं। यह भोजन का पाचक होनेसे पाचक अग्नि कहाती है ।

रंजक- अर्थात् शरीरस्थ रसको रंगने से इसे रंजक कहा है। इसका स्थान- प्लीहा और यकृत् है। जिस समय भोजन ग्रहणी में आता है उस समय यकृतस्थ पित्ताशयसे पित्त बाहर होकर पित्त-प्रणाली द्वारा ग्रहणी स्थानमें भोजनसे मिलता है जिससे कि भोजन के रस में दो परिवर्तन होते हैं। १ उसका रंग पीतवर्ण हो जाता है। २ अम्ल विपाकके स्थानमें कटु विपाक हो जाता है।

एक मनुष्य को मलेरिया ज्वर बहुत दिनौंतक आता है उस से उसकी प्लीहा बढ जाती है और नखोंमें रक्तिमा नहीं रहती। नख श्वेत हो जाते हैं। शरीर में रक्त की कमी स्पष्टरूपसे प्रतीत होती है।

दूसरा मनुष्य बहुत देरतक मिट्टी खाता है जिससे कि उसका मलमूत्र श्वेत एवं लाल आने लगता है। यकृत की वृद्धि प्रतीत होती है। शरीरमें रक्तिमा का स्थान पीलापन ले लेता है। संपूर्ण मुख, आंख, नख, हाथ, पांव पीले हो जाते हैं।

उपरोक्त दोनों अवस्थाओं के कारण भिन्न हैं परन्तु उन्होंने कार्य एक उत्पन्न किया है अर्थात् रक्त की कमी (Anaemia) शरीरमें कर दी जिससे की शरीर में पीलापन आगया। इसका कारण यकृत् और प्लीहा का विकृत होना है।

आधुनिक चिकित्सा शास्त्र में कुछ बातें बताना है। यथा-१ रक्त के दो भाग हैं१-पतला द्रव्य भाग, २—ठोस भाग जिसे Haemoglobin कहते हैं।

२ Heamoglobin में जो लाल रंग है वह haematin लोहे का है।

३ शरीरमें दो प्रकार के श्वेताणु और रक्ताणु हैं। दोनों का कार्य भिन्न है।

४ यह अधिक मात्रामें प्लीहामें पाये जाते हैं। वहां रक्ताणु श्वेताणु मात्रामें अधिक हैं।

५ मलेरिया ज्वर का कीटाणु रक्ताणु को तोड देता है तथा प्लीहा यकृत को विकृत करता है।

६ प्लीहा में श्वेताणु से रक्ताणु बनते हैं अर्थात् उनमें अर्थात् लोहा मिलता है।

७ शरीरसे यदि प्लीहा निकाल दें तो उसका स्थान अन्यग्रन्थि यकृत आदि ले लेगी।

सार-

१ इस लिये जिस जिस रोगों में रक्ताणु कम हो जावें उन रोगों में प्लीहा और यकृत् को ओजना देनी चाहिये।

२ रक्ताणु में रक्तिमा की वृद्धि के लिये लोहे

की मात्रा अधिक किसी रूपमें देनी चाहिये।

उपरोक्त दोनों बातों के आधार पर ही नव्य एवं प्राच्य चिकित्सक पाण्डू-कामला रोग की चिकित्सा करते हैं।

अतः अब भोजन का रस भाग जब प्लीहा-यकृत् में पहुंचता है वहां वह उसी श्वेताणू से रक्ताणु बननेवाली प्रक्रिया से रंगा जाता है अर्थात् उस में सम्यक् प्रकार न रंग सके तो शरीर में रक्ताणु एवं रक्तिमा कम हो जाती है। अर्थात् रंजक पित्त विकृत हो जावेगा उससे मल श्वेत, मूत्र लाल होगा उस में पित्तका भाग नहीं होगा।

साधक-धर्म, अर्थ, काम,मोक्ष, पुरुषार्थ का साधक होने से साधक है। इसका स्थान हृदय है। इस साधक पित्तसे अभिप्राय ओजका है। उसका स्थान हृदय है। उसी के द्वारा अपवर्गकी प्राप्ति होती है। अतः ओज प्रकरण को देखिये।

" हृदयं चेतनास्थानमुक्तं सुश्रुतदेहिनाम्।
धन्वन्तरिः
षडङ्गमंगविज्ञानमिन्द्रियाण्यर्थपञ्चकम्।
आत्मा च सगुणश्चेतः चिन्त्यं च हृदिसंश्रितम्।"
प्रतिष्वर्थं हि भावानामेषां हृदयमिष्यते ॥अत्रिः

ओज प्राण है, उसमें उष्मा है चूंकि ओजके अभावसे शरीर मृत होजाता है उस में उष्णिमा नहीं रहती वह शीत हो जाता है। उष्णिमा का कारण होनेसे पित्त कहा है।

भ्राजक- त्वचा में जिससे उष्णिमा है वह भ्राजक पित्त है। त्वचा में आश्रित जिस उष्णिमा से जिस रक्तसे स्वेद पृथक् होता है, एवं अभ्यंगादि कृत स्नेहादि जिसके कारण शरीरमें प्रविष्ट होते हैं और जिस के कारण शरीरस्थ केश, लोम, नखकी वृद्धि होती है और जिससे कि बालोंमें काला रंग है वह भ्राजक है।

मैं क्रोध करता हूं जिससे कि मुख का चेहरा लाल होजाता है और शरीर रोमांचित हो जाता है अर्थात् त्वकस्थ धमनियों में रक्तकी मात्रा अधिक होगई जिससे कि त्वचा उष्ण होगई और शरीरसे स्वेदकी मात्रा अधिक बाहर हुई अर्थात् भ्राजक पित्त-पर कार्य अधिक होगया। त्वकस्थ धमनियोंमें रक्तकी मात्रा अधिक होनेसे त्वकस्थ पित्त बढ जाता है। अर्थात् त्वकस्थ धमनियों की उष्णिमा को आचार्य भ्राजक पित्तसे कहता है। सन्तापका हेतु होनेसे।

आलोचक- जो पित्त चक्षुमें वह आलोचक है जिससे दिखाई देता है।

मेरा यकृत विकृत होजाता है जिससे कि पित्तका मलमूत्रादिके द्वारा निःसरण बन्द होजाता है अब वह अन्तःशरीरमें मार्ग करता है जिस से कि मुख पीला हो जाता है। आंखोंमें पीलापन आजाता है अर्थात् शरीर में पित्त की वृद्धि होगई। जिससे कि दृष्टिमें अन्तर आजाता है, अर्थात् कम दीखने लगता है।

एक मनुष्य अति मैथुन करता है जिससे कि उस की चक्षु इन्द्रिय निर्बल होजाती है। इस इन्द्रियोंके निर्बल होने के साथ साथ शरीर की उष्णिमा भी कम हो जाती है जिससे कि निष्प्रभा, लावण्यरहित हो जाता है।

अर्थात् पित्त कम होगया, विशेष कर त्वकस्थ एवं चक्षुस्थ पित्त।

शास्त्रने दृष्टि को तेज स्वरूप कहा है। आखोंको चक्षुवीक्षक यंत्र से देखते हैं तो Retina दृष्टि पटल लाल आगका गोला दिखाई देती है इसी कारण उसे पित्त-सन्तापक कहा है।

संगति- पाठकवृन्द ! आपने देखा कि शरीरस्थ एकउष्माके ही स्थान और कार्य भेदसे पांच नाम हो गये हैं। आंखों में आनेसे आलोचक, त्वचा में आने से भ्राजक, हृदयमें आनेसे साधक, प्लीहा यकृत में रहने से रञ्जक, आमाशयमें रहनेसे पाचक है। इसी को आचार्यने अग्नि, उष्मा शब्द से कहा है।

इस पित्तका संबंध रक्तसे बहुत अधिक है। रक्तस्थ उष्मा ही पित्त है। जब पित्त कम हो जाता है रक्त भी कम हो जाता है, जब पित्त बढता है रक्त भी बढ जाता है। जो पित्त प्रकोप कारण है वही रक्त प्रकोप कारण है, दोनोंकी शीत परिचर्या चिकित्सा है।

आनुवंशिक रोगोंका दूर करना।

[७]

(ऋषिः — भृग्वङ्गिराः। देवता–यक्ष्मनाशनम्)

हरिणस्य रघुष्यदोऽधि शीर्षणि भेषजम्।
स क्षेत्रियं विषाणया विषूचीनमनीनशत् ॥ १ ॥
अनु त्वा हरिणो वृषा पद्भिश्चतुर्भिरक्रमीत्।
विषाणे वि ष्य गुष्पितं यदस्य क्षेत्रियं हृदि ॥ २ ॥
अदो यदवरोचते चतुष्पक्षमिव च्छदिः।
तेना ते सर्वं क्षेत्रियमङ्गेभ्यो नाशयामसि ॥ ३ ॥

अर्थ— (रघुष्यदः हरिणस्य शीर्षणि अधि) वेगवान् हरिणके सिरके अंदर (भेषजं) औषध है। (सः विषाणया) वह सींगसे (क्षेत्रियं विषूचीनं अनीनशत्) क्षेत्रिय रोगको सब प्रकारसे नष्ट कर देता है ॥ १ ॥

(वृषा हरिणः चतुर्भिः पद्भिः) बलवान् हरिण चारों पांवोंसे (त्वा अनु अक्रमीत्) तेरे अनुकूल आक्रमण करता है। हे (विषाणे) सींग! तू (यत् अस्य हृदि गुष्पितं क्षेत्रियं) जो इसके हृदयमें गुप्त क्षेत्रिय रोग है उसको (वि ष्य) नाश करदे ॥ २ ॥

(अदः यत्) वह जो (चतुष्पक्षं छदिः इव) चार पक्षवाले छत के समान (अवरोचते) चमकता है (तेन ते अंगेभ्यः) उससे तेरे अंगोंसे (सर्वं क्षेत्रियं नाशयामसि) सब क्षेत्रिय रोगको हम नाश करते हैं ॥ ३ ॥

भावार्थ— वेगसे दौडनेवाले हरिणके सींगमें उत्तम औषध है उस सींगसे क्षेत्रिय रोग दूर होते हैं ॥ १ ॥

बलवान् हरिणके सींगसे हृदयमें गुप्त अवस्थामें रहा हुआ क्षेत्रिय रोग दूर हो जाता है ॥ २ ॥

यह चार पंखवाले छतके समान हरिणका सींग चमकता है उससे सब अंगोंमें रहनेवाले क्षेत्रिय रोग का नाश होता है ॥ ३ ॥

अमू ये दिवि सुभगे विचृतौ नाम तारके ।
वि क्षेत्रियस्य मुञ्चतामधमं पाशमुत्तमम् ॥ ४ ॥
आप इद्वा उ भेषजीरापो अमीवचातनीः ।
आपो विश्वस्य भेषजीस्तास्त्वा मुञ्चन्तु क्षेत्रियात् ॥ ५ ॥
यदासुतेः क्रियमाणायाः क्षेत्रियं त्वा व्यानशे ।
वेदाहं तस्य भेषजं क्षेत्रियं नाशयामि त्वत् ॥ ६ ॥
अपवासे नक्षत्राणामपवास उषसामुत ।
अपास्मत्सर्वं दुर्भूतमप क्षेत्रियमुच्छतु ॥ ७ ॥

अर्थ- (अमू ये दिवि) वे जो आकाशमें (सुभगे विचृतौ नाम तारके) उत्तम प्रकाशमान दो सतारे हैं-वनस्पतियां-हैं। (क्षेत्रियस्य अधमं उत्तमं पाशं विमुञ्चतां) क्षेत्रिय रोगके नीचे और ऊंचे पाशको छुडा देवें ॥ ४ ॥

(आपः इत् वै उ भेषजीः)जल निःसन्देह औषध है, (आपः अमीवचातनीः) जल रोगनाशक है (आपः विश्वस्य भेषजीः) जल सब रोगों की दवा है। (ताः त्वा क्षेत्रियात मुञ्चन्तु) वह जल तुझे क्षेत्रिय रोगसे छुडा देवे ॥ ५ ॥

(यत् क्रियमाणायाः आसुतेः) यदि बिगडने वाले रससे (क्षेत्रियं त्वा व्यानशे) क्षेत्रिय रोग तेरे अंदर व्यापा है। तो (तस्य भेषजं अहं वेद) उसका औषध मैं जानता हूं और उससे मैं (त्वत् क्षेत्रियं नाशयामि) तुझसे क्षेत्रिय रोगको नाश करता हूं ॥ ६ ॥

(नक्षत्राणां अपवासे) नक्षत्रोंके छिपनेपर (उत उषसां अपवासे) उषाके चले जानेपर (सर्वं दुर्भूतं अस्मत् अप) सब अनिष्ट हम सबसे दूर होवे तथा (क्षेत्रियं अप उच्छतु) क्षेत्रिय रोग भी हट जावे ॥ ७ ॥

भावार्थ- ये जो प्रकाशमान् सतारोंके समान तारका नामक दो औषधियां हैं उनसे वंशके रोग दूर होते हैं ॥ ४ ॥

जल उत्तम औषधि है, उससे सब रोग दूर होते हैं, सब रोगोंके लिये यह एकही औषध है उस से क्षेत्रियरोग दूर होता है ॥ ५ ॥

यदि बिगडे जलके निमित्त से तेरे अन्दर क्षेत्रिय रोग प्रकट हुआ है तो उसके लिये औषध मैं जानता हूं और उससे रोगभी दूर करता हूं ॥ ६ ॥

नक्षत्र छिपनेपर और उषा चली जाते ही सब रोगबीज हम सब से दूर होवे और हमारा क्षेत्रिय रोग भी दूर होवे ॥ ७ ॥

मातापितासे संतानमें आये क्षेत्रिय रोग।

जो रोग मातापितासे संतानमें आते हैं उनको क्षेत्रिय रोग कहते हैं। ये क्षेत्रिय रोग दूर होना कठिन होता है। इनकी चिकित्सा इस सूक्तमें कही है।

हरिणके सींगसे चिकित्सा।

जो कृष्ण मृग होता है, जिसके सींग बडेभारी होते हैं, उन सींगों में क्षेत्रियरोग दूर करनेका गुण होता है। " हरिण के सिरमें औषध है जो सींगमें आता है जिसके कारण क्षेत्रिय रोग दूर होते हैं। (मं० १) " हरिणके सींगके विषयमें वैद्यकग्रंथका—

मृगशृङ्गं भस्महृद्रोगे त्रिकशूलादौ शस्तम्।

—वैद्यक शब्द सिंधु।

" मृगका सींग भस्मरोग, हृदयरोग और त्रिक शूलादि रोगोंके लिये प्रशस्त है। " यह कथन इस सूक्तके कथनके साथ संगत होता है।

हृदय रोग।

इस सूक्त के द्वितीय मंत्रमें "हृदि गुष्पितं क्षेत्रियं " (मंत्र० २) हृदयमें रहनेवाला गुप्त क्षेत्रिय रोग, यह प्रायः हृदय रोगही होगा। तृतीय मंत्रमें " अंगेभ्यः क्षेत्रियं (मंत्र. ३) " सब अंगोंसे क्षेत्रिय रोग दूर करनेकी बात कही है। प्रथम मंत्रमें सामान्य क्षेत्रिय रोगका वर्णन है। ये सब रोग हरिण के सींगसे दूर होते हैं। हरिणका सींग चंदनके समान पत्थरपर जलमें घिसकर सिरपर लगाया जाता है अथवा थोडा थोडा अल्पप्रमाणमें पेटमें भी लेते हैं। इस प्रांतमें छोटे बालकों को उक्त प्रकार किंचित् जलमें घोलकर पिलाते भी हैं और माताएं कहती हैं कि इससे संतानोंको आरोग्य होता है। सिरमें गर्मी चढनेपर सिरपर लगानेसे गर्मी दूर होती है। मस्तिष्क पागल होनेकी अवस्थामें यह उत्तम औषध है।

औषधि चिकित्सा।

चतुर्थ मंत्रमें " सुभगा और तारका " ये दो शब्द हैं। इसी प्रकारका मंत्र काण्ड २ सू० ८ में आया है, देखिये—

भगवती और तारका।

भग-वती विचृतौ नाम तारके ॥ कां० २ सू० ८ मं० १

इसके साथ इस सूक्तका मंत्र भी देखिये—

सु-भगे विचृतौ नाम तारके ॥ कां० ३ सू० ७ मं० ४

इसमें विधानकी समता है। इस लिये द्वितीय कांडके अष्टम सूक्तके प्रसंगमें "भग-वती और तारका" वनस्पतियोंके विषय में जो लिखा है, वही यहां पाठक समझें। सुभगा और भगवती ये दो शब्द एकही वनस्पतिके वाचक होंगे। और तारका शब्द दूसरी वनस्पतिका वाचक होगा। ये दो वनस्पतियां क्षेत्रियरोग को दूर करतीहैं। इनसे किसका बोध लेना है इस विषयमें कां० २ सू० ८ मं० १ का विवरण देखिये।

द्युलोक और भूलोकमें समान औषधियां।

वनस्पतियोंके साथ द्युलोक का संबंध बताया है। सोम द्युलोकमें है और पृथ्वीपर भी वनस्पतिरूप है। इसी प्रकार "सुभगा (भगवती) और तारका" ये दो औषधियां भी वनस्पतिरूपसे पृथ्वीपर हैं और तेजरूपसे द्युलोक में हैं। यह वर्णन वनस्पतिकी प्रशंसापरक प्रतीत होता है।

जलचिकित्सा।

क्षेत्रिय रोग दूर करनेके लिये जलचिकित्सा करनेका उपदेश इस सूक्तके पंचम मंत्रमें है। इस मंत्रमें कहा है कि "जल सब रोगोंकी एक दवा है इसलिये क्षेत्रिय रोग भी इससे दूर हो सकते हैं।" जलके आरोग्य वर्धक गुणके विषयमें कां० १ सू. ४ – ६ ये तीन सूक्त देखिये।

षष्ठ मंत्रका आशय यह है कि यदि रोग अथवा क्षेत्रिय रोग बिगडे खान या पान से हुए हों, तो पूर्वोक्त प्रकार दूर हो सकते हैं। अर्थात् पूर्वोक्त पांच मंत्रोंमें कहे उपाय ही सब रोग दूर करनेके लिये पर्याप्त हैं।

उक्त उपायोंसे अति थोडे समयमें रोग दूर हो सकते हैं। यदि रोगका प्रारंभ आज हुआ है तो रात्रीके तारागण छिप जानेके समय तथा उषःकाल दूर होकर दिनका प्रकाश शुरू होते ही ये सब रोग दूर होते हैं। यदि यह वर्णन काव्य परक माना जाय तो उसका अर्थ इतनाही होगा कि "अतिशीघ्र रोग दूर होंगे।"

राष्ट्रीय एकता ।

[८]

(ऋषिः— अथर्वा । देवता— मित्रः, विश्वेदेवाः)

आ यातु मित्र ऋतुभिः कल्पमानः संवेशयन्पृथिवीमुस्रियाभिः ।
अथास्मभ्यं वरुणो वायुरग्निर्बृहद्राष्ट्रं संवेश्यं दधातु　　　॥ १ ॥
धाता रातिः सवितेदं जुषन्तामिन्द्रस्त्वष्टा प्रति हर्यन्तु मे वचः ।
हुवे देवीमदितिं शूरपुत्रां सजातानां मध्यमेष्ठा यथासानि　　　॥ २ ॥

अर्थ— (उस्रियाभिः पृथिवीं संवेशयन्) किरणोंसे पृथ्वीको संयुक्त करता हुआ (ऋतुभिः कल्पमानः मित्रः) ऋतुओंके साथ समर्थ होता हुआ (मित्रः) मित्र (आयातु) आवे (अथ) और (वरुणः वायुः अग्निः) वरुण वायु और अग्नि (अस्मभ्यं संवेश्यं बृहत् राष्ट्रं) हम सबके लिये उत्तम प्रकार रहने योग्य बडे राष्ट्रको (दधातु) धारण करें ॥ १ ॥

(धाता रातिः सविता) धारण कर्ता, दाता सविता (मे इदं वचः) मेरा यह वचन (जुषन्तां) प्रीतिसे सुनें और (इन्द्रः त्वष्टा) इन्द्र और त्वष्टा कारीगर (मे इदं वचः प्रति हर्यन्तु) मेरा यह वचन स्वीकार करें। (शूरपुत्रां देवीं अदितिं हुवे) शूरपुत्रोंवाली अदीन देवी माता को मैं बुलाता हूं (यथा सजातानां मध्यमे-स्थाः असानि) जिससे मैं स्वजातियोंमें मध्य-प्रमुख-स्थानपर रहनेवाला होऊं ॥२॥

भावार्थ—अपने किरणोंसे पृथ्वीको प्रकाशित करने वाला और ऋतुओं-के साथ सामर्थ्य बढानेवाला सूर्य, वरुण, वायु और अग्नि ये सब देव हमें ऐसा बडा विशाल राष्ट्र देवें कि जो हमारे रहने योग्य हो ॥ १ ॥

सबका धारणकर्ता, दाता सविता और इन्द्र तथा त्वष्टा ये मेरा वचन सुनें और मानें, तथा मैं शूर पुत्रोंकी माता देवी आदितिको भी कहता हूं कि इन सबका ऐसा सहाय्य मुझे प्राप्त हो कि जिससे मैं स्वजातियोंमें वि-शेष प्रमुख स्थानपर विराजमान होने की योग्यता प्राप्त कर सकूं ॥ २ ॥

हुवे सोमं सवितारं नमोभिर्विश्वानादित्याँ अहमुत्तरत्वे ।
अयमग्निर्दीदायद्दीर्घमेव सजातैरिद्धोऽप्रतिब्रुवद्भिः ॥ ३ ॥

इहेदसाथ न परो गमाथेर्यो गोपाः पुष्टपतिर्व आजत् ।
अस्मै कामायोप कामिनीर्विश्वे वो देवा उपसंयन्तु ॥ ४ ॥

अर्थ- (अहं सोमं सवितारं विश्वान् आदित्यान्) मैं सोम सविता और सब आदित्योंको (उत्तरत्वे) अधिक श्रेष्ठताकी प्राप्तिके लिये (नमोभिः हुवे) अनेक सत्कारोंके साथ बुलाता हूं। (अ-प्रति-ब्रुवद्भिः सजातैः इद्धः) विरुद्ध भाषण न करनेवाले स्वजातियोंके द्वारा प्रदीप्त किया हुआ (अयं अग्निः) यह अग्नि (दीर्घं एव दीदयत्) बहुत काल तक प्रकाशित रहे॥ ३ ॥

(इह इत असाथ) यहां ही रहो, (परः न गमाथ) दूर मत जाओ। (इर्यः गोपाः) अन्न युक्त गौका पालन करनेवाला (पुष्टपतिः वः आजत्) पोषण करता हुआ तुमको यहां लावे। (विश्वे देवाः) सब देव (अस्मै कामाय) इस कामनाकी पूर्तिकी (कामिनीः वः) इच्छा करनेवाली तुम प्रजाओंको (उप उप संयन्तु) एकता के विचारसे संयुक्त करें ॥ ४ ॥

भावार्थ— मैं नमन पूर्वक सोम सविता तथा सब आदित्योंको बुलाता हूं कि वे मुझे ऐसी सहायता दें कि मैं अधिक श्रेष्ठ योग्यता पा के योग्य होऊं। परस्पर विरोध न करनेवाले स्वजातीय लोगोंके द्वारा जो यह एक राष्ट्रीयताका अग्नि प्रदीप्त किया गया है वह बहुत देर तक हमारे लोगोंमें जलता रहे ॥ ३ ॥

तुम सब यहां एक विचारसे रहो, परस्पर विरोध करके एक दूसरे से दूर न हो जाओ। अन्न अपने पास रखनेवाला कृषक और गौओंका पालन करने वाला तुम्हारी पुष्टि करनेवाला वैश्य तुम को इकट्ठा करके यहां लावे। एक इच्छाकी पूर्तिके लिये प्रयत्न करनेवाली सब प्रजाओंको सब देव एकताके विचारसे संयुक्त करें ॥ ४ ॥

सं वो मनांसि सं व्रता समाकूतीर्नमामसि ।
अमी ये विव्रता स्थन तान्वः सं नमयामसि ॥ ५ ॥
अहं गृभ्णामि मनसा मनांसि मम चित्तमनु चित्तेभिरेत ।
मम वशेषु हृदयानि वः कृणोमि मम यातमनुवर्त्मान एत ॥ ६ ॥

अर्थ-(वः मनांसि सं)तुम्हारे मनोंको एक भावसे युक्त करो,(व्रता सं) तुम्हारे कर्मों को एक भावसे युक्त करो, (आकूतिः सं नमामसि) संकल्पोंको एक भावसे झुकाते हैं। (अमी ये विव्रताः स्थन) यह जो तुम परस्पर विरुद्ध कर्म करनेवाले हो (तान् वः सं नमयामसि) उन सब तुमको एक विचारमें हम झुकाते हैं ॥ ५ ॥

(अहं मनसा मनांसि गृभ्णामि) मैं अपने मनसे तुम्हारे मनोंको लेता हूं। (मम चित्तं चित्तेभिः अनु आ-इत) मेरे चित्तके अनुकूल अपने चित्तोंको बनाकर आओ। (मम वशेषु वः हृदयानि कृणोमि) मेरे वशमें तुम्हारे हृदयोंको मैं करता हूं। (मम यातं अनुवर्त्मानः आ-इत) मेरे चालचलनके अनुकूल चलनेवाले होकर यहां आओ ॥ ६ ॥

भावार्थ- तुम्हारे मन एक करो, तुम्हारे कर्म एकताके लिये हों, तुम्हारे सङ्कल्प एक हों जिससे तुम सङ्घशक्तिसे युक्त हो जाओगे। जो ये आपसमें विरोध करनेवाले हैं उन सबको हम एक विचारसे एकत्र झुकादेते हैं ॥५॥

सबसे प्रथम मैं अपने मनसे तुम्हारे मनोंको आकर्षित करता हूं मेरे चित्तके अनुकूल तुम अपने चित्तोंको बनाकर यहां आओ। मैं अपने वशमें तुम्हारे हृदयोंको करता हूं। मैं जिस मार्गसे जाता हूं उस मार्गपर चलते हुए तुम मेरे पीछे पीछे चले आओ ॥ ६ ॥

अधिक उच्चता ।

मनुष्यके अंदर अधिक उच्चताकी प्राप्ति करनेकी इच्छा स्वभावतः रहती है। कोई भी मनुष्य मनसे यह नहीं चाहता कि अपनी उन्नति न हो। हरएक मनुष्य जन्मतः उन्नति ही चाहता है इसविषयमें तृतीय मंत्रका कथन विचारणीय है—

हुवे सोमं सवितारं नमोभिः
विश्वानादित्याँ अहमुत्तरत्त्वे ॥ (मं० ३)

"सोम सविता और सब आदित्योंको उच्च होनेकी स्पर्धामें सहायताके लिये बुलाता हूं।" अर्थात् मैं देवताओंसे ऐसी सहायता चाहता हूं कि जिससे मैं दिव्य मार्गसे उन्नतिको प्राप्त कर सकूं।

"उत्, उत्तर" ये शब्द एकसे एक बढ कर अवस्थाके द्योतक हैं। साधारण अवस्थासे "उत्" अवस्था बढकर और उस से "उत्तर" अवस्था अधिक श्रेष्ठ होती है। मनुष्य सदा "उत्तरत्व" की प्राप्तिका प्रयत्न करे यह तृतीय मंत्रकी सूचना है अर्थात् मनुष्य अपने से उच्च अवस्थामें चढनेका यत्न तो अवश्य ही करे परंतु उससे भी एक सीढी ऊपर होनेका ध्येय अपने सन्मुख रखे। "उत्-तर-त्व" शब्दमें यह सब अर्थ है जो पाठकोंको अवश्य देखना चाहिये।

यह अधिक उच्च अवस्था देवमार्गसे ही प्राप्त करना चाहिये। " श्रेय और प्रेय " अथवा "दैव और आसुर" ऐसे मार्ग मनुष्यके सन्मुख आते हैं, उनमेंसे श्रेय अर्थात् दैव मार्गका अवलंबन करनेसे मनुष्यका कल्याण होता है और दूसरे मार्गपरसे चलनेसे मनुष्यकी हानि हो जाती है। आसुर मार्गको दूर करनेके लिये और श्रेय मार्गपर जानेकी प्रेरणा करनेके लिये ही इस मंत्रमें " देवताओंकी नम्रतापूर्वक प्रार्थना " करनेकी सूचना दी है। देवताओंकी नम्रतापूर्वक प्रार्थना करनेवाला मनुष्य सहसा निकृष्ट मार्गपर अपना पांव नहीं रख सकता। देवताओंकी सहायताकी प्रार्थना करना इस प्रकार मनुष्यत्वके विकासका हेतु है। एक वार इस दैवी मार्गपर अपना पांव रखनेके बाद भी कई मनुष्य आसुरी लालसाओंमें फंस जाते हैं। इस प्रकार की गिरावट से बचानेके हेतु चतुर्थ मंत्र कहता है कि—

इह इत् असाथ, न परो गमाथ। (मं ४)

" इसी दैवी मार्गपर रहो, इसको छोडकर अन्य मार्गसे न जाओ।" यह सावधानीकी सूचना विशेष ध्यान देने योग्य है। कई वार ऐसा देखा गया है कि मनुष्य आत्मोन्नतिके पथसे उन्नत होता चला जाता है और फिर एकदम गिरता है। ऐसा न होवे इस लिये इस चतुर्थ मंत्रने यह सूचना दी है। यदि पाठक इस सूचना को ध्यानमें धारण करेंगे तो निःसंदेह इससे उनका बचाव हो सकता है।

उन्नतिका मार्ग ।

मनुष्यकी उन्नतिके लिये, मनुष्य सामाजिक प्राणी होनेके कारण, उसको सांघिक जीवनमें रहना आवश्यक है । यह अलग अलग रह कर उन्नत हो नहीं सकता । वैय-क्तिक जीवनके लिये इतने स्वार्थत्याग की आवश्यकता नहीं है जितनी कि सामुदायिक जीवनके लिये आवश्यकता है। इस कारण सामुदायिक जीवन व्यतीत करनेवाले मनुष्यों के लिये उचित है कि वे अपना व्यवहार ऐसा करें कि जिससे समाजमें परस्पर विरोध पैदा न हो, इस विषयमें पंचम मंत्रका उपदेश देखिये—

वः मनांसि सं, वः व्रतानि सं, वः आकूतीः सम्। (मं० ५)

" तुम्हारे मन, तुम्हारे कर्म और तुम्हारे संकल्प सम्यक् रीतिसे एकताको बढाने वाले हों । " इस मंत्रमें जो " सं " उपसर्ग है वह " उत्तमता और एकता " का द्योतक है । मनुष्योंके संकल्प, उनके मानासिक विचार और सब प्रकारके कर्म ऐसे हों कि जो एकताकी तथा उत्तमताकी वृद्धि करनेवाले हों । कई लोग बाहरसे कोई बुरा कार्य करेंगे नहीं, परंतु मनसे ऐसे बुरे विचार और बुरे संकल्प करेंगे, कि जिनका परिणाम आपसमें फिसाद मचानेका हेतु बने ! ऐसा नहीं होना चाहिये । संकल्प विचार और कर्म सभी सदा शुभ होने चाहियें और कभी वैरका भाव उसमें नहीं आना चाहिये । यदि अपने समाजमें कोई इसके विरुद्ध वर्ताव करने वाला हो तो उसको भी समझाकर सन्मार्गपर लाना चाहिये, इस विषयमें पञ्चम मन्त्रका उत्तरार्ध देखने योग्य है—

अमी ये विव्रता स्थन तान्वः सं नमयामसि ॥ (मं० ५)

" ये जो विरुद्ध आचरण करनेवाले हैं उनको भी एकता के मार्ग पर हम झुकादेते हैं । " इस प्रकार विरोधी लोगोंको भी समझाकर एकताके मार्ग पर लाना चाहिये । समाजके शासन का ऐसा प्रबंध होना चाहिये कि जिसमें रहनेवाले लोग विरुद्ध मार्ग पर चल ही न सकें । सज्जन तो सदा शुभ मार्ग पर से चलेंगे ही, परंतु दुर्जन भी विरोधके मार्गपर जाना छोड दें और शुभ मार्गपर चलनेमें ही अपना लाभ है इस बातको अच्छी प्रकार समझ जांय । इस प्रकार सब जनताको एकताके मार्गपर लानेसे और समाजसे दुर्वर्तन करनेवाले मनुष्योंको दूर कर देनेसे अथवा उनको सुधारने से जनताकी उन्नातिका मार्ग सीधा हो सकता है ।

सुधारका प्रारंभ।

हमेशा यह बात ध्यानमें धारण करना चाहिये कि सुधार का प्रारंभ अपने अंतः-करण के सुधारसे होता है। जो लोग अपने अन्तःकरण के सुधार करने के विनाही दूसरोंके सुधार करनेके कार्यमें लगते हैं, वे न तो उस कार्यको निभा सकते हैं और न स्वयं उन्नत हो सकते हैं। इस लिये वेदने इस सूक्तके छठे मंत्रमें अपने सुधारसे जगत् का सुधार करनेका उपदेश किया है, वह अवश्य देखिये—

अहं मनसा मनांसि गृभ्णामि।
मम वशेषु वः हृदयानि कृणोमि। (मं० ६)

"मैं अपने मनसे अन्य लोगोंके मन आकर्षित करता हूं। इस प्रकार मैं अपने वशमें अन्योंके हृदयोंको करता हूं।"

इस मंत्रमें "अपने शुभाचरणसे अन्योंके दिलोंको आकर्षित करनेका उपदेश" हर एक को ध्यानमें रखने योग्य है। पाठक ही विचार करें और अपने चारों ओर देखें कि कौन दूसरों के मनोंको आकर्षित कर सकता है? क्या कभी कोई दुराचारी अशुभ संकल्प वाला मनुष्य जनताके मनोंको आकर्षित कर सकता है? ऐसी बात कभी नहीं होती। सत्पुरुष और शुभ संकल्पवाले पुण्यात्माही जनताके मनोंको आकर्षित कर सकते हैं। जीवित अवस्थामें ही नहीं प्रत्युत मरनेके पश्चात् भी उनके सद्भावप्रेरित शब्द जनता के मनोंका आकर्षण करते रहते हैं। यह उनमें सामर्थ्य उनके शुभ और सत्य संकल्पोंके कारण ही उत्पन्न होता है। ऐसे पुरुष जो बोलते हैं वैसा जनता करती है, यह उनकी तपस्याका फल है। हरएक मनुष्यको यह सामर्थ्य प्राप्त करनेका यत्न करना चाहिये। अपने संकल्पोंकी पवित्रता करनेसे ही यह बात सिद्ध हो जाती है। जो अपनी पवित्रता जितनी करेगा उतनी सिद्धि उसको प्राप्त होगी। इसके पश्चात् वह पुण्यात्मा कह सकेगा कि—

मम चित्तं चित्तेभिः अनु एत।
मम यातं अनु वर्त्मान एत॥ (मं० ६)

"मेरे चित्तके अनुकूल अपने चित्तोंको बनाओ, मेरे अनुकूल चलते हुए मेरे मार्गसे चलो।"

वस्तुतः जो पुण्यात्मा सत्य मार्गपर चलके अपने शुभ मंगल संकल्पोंसे जनताके मनोंको आकर्षित करते हैं उनके लिये यह सिद्धि अनायासही प्राप्त होती है। अर्थात्

उनके कहने के विना ही अन्य लोग उनके अनुकूल अपने चित्तोंको करते हैं और उनके मार्गसे ही चलनेका यत्न करते हैं। यह स्वयं होता रहता है। परंतु जनताको 'अपने मार्गसे चलो' ऐसा कहनेका यदि किसीको अधिकार होगा तो ऐसे पुण्यात्माओंको ही होता है, यह बात यहां कही है। इस प्रकार अपना सुधार करनेवाले पुण्यात्मा जनताके मार्ग दर्शक होते हैं। जगत्का सुधार करनेका सच्चा मार्ग इस प्रकार आत्म सुधारमें ही है। इस लिये जो प्रयत्न अयोग्य पुरुष जनताके सुधारके लिये करते हैं, उतना प्रयत्न यदि वे आत्म सुधारके लिये करेंगे तो अधिक भला हो सकता है। जो शक्ति आती है वह आत्मसुधार करनेके कारण ही आती है। आत्मसुधार करनेके मार्गके विना सच्चे सुधारका कोई मार्ग नहीं है। जब इस मार्गसे शक्ति की वृद्धि होती है और जब वह अपने मनसे दूसरोंके मनोंको आकर्षित कर सकता है, तभी उसको जनताको 'अपने पीछे चलो' ऐसा कहनेका अधिकार आता है। वह कहता है कि--

"मेरे मार्ग से मेरे साथ साथ चलो। मेरे चित्तके अनुकूल अपने चित्तोंको बना कर चलो (मं० ६)।" अर्थात् जिस मार्गसे मैं जाता हूं उसी मार्गसे तुम आओ। इसी मार्गसे चलनेपर तुम्हारा भला होगा। इस प्रकार इस अवस्थामें यह मनुष्य जनता का मार्ग दर्शक होता है। उसका आचरण और उसका जीवन अन्य जनोंके लिये मार्ग दर्शक अर्थात् आदर्श होता है।

संवेश्य राष्ट्र।

उक्त प्रकारके मार्ग दर्शक आदर्श जीवनवाले धर्मात्मा और पुण्यात्मा जिस राष्ट्रमें अधिक होते हैं और जहांके लोग उनके अनुकूल अपने आचरण बनाकर चलते हैं, उस राष्ट्रको "संवेश्य राष्ट्र" कहते हैं, क्यों कि उसमें (संवेशन) प्रवेश करके वहां रहने योग्य वह राष्ट्र होता है। मनुष्य वहां जांय और रहें और आनंद प्राप्त करें। इस प्रकारका राष्ट्र हमें देवताओंकी कृपासे प्राप्त हो यह प्रथम मंत्रमें प्रार्थना है, देखिये—

अस्मभ्यं० बृहद्राष्ट्रं संवेश्यं दधातु। (मं० १)

"हम सब के लिये देव प्रवेश करने योग्य बडा राष्ट्र देवें।" अर्थात् देवोंकी कृपासे हमें ऐसा उत्तम आदर्शराष्ट्र प्राप्त होवे अथवा हमारा राष्ट्र वैसा ही बने। इस प्रकारके राष्ट्रमें "मैं प्रमुख बनूंगा" यह महत्त्वाकांक्षा जनताके अंतःकरणमें रहेगी, क्योंकि इसमें किसी कारण भी किसीके साथ पक्षपात नहीं होगा इसका सूचक वाक्य द्वितीय मंत्रमें है—

यथा सजातानां मध्यमेष्ठा असानि। (मं० २)

" स्वजातियोंकी सभामें मुख्य स्थानमें बैठनेके योग्य मैं होऊंगा। " यह इच्छा ऐसे राष्ट्रके लोगोंके अंतःकरणमें रहेगी, इस विषयमें विशेष कहनेकी आवश्यकता नहीं है। जो पूर्वोक्त आत्मसुधारके मार्गसे अपनी शक्तिका विकास करेंगे वे उक्त स्थानमें जा कर विराजेंगे, अन्य लोग अपनी अपनी योग्यताके अनुसार अपने योग्य स्थानमें अपना कर्तव्य करेंगे। परंतु किसीको भी उन्नतिके मार्गमें प्रतिबंध नहीं होगा। सब लोग अपने पुरुषार्थसे अपनी उन्नतिका साधन करेंगे और सब मिलकर अपने राष्ट्रको उन्नतिके शिखरपर ले जांयगे। इस विषयमें एक प्रकारकी सात्विक स्पर्धा ही होती है जिसको तृतीय मंत्रने " उत्तरत्व की स्पर्धा " कहा है। इस स्पर्धामें परस्पर का घात नहीं होता प्रत्युत परस्परकी उन्नति होती है। सब जनताके मनुष्य एक भावसे इस राष्ट्रोन्नतिका अग्नि प्रदीप्त करते हैं और उसमें अपने अपने कर्मोंकी आहुतियां डालते हैं, इस विषयमें तृतीय मंत्रका उत्तरार्ध देखिये—

राष्ट्रीय अग्नि।

अयमग्निर्दीदायद्दीर्घमेव सजातैरिद्धोऽप्रतिब्रुवद्भिः। (मं० ३)

" (अ-प्रति-ब्रुवद्भिः) आपसमें विरोधका भाषण न करनेवाले (स-जातैः) स्वजातियों के द्वारा प्रदीप्त किया हुआ यह एकराष्ट्रीयताका अग्नि बहुत दीर्घ कालतक प्रदीप्त स्थितिमें रहे। " अर्थात् यह बीचमें अथवा अल्पकालमें ही न बुझ जावे। क्यों कि इसी अग्नि की गर्मीसे सब राष्ट्रीय मनोरथ सफल और सुफल होते रहते हैं। इसलिये यह राष्ट्रीय अग्नि सदा प्रदीप्त रहना चाहिये। यह अग्नि वे ही मनुष्य प्रज्वलित रख सकते हैं कि जो (अ-प्रति-ब्रुवत्) आपसमें विरोधके शब्द नहीं बोलते, आपसमें झगडा नहीं करते, आपसमें द्वेष नहीं बढाते; प्रत्युत आपसमें मेल मिलाप करने की ही भाषा बोलते हैं। ऐसे सज्जन ही राष्ट्रोन्नतिके महान् अग्निका चयन करते हैं।

इस सूक्तमें " सजात " शब्द आया है और यह शब्द वेदमंत्रोंमें अनेक वार आया है। " सजातीय, समान जातीय, स्वजातीय " इत्यादि अर्थमें यह शब्द प्रयुक्त होता है। जिनमें जातिभेदकी भिन्नता नहीं है ऐसे एक जातिवाले, एक राष्ट्रीयतावाले लोग, यह अर्थ इस शब्दका है। जातीभेदके कारण एकदूसरेसे लडनेवाले लोग " सजात " नहीं कहलायेंगे। एक राष्ट्रके लोग परस्पर " सजात " ही होते हैं, परंतु उनमें राष्ट्रीयताकी

भावना प्रबल रहनी चाहिये और छोटी जात पातकी भावना गौण होनी चाहिये । ऐसे लोग जब आपसमें एकताके प्रेमसे कोई कार्य करते हैं तब उनमें एक विलक्षण शक्ति उत्पन्न होती है, वही अग्नि शब्दद्वारा तृतीय मंत्रमें कही है । यही राष्ट्रभक्तिका अग्नि है जो कि संपूर्ण राष्ट्रकी उन्नतिमें सहायक होता है ।

राष्ट्रका पोषक ।

इस प्रकारके राष्ट्रके सच्चे पोषक दोही लोग होते हैं, उनका वर्णन चतुर्थ मंत्र द्वारा हुआ है—

इर्यो गोपा पुष्टपतिर्व आजत् । (मं० ४)

" (इर्यः) अन्नका उत्पन्न करनेवाला और (गो-पा) गौओंकी रक्षा करनेवाला ये दो आप लोगोंकी पुष्टि करनेवाले हैं । " यह मंत्रभाग बहुत मनन करने योग्य है । अन्नकी उत्पत्ति करनेवाला किसान और गौओंकी रक्षा करनेवाला गवालिया ये दो वर्ग राष्ट्रकी पुष्टि के लिये आवश्यक हैं । राष्ट्रकी बुनियाद ठीक करनेका कार्य ये लोग करते हैं, इसलिये राज्यशासनमें इनकी स्थिति अच्छी करनेका विशेष प्रबंध होना अत्यंत आवश्यक है । यदि अन्न उत्पन्न करनेवाले किसान और गोरक्षक ये दो वर्ग राष्ट्रमें अवनत हुए तो राष्ट्रकी कदापि पुष्टि नहीं हो सकती । पाठक इस दृष्टिसे इनका महत्त्व जानें और यह उपदेश इस प्रसंगमें देनेमें वेदने कितनी महत्त्व पूर्ण बात कही है यह भी स्मरण रखें ।

शूरपुत्रोंवाली माता ।

राष्ट्रकी बुनियाद " संतान " है । पुत्र और पुत्रियां ही राष्ट्रका भावी उत्कर्ष या अपकर्ष करनेवाली होती हैं । इनकी सच्ची शिक्षा माताके द्वारा होती है । माता अपने बालबच्चोंको किस प्रकार शिक्षा देवे इसकी सूचना द्वितीय मंत्र में दी है । इस विषय के सूचक शब्द ये हैं—

शूरपुत्रां अदितिं देवीं हुवे । (मं० २)

" शूर पुत्रोंकी अदीना देवी माताको मैं बुलाता हूं । " अथवा उनकी मैं प्रशंसा करता हूं । यहांका "अ-दिति" शब्द "अदीन, प्रतिबंधमें न रहनेवाली, राष्ट्रके स्वाधीनताके विचार रखनेवाली" इत्यादि भाव रखता है । "शूरपुत्रा" शब्दका भाव स्पष्ट है ।

राष्ट्रमें देवियां ऐसी हों जिनको अदीन और वीरपुत्रा कहा जावे। "वीरसूर्भव" अर्थात् वीर पुत्र उत्पन्न कर यह वैदिक आशीर्वाद सुप्रसिद्ध है। वही बात अन्य रीतिसे यहां बताई है।

राष्ट्रीय शिक्षा।

इस प्रकार की वीरमाताएं जहां होंगी वहां ही राष्ट्रीयताके भाव परम उत्कर्षतक पंहुंच सकते हैं। देवियोंको, बहिनोंको और पुत्रियोंको किस ढंगसे शिक्षा देना चाहिये इसका विचार भी यहां निश्चित हो जाता है। जिस शिक्षासे माताएं वीरपुत्र उत्पन्न करनेवाली हों ऐसी शिक्षा उनको देनी चाहिये।

दैवी सहायता।

उक्त राष्ट्रीयताके विचारोंकी पूर्णता होकर संपूर्ण जनता इस रीतिसे समर्थ राष्ट्र शक्तिसे युक्त होवे, इस विषयमें चतुर्थ मंत्र देखिये—

अस्मै कामायोप कामिनीर्विश्वे वो देवा उपसंयन्तु॥ (मं० ४)

"सब देव इस कामनाकी पूर्त्तिकी इच्छा करनेवाली तुम सब प्रजाओंको एकताके विचारसे युक्त करें।" अर्थात् तुम सब लोगोंमें एकताका विचार बढ जावे। यह एक प्रकारसे पूर्ण और उच्च आशीर्वाद है। जो पाठक परमेश्वर भक्तिपूर्वक राष्ट्रोन्नतिके लिये प्रयत्न शील होंगे वे ही इस आशीर्वादको प्राप्त करनेके अधिकारी हो सकते हैं।

आध्यात्मिक, आधिभौतिक और आधिदैविक।

इस सूक्तके अन्य मंत्रभागमें "मित्र वरुणादि देवोंकी सहायता हमें राष्ट्रशक्ति बढानेके कार्यमें प्राप्त हो" यह आशय है। यह आशय आध्यात्मिक, आधिभौतिक और आधिदैविक कार्यक्षेत्रमें देखकर अर्थबोध लेनेकी रीति इससे पूर्व कई प्रसंगोंमें वर्णन की है। (विशेषकर काण्ड १ सू० ३०, ३१ के विवरण देखिये) इस लिये उसका यहां पुनः विचार करनेकी आवश्यकता नहीं है। उक्त दृष्टिसे पाठक इस सूक्तका अधिक विचार करें और बोध प्राप्त करें।

क्लेश-प्रतिबन्धक उपाय।

[९]

(ऋषिः- वामदेवः। देवता- द्यावापृथिवी, विश्वेदेवाः)

कर्शफस्य विशफस्य द्यौः पिता पृथिवी माता।
यथाभिचक्र देवास्तथाप कृणुता पुनः ॥ १ ॥
अश्रेष्माणो अधारयन्तथा तन्मनुना कृतम्।
कृणोमि वध्रि विष्कन्धं मुष्काबर्हो गवामिव ॥ २ ॥

अर्थ— (कर्श+फस्य=कृशस्य) कृश अथवा निर्बल की अथवा उसी प्रकार (विश+फस्य) प्रबल की भी (माता पृथिवी) माता पृथ्वी है और उनका (पिता द्यौः) पिता द्युलोक है। हे (देवाः) देवो ! (यथा अभिचक्र) जैसा पराक्रम किया था (तथा पुनः अपकृणुत) उसी प्रकार फिर शत्रुओंका प्रतिकार करो ॥ १ ॥

जैसे (अ-श्रेष्माणः अधारयन्) न थकने वाले ही किसी का धारण करते रहते हैं (तथा तत् मनुना कृतम्) उसी प्रकार वह कार्य मनन शील ने भी किया होता है। (मुष्काबर्हः गवां इव) जैसा अण्डकोश तोडने वाला मनुष्य बैलोंको निर्बल कर देता है उसी प्रकार मैं (वि-स्कन्धं वध्रि कृणोमि) रोगादि विघ्नको निर्बल करता हूं ॥ २ ॥

भावार्थ— बलवान् और निर्बल इन दोनोंके माता पिता भूमि और द्युलोक हैं। अर्थात् ये दोनों प्रकारके लोग आपसमें भाई हैं। देवता लोग पराक्रम करके शत्रुका पराभव करते हैं शत्रुको हटादेते हैं और निर्बलों का संरक्षण करते हैं ॥ १ ॥

न थकते हुए परिश्रम करनेवाले ही विशेष कार्य करनेमें समर्थ होते हैं। मननशील मनुष्य भी वैसाही पुरुषार्थ करते हैं। मैं भी उसी प्रकार शत्रुको तथा विघ्नोंको निर्बल करता हूं; जिस प्रकार अण्डकोश तोडनेवाले बैलका अण्डकोश तोडकर उसको निर्वीर्य कर देते हैं ॥ २ ॥

पिशङ्गे सूत्रे खृगलं तदा बंध्नन्ति वेधसः ।
श्रवस्युं शुष्मं काबवं वध्रिं कृण्वन्तु बन्धुरः ॥ ३ ॥
येना श्रवस्यवश्चरथ देवा इवासुरमायया ।
शुनां कपिरिव दूषणो बन्धुरा काबवस्य च ॥ ४ ॥
दुष्ट्यै हि त्वा भत्स्यामि दूषयिष्यामि काबवम् ।
उदाशवो रथा इव शपथेभिः सरिष्यथ ॥ ५ ॥

अर्थ--(वेधसः) ज्ञानी लोग (पिशङ्गे सूत्रे) भूरे रंगवाले सूत्रमें (तत खृगलं आबध्नन्ति) उस मणिको बांधते हैं । (बंधुरः) बंधन करनेवाले (श्रवस्युं शुष्मं काबवं) प्रसिद्ध प्रबल शोषक रोगको (वध्रिं कृण्वन्तु) निर्बल करें ॥ ३ ॥

हे (श्रवस्यवः) यशस्वी पुरुषो ! (येन) जिससे (असुरमायया देवाः इव चरथ) जीवन दाताकी कुशलतासे युक्त देवोंके समान आचरण करते हो तथा (कपिः शुनां दूषणः इव) बंदर जैसा कुत्तोंको तुच्छ मानता है वैसे (बन्धुरा काबवस्य च) बंधन करनेवाले रोगका अथवा दुःखका प्रतिबंध करते हैं ॥ ४ ॥

(दुष्ट्यै हि त्वा भत्स्यामि) दुष्टताके हटानेके लिये मैं तुझे बांधूंगा । और (काबवं दूषयिष्यामि) विघ्नको निर्बल बना दूंगा । (आशवः रथाः इव) शीघ्र चलने वाले रथों के समान तुम (शपथेभिः उत सरिष्यथ) शापोंके बंधनसे दूर हो जाओगे ॥ ५ ॥

भावार्थ- भूरे रंगके सूत्रसे ज्ञानी लोग मणिको बांधते हैं जिससे प्रसिद्ध शोषक रोगको निर्वीर्य बना देते हैं ॥ ३ ॥

यशस्वी पुरुष जीवनके दैवी मार्गसे जाते हैं और मृत्युको दूर करते हैं, बंदर वृक्षपर रहता हुआ कुत्तोंको तुच्छ मानता है, इसी प्रकार रोग प्रतिबंधकी विद्या जाननेवाले रोगको दूर करते हैं ॥ ४ ॥

दुष्ट स्थितिको दूर करनेके लिये योग्य प्रतिबंध करना चाहिये, उसी प्रकार रोगादि विघ्नोंको निर्बल करना चाहिये । जैसे वेगवाले रथसे मनुष्य पहुंचनेके स्थानपर शीघ्र पहुंच जाता है, उसी प्रकार उक्त मार्गसे मनुष्य दुष्ट अवस्थासे मुक्त हो जाता है ॥ ५ ॥

एकंशतं विष्कन्धानि विष्ठिता पृथिवीमनु ।
तेषां त्वामग्र उज्जंहरुर्मणिं विष्कन्धदूषणम् ॥ ६ ॥

अर्थ- (एकशतं विष्कन्धानि) एक सौ एक विघ्न (पृथिवीं अनु विष्ठिता) पृथ्वीपर रहे हैं। (तेषां अग्रे) उनके सामने (विष्कन्धदूषणं त्वां मणिं) कष्ट नाशक तुझ मणि को (उत् जहरुः) ऊंचा उठाया है। सबसे बढकर माना है ॥ ६ ॥

भावार्थ- पृथ्वीपर सैंकडों विघ्न और दुःख हैं। उनके प्रतिबंधक उपायों में दुःखप्रतिबंधक मणि विशेष प्रभाव शाली है जिसको धारण किया जाता है ॥ ६ ॥

यह सूक्त समझनेके लिये बडा कठिन और अत्यंत दुर्बोध है। इस सूक्तके "कर्शफ, विशफ, खृगल, काबव," ये शब्द अत्यंत दुर्बोध हैं और बहुत प्रयत्न करनेपर भी इन शब्दोंका समाधान कारक अर्थ इस समयतक पता नहीं लगा। जो पाठक वेदके अर्थकी खोज कर रहे हैं वे इस विषयकी खोज अवश्य करें।

सबके माता पिता।

प्रथम मंत्रके प्रथमार्धमें एक महत्त्व पूर्ण बात कही है वह सबके बंधुभाव की बात है।

कर्शफस्य विशफस्य द्यौः पिता पृथिवी माता। (मं० १)

जगत् में दो प्रकारके मनुष्य हैं, एक (कर्श+फ=कृश) अशक्त बलहीन अथवा जगत्की स्पर्धामें (कर्+शफ) बुरे खुरवाले अर्थात् जो अपना बचाव कर नहीं सकते; और दूसरे (विश+फ) अपने आपका प्रवेश दूर दूर तक कर सकते हैं और दूसरोंका पराजय करके अपना अधिकार दूसरोंपर जमा देते हैं। इसी शब्दका दूसरा अर्थ यह है कि (वि+शफ) विशेष खुर वाले अर्थात् जो पशु दूसरोंको लाथें मारनेमें समर्थ होते हैं। "विशफ" के दोनों अर्थोंमें समान भाव यह है कि "पाशवी शक्तिसे युक्त।"

विश्वबन्धुत्व।

जगत्में ये दो प्रकारके लोग हैं एक (वि+शफ) पाशवी शक्तिसे युक्त और दूसरे (कर्शफ) पाशवी शक्तिसे हीन। सदा ही ऐसा देखाजाता है कि पाशवी शक्तिसे बली बने हुए लोक निर्बल लोगोंको दबाते रहते हैं। इसकारण सामाजिक, राजकीय और

धार्मिक विषमता बढ जाती है और उसी प्रमाणसे जनताके क्लेश बढते जाते हैं। इन क्लेशोंके निवारण का एक मात्र उपाय यह है कि " सब लोग परस्पर भाई हैं और एक परम पिता और एक परम माताकी संतानें हैं," इस उच्च भावको जाग्रत करना। यदि निर्बल और सबल दोनों मानेंगे कि 'हम सबका परम पिता और परम माता एकही है, इसलिये हम सब मनुष्य आपस में भाई भाई हैं' तो पश्चात् एक दूसरेसे झगडा करनेका कारण ही नहीं रहेगा। क्यों कि जो झगडा होता है वह परकीयताके भावसे होता है, वह परकीय भाव इस प्रकार हटगया तो झगडाही नहीं रहेगा। सामाजिक, राजकीय और धार्मिक झगडे हटानेका पहला उपाय वेदने यह बताया है।

मातृभूमिको अपनी माता मानना और सूर्य, द्युलोक अथवा प्रकाशमय देवको अपना पिता समझना, यह झगडा मिटानेके लिये उत्तम उपाय है। मातृभूमिकी भक्ति यदि जनताके मनमें जाग्रत होगई तो उन सबकी एकता होनेमें विलंब नहीं लगेगा। मातृ-भूमिकी भक्तिही ऐसी एक वस्तु है कि जो राष्ट्रीय एकता को विकसित कर देती है और सबमें अद्भुत सामर्थ्य उत्पन्न कर देती है। मातृभूमिकी भक्तिमें विशेषतः स्वदेशप्रेमही आता है परन्तु भूमिमाताका विस्तृत अर्थ लेनेपर विश्वबंधुत्वकी कल्पना भी आती है।

पराक्रम।

मातृभूमिका हित करनेका उद्देश्य अपने सन्मुख रखकर, उस संबंधसे उत्पन्न होनेवाले अपने कर्तव्य करनेके लिये और उस उच्च कार्यके लिये आवश्यक त्याग करनेके लिये मनुष्योंको सिद्ध रहना चाहिये। जिस प्रकार देवासुर युद्धमें देव असुरोंको हटानेके कार्यमें बडा पराक्रम करते हैं, असुरोंपर आक्रमण करते हुए उनको हटादेते हैं, उसी प्रकार शत्रुओंको हटानेके कार्यमें बडा पुरुषार्थ करना चाहिये। शत्रुका पराभव करना और उनको दूर करना ये दो बातें इस पुरुषार्थमें मुख्य हैं—

यथाऽभिचक्र देवास्तथाऽप कृणुता पुनः ॥ (मं० १)

" जैसा (अभिचक्र) शत्रुपर हमला करना चाहिये वैसा ही (अपकृणुत) उनको दूर करना चाहिये " हमला करके शत्रुका पराभव करना चाहिये और उनको अपने स्थानसे परे भी हटाना चाहिये। इतना सब करके अशक्तोंका रक्षण करना चाहिये।

यह सब होनेके लिये, सब लोगोंका बंधुत्त्व व परमात्मा को सबका माता पिता मानना, इन दो बातोंकी आवश्यकता है। पाठक इस अतिश्रेष्ठ उपदेश का अच्छी प्रकार मनन करें।

परिश्रमसे सिद्धि ।

परिश्रम करनेके विना कुछभी सिद्धि प्राप्त नहीं होती है । जो सिद्धि होती है वह प्रयत्नसे साध्य होती है । जो भी विजयी लोग हुए हैं वे थकावटसे ग्रस्त नहीं होते थे । वे परिश्रम करनेके लिये डरते नहीं थे, इसी लिये उनमें धारक शक्ति उत्पन्न हुई और वे जातियों समाजों और राष्ट्रोंका धारण कर सके । इसीलिये मंत्रमें कहा है—

अश्रेष्माणो अधारयन्
तथा तन्मनुना कृतम् । (मं० २)

" जो परिश्रम करनेसे नहीं थकते वेही धारण करते हैं । मननशील ने भी वैसाही कर लिया था । " परिश्रम करनेके विना धारक शक्ति नहीं आसकती । और जो मनन शील लोग हैं वे भी अपनी मनन शक्तिसे इसी परिणाम तक पहुंचे हैं । प्रयत्न शीलताही मनुष्य मात्रका उद्धार करनेवाली है । इस लिये हरएक मनुष्यको प्रयत्न शीलताका महत्त्व जान कर पुरुषार्थ प्रयत्नसे अपना उद्धार करना चाहिये और अपने राष्ट्रका भी अभ्युदय साधन करना चाहिये ।

परिश्रमी पुरुष अपने प्रयत्नसे सब विघ्न दूर कर सकता है, उसके लिये सबही अवस्थाएं प्रयत्न साध्य होती हैं, उसके लिये अशक्य और अप्राप्य ऐसा कोई स्थान नहीं होता है वह निश्चय पूर्वक कहता है कि—

कृणोमि वध्रि विष्कन्धं मुष्काबर्हो गवामिव । (मं० २)

" मैं निश्चयसे विघ्नको निर्बल करता हूं जिस प्रकार अण्डकोशको तोडनेवाले लोग बैलोंको निश्चयसे निर्वीर्य करते हैं । " पुरुषार्थ प्रयत्नसे सब विघ्न, सब प्रतिबंध, सब आधिव्याधियोंके कष्ट दूर हो सकते हैं । पुरुषार्थ प्रयत्न के सन्मुख ये विघ्न ठहर ही नहीं सकते ।

यहां बैलोंके अण्डकोश तोडकर उनको प्रजननके कार्य के लिये असमर्थ बनानेकी विद्याकी सूचना है । खेतीके लिये इसी प्रकारके बैलोंका उपयोग होता है ।

असुर-माया ।

" असुरमाया " का विषय चतुर्थ मंत्रमें आया है । " माया " शब्दका अर्थ " कौशल्य, हुनर, कला, प्रवीणताका कर्म " है । " असुर " शब्दका अर्थ " (अ-सुर) दैत्य अथवा (असु-र) जीवन की विद्या जानने वाले और उस विद्याका प्रकाश करनेवाले "

है। इसलिये " असुर-माया " का अर्थ " असुरोंके पासका कलाकौशल, हुनर अथवा जीवनके साधन प्राप्त करनेकी विद्या " है। यह असुर माया अपनी अपनी ढंगकी देवोंके पासभी रहती है और दैत्योंके पासभी होती है। देव सम्पूर्ण प्रकारकी यह विद्या प्राप्त करते हैं और अपनी उन्नति सिद्ध करते हैं और श्रेष्ठत्व प्राप्त करते हैं, इस विषयमें कहा है—

असुरमायया देवा इव अवस्यवः चरथ। (मं० ४)

"इस जीवन की विद्यासे जैसे देव चलते हैं, वैसे तुमभी यशस्वी और प्रशंसित होकर चलो।" देव जैसे इस जीवन विद्यासे यशस्वी होते हैं वैसे ही तुम भी होओ। यह चतुर्थ मंत्रका कथन मनुष्योंको पुरुषार्थके मार्गपर चलानेके लिये ही है। जो मनुष्य इस मार्गसे चलेंगे, वे देवोंके समान पूजनीय होंगे और यशके भी भागी बनेंगे।

सैंकडों विघ्न।

इस पृथ्वीपर विघ्न तो सैंकडों हैं, व्यक्ति, समाज, जाती और राष्ट्र की उन्नतिमें सैंकडों किसके विघ्न होते हैं। जो भी पुरुषार्थ करनेका कार्य चला हो, उसमें विघ्न तो अवश्यही होंगे, परंतु उनसे डरना नहीं चाहिये। इन विघ्नोंके विषयमें कहा है।

एकशतं विष्कन्धानि विष्ठिता पृथिवीमनु। (मं० ६)

" सैंकडों विघ्न पृथ्वीपर हैं। " जब ये विघ्न हैं और हरएक कार्यमें ये रहेंगे ही तब उनसे डरनेकी कोई आवश्यकता नहीं है। उनको प्रतिबंध करते हुए आगे बढना चाहिये। आगे बढनेके लिये अपना वेग बढाना चाहिये—

आशवो रथा इव शपथेभिः उत् सरिष्यथ। (मं० ५)

"शीघ्रगामी रथ जैसे शीघ्र आगे बढते हैं उसीप्रकार पुरुषार्थ प्रयत्न करनेसे तुम भी विघ्नोंको पीछे डालकर आगे बढजाओगे।" अपना वेग बढानेसे विघ्न पीछे हटते हैं, परंतु जो अपना वेग कम करते हैं, वे विघ्नोंसे त्रस्त होते हैं। इस लिये अपनी पुरुषार्थ शक्ति बढानेसे मनुष्य विघ्नोंको परास्त करके विजयका मार्ग सुधर सकते हैं। इस विषयके उदाहरण देखिये—

शुनां दूषणः कपिः इव। (मं० ४)

"कुत्तोंका तिरस्कार करनेवाला बंदर जैसा होता है।" बंदर वृक्षपर रहते हैं इसलिये वे कुत्तोंकी पर्वाह नहीं करते। वे कुत्तोंको तुच्छ समझते हैं क्योंकि वे कुत्तोंकी अपेक्षा बहुत ऊंचे स्थानपर रहते हैं, अतः कुत्ते उन बंदरोंको कोई विघ्न कर नहीं सकते। इसी

प्रकार जिन स्थानोंमें विघ्न होते हैं उन स्थानोंको छोडकर उनसे ऊंचे स्थानोंमें रहनेसे कोई विघ्न कष्ट नहीं दे सकते । जैसे बंदर वृक्षपर रहनेके कारण कुत्तोंके कष्टोंसे बचे रहते हैं, इसी प्रकार हरएक विघ्नसे मनुष्य अपने आपको बचावे । विघ्नका जो स्थान होगा उससे अपना स्थान ऊंचा करनेसे मनुष्य उनसे सदा दूर रह सकता है । इसी विषयके सूचक निम्न लिखित मंत्र हैं—

अवस्युं शुष्मं काबवं वध्रिं कृण्वन्तु बन्धुरः ॥ (मं० ३)
काबवस्य च बन्धुराः ॥ (मं० ४)
काबवं दूषयिष्यामि ॥ (मं ५)

" विघ्नोंका प्रतिबंध करनेवाले लोग प्रसिद्ध शोषक विघ्नको निर्बल करें ॥ विघ्नका प्रतिबन्ध करें ॥ मैं विघ्नको परास्त करूंगा । "

ये सब विधान विघ्नोंका प्रतिबंध करनेके सूचक हैं । विघ्नोंको परास्त करना अथवा विघ्नोंको दूर करना यह मनुष्यका ध्येय है और इसके उपाय इससे पूर्व दिये ही हैं । शारीरिक व्याधियोंसे अपने आपका बचाव करनेके लिये मणि धारण का उपाय इससे पूर्व कई सूक्तोंमें कहा गया है । (देखो काण्ड २ सूक्त ४) इस प्रकारके मणि धारणसे रोगोंका प्रतिबंध होजाता है इसलिये मणिधारण की सूचना देनेके लिये इस सूक्तमें निम्न लिखित मंत्र भाग हैं—

पिशंगे सूत्रे खृगलं तदा बध्नन्ति वेधसः । (मं० ३)
दुष्ट्यै हित्वा भत्स्यामि । (मं० ५)
तेषां त्वामग्र उज्जहरुर्मणिं विष्कन्ध-दूषणम् ॥ (मं० ६)

" भूरे रंगवाले सूत्रमें ज्ञानी लोग इस मणिको बांधते हैं ॥ दुरवस्था हटानेके लिये तुझे बांधूंगा ॥ मणिको विघ्नोंका निर्बल करने वाला सबसे मुख्य उपाय मानकर ऊपर उठाते और धारण करते हैं ॥ "

इन मंत्र भागोंसे स्पष्ट होजाता है कि व्यक्तिके शारीरिक रोगरूपी आधिव्याधि-योंको हटानेके लिये यह मणिधारण एक उत्तम उपाय है । सामाजिक और राष्ट्रीय विघ्नोंको दूर करनेके लिये विश्वबंधुत्व की कल्पना का फैलाव करनेका उपाय प्रमुख स्थान रखता है । तथा अन्यान्य संपूर्ण विघ्नोंको हटाने के लिये परिश्रम करने अर्थात् पुरुषार्थ करनेकी शक्ति मनुष्यमें पर्याप्त है । इस सूक्तका अच्छा मनन पाठक करेंगे तो उनको अपनी उन्नतिका मार्ग विघ्न रहित करनेका उपाय निःसंदेह प्राप्त हो सकता है ।

कालका यज्ञ।

(१०)

(ऋषिः—अथर्वा। देवता—एकाष्टका)

प्रथमा ह व्युवास सा धेनुरभवद्यमे।
सा नः पयस्वती दुहामुत्तरामुत्तरां समाम् ॥ १ ॥
यां देवाः प्रतिनन्दन्ति रात्रिं धेनुमुपायतीम्।
संवत्सरस्य या पत्नी सा नो अस्तु सुमङ्गली ॥ २ ॥

अर्थ- (प्रथमा ह वि+उवास) पहली उषाकी वेला उदयको प्राप्त हुई। (सा यमे धेनुः अभवत्) वह नियम में धेनु जैसी हुई। (सा पयस्वती) वह दूध देनेवाली धेनु (नः उत्तरां उत्तरां समां दुहां) हमारे लिये उत्तरोत्तर अर्थात् आनेवाले वर्षोंमें दूध देती रहे ॥ १ ॥

(देवाः) देव (यां उपायतीं रात्रिं धेनुं) जिस आनेवाली रात्रीरूपी धेनुको देखकर (प्रतिनन्दन्ति) आनन्दित होते हैं। (या संवत्सरस्य पत्नी) जो संवत्सरकी पत्नीरूप है (सा नः सुमङ्गली अस्तु) वह हमारे लिये उत्तम मंगल करनेवाली होवे ॥ २ ॥

भावार्थ—पहली उषा उदयको प्राप्त हुई है। जो सुनियमोंका पालन करता है उस के लिये यह वेला कामधेनु जैसी अमृत रस देनेवाली बनती है। इस लिये यह वेला हमारी भविष्यकी आयु में हमें भी अमृत रस देनेवाली बने ॥ १ ॥

प्राप्त होनेवाली इस रात्री रूपी कामधेनुको देख कर देव आनंदित होते हैं। यह संवत्सर की पत्नी रूपी वेला हमारे लिये उत्तम मंगल करनेवाली बनो ॥ २ ॥

संवत्सरस्य प्रतिमां यां त्वा रात्र्युपास्महे।
सा न आयुष्मतीं प्रजां रायस्पोषेण सं सृज ॥ ३ ॥
इयमेव सा या प्रथमा व्यौच्छदास्वितरासु चरति प्रविष्टा।
महान्तो अस्यां महिमानो अन्तर्वधूर्जिगाय नवगज्जनित्री ॥ ४ ॥
वानस्पत्या ग्रावाणो घोषमक्रत हविष्कृण्वन्तः परिवत्सरीणम्।
एकाष्टके सुप्रजसः सुवीरा वयं स्याम पतयो रयीणाम् ॥ ५ ॥

अर्थ— हे (रात्रि) रात्री! (यां त्वा) जिस तुझको (संवत्सरस्य प्रतिमां) संवत्सरकी प्रतिमा मानकर (उपास्महे) हम सब भजते हैं, (सा नः आयुष्मतीं प्रजां) वह हमारी दीर्घ आयुवाली प्रजाको (रायः पोषेण संसृज) धनकी पुष्टिसे संयुक्त कर ॥ ३ ॥

(इयं एव सा) यही वह है कि (या प्रथमा व्यौच्छत्) जो पहली प्रगट हुई और जो (आसु इतरासु प्रविष्टा चरति) इन इतरोंमें प्रविष्ट हो कर चलती है। (अस्यां अन्तः महान्तः महिमानः) इसके अन्दर बडी महिमाएं हैं। (नव-गत् वधूः जनित्री जिगाय) यह नूतन कुलवधू जननी होती हुई विजय करती है ॥ ४ ॥

(परिवत्सरीणं हविः कृण्वन्तः) सांवत्सरिक हवनका अन्न बनानेवाले (वानस्पत्याः ग्रावाणः घोषं अक्रत) वनस्पतिके साथ संबंध रखनेवाले पत्थर शब्द कर रहे हैं। हे (एकाष्टके) एक अष्टका! (वयं सुप्रजसः सुवीराः) हम सब उत्तम सन्तानवाले और उत्तम वीरोंवाले तथा (रयीणां पतयः स्याम) धनके स्वामी होवें ॥ ५ ॥

भावार्थ— संवत्सरकी प्रतिमा रूप यह रात्री है, इसकी उपासना हम करते हैं, इस लिये यह हमारे संतानोंको दीर्घ आयु, धन और पुष्टि देवे ॥३॥

यही वेला वह है कि जो पहले प्रकट हुई थी और जो अन्य वेलाओंके साथ संयुक्त होकर चलती है। इस वेला में अनेक महत्त्वपूर्ण शक्तियां हैं। यह वेला विजय करती है जिस प्रकार नवीन कुलवधु प्रथम संतान उत्पन्न करती हुई कुलका यश बढाती है ॥ ४ ॥

आज सांवत्सरिक हवनकी सामग्री बनाने वाले-सोमरस निकालनेवाले-पत्थर और काष्ठयंत्र आवाज कर रहे हैं। हे एकाष्टके! हम सब उत्तम संतान युक्त और उत्तम वरोंसे युक्त होकर बहुत धनके स्वामी बनें ॥५॥

इडायास्पदं घृतवत् सरीसृपं जातवेदः प्रति हव्या गृभाय।
ये ग्राम्याः पशवो विश्वरूपास्तेषां सप्तानां मयि रन्तिरस्तु ॥ ६ ॥
आ मा पुष्टे च पोषे च रात्रि देवानां सुमतौ स्याम। पूर्णा दर्वे परा पत
सुपूर्णा पुनरा पत। सर्वान्यज्ञान्त्संभुञ्जतीषमूर्जं न आ भर ॥ ७ ॥
आयमगन्त्संवत्सरः पतिरेकाष्टके तव।
सा न आयुष्मतीं प्रजां रायस्पोषेण सं सृज ॥ ८ ॥

अर्थ- हे (जातवेदः) उत्पन्न पदार्थोंको जाननेवाले अग्नि! (इडायाः घृतवत् सरीसृपं पदं प्रति) गौके घीसे युक्त स्रवनेवाले स्थानके प्रति (हव्या गृभाय) हव्यको ग्रहण कर। (ये ग्राम्याः विश्वरूपाः पशवः) जो ग्रामीण अनेक रूपवाले पशु हैं (तेषां सप्तानां रन्तिः मयि अस्तु) उन सातोंकी प्रीति मुझमें होवे ॥ ६ ॥

हे (रात्रि) रात्री! (पुष्टे च पोषे च मा आभर) पुष्टि और पोषण के संबंधमें मुझको भर दे। हम (देवानां सुमतौ स्याम) देवोंकी सुमतिमें रहें। हे (दर्वे) चमस! तू (पूर्णा परा पत) पूर्ण भरी हुई दूर जा और (सुपूर्णा पुनः आपत) उत्तम पूर्ण होकर पुनः पास आ। (सर्वान् संभुञ्जन्ती) सब यज्ञोंका उत्तम प्रकार सेवन करती हुई (नः इषं ऊर्जं आभर) हमारे लिये अन्न और बल लाकर भर दे ॥ ७ ॥

हे (एकाष्टके) एकाष्टके! (अयं संवत्सरः) यह संवत्सर (ते पतिः) तेरा पति होकर (आ अगन्) आया है। (सा) वह तू (नः आयुष्मतीं प्रजां) हमारी दीर्घायुवाली प्रजाको (रायः पोषेण सं सृज) धनकी पुष्टिसे युक्त कर ॥ ८ ॥

भावार्थ- हे जातवेद! तू गौके घीसे युक्त तथा जिसमें से गौका घी चूरहा है ऐसा घीसे पूर्ण भिगा हुआ हव्य ग्रहण कर। जो अनेक रंगरूपवाले ग्राम्य सात पशु हैं वे मेरे ऊपर प्रेम करते हुए मेरे साथ रहें ॥ ६ ॥

हे रात्री! हमें बहुत पुष्टि और शक्ति दे। देवोंकी मंगलमयी मति हमें सहारा देती रहे। हे चमस! तू घीसे पूर्ण हो कर अग्निमें आहुति देनेके लिये आगे बढ, और वहांकी दैवीशक्ति से पूर्ण होकर हमारे पास फिर लौट आ और हमारे लिये अन्न और बल विपुल प्रमाणमें दे ॥ ७ ॥

हे एकाष्टके! यह संवत्सर तेरा पतिरूप है, उसकी पत्नीरूप तू हमारे बाल बच्चों के लिये दीर्घ आयुष्य धन और पुष्टि दे ॥ ८ ॥

ऋतून्यंज ऋतुपतींनार्तवानुत हायनान् ।
समाः संवत्सरान्मासान्भूतस्य पतये यजे ॥ ९ ॥
ऋतुभ्यंष्ट्वार्तवेभ्यो माद्भ्यः संवत्सरेभ्यः ।
धात्रे विधात्रे समृधे भूतस्य पतये यजे ॥ १० ॥
इडया जुह्वतो वयं देवान्घृतवता यजे ।
गृहानलुभ्यतो वयं सं विशेमोप गोमतः ॥ ११ ॥

अर्थ- (मासान् ऋतून् आर्तवान् ऋतुपतीन्) मास, ऋतु, ऋतु संबंधी ऋतुपतियोंको तथा (उत हायनान् समाः संवत्सरान् यजे) अयनवर्ष, समवर्ष और संवत्सरको अर्पण करता हूं और (भूतस्य पतये यजे) भूतके स्वामीके लिये यज्ञ करता हूं ॥ ९ ॥

(माद्भ्यः ऋतुभ्यः आर्तवेभ्यः संवत्सरेभ्यः) महिने, ऋतु, ऋतुसे संबंध रखनेवाले तथा वर्ष इन सबके लिये और (धात्रे, विधात्रे, समृधे) धाता विधाता तथा समृद्धिके लिये (भूतस्य पतये यजे) भूतोंके पतिके लिये मैं अर्पण करता हूं ॥ १० ॥

(इडया घृतवता जुह्वतः) गौ द्वारा प्राप्त घीसे युक्त अर्पण द्वारा हवन करनेवाले (वयं देवान् यजे) हम सब देवोंका यजन करते हैं । (अलुभ्यतः गोमतः गृहान्) जिसमें न्यूनता नहीं है, जो गौओंसे युक्त हैं, ऐसे घरोंमें (वयं उप सं विशेम) हम प्रवेश करेंगे ॥ ११ ॥

भावार्थ- मैं अपने दिन, पक्ष, मास, ऋतु, काल, अयन और संवत्सर आदि कालावयवोंको भूतपति परमेश्वरके यजनके लिये समर्पित करता हूं अर्थात् अपनी आयुको यज्ञ के लिये अर्पण करता हूं ॥ ९ ॥

मास, ऋतु, [शीत, उष्ण, वृष्टिसंबंधी तीन] काल, अयन, संवत्सर आदि मेरी आयुके काल विभागोंको धाता, विधाता, समृद्धिकर्ता भूतपति परमात्माके लिये अर्थात् यज्ञके लिये समर्पित करता हूं ॥ १० ॥

गौके घीसे मैं देवोंका यजन करता हूं और ऐसे यज्ञ करता हुआ मैं अपने घरोंमें प्रवेश करता हूं । हमारे घरोंमें बहुतसी दूध देनेवाली गौवें सदा रहें और हमारे घरोंमें कभी किसी पदार्थकी न्यूनता न हो ॥ ११ ॥

एकाष्टका तपसा तप्यमाना जजान गर्भं महिमानमिन्द्रम् ।
तेन देवा व्यसहन्त शत्रून्हन्ता दस्यूनामभवच्छचीपतिः ॥ १२ ॥
इन्द्रपुत्रे सोमपुत्रे दुहितासि प्रजापतेः ।
कामानस्माकं पूरय प्रति गृह्णाहि नो हविः ॥ १३ ॥
इति द्वितीयोऽनुवाकः समाप्तः ।

अर्थ-(एकाष्टका तपसा तप्यमाना) यह एक अष्टका तपसे तपती हुई (महिमानं इन्द्रं गर्भं जजान) बडे महिमावाले इन्द्र रूपी गर्भको प्रकट करती रही। (तेन देवाः शत्रून् वि-असहन्त) उससे देवोंने शत्रुओंको जीत लिया। (दस्यूनां हन्ता शचीपतिः अभवत्) क्योंकि शत्रुओंका नाश करनेवाला शक्तिशाली प्रगट हुआ है ॥ १२ ॥

हे (इन्द्रपुत्रे) इन्द्र जैसे पुत्रवाली ! हे (सोमपुत्रे) चन्द्रमा जैसे पुत्रवाली ! तू (प्रजापतेः दुहिता असि) तू प्रजापतिकी दुहिता है, (नः हविः प्रति गृह्णीष्व) हमारा हवि तू स्वीकार कर (अस्माकं कामान् पूरय) और हमारी कामनाओंको पूर्ण कर ॥ १३ ॥

भावार्थ-यह एकाष्टका तप करती हुई बडे प्रभाव शाली इन्द्र नामक गर्भको धारण करती है और पश्चात् प्रकट करती है। इस इन्द्रके प्रभावसे शत्रु दूर भाग जाते हैं अथवा पूर्ण परास्त होते हैं। यह शक्तिशाली इन्द्र शत्रुओंका नाशक है ॥ १२ ॥

हे इन्द्रको जन्म देनेवाली! और हे सोमको जन्म देने वाली अष्टके! तू प्रजापतिकी दुहिता है। इस यज्ञमें जो हवि हम अर्पण कर रहे हैं उसका स्वीकार कर और हमारी संपूर्ण इच्छाएं पूर्ण कर ॥ १३ ॥

कामधेनु ।

काल अर्थात् समय अथवा वेला, यह एक बडी शक्तिशाली कामधेनु है। यह किस मनुष्यके लिये कामधेनु होती है और किसके लिये नहीं होती, इस विषयमें प्रथम मंत्र का कथन मनन करने योग्य है—

प्रथमा ह व्युवास, सा धेनुरभवद्यमे ।(मं० १)

" पहली उषा प्रकाशित हुई है, वही नियमोंका पालन करने वालेके लिये दूध देने-

वाली गौ जैसी होती है।" उषा ही वेलाकी सबसे प्रथम अवस्था है, इस उषासे कालके मापन का प्रारंभ होता है। यह वेला "यम" के लिये ही दूध देने वाली गोमाता बनती है। यह यम कौन है? यम यह है—

यम।

अहिंसासत्यास्तेयब्रह्मचर्यापरिग्रहा यमाः।

योगदर्शन

"अहिंसा, सत्य, अस्तेय, ब्रह्मचर्य और अपरिग्रह ये पांच यम हैं।" ये मनुष्यके चालचलनके नियम हैं, इनही के साथ "शौच, संतोष, तप, स्वाध्याय और ईश्वरभक्ति ये पांच नियम लगे हैं।" इनका पालन करनेवाला अर्थात् इन नियमोपनियमों के अनुसार अपना आचरण करनेवाला "यम" कहलाता है। नियम से चलनेवाला मनुष्य बडा प्रभावशाली महात्मा होता है, इसी मनुष्य के लिये यह "समय" कामधेनु बनता है। परंतु अनियम से व्यवहार करनेवाले के लिये यह काल भयानक कालरूप बनता है। इसलिये उन्नति चाहनेवाला मनुष्य उत्तम नियमोंके अनुकूल चले, समयका उपयोग उत्तम रीतिसे करे और अभ्युदय तथा निःश्रेयस प्राप्त करके यशका भागी बने। हरएक मनुष्य चाहता है कि—

सा नः पयस्वती दुहामुत्तरामुत्तरां समाम्॥ (मं० १)

"वह काल हमारे लिये उत्तरोत्तर की आयुमें अमृत रस देनेवाला होवे।" यह हरएक की इच्छा रहना स्वाभाविक है, क्योंकि सुख तो हरएकको चाहिये। परंतु बहुत थोडे लोग कालका उपयोग उत्तम रीतिसे करना जानते हैं और यमनियमोंका उत्तम रीतिसे पालन करनेवाले तो उनसे भी थोडे होते हैं। इस लिये हरएक की इच्छा होते हुए भी बहुत से मनुष्यों के लिये काल प्रतिकूल होता है और जो पूर्वोक्त प्रकार यम नियमोंसे अपने आपका आचरण सुयोग्य बनाते हैं, उनके लिये ही यह अनुकूल होता है। पाठक यह नियम सबसे प्रथम ध्यानमें धारण करें, क्योंकि उन्नतिके लिये यह सबसे प्रथम आवश्यक है।

उषासे यह काल प्रारंभ होता है, कालका प्रारंभ उषामें है। सब यह जानते हैं कि उषा से दिन का प्रारंभ होता है, इसलिये कई स्थानोंमें उषाको दिनकी माता कहा है। रात्री प्रायः निद्रामें जाती है इसलिये "नियमोंको आचरणमें लाना, कालका योग्य उपयोग करना" इत्यादि बातें प्रायः दिनके साथ संबंध रखती हैं। रात्रीका सात आठ घण्टोंका समय निद्रामें जाता है, इसको छोड कर जो कार्यका समय अवशिष्ट रहता है,

उसीका सदुपयोग अथवा दुरुपयोग मनुष्य करता है और उन्नत या अवनत होता है।

एक पूर्ण दिनमें ' दिन और रात्री ' ये दो विभाग हैं। इतने समय के आठ प्रहर होते हैं। आठ प्रहरोंका नाम " अष्टक अथवा अष्टका " है, एक पूरे दिनकी यह " एकाष्टका " है अर्थात् आठ प्रहरोंका समय है। दिनमें चार प्रहर और रात्रीमें चार प्रहर होते हैं, इन सबका मिलकर नाम ' एकाष्टका ' है, यही इस सूक्तकी देवता है। दिनके आठ प्रहरोंका उत्तम उपयोग कैसा करना यह बताना इस सूक्तका उद्देश्य स्पष्ट है। प्रत्येक दिनका योग्य उपयोग होता रहा तो सब आयुका उत्तम उपयोग होगा। सब आयुका यज्ञ करनेका यही तात्पर्य है।

अंधकारमयी रात्री।

दिनमें प्रकाश रहता है इसलिये मनुष्य प्रायः निर्भय रहते हैं। रात्रीमें अंधकार होनेके कारण मनुष्य भयभीत होते हैं इसलिये प्रकाशमय दिनके संबंधमें कुछ कथन करनेकी अपेक्षा अंधकार पूर्ण रात्रीके विषयमें ही कुछ कहना आवश्यक होता है, यह कार्य द्वितीयसे चतुर्थतक तीन मंत्रोंद्वारा हुआ है, इन मंत्रोंका आशय यह है--

" देव भयदायिनी अंधकारमयी रात्रीका आनंदसे स्वागत करते हैं, क्योंकि यह रात्री संवत्सर की पत्नी है, वह हम सबके लिये उत्तम मंगल करनेवाली बने (मं० २)। इस रात्रीको संवत्सरकी छोटी प्रतिमा मान कर उसका स्वागत करना चाहिये, वह हमें दीर्घायु प्रजा, धन और पुष्टि देवे (मं० ३)। यही वह है कि जिससे पहली उषा उदित होगई थी, यही इतर वेला विभागोंमें प्रविष्ट होकर चलती है। इस रात्रीमें बडी महिमाएं हैं, यह वीर पुत्रको जन्म देनेवाली कुलवधुके समान यशस्विनी रात्री है (४)॥"

यह भावार्थ इन तीन मंत्रोंका है। इन मंत्रोंमें रात्रीकी भयानकता दूर करके उसकी मंगलमयता बतायी है। जिस रात्रीको साधारण लोग डरावनी मानते हैं, उसीको वेद ऐसी मंगलमयी, अनंत महिमाओंसे युक्त और कुलवधुके समान भावी यशकी सूचक बताता है। सृष्टिकी घटनाओंकी ओर देखनेका यह वेदका पवित्र दृष्टिकोन है। पाठक इसी दृष्टिकोनसे जगत्की ओर देखें और उसमें परमात्माकी महिमा अनुभव करें। जैसा दिनमें प्रकाशमय स्वरूप परमात्माका दिखाई देता है उसी प्रकार रात्रीमें उसीका शांत स्वरूप प्रकट होता है, दिनमें विविधताका अनुभव होता है और रात्रीमें वह विविधता मिट जाती है। इस प्रकार दिनमें और रात्रीमें परमात्माका मंगल स्वरूप देखना चाहिये। यही वेदको अभीष्ट है।

संवत्सरकी प्रतिमा।

तृतीयमंत्रमें रात्रीको संवत्सरकी प्रतिमा कहा है। संवत्सर वर्ष का नाम है। वर्ष बडे आकार वाला है उसकी प्रतिमा यह रात्री है। प्रतिमा का अर्थ "प्रति+मान" है अर्थात् मापनेका साधन। दिन रात्री या दोनों मिलकर अहोरात्र संवत्सरका माप करनेका साधन है, दिन से ही वर्ष मापा जाता है। यही रात्री संवत्सरकी पत्नी है। संवत्सर पति है और रात्री उसकी पत्नी है। वार्षिक कालका विशाल रूप संवत्सर है और छोटा रूप दिन या रात्री है। यह रात्री—

सा नो अस्तु सुमंगली। (मं० २)
सा न आयुष्मतीं प्रजां रायस्पोषेण संसृज। (मं०३)
महान्तो अस्यां महिमानो अन्तः। (मं० ४)

"यह रात्री हमें मंगलमयी होवे। यह रात्री हमें धन और पुष्टिके साथ दीर्घायु प्रजा देवे। इस रात्रीमें बडे महिमा हैं।" यह रात्रीका वर्णन निःसंदेश सत्य है। रात्री सचमुच सुमंगली है। इसी रात्रिमें निद्रासे विश्राम लेते हुए मनुष्य इतना आराम प्राप्त करते हैं कि जिसका वर्णन नहीं हो सकता और जिसका अनुभव हरएक को है। "जो रात्रीमें रतिक्रिडा करते हैं वे ब्रह्मचर्यका पालन करते हैं। (प्रश्न उप० १।१३)" यह उपनिषद्वचन कहता है कि गृहस्थी लोग गृहस्थधर्मके नियम पालन पूर्वक रात्रीकालमें रति करते हुए और उस आश्रमके योग्य आचरण करते हुए भी ब्रह्मचर्य ही पालन करते हैं। इस से उत्तम सुसन्तान उत्पन्न होती है जो दीर्घायु और तेजस्वी भी होती है। इस प्रकार इस रात्रीमें अनेक महिमाएं हैं और इस कारण रात्री बडी उपकारक है। पाठक इस रीतिसे रात्रीका उपकार देखें और इस रात्रीका स्वागत करें। कई कहेंगे कि रात्रीमें चोरादिकोंका तथा हिंसक प्राणियोंका उपद्रव होता है इसलिये रात्री भयदायक है, तो यह कथन भी ठीक नहीं है, क्योंकि उसी कारण आत्मरक्षाकी शक्ति मनुष्यों में उत्पन्न होती है और उससे धैर्य शौर्य वीर्य पराक्रम आदि गुण बढते हैं। इस दृष्टिसे भी रात्रीके बडे उपकार ही हैं।

हवन।

आगे पंचम मंत्रमें पत्थरोंके द्वारा सोम औषधिका रस निकालना और यज्ञमें हवन करनेके लिये हवि तैयार करनेका वर्णन है। षष्ठ मंत्रमें हरएक प्रकारका हवि घीसे पूर्णतया

भिगो कर, घी चूता है ऐसी अवस्थामें हवन सामग्रीकी आहुतियां डालनी चाहिये इत्यादि वर्णन है। यह सब याजकोंके लिये लक्ष्य पूर्वक देखने योग्य है। घीके अंदर हवाका दोष दूर करनेका सामर्थ्य है, इस कारण हवा शुद्धिके लिये हवन इष्टही है। मनुष्य अपने व्यवहारसे अनेक प्रकारके विष हवामें फेंकता है, इस लिये उन रोगोत्पादक विषोंका उपशम करनेके लिये इस प्रकारका हवन करना अत्यंत आवश्यक है। इस प्रकार हवनादि द्वारा वायुकी शुद्धता करनेसे गृहस्थी लोग सुखी, बलवान्, नीरोग और सुप्रजासे युक्त होंगे, यह सूचना पंचम मंत्रके उत्तरार्धमें मिलती है, वह सूचना हरएक गृहस्थीको मनमें धारण करना चाहिये। षष्ठ मंत्रके 'उत्तरार्धमें ग्रामीण सप्त पशु मनुष्योंपर प्रेम करते हुए घरमें रहें' ऐसा कहा है। यह गृहस्थाश्रम का स्वरूप है। गृहस्थके घरमें गाय बैल, घोडे घोडीयां, भेड बकरी आदि पशु और उनके बछडे रहें, यह घरकी शोभा है, इनका उपयोग भी है।

सप्तम मंत्रके द्वितीय भागसे आहुति डालनेवाले चमसका वर्णन करते हुए एक बडे महत्त्व पूर्ण बातका उपदेश किया है। "आहुति देनेवाला चमस पूर्ण भरकर अग्निके पास चला जावे और वहांसे अग्निकी तेजस्विता लेकर वापस आवे और वह हवन करनेवालेकी तेजस्विता बढावे।"

पूर्णा द‍र्वे परापत, सुपूर्णा पुनरापत। (मं० ७)

"चमस पूर्ण भर कर दान देनेके लिये आगे बढे और वापस आनेके समय भी वहांसे तेज भर कर वापस आवे।" इस में चमसका भरकर जाना और भरकर आना लिखा है। दान देनेके समय चमस भरकर यज्ञके पास जाय और अपनी आहुती दे देवे, दान देनेके समय कंजूसी न की जावे, यह बोध यहां मिलता है। जिस देवताको दान दिया है उस देवता के प्रशंसित गुण उस चमसमें आते हैं, चमस खाली होते ही मानो वह देव अपने गुण उस चमसमें भर देता है। उन गुणोंको ग्रहण करके वह चमस वापस आवे और दानदाताको गुणी बनावे। यह आशय यहां है। इस मंत्रके मनन से पाठक बहुत बोध प्राप्त कर सकते हैं। "यज्ञ" का "दान और आदान" इस मंत्रके मननसे अच्छी प्रकार ज्ञात हो सकता है। "जो अपने पास है वह दूसरोंके हितार्थ दान देना और दूसरोंमें जो श्रेष्ठ गुण हों उनको अपनाना" यह यज्ञका तत्त्व इस मंत्रसे स्पष्ट हो रहा है; पाठक इसका मनन करें।

आगे अष्टम मंत्रका आशय द्वितीय और तृतीय मंत्रोंके आशयके समानही है इस लिये इस मंत्रपर अधिक लिखनेकी आवश्यकता नहीं है।

कालका यज्ञ।

नवम और दशम मंत्रोंमें कालके अवयवोंका नामानिर्देश करके उन कालावयवोंका यज्ञ करनेके संबंधमें बडा महत्त्व पूर्ण उपदेश है। (१) मास= महिना। (२) ऋतु= दो मासका समय। (३) आर्तव काल= दो ऋतुओंसे बननेवाला काल, शीत काल, उष्ण काल, वर्षा काल। (४) अयन=तीन ऋतुओंका समय, वर्षके दो अयन होते हैं, दो अयनोंके मानसे गिने हुए वर्षका नाम 'हायन' होता है। (५) समाः-तीस दिनोंका एक मास, ऐसे बारह मासोंका अर्थात् ३६० दिनोंका एक वर्ष "समाः" नामसे प्रसिद्ध है क्योंकि इस प्रकारके वर्षके महिनोंके दिन समसंख्या वाले होते हैं। (६) संवत्सर- सौर वर्ष, इस वर्षके ३६५ दिन होते हैं, और मासोंके दिनोंमें न्यूनाधिकता होती है। [इसके अतिरिक्त चांद्रवर्ष होता है इसका उल्लेख यहां नहीं किया है उसके दिन ३५४ होते हैं, इसके महिनोंके दिनोंकी संख्या भी न्यूनाधिक होती है]

इस प्रकारका "जो मेरी आयुका काल है वह सब मैं सब भूतोंका पालन करनेवाला जो परमात्मा है उसके लिये समर्पित करता हूं," अर्थात् मेरी आयुका यज्ञ मैं करता हूं। अपनी आयुका विनियोग जनताकी भलाई करनेके कार्यमें करनेका नामही आयुष्यका यज्ञ है। परमात्माका कार्य "सज्जनोंका पालन और दुर्जनोंका दण्डन करना" है। यही जनताके हितका कार्य है, इस कार्यके लिये अपना सर्वस्व तन मन धन अर्पण करना "आत्म यज्ञ" करना ही है। इस प्रकारका अपनी आयुका यज्ञ करनेका उपदेश नवम और दशम मंत्रोंमें है, इसलिये ये मंत्र अत्यंत मनन करने योग्य हैं।

यज्ञका कार्य।

इन मंत्रोंमें जो यज्ञ करना है वह "(धात्रे, विधात्रे, समृधे, भूतस्य पतये। मं० ९-१०)" धारक, निर्माता, समृद्धिकर्ता, और भूतोंके पालनकर्ताके लिये करना है, अपनी आयु इन कार्योंके कर्ताके लिये समर्पित करना है। (१) जो प्रजाओंका धारण करता है, (२) जो जनताके लिये सुख साधन निर्माण करता है (३) जो जनताकी समृद्धिकी वृद्धि करता है और (४) जो उन सबका पालन करता है उसके कार्यके लिये अपनी आयुका समर्पण करना आत्मयज्ञका तात्पर्य है। अर्थात् प्रजाहितके इतने कार्योंके लिये अपनी आयुका विनियोग करनेका नाम यज्ञ है। इस प्रकारका आत्मयज्ञ जो करते हैं वे लोकोत्तर दिव्य पुरुष सर्वत्र पूजनीय होते हैं।

ग्यारहवें मंत्रमें यज्ञकाही वर्णन करते हुए कहा है, कि—

अलुभ्यतः वयं गृहान् उप संविशेम। (मं० ११)

" लोभ न करते हुए अपने घरमें हम प्रवेश करेंगे। " अर्थात् हम लोभ न करते हुए घरोंमें व्यवहार करेंगे, अथवा हमारे घरोंका वायुमंडल ही ऐसा होगा कि वहां किसीका लोभ या स्वार्थ करनेकी आवश्यकता नहीं होगा। जो लोग अपनी आयुका पूर्वोक्त प्रकार यज्ञ करते हैं उनके घरोंका वायुमंडल ऐसाही होगी इसमें कोई सन्देह नहीं है।

शत्रुनाशक इन्द्र।

बारहवें और तेरहवें मंत्रमें एकाष्टकाके गर्भधारण करनेका और इन्द्र नाम पुत्रको जन्म देनेका वर्णन है। एकाष्टका अहोरात्री है और इसीके गर्भमें सूर्य रहता है और रात्री के प्रसूत होनेपर सूर्य बाहर आता है, जो प्रकाशके शत्रुओंका पूर्ण नाश करता है। जो लोग कालका यज्ञ पूर्वोक्त प्रकार करते हैं उनके प्रयत्नसेभी इन्द्र संज्ञक ऐसा विशाल तेज उत्पन्न होता है कि उससे उनके सब शत्रु परास्त होते हैं। यह वेला बडी महिमाएं अपने अंदर रखती है, इसीका पुत्र (इन्द्र) प्रकाशका उग्र देव है और इसी का पुत्र (सोम) शांतिका देव भी है। (मं० १३)

रात्रीका अथवा उषाका पुत्र सूर्य है, इसीको दिवस्पुत्र भी वेदने कहा है। रात्रीका दूसरा पुत्र चन्द्र है इसीको सोमभी कहते हैं। ये दोनों प्रकाशका फैलाव और अन्धकारका नाश करते हैं और जनताको प्रकाश देते हुए मार्ग बता देते हैं। वेदमें इनका विविध प्रकारसे वर्णन हुआ है और वह बडा बोध प्रद है।

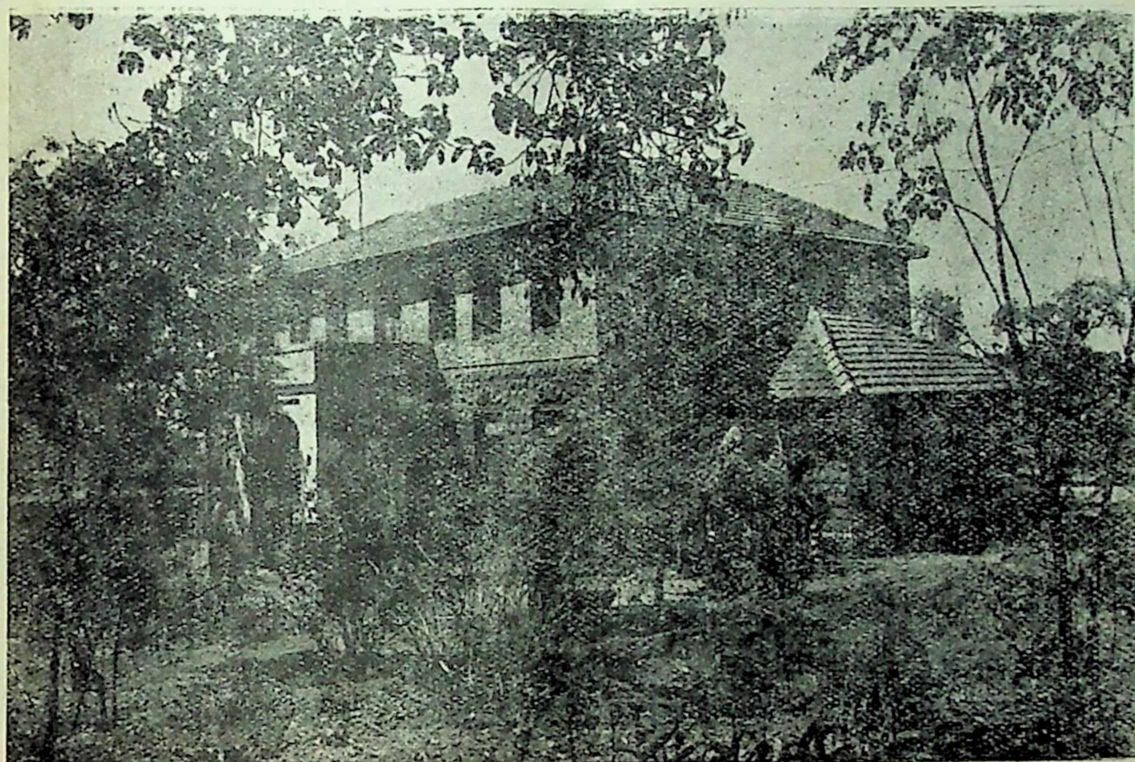
इस से यह बोध लेना होता है कि मनुष्य स्वयं ज्ञान प्राप्त करे और दूसरोंको अपने ज्ञान का प्रकाश देवे। कलानिधि चन्द्रमाके समान मनुष्य भी स्वयं विविध कलाओंमें पूर्ण प्रवीणता संपादन करके स्वयं कलानिधि बन दूसरोंको कलाओं का अर्थात् हुनरोंका ज्ञान देकर जनताकी उन्नति करे। माताएं अपने संतानों को इस प्रकार की शिक्षा देकर बालकोंकी पूर्ण उन्नति करें।

यह इसकी महिमा जान कर प्रत्येक मनुष्य इस सूक्तके उपदेश के अनुसार अपनी आयुका उत्तम यज्ञ करे और यशका भागी बने।

(यहां द्वितीय अनुवाक समाप्त।)

दशम वर्षका ओ३म् इतिवृत।

स्वाध्याय मंडल.



स्वाध्यायमंडल आश्रम।

द्वारा

प्रकाशित

पुस्तकों का सूचीपत्र.

मंत्री- स्वाध्याय मंडल, औंध. (जि. सातारा)

ॐ

स्वाध्याय मंडल।

औंध (जि. सातारा)



स्वाध्याय मंडलके कर्मचारी गण।

स्वाध्याय मंडल का उद्देश्य

(१) वेदोंका स्वाध्याय करना और कराना।

(२) वैदिक शब्दोंके मूल अर्थ की खोज करना।

(३) मूल वेदोंका अर्थ मूल वेदोंके आधारसे करना।

(४) लोगों में वैदिक धर्म की जागृति करना।

(५) वैदिक धर्म के सुबोध ग्रंथ प्रसिद्ध करना।

(६) वैदिक धर्मकेसाथ अन्य धर्मग्रंथोंकी तुलना करना।

(७) वैदिक धर्मकेसाथअन्यमत ग्रंथोंकी तुलना करना।

(८) वैदिक दृष्टीसे गाथाओंका अर्थ निश्चित करना।

(९) प्रचलित युरोपीयन मतकी समालोचना करना।

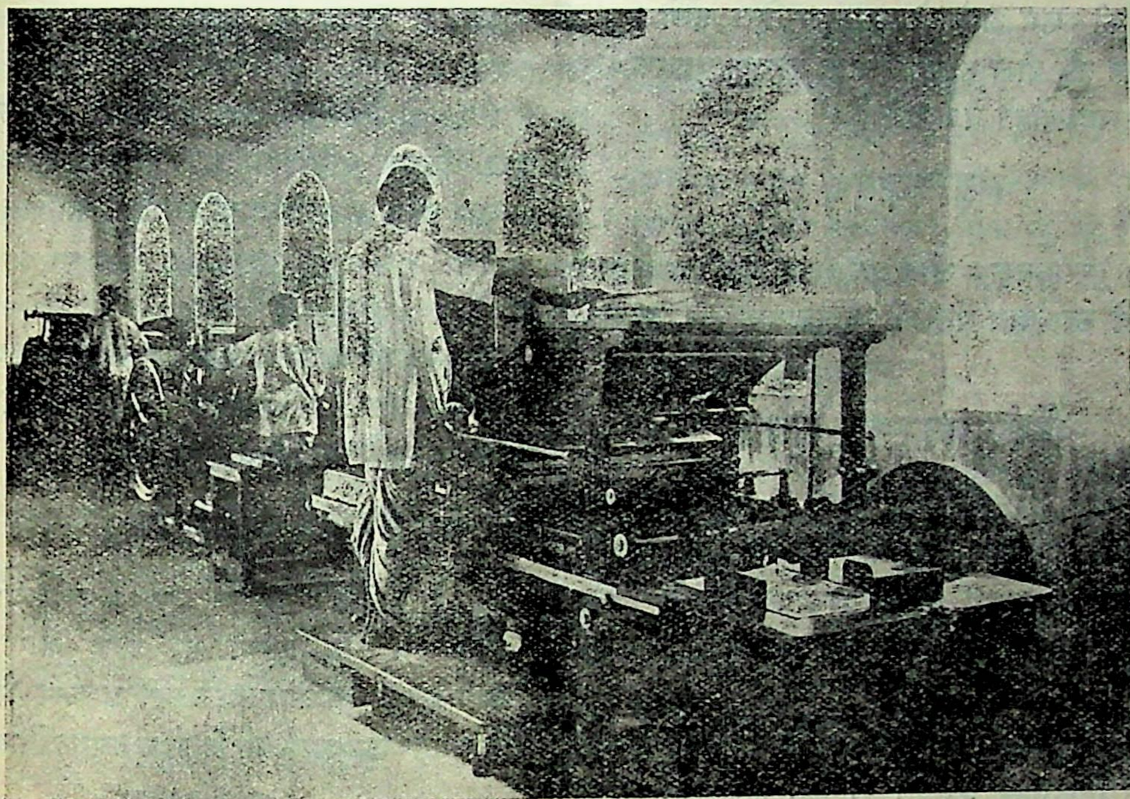
(१०) प्रतिपक्षियोंके आक्षेपोंका सप्रमाण उत्तर देना।

ये स्वाध्याय मंडल के उद्देश्य हैं और इसी दृष्टिसे आज दसवर्ष इस मंडलका कार्य चल रहा है, जिसका वृत्त इस लेखद्वारा प्रसिद्ध किया जाता है। आशा है कि वैदिक धर्मके प्रेमी इस कार्यको बढानेके लिये सहायता देंगे।

औंध (जि. सातारा) १ जनवरी १९२८ — श्रीपाद दामोदर सातवळेकर. स्वाध्याय मंडल, औंध

स्वाध्याय मंडल।

" वेदका पढना पढाना, सुनना सुनाना, सब आर्योंका परम धर्म है। "



भारत मुद्रणालय का छपाई कार्यालय।

नाम

(१)नाम=इस संस्थाका नाम 'स्वाध्याय मंडल' है।

उद्देश।

(२) उद्देश— (पूर्वस्थानमें दिये हैं।)

कार्यक्षेत्र।

(३) कार्यक्षेत्र=उक्त उद्देशोंके अनुसार वैदिक तत्त्वज्ञान और वैदिक धर्मके सुबोध ग्रंथ प्रचलित अनेक भाषाओंमें प्रसिद्ध करना तथा वेदके पठन पाठनके लिये उचित सहायता और उत्तेजना देना।

स्वाध्याय मंडलका व्यय।

(४) स्वाध्याय-मंडल का व्यय=पुस्तक प्रकाशन में लाभकी आशा न करनेके कारण,स्वाध्याय मंडल के व्यय आदिके लिये, उदार चित्त 'दानी महाशयों की उदारता' परही विश्वास रखा है। आशा है कि धनिक लोग स्वयं द्रव्यकी सहायता करेंगे और दूसरे लोग सहायता करवायेंगे।

—o—

सदस्यों के नियम।

प्रतिपालक वर्ग।

(५) स्वा० मंडलके प्रतिपालक=जो धनिक पांच सौ रु०अथवा अधिक धनराशी स्वा० मंडलको दान देंगे, वे स्वा० मंडलके "प्रतिपालक" हो सकते हैं। इनको " स्वाध्याय-मण्डल " के सब पुस्तक मिलेंगे।

पोषकवर्ग ।

(६) स्वाध्याय मंडलके पोषक = जो धनिक सौ रु० अथवा अधिक धनराशी स्वाध्याय मंडलको दान देंगे वे स्वाध्याय मंडल के " पोषक " हो सकते हैं। इनको वह सब पुस्तक भेंटके रूपमें मिलेंगे कि जो इनकी रकम आने के पश्चात् मुद्रित होंगे।

[इस वर्ष बीस रु. से अधिक मूल्यके पुस्तक इस वर्ग के सदस्योंको भेजे गये हैं।]

सहायकवर्ग ।

(७) सहायक = जो यथाशक्ति द्रव्यकी सहायता करेंगे वे स्वाध्याय मंडलके " सहायक " हो सकते हैं।

स्थिर सहायक वर्ग ।

(८) स्थिर-सहायक=जो २५, ५०, १००, अथवा अधिक रु. स्वाध्याय मंडलके पास अनामत रखेंगे वे "स्थिर सहायक" होंगे। (दो वर्षके पश्चात् जिस समय चाहे उस समय इनका धन वापस हो सकता है।)

[इनको तथा सहायक वर्ग के सदस्योंको उनकी रकमके हिसाबसे क्रमशः २, ४॥, और १०, रु. के पुतस्क (डाकव्यय समेत) प्रतिवर्ष भेंट किये जांयगे। अर्थात् डाकव्यय इन के जिम्मे होगा। इस वर्ग के सदस्य सालके अन्तमें अपनी रुचि के अनुसार जो चाहे सो पुस्तकें चुनकर भी ले सकते हैं।]

मासिक सहायता ।

(९) मासिक-सहायक=जो प्रतिमास यथाशक्ति सहायता करेंगे वे 'मासिक-सहायक' होंगे।

[इनको भी सब ग्रंथ प्राप्त धनके अनुसार मिलते रहेंगे।]

सूचना ।

सूचना = सहायक, स्थिर सहायक, तथा मासिक सहायक आदिकोंको उनकी रकम प्राप्त होनेके अनुसार स्वा० मं० के पुस्तक मिलेंगे।

सबको उचित है कि वे स्वा० मंडलके पुस्तक स्वयं पठन करें, इन पुस्तकोंका प्रचार करनेमें सहायता करें और उक्त प्रकारके पालक, पोषक, सहायक आदिकों की संख्या बढानेमें सहायता दें। क्यों कि आर्थिक सहायताके विना 'स्वाध्याय-मंडल' का कार्य चल नहीं सकता।

वार्षिकवृत्त

(१०) वार्षिकवृत्त= स्वाध्याय मंडलका वार्षिक वृत्त प्रतिवर्ष प्रसिद्ध होगा, जिसमें स्वाध्याय मंडल के सब कार्य का विवरण आदि प्रकाशित होगा।

प्राप्तिपत्र ।

(११) प्राप्ति प्रत्र=प्रत्येक दानका प्राप्तिपत्र स्वाध्याय मंडलसे दानी महाशयके पास पहुंचेगा। तथा वार्षिकवृत्तमें उसका उल्लेख रहेगा।

पुस्तक विक्रीके नियम ।

(१२) उधार पुस्तक देना बंद किया है। सब पुस्तक वी. पी. द्वारा ही भेजे जाते हैं, अथवा पेशगी मूल्य आनेपर रजिस्ट्री डाकसे भेजे जाते हैं। पैकिंग अच्छा करनेका विशेष ख्याल किया जाता है।

कमिशन

(१३) कमिशन – व्यौपारियों के लिये निम्न प्रकार कमिशन दिया जाता है –

१००	रु. के पुस्तकोंपर	२०	फी सैंकडा
५०	,, ,,	१५	,, ,,
२५	,, ,,	१०	,, ,,
१०	,, ,,	५	,, ,,

दस रु० से कम रकमकी पुस्तकें मंगवाने वालों को कमिशन नहीं मिलेगा।

कमिशन नहीं मिलेगा ।

(१४) वैदिक धर्म, पुरुषार्थ, महाभारत, संस्कृत पाठमाला, तथा संस्कृत स्वयंशिक्षक इन मासिकों पर कमिशन नहीं मिलेगा, क्यों कि इनका मूल्य पहिले से ही न्यून से न्यून रखा है।

डाकव्यय का अनुमान ।

(१५) प्रायः एक रुपयेके मूल्यके पुस्तकों के लिये दो या तीन आने डाक व्यय लगता है। किसी अवस्था में कुछ न्यून वा अधिक भी होता है। परंतु साधारण अनुमान यही है। पुस्तकों का जो मूल्य इस सूचीपत्र में लिखा है वह डाकव्यय के विना है। वी. पी. मंगवाने वालों को पुस्तकों के मूल्य के अतिरिक्त उक्त हिसाब से डाकव्यय देना पडेगा। परंतु जो मनी आर्डरसे दाम पेशगी भेजेंगे, उनको डाकव्यय माफ होगा। मूल्य पेशगी भेजनेवालों को इतना लाभ है। पुस्तकें मंगवाने के समय ग्राहक इस सहूलियतसे लाभ उठावें। किसी कारण भी वी. पी. मंगानेवालों को डाकव्यय माफ नहीं होगा।

दूसरे के नाम पर

(१६) कोई महाशय दूसरेके नामपर वी. पी. भेजनेको न लिखें। हमारा अनुभव है कि इस प्रकार की वी. पी. यां स्वीकृत नहीं होतीं। इस लिये ऐसी वी. पी. आगे नहीं भेजी जायगी।

बदलेमें पुस्तक

(१७) बदलेमें पुस्तक नहीं दिये जाते, क्यों कि उनकी विक्री करनेका साधन यहां नहीं है।

पेशगी मूल्य भेजनेसे लाभ ।

(१८) पेशगी मूल्य भेजने से लाभ = जो लोग ५) पांच अथवा अधिक रु. की पुस्तकें, पुस्तकों का सब मूल्य पेशगी म. आ. द्वारा भेजकर मंगवायेंगे, उनको उक्त कमिशनके अतिरिक्त पांच फी सैंकडा कमिशन अधिक मिलेगा और डाक व्यय माफ होगा। पांच रु. से कम मूल्य की पुस्तकें मंगवानेवालों को यह लाभ नहीं होगा।

ध्यान दीजिये ।

वी. पी. मंगवाकर लोग वापस करते हैं; इससे बहुत नुकसान उठाना पडता है, इसलिये म.आ. से पेशगी मूल्य भेजने वालोंको ही उक्त सहूलियत दी है। वी. पी. से पुस्तकें मंगवाने वालोंको यह लाभ नहीं होगा। अर्थात् वी. पी. से मंगाने वालोंको डाकव्यय देना पडेगा। पुस्तकें मंगवाने के समय ग्राहक इस बातका विचार अवश्य करें।

(१९) एक रु.से कम मूल्यकी पुस्तकें वी.पी.से मंगवाने में डाकव्यय दुगना देना पडता है। अतः १) एक रु. से कम मूल्य की पुस्तकें मंगवानी होंगी तो ब्रिटिश पोष्टके टिकट भेजकर मंगवाने में लाभ है। उदाहरण=)दो आनेकी पुस्तक पर वी.पी. व्यय ।-) पांच आने लगता है और एक रु. के पुस्तकों पर भी ।-) लगता है। पुस्तकें मंगवाने वाले इसका अवश्य विचार करें।

(२०) पत्र व्यवहार कृपया संस्कृत, हिंदी या आर्य भाषा, मराठी या अंग्रेजी में कीजिये। अन्य भाषाओंके पत्र यहां पढे नहीं जाते।

(२१) वापस आई हुई पुस्तकें पुनः मंगवानी होंगी तो डाकव्यय दुगना देना पडेगा।

(२२) एक समय भेजीं हुई पुस्तकें पुनः किसी भी कारण से वापस नहीं ली जायगी।

नियम परिवर्तन ।

उक्त नियमोंमें परिवर्तन करनेका अधिकार स्थानिक कार्यकारी मंडलको होगा। परंतु स्वा० मंडलकी उन्नतिके लिये सब सभासद अपनी सूचनाएं मंडलके पास भेज सकते हैं, जिनका निःपक्षपातसे विचार कर के योग्य सूचनाका अवश्य स्वीकार किया जायगा।

औंध, जि. सातारा, १जनवरी १९२८ — श्रीपाद दामोदर सातवळेकर, स्वाध्याय मंडल, औंध

[स्वाध्याय मंडल द्वारा प्रकाशित ।]

वैदिक धर्म के ग्रंथ

१ आगम निबंध माला ।

वेद अनंत विद्याओंका समुद्र है । इस वेद समुद्र-का मंथन करनेसे अनेक " ज्ञान रत्न " प्राप्त होते हैं, इन रत्नों की यह माला है ।

(१) वैदिक-राज्य पद्धति । मू । -)
(२) मानवी आयुष्य मू. ।)
(३) वैदिक सभ्यता मू. ।।।)
(४) वैदिक चिकित्सा शास्त्र । मू. ।=)
(५) वैदिक स्वराज्यकी महिमा । मू. ।।)
(६) वैदिक सर्पविद्या । मू. ।।)
(७) मृत्युको दूर करनेका उपाय । मू. ।।)
(८) वेदमें चर्खा । मू. ।।)
(९) शिवसंकल्प विजय । मू. ।।।)
(१०) वैदिक धर्मकी विशेषता । मू. ।।)
(११) तर्कसे वेदका अर्थ । मू. ।।)
(१२) वेदमें रोग जंतु शास्त्र । मू. ≡)
(१३) ब्रह्मचर्यका विघ्न । मू. =)
(१४) वेदमें लोहेके कारखाने । मू. ।-)
(१५) वेदमें कृषिविद्या । मू. ≡)
(१६) वैदिक जल विद्या । मू. =)
(१७) आत्मशक्तिका विकास । मू. ।-)
(१८) वैदिक उपदेश माला । मू. ।।)
(१९) इन्द्र शक्तिका विकास मू. ।।)

२ धर्म शिक्षा के ग्रंथ

बालक और बालिकाओंकी पाठशालाओंमें "धर्म शिक्षा" की पढाईके लिये तथा घरोंमें बालबच्चोंकी धार्मिक पढाईके लिये ये ग्रंथ विशेष रीतिसे तैय्यार किये हैं ।

(१) बालकोंकी धर्म-शिक्षा.

प्रथमभाग, प्रथम श्रेणीकी धर्म शिक्षा के लिये । मू. -)

(२) बालकों की धर्म-शिक्षा

द्वितीय भाग । द्वितीय श्रेणीकी धर्म शिक्षा के लिये । मू. =) दो आने ।

(३) वैदिक पाठमाला

प्रथम पुस्तक । तृतीय श्रेणीकी धर्म शिक्षा के लिये । मू. ≡)

अन्य श्रेणीयोंके लिये पुस्तक तैयार हो रहेहैं ।

[३] योगसाधन माला.

" योग साधन " का अनुष्ठान करनेसे शारीरिक आरोग्य, इंद्रियोंकी स्वाधीनता, मानसिक शक्तिका उत्कर्ष, बुद्धिका विकास और आत्मिक बलकी प्राप्ति होना संभव है। इसलिये यह " योग-साधन " हर-एक मनुष्यको करने योग्य है।

१ संध्योपासना.

योग की दृष्टिसे संध्या करनेकी प्रक्रिया इस पुस्तक में लिखी है। मू० १॥) डेढ. रु०

२ संध्याका अनुष्ठान।

(यह पुस्तक पूर्वोक्त " संध्योपासना " में संमिलित है,इस लिये "संध्योपासना" लेनेवालों को इसके लेनेकी आवश्यकता नहीं है।) मू० ॥)आठ आने।

३ वैदिक प्राण विद्या।

प्राणायाम करनेके समय जिस प्रकार " मनकी भावना " रखनी चाहिये, उसका वर्णन इस पुस्तक में है। मू.१) एक रु.

४ ब्रह्मचर्य.

इस पुस्तकमें " अथर्व वेदीय ब्रह्मचर्य सूक्त" का विवरण है। ब्रह्मचर्य साधनके योगासन तथा वीर्य-रक्षण के अनुभवसिद्ध उपाय इस पुस्तक में दिये हैं। यह पुस्तक "सचित्र" है। इसमें लिखे नियमों के अनुसार आचरण करनेसे थोडेही दिनोंमें वीर्य स्थिर होनेका अनुभव निःसन्देह होता है। मू०१।) सवा रु.

५ योग साधन की तैयारी.

जो सज्जन योगाभ्याससे अपनी उन्नति करना चाहते हैं, उनको अपनी तैयारी किस प्रकार करनी चाहिये इस विषयकी सब बातें इस पुस्तकमें लिखीं हैं। मू. १) एक रु.।

६ आसन।

इसमें उपयोगी आसनों का वर्णन चित्रोंके समेत दिया है। मू. २) रु.

७ सूर्यभेदन व्यायाम

(सचित्र) बलवर्धक योगके व्यायाम। मू. ॥।)

" योग साधन " के अन्य पुस्तक छप रहे हैं मुद्रित होतेही सूचना दी जायगी।

[४] यजुर्वेदका स्वाध्याय.

१ यजुर्वेद अ० ३० की व्याख्या।

" नर मेध " मनुष्योंकी उन्नतिका सच्चा साधन। वैदिक नरमेध कितना उपयोगी है, इस विषयका ज्ञान इस पुस्तकके पढनेसे हो सकता है। मू० १)एक रु.

२ यजुर्वेद अ० ३२ की व्याख्या।

"सर्वमेध" एक ईश्वर की उपासना। य.अ.३२ में एक ईश्वरकी स्पष्ट कल्पना बताई है। मू. ॥)

३ यजुर्वेद अ० ३६ की व्याख्या

" शांति करण" सच्ची शांति का सच्चा उपाय। व्यक्ति, समाज, राष्ट्र और जगत् में सच्ची शांति कैसी स्थापन की जा सकती है, इसके वैदिक उपाय इस पुस्तक में देखिये। मूल्य ॥=)

५ उपनिषद् ग्रंथ माला।

तत्त्वज्ञान के भंडारमें " उपनिषद् ग्रंथ " अमूल्य ग्रंथ हैं। तत्त्वज्ञान की अंतिम सीमा इन ग्रंथोंमें पाठक अनुभव कर सकते हैं। जीवनके समय ये ग्रंथ उच्च तत्त्वज्ञान के द्वारा सदाचार की शिक्षा देते हैं। और मृत्युके समय अमृतमय शांति प्रदान करते हैं। हरएक मनुष्यके लिये इन ग्रंथोंका पठन, मनन और अधिक विचार करनेकी अत्यंत आवश्यकता है।

१ ईश उपनिषद्।

इस पुस्तक में ईश उपनिषद्की व्याख्या है। मू. ॥।=

२ केन उपनिषद्।

इस पुस्तकमें केन उपनिषद् का अर्थ और स्पष्टीकरण, अथर्ववेदीय केन सूक्त की व्याख्या और देवी भागवतकी कथाकी संगति बता दी है। उमा, यक्ष, आदि शब्दोंके अर्थ वैदिक प्रमाणोंसे निश्चित करके बताया है, कि उनका स्थान आध्यात्मिक भूमिकामें कहां है और उसकी प्राप्तिका उपाय क्या है।

मू. १।) रु.

६ देवता-परिचय ग्रंथ-माला।

" वैदिक देवता " ओंका सूक्ष्मज्ञान होनेके विन वेदका मनन होना असंभव है, इसलिये इस ग्रंथमाला में "देवताओंका परिचय" करानेका यत्न किया है। पुस्तकोंके नामोंसेही पुस्तकोंके विषयका बोध हो सकता है –

१ रुद्र देवताका परिचय। मू. ॥)

२ ऋग्वेदमें रुद्र देवता। मू. ॥=)

३ ३३ देवताओंका विचार। मू. ≡)

४ देवता विचार। मू. ≡)

५ वैदिक अग्निविद्या। मू. १॥)

"अन्य" देवताओंका विचार और परिचय करानेवाले ग्रंथ तैयार हुए हैं, शीघ्रही मुद्रित होंगे।

७ ब्राह्मण बोध माला।

१ शत-पथ-बोधामृत। मू०।)

६

८ स्वयं-शिक्षक-माला।

१ वेदका स्वयं शिक्षक।

प्रथम भाग। मूल्य, १॥) डेढ रु०

२ वेदका स्वयं शिक्षक।

(द्वितीय भाग मू. १॥) डेढ रु०।

अथर्व वेद का सुबोध भाष्य !

प्रथम कांड।

इसमें निम्न लिखित विषयों का विचार हुआ है—

मेधाजनन, वैयक्तिक विजय, पिताके गुण-धर्म-कर्म, माताके गुण-धर्म-कर्म, पुत्रके-गुण धर्म-कर्म, कुटुम्बका विजय, औषधि प्रयोग, राष्ट्र का विजय, पार्जन्यसे आरोग्य, मित्र (प्राण) वायुसे आरोग्य, वारुण-चन्द्र-सूर्य से आरोग्य, पञ्चपाद पिता, पृथ्वीमें जीवन, मूत्रदोषनिवारण, जल की भिन्नता, जलमें औषध, समता और विषमता, बल की वृद्धि।

दीर्घ आयुष्यका साधन, प्रजनन शक्ति, धर्म प्रचार, अग्नि कौन है, ज्ञानी उपदेशक, ब्रह्मक्षत्रिय, इन्द्र कौन है, धर्मोपदेश का क्षेत्र, दुष्टोंका सुधार, मित भोजन करो, दुष्टजीवन का पश्चात्ताप, धर्मका दूत, ब्राह्मण और क्षत्रियोंके प्रयत्नका प्रमाण, डाकुओंको दंड, धर्म में नवप्रविष्टका आदर, दुष्टोंकी संतान का सुधार।

वर्चःप्राप्ति, देवताओं का संबन्ध, उन्नतिका मूलमंत्र, विजयके लिये संयम, ज्ञानसे जातिमें श्रेष्ठता की प्राप्ति, उन्नतिकी चार सीढियां, पापसे छुटकारा पानेका मार्ग।

एक शासक ईश्वर, ज्ञान और भक्ति, सुखप्रसूति, देवोंका गर्भमें विकास, गर्भवती स्त्री, सुख-प्रसूतिके लिये आदेश, धाई की सहायता, श्वासादि रोगनिवारण, सूर्य किरणों से चिकित्सा, अन्तर्यामी ईश्वर को नमन, तप का महत्त्व, युद्धमें सहायता, कुलवधू, पाहिला प्रस्ताव, प्रस्तावका अनुमोदन, वरकी परीक्षा, पातिके गुणधर्म, वधू की परीक्षा, कन्याके गुणधर्म, मंगनीका समय, सिरकी सजावट, मंगनी के पश्चात् विवाह।

संगठन - महायज्ञ, संगठन से शक्तिकी वृद्धि, यज्ञ में संगतिकरण, पशुभाव छोडनेका फल, चोर-नाशन, सीसे की गोली, रक्तस्राव बंद करना, घाव और रक्तस्राव, विधवा के वस्त्र, सौभाग्यवर्धन, बाणोंसे कुलक्षणोंको हटाना, हाथों और पावों का दर्द, सन्तान का कल्याण, शत्रु-नाशन, आन्तरिक कवच, दास भाव का नाश।

हृदयरोग तथा कामिला रोग की चिकित्सा, परिधारण विधि, रंगीन गौके दूधसे चिकित्सा, श्वेत-कुष्ठ-नाशक सूक्त, वनस्पतिके माता पिता, सूर्यसे वीर्यप्राप्ति, शीत-ज्वर-दूरीकरण, विजयी स्त्री का पराक्रम, इन्द्राणी, निर्जरायु, अभिवर्त मणि, राजाके गुण, आदित्य देवोंकी जाग्रती, देवोंके पिता और पुत्र, देवोंके स्थान, देहमें चार दिक्पाल, मनुष्यमें चार द्वारोंकी चार आशाएं, विद्दति द्वारसे प्रवेश, अमर दिक्पाल, हवनसे पूजन, जीवनरस का महासागर, जगत् के माता पिता, स्थूल-सूक्ष्म और कारण, मधुविद्या, दाक्षायण हिरण्य, सुवर्णधारण, राक्षस और पिशाच, सुवर्णका सेवन, मनुष्य के शरीरमें देवोंके अंश, काली कामधेनुका दूध।

मूल्य सजिल्द २) डाकव्यय ॥)

वी. पी. से ३) रु.

वैदिक उपदेश माला !

जीवन शुद्ध और पवित्र करनेके लिये बारह उपदेश हैं। इस पुस्तकमें लिखे बारह उपदेश जो सज्जन अपनायेंगे उनकी उन्नति निःसंदेह होगी। मूल्य ॥) आठ आने। डा व्यय =) दो आने।

स्वाध्याय मंडल, औंध (जि. सातारा)

वैदिक यज्ञ संस्था।

प्रथम भाग। मूल्य १) रु. डाकव्यय ।)

इस पुस्तक में निम्न लिखित विषयों का विचार हुआ है—

प्राचीन संस्कृत निबंध।

१-३ पिष्ट-पशुमीमांसा। लघु-पुरोडाश-मीमांसा।

भाषाके लेख। (ले०-श्री०-पं० बुद्धदेवजी) ४ दर्श और पौर्णमास, ५ अद्भुत कुमार संभव। (ले० -श्री० पं० चंद्रमणिजी) ६ बुद्ध के यज्ञ विषयक विचार (संपादकीय) ७ यज्ञका महत्त्व, ८ यज्ञका क्षेत्र, ९ यज्ञका गूढ तत्त्व, १० औषधियोंका महामख, (ले०-श्री०पं० धर्मदेवजी) ११ वैदिक यज्ञ और पशु-हिंसा। (ले०- श्री० पं० पुरुषोत्तम लालजी) १२ क्या वेदोंमें यज्ञों में पशुओंका बलि करना लिखा है?

वैदिक यज्ञ संस्था। द्वितीय भाग। मूल्य १) रु. डा. व्य. ।)

इस द्वितीयभागमें निम्नलिखित विषयोंका विचार हुआ है- (ले०-श्री· पं. देवशर्माजी विद्यालंकार)

भारतवर्षमें यज्ञकी कमी, यज्ञकी महिमा, यज्ञसे जो चाहे सो प्राप्त कर लो, यज्ञपुरुष का वर्णन, हवन प्रक्रिया, यज्ञशेष और उच्छेष, राजसूय, विश्वजित, अश्वमेध, गोमेध, सर्वमेध, वाजपेय, पंचमहायज्ञ, यज्ञ संसारकी नाभि है।

पं. बुद्धदेवजी लिखित=संज्ञपन और अवदान। संपादकीय=नरमेध का वैदिक तात्पर्य।

इतने विषयोंका विचार इस पुस्तकमें हुआ है। प्रत्येक विषयके प्रतिपादनके लिये वेदके अनेक प्रमाण दिये हैं और विषयका प्रतिपादन अति सुगम है। मूल्य १) डा. व्य. ।)

वैदिक यज्ञ संस्था। तृतीय भाग।

गोमेध।

इस पुस्तकमें निम्न लिखित विषयोंका विचार हुआ है—

योगमें गोमांस, प्रकरणानुकूल अर्थ विचार, ऋषिपंचमी, वेदका महासिद्धान्त, यज्ञकी पूर्व और उत्तरवेदी, मधुपर्क, कलिवर्ज्य प्रकरण, बृहदारण्यक का वचन, गौके वैदिक नाम, गोमेधका विचार, चरक की साक्षी, विवाहमें गोमांस, अतिथिके लिये गौ, यज्ञमें मांस, अन्त्य यज्ञ, वेदमें अहिंसा, अवध्य गौ और बैल, यज्ञका तत्त्व, गौको खाना।

गोमेधके दो सूक्तोंका सरल अर्थ, गौका दान, गौ दान लेने का अधिकारी, रक्षक और पाचक, गौका महत्त्व, राष्ट्ररक्षक गौ, गौके लिये सोमरस, सबकी माता गौ।

इत्यादि अनेक विषय इसमें आगये हैं। हरएक विषयका प्रतिपादन करनेके लिये अनेक वेदमंत्रोंके प्रमाण दिये हैं। जो कहते हैं कि "वैदिक समयमें गोमांस भक्षण की प्रथा थी," उनके लिये यह उत्तम उत्तर है। यह पुस्तक पढनेके पश्चात् उक्त विषयमें कोई शंका नहीं रहेगी।

मूल्य १) रु. डा. व्यय ।-)

स्वाध्याय मंडल, औंध (जि. सातारा)

अग्नि विद्या ।

इस पुस्तक में निम्न लिखित विषय हैं ।

१ अग्नि शब्दका भाव, २ अग्निके पर्याय शब्द, ३ पहिला मानव अग्नि, ४ वृषभ और धेनु, ५अंगिरा ऋषि, ६ वैश्वानर अग्नि, ७ ब्राह्मण और क्षत्रिय, ८ जनता का केन्द्र, ९ सब धन संघका है, १० बुद्धिमें पहिला अग्नि, ११ मनुष्यमें अग्नि, १२ मर्त्योंमें अमर अग्नि, १३वाणीमें अग्नि, १४पुरोहित अग्नि, १५शक्ति प्रदाता अग्नि, १६ हस्त-पाद-हीन गुह्य अग्नि, १७ वृद्ध नागरिक, १८मूकमें वाचाल, १९अनेकों का प्रेरक एक देव, २० जीवनाग्नि, २१ अग्निकी दस बहिनें, २२ देवोंके साथ रहनेवाला अग्नि, २३ यज्ञका झंडा, २४ गुहा निवासी अग्नि, २५ सात संख्याका गुह्य तत्त्व, २६ तनूनपात् अग्नि, २७ यज्ञ पुरुष, यज्ञशाला, मंदिर (चित्र), २८ परमाग्नि, २९ अग्नि सूक्त का अर्थ और व्याख्या ।

हर एक विषयको सिद्ध करने के लिये वेद के विपुल प्रमाण दिये हैं। इस पुस्तकके पढने से अग्नि विद्या की वैदिक कल्पना ठीक प्रकार ज्ञात हो सकती है। मूल्य १॥) रु. डाकव्यय ।) है

'केन' उपनिषद् !

इस पुस्तकमें निम्न लिखित विषयोंका विचार हुआ है-

१ केन उपनिषद्का मनन, २ उपनिषद् ज्ञान का महत्त्व, ३ उपनिषद् का अर्थ, ४ सांप्रदायिक झगडे, ५ 'केन' शब्द का महत्त्व, ६ वेदान्त, ७ उपनिषदों में ज्ञान का विकास, ८ अग्नि शब्दका भाव, ९ उपनिषद्के अंग, १० शांतिमंत्रोंका विचार, ११ तीनों शांति मंत्रों में तत्त्वज्ञान, १२ तीन शांतियोंका भाव, १३ ईश और केन उपनिषद्, १४ "यक्ष" कौन है ? १५ हैमवती उमा, १६ पार्वती कौन है ? १७ पर्वत, पार्वती, रुद्र, सप्तऋषि और अरुंधती, १८ इंद्र कौन है? १९ उपनिषद् का अर्थ और व्याख्या, २० अथर्ववेदीय केनसूक्तका अर्थ और व्याख्या, २१ व्यष्टी, समष्टी और परमेष्ठी, २२ त्रिलोकी, २३ अथर्वाका सिर, २४ ब्रह्मज्ञानी की आयुष्यमर्यादा, २५ ब्रह्मनगरी, अयोध्या, आठ चक्र, २६ आत्मवान् यक्ष, २७ अपनी राजधानीमें ब्रह्मका प्रवेश, २८ देवी भागवत में देवी की कथा, २९ वेदका वागांभृणी सूक्त, इंद्र सूक्त, वैकुंठ सूक्त, अथर्व सूक्त, ३० शाक्तमत, देव और देवताकी एकता, ३१ वैदिक ज्ञान की श्रेष्ठता।

इतने विषय इस पुस्तक में आगये हैं इस लिये उपनिषदोंका विचार करनेवालों के लिये यह पुस्तक अवश्य पढने योग्य है। मूल्य १।) रु. डाकव्यय ≡) है।

स्वाध्याय मंडल, औंध. (जि. सातारा)

संस्कृत पाठ माला।

[स्वयं संस्कृत सीखने का अत्यंत सुगम उपाय।]

हरएक आर्यका कर्तव्य है कि वह संस्कृत भाषा सीखे और वेद तथा आर्ष शास्त्र स्वयं पढे, उसका मनन करे और प्रचार करे।

यह कर्तव्य तबतक ठीक रीतिसे पालन नहीं हो सकता, जबतक संस्कृत सीखनेके सुगम साधन निर्माण नहीं हुए हों। इस कठिनता का हम गत दस वर्षोंसे मनन कर रहे हैं। इन वर्षोंमें हमने अनेक प्रयत्न किये, छोटे और बडे विद्यार्थियोंको भिन्न भिन्न रीतियोंसे पढा कर अनुभव लिया और इतने अनुभव का और मननका निचोड इन पुस्तकोंमें संगृहित किया है। इसी लिये ये पुस्तक अत्यंत सुगम और सबके उपयोगी सिद्ध होगये हैं।

ये पुस्तक हमने छः से दस वर्षोंके बालकों और बालिकाओंको पढाये और अनुभव लिया, कि ये छोटे बालक पहिले महिनेसे ही छोटे छोटे वाक्य संस्कृत में बोलने लगते हैं और इन पुस्तकों की पढाई करना उनके लिये एक बडा आनंद का कार्य हो जाता है!! इसी प्रकार स्त्रियों और पुरुषोंके लिये भी ये पुस्तक अत्यंत लाभकारी सिद्ध हुए हैं।

इसी लिये आपसे निवेदन है कि आप इन पुस्तकों की सूचना अपने समाजके आर्य सभासदों, सदस्यों और प्रेमी भद्र पुरुषोंको दीजिये। हर एक आर्य भाई अवश्य संस्कृत सीखे। कईयों को अबतक पता नहीं है कि ऐसी सुगम पुस्तकें बनी हैं। इस लिये आप यथा संभव जितनोंको इन पुस्तकों की सूचना दे सकते हैं दीजिये, ताकि आपकी प्रेरणा द्वारा वहां के भद्रपुरुष संस्कृत के अभिज्ञ बनें।

आप अपने समाजके अधिवेशनोंमें इसकी घोषणा दीजिये और ऐसी व्यवस्था कीजिये कि आपके स्थान पर अधिक से अधिक मनुष्य संस्कृत पढनेवाले बनें।

हरएक की सुविधा के लिये इस संस्कृत पाठमालाके बारह पुस्तकों का मूल्य म० आ० से केवल ३ तीन रु. रखा है। वी. पी. से. ४ रु० होगा। इस लिये ग्राहक म० आ० से ही ३) रु. भेजें, वी. पी. से मंगवाने पर उनका व्यर्थ नुकसान होगा।

आशा है कि आप इस संस्कृत के प्रचार के लिये इतनी सहायता देंगे।

जहां अन्य स्थानोंमें सहस्रों मनुष्य इन पुस्तकोंसे लाभ उठा रहे हैं, वहां आपके परिचित मनुष्य क्यों वंचित रहें?

इस लिये इन पुस्तकों की सूचना आप अधिकसे अधिक मनुष्योंतक पहुंचानेकी कृपा कीजिये।

संस्कृत पाठमाला के अध्ययन से लाभ।

(१) अपना कामधंदा करते हुए फुरसतके समय आप किसी दूसरेकी सहायता के विना इन पुस्तकोंको पढकर अपना संस्कृत का ज्ञान बढा सकते हैं।

(२) प्रतिदिन घंटा अथवा आध घंटा पढनेसे एक वर्षके अंदर आप रामायण महाभारत समझने की योग्यता प्राप्त कर सकते हैं।

(३) पुस्तक अत्यंत सुगम हैं। विना नियमों को कंठ किये आपका संस्कृत भाषामें प्रवेश हो सकता है।

(४) घरमें पुत्रों, पुत्रियों और स्त्रियोंको इन पुस्तकों का पढना और पढाना अत्यंत सुगम है। इन पुस्तकोंके पठनसे आपके घर के सब मनुष्य संस्कृत जाननेवाले हो सकते हैं।

(५) पाठशालामें जानेवाले विद्यार्थी इन पुस्तकों से बडा लाभ प्राप्त कर सकते हैं।

यदि आपके मनमें संस्कृत सीखनेकी इच्छा है तो आप इन पुस्तकों के ग्राहक बन जाइये।

संस्कृत पाठ माला.

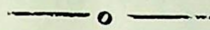
[चोवीस भागोंमें सब संस्कृत की पढाई हो गई है।]



बारह पुस्तकोंका मूल्य म. आ. से ३) और वी. पी. से ४)

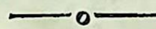
चोवीस पुस्तकोंका मूल्य म. आ. से ६) रु. और वी. पी. से ७)

प्रतिभाग का मूल्य ।-) पांच आने और डा. व्य. -) एक आना।



अत्यंत सुगम रीतिसे संस्कृत भाषाका अध्ययन करनेकी अपूर्व पद्धति।

इस पद्धतिकी विशेषता यह है--



१ प्रथम द्वितीय और तृतीय भाग।

इन तीन भागोंमें संस्कृत भाषाके साथ साधारण परिचय करा दिया गया है।

२ चतुर्थ भाग।

इस चतुर्थ भागमें संधि विचार बताया है।

३ पंचम और षष्ठ भाग।

इन दो भागोंमें संस्कृतके साथ विशेष परिचय कराया गया है।

४ सप्तम से दशम भाग।

इन चार भागोंमें पुल्लिंग, स्त्रीलिंग और नपुंसक लिंगी नामोंके रूप बनानेकी विधि बताई है।

५ एकादश भाग।

इस भागमें "सर्वनाम" के रूप बताये हैं।

६ द्वादश भाग।

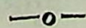
इस भागमें समासों का विचार किया है।

७ तेरहसे अठारहवें भाग तक के छः भाग।

इन छः भागों में क्रियापद विचार की पाठविधि बताई है।

८ उन्नीससे चौवीसवें भागतकके छः भाग।

इन छः भागोंमें वेदके साथ परिचय कराया है।



अर्थात् जो लोग इस पद्धतिसे अध्ययन करेंगे उन को अल्प परिश्रमसे बडा लाभ हो सकता है।

स्वाध्याय मंडल, औंध (जि. सातारा)

REGISTERED NO. B. 1819

अंक ५१  [द्रोणपर्व १]

महाभारत।

(भाषा--भाष्य--समेत)

संपादक — श्रीपाद दामोदर सातवळेकर.
स्वाध्याय मंडल, औंध (जि. सातारा)

१२ अंकोंका मूल्य म. आ. से. ६) और वी. पी. से ७) विदेशके लिये ८)

पत्रिभिः सुदृढैराशु धनुश्चैव महाद्युतेः ।
निमेषान्तरमात्रेण भारद्वाजोऽपरं धनुः ॥ ३७ ॥
सज्यं चकार तदपि चिच्छेदाऽस्य च सात्यकिः ।
ततस्त्वरन्पुनर्द्रोणो धनुर्हस्तो व्यतिष्ठत ॥ ३८ ॥
सज्यं सज्यं धनुश्चाऽस्य चिच्छेद निशितैः शरैः ।
एवमेकशतं छिन्नं धनुषां दृढधन्विना ॥ ३९ ॥
न चाऽन्तरं तयोर्दृष्टं सन्धाने छेदनेऽपि च ।
ततोऽस्य संयुगे द्रोणो दृष्ट्वा कर्माऽतिमानुषम् ॥ ४० ॥
युयुधानस्य राजेन्द्र मनसैतदचिन्तयत ।
एतदस्त्रबलं रामे कार्त्तवीर्ये धनञ्जये ॥ ४१ ॥
भीष्मे च पुरुषव्याघ्रे यदिदं सात्वतां वरे ।
तं चाऽस्य मनसा द्रोणः पूजयामास विक्रमम् ॥४२ ॥
लाघवं वासवस्येव सम्प्रेक्ष्य द्विजसत्तमः ।
तुतोषाऽस्त्रविदां श्रेष्ठस्तथा देवाः सवासवाः ॥ ४३ ॥
न तामालक्षयामासुर्लघुतां शीघ्रचारिणः ।

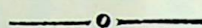
वृष्णिवंशी पराक्रमी सात्यकिने अपने तीक्ष्ण-बाणोंसे महातेजस्वी द्रोणाचार्यके धनुष बाणको शीघ्रही काट दिया ॥ अनन्तर द्रोणाचार्यने क्षणभरके बीच दूसरे धनुष पर रोदा चढा लिया; सात्यकिने उस ही समय उस धनुषको भी काट दिया । द्रोणाचार्य जब दूसरे धनुषको लेकर उस पर रोदा चढाते थे, सात्यकि उस ही समय अपने तीक्ष्ण बाणोंसे उनके धनुषको काट देते थे । इसही प्रकार सात्यकिने एकसौ बार द्रोणाचार्यके धनुषको अपने बाणोंसे काट कर पृथ्वीमें गिराया । (३५-३९)

हे राजेन्द्र ! तिसके अनन्तर द्रोणाचार्यने युद्धभूमिके बीच सात्यकिका अलौकिक कर्म देखकर अपने मनही मन चिन्ता किया, कि यदुकुलभूषण सात्यकिका जिस ही भांति परशुराम कार्त्तवीर्य अर्जुन और पुरुषसिंह भीष्मका अस्त्र पराक्रम मैंने अवलोकन किया था, और पाण्डुपुत्र अर्जुनमें भी वैसा ही पराक्रम विद्यमान है ऐसा विचार करते हुए द्रोणाचार्य ने मन ही मन सात्यकि के पराक्रम की प्रशंसा करी ॥ (४०-४२)

अस्त्रशस्त्रोंके मर्मको जाननेवाले द्विजसत्तम द्रोणाचार्य देवराज इन्द्रके समान सात्यकिका हस्तलाघव देख जिस भांति

महाभारत।

महाभारत के पठन से लाभ ।



(१) आर्यजातिका अत्यंत प्राचीन इतिहास विदित होगा।
(२) आर्यनीति शास्त्रका उत्तम बोध होगा।
(३) भारतीय राजनीति शास्त्र का ज्ञान होगा।
(४) आर्यों को समाजसंस्थाओंकी उत्क्रांतिका बोध होगा।
(५) आर्य राज्यशासनपद्धतिका पता लगेगा।
(६) ऋषियोंके धर्मवचनों का बोध होकर सनातन मानव धर्मका उत्तम ज्ञान होगा।
(७) चार वर्णों और चार आश्रमों की प्राचीन व्यवस्था के स्वरूपका पता लग जायगा।
(८) कई आलंकारिक कथाओंके मूलका पता लग जायगा।
(९) वैदिकधर्मके प्राचीन आचार विचारोंका ज्ञान होगा और—
(१०) प्राचीन आर्य लोगोंका सदाचार देखकर हमें आजकी स्थितिमें किस प्रकार व्यवहार करना चाहिये, इसका निश्चित ज्ञान होगा।

तात्पर्य हरएक अवस्थामें अपने प्राचीन पूर्वजोंके इतिहास का ज्ञान प्राप्त होनेसे अनन्त लाभ हो सकते हैं इसलिये, आप स्वयं महाभारतका पाठ कीजिये, मनन कीजिये और बोध प्राप्त कीजिये तथा दूसरोंको वैसा करनेके लिये प्रेरणा कीजिये।

प्रतिमास १०० पृष्ठोंका एक अंक प्रसिद्ध होता है. १२ अंकोंका अर्थात् १२०० पृष्ठोंका मूल्य म. आ. ६) और वी. पी. से ७) रु. है।

आप अपना नाम ग्राहक श्रेणीमें लिखवा कर अपना चंदा म. आ. से ६)रु. भेज दें तथा अपने मित्रोंको ग्राहक बनने के लिये उत्साह दीजिये।

इन्द्र शक्तिका विकास।

मनुष्य मात्र में इन्द्रशक्ति है, परंतु वह इतनी जाग्रत नहीं है। उसको जाग्रत करना और विकसित करना योगानुष्ठानोंसे साध्य होता है। उसके निर्देश वेद और उपनिषदोंमें अनेक हैं। इनकी संगति लगाकर अपने अंदर इन्द्रशक्तिका संवर्धन करनेकी अनुष्ठानपद्धति इसमें दर्शायी है। जो लोग इसपुस्तक का मनन करेंगे उनको इसके अनुष्ठानकी कल्पना ठीक रीतिसे हो सकती है। यह अनुष्ठान सुगम है, इसलिये प्रायः सभी मनुष्य कर सकते हैं। इस पुस्तक में निम्न लिखित विषयों का विचार हुआ है--

मनुष्य जीवन का उद्देश्य, अपने अंदर की शक्तियां, अपने अंदरकी इन्द्रशक्ति, इन्द्र और स्वर्ग, इन्द्रके गुण धर्म, इन्द्रशक्ति के विकास के चिन्ह, इन्द्र तत्त्व सूर्य में है, सब शक्तियोंका मूल स्रोत, मानुष्य का ध्येय, अभ्युदय, मृत्यु और अमरत्व, इन्द्र और वृत्रका युद्ध।

इन्द्र शक्ति का घातक खानपान, इन्द्र और मरुत्, प्राणायाम की पूर्व तैयारी, आसन और प्राणायाम प्रयत्नसे इन्द्र शक्तिका वर्धन, पिता और पुत्र, ऋतुओंका साक्षात्कार।

इन्द्र शक्तिका वर्धक खान पान, अनुष्ठानका तत्त्व, वैदिक विकासवाद, वैदिक संकोचवाद, संकोच विकास का स्वरूप, बीज प्रदाता ईश्वर, देवोंका प्रवेश मार्ग (चित्र), गर्भ प्रकरण, संपूर्ण तेजों का तेज, आत्माकी मुक्ति, आठ चक्र और नंदनवन, चक्र व्यूहमें प्रवेश।

पुरुषार्थका अवसर, शरीर में देवताओंका निवास, (चित्र) अपनी आत्मशक्तिका ध्यान, अपने अंदर, ३३ देवताओं का निवास, उनका अपने अंदर अनुभव, उन्नतिका उपाय, दो मार्ग, प्रकाशका मार्ग, अनुष्ठान।

इस प्रकार यह पुस्तक अनुष्ठान करनेवाले महाशयोंके लिये बडा उपयोगी है।

मूल्य ॥) और डाक व्यय =) है।

छूत और अछूत।

अत्यन्त महत्त्वपूर्ण ग्रन्थ! अत्यन्त उपयोगी!!

इसमें निम्न लिखित विषयों का विचार हुआ है,

१ छूत अछूत के सामान्य कारण,
२ छूत अछूत किस कारण उत्पन्न हुई और किस प्रकार बढी,
३ छूत अछूत के विषयमें पूर्व आचार्योंका मत,
४ वेद मंत्रों का समताका मननीय उपदेश,
५ वेदमें बताए हुए उद्योग धंदे,
६ वैदिक धर्मके अनुकूल शूद्रका लक्षण,
७ गुणकर्मानुसार वर्ण व्यवस्था,
८ एक ही वंशमें चार वर्णों की उत्पत्ति,
९ शूद्रोंकी अछूत किस कारण आधुनिक है,
१० धर्मसूत्रकारोंकी उदार आज्ञा,
११ वैदिक कालकी उदारता,
१२ महाभारत और रामायण समयकी उदारता
१३ आधुनिक कालकी संकुचित अवस्था।

इस पुस्तकमें हरएक कथन श्रुति, स्मृति, पुराण, इतिहास, धर्मसूत्र आदि के प्रमाणोंसे सिद्ध किया गया है। यह छूत अछूत का प्रश्न इस समय अति महत्त्वका प्रश्न है और इस प्रश्नका विचार इस पुस्तक में पूर्णतया किया है।

प्रथम भाग मू. १) डा. व्य. =)

द्वितीय भाग मू. ॥।) ,, =)

वेदोंका शुद्ध मुद्रण।

यजुर्वेद।

दैनिक स्वाध्याय के लिये वेदोंकी चारों संहिताओं का, उपलब्ध शाखा संहिताओंके साथ, शुद्ध मुद्रण करनेका संकल्प किया है। इस कार्य के लिये श्रीमान् महाराजा साहेब औंध नरेशजी से पांच सहस्र रु० दान भी गतवर्ष प्राप्त हुआ था। उक्त दान प्राप्त होते ही यजुर्वेदका मुद्रण शुरू किया जो इस समय तैयार हो चुका है। इसके तैयार करनेके लिये जहां जहां शुक्लयजुर्वेदी माध्यन्दिन शाखीय विद्वान ब्राह्मणोंके स्थान थे वहांसे उनके पाससे शुद्ध हस्त लिखित ग्रंथ मंगवाये। उनकी पडताल करनेसे मंत्रपाठका निश्चय किया। इस पडताल से अबतक छपे ग्रंथोंकी अनेक अशुद्धियोंका पता लगा। इतना करनेपर भी जहां पाठनिश्चय केवल पुस्तकों द्वारा तथा भाष्योंके मनन से भी न हो सका, वहां का पाठनिश्चय घनान्त वेदपाठी विद्वान ब्राह्मणोंके वेद-पाठ श्रवण करके और स्थान स्थान के ब्रह्मवृंदों से पूंछ कर किया है। इस प्रकार बडे परिश्रमसे इस यजुर्वेद का मुद्रण किया है।

शुक्लयजुर्वेद की काण्व और वाजसनेयी ये दो शाखा संहिताएं हैं। यह वाजसनेयी शाखा संहिता का मुद्रण है। इसीके समान काण्व शाखा की संहिता है। जिस के मंत्रपाठमें कुछ भिन्नता है। परंतु संहिता का क्रम इसीके समान है। अध्याय ४० ही हैं, परंतु कुछ मंत्र आगे पीछे हैं। दोनों की तुलना करना स्वाध्याय के लिये अत्यावश्यक है, इसलिये विस्तारपूर्वक इस काण्व संहिताके पाठभेद मुद्रित किये हैं।

ये पाठभेद देनेके समय प्रतिपृष्ठपर काण्वशाखा का अध्याय दर्शाया है। साथ साथ दशक दिये हैं। अनुवाक बताये हैं। एक ओर वाजसनेयी संहिता के मंत्रांक दिये हैं। वहां ही मंत्रोंका प्रारंभ दिया है। जितना मंत्रभाग भिन्न है उतनाही उसके आगे दिया है और दूसरी ओर काण्वसंहिता का मंत्रांक दिया है। इससे पाठक थोडेसे अवलोकन से जान सकते हैं कि एक संहिताका एक मंत्र दूसरी संहिता में कहां है और किस रूपमें है। स्वाध्याय के लिये यह अत्यंत आवश्यक है।

तत्पश्चात् अध्यायक्रमसे और अकारादिक्रमसे ऋषि और देवता सूचियाँ दी हैं। इसके पश्चात् अध्यायक्रमसे विषयसूची भी दी है। इससे स्वाध्यायशील पाठकोंको स्वाध्याय करनेके लिये बहुत सहायता मिल सकती है।

इसका नमूना पृष्ठ इस पृष्ठके साथ साथ दिया है। इस से पाठक जान सकते हैं कि इसमें कैसे अलग अलग मंत्र दिये हैं, किसी प्रकार भी मंत्रोंकी संकीर्णता नहीं है। एक एक मंत्र खुला और स्पष्ट मुद्रित हुआ है। पाठक इस स्वाध्याय की सुविधाका अनुभव करें और इस पुस्तक का संग्रह करें।

पाठकों की सुविधाके लिये मूल्य अल्पही रखा है-

यजुर्वेद विना जिल्द	१।।)रु.	डा. व्य.।=)
कपडा और कागजकी जिल्द	२)	" " ।।)
पूर्णकपडेकी जिल्द	२।।)	" " "
पूर्णरेशीम की जिल्द	३)	" " "

तपसे स्वाहा तप्यते स्वाहा तप्यमानाय स्वाहा तप्ताय स्वाहा घर्माय स्वाहा।
निष्कृत्यै स्वाहा प्रायश्चित्यै स्वाहा भेषजाय स्वाहा॥ १२॥

यमाय स्वाहान्तकाय स्वाहा मृत्यवे स्वाहा।
ब्रह्मणे स्वाहा ब्रह्महत्यायै स्वाहा विश्वेभ्यो देवेभ्यः स्वाहा
द्यावापृथिवीभ्याꣳ स्वाहा॥ १३॥ [१९५८]

इत्येकोनचत्वारिंशोऽध्यायः।

अथ चत्वारिंशोऽध्यायः।

ईशा वास्यमिदꣳ सर्वं यत्किं च जगत्यां जगत्।
तेन त्यक्तेन भुञ्जीथा मा गृधः कस्य स्विद्धनम्॥ १॥

कुर्वन्नेवेह कर्माणि जिजीविषेच्छतꣳ समाः।
एवं त्वयि नान्यथेतोऽस्ति न कर्म लिप्यते नरे॥ २॥

असुर्या नाम ते लोका ऽअन्धेन तमसावृताः।
ताँस्ते प्रेत्यापि गच्छन्ति ये के चात्महनो जनाः॥ ३॥

अनेजदेकं मनसो जवीयो नैनद्देवा ऽआप्नुवन्पूर्वमर्शत्।
तद्धावतोऽन्यानत्येति तिष्ठत्तस्मिन्नपो मातरिश्वा दधाति॥ ४॥

तदेजति तन्नैजति तद्दूरे तद्वन्तिके।
तदन्तरस्य सर्वस्य तदु सर्वस्यास्य बाह्यतः॥ ५॥

यस्तु सर्वाणि भूतान्यात्मन्नेवानुपश्यति।
सर्वभूतेषु चात्मानं ततो न वि चिकित्सति॥ ६॥

यस्मिन्त्सर्वाणि भूतान्यात्मैवाभूद्विजानतः।
तत्र को मोहः कः शोक ऽएकत्वमनुपश्यतः॥ ७॥

स पर्यगाच्छुक्रमकायमव्रणमस्नाविरꣳ शुद्धमपापविद्धम्।
कविर्मनीषी परिभूः स्वयम्भूर्याथातथ्यतोऽर्थान्व्यदधाच्छाश्वतीभ्यः समाभ्यः॥ ८॥

आसनों का चित्रपट ।

आसनों का व्यायाम लेनेसे सहस्त्रों मनुष्योंका स्वास्थ्य सुधर चुका है। इस लिये आसन व्यायामसे स्वास्थ्य लाभ होनेके विषयमें अब किसी को संदेह ही नहीं रहा है । अतः लोग सब आसनोंके एक ही कागज पर छपे हुए चित्रपट बहुत दिनोंसे मांग रहे थे। वैसे चित्रपट अब मुद्रित किये हैं। २०--३० इंच कागज पर सब आसन दिखाई दिये गये हैं। यह चित्रपट कमरे में दिवार पर लगाकर उस के चित्रोंको देख कर आसन करनेकी बहुत सुविधा अब हो गई है ।

मूल्य केवल ≡) तीन आने और डाक व्यय –) एक आना है ।

वेदका स्वयं शिक्षक !

प्रथम और द्वितीय भाग ।

ये अत्यंत सुगम रीतिसे वेदमें प्रवेश करानेवाले पुस्तक हैं । जो पाठक प्रतिदिन आधा घण्टा इन के अध्ययन के लिये देंगे, उनका प्रवेश वेदके भव्यमंदिरमें सुगमतासे हो सकता है । इतने सुबोध पुस्तक अबतक तैयार नहीं हुए हैं। इस समय दो भाग तैयार हैं। प्रत्येक भाग का मूल्य १॥) डेढ रु. और डाकव्यय तीन आने ≡) है।

स्वाध्याय मंडल – औंध, जि. (सातारा)

मराठी पुस्तकें.

पुरुषार्थ ग्रंथ माला.

---

१ संध्या [उपासना]

मराठी अर्थासह, किं०१ आणा. व ट. ख.१आणा. संध्या हा 'ध्यानयोग' च आहे व तो विशिष्ट भावना मनांत स्थिर करीत गेल्यानेंच सिद्ध होणार आहे. अशा रीतिनें संध्या करतां यावी म्हणूनच या पुस्तकामध्यें संध्येचे मूळ वेदमंत्र दिले असून त्या खालीं त्या मंत्रांचें सरळ मराठी भाषांतर दिलें आहे, हें भाषांतर वाचलें असतां मंत्र म्हणतेवेळीं संध्या करतांना जी भावना मनांत धरणें अवश्य आहे तिचें सहज ज्ञान होईल व अशा रीतिनें संध्या करीत गेल्यास हरएकास आपली ऐहिक व पारमार्थिक उन्नति सहज साध्य करून घेतां येईल.

२ सूर्यास नमस्कार.

(ले०-श्री० बाळासाहेब पंत, बी. ए. प्रतिनिधि सं. औंध.)

या पुस्तकांत नमस्कारांच्या व्यायामाची सचित्र पद्धति दिली आहे. सुमारें दीड तप न चुकतां दररोज स्वतः श्रीमंतांनीं या पद्धतिनें नमस्कारांचा व्यायाम घेतला. अशा अनुभवानें या व्यायामाची श्रेष्ठता स्वतः पाहिल्यानंतर श्रीमंतांनीं औंध संस्थाना मध्यें सर्व शाळांतून हा नमस्कारांचा व्यायाम अवश्य केला. त्यामुळें सर्व साधारणपणें सर्व मुलांवर इष्ट परिणाम झाल्याचें दिसून आलें.इतक्या अनुभवानंतर हें पुस्तक श्रीमंतांनीं लिहिलें आहे. म्हणून त्याची श्रेष्ठता सहज समजेल. किं ४ आणे,ट. ख. १ आणा.

नमस्कारांचा सचित्र तक्ता.

(२० + ३० इंच म्ह०) सुमारें सवा हात रुंद व पावणेदोन हात लांब अशा कागदावर समंत्रक नमस्कारांचीं २५ नांवें क्रमानें छापलीं आहेत व वर उगवत्या सूर्याचें प्रेक्षणीय चित्र दिलें आहे व नमस्कार घालण्याची रीति दाखवणारीं चित्रेंही क्रमानें दिलीं आहेत. किंमत २ आणे, ट. ख. एक आणा.

३ मनुष्याचें आयुष्य.

मनुष्याचें आयुष्य किती आहे, तें वाढवतां येतें कीं नाहीं, वाढवतां येत असल्यास तें कोणत्या उपायांनीं वाढवतां येतें, पूर्वीं कोणी या उपायांनीं आपलें आयुष्य वाढवलें होतें कीं काय; पूर्वीं या देशांत कोणी कसें व कितीं आपलें आयुष्य वाढवलें, आज आपणांस आमचें आयुष्य कोणत्या उपायांनीं वाढवतां येईल, इत्यादि विषयांचें विवेचन शास्त्रीय प्रमाणांसह या पुस्तकांत आहे. किं ३ आणे. ट. ख. १ आणा.

४ स्वधर्माची ओळख.

यांत स्वधर्माची ओळख पटविणारे लेख आहेत. हें पुस्तक वाचलें असतां आपल्या धर्माची उत्तम माहिती होईल. किं० ४ आणे. ट. ख.१ आणा.

५ वैदिक संस्कृतीचें स्वरूप

या पुस्तकामध्यें वैदिक संस्कृतीचें स्वरूप, दिव्य ऋषींचें दर्शन, शिक्षणाचें ध्येय, स्वराज्याची पात्रता, प्राचीन हिंदुस्थानांतील स्वराज्य वगैरे विषयांचें विवरण आहे. हें पुस्तक वाचलें असतां आर्यांच्या प्राचीन संस्कृतीची उत्कृष्ट कल्पना होऊं शकते.

किं० ४ आणे, ट. ख. १ आणा.

६ सूर्यभेदन व्यायाम (मराठी)

खात्रीनें आरोग्य, बल व आयुष्य वाढवणारा योगासनांचा व्यायाम. किंमत. ६ आणे ट. ख. १ आणा.

७-१० आरोग्यासाठीं योगसाधन.

प्रथम, द्वितीय, तृतीय व चतुर्थ भाग.

प्रत्येक भागाची किंमत आठ आणे;प्रत्येकींट.ख.२आणे.

या पुस्तकांत मनुष्याच्या आरोग्य साधनासाठीं योगसाधनाच्या जेवढया भागांचा विचार करणें आवश्यक आहे तेवढा अगदीं सुबोध रीतिनें केला आहे.

या पुस्तकामध्यें आरोग्यासाठीं योगसाधन कसें करावें तें दाखवलें आहे. शरीराच्या आरोग्यासाठीं आवश्यक असणारीं आसनें यांमध्यें सचित्र दिलीं असून, त्या संबंधीं भरपूर माहिती दिलेली आहे. या शिवाय हीं आसनें करण्यापासून कोणास कसा फायदा झाला तें त्यांच्याच शब्दांत दिलें आहे. यांतील आसनें केल्यानें मनुष्यास रोगाची बाधा होणार नाहीं.

आसनांचा चित्रपट.

भिंतीवर टांगून त्याकडे पाहत आसनांचा व्यायाम घेणें फार सोईचें होतें.२० । ३० इंच आकाराच्या उत्तम जाड कागदावर सर्व आसनें दाखवलीं आहेत. आसनांचा अभ्यास करणारांनीं हा चित्रपट लवकर मागवावा. किंमत तीन आणे. व. ट. ख. १आणा.

पुरुषार्थाचे कायमचे वर्गणीदार.

जे लोक पुरुषार्थ-मासिकाला कायमचे वर्गणीदार होऊं इच्छितील त्यांनीं एकवेळ पंचवीस रु०पुरुषार्थ कचेरींत भरावे, म्हणजे ते कायमचे वर्गणीदार होतील व पुढें केव्हांही त्यांस वर्गणी भरावी लागणार नाहीं. पुरुषार्थाचा आकार वाढून जरी वर्गणी वाढली तरी त्यांस याच देणगीवर सतत "पुरुषार्थ" मासिक मिळत जाईल.

पुरुषार्थ मासिकाची वार्षिक वर्गणी म. आ. नें २ रु० व वी. पी. नें २॥ रु. नमुन्याचा अंक मागवा.

मराठी

संस्कृत स्वयं शिक्षक.

चोविस भागांमध्यें संस्कृत भाषेचें अध्ययन.

अगदीं सुगम पद्धतिनें संस्कृत भाषा शिका.

चोविस भागांची आगाऊ म. आ. नें किंमत ६ रु. वी. पी. नें ७ रु. ट. ख. माफ.

बारा भागांची आगाऊ म. आ. नें किंमत ३॥ रु. व वी. पी. नें ४॥ रु.

प्रत्येक भागाची किंमत ५ आणे व. ट. ख.१ आणा.

घरीं बसल्या स्वतःच अध्ययन करा.

दुसऱ्याच्या मदतीवांचून स्वतःच अध्ययन करतां येतें.

हायस्कुलांतील विद्यार्थ्यांला अपूर्व संधी.

हीं पुस्तकें हरएक पुस्तक विकणाराकडे विकत मिळतील.



स्वाध्याय मंडलांतून प्रसिद्ध

झालेलीं हिंदी पुस्तकें.

हिंदी भाषा ही सर्व हिंदुस्थानची राष्ट्रभाषा आहे. म्हणून सर्व हिंदवासीयांस, मग ते कोणत्याही प्रांतांतील कोणतीही जन्मभाषा बोलणारे असोत; त्यांस हिंदी भाषा ही आलीच पाहिजे. या साठीं आम्हीं मुद्दाम अगदीं सोप्या हिंदी भाषेंत बरींच पुस्तकें प्रकाशित केलीं आहेत. हीं इतकीं सोपीं आहेत कीं तीं मराठी वाचकांस सहज समजतात. या साठीं मराठी वाचकांनीं हीं हिंदी पुस्तकें घेऊन आपल्या धर्मज्ञाना बरोबर राष्ट्रभाषेचेंही ज्ञान वाढवावें.

मंत्री—" स्वाध्याय मंडल" औंध (जि. सातारा)

यजुर्वेद वाजसनेयी संहिता.

उपलब्ध शाखासंहितांसह चारही वेदांचें मुद्रण करावें असा आमचा मनोदय पुष्कळ दिवसांपासून होता. या पवित्र कार्यास श्रीमंत महाराज सरकार बाळासाहेब पंत प्रतिनिधि सं० औंध, यांनीं पांच हजार रु. ची उदार देणगी गेल्यावर्षी दिली. त्यावेळेपासून यजुर्वेदाच्या वाजसनेयी माध्यंदिन शुक्ल संहितेचें मुद्रण चालू केलें. तें आतां पूर्ण झालें आहे. या संहितेची शुद्ध प्रत तयार करण्यासाठीं ज्या ज्या ठिकाणीं माध्यन्दिन यजुर्वेदी ब्राह्मण आहेत तेथून अनेक जुन्या हस्तलिखित पोथ्या आणवून त्यांचे पाठ तपासून शुद्ध पाठ तयार केले व जेथें आजपर्यंत छापलेल्या पोथ्यांमध्यें व हस्तलिखित पोथ्यांमध्यें पाठभेद आढळला व ज्या पाठभेदाचा निर्णय भाष्यादिकांच्या सहाय्यानेंही होऊं शकला नाहीं त्यांचा निश्चय घनपाठी विद्वान ब्राह्मणांकडून करवून घेतला. या कामीं काशी, ग्वालेर, त्र्यंबकेश्वर अहमदनगर वगैरे ठिकाणच्या ब्रह्मवृंदांनीं आपल्या पोथ्या देऊन व पाठभेद निश्चित करण्यास मदत करून आम्हांस बरेंच सहाय्य केलें व त्यांच्याच मदतीनें ही संहिता छापणें शक्य झालें. इतक्यांच्या एकवटलेल्या संघटित प्रयत्नानें या संहितेचें मुद्रण केलें असल्यामुळें हें आजपर्यंत छापलेल्या सर्व पुस्तकांत अधिक निर्दोष आहे असें म्हणण्यास हरकत नाहीं.

यामध्यें प्रत्येक मंत्र अगदीं सुटा असा छापलेला आहे. त्यामुळें मंत्र वाचण्यास फार सोपें जातें. आजपर्यंत छापलेल्या पोथ्यांमध्यें पदच्छेदाकडे फारसें लक्ष्य पुरवलेलें नाहीं. तो दोष या पुस्तकामध्यें आम्ही ठेवलेला नाहीं व जेथें जसें पद पाडलें पाहिजे तेथें तें तसेंच दाखवलें आहे.

शुक्लयजुर्वेदाच्या काण्व व वाजसनेयी अशा दोन संहिता सारख्या आहेत. मंत्रांमध्यें कांहीं पाठभेद, मंत्रांचा क्रमभेद असे थोडे भेद आहेत. ते दाखवण्यासाठीं या पुस्तकांत स्वतंत्र एक परिशिष्ट जोडलेलें आहे. पानाच्या डाव्या बाजूस वाजसनेयी संहितेचे मंत्रांक व उजव्या बाजूस काण्वसंहितेचे मंत्रांक दिलेले आहेत आणि मध्यें पाठभेद दिलेले आहेत. या व्यवस्थेमुळें एका संहितेमधील अमूक मंत्र दुसऱ्या संहितेंत कोठें आहे तें चटकन समजतें व तेथें असलेल्या पाठभेदाचेंही ज्ञान होतें. यामुळें हें एक पुस्तक घेतल्यानें काण्व व वाजसनेयी या दोनही संहिता घेतल्याचें श्रेय येतें. इतकें शुद्ध व उत्तम मुद्रण करून इतकें स्वस्त पुस्तक आजपर्यंत कोणीही दिलेलें नाहीं. यांत पुढें लिहिल्या प्रमाणें प्रकरणें आलीं आहेत—

या प्रमाणें योजना यामध्यें केलेली आहे. यामुळें हें पुस्तक सर्वांस फारच उपयोगी असें झालें आहे. सर्वांस सोईचें व्हावें म्हणून किंमत फारच कमी ठेवली आहे.

साधी बांधणी-किंमत	१॥	रु. ट.	ख०।=
कागदी "	" २	"	" ॥.
कापडी "	" २॥	"	" ॥.
रेशमी "	" ३	"	" ॥.

ज्यांनां जसें पुस्तक पाहिजे असेल त्यांनीं तसें मागवावें. वी. पी. नें चार आणे अधिक बसतील.

स्वाध्याय मंडलका दशम वर्षका कार्य।

स्वाध्याय मंडलके दशम वर्षका कार्यवृत्त पाठकोंके सन्मुख रखा जाता है। इस वर्ष कुछ विशेष कार्य हुए हैं जो पाठकोंके सन्मुख रखने में हमें विशेष आनंद हो रहा है।

वेदोंका मुद्रण।

वेदोंका अच्छा और शुद्ध मुद्रण करने की इच्छा हमारे मनमें बहुत दिनोंसे थी, परंतु इसकी पूर्तिके साथ धन का संबंध होनेके कारण यह इच्छा बहुत देर तक कार्य रूपमें परिणत न हो सकी। गत वर्ष कुछ आर्थिक सहायता मिली थी, इस कारण वेदोंके मुद्रण का विषय फिर मन में जाग्रत हुआ और वेद मुद्रण का कार्य शुरू किया गया। और इस वर्ष "यजुर्वेद" छापकर ग्राहकोंके सन्मुख रख दिया है। यजुर्वेद ही पहले मुद्रित करनेका कारण इतना ही था कि अन्य संहिताओंके पुस्तक इसकी अपेक्षा कई गुणा बडे हैं। इसलिये उनपर छपाई के लिये बहुत व्यय होगा। इस कारण यह छोटीसी संहिता सबसे पहले मुद्रण के लिये ली, जो पाठकोंके सन्मुख इस समय रखी है।

इस संहिता के मुद्रण के लिये हमसे जितना परिश्रम हो सकता था, पूर्ण रीतिसे किया गया। हस्तलिखित ग्रंथ स्थान स्थान से एकत्रित किये, संपूर्ण मुद्रित ग्रंथ लाये गये, उनकी तुलनासे पाठभेदोंका निश्चय किया और जहां संदेह हुआ वहां वेदपाठी विद्वान ब्राह्मणोंकी सहायतासे पाठनिश्चय किया। कई मास इसीमें व्यतीत हुए इतने परिश्रमसे इसका पाठ शुद्ध होने के पश्चात् मुद्रण किया गया।

इस समय तक जितने यजुर्वेद वाजसनेयी संहिता के मुद्रित ग्रंथ हैं उन सबसे अधिक शुद्ध यह पुस्तक है, इतना ही हम इस विषय में कह सकते हैं। इसके अतिरिक्त शब्दोंका पदच्छेद, मंत्रसमाप्तिकी चरणरेखा आदिकी शुद्धता के विषय में भी इस पुस्तक में पाठक अधिक निर्दोषता का अनुभव करेंगे।

मंत्रोंकी देवता और मंत्रों के ऋषि भी इस समयतक अशुद्ध छपे थे। यहां तक कि "वसुश्रुत" के स्थानपर 'सुश्रुत' ही कई पुस्तकोंमें छपा था। इस विषयकी शुद्धता भी इस पुस्तक में पाठक देखेंगे।

"वाजसनेयी संहिता" के समान ही "काण्व संहिता" है। दोनों संहिताओं में कुच्छ पाठ भेद और थोडासा मंत्रक्रम का भेद है, शेष संहिता एक जैसी ही है। इस लिये जो पाठक संहिताका विशेष अध्ययन करना चाहते हैं उनको दोनों संहिताओं के पाठ भेद एक ही पुस्तक में मिलना लाभकारी है। इस कारण इस पुस्तक में काण्व संहिता के पाठ-विशेष ऐसी सुबोध रीतिसे दिये हैं कि थोडे ही प्रयत्नसे पाठक जान सकते हैं कि एक संहिताका मंत्र दूसरी संहितामें कहां और किस रूपमें है। इसलिये यह एक पुस्तक लेनेसे ही दोनों संहिताओंके पुस्तक लेनेका श्रेय मिल सकता है। किसी भी अन्य पुस्तक में यह सुविधा नहीं है।

इस में प्रत्येक मंत्र अलग अलग मुद्रित किया है इस लिये हम कह सकते हैं कि नित्य पाठ के लिये इस के समान कोई पुस्तक नहीं है।

यजुर्वेद की अन्य संहिताएं।

यजुर्वेद की अन्य संहिताओंका भी मुद्रण करना है, परंतु उस कार्यकी आवश्यक सिद्धता इस समय तक नहीं हुई है। इस समय—

यजुर्वेद की पादानुक्रमणिका।

मुद्रणके लिये लियी है। यजुर्वेदकी पादानुक्रमणिका इस समय तक किसी भी स्थानमें छपी नहीं है। पादानुक्रमणिकाके विना संहिताका पठन कठिन होता है। किसी समय मंत्रका द्वितीय तृतीय और चतुर्थ पाद कहां है यह देखना हो, तो मंत्रारंभ की अनुक्रमणिकासे वह काम नहीं हो सकता। इसलिये मंत्रपादोंकी अनुक्रमणिका की उपयोगिता स्वयं सिद्ध है।

यजुर्वेद का सर्वानुक्रम।

यजुर्वेद सर्वानुक्रमसे मंत्रोंके ऋषि देवता का निश्चय होता है। इस लिये इसका मुद्रण शुरू किया है। इसके नीचे टिप्पणी ऐसे ढंगसे दी है कि जिसको देखनेसे संस्कृत न जाननेवाला मनुष्य भी मंत्रोंके

ऋषि और देवता जान सकता है। इस दृष्टिसे यह ग्रंथ अपूर्व लाभदायी निश्चयसे होगा।

अथर्व वेद।

अथर्व वेद की संहिता का मुद्रण करनेका कार्य अब हाथ में लिया है। इस संहिताके शुद्ध पाठ का पुस्तक छपनेके लिये तैयार हुआ है। इस में अथर्ववेदीय पिप्पलाद संहिताके पाठ विशेष देनेका विचार है, जिससे दोनों संहिताओंकी तुलना पाठक पढते पढते कर सकते हैं। अथर्व वेद के वेदपाठी इस समय नहीं हैं, जो अथर्व वेदी ब्राह्मण हैं उन्होंने अथर्व वेद का कंठ करना मुदत से छोड दिया है। इस लिये जो सुविधा ऋग्यजुः साम वेदों के पाठ निश्चय करनेमें मिल सकती है वह सुविधा अथर्व वेद के लिये नहीं मिल सकती। इस कारण अथर्व पाठ विशेष का निश्चय केवल उपलब्ध ग्रंथों से ही करना चाहिये। वैसा ही किया जा रहा है। अथर्व वेद की पिप्पलाद संहिता कश्मीरी लिपीमें जर्मनीमें ग्रंथोंके पोटोकी शकल में मिलती है। परंतु वह बहुत स्थानपर खंडित है अर्थात् पूर्ण मंत्र या पूर्ण सूक्त कई स्थलोंमें नहीं हैं। बडा प्रयत्न करनेपर भी आमूलाग्र शुद्ध पिप्पलाद संहिता नहीं प्राप्त हुई। अतः इसके संबंध में जो ग्रंथ मिले हैं उन की ही सहायतासे हमने कार्य शुरू किया है। पाठ निश्चय होते ही मुद्रण शुरू किया जायगा।

यह अथर्व वेद संहिता यजुर्वेद के तीन गुणा बडी है इस कारण इसकी छपाई पूर्ण होने के लिये देरी भी अवश्य लगेगी।

अथर्ववेदका सुबोध भाष्य

गत वर्षमें " अथर्ववेदका सुबोध भाष्य " प्रारंभ किया गया था। प्रारंभमें हम वैदिकधर्म मासिकमें इसके थोडे पृष्ठ ही देते थे, परंतु यह भाष्य पाठकोंने बहुत पसंद किया और बहुतोंने इस को शीघ्र पूर्ण करनेकी प्रेरणा की, इस लिये अब इसके पूर्ण मुद्रणका प्रबंध किया है। इस समय तक इस अथर्ववेद के दो काण्ड मुद्रित होचुके हैं और तृतीय काण्ड का मुद्रण इस समय चल रहा है। यह भाष्य बिलकुल नये ढंगसे लिखा गया है और वेदका गुह्य आशय सुबोध और स्पष्ट शब्दोंमें प्रकट करनेका यत्न इसमें हो रहा है। इस लिये जो पाठक इसको पढते हैं वे इसकी सुबोधता के कारण सहज ही में वेदाशयको समझ लेते हैं और वैदिक ज्ञान के महत्वका अनुभव करते हैं। जो पाठक इन ग्रंथोंको पढेंगे उनको इनकी विशेषता का वर्णन करनेकी आवश्यकता नहीं है।

पुरुष मेध।

बहुत पाठक पुरुषमेध उत्तरार्धको पढना चाहते हैं। कई वर्षोंके पूर्व " पुरुषमेध पूर्वार्ध " छपचुका, पश्चात् उत्तरार्ध लिखनेके लिये समय ही नहीं मिला। अब इस कार्यके लिये समय निकालकर इस उत्तरार्धका लेख तैयार किया है। इस समय इसका मुद्रण हो रहा है। पुरुष मेध उत्तरार्ध यजुर्वेद अ० ३१ की व्याख्या ही है। यह प्रकाशित होनेसे पुरुष मेध प्रकरण का ज्ञान पाठकोंको उत्तम रीतिसे हो सकता है। जो लोग " मेध " में हिंसा की आवश्यकता समझते हैं वे इस पुरुषमेध प्रकरण को (यजुर्वेद अ० ३० और ३१ की व्याख्या को) अवश्य पढें। इसके पढनेसे पाठकोंका निश्चय होगा कि पुरुषमेध प्रकरण मानवी उन्नतिकी वैदिक पद्धति बता रहा है। हिंसाका इसमें कोई संबंध नहीं है।

महाभारत।

महाभारत का मुद्रण करीब आधा हो चुका है। द्रोण पर्व समाप्त होते ही आधा महाभारत हो जायगा। इस ग्रंथ के मुद्रण करनेसे वेदाभ्यासी सज्जनोंको एक लाभ हो सकता है वह यह है कि, वृत्रादिकी जो कथाएं वेदों और ब्राह्मणोंमेंसे पौराणिकोंने लीं और उनमें उन कथाओंका विस्तार किया, उसका वास्तविक स्वरूप केवल महाभारत के अध्ययनसे ही प्रकट हो सकता है। महाभारतकार की प्रतिज्ञा ही है कि उन्होंने वेदका ही अर्थ इस अपूर्व ढंगसे बताया है। हम यह बात वेद और महाभारत की तुलना करके ढूंढ रहे हैं और जो बातें हमारी इस अन्वेषणासे निश्चित रूपमें हमारे सन्मुख उपस्थित होचुकी हैं, वे वैदिक तत्त्वज्ञानपर अपूर्वही प्रकाश डालती हैं। महाभारत समालोचनाके आगेके भागों

में हम क्रमशः इन बातोंका विचार करेंगे ।

आर्थिक सहायता ।

जो कार्य ऊपर दिये हैं और जो हाथमें लिये हैं उनकी पूर्ती के लिये धन की कितनी आवश्यकता है, इसका विचार पाठक ही करें, और जो उचित सहायता की जा सकती है अवश्य करें। हमारे सामने प्रतिदिन यदि कोई कष्ट है तो आर्थिक कष्ट ही है। यदि पाठक अपनी अनुकूलता के अनुसार हमारी सहायता करेंगे, तो हम भविष्यमें इससे भी अधिक कार्य करके दिखा देंगे। परंतु यही आर्थिक कठिनता रही तो कार्यका विस्तार करना कठिन है। जो लोग वेदोंके अन्वेषण करनेके कार्य का महत्त्व जानते हैं, और जिनको इस कार्यपर होनेवाले आवश्यक व्यय की कल्पना है, उनको चेतावनी देने की आवश्यकता ही नहीं है, परंतु जो लोग इसके व्यय की कल्पना नहीं कर सकते उनको भी चेतावनी देनेकी आवश्यकता नहीं है।

वेदके अन्वेषण का कार्य इतना विस्तीर्ण है कि जिसपर लाखों रु० का व्यय भी थोडाही हो सकता है। ऐसे महत्त्वपूर्ण कार्य का थोडासा मासिक व्यय भी नहीं भुगता जाता, यह आजकी अवस्था है। फिर इस कार्यका विस्तार करनेकी बात तो बडी दूर की है।

संपूर्ण वेद संहिताओंका मुद्रण, वेद समन्वय का बनाना, ब्राह्मण ग्रंथोंका उत्तम मुद्रण और उन ग्रंथोंकी सूचियां बनाना, ये कार्य प्रत्येकमें लाखों रु०का व्यय चाहते हैं। वेदोंका अनुशीलन तो इनके बननेके पश्चात का विषय है। पाठक विचार कर सकते हैं कि इनमेंसे कौनसा कार्य पूर्ण करने की उनकी तैयारी है। वेदका आन्दोलन और अनुशीलन यदि होना चाहिये ऐसा आपका मत है तो आपको उचित है कि आप अपनेसे जितनी हो सकती है, उतनी आर्थिक सहायता इस कार्यकी पूर्ति के लिये करें।

ग्राहक बढाइये।

यदि पाठक वैदिक धर्म, महाभारत, तथा अन्यान्य पुस्तकोंका प्रचार करनेमें सहायता देंगे, अर्थात् ग्राहक संख्या बढाकर हमारी सहायता करेंगे, तो भी बडीही सहायता हो सकती है। जो धन इस समय पुस्तकोंके रूपमें रुका रहता है, यदि वह रुका न रहेगा, तो भी आगेका कार्य करनेके लिये बडी सहायता हो सकती है। इसलिये पाठकोंसे हमारी सानुरोध प्रार्थना है कि वे स्वाध्यायमण्डल द्वारा प्रकाशित पुस्तकोंके प्रचार करनेमें हमें सहायता दें। इससे धार्मिक ग्रंथोंका प्रचार होगा और हमें भी सहायता अनायाससे प्राप्त होगी।

दान द्वारा सहायता करनेवाले सज्जन उचित दान देके सहायता करें, और अन्य सज्जन ग्राहक बढाने द्वारा सहायता करें। ऐसा करनेसे यह कार्य बहुत बढ सकता है।

पोषक वर्ग

जो सज्जन स्वाध्याय मंडल को सौ रु० अथवा अधिक रकम दान देंगे, उनको स्वाध्याय मंडल के पुस्तक जो उनका दान प्राप्त होनेके पश्चात् मुद्रित होंगे, विना मूल्य भेंट किये जाते हैं। सौ रु० दान करनेवालोंको इस वर्षतक करीब तीन चौथाई रकमके पुस्तक पंहुच चुके हैं और थोडे ही समय के अंदर उनके दान दिये सब रकमके पुस्तक उनको प्राप्त हो जांयगे। और पश्चात् भी उनको स्वा०मंडल के पुस्तक मिलते ही रहेंगे। इस प्रकार जो सज्जन पोषक वर्ग का सौ रु० चंदा एकवार भेजेंगे उनका लाभ निःसंदेह है। पांच सात वर्षोंमें उनको प्रायः सब रकम के पुस्तक मिल जांयगे और आगे जो पुस्तक प्रकाशित होंगे, मिलते ही रहेंगे। इसलिये पाठकोंसे निवेदन है कि वे अपना नाम पोषकवर्ग में दाखल करनेका यत्न करें। इससे स्वाध्याय मंडल को भी सहायता होगी और उनका भी लाभ होगा।

जो सज्जन पोषक वर्ग का पूर्ण चंदा भेजकर स्वाध्याय मंडल के पोषक बनेंगे, उनको पूर्व मुद्रित पुस्तक उचित कमिशन काटकर मिलेंगे। यह भी एक उनका लाभ है।

जो सज्जन इस समय पोषक वर्ग में हैं, यदि वे अपने मित्रोंको स्वा० मंडल के पोषक बननेकी प्रेरणा करेंगे तो वे भी पोषक वर्गकी संख्या बढा सकते हैं। इस प्रकार की थोडी थोडी सहायता चारों ओर से होने लगी ता यहांका कार्य ठीक प्रकार चल सकता है।

कर्जा ।

गत वर्ष तेईस हजार रु. कर्जा था, इस वर्ष इक्कीस हजार रु० रहा है। इस प्रकार पूर्ण कर्जा हटनेके लिये आठ दस वर्ष लगेंगे। परंतु ये ही दस वर्ष विशेष कार्य करने के हैं। दस वर्षों के पश्चात् कार्य करने की शक्ति आयुके प्रमाण से न्यून ही होगी। इस लिये पाठकोंसे निवेदन है कि वे इस समय योग्य सहायता करने द्वारा स्वाध्याय मंडल को कर्जमुक्त करें जिससे हम कुछ अधिक स्वतंत्र हो कर अधिक कार्य कर सकते हैं। यदि धर्म के प्रेमी धनिक पुरुष इसका योग्य विचार करेंगे ते इस प्रश्नका हल हो जाना कोई अशक्य बात नहीं है।

आगे के लिये हमने निश्चय ही किया है कि कोई ऐसा कार्य करना ही नहीं कि जिसके लिये कर्जा करने की आवश्यकता हो। यदि कर्जा करने के विना कार्य न चलता हो तो उस को बंद ही करना। परंतु पहले उत्साह के समय जो कर्जा हुआ वह उतरने ही नहीं पाता है, इस लिये जो पाठक इस बातमें हमारी सहायता कर सकते हैं वे इस समय अवश्य सहायता करें। एकवार कर्जा उतर जानेपर कोई नया कर्जा करना ही नहीं है, इसलिये यह फिर उत्पन्न ही नहीं होगा। परंतु पूर्वका बना हुआ निपटना अवश्य है।

इक्कीस हजारके कर्जेमें से करीब दस हजार रु. का कर्जा तो स्वयं उतरनेवाला है; क्यों कि वह प्रायः ग्राहकोंका चंदा ही है। परंतु अन्य ग्यारह हजार रु० का कर्जा ही है जो उतारनेका विचार करना आवश्यक है। और जिसके शीघ्र उतर जाने की कोई सूरत नजर नहीं आती है। इस लिये वास्तविक देखा जाय तो इतना ही सवाल ह। आशा है कि पाठक इसका योग्य विचार करेंगे।

वी. पी. वापस

प्रतिवर्ष हम वी. पी. वापस होने के विषय में लिखते हैं तथापि इस में कोई सुधार नहीं होता है। गतवर्ष वी. पी. वापस होने के कारण डाकव्ययका करीब ६५०, रु० का नुकसान हुआ है, इसके अतिरिक्त पैकिंग और पुस्तकें खराब होनेका नुकसान है। इस लिये हमने महाभारत, वेद आदि बडे पुस्तक वी. पी. से भेजना बंद किया है। वी. पी. न भेजी तो ग्राहक बडा क्रोध करते हैं, वे लिखते हैं कि उनपर हमारा विश्वास नहीं है इ०; परंतु उनको इस बातका पता नहीं की वी. पी. मंगवाकर वापस करनेवाले भी बहुत हैं। और यहां बैठकर हमें पहले पत्रसे पता नहीं चलता कि यह सज्जन पुस्तकें। मंगवाकर वी. पी. वापस करेंगे और ये नहीं करेंगे। पाठक इसमें हमारी अवस्थाका विचार करें। वी.पी. मंगवाने में उनका आधा आना ही खर्च होता है परंतु हमारा कई रुपयों का नुकसान वी.पी.वापस होनेसे होता है। इस लिये पाठकोंसे निवेदन है कि वे पुस्तकों का मूल्य म०आ०से भेज दें और पुस्तकें मंगावे, ऐसा करनेसे उनका बडा लाभ होगा। उनको नियमानुसार कमिशन भी मिलेगा और डाकव्यय भी माफ होगा। आशा है कि पाठक इस रीतिसे लाभ प्राप्त करेंगे।

दूसरे के नाम वी. पी.

कई पाठक अपने मित्रों के नाम वी. पी. भेजने की आज्ञा हमें करते हैं। हमारा इस समय तक जो अनुभव है उस से हमारा निश्चय हुआ है कि ऐसी दूसरे के नामपर भेजी हुई वी. पि. यां प्रायः वापस आती हैं। सौ में पांच भी स्वीकृत नहीं होती। इस लिये पाठकों से प्रार्थना है कि वे दूसरे के नामपर वी. पी. भेजने के लिये हमें बाधित न करें। यदि उनके मनमें हमारी सहायता करना या हमारे ग्रंथोंका प्रचार करना है, तो अपने मित्रसे पुस्तकों का मूल्य म. अ. द्वारा भिजवा दें। इस में उनको कमिशन मिलेगा और डा.व्यय भी माफ होगा। परंतु आगे इस प्रकार की वी. पि.यां हम नहीं भेजेंगे। क्यों कि इस विषय का बहुत कडुवा अनुभव हमने लिया है।

अन्तमें निवेदन है कि पाठक इस कार्यका महत्त्व जानकर इस संस्थाकी आर्थिक सहायता करें और अनेक प्रकार से हमारे प्रचार के कार्यमें सहायता दें, जिससे यह कार्य अधिक बढ जाय और जनता में स्वाध्याय का प्रेम अधिक बढानें में समर्थ हो।

१।१।२८ निवेदक

श्रीपाद दामोदर सातवळेकर

स्वाध्याय मंडल, औंध (जि. सातारा)

स्वाध्याय मंडल, औंध (जि. सातारा) का दशम वर्षका आयव्यय।

(ता. १।१।२७ से ता० ३१।१२।२७ तक) परिशिष्ट संख्या १

आय		रु.	आ.
गतवर्षकी रोकड औंध में ...		१८८१	०
वैदिकधर्म चंदा		२१५२	५
महाभारत ,, ...		३१५९	१४
पुरुषार्थका ,, ...		१९३५	६
पुस्तक विक्री से प्राप्त ...		८२७३	१२
दान प्राप्त–			
पोषक वर्ग चंदा	१६०२-०		
मासिकदान	६०-०		
इतर दान	२२३-१		
		१८८५	१
स्थिर ग्राहक चन्दा ...		१०	०
छपाई से प्राप्त ...		१२९	११
पुराना टाइप विक्रीसे प्राप्त ...		७३	५
कर्जा—			
स्थिर सहायक चंदा	६१०-०		
अनामत	५२-०		
नवीन कर्जा	११००-०		
		१७६२	०
रु.		२१२६२	६

व्यय		रु.	आ.
मुद्रणालय–			
यंत्रव्यय	१०५-१३		
टाइप	१२७६-११		
फर्निचर	२७४-०		
चित्र ब्लाक आदि	४२०-३		
		२०७६	११
पुस्तकालय		२६४	९
पुस्तक छपाई मुंबईमें—			
गतवर्षका देना	९००-०		
इसवर्षकी छपाई	१२४३-११		
		२१४३	११
कागज आदि—			
गतवर्षका देना	१२७३-१४		
इसवर्षका "	२४२२-४		
		३६९६	२
वेतन		६०६७	११
डाकव्यय		२०२२	३
स्टेशनरी		१५८	८
रेलवेव्यय		३१२	१२
विज्ञापनव्यय		१६४	५
यंत्र रिपेअर आदि		२५०	०
साधारण व्यय		३३४	४
कर्जानिवृत्ति—			
स्थि. स. चंदा वापस	३०००-०		
,, ,, ,, सूद	२१०-०		
औंधस्टेट बैंक कर्जा वापस	५५०-०		
		३७६०	०
रोकड औंध में		११	१०
		२१२६२	६

कर्जा ।

गत वर्ष तेईस हजार रु. कर्जा था, इस वर्ष इक्कीस हजार रु० रहा है। इस प्रकार पूर्ण कर्जा हटनेके लिये आठ दस वर्ष लगेंगे। परंतु ये ही दस वर्ष विशेष कार्य करने के हैं। दस वर्षों के पश्चात् कार्य करने की शक्ति आयुके प्रमाण से न्यून ही होगी। इस लिये पाठकोंसे निवेदन है कि वे इस समय योग्य सहायता करने द्वारा स्वाध्याय मंडल को कर्जमुक्त करें जिससे हम कुछ अधिक स्वतंत्र हो कर अधिक कार्य कर सकते हैं। यदि धर्म के प्रेमी धनिक पुरुष इसका योग्य विचार करेंगे ते इस प्रश्नका हल हो जाना कोई अशक्य बात नहीं है।

आगे के लिये हमने निश्चय ही किया है कि कोई ऐसा कार्य करना ही नहीं कि जिसके लिये कर्जा करने की आवश्यकता हो। यदि कर्जा करने के विना कार्य न चलता हो तो उस को बंद ही करना। परंतु पहले उत्साह के समय जो कर्जा हुआ वह उतरने ही नहीं पाता है, इस लिये जो पाठक इस बातमें हमारी सहायता कर सकते हैं वे इस समय अवश्य सहायता करें। एकवार कर्जा उतर जानेपर कोई नया कर्जा करना ही नहीं है, इसलिये यह फिर उत्पन्न ही नहीं होगा। परंतु पूर्वका बना हुआ निपटना अवश्य है।

इक्कीस हजारके कर्जेमें से करीब दस हजार रु. का कर्जा तो स्वयं उतरनेवाला है; क्यों कि वह प्रायः ग्राहकोंका चंदा ही है। परंतु अन्य ग्यारह हजार रु० का कर्जा ही है जो उतारनेका विचार करना आवश्यक है। और जिसके शीघ्र उतर जाने की कोई सूरत नजर नहीं आती है। इस लिये वास्तविक देखा जाय तो इतना ही सवाल ह। आशा है कि पाठक इसका योग्य विचार करेंगे।

वी. पी. वापस

प्रतिवर्ष हम वी. पी. वापस होने के विषय में लिखते हैं तथापि इस में कोई सुधार नहीं होता है। गतवर्ष वी. पी. वापस होने के कारण डाकव्ययका करीब ६५०, रु० का नुकसान हुआ है, इसके अतिरिक्त पैकिंगऔर पुस्तकें खराब होनेका नुकसान है। इस लिये हमने महाभारत, वेद आदि बडे पुस्तक वी. पी. से भेजना बंद किया है। वी. पी. न भेजी तो ग्राहक बडा क्रोध करते हैं, वे लिखते हैं कि उनपर हमारा विश्वास नहीं है इ०; परंतु उनको इस बातका पता नहीं की वी. पी. मंगवाकर वापस करनेवाले भी बहुत हैं। और यहां बैठकर हमें पहले पत्रसे पता नहीं चलता कि यह सज्जन पुस्तकें मंगवाकर वी. पी. वापस करेंगे और ये नहीं करेंगे। पाठक इसमें हमारी अवस्थाका विचार करें। वी.पी. मंगवाने में उनका आधा आना ही खर्च होता है परंतु हमारा कई रुपयों का नुकसान वी.पी.वापस होनेसे होता है। इस लिये पाठकों से निवेदन है कि वे पुस्तकों का मूल्य म०आ०से भेज दें और पुस्तकें मंगावे, ऐसा करनेसे उनका बडा लाभ होगा। उनको नियमानुसार कमिशन भी मिलेगा और डाकव्यय भी माफ होगा। आशा है कि पाठक इस रीतिसे लाभ प्राप्त करेंगे।

दूसरे के नाम वी. पी.

कई पाठक अपने मित्रों के नाम वी. पी. भेजने की आज्ञा हमें करते हैं। हमारा इस समय तक जो अनुभव है उस से हमारा निश्चय हुआ है कि ऐसी दूसरे के नामपर भेजी हुई वी. पि. यां प्रायः वापस आती हैं। सौ में पांच भी स्वीकृत नहीं होती। इस लिये पाठकों से प्रार्थना है कि वे दूसरे के नामपर वी. पी. भेजने के लिये हमें बाधित न करें। यदि उनके मनमें हमारी सहायता करना या हमारे ग्रंथोंका प्रचार करना है, तो अपने मित्रसे पुस्तकों का मूल्य म. अ. द्वारा भिजवा दें। इस में उनको कमिशन मिलेगा और डा.व्यय भी माफ होगा। परंतु आगे इस प्रकार की वी. पि.यां हम नहीं भेजेंगे। क्यों कि इस विषय का बहुत कडुवा अनुभव हमने लिया है।

अन्तमें निवेदन है कि पाठक इस कार्यका महत्त्व जानकर इस संस्थाकी आर्थिक सहायता करें और अनेक प्रकार से हमारे प्रचार के कार्यमें सहायता दें, जिससे यह कार्य अधिक बढ जाय और जनता में स्वाध्याय का प्रेम अधिक बढानें में समर्थ हो।

१।१।२८ निवेदक

श्रीपाद दामोदर सातवळेकर

स्वाध्याय मंडल, औंध (जि. सातारा)

स्वाध्याय मंडल, औंध (जि. सातारा) का दशम वर्षका आयव्यय।

(ता. १।१।२७ से ता० ३१।१२।२७ तक) परिशिष्ट संख्या १

आय		रु.	आ.
गतवर्षकी रोकड औंध में ...		१८८१	०
वैदिकधर्म चंदा		२१५२	५
महाभारत ,, ...		३१५९	१४
पुरुषार्थका ,, ...		१९३५	६
पुस्तक विक्री से प्राप्त ...		८२७३	१२
दान प्राप्त–			
पोषक वर्ग चंदा	१६०२-०		
मासिकदान	६०-०		
इतर दान	२२३-१		
		१८८५	१
स्थिर ग्राहक चन्दा ...		१०	०
छपाई से प्राप्त ...		१२९	११
पुराना टाइप विक्रीसे प्राप्त ...		७३	५
कर्जा—			
स्थिर सहायक चंदा	६१०-०		
अनामत	५२-०		
नवीन कर्जा	११००-०		
		१७६२	०
रु.		२१२६२	६

व्यय		रु.	आ.
मुद्रणालय–			
यंत्रव्यय	१०५-१३		
टाइप	१२७६-११		
फर्निचर	२७४- ०		
चित्र ब्लाक आदि	४२०- ३		
		२०७६	११
पुस्तकालय		२६४	९
पुस्तक छपाई मुंबईमें—			
गतवर्षका देना	९००-०		
इसवर्षकी छपाई	१२४३-११		
		२१४३	११
कागज आदि—			
गतवर्षका देना	१२७३-१४		
इसवर्षका "	२४२२- ४		
		३६९६	२
वेतन		६०६७	११
डाकव्यय		२०२२	३
स्टेशनरी		१५८	८
रेलवेव्यय		३१२	१२
विज्ञापनव्यय		१६४	५
यंत्र रिपेअर आदि		२५०	०
साधारण व्यय		३३४	४
कर्जानिवृत्ति—			
स्थि. स. चंदा वापस	३०००-०		
,, ,, ,, सूद	२१०-०		
औंधस्टेट बैंक कर्जा वापस	५५०-०		
		३७६०	०
रोकड औंध में		११	१०
		२१२६२	६

स्वाध्याय मंडल, औंध (जि. सातारा) का हानिलाभ पत्रक ।

(ता. १ । १ । २७ से ता. ३१ । १२ । २७ तक) परिशिष्ट संख्या २

आय		रु.	आ.
वैदिक धर्म चंदा—			
गतवर्षका शेष	६५०-०		
इस वर्ष प्राप्त	२१५२-५		
	२८०२-५		
बाद पेशगी	५४०-०	२२६२	५
महाभारत चंदा—			
गतवर्षका शेष	२१९०-०		
इस वर्ष प्राप्त	३१५९-१४		
	५३४९-१४		
बाद पेशगी	१९८०-०	३३६९	१४
पुरुषार्थ चंदा—			
गतवर्षका शेष	८००-०		
इस वर्ष प्राप्त	१९३५-६		
	२७३५-६		
बाद पेशगी	७००-०	२०३५	६
स्थिरग्राहक चंदा—			
गतवर्षका शेष	१०-०		
इस वर्ष प्राप्त	१०-०		
	२०-०		
बाद पेशगी	४-०	१६	०
दान प्राप्त—			
पोषक वर्ग चंदा	१६०२-०		
मासिक दान	६०-०		
अन्य दान	२२३-१	१८८५	१
पुस्तक विक्रीसे प्राप्त		८२७३	१२
छपाईसे प्राप्त		१२९	११
पुराना टाइप विक्रीसे प्राप्त		७३	५
अन्तिमदिन पुस्तक संग्रह		१८९१०	०
		३६९५५	६
व्यय का शेष (हानि इस वर्ष)		२३२२	५
रु.		३९२७७	११

व्यय.		रु.	आ.
आरंभदिन पुस्तक संग्रह		२०५५०	०
पुस्तक छपाई मुंबईमें—			
इस वर्ष दिया	१२४३-११		
शेष देना	१००-०	१३४३	११
कागज आदि—			
इस वर्ष दिया	२४२२-४		
शेष देना ...	२०९२-१	४५१४	५
अन्य व्यय—			
वेतन	६०६७-११		
डाकव्यय	२०२२-३		
स्टेशनरी	१५८-८		
रेलवे व्यय	३१२-१२		
विज्ञापन	१६४-५		
यंत्र दुरुस्ति	२५०-०		
साधारण व्यय	३३४-४	९३०९	११
घटाव—			
टाइपका	१९००-०		
यंत्रका	७००-०		
पुस्तकालयका	१५०-०		
मकानका	६००-०	३३५०	०
सूद		२१०	०
रु.		३९२७७	११

स्वाध्यायमंडल, औंध (जि. सातारा) का आर्थिक अवस्थापत्रक।

(ता. ३१।१२।२७ के दिन) परिशिष्ट संख्या ३

कोश और कर्जा.			रु.	आ.
स्थिरकोश--				
गतवर्षका शेष	२८२०४-१			
बाद इसवर्षकी हानि	२३२२-५		२५८८१	१२
यंत्रका घटाव--				
गतवर्षका	६६६७-३			
इसवर्षका	३३५०-०		१००१७	३
कर्जा--				
(१) स्थिर सहायकवर्ग—				
गतवर्षका	१३३४९-४			
इसवर्षका	६१०-०			
	१३९५९-४			
इसवर्षवापस	३०००-०			
		१०९५९-४		
(२) अन्यकर्जा—				
कागजादिक	२०९२-१			
छपाईका	१००-०			
अनामत	५२-०			
पेशगी—				
वै० धर्मका	५४०-०			
म० भारत	१९८०-०			
पुरुषार्थ	७००-०			
स्थिरग्राहक	४-०			
बैंकका शेष —				
गतवर्ष ४१५०				
दिया ५५०				
	३६००-०			
		९०६८-१		
(३) नवीन कर्जा		११००-०		
(४) गतवर्षका अनामत		१३-९	२११४०	१४
		रु.	५७०३९	१३

संपत्ति.			रु.	आ.
मुद्रणालय—				
मकान		१२७९७-१		
यंत्रादि—				
गतवर्षतक	१३२६८-६			
इसवर्ष	१०५-१३			
		१३३७४-३		
टाईप—				
गतवर्षतक	४५५४-१२			
इसवर्ष	१२७६-११			
		५८३१-७		
अन्यसामान—				
गतवर्षतक	२१७३-१			
इसवर्ष	४२०-३			
		२५९३-४	३४५९५	१५
फर्निचर—				
गतवर्षतक		१४७-४		
इसवर्षका		२७४-०		
			४२१	४
पुस्तकालय—				
गतवर्षतक		२८३६-७		
इसवर्षका		२६४-९		
			३१०१	०
अन्तिम दिन पुस्तक संग्रह ...			१८९१०	०
रोकड हाथमें—			११	१०
		रु.	५७०३९	१३

पोषक वर्ग।

१ श्रीमती कर्मदेवीजी लाहौर	१००
२ डा० साहबदयालजी अमृतसर	१००
३ म. ढोढारामजी चूडामणी बेगमपुर	१००
४ म. हरजीवन भगवानदासजी सूरत	१००
५ " प्रभुदास दयाभाई करमसद	१००
६ प्रो. डी. बी. परांजपे पुणें	१००
७ म. रामजीलाल दोहद	१००
८ " हिम्मतलालजी गुप्त सणसोली	१००
९ " सोमपाल शर्माजी रावळपिंडी	१००
१० " पटेल मोहनदास कलोल	१००
११ " चंद्रकान्तजी सूरत	१००
१२ ठा. केशरी सिंहजी मोगर	१००
१३ म. दामोदर पीतांबर द्विवेदीजी लुनावाडा	१००
१४ श्री. छत्रसिंह हमीरसिंह राणा मियागांव	१००
१५ विष्णुचंद्र साहेब लैली	९७
१६ " प्रभुदयाल जी सिमला	७५
१७ " अ० नि० देशपांडे राळेगांव	३०
कुल रु०	१६०२

दान

१ म. रतिलालजी	मुंबई	२००रु.
२ ,, बलदेव नरोत्तम	सारंग	१०
३ पं. गणपतिजी आर्योपदेशक	देहली	५
४ म. गोविंदलाल निर्भयरामजी	सूरत	५
५ ,, भूधर भाई हाजी भाई"		३
६ गुप्तदान		-)
कुल. रु०		२२३-)

स्थिर सहायक वर्ग।

१ चारोत्तर प्रदेश आर्यसमाज	आनंद	१३०रु.
२ म. बलभद्रजी	देहली	१००
३ ठा. रामस्वरूपसिंहजी	रास्ना	१००
४ म. रामचंद्रजी	नजीबाबाद-द.	१००
५ म. बाबूरामजी क्लार्क	लाहौर	८०
६ ,, डी० एन्० लेलेजी	हैदराबाद-द.	५०
७ ,, र. ज. गोखले	औंध	२५
८ ,, शंकर जयराम सोमवंशी	नंदुरबार	२५
कुल रु०		६१०)

मासिकदान।

म. मराठे इंजिनियर	मुंबई	६०)
कुल रु०		६०)

स्थिर ग्राहक वर्ग।

म. कोल्हटकर	वैराग	१०)
कुल रु०		१०)

अथर्ववेदका स्वाध्याय

सुबोध भाष्य ।

प्रथम काण्ड । मूल्य २) डा. व्य ॥)

इन्द्रशक्तिका विकास । मूल्य ॥ डा. व्य ≈)

गोमेध । मूल्य १) डा. व्य. ॥)

मंत्री स्वाध्यायमंडल औंध जि सातारा.

कुस्ती, लाठी, पटा, बार वगैरह के

सचित्र **व्यायाम** मासिक

हिन्दी, अंग्रेजी, मराठी और गुजराती इन चार भाषाओं में

प्रत्येक का मूल्य २॥)

रक्खा गया है । उत्तम लेखों और चित्रों से पूर्ण होने से देखनेलायक है । नमूने का अंक मुफ्त नहीं भेजा जाता । व्ही. पी. खर्च अलग लिया जाता है । ज्यादह हकीकत के लिये लिखो.।

मैनेजर — व्यायाम, रावपुरा, बडोदा

वैदिक उपदेश माला ।

जीवन शुद्ध और पवित्र करनेके लिये बारह उपदेश हैं । इस पुस्तकमें लिखे बारह उपदेश जो सज्जन अपनायेंगे उनकी उन्नति निःसंदेह होगी मूल्य ।।) आठ आने डाकव्यय ०– एक आना)

मंत्री- स्वाध्याय मंडल, औंध (जि. सातारा)

For Youths, Parents & Teachers

Brahmacharya

An English Monthly Devoted to Religion, Education & Physical Culture.

Annual Subs. Rs. ONE Only.

The Managing Editor,

" BRAHMACHARYA."

Basavangudi P. O. Bangalore City.

EMPLOYMENT FOR MILLIONS

students' own magazine,

A Monthly English Teacher-

Careers for Young men a speciality.

ANNUAL SUBSCRIPTION WITH SUPPLEMENTS, Rs. 3.

CAPITAL INDUSTRIAL BUREAU,

RAMGALI, LAHORE. (Punjab)

वैदिक यज्ञ संस्था।

प्रथम भाग। मूल्य १) रु. डा. व्य ।)

इस पुस्तक में निम्न लिखित विषयों का विचार हुआ है।

प्राचीन संस्कृत निबंध।

१-३ पिष्ट-पशुमीमांसा। लघु-पुरोडाश-मीमांसा।

भाषाके लेख (ले०-श्री० पं० बुद्धदेवजी)

४ दर्श और पौर्णमास, ५ अद्भुत कुमार संभव। (ले० -श्री० पं० चंद्रमणिजी) ६बुद्धके यज्ञ विषयक विचार। (संपादकीय) ७ यज्ञका महत्त्व, ८ यज्ञका क्षेत्र, ९ यज्ञका गूढ तत्त्व, १० औषधियोंका महामख (ले० श्री० पं० धर्मदेवजी) ११ वैदिक यज्ञ और पशुहिंसा। (ले० श्री० पं० पुरुषोत्तम लालजी) १२ क्या वेदोंमें यज्ञों में पशुओंका बलि करना लिखा है ?

वैदिक यज्ञ संस्था द्वितीय भाग। मूल्य १) रु. डा. व्य.।)

इस द्वितीय भागमें निम्न लिखित विषयोंका विचार हुआ है- (ले०-श्री. पं. देवशर्माजी विद्यालंकार)

भारतवर्षमें यज्ञकी कमी, यज्ञकी महिमा, यज्ञसे जो चाहे सो प्राप्त कर लो, यज्ञपुरुष का वर्णन, हवन प्रक्रिया, यज्ञशेष और उच्छेष, राजसूय, विश्वजित्, अश्वमेध, गोमेध, सर्वमेध, वाजपेय, पंचमहायज्ञ, यज्ञ संसारकी नाभि है।

पं. बुद्धदेवजी लिखित-संज्ञपन और अवदान।

संपादकीय-नरमेध का वैदिक तात्पर्य।

इतने विषयोंका विचार इस पुस्तक में हुआ है। प्रत्येक विषयके प्रतिपादनके लिये वेदके अनेक प्रमाण दिये हैं और विषयका प्रतिपादन अति सुगम है। मूल्य १) डा. व्य.।)

वैदिक यज्ञ संस्था तृतीय भाग गोमेध।

इस पुस्तकमें निम्न लिखित विषयोंका विचार हुआ है—

योगमें गोमांस, प्रकरणानुकूल अर्थ विचार, ऋषिपंचमी, वेदका महासिद्धान्त, यज्ञकी पूर्व और उत्तरवेदी, मधुपर्क, कलिवर्ज्यप्रकरण, बृहदारण्यक का वचन, गौका वैदिक नाम, गोमेधका विचार, चरक की साक्षी, विवाहमें गोमांस, अतिथिके लिये गौ, यज्ञमें मांस, अन्त्य यज्ञ, वेदमें अहिंसा, अवध्य गौ और बैल, यज्ञका तत्त्व, गौको खाना। गौ दान लेने का अधिकारी, रक्षक और पालक गौका महत्त्व, राष्ट्ररक्षक गौ, गौके लिये सोमरस, सबकी माता गौ।

इत्यादि अनेक विषय इसमें आगये हैं। हरएक विषयका प्रतिपादन करनेके लिये अनेक वेदमंत्रोंके प्रमाण दिये हैं। जो कहते हैं कि 'वैदिक समयमें गोमांस भक्षण की प्रथा थी,'' उनके लिये यह उत्तम उत्तर है। यह पुस्तक पढनेके पश्चात् उक्त विषयमें कोई शंका नहीं रहेगी।

मूल्य१) रु. डा. व्य०।)

मुद्रक तथा प्रकाशक— श्री० दा० सातवलेकर, भारतमुद्रणालय, औंध, (जि० सातारा)

REGISTERED No 1463

ओं

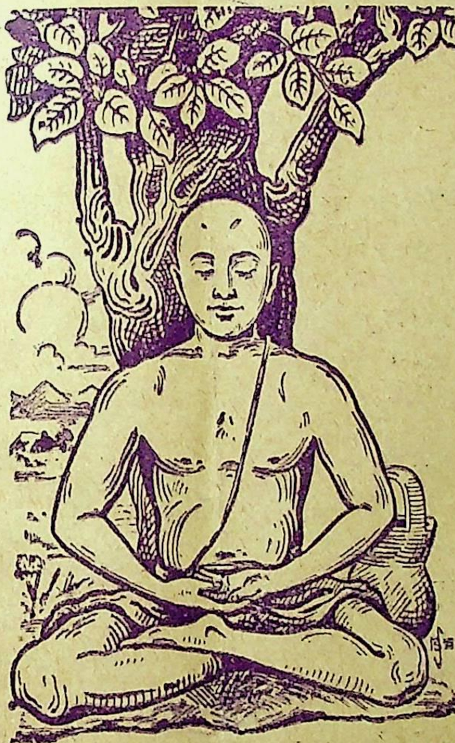
वैदिक धर्म।

वैदिक तत्त्व ज्ञान प्रचारक मासिक पत्र।

संपादक— श्रीपाद दामोदर सातवळेकर.

वर्ष ९
अंक ८
क्रमांक १०४

श्रावण
संवत् १९८५
अगस्त
सन १९२८



वार्षिक मूल्य— म० आ० से ४) वी० पी० से ४॥) विदेशके लिये ५)

विषयसूची।



वर्ष ९

अंक ८

क्रमांक १०४

श्रावण संवत् १९८५

अगस्त सन १९२८

वैदिक धर्म.

वैदिक तत्त्वज्ञान प्रचारक मासिक पत्र।

संपादक—श्रीपाद दामोदर सातवळेकर।

स्वाध्यायमंडल, औंध (जि. सातारा)

निर्भयता।

यत इन्द्र भयामहे ततो नो अभयं कृधि।
मघवञ्छग्धि तव तन्न ऊतिभिर्वि द्विषो वि मृधो जहि॥

ऋ. ८।६१।१३

हे (इन्द्र) प्रभो ! (यतः भयामहे) जहां से हमें भय होता है (ततः नः अभयं कृधि) वहांसे हमें निर्भय कर। हे (मघवन्) ऐश्वर्यसंपन्न ईश्वर ! इस कार्य के लिये तू (शग्धि) समर्थ है। (तत् तव ऊतिभिः नः द्विषः विजहि) इस लिये अपनी रक्षाओंसे हमारे शत्रुओंको विनष्ट कर तथा (मृधः विजहि) दुष्टों का भी नाश कर।

हमारे लिये संपूर्ण स्थान निर्भयतासे युक्त हों, हम निर्भय हो कर चारों दिशाओंमें अपना कार्य कर सकें और अपना अभ्युदय सिद्ध कर सकें। हे प्रभो ! तू ही ऐसा करनेके लिये समर्थ है, हम तेरे पास आते हैं, हमें निर्भय कर और हमारे शत्रुओंका नाश कर.

मातृभूमि का वैदिक गीत ।

(१)

जिस देश में जो लोग रहते हैं वह उनकी मातृभूमि कहलाती है। जैसे भारतीयोंकी भरतभूमि, चीनी लोगों की चीनभूमि, अंग्रेजोंकी इंग्लैंड भूमि और इसी तरह दूसरे दूसरे लोगोंकी अलग अलग मातृभूमि है। जिस तरह माता के रक्तमांस आदि से बच्चे का देह बनता है उसी तरह मातृभूमि में उत्पन्न होनेवाले अनाज, पानी, वहांकी हवा और अन्य वनस्पतियों से उस देश के मनुष्यों के देह बनते हैं। इसलिये उस देश को अपनी मातृभूमि समझना उस देश के निवासियों का स्वभाव है।

परमेश्वर का नियमही है कि माता के दूधपर बच्चे काही अधिकार रहना चाहिये क्योंकि माताके स्तनों में जो दूध परमेश्वर अपने अटल नियमों से उत्पन्न करता है वह उस माता के उत्पन्न होनेवाले बच्चे के लिये ही रहता है। बच्चे का पालन उसकी माता के दूध से ही होना चाहिये। माता का दूध पीना बच्चेका जन्मसिद्ध अधिकार है और वह उसका धर्म भी है। यदि कोई जबरदस्त बालक अपनी माताका दूध पीकर दूसरे बालक की माताका भी दूध जबरदस्ती से पियेगा और दूसरे बच्चे को भूखा रखेगा, तो उसका वह कार्य परमेश्वर के नियमों के विरुद्ध होगा और वह जबरदस्त बच्चा ईश्वर के नियमों के अनुसार अपराधी समझा जावेगा। इसी तरह एक देशके मातृभूमि के बालक दूसरे देशके मातृभूमि के बालकोंको परतंत्र बनावें और उस देश में उत्पन्न होनेवाले उपभोग के पदार्थ उस देश के निवासियों को न देकर अपनेही सुख के लिये उपयोग करें, तो वह उनका बहुत बडा अपराध होगा। किसीको भी भूलना न चाहिये कि जो स्थिति माता और बच्चे की है वही मातृभूमि और उसके बच्चों की है।

प्रत्येक मनुष्य जानता है कि जिस घर में वह रहता है उस घर पर उसका कितना प्रेम रहता है। रात्रि के समय कोई चोर आता है और उस घरमेंसे कोई वस्तु अपने काम के लिये ले जाता है। न्यायी सरकार ऐसे चोर को पकडकर सजा देती है क्योंकि न्यायका मुख्य हेतु यह है कि किसी के भी घरकी उस के पूर्वजों से चली आई वस्तुपर उसीका अधिकार होना चाहिए। चोरका उसपर अधिकार नहीं है, इसलिये वह सजा पाने के योग्य है। जिस तरह एक छोटासा घर किसी एक कुटुंब का रहता है, उसी तरह देश यह एक बडा घर है; और वह घर सब देशवासियों का है। यदि उस राष्ट्रस्वरूप घरपर दूसरे देशों के बलवान लोग मिलकर हमला करें और वहां की वस्तुओं पर अपना अधिकार बतावें तो वास्तव में वह अपराध एक घर पर हमला करने वाले डाकू के समान है। उसी के समान किन्तु उससे कुछ उग्र स्वरूप का है। यह सिद्ध करने की ज्यादा जरूरत नहीं है। इस संसारके बडे बडे तत्वज्ञानी लोग यही कहते हैं। लेकिन संसार का राजकारभार तत्वज्ञानियों के हाथ में न होनेसे बलवान लोक इस तरह के राष्ट्रीय लूटमारको अपराध नहीं समझते और इस बडे अपराधी को इसी कारण सजा नहीं होती। परंतु ईश्वर के नियमों में इस तरह का पक्षपात नहीं हो सकता।

हमें यह देखना नहीं है कि अपराधी को दण्ड मिलना आवश्यक है या नहीं है। हमें सिर्फ यही दिखलाना है कि माताके दूधपर उसके बच्चे का, घर पर उस घर के मालिक का, राष्ट्रपर उस राष्ट्र के लोगों का और मातृभूमि के उपयोगी वस्तुओंपर उस मातृभूमि के बच्चों का अधिकार है।

बच्चा अपनी माता का दूध पीता है इस लिये उसका अपनी मातापर बहुत प्रेम रहता है। मनुष्य

अपनी मातृभूमि में पैदा होनेवाले अनाज, फल, कंद, मूल इत्यादि खाते हैं और पुष्ट बनते हैं। इस लिये उनका अपनी मातृभूमि पर प्रेम रहता है। इसलिये कवि जिस तरह मातृभूमि के गाने बनाते हैं, उसी तरह लोग माता के गाने गाते हैं और दूसरों को उत्साहित करते हैं।

पाठकों को यह बात पुनः पुनः बतलाने की आवश्यकता नहीं है कि माता और मातृभूमि के विषयमें लिखे हुए काव्य नैसर्गिक प्रेम उपजाते हैं। काव्यके भिन्न भिन्न रसों में प्रेमरस श्रेष्ठ है। मातृदेवता के काव्य में जैसा प्रेमरस भरा रहता है वैसा अन्य किसी काव्य में हो नहीं सकता। माता क्या है? असीम प्रेम की मूर्ति है। उसके प्रेमको अन्य किसी बात की उपमा ही नहीं है। उसका प्रेम वास्तव में अनुपम है। यदि माता के प्रेम को कोई उपमा देनी ही हो तो वह मातृ-प्रेम की ही हो सकती है, दूसरी नहीं।

वह मनुष्य विरला ही होता है जिसे माता के प्रति आदर न हो। माता के प्रेम से ही प्रत्येक मनुष्य का पालन होता है। मातृभूमि पर भी मनुष्य का प्रेम होता है। यह देशप्रेम भी असीम होता है। कैसी भी आपत्ति, कैसा भी संकट क्यों न हो, मनुष्य मातृभूमिका त्याग करनेको तैयार नहीं होता। माता के वा मातृभूमिके यश के कारण शरीर निछावर करने तक को मनुष्य तैयार रहता है।

यही असीम प्रेम है जिससे सब देश के लोगोंने अपनी जन्मभूमि के गीत शक्तिभर प्रयत्न करके उत्तम उत्तम बनाए हैं। मातृ-भूमि के लिए लोगोंने काव्य बनाए हैं। सभी देशों में यह प्रथा है कि आनंदोत्सव में, विजयोत्सव में देशवासी अपने अपने राष्ट्रगीत का गान करते हैं।

इस प्रकार का कोई राष्ट्रगीत या मातृभूमिगीत भारतवासियों में है या नहीं इस के विषयमें कई विद्वानोंके भिन्न भिन्न मत हैं। कई विद्वान यह बतलाते हैं कि भारतवासियों का एक राष्ट्र कभी भी नहीं था इसलिये उनमें राष्ट्रगीत होना असम्भ है। मध्यकालमें अपने विस्तृत देश के बहुतसे छोटे छोटे राज्य बन गये थे। इसलिये यदि कहा जाय कि उस कालमें एक राष्ट्रियत्व की कल्पना न थी तो वह सच हो सकता है। परन्तु हम में प्रारंभ से राष्ट्रीयताकी कल्पना है, वह ऋषियोंके कालसे चली आयी है और इसका निदर्शक राष्ट्रगीत भी हमारे पास है। इसी का समर्थन करने के लिये इस लेख में मातृभूमि के वैदिक सूक्त का विचार किया है। यह सूक्त अथर्व वेद के १२ वें कांड का पहला सूक्त है।

सूक्त का उपयोग

जिस सूक्त के विषय में हम यहां लिख रहे हैं उसका महत्व राष्ट्रीय है या नहीं उसके उपयोग से जान सकते हैं। इसलिये इसका उपयोग कहां किया जाता है देखोः—

१ ग्रामपत्तनादि रक्षणार्थम्०। (सायन भाष्य)
अथर्ववेद० १२।१।१

"ग्राम, पत्तन, नगर आदि की रक्षा के समय इसका उपयोग करना चाहिये।" अर्थात् ग्राम, नगर, प्रान्त, राष्ट्र, स्वदेश आदि की रक्षा के समय इसका उपयोग करना चाहिये। स्वदेश की रक्षा के लिये जब कोई काम करना हो तब यह सूक्त कहना चाहिये। इस पर से यह सिद्ध है कि स्वराष्ट्र रक्षा से इस सूक्त का निकट संबंध है सबलोग जानते हैं कि राष्ट्रगीत का यही उपयोग है। सब देशों में राष्ट्रगीत का उपयोग इसी काम के लिये किया जाता है। परन्तु इसका विशेष विचार करना चाहिये. इस लिये नीचे और प्रमाण दिये हैं।:-

२ पार्थिवीं भूमिकामस्य।
नक्षत्रकल्प १७

"पृथ्वी की इच्छा करनेवाले ने पार्थिवी महाशांति करने के समय इसका उपयोग करना चाहिये।" देश में या राष्ट्र में जब अशांति उत्पन्न होती है तब उस अवस्था को दूर करने के लिये जो प्रयत्न किया जाता है उसे 'पार्थिवी महाशांति' यह वैदिक नाम है। इसमें कई महत्वपूर्ण बातें करनी पडती हैं। ऐसे समय यह सूक्त कहना चाहिये। यह नक्षत्र-कल्प कर्ता का कहना है। "भूमिकामः" अर्थात् भूमी की इच्छा करनेवाला या अपनी मातृभूमि में शांतता करने की इच्छा करनेवाला जो

मनुष्य है, उसने वह काम करते समय यह सूक्त कहना चाहिये। इस सूक्त के कहने से मातृभूमि के हितका काम करने के लिये उत्साह मिलता है। इसी प्रकारः-

३ भौमस्य दृतिकर्मणि।

कौशीतकी सूत्र. ५।२

" (भौम) प्रदेश के, देशके वा राष्ट्र के (दृति कर्म) आदर के लिये जो काम करना है, उस काम में इस सूक्तका उपयोग करना चाहिये। " दृति " का अर्थ ' आदर '। " दृतिकर्म " का अर्थ है आदर के लिये किया हुआ काम। राष्ट्रीय महोत्सव विजयोत्सव के समय इस सूक्त का उपयोग करना चाहिये।

सायणाचार्यजीने अपने भाष्यमें यह भी बतलाया है कि इस सूक्त का उपयोग कौन कौन कर सकते हैं। हम अब उसी को देखेंगे।-

१ पुष्टिकामः।
२ व्रीहियवान्नकामः।
३ मणि हिरण्यकामः।

(सायनभाष्य अथर्व०) १२।१

" पुष्टी की इच्छा करनेवाले को, अन्न की इच्छा करने वाले को, रत्न, सुवर्ण आदि की इच्छा करने वाले को इस सूक्त को कहना चाहिए।" तात्पर्य यह कि इस सूक्त का गायन उस समय करना चाहिये जब हम राष्ट्रीय उन्नति के काम करते हों। यदि वाचक विचारें कि राष्ट्रगीत ऐसे ही अवसर पर गाये जाते हैं, तो वे सूक्तकार एवं भाष्यकार के कथन का रहस्य समझ सकते हैं।

इस सूक्त का विचार करते समय हमें देखना चाहिये कि यह सूक्त किस गण में है। पूर्व के ऋषियों ने अथर्ववेद के कुछ गण बना दिये हैं। उनमें से " वास्तोष्पति " नामका जो गण है उसमें यह सूक्त है। ' वस्तु ' पर पतित्व का वा मालिका हक्क बतलाने या सिद्ध करनेवाले सूक्त ' वास्तोष्पति ' सूक्त में हैं। ऊपर बतलाया गया है कि पूर्वोक्त सूक्त उस समय कहने का है जब किसी देश के निवासी मातृभूमि पर अपना हक बतलाते हों। इसलिये यह सूक्त " वास्तोष्पति " गण में शामिल किया गया है।

यदि हम उपरि उक्त बातों पर ध्यान दें, तो हमें उक्त सूक्त की महत्ता दिखाई देगी; और विशेष रूप से विदित होगा कि मातृभूमि का यह वैदिक गीत विशेष राष्ट्रगीत ही है तथा वह राष्ट्रीय अवसर पर ही गाना चाहिये।

मातृभूमि की कल्पना।

बाहरी सबूतों का विचार कर के ही अबतक हमनें मातृभूमि के सूक्त का स्वरूप देखा। अब भीतरी सबूतका विचार करेंगे और देखेंगे कि इसके विचार कहांतक राष्ट्रीय महत्व के हैं। अतएव पहले यह देखेंगे कि इस सूक्त में जो मातृभूमि की कल्पना है वह किस प्रकार की है। जो लोग समझते है कि हमलोगों में " मातृभूमि " की कल्पना तक नहीं है, वे इन वचनों का विचार अच्छी तरह करें और प्रत्यक्ष देखलें कि हमारे अति प्राचीन साहित्य में मातृभूमि के विचार विद्यमान हैं तब यह भी सिद्ध होगा कि मातृभूमि की कल्पना सर्व प्रथम ऋषियों की है।

माता भूमिः पुत्रोऽहं पृथिव्याः।

अथर्व० १२।१।१२

" मेरी माता भूमि है और मैं मातृभूमि का पुत्र हूं "। हमारी देशभूमि ही हमारी माता है और हम सब उस मातृभूमि के पुत्र हैं। अर्थात् हम सब देशवासी एकही माताके पुत्र हैं अतएव हम सब सच्चे देशबंधु हैं। स्पष्ट ही है कि प्रत्येक देश के निवासी को यही भाव मन में लाना चाहिये मातृभूमि के भक्तों के गौरव के विषयमें ऋग्वेद का यह मंत्र पढने योग्य है।—

ते अज्येष्ठा अकनिष्ठास उद्भिदोऽमध्यमासो महसा वि वावृधुः। सुजातासो जनुषा पृश्निमातरो दिवो मर्त्या आ नो अच्छा जिगातन॥ ६॥

ऋग्वेद. ५।५९।६

अज्येष्ठासो अकनिष्ठास एते सं भ्रातरो वावृधुः सौभगाय॥

ऋग्वेद. ५।६०।५

" संपूर्ण (पृश्नि—मातरः) मातृभूमि को माता माननेवाले सब (मर्त्याः) मनुष्य सच्चे कुलीन हैं। उनमें न कोई (ज्येष्ठ) श्रेष्ठ है न कोई कनिष्ठ है और न कोई मध्यम है । उन सबों का दर्जा समान है । वे सब (उत-भिदः) अपने ऊपर के दबाव का भेद कर ऊपर आनेवाले हैं। सबका विचार एकसा है अर्थात् वे (भ्रातरः) बन्धु ही हैं । वे अपने (सौभगाय) धन के बढाने के लिये (सं वावृधुः) सब मिलकर प्रयत्न करते हैं।

इस मंत्र में " पृश्नि-मातर " अर्थात भूमि को माता मानने वाले सत्पुरुषों का वर्णन देखने योग्य है। मातृभूमि के भक्त एकही विचार वाले रहते हैं। उन में उच्च नीच भाव नहीं रहता । उन सब लोगों का दर्जा एकसा रहता है और वे सब मिलकर एक विचार से मातृभूमि के उद्धारार्थ काम करते हैं । वे आपस में बंधु प्रेम रखते हैं और अपनी उन्नति कर लेते हैं। मातृभूमि को अपनी सब की माता माननेसे आचरण में जो फरक पडता है वह इस मंत्र में स्पष्ट रीति से बाताया गया है । अपने व्यवहार का केन्द्र मातृभूमि है यह माननेवाले और न मानने वाले लोगों के व्यवहार में यह भेद होता है। वेदों में यह बात इतने साफ तौर से बतलाई है इसका कारण यह है कि वैदिक धर्मियों को यह बतलाना है कि इसका विचार करके उन लोगों में मातृभूमि की भक्ति बढे और वे अपनी उन्नति करलें। उसी तरहः—

> इळा सरस्वती मही तिस्रो देवीर्मयोभुवः।
> बर्हिः सीदन्त्वस्रिधः ।
>
> ऋग्वेद. १।१३।९

"(मही) मातृभूमि (सरस्वती) मातृसंस्कृति और (इळा) मातृभाषा तीन सुख देनेवाली देवताएं हैं । वे सर्वकाल अंतःकरण में रहें ।"

इस मंत्र की तीन देवताओं में मातृभूमि को स्थान दिया है। तीन देवताओं का संबंध स्पष्ट करके बतलाने की यहां आवश्यकता नहीं है । क्यों कि वह इतना स्पष्ट है कि वह एकदम मालूम होजायगा। इन सब मंत्रों का विचार करने से मालूम होगा कि हमारे धर्मग्रंथों में मातृभूमि का महत्व और श्रेष्ठत्व कितना वर्णन किया हुआ है । इसी के बारे में और बातें देखनेके पहिले यह मंत्र देखियेः—

> भूमे मातर्निधेहि मा भद्रया सुप्रतिष्ठितम् ॥
>
> अथर्ववेद १२।१।६३

" हे (मातः भूमे) मातृभूमि, मुझे कल्याण अवस्था से युक्त कर " अर्थात् मेरा सब प्रकारसे कल्याण कर। इसमें " भूमे मातः " आदि पदों से मातृभूमि की योग्यता जान सकते हैं। इसी तरहः-

> सा नो भूमिः पूर्व पेये दधातु ॥ ३ ॥
> सा नो भूमिर्गोष्वप्यन्ने दधातु ॥ ४ ॥
> सा नो भूमिर्भूरिधारा पयो दुहाम् ॥ ९ ॥
> सा नो भूमिर्वर्धयद्वर्धमाना ॥ १३ ॥
> सा नो भूमिरादिशतु यद्धनं कामयामहे ॥४०॥
> सा नो भूमिः प्रणुदातां सपत्नानसपत्नं मा
> पृथिवी कृणोतु ॥ ४१ ॥
>
> अथर्व वेद० १२ । १

वह हमारी मातृभूमि हमें अपूर्व पेय पदार्थ देवे। वह हमारी भूमि हमें गायें और अन्न देवे । वह हमारी भूमि हमें बहुत दूध देवे। वह हमारी भूमि हमारा संवर्धन करे। वह हमारी भूमि हमारी इच्छानुसार धन देवे । वह हमारी भूमि हमारे शत्रुओं को दूर करे और मुझे शत्रुरहित बनावे ।"

पिछले संबंध का ध्यान रखनेसे विदित होगा कि इन सब मंत्रों में 'भूमि' शब्द 'मातृभूमि' के अर्थ में आया है। " मातृभूमि हमारे लिये यह करे, वह करे आदि रचना काव्यमय अलंकार हैं। इसका अर्थ वास्तव में यह है कि " मातृभूमि की कृपा से हमारे हाथ से यह कार्य होवे या यह कार्य होकर वह फल मिले ।" क्यों कि प्रत्येक काव्य में इस तरह की अलंकारिक याचना रहती है। उन सब प्रार्थनाओं का शाब्दिक अर्थ भिन्न रहता है और अंदर का भाव भिन्न रहता है। इस विषय में यह मजेदार मंत्र देखियेः-

> सा नो भूमिर्विसृजतां
> माता पुत्राय मे पयः ॥ १० ॥
>
> अथर्व वेद० १२ । १

" वह हमारी मातृभूमि मुझे अर्थात् अपने पुत्र को बहुत दूध देवे । " यह मंत्र कितना अच्छा है और अलंकारिक है देखिये । माता और पुत्र का संबंध दूध पीनेसे ही शुरू होता है । माता का दूध पुत्र पीता है यह सब जानते हैं । गाय का दूध हम सब पीते हैं इसलिये गाय हमारी माता है । भूमि-का अनाज रस आदि दूध हमें मिलता है इसलिये वह हमारी माता है । यह सर्वसाधारण और सीधा व्यवहार है । इसका वर्णन करते समय उपरोक्त मंत्र का जो भाग अर्थात् "मेरी माता मुझे ही दूध देवे" और इसी तरह के वर्णन से हमारी मातृभूमि में पैदा होने वाले उपभोग के पदार्थ हमें ही मिलें और दूसरा कोई उन्हें हमसे दूर न ले जावे " आदि अर्थ का जो भाग है वह बहुत अच्छा है और बोध-प्रद है। इस तरफ पाठकगणों को अवश्य ध्यान देना चाहिये ।

अब कोई यह भी कह सकता है कि "भूमि या हमारी भूमि " आदि शब्दों से " हमारी राष्ट्रभूमि' यह भावार्थ नहीं निकल सकता और इस बातको बिना सिद्ध किये हम यह भी नहीं कह सकते कि मातृभूमि के बारेमें हमारे धर्मग्रंथों में पूर्णरूप से वर्णन दिया हुआ है। यह संदेह योग्य है और उसके निवारण के लिये हम यह मंत्र पाठकों के सन्मुख रखते हैं।—

सा नो भूमिस्त्विषिं बलं राष्ट्रे दधातूत्तमे ।
अथर्व वेद० १२ । १ । ८

" वह हमारी मातृभूमि हमारे उत्तम राष्ट्र में (उत्तमे राष्ट्रे) तेज और बल बढावे । "

इस में " उत्तमे राष्ट्रे " का अर्थ और " हमारी भूमि " का अर्थ एकही है। " हमारे उत्तम राष्ट्रमें " अर्थात् " हमारी मातृभूमि में " तेज और बल की वाढ होवे । " हमारी मातृभूमि में " या " हमारे राष्ट्र में " आदि शब्दों का अर्थ यही है कि " हम लोगों में" या " हमारे देशबांधवों में" और यह बात साधारण विचार करने वाला जान सकता है । परन्तु " हम लोगों में ' या ' हमारे देशबांधवों में ' तेज और बल बढे "कहने से यह कहना कि हमारे राष्ट्र में या हमारी मातृभूमि में तेज और बल बढे " उच्च भावना प्रदर्शित करता है । इसी दृष्टिसे " मातृभूमि, हमारा राष्ट्र, हमारा देश" आदि शब्दों में कितना गूढ रस भरा हुआ है ।

अब इसी मंत्र के " उत्तमे राष्ट्रे " (हमारे अच्छे राष्ट्रमें) शब्द और भी एक उच्च भाव प्रदर्शित करते हैं । उसका अब विचार करना चाहिये । राष्ट्रभक्तों की दृष्टि से राष्ट्र किस दशा में होना चाहिये वह इन शब्दों से स्पष्ट है । इन शब्दों से सूचित होता है कि राष्ट्रभक्तों की महत् अकांक्षा होनी चाहिये कि ' हमारा राष्ट्र सब राष्ट्रों में उत्तम हो ' । " तर, तम" तुलनात्मक उच्चता बतलाने वाले प्रत्यय हैं । " उत्, उत्तर और उत्तम " उच्चता की तीन सीढियां बत-लाते हैं। " उत्तम" से सर्वोत्कृष्ट अवस्था मालूम होती है । राष्ट्रभक्तों की प्रबल इच्छा होनी चाहिये कि हमारा राष्ट्र सब राष्ट्रों में अति उत्तम दशामें हो । इस इच्छा से प्रेरित हो उन्हें चाहिये कि वे अपने राष्ट्र को अत्युच्च कोटिका बनाने में शक्ति भर प्रयत्न करें। उक्त शब्दका यही भाव है कि राष्ट्रके किसी भी दशा में स्वतंत्र वा परतंत्र होनेसे संतोष न होना चाहिये, अपितु देशवासियों का लक्ष्य होना चाहिये कि किसी निश्चित उच्चतम कोटि को पहुंचे और वे उस लक्ष्य की पूर्ति करने में भरसक प्रयत्न करें।

इस मंत्र का विचार करने से मालूम हो सकता है कि इस वैदिक सूक्त में केवल मातृभूमि की ही कल्पना नहीं है बल्कि राष्ट्र के बारे में स्पष्ट भाव हैं और अपना राष्ट्र सब राष्ट्रों के आगे रहे यह उच्च महत्वाकांक्षा इसमें व्यक्त है । वाचक स्मरण रखें कि अपना धर्म इतनी उच्च राष्ट्रीय भावना जागृत करने वाला है और वह इस आदर्श को स्पष्ट शब्दों में जनता के सन्मुख रखता है । जिस किसी को सन्देह हो वह ऊपर लिखे वचनों को पढकर उसे दूर कर ले ।

इतना स्पष्ट उपदेश हमारे धर्म वचनों में होते हुए भी हमारे राष्ट्र में राष्ट्रीय भावना यथोचित रीति से जागृत नहीं है । यद्यपि यह बात सच है तो भी इसका कारण धर्म का अयोग्य होता नहीं है परन्तु धर्म की ओर ध्यान न देना और दूसरी अयोग्य बातों की ओर ध्यान देना है । जिस वेद में यह

उक्त राष्ट्रीय भावना जागृत करने वाले वचन हैं उस के प्रति लोगों में जो श्रद्धा या विश्वास है वह केवल दिखावटी है। लोग आधुनिक ग्रंथोंपर ही अधिक विश्वास करते हैं। इसीलिये सच्चा सोना दूर रह गया और मिट्टी हाथ लगी है।

अपनी मातृभूमि और अपने राष्ट्र के बारे में इस तरह स्पष्ट विधान अथर्ववेदीय मातृभूमि के गीतों में हैं। उन गीतों को देखने से सिद्ध होगा कि हमारा धर्म शुरू सेही राष्ट्रीय भावना जागृत रखनेवाला और उसकी वृद्धि करनेवाला है। यह भूलना नहीं चाहिये कि राष्ट्र के संबंध में जो कर्तव्य है वह अपने धर्म का मुख्य भाग है।

अध्यात्मज्ञान और राष्ट्रभक्ति

हम लोगोंमें धार्मिक बातों की ओर कितना दुर्लक्ष हो रहा है यह उदाहरण देकर बतलाना अयोग्य नहीं होगा। अध्यात्म ज्ञान का और मातृभूमि की भक्ति का एक दूसरे से संबंध है ऐसा यदि कहा जाय तो उसे कोई सत्य नहीं समझेगा। इतना दुर्लक्ष उसकी तरफ हो रहा है। अध्यात्म विचार करनेवाले वेदान्ती सब संसार को छोडकर किसी गुफा में जाकर बैठने का प्रयत्न करते हैं और जिनको सब लोग राष्ट्रभक्त कहते हैं वे लोग साफ कहते हैं कि धर्म का राजकारण में कोई संबंध नहीं है। इस विरोध के देखते यदि कोई कहे कि अध्यात्मविद्या और राष्ट्रभक्ति का निकट संबंध है तो उसे कौन सच कह सकता है? वास्तविक दशा देखने के पहले हम इतिहास के एक दो उदाहरण से देखेंगे कि यह विषय कैसा होना चाहिये।

अर्जुन युद्धभूमि में उतरा था और शत्रु को जीतने की महत्वाकांक्षा रखकर उसने युद्ध की तैयारी की थी। पर युद्ध को प्रारम्भ होने के समय ही वह मोह में पड गया और जंगल में जाकर तपश्चर्या करने के लिये तैयार हो गया। वह सोचने लगा कि युद्ध करके स्वराज्य लेनेसे तपश्चर्या करके उच्च अवस्था प्राप्त कर लेना कहीं अधिक उच्च है। तब भगवान श्रीकृष्णने अर्जुन को वैदिक अध्यात्म विद्याका उपदेश किया। यह भगवद्गीता का उपदेश सुनकर अर्जुन का मोह दूर हो गया, उसे उसकी अवस्था का ज्ञान प्राप्त हो गया और वह शत्रु को मारने के लिये तैयार हो गया। इसके बाद उसने युद्ध किया और निष्कंटक स्वराज्य पूर्णतासे प्राप्त कर लिया।

दूसरा उदाहरण श्रीरामचंद्रजीका है। रामचंद्रजीका विद्याभ्यास पूर्ण होनेपर उन्हें यह भ्रम हुआ कि "सब बातें दैवाधीन हैं और पुरुषार्थ से कुछ नहीं हो सकता।" इस भ्रम के कारण उन्होंने पुरुषार्थ के काम करना छोड दिया। तब वसिष्ठ ऋषि ने उन्हे वेदान्त शास्त्र का-अध्यात्म शास्त्रका-उपदेश किया। इस उपदेश के बाद उनका भ्रम दूर हो गया और वे प्रबल पुरुषार्थी बन गये। इसके बाद उन्होने लंकाद्वीप के राक्षसों का नाश किया, संपूर्ण भरतखंड को पूर्ण स्वतंत्र बना दिया और आर्य क्षत्रियों का यश उज्वल बना दिया।

इन दोनों उदाहरणों में यह बतलाया है कि अध्यात्मज्ञान के बाद प्रबल पुरुषार्थ करके स्वराष्ट्र के शत्रुओंका पूर्णतासे नाश कर के राष्ट्रीय स्वतंत्रता प्राप्त कर लेना चाहिये।

श्रीशिवाजी महाराज को भी एक दो समय उदासीनता ने आ घेरा था और वह रामदासस्वामी और संत तुकाराम के उपदेश से दूर हुई। ये बातें महाराष्ट्र के इतिहास में हैं। इन सब बातों का विचार करने पर हमें यह कहना पडता है कि अध्यात्मज्ञान या वेदान्तज्ञान राष्ट्रीय इच्छा के विरोधी नहीं हैं। यह इतिहास देखने के बाद हम जिस मातृभूमि के वैदिक गीतके बारे में विचार कर रहे हैं उस के आगे के और पीछे के सूक्तों में कौन से विषय आये हुए हैं देखोः-

यह मातृभूमि का वैदिक राष्ट्रगीत अथर्ववेद के १२ वें कांड का प्रथम सूक्त है। इसके पूर्व जो सूक्त हैं वे सूक्त और उनके विषय क्रमसे आगे दिये हुए हैं।ः-

दशम कांड

सूक्त दूसरा ...... केन सूक्त (केन उपनिषद् का विषय) ब्रह्मविद्या।

सूक्त३ से६ तक...... शत्रु का नाश करना
सूक्त ७ और ८...... ज्येष्ठ ब्रह्मसूक्त (ब्रह्मज्ञान)
सूक्त ९ ...... शत्रूपर शस्त्रप्रहार करना
सूक्त १० ...... गौ माता का रक्षण। गौ को दुःख देनेवाले शत्रु का नाश करना।

एकादश कांड
सूक्त १ ...... ब्रम्हौदन सूक्त (अन्न सूक्त)
„ २ ...... रुद्र सूक्त(पशुपति सूक्त)
„ ३ ...... ओदन सूक्त (भात, अन्न)
„ ४ ...... प्राण सूक्त (प्राणशक्ति का वर्णन)
„ ५ ......ब्रह्मचर्य(ब्रह्मचर्य पालन करना)
„ ६ ...... कालचक्र वर्णन
„ ७ ...... उच्छिष्ट ब्रह्मसूक्त (संपूर्ण जगत् धारण करने वाले ब्रह्म का सूक्त।)
„ ८ ...... ब्रह्मसूक्त (शरीर में प्रविष्ट होने वाले ब्रह्म का सूक्त।)
„ ९और१०...... युद्ध की तैयारी का सूक्त।
द्वादश कांड सूक्त १ ...मातृभूमि का वैदिक गीत।

इन सूक्तों के क्रम में युद्ध, शत्रुनाश आदि विषयों के पहिले ब्रह्मज्ञान के सूक्त आये हुए हैं। ब्रह्मज्ञान के बाद शत्रु का नाश करने का विषय आया है। अथर्ववेदके दसवें कांड में ऐसा दो बार निर्देश है। ग्यारहवें कांड में अन्न, प्राण, ब्रह्मचर्य, काल आदि के बाद ब्रह्मज्ञान है, उसके बाद युद्ध की तैयारी का वर्णन है और उसके बाद मातृभूमिका वैदिक गीत है। सूक्तों का यह क्रम देखनेसे स्पष्टतासे मालूम होता है कि " ब्रह्मज्ञान के बाद स्वातंत्र्यके लिये युद्ध होता होगा। " वाचकों को यह विधान कदाचित् आश्चर्यकारक मालूम होगा। इसलिये ऊपर दिये हुए सूक्तों का अर्थ समझने के लिये और यह जानने के लिये कि हमने किया हुआ विधान योग्य है या नहीं प्रत्येक सूक्त में से नमुने के लिये एक एक मंत्र यहां दिये हैं।

अष्टचक्रा नवद्वारा देवानां पूरयोध्या।
तस्यां हिरण्ययः कोशः स्वर्गो ज्योतिषावृतः॥३१
तस्मिन्हिरण्यये कोशे त्र्यरे त्रिप्रतिष्ठिते।
तस्मिन्यद्यक्षमात्मन्वत्तद्वै ब्रह्मविदो विदुः ॥३२॥
अथर्ववेद कांड १०।सू.२

"अष्टचक्र और नौ द्वारों से युक्त देवों की अयोध्या नगरी है। उस नगरी में तेजयुक्त स्वर्ग कोश है। उस कोश में जो पूज्य देव है उसे ब्रह्मज्ञानी ही जानते हैं।" यह हृदयस्थानीय ब्रह्म का वर्णन देखने के बाद अगले सूक्तमें के शत्रु को छिन्न भिन्न करने के मंत्र देखोः—

तेनारभस्व त्वं शत्रून् प्रमणिहि दुरस्यतः।
अथर्व. १०।३।१

अरातीर्योभ्रातृव्यस्य दुर्हार्दो द्विषतः शिरः।
अपिवृश्चाम्योजसा ॥
अथर्व० १०।६।१

" दुष्ट शत्रुओं का नाश करना शुरू करो। दुष्ट शत्रूका सिर मैं तोडता हूं।"

इस तरह ये सूक्त देखने के बाद ७ और ८ सूक्तों में का वेदान्त वर्णन देखोः-

यस्य सूर्यश्चक्षुश्चंद्रमाश्च पुनर्णवः।
अग्निं यश्चक्र आस्यं तस्मै ज्येष्ठाय
ब्रह्मणे नमः ॥३३॥
अथर्व. १० । ७

पुंडरीकं नवद्वारं त्रिभिर्गुणेभिरावृतम्।
तस्मिन् यद्यक्षमात्मन्वत्तद्वै ब्रह्मविदो विदुः ॥४३॥
अथर्व० १० । ८

"चंद्रमा और सूर्य जिसकी आंखें हैं, अग्नि जिसका मुख है उस ज्येष्ठ ब्रह्म को नमन करता हूं। नौ दल के कमल में जो देव है उसे ब्रह्मज्ञानी ही जान सकते हैं। " यह ब्रह्मवर्णन देखने के बाद उसी के आगे के सूक्त का पहिला मंत्र देखोः-

अघायतामपि नह्या मुखानि
सपत्नेषु वज्रमर्पयैतम् ॥
अथर्व० १० । ९ । १

" पापी लोगों का मुह बंद करो और यही शस्त्र शत्रू पर फेंको। " इसी तरह तीसरे प्रकार के सूक्तों

का क्रम है। उन सूक्तों का विषय यहां नहीं बतलाते। केवल ११ वें कांड में के आठवें सूक्त का एक मंत्र यहां देते हैं और बाकी के प्राण और ब्रह्मचर्य के सूक्तों में का वर्णन विस्तार भयसे छोड देते हैं।

तस्माद्वै पुरुषमिदं ब्रह्मेति मन्यते।
सर्वा ह्यस्मिन्देवा गावो गोष्ठ इवासते ॥३२॥
अथर्व० ११। ८

"इसलिये इस (पुरुषं) पुरुष ब्रम्ह कहते हैं। क्योंकि जिस तरह गायें अपने बांधने की जगह में रहती हैं उसी तरह सब देवता इसी के आश्रय से रहते हैं।" इस ब्रम्हज्ञान के सूक्त के आगे का सूक्त देखोः-

तेषां सर्वेषामीशाना उत्तिष्ठत संनह्यध्वम्
मित्रा देवजना यूयम। इमं संग्रामं संजित्य
यथा लोकं वितिष्ठध्वम् ॥ २६ ॥
अथर्व० ११। ९

"मित्रों, तैयारी करो, उठो। इस युद्ध में जीतने के बाद अपने अपने देश को जाओ।" उसी तरहः—

सहस्रकुणपा शेतामामित्री सेना समरे
वधानाम्। विविद्धा ककजा कृता ॥ २५ ॥
अथर्व० ११। १०

"शत्रु की सेना में से हजारों मुरदे युद्धभूमि में पडें" इस तरह का वर्णन अध्यात्मज्ञान के बाद कई बार आचुका है।

इसे अचानक काकतालीय न्याय से आया हुआ नहीं कह सकते, क्यों कि वह तीन जगह इसी तरह आया है। राम और अर्जुन के उपदेश के समय भी यही हुआ है। इसलिये " अध्यात्मज्ञान के बाद स्वातंत्र्य के लिये युद्ध " होना स्वाभाविक है। इन सब सूक्तों के बाद वैदिक राष्ट्रगीत आया हुआ है। इससे यह समझ सकते हैं कि जिस सूक्त के बारे में यह लेख लिखा गया है वह सूक्त वास्तव में राष्ट्रीय महत्व का है क्यों कि वह युद्ध के समय आया हुआ है।

इस सूक्त के बारेमें विचार करने के पहिले हमें यही देखना चाहिये कि अध्यात्मज्ञान, ब्रह्मज्ञान आदि विषयों का युद्धादि राष्ट्रीय बातों से क्या संबंध है।

१ अध्यात्मज्ञान

बुद्धि, मन, अहंकार, प्राण, इंद्रिय और शरीर के सब अंगोंको आत्माका आधार है। ये सब बडी शक्तियां हैं। इन शक्तियों का ज्ञान होना अध्यात्मज्ञान कहलाता है।

ये सब शक्तियां हम में हैं। हम बिलकुल क्षुद्र नहीं हैं। हमारे अधीन ये बडी बडी शक्तियां हैं। उनको चलाने वाले हम हैं। यह अपनी शक्ति अध्यात्मज्ञान से मालूम होती है। अध्यात्मज्ञान प्राप्त करने के पूर्व जो मनुष्य अपने को क्षुद्र और निर्बल समझता है वह यदि अध्यात्मज्ञान प्राप्त करने पर स्वतः को सबल और समर्थ समझने लगे तो उस में कोई आश्चर्य नहीं है। इसीलिये रामचंद्रजी जो अपने को दैवाधीन और परतंत्र समझते थे वे ही अध्यात्मज्ञान प्राप्त होने पर दैव को भी अपने अधीन समझने लगे और अपने पुरुषार्थ से विपरीत दैव को भी अपने मन के अनुसार बनाने में समर्थ समझने लगे। यह शक्ति अध्यात्मज्ञान से प्राप्त हो सकती है।

२ ब्रह्मज्ञान

विश्वव्यापी सच्चिदानंद शक्ति का अस्तित्व स्थिर और चर सब में एकसा है। इस ज्ञान से सब संसार की तरफ देखने की दृष्टि बदल जाती है।

उसे अपने अंदर की शक्ति का और जगत् की शक्तियों का ज्ञान रहता है, इसलिये उसे योग्य काम करते समय शोक या मोह का होना असम्भव है। वह अच्छे अच्छे लोगोंकी रक्षा करता है और दुष्ट लोगों का नाश करता है। वह धर्म का अच्छी तरह पालन करके लोगों में शांतता रखता है। जगत् की ओर देखने की उसकी दृष्टि उच्च होती है इस लिये उसे स्त्री और बालबच्चों का मोह नहीं होता, घर या दौलत का लोभ नहीं होता, या ऐषआराम के कारण वह अपने कर्तव्य को छोड नहीं सकता।

इसके सिवा इस ज्ञान से दूसरा एक लाभ हो सकता है। वह यह है कि पृथ्वी पर जितने युद्ध स्वार्थ के लिये होते हैं वे नहीं होंगे और उनसे जिन सज्जनों को कष्ट पहुंचते हैं वे नहीं पहुंचेंगे। क्यों कि ब्रह्मज्ञान के कारण उसकी दृष्टि पवित्र हो जाती है। और फिर वह स्वार्थ के कारण दूसरे को परतंत्र करे या लूटे यह बात असम्भव है। जगत् के सज्जनों को दुःख देने वालों का नाश करने के लिये ही उसकी तलवार म्यान के बाहर निकलेगी। आजकल जिस तरह स्वार्थ से लडाइयां होती हैं, दूसरे राष्ट्र को निष्कारण लूटने के संघटित राष्ट्रीय अन्याय हो रहे हैं, केवल अपनी सेना में तोपें हैं इसलिये दूसरों को कष्ट देना और दूसरे की उन्नति कम करने के जो राक्षसों के समान भयंकर काम हो रहे हैं; यदि हरएक देश में अध्यात्मज्ञान और ब्रह्मज्ञान हो जावें तो वे सब बंद हो जावेंगे। राष्ट्रकी जो क्षात्रशक्ति है वह बहुत बडी महाशक्ति है। उस शक्ति को ब्रह्मज्ञानी मनुष्यही अच्छी तरह सम्हाल सकता है। ब्रह्मज्ञानहीन स्वार्थी लोग इस राष्ट्रीय क्षात्रशक्ति का दुरुपयोग करके जगत् में जबरदस्ती का पापी साम्राज्य फैलाते हैं। इन सब बातोंका विचार करने से मालूम होगा कि पहले ब्रह्मज्ञान प्राप्त करके दृष्टि उच्च बनाना चाहिये और उसके बाद राष्ट्रीय महाशक्ति का उपयोग करना चाहिये। यही वेदों की आज्ञा है। और यही उनकी अपूर्व दूरदर्शिता को बतलाती है। यह बात हमारे वैदिक धर्म ने ही पहिले पहिल सब जगत् को प्राचीन काल में बतलाई। यह बात यद्यपि अतिप्राचीन कालमें भरतखंड में जारी थी तथापि वह बाद में लुप्त हो गई और फिर वह कहीं भी शुरू नहीं हुई। यह बात फिर शुरू करने के लिये हमें स्वतंत्रता प्राप्त करना चाहिये और यह बात जगत् में प्रचलित करने पर जगत् में शांति रखने का महामंत्र सबको बतलाना चाहिये।

इस तरह ब्रह्मज्ञान युद्ध के पूर्व क्यों होना चाहिये और उसका महत्व क्या है यह सारांश में बतलाया है। वास्तव में यह बात विस्तृत करके लिखना थी। परन्तु वैसा करने के लिये जगह नहीं थी। इसलिये यह विषय सारांश में दिया है। अब इसके आगे वैदिक राष्ट्रीय गीतका स्वरूप बतलाना है। (क्रमशः)

आत्मिक बल।

राजनैतिक हलचल का प्रधान उद्देश है स्वराज्य को प्राप्त करने का सरल एवं व्यावहारिक मार्ग बतलाना। राजनीति-शास्त्र का अध्ययन किये बिना मनुष्य राजनैतिक हलचल में जान नहीं ला सकता। कोई भी शास्त्र का अध्ययन शास्त्र-शुद्ध ही होना चाहिए। यदि हम गणित शास्त्र का अध्ययन करना चाहते हैं तो वह मुँह से केवल 'गणित,' 'गणित' रटने से न होगा। इसी तरह यदि हम 'स्वराज्य' प्राप्त करना चाहते हैं तो वह मुखसे 'स्वराज्य' 'स्वराज्य' रटने से नहीं प्राप्त हो सकता। यदि वास्तव में 'स्वराज्य' चाहिए तो राजनीति-शास्त्र का सूक्ष्म अध्ययन कर प्रयत्न करना होगा। किन्तु इसके लिए कुछ पूर्व-तैयारी की भी आवश्यकता है। राजनीति-शास्त्र प्रत्यक्ष व्यवहार में उपयोगी सिद्ध हो इसलिए जो पूर्व-तैयारी चाहिए वह 'आत्मिक बल' है। संसार में जो जो महान् पुरुष हुए हैं, जिन्होंने अपने पराक्रम से क्रान्तिएं की हैं उन्होंने प्रथम 'आत्मिक बल' प्राप्त किया। इसके बादही उन्होंने अपने निजी अनुभव के सिद्धान्त संसार को बतलाए।

मनुष्य का स्वभाव ही है कि जब वह कोई कार्य देखता है तब उसकी प्रवृत्ति कारण ढूँढने की ओर सहजही में होती है। कारण ढूँढते समय उसका ध्यान उस कार्य से मिलने वाली पहलें की कारण

परम्परा तथा कार्य की ओर भी रहता है। इस तुलना से उसे जो अनुभव प्राप्त होता है, उससे अपने कार्य का वह निश्चय करता है तथा उस कार्य की प्रत्यक्ष करने लगता है। किन्तु संसार में हम देखते हैं कि कई लोग अपने कार्य में असफल होते हैं! इसका क्या कारण है? यदि सूक्ष्म दृष्टि से जाँच की जावे तो विदित होगा कि इस असफलता का कारण आत्मिक-बल का अभाव है। मनुष्य कार्य करने में उद्यत होता है किन्तु उसे आत्मिक बल या आत्म-विश्वास नहीं होता। उसी से कार्य बिगड जाता है। किसी भी कार्य को सफल करने की कार्यकर्ता की इच्छा हो तो उसे अत्यन्त आवश्यक है कि वह प्रथम आत्मिक बल प्राप्त करे।

राज्य के अधिकारों के बल पर सूत्र चलानेवाले वर्ग को छोड दें तब भी केवल आत्मिक बल के कारण मानव समाज को जीतने वाले तेजस्वी पुरुष हो गए हैं और अब भी विद्यमान हैं। जैसे लोकमान्य बाल गंगाधर तिलक और महात्मा गान्धी। इन पुरुषों को तनिक भी अधिकार या दण्ड देनेकी शक्ति नहीं थी और न है किन्तु जनता इन दोनों महापुरुषों की आज्ञाओंका पालन करने को तत्पर रहती थी। सो क्यों? इन महापुरुषों का आत्मिक बल ही ऐसा प्रभावशाली है। आत्मिक बल संसार के सब बलों से श्रेष्ठ है। राज-सत्ता-बल विनाशी है किन्तु आत्मिक बल अविनाशी है। श्री रामदासस्वामी जी (छत्रपति श्री शिवाजी के गुरु), श्री शिवाजी, प्रथम पेशवा बाजीराव, राणा प्रताप आदि पुरुषों ने अतीव कठीन परिस्थिति के रहते जटिल समस्याओं को हल किया। यह किस बलपर? केवल आत्मिक बल पर।

अब प्रश्न यह होगा कि 'आत्मिक बल' कैसे प्राप्त करें? यह बल विशेष आत्मसंशोधन से प्राप्त होगा। जब हम दृढ प्रतिज्ञा कर लेते हैं कि अमुक काम हम करेंगे, तब उसके सफल करने में लग जाना चाहिए। बाहरी दृष्टि का त्याग कर अन्तर्दृष्टि करनी चाहिए। इससे अपने अंतःकरण में होनेवाले विचारों का युद्ध एवं परिवर्तन हमे दिखेगा। हम अपने मन को जब बाहरी सृष्टि से खींचकर अपने वशमें कर लेंगे तब अपनी मानसिक शक्ति का उपयोग आत्मिक बल बढाने में कर सकते हैं। घडी की कमान (स्प्रिंग) जब तक कसी रहती है तभी तक उसमें शक्ति होती है और इस शक्ति को हम चाहे जिस काम में लगा सकते हैं। बंद की हुई भाफ की शक्तिका यही हाल है। इस भाफ की शक्ति से राक्षसी शक्ति के कितने ही काम आज हो रहे हैं। इसी तरह आत्मिक बल से भी महान् कार्य हम कर सकते हैं। हमें अपने मन तथा विचार की शक्ति बडे बडे हवाई किले बांधने में न खर्च करनी चाहिए किन्तु उसे हृदयरूप एञ्जिन में बन्द रखनी चाहिए। इस बन्द शक्ति का उपयोग मौके मौके पर करना आवश्यक है।

भारतवासियों को स्वराज्य चाहिए हो तो उन्हे प्रथम आत्मिक बल की वृद्धि करनी होगी। तभी बन्द भाफ के सदृश आत्मिक बल से जटिल से जटील समस्याएँ हल होगीं और बडे बडे कार्य सफल होंगे। लोकमान्य तिलक को जब कालेपानी की सजा हुई और वे रेल में बिठाकर दूर भेजे गए तब भी उन्हे उस समय पर शान्तता से नींद आई। ऐसी कठिन सजा मिलने पर भी वे शांतता से सो सके! क्या इससे उनका आत्मिक बल नहीं चमकता? ऐसा भारी आत्मिक बल प्राप्त होनेपर तोपें, बन्दूकें, हवाई जहाज आदि कुछ न कर सकेंगे और देश में स्वराज्य हो जावेगा। इसी आत्मिक बल के तेज से हिन्दुस्थान में एकता होगी। तब बताईए आप आत्मिक बल प्राप्त कर स्वराज लेना चाहते हैं या पराधीनता की बेडियों से बँधे रहना पसंद करते हैं?

नाग-पञ्चमी ।

जो स्वभाव ही से दुष्ट है, जिसको नष्ट करने के हेतु राजा जनमेजय को 'सर्प-सत्र' करना पडा, दूध पीकर भी जो विष नहीं त्यागता, उस सांप की पूजा का यह दिन है। उपकार का बदला अपकार से चुकानेवाले इस दुष्ट जीव की पूजा के लिए एक खास दिन रखा गया है! सो क्यों ?

साँप कहते ही लोग डण्डा लेकर उसे पीटने के लिए खडे हो जाते हैं। जनता में भूतों की किस्साएं जिस प्रकार प्रचलित हैं उसी तरह साँप की भी। देश के कई भागों में साँप अधिक हैं, किन्तु उससे भी अधिक हैं उनकी किस्साएँ। ब्रह्म-विद्या के सदृश सर्प-विद्या में भी प्रत्यक्ष प्रमाण की अपेक्षा शब्द-प्रमाण को ही लोग अधिक मानते हैं। सब साँप विषहरे नहीं होते। जो साँप विषहरे होते हैं उनमें सबका विष एकसा तीव्र नहीं होता। अर्थात् सभी साँपों के काटने से मनुष्य मर नहीं जाता। इसी से सर्प के मन्त्र जाननेवालों की बन पडी। तिसपर साँप स्वभाव ही से बडा डरपोक होता है। ऐसी दशामें जब हम देखते हैं कि एकाध साँप निकलते ही उसे मारने के लिए दस पाँच आदमी डण्डे लेकर खडे हो जाते हैं तब मनुष्य के अज्ञान पर तथा उसके दीर्घ द्वेष पर तरस आता है। साँप तो विषहरा है ही किन्तु मनुष्य का दीर्घ--द्वेष-रूप विष उससे कुछ कम नहीं है। मनुष्य का दीर्घ-द्वेष साँप के विष से कहीं बढकर प्रतीत होता है।

नाग-पञ्चमी का उत्सव इस दीर्घ--द्वेष--रूप विष को नष्ट करने का उपाय है। वर्षा ऋतु का मुख्य महिना श्रावण है। श्रावण की झडी के समय साँप का संचार होता है। बेचारा साँप वर्षा के पानी से बचनेके हेतु अपने बिलों को छोड कर आश्रयस्थान ढूँढते ढूँढते मनुष्यके घरों में आता है। इसे छोड कर कोई दूसरा आश्रय न होने ही से उसे घरों में आना पडता है। किन्तु उसे एकान्त बहुत प्रिय है। मुमुक्षु जनों को मनुष्यों को त्याग देने का उपदेश करते समय साँप का उदाहरण दिया गया है। इस प्रकार साँप मनुष्यों से सदा ही दूर रहता है। किन्तु लाचारीसे वर्षा की मार से बचने के लिए बहुत सकुचते और डरते हुए वह अतिथि बनकर मनुष्यों की शरण में, उनसे रक्षा की भीख मांगने आता है। हिन्दुओं की समझ है कि परमेश्वर अतिथि का रूप ले भक्तों की परीक्षा करने आते हैं। इसीसे हिन्दुधर्म में अतिथि सत्कार का बडा महत्व है। अतिथि यदि दुष्टता के लिए प्रसिद्ध हो तब तो भक्त की सत्व परीक्षा का ही प्रश्न उपस्थित होता है। ऐसी दशा में क्या हम अतिथि के साथ दुष्टता का बर्ताव करेंगे? कदापि नहीं। नाग-पञ्चमी का उत्सव यही जता देने को है कि "हमारे सन्मुख अति दुष्ट मनुष्य भी उपस्थित हो जावे तो हमें सारी दया और सुजनताको इकट्ठा कर उससे बर्ताव करना चाहिए"। सुजनता का त्याग हम कदापि न करें।

सेन्ट फ्रान्सिस ऑव् असीसी के सम्बन्ध में कहा जाता है कि वह साधु पुरुष ऐसा शान्त और दयालु था कि साँप उसकी गोद में सुख से सोते थे। क्या यह अहिंसा का सर्वश्रेष्ठ उदाहरण नहीं है? इस से भी श्रेष्ठ उदाहरण उसमें दिखलाया जो सर्प का बिछाना बनाकर उसपर विष्णु स्वयं सो गया। यह है अहिंसा की परम अवधि! भक्तों के लक्षण बताते समय कहा गया है कि "भक्त वह है जो स्वयं लोगों की घृणा नहीं करता और जिसकी लोग घृणा नहीं करते" भक्त के पहिचानने की दो कसौटी हैं। प्रथम कसौटी--अर्थात् लोगों की घृणा न करना कुछ सरल है। कारण यह खुद के अधिकार की बात है। दूसरे की घृणा न करना मनुष्य के आधीन है। किन्तु दूसरी कसौटी अत्यन्त कठिन है। लोग

घृणा न करें यह अपने हाथ की बात नहीं, यह तो लोगों के आधीन है। इसीलिए ऐसा बर्ताव करना जिससे लोगों में अपनी चाह हो, लोग सदा प्रेम करें, बडी कठिन बात है। सेन्ट फ्रन्सिस का उदाहरण पहली कसौटी को सिद्ध करता है, किन्तु शेषशायी भगवान् दूसरी कसौटी को सिद्ध करते हैं। दोनों उदाहरणों में नाग-पूजा है। एक में नाग की पूजा की गई है और दूसरे में स्वयं नागने पूजा की है। नाग-पञ्चमीका थोडे शब्दों में वर्णन करना हो तो कहेंगे " शान्ताकारं भुजग-शयनं "।

कहते हैं जिसके सिरपर नाग अपनी फन से छाया करता है वह मनुष्य चक्रवर्ती नरेश होता है। हम कहते हैं क्यों न होगा? सर्प की फन की छाया में शान्ताकार वृत्तिसे शयन करनेवाला व्यक्ति अहिंसा की मूर्ति ही है। यही नाग-पञ्चमी का संदेश है। नाग-पञ्चमीका संदेश जिसने सुनलिया उसके हृदय में प्रेम का साम्राज्य हो जाता है। इसे सनातन सिद्धान्त समझना चाहिए कि जिसके हृदय में प्रेमका साम्राज्य है वह संसार का एकमात्र राजा है। वह " सर्वलोकैकनाथ " है क्यों कि वह स्वयं अपना नाथ है।

जो कोई नागपञ्चमी का रहस्य विचार से ग्रहण करेगा उसके हृदय से द्वेषभाव हट जावेगा और उसे स्वराज्य प्राप्त होगा।

" इति श्री भुजग-शयनार्पणमस्तु। "

दीर्घायु बनने का सरल उपाय।

आपने अपनी मासिक पत्रिका में ' दीर्घ आयु ' विषयपर एक लेख लिखा है। उसमें ऋग्वेद के अनेक वाक्यों के आधारोंपर आपने यह सिद्ध किया है कि मनुष्य कम से कम सौ साल जीवित रह सकता है। प्राचीन ऋषियोंने मनुष्य की आयु की मर्यादा सौ वर्ष की बतलाई है। उनका यह भी कथन है कि यदि वह 'युक्ताहार विहार' से रहे तो इस से भी अधिक दिन जीवित रह सकता है। यह युक्ताहार वही है जिसे अंग्रेजीमें Plain-living अर्थात् सादी रहन सहन कहते हैं। मांसखाना, सुरापान, तथा उत्तेजक पदार्थों का सेवन, संक्षेप में राजस एवं तामस भोजन दीर्घ आयु के विरोधी हैं। यही हमारे प्राचीन आर्य ऋषियों का कथन है। वर्तमान समय ने ऐसा पलटा खाया है कि कोई भी बात हमारे माननीय ऋषियों ने कही हो तो उसे हम यथार्थ वा प्रमाणसिद्ध तबतक नहीं मानते जबतक आधुनिक तज्ज्ञ उसको नहीं दुहराते! उपरोक्त कथन का भी यही हाल है। इसीलिए उपरोक्त कथन को एक आधुनिक तज्ज्ञ द्वारा दुहराया हुआ जब हमने एक स्थानमें पढा, तब वह आपके पाठकों को लाभदायक होगा यह जानकर इस लेख को लिखा है। वर्तमान नवयुवकों से मेरी नम्र सूचना है कि इसे पढ कर भी यदि वे युक्त एवं मिताहार करें तो बहुत लाभ होगा।

यह लेख एक डाक्टर ने अमेरिका की एक पत्रिका में प्रसिद्ध किया है। वह कहता है, " सुप्रसिद्ध हेन्री फोर्ड साहब का कथन है कि यदि मनुष्य चाय, काफी, तमाखू और मद्य का त्याग करे तो वह सवासौ साल जीवित रहेगा। यह निश्चय जानो कि यदि सब लोग बडी सावधानी रखें कि शरीररूप ' ऑटोमोबाइल ' में किसी भी रूपमें कोयला (carbon) न जाने पावे तो उसे उपरोक्त दीर्घ आयु मिलेगी। " सुविद्य पाठक समझ गए होंगे कि फोर्ड साहबने अपने व्यवसाय का दृष्टान्त लिया

है। इस पर कोई आक्षेप करेंगे कि जो कार्बन किसी पदार्थ में स्वभावतः रहता है उसे आप किस प्रकार नष्ट करेंगे? इसका जबाब यह कि पदार्थ को उचित रीतिसे चबानेपर कार्बन का दोष मिट जाता है। जादा चबाने से थोडी वस्तुही में तृप्ति हो जाती है। व्हाइट ब्रेड खानेवाले सफेद चूहों की अपेक्षा कुछ न खानेवाले चूहे अधिक दिन जीए। यह देख कर मैंने अपने कुटुम्ब में व्हाइट ब्रेड का उपयोग बन्द कर दिया है। चाय काफी मनमानी पीनेवाले नवयुवकों को यह देखकर दुःख होगा कि फोर्ड साहबने अपने कुटुम्ब में इन पदार्थों के सेवन को भी मना किया है। किन्तु वास्तव में यह बात यथार्थ है। आपने भविष्य किया है कि थोडे ही समयमें इन पेयोंपर बहिष्कार किया जावेगा। किन्तु हम भारतवासी इस भविष्य को झूट सिद्ध करेंगे !!

सुप्रसिद्ध आधुनिक विद्युत शोधक एडिसन साहब के आजा के बाप एकसौ दो वर्ष तक जीवित रहे। उनकी रहन सहन सादी थी। उनके आजा एकसौ पांच वर्ष तक जीवित रहे। इनके सात पुत्र हुए जिनमें से एक एडिसन साहब के पिता थे। ये सब भी करीब सौ साल जीवित रहे। यह बात ध्यान देने योग्य है कि वर्तमान एडिसन साहब खुद, अपने बुढापे की फुर्ती तथा काम करने की शक्ति का एक कारण यह बताते हैं कि उनके पुरखाओंने शुरू की हुई उनके कुटुम्बकी सादी रहन सहन ही इसका कारण है। अमेरिका के नररत्न एवं शास्त्रज्ञ की रहन सहन बतलाई उन्ही की बराबरी के वनस्पति-शास्त्रज्ञ बरबॅक हैं। उपरोक्त दो पुरुषोंने जिस प्रकार अपने अपने विषय में कीर्ति प्राप्त की है उसी प्रकार बरबॅक महोदयने वनस्पति शास्त्र में कीर्ति प्राप्त की है। इन शास्त्रज्ञों का शरीर नीरोग रखा गया इसी से इन्हे नये नये आविष्कार करने का अवसर मिला है और अपना काम अधूडा छोड कर परलोक सिधारने का कुअवसर नहीं आया। तीसरे महाशय भी पेयों के अर्थात् चाय, काफी, मदिरा आदि के कट्टर विरोधी हैं। यदि इन सद्गुणोंका हम भारतवासी अनुकरण करें तो अवश्य ही हम दीर्घायु होंगे।

सात्विक आहार का जैसा महत्व है वैसा ही मिताहार का भी। उपरोक्त लेखक कहता है, 'टॉमस पार नाम का एक मनुष्य लन्दन में १४९वर्ष की अवस्था में मर गया। मृत्यु के कुछ दिन पूर्व राजवैद्यने उनकी परीक्षा की थी और कहा था कि इनका स्वास्थ्य बिलकुल ठीक है। उनकी रक्तवाहिनी मृदु (elastic) हैं। उनका कहना था कि ऐसे स्वास्थ्यवाले मनुष्य को और पचीसवर्ष जीवित रहना कोई कठिन बात नहीं. किन्तु इस मनुष्य की सादी रहन सहन में बदल हो गया। क्यों कि उसे राजमहल में रहने का निमन्त्रण हुआ और वह राजमहल में रहने को गया। और साल भर ही में उसका देहान्त हो गया। इसका कारण स्पष्ट ही है। अब तक उसने उपरोक्त पेयों को स्पर्श ही नहीं किया था इतनाही नहीं वह केवल शाकाहारी था। किन्तु राजा के साथ स्वादिष्ट भोजन मिलने पर उसका सात्विक आहार और मिताहार बंद हो गया। इसीसे उसकी आयु खतम हो गई!! चारचार स्वादिष्ट पदार्थ खाकर आधुनिक पेयोंका सेवन करनेवाले अब भी ध्यानसे देखें कि मितआहारका कैसा भारी महत्व है। यदि हम भी ऐसा ही करेंगे तो "जीव शरदः शतम्" के अनुसार हम भी सौ साल जीवित रहेंगे और—

पश्येम शरदः शतम् । जीवेम शरदः शतम् ।
बुध्येम शरदः शतम् । रोहेम शरदः शतम् ।
पूषेम शरदः शतम् । भवेम शरदः शतम् ।
भूयसीः शरदः शतात् ।

अथर्ववेद १८।६७

इसीतरह—

शृणुयाम शरदः शतं । प्रब्रवाम शरदः शतं ।
अदीनास्याम शरदः शतं । भूयश्च शरदः शतात् ।

वा. यजुर्वेद ३६।२४

"हम सौ वर्ष तक आंखों से देखेंगे, सौ वर्ष तक जीवित रहेंगे, सौ वर्ष तक ज्ञान प्राप्त करते रहेंगे,

सौ साल तक बढते रहेंगे, सौ साल तक पुष्ट होते रहेंगे,सौ वर्ष तक पराक्रम करते रहेंगे,सौसेअधिक वर्ष तक उन्नती का प्रयत्न करते रहेंगे । इसी तरह-

" सौ साल तक सत् उपदेश सुनेंगे, सौ वर्ष तक सदुपदेश का प्रवचन करेंगे, सौ वर्ष तक स्वावलम्बन की अदीन अवस्थामें रहेंगे,सौ साल से अधिक जीवित रहकर अपना कर्तव्य करेंगे ।"

इस प्रकार हमारे धर्म में सब स्थानों में कहा गया है कि उपरोक्त इच्छाएँ करो और उन के अनुकूल प्रयत्न करो। इसीलिए अपने को धार्मिक मनुष्य समझने वाले प्रत्येक का कर्तव्य है कि वह इस प्रकार प्रयत्न करे। यह बिलकुल सरल बात है! जीभ के चोचलों को छोडो और सादी रहन सहन से रहो तो आयु क्षीण नहीं होती।

जो इस प्रकार अपना वर्ताव रखेंगे उन्हे अवश्यमेव लाभ होगा। जरा करके तो देखिए।

शीर्षासनपर मेरा विश्वास.

(ले०- श्री. देवीप्रसाद जी पिपलका)

मैं कोई दो तीन वर्षसे शीर्षासन करता हूं जोकि १, १॥ मास में ही इससे लाभ उठा चुका था।

फसली बुखार जो मुझे हरसाल आया करता था, आसनकी शुरूआत में उस वर्ष नहीं आया। आहार विहार के संबंध में मैं कोई बद परहेज नहीं। लेकिन यह मनके संबंध की बात है और मुझे मन पर अभी पूर्ण अधिकार प्राप्त नहीं है। आसन मैंने आध्यात्मिक उन्नति के लिये नहीं किया, यह तो स्वास्थ्य के साधने के लिए करता हूं, खुराक मुझे आसन में लेखानुसार नहीं मिल सकी। न शौक ही किया है साधारण रोटी दाल साग ही मिलती है। शुरूआतमें नाक द्वारा स्वास लेना असह्य मालूम होता था। मैं आसनको कोई क्रमसे नहीं करता, चार पाई पर, छत पर, पत्थर पर, जंगल में, कोठे में, चाहे जहां कपडे पहिने रातमें, शाम को, सुबह को, दो प्रहर को जब मौका लगे। मैं शीर्षासन का अन्ध विश्वासी नहीं हूं। मुझे एक खास रोग था जिसके कारण ४-६ मास बाद कै(वमन) होता था पीछे ज्वर हो जाता है,यह मेरे शरीर में पित्तकी प्रबलता है, आरंभ में तो बहुत दिन तक नहीं हुआ। लेकिन इसका नाश नहीं हुआ मुझे शौचके पश्चात् धालु जाता था, वह बिलकुल ही सा बंद है।

"एक गुजराती पुस्तकमें लिखा था कि शौच मूत्र त्याग में जोर न लगाना चाहिए और अधिक समय तक इन स्थानों पर बैठना नहीं चाहिए" इस प्रमेह के हटाने में यह अनुभव भी सहायक है।

कई वार ऐसा हुआ है कि दस्त साफ नहीं हुआ है, उठकर चला आया हूं, आसन करतेही दस्तकी सम्भावना होती है साफ दस्त होता है। शीर्षासन करने वाले का मन जब तक आहार विहार से काबू में नहीं तब तक विशेष लाभ नहीं होता है इसी कारण मेरे स्वप्नदोष का भी नाश नहीं हुआ, कमी जरूर है।

कमजोर दिमागवाले शिरके नीचे मुलायम वस्त्र रुई संचित वस्त्र रखें। मैंने कई रईस,वकील, पहलवान, मास्टर, उपदेशक आदि साधारण महापुरुषों से शीर्षासन कराया है दो एक मुसलमान भाई भी इस पर मोहित हुए हैं, क्यों कि मैं वैष्णव होते हुए हिन्दु- मुस्लिम एकताका हामी हूं, लेकिन आपके आसनों का प्रचार रूप में मैंने किसी से कुछ नहीं कहा; बल्कि अपने प्रेमियोंको ही यह सब कुछ करा सका हूं, इससे दिमाग की कमजोरी दूर होती है।

उल्टा खडा हो कर पेटको दबाकर तथा चलाकर अर्ध शीर्षासन करने लगता हूं घुटने कुछ नीचे कर लेता हूं। तो पेटकी सम्पूर्ण अशुद्ध वायु निकल जाती है। इससे फोडा जल्दी अच्छा हो जाता है। एक आदमी का छः मासका फोडा दूर हो चुका है।

मयूरासनसे पेटके कब्ज का नाश होता है। उपरोक्त श्वास रुकनेमें नाक घिर आती है फिर खडे होकर साफ कर लेता हूं तब स्वास लेने में कठिनता नहीं मालूम होती। रक्त का संचार होता है पेटाकृति सुडौल हो जाती है, स्नान के बाद ठीक रहता है। इति

वाग्विलास ।

१ वैदिक पीयूष बिन्दु ।

(संग्रहीता— स्व० पं० शिवशंकर जी काव्य-तीर्थ । संपादक— श्री. स्वा० वेदानन्दतीर्थ, दयानन्दोपदेशक महाविद्यालय, गुरुदत्त भुवन लाहौर । मू० ।-) पं० शिवशंकर जी का समस्त जीवन वेद प्रवचन और वेद रहस्योद्घाटन में बीता है, वेद मंत्रार्थ लिखवाते ही उनका प्राणान्त हुआ है । ऐसे वेदप्राण महाविद्वान् का लेख पढने में किसे रुचि न होगी ? पाठक इस वैदिक अमृतका पान करके आनंद उठावें ।

२ इषे त्वा ऊर्जे त्वा ।

(भाष्यकर्ता— वैदिक मुनि । प्राप्तिस्थान-महेश औषधालय, पो. ब. नं. २४ पापड मंडी लाहौर ।)

यजुर्वेद के " इषे त्वा " इस प्रथम मंत्रका सरल और सुबोध संस्कृत में भाष्य है । वैदिक मुनि जी की भाष्य शैली बहुत अच्छी है । ऐसा भाष्य संपूर्ण वेद पर वैदिक मुनि करेंगे तो बडा लाभ हो सकता है ।

३ आसन चिकित्सा ।

अर्थात् जीवन विज्ञान. (ले०— श्री. कविराज अत्रिदेवजी गुप्त बी. ए. भिषग्रत्न । धन्वन्तरि कार्यालय विजयगढ अलीगढ मू० २)

आसनोंसे रोगोंको दूर करने की विधि इस पुस्तक में बताई है तथा आर्यवैद्यक के सिद्धान्तों को दिखलाकर आसन चिकित्सा के मूल सिद्धान्तों का भी प्रदर्शन अच्छी प्रकार किया है । यह पुस्तक अपने विषय में बहुत ही अच्छी है । जो आसनों का विचार करते हैं उन को तो यह अच्छी प्रकार पढना चाहिये । पुस्तक बहुत अन्वेषणापूर्वक लिखी है ।

४ फेंफडोंकी परिक्षा ।

(ले०— कविराज शिवशरण वर्मा वैद्यरत्न । प्रकाशक धन्वन्तरिमंडल- फगवाडा, कपूरथला स्टेट । मू १॥)

फेंफडों की परीक्षा संबंधी विषय बडी उत्तमतासे इस पुस्तकमें दर्शायागया है । विषय सरल स्पष्ट और खोजपूर्ण है ।

५ सत्यनाम

(श्री, यो० श्री० मथुरादासजी द्वारा रचित । प्र०—श्रीरमाविलास पुस्तकालय । अजमतगढजि, आजमगढ । मू. ≡) ॥)

सत्यनाम विषयक संतोंके भजन इसमें पाठक देख सकते हैं ।

६ देवनागरी लिपी

(श्री. पं. गौरीशंकर भट्ट, मसवानपुर, कानपुर) सुलेख विषयक लेख पढने योग्य है ।

७ बालबोध प्रश्नोत्तरी

(ले० और प्र०—म० रामचंद्रजी मंत्री आर्य प्र० उ० सभा, सहारानपुर । मू. ३ पैसा) प्राथमिक शिक्षा के लिये यह प्रश्नोत्तरी बहुत अच्छी है । ४)रु की १०० मिलती हैं ।

८ धर्मध्वंसक शारदा बिल

(प्र० अ. भा. मा० आग्रवाल पंचायत कलकत्ता ।)

शारदाबिल के विरोधमें मारवाडीयोंनें जो विरोध किया है उसका स्वरूप इसमें पाठक देखें ।

९ संक्षिप्त आर्ष धर्म

(प्र० श्रीबलाई चांद मलिक आर्य. यज्ञ गृह ४५ न. विडन स्ट्रीट कलकत्ता । मू.-) इसमें अति संक्षेप से आर्यमत का प्रकाशन किया है । संक्षेपसे बहुत सिद्धांत इसमें उत्तमतापूर्वक दर्शाये हैं ।

धूपकी बत्तियाँ ।

" महालक्ष्मी सुगंध कार्यालय " कोल्हापुर शहर की धूपकी बत्तियां बडी सुगंधिवाली हैं । सात आठ प्रकार की सुगंधी बत्तियां उनके कारखाने में बनती हैं । प्रथम श्रेणी का मूल्य ३॥) है और सप्तम श्रेणी वाली का मूल्य २०) है । जो उपासना के समय सुगंधी बत्तियां वर्तते हैं वे इस कार्यालय से मंगावे ।

हवन से दीर्घ आयुष्य !

[११]

(ऋषिः-ब्रह्मा, भृग्वाङ्गिराः । देवता — इन्द्राग्नी, आयुष्यं, यक्ष्मनाशनम्)

मुञ्चामि त्वा हविषा जीवनाय कमज्ञातयक्ष्मादुत राजयक्ष्मात् ।
ग्राहिर्जग्राह यद्येतदेनं तस्या इन्द्राग्नी प्र मुमुक्तमेनम् ॥ १ ॥
यदि क्षितायुर्यदि वा परेतो यदि मृत्योरन्तिकं नीत एव ।
तमा हरामि निर्ऋतेरुपस्थादस्पार्शमेनं शतशारदाय ॥ २ ॥

अर्थ—(कं जीवनाय) सुख पूर्वक दीर्घ जीवन के लिये मैं (त्वा) तुझको (अज्ञात-यक्ष्मात् उत राजयक्ष्मात्) अज्ञात रोगसे और राजयक्ष्मा नामक क्षय रोगसे (हविषा मुञ्चामि) हवनसे छुडाता हूं । (यदि ग्राहिः एतत् एनं जग्राह) यदि जकडनेवाले रोगने इसको इस प्रकार पकड रखा हो तो (तस्याः इन्द्राग्नी एनं प्रमुमुक्तं) उस पीडासे इन्द्र और अग्नि इसको छुडावें ॥ १ ॥

(यदि क्षितायुः) यदि समाप्त आयुवाला अथवा (यदि वा परेतः) यदि मरनेके करीब पहुंचा हो किंवा (यदि मृत्योः अन्तिकं नीतः एव) यदि मृत्युके समीप भी पंहुचा हुआ क्यों न हो, (तं निर्ऋतेः उपस्थात् आहरामि) उसको मैं विनाशके पाससे वापस लाता हूं और (एनं शतशारदाय अस्पार्शम्) इसको सौवर्षके दीर्घायुष्यके लिये सुरक्षित करता हूं॥ २ ॥

भावार्थ— तुझे सुखमय दीर्घ आयुष्य प्राप्त हो इसलिये तुझे ज्ञात और अज्ञात रोगोंसे हवनके द्वारा छुडाता हूं । जकडनेवाले रोगोंने यद्यपि तुझे पकड रखा हो, तथापि इन्द्र और अग्निकी सहायतासे तू उन कष्टोंसे मुक्त हो सकता है ॥ १ ॥

आयु समाप्त हुई हो, करीब मरनेकी अवस्था प्राप्त हुई हो, करीब करीब मृत्युके समीप भी पहुंचा हुआ हो, तो भी उसको उस विनाशकी अवस्था से मैं वापस लाता हूं और सौ वर्षकी दीर्घ आयु प्राप्त कराता हूं ॥ २ ॥

सहस्राक्षेण शतवीर्येण शतायुषा हविषाहार्षमेनम् ।
इन्द्रो यथैनं शरदो नयात्यति विश्वस्य दुरितस्य पारम् ॥ ३ ॥
शतं जीव शरदो वर्धमानः शतं हेमन्ताञ्छतमु वसन्तान् ।
शतं त इन्द्रो अग्निः सविता बृहस्पतिः शतायुषा हविषाहार्षमेनम् ॥ ४ ॥
प्र विशतं प्राणापानावनड्वाहाविव व्रजम् ।
व्यन्ये यन्तु मृत्यवो यानाहुरितराञ्छतम् ॥ ५ ॥

अर्थ-(सहस्राक्षेण शतवीर्येण शतायुषा हविषा एनं आहार्षं) सौ शक्तियोंसे युक्त, सौ वीर्योंसे युक्त, शतायु देनेवाले हवनसे इसको मैंने लाया है। (यथा विश्वस्य दुरितस्य पारं) जिससे संपूर्ण दुःखोंके पार होके (एनं इन्द्रः शरदः अति नयाति) इसको इन्द्र सौ वर्षकी पूर्णायुकेभी परे पहुंचावे ॥ ३॥

(वर्धमानः शतं शरदः जीव) बढता हुआ सौ शरद् ऋतुओं तक जीता रह (शतं हेमन्तान्, शतं उ वसन्तान्) सौ हेमन्त ऋतुओं तक तथा सौ वसन्त ऋतुओं तक जीवित रह । (इन्द्रः अग्निः सविता बृहस्पतिः ते शतं) इन्द्र, अग्नि, बृहस्पति और सविता, तेरे लिये सौ वर्षकी आयु देवें । (एनं शतायुषा हविषा आहार्षं) मैंने इसको सौ वर्षकी आयु देनेवाले हविसे यहां लाया है ॥ ४ ॥

हे (प्राणापानौ) प्राण और अपान ! (प्र विशतं) प्रवेश करो (अनड्वाहौ व्रजं इव) जैसे बैल गोशालामें प्रवेश करते हैं । (अन्ये मृत्यवः वि यन्तु) दूसरे अनेक अपमृत्यु दूर हो जावें, (यान् इतरान् शतं आहुः) जिनको इतर सौ प्रकारके कहा जाता है ॥ ५ ॥

भावार्थ— हवन में हजारों शक्तियां हैं और सैंकडों वीर्य हैं, ऐसे हवनसे इसको मैंने वापस लाया है। यह मनुष्य अब सम्पूर्ण कष्टोंसे पार हुआ है, अब इसको इन्द्र सौ वर्षके भी परे ले जायेगा ॥ ३ ॥

मैंने तुझे सौ वर्षकी आयु प्रदान करनेवाले हवनसे मृत्युसे वापस लाया है। इन्द्र, अग्नि, सविता और बृहस्पति तुझे सौ वर्षकी आयु देवें। अब तू सब प्रकारसे बढता हुआ सौ वर्षतक जीवित रह ॥ ४ ॥

हे प्राण और अपान ! तुम दोनों इस मनुष्यमें ऐसे प्रवेश करो जैसे बैल गोशालामें प्रवेश करते हैं। अन्य सैंकडों अपमृत्यु इससे दूर भाग जावें ॥ ५ ॥

इहैव स्तं प्राणापानौ माप गातमितो युवम् ।
शरीरमस्याङ्गानि जरसे वहतं पुनः ॥ ६ ॥
जरायै त्वा परि ददामि जरायै नि धुवामि त्वा ।
जरा त्वा भद्रा नेष्ट व्य१न्ये यन्तु मृत्यवो यानाहुरितराञ्छतम् ॥ ७ ॥
अभि त्वा जरिमाहित गामुक्षणमिव रज्ज्वा । यस्त्वा मृत्युरभ्यधत्त
जायमानं सुपाशया । तं ते सत्यस्य हस्ताभ्यामुदमुञ्चद् बृहस्पतिः ॥ ८ ॥

अर्थ- हे (प्राणापानौ !) प्राण और अपान ! (युवं इह एव स्तं) तुम दोनों यहां ही रहो, (इतः मा अप गातं) यहांसे मत् दूर जाओ । (अस्य शरीरं) इसका शरीर और (अंगानि) सब अवयव (जरसे पुनः वहतं) वृद्धावस्थाके लिये फिर ले चलो ॥ ६ ॥

(त्वा जरायै परि ददामि) तुझे वृद्धावस्थाके लिये अर्पण करता हूं । (त्वा जरायै निधुवामि) तुझको वृद्धावस्था के लिये पहुंचाता हूं । (त्वा जरा भद्रा नेष्ट) तुझे वृद्धावस्था सुख देवे, (अन्ये मृत्यवः वि यन्तु) अन्य अपमृत्यु दूर हो जावें, (यान् इतरान् शतं आहुः) जिनको इतर सौ प्रकारके कहा जाता है ॥ ७ ॥

(उक्षणं गां इव रज्ज्वा) जैसे बैलको अथवा गौको रस्सीसे बांध देते हैं उस प्रकार (जरिमा त्वा अभि आहत) बुढापेने तुझको बांधा है । (यः मृत्युः जायमानं त्वा सुपाशया अभ्यधत्त) जिस मृत्युने उत्पन्न होते हुएही तुझको उत्तम पाशसे बांध रखा है (ते तं) तेरे उस मृत्युको सत्यस्य हस्ताभ्यां बृहस्पतिः उदमुञ्चत्) सत्यके दोनों हाथोंसे बृहस्पति छुडा देता है ॥ ८ ॥

भावार्थ– हे प्राण और अपान ! तुम दोनों इसके शरीरमें निवास करो, यहांसे दूर मत जाओ । इसके शरीरको और संपूर्ण अवयवोंको पूर्ण वृद्ध अवस्था तक अच्छी प्रकार चलाओ ॥ ६ ॥

हे मनुष्य ! मैं अब तुझको वृद्धावस्थाके लिये समर्पित करता हूं । वृद्धावस्थातक मैं तुझको आयु देता हूं । तुझे आरोग्यपूर्ण बुढापा प्राप्त हो और सब अन्य अपमृत्यु तुझसे अब दूर हों ॥ ७ ॥

जैसे गाय या बैलको एक स्थानपर रस्सीसे बांधदेते हैं वैसे अब तेरे साथ वृद्धावस्थाकी पूर्ण आयु बांधी गई है । जो अपमृत्यु जन्मते ही तेरे साथ लगा हुआ था उस अपमृत्युसे तुझको सत्यके हाथोंसे बृहस्पति छुडा देता है ॥ ८ ॥

हवनसे दीर्घायुष्यकी प्राप्ति।

हवन की बडी भारी शक्ति है, इससे आरोग्य, बल, दीर्घ आयुष्य आदि प्राप्त हो सकता है। यज्ञ यागोंमें हवन होता है, ये यज्ञयाग ऋतुओंकी संधियोंमें किये जाते हैं और इनसे ऋतुपरिवर्तनके कारण होनेवाले रोगादि दूर हो जाते हैं इस विषयमें कहा है-

औषधियोंके यज्ञ।

भैषज्ययज्ञा वा एते। तस्मादृतुसन्धिषु प्रयुज्यन्ते।
ऋतुसन्धिषु व्याधिर्जायते॥ गो. ब्रा. उ. प्र. १।१९

" ये औषधियोंके महामख हैं, इसलिये ऋतुसंधियोंमें ये यज्ञ किये जाते हैं इसका कारण यह है कि ऋतुसंधियोंमें व्याधियां होती हैं।"

ऋतुपरिवर्तनके कारण हवा बिगडती है, इससे रोग होते हैं। इन रोगोंका प्रतिबंध करनेके लिये ये औषधियाग किये जाते हैं। रोगनाशक, आरोग्यवर्धक और पुष्टिकारक तथा बलवर्धक औषधियोंका इनमें हवन किया जाता है। जो यज्ञ रोगनाशक, आरोग्यवर्धक, पुष्टिकारक और बलवर्धक होंगे वे दीर्घ आयु देनेवाले निःसंदेह होंगे इसमें किसी को भी संदेह नहीं हो सकता। इस लिये इस सूक्तमें जो हवनसे दीर्घ आयुष्य प्राप्त करनेका संदेश दिया है वह अवश्य विचार करने योग्य है।

हवनसे रोग दूरकरना।

हवनसे रोग दूर करनेके विषयमें इस सूक्तका कथन मनन करने योग्य है—

अज्ञातयक्ष्मात् उत राजयक्ष्मात् त्वा मुञ्चामि। (मं० १)
तस्याः (ग्राह्याः) इन्द्राग्नी एनं प्रमुमुक्तम्। (मं० १)

" अज्ञात रोग और ज्ञात रोग, या राजयक्ष्मा रोग इन रोगोंसे रोगमुक्त कर देते हैं। पकडनेवाले रोगसे इन्द्र और अग्नि इस रोगी को मुक्त कर देते हैं।"

इस मंत्र में हवनसे ज्ञात और अज्ञात रोगोंकी दूर होजानेकी संभावना दर्शायी है। ज्ञात रोग वे होते हैं कि जिनकी पहचान संपूर्ण लक्षणोंसे आसानीसे होती है। तथा अज्ञात रोग उनको कहते हैं कि जो ठीक प्रकार पहचाने नहीं जाते अथवा जिनके विषयमें वैद्योंकी परीक्षामें मतभेद हुआ करता है। कोई वैद्य एक रोग बताता है तो दूसरा वैद्य दूसरा ही रोग बताता है। इस प्रकार रोग ज्ञात हो अथवा अज्ञात हो,उसको

हवन द्वारा दूर किया जा सकता है, अर्थात् अग्निमें योग्य औषधियोंका हवन करनेसे रोगी रोगमुक्त हो जाता है। विविध रोगोंकी निवृत्तिके लिये अन्यान्य औषधियोंका हवन करनेकी आवश्यकता है और कुछ पदार्थ ऐसे भी हवनमें होते होंगे कि जिनसे सामान्यतया आरोग्य प्राप्त होता हो। ऐसे योग्य औषधियोंके संमिलित हवनसे मनुष्य पूर्ण नीरोग और दीर्घायुसे युक्त हो जाता है।

हवनका परिणाम।

हवनका परिणाम यहां तक होता है कि आसन्न मरण रोगी भी रोग मुक्त होकर आरोग्य प्राप्त करता है इस विषयमें द्वितीय मंत्र स्पष्ट शब्दों द्वारा कहता है कि, "यदि यह रोगी करीब मरनेकी अवस्थातक पहुंच चुका हो, मृत्युके पास भी गया हो, इसकी आयु भी समाप्त हो चुकी हो, तोभी हवनसे इसकी सब आपत्ति दूर हो सकती है और इसको सौ वर्षकी पूर्ण आयु प्राप्त हो सकती है।" (मं० २)

शतायु करनेवाला हवन।

इस वर्णन से हवनका अपूर्व आरोग्यवर्धक परिणाम ज्ञात हो सकता है। तृतीय मंत्रमें हवनका नाम ही "शतायु हवि" कहा है अर्थात् इस हवन से सौ वर्षकी पूर्ण आयु प्राप्त हो सकती है। इस "शतायु हवि" के अंदर शतवीर्य अर्थात् सौ प्रकारके बल होते हैं और (सहस्र-अक्ष) हजार प्रकारकी शक्तियां होती हैं। इससे—

नयात्यति विश्वस्य दुरितस्य पारम्। (मं० ३)

"सब दुरितको दूर किया जाता है।" दुरित नाम पापका है। यह "दुरित" (दुः-इत) वह है कि जो दुःख उत्पन्न करनेवाला शरीरमें घुसा होता है; यह शरीरमें घुस कर नाना प्रकारकी पीडाएं उत्पन्न करता है। हवनसे यह दुरित अर्थात् रोगोत्पादक द्रव्य शरीरसे दूर किया जाता है।

चतुर्थ मंत्रमें विश्वास पूर्वक कहा है कि अब तो "हवन किया गया है, इन्द्र, अग्नि, सविता, बृहस्पति आदि देवताओंसे शक्तियां प्राप्त की गई हैं, अब तू विश्वास पूर्वक अपनी सब शक्तियां बढाता हुआ सौ वर्षतक जीता रह। अब तुम्हें मृत्युका भय नहीं है। (मं० ४)" हवन का ऐसा सुपरिणाम होता है और इतना विश्वास उत्पन्न हो जाता है। यह हवनका परिणाम मनन पूर्वक देखने योग्य है।

पंचम और षष्ठ मंत्रोंमें प्राण और अपानको आदेश पूर्वक कहा है कि— "हे प्राण

और अपान ! तुम अब इसी पुरुषके देहमें घुसो, यहां ही अपने कार्य करो और इसके शरीरको तथा संपूर्ण इन्द्रियोंको पूर्ण आयुकी समाप्तितक अपने अपने कार्य करनेके योग्य रखो । तथा इसके शरीरसे पृथक् न होओ । तुम्हारे कार्यसे इसके संपूर्ण अपमृत्यु दूर हो जावें (मं० ५-६) । " जब पूर्ण आरोग्य प्राप्त होता है और हवनसे शरीरमें नव जीवन संचारित होता है; तब शरीरमें स्थिर रूपसे प्राणापान रहेंगे ही । यह हवनका परिणाम है ।

सप्तम मंत्रमें कहा है कि- "हे मनुष्य ! अब मैं तुझको वृद्ध अवस्थाके लिये समर्पण करता हूं, तुझे सुखमयी वृद्ध अवस्था प्राप्त होवे और सब अपमृत्यु तुझसे दूर होजावें" (मं०७) । वृद्ध अवस्थाकी गोदमें समर्पण करनेका तात्पर्य यही है कि पूर्ण वृद्धावस्था होनेतक अर्थात् सौ वर्षकी पूर्ण आयुतक जीवित रहना ।

मरणका पाश ।

अष्टम मंत्रमें एक बडा भारी सिद्धांत कहा है कि हर एक मनुष्य जन्मते ही मृत्युके पाश से बांधा जाता है—

यस्त्वा मृत्युरभ्याधत्त जायमानं सुपाशया । (मं० ८)

"मृत्यु तुझको अर्थात् हरएक प्राणिमात्रको जन्मतेही उत्तम पाशसे बांधकर रखता है ।" कोई मनुष्य अथवा कोई प्राणी मृत्युके इस पाशसे छूटा नहीं होता । जो जन्मको प्राप्त हुआ है वह अवश्य किसी न किसी समय मरेगा ही । सब उत्पन्न हुए प्राणिमात्रों को मृत्युने अपने पाशोंसे ऐसा जकड कर बांधा है कि वे इधर उधर जा नहीं सकते और सब मृत्युके वशमें होते हैं ।

"सब जन्म लेनेवाले प्राणियोंको एक वार अवश्य मरना है" यह इस मंत्रका कथन हरएकको अवश्य विचार करने योग्य है । हरएकको स्मरण रखना चाहिये कि अपने सिरपर मृत्युने पांव रखा हुआ है । इस विचारसे मनुष्यको सत्य धर्मका पालन करना चाहिये । सत्यही इस मृत्युसे बचाने वाला है ।

सत्यसे सुरक्षितता ।

मृत्युके पाशसे बचानेवाला एक मात्र उपाय " सत्य " है यह अष्टम मंत्रने बताया है ।—

तं ते सत्यस्य हस्ताभ्यामुदमुञ्चद् बृहस्पतिः । (मं०८)

"बृहस्पति तुझे सत्यके संरक्षक हाथोंसे उस मृत्युसे बचाता है ।" अर्थात् जो मनुष्य सत्यका पालन करता है उसका बचाव परमेश्वर करता है । वस्तुतः सत्यसे ही उसका बचाव होता है । सत्यका रक्षण ऐसा है कि जिससे दूसरे किसी रक्षण की तुलना नहीं हो सकती, अर्थात् एक मनुष्य अपना बचाव सत्यके हाथोंसे करता है और दूसरा मनुष्य अपना बचाव शस्त्रास्त्रोंसे करता है तो सत्यसे अपना बचाव करनेवाला मनुष्य अधिक सुरक्षित है, अपेक्षा उसके कि जो अपने आपको शस्त्रोंसे रक्षित समझता है । सत्याग्रह से अपनी रक्षा करना ब्राह्मबल है और शस्त्रास्त्रोंसे अपनी रक्षा करना क्षात्र बल है । क्षात्रबलसे ब्राह्मबल अधिक श्रेष्ठ है इसमें किसीको संदेह ही नहीं है ।

सत्यपालनसे दीर्घायुकी प्राप्ति ।

यहां हमें सूचना मिलती है कि दीर्घायुकी प्राप्ति करनेकी इच्छा करनेवाले को सत्यका पालन करना अत्यंत आवश्यक है । सत्यके संरक्षक हाथोंसे सुरक्षित हुआ मनुष्य ही दीर्घजीवी हो सकता है ।

इस मंत्रमें जो हवन का महत्त्व वर्णन किया है वह यज्ञ शास्त्रमें प्रसिद्ध है । यज्ञसे जनताकी भलाई, आरोग्य प्राप्ति आदि होनेका वर्णन सब यज्ञ शास्त्र कर रहे हैं । इस दृष्टिसे यह सूक्त एक आरोग्य प्राप्तिका नवीन साधन बता रहा है ।

किस रोगके दूर करनेके लिये किस हवन सामग्री का हवन होना चाहिये इस विषयमें यहां कुछ भी नहीं कहा है परन्तु हवन का सर्व सामान्य परिणाम ही यहां बताया है । हरएक रोगके दूर करनेके लिये विशेष प्रकारके हवनोंका ज्ञान अन्यान्य सूक्तोंसे प्राप्त करना चाहिये । वैदिक विद्याओंकी खोज करनेवालोंके लिये यह एक बडा महत्त्व पूर्ण खोजका विषय है । खोज करनेवाले इसकी खोज अवश्य करें । इससे जैसा व्यक्तिका भला हो सकता है, वैसा ही राष्ट्रका भी भला हो सकता है ।



गृह निर्माण ।

[१२]

(ऋषिः— ब्रह्मा । देवता—शाला, वास्तोष्पतिः)

इहैव ध्रुवां नि मिनोमि शालां क्षेमें तिष्ठाति घृतमुक्षमाणा ।
तां त्वा शाले सर्ववीराः सुवीरा अरिष्टवीरा उप सं चरेम ॥ १ ॥
इहैव ध्रुवा प्रति तिष्ठ शालेऽश्वावती गोमती सूनृतावती ।
ऊर्जस्वती घृतवती पयस्वत्युच्छ्रयस्व महते सौभगाय ॥ २ ॥

अर्थ— (इह एव ध्रुवां शालां निमिनोमि) इसी स्थानपर सुदृढ शाला को बनाता हूं । वह शाला (घृतं उक्षमाणा क्षेमे तिष्ठाति) घी सींचती हुई हमारे कल्याणके लिये ठहरी रहेगी । हे (शाले) घर ! (तां त्वा सर्ववीराः अरिष्टवीराः सुवीराः उप संचरेम) तेरे चारों ओर हम सब वीर विनष्ट न होते हुए उत्तम पराक्रमी बनकर फिरते रहेगें ॥ १ ॥

हे शाले ! तू (अश्वावती गोमती सूनृतावती) घोडोंवाली, गौओंवाली और मधुर भाषणोंवाली होकर (इह एव ध्रुवा प्रतितिष्ठ) यहां ही स्थिर रह । तथा (ऊर्जस्वती घृतवती पयस्वती) अन्नवाली, घीवाली और दूधवाली होकर (महते सौभगाय उच्छ्रयस्व) बडे सौभाग्य के लिये उंची बनकर खडी रह ॥ २ ॥

भावार्थ— इस उत्तम स्थानपर मैं उत्तम और सुदृढ घर बनाता हूं, जिसमें घी आदि खाने पीनेके पदार्थ बहुत रहें और जो सब प्रकार के स्वास्थ्य साधनोंसे परिपूर्ण हो । हम सब प्रकार के शौर्यवीर्यादि गुणोंसे युक्त होकर और किसी प्रकार कष्टोंको प्राप्त न होते हुए इस घरके चारों ओर घूमा करेंगे ॥ १ ॥

इस घरमें घोडे, गौवें, बैल आदि पशु बहुत हों, यह घर उत्तम मीठे भाषणसे युक्त हो, अन्न घी दूध आदि खाद्य पेय इसमें बहुत हों और इसमें रहनेवालोंको बडे सौभाग्यकी प्राप्ति हो ॥ २ ॥

धरुण्यसि शाले बृहच्छंन्दाः पूतिधान्या ।
आ त्वां वत्सो गमेदा कुमार आ धेनवः सायमास्पन्दमानाः ॥ ३ ॥
इमां शालां सविता वायुरिन्द्रो बृहस्पतिर्नि मिनोतु प्रजानन् ।
उक्षन्तूद्ना मरुतौ घृतेन भगो नो राजा नि कृषिं तनोतु ॥ ४ ॥
मानस्य पत्नि शरणा स्योना देवी देवेभिर्निर्मितास्यग्रे ।
तृणं वसाना सुमना असस्त्वमथास्मभ्यं सहवीरं रयिं दाः ॥ ५ ॥

अर्थ- हे शाले! (बृहत्-छन्दाः पूतिधान्या) बडे छतवाली और पवित्रधान्य वाली तथा (धरुणी असि) धान्यादि का भण्डार धारण करनेवाली तू है।(त्वा वत्सः कुमारः आ गमेत्) तेरे अंदर बछडा और बालक आजावे।(आस्पन्द-माना धेनवः सायं आ) कूदती हुई गौवें सायंकालके समय आजावें॥ ३॥

(इमां शालां) इस शालाको सविता, वायु, इन्द्र, और बृहस्पति (प्रजानन् नि मिनोति) जानता हुआ निर्माण करे। (मरुतः उद्ना घृतेन उक्षन्तु) मरुत् गण जलसे और घीसे सींचें, तथा (भगः राजा नः कृषिं नि तनोतु) भाग्यवान् राजा हमारे लिये कृषिको बढावे ॥ ४ ॥

हे (मानस्य पत्नि) संमानकी रक्षक, (शरणा स्योना देवी) अंदर आश्रय करने योग्य, सुख दायक, दिव्य प्रकाशमान ऐसी (देवेभिः अग्रे निमिता असि) देवोंद्वारा पहले बनायी हुई है। (तृणं वसाना त्वं सुमनाः असः) घासको पहने हुए तू उत्तम मनवाली हो (अथ अस्मभ्यं सहवीरं रयिं दाः) और हम सबके लिये वीरोंसे युक्त धन दे ॥ ५ ॥

भावार्थ— इस घरमें धान्यादिका बडा भण्डार हो, उस भंडारमें शुद्ध और पवित्र धान्य भरा रहे। ऐसे घरमें बालक और बछडे घूमते रहें और सायंकालमें आनंदसे नाचती हुई गौवें आजांय ॥ ३ ॥

इस शालाके निर्माणमें सविता वायु इन्द्र और बृहस्पति ये देव सहायता दें। मरुत् गण इस घरमें विपुल घी देनेमें सहायक हों तथा राजा भग कृषि बढानेमें सहायता देवे ॥ ४ ॥

घर अंदर निवास करने योग्य, सुख दायक है, यह एक संमानका साधन भी है। पहले यह देवोंद्वारा बनाया गया था। घासके छप्पर से भी यह बनता है। ऐसे घरसे हमारा मन शुभ संकल्प वाला होवे और हमें वीरोंसे युक्त धन प्राप्त हो ॥ ५ ॥

ऋतेन स्थूणामधि रोह वंशोग्रो विराजन्नप वृङ्क्ष्व शत्रून्।
मा ते रिषन्नुपसत्तारो गृहाणां शाले शतं जीवेम शरदः सर्ववीराः ॥६॥
एमां कुमारस्तरुण आ वत्सो जगता सह। एमां परिस्रुतः कुम्भ आ दध्नः कलशैरगुः॥७॥
पूर्णं नारि प्र भर कुम्भमेतं घृतस्य धारामृतेन संभृताम्।
इमां पातॄनमृतेना समङ्ग्धीष्टापूर्तमभि रक्षात्येनाम् ॥ ८ ॥

अर्थ- हे (वंश) बांस! तू (ऋतेन स्थूणां अधिरोह) अपने सीधेपनसे अपने आधारपर चढ और (उग्रः विराजन् शत्रून् अपवृङ्क्ष्व) उग्र बनकर प्रकाशता हुआ शत्रुओंको हटादे। (ते गृहाणां उपसत्तारः मा रिषन्) तेरे घरोंके आश्रयसे रहनेवाले हिंसित न होवें। हे शाले! हम (सर्ववीराः शतं शरदः जीवेम) सब वीरोंसे युक्त होकर सौवर्ष जीते रहेंगे ॥ ६ ॥

(इमां कुमारः आ) इस शालाके पास बालक आवे, (तरुणः आ) तरुण पुरुष आवे, (जगता सह वत्सः आ) चलने वालोंके साथ बछडा भी आवे। (इमां परिस्रुतः कुम्भः) इसके पास मधुररससे भराहुआ घडा (दध्नः कलशैः आ अगुः) दहीके कलशोंके साथ आजावे ॥ ७ ॥

हे (नारि) स्त्री! (एतं पूर्णं कुम्भं) इस पूर्ण भरे घडेको तथा (अमृतेन संभृतां घृतस्य धारां) अमृतसे भरी हुई घीकी धाराको (प्रभर) अच्छी प्रकार भर कर ला। (पातॄन् अमृतेन सं अङ्ग्धि) पीनेवालोंको अमृतसे अच्छीप्रकार भर दे। (इष्टापूर्तं एनां अभिरक्षाति) यज्ञ और अन्नदान इस शालाकी रक्षा करते हैं ॥ ८ ॥

भावार्थ- सीधे स्तंभ पर सीधे बांस रखे जावें और इस रीतिसे विरोधीयोंको दूर किया जावे। घरोंके आश्रयसे रहने वाले दुःखी, कष्टी या विनष्ट न हों। इसमें रहने वाले सब वीर होकर सौ वर्षतक जीवित रहें ॥ ६ ॥

इस घरके पास बालक, तरुण आदि सब आजावें। बछडे और अन्य घरके पशु पक्षी भी घूमते रहें। इस घरमें शहदके मीठे रससे भरे हुए घडे तथा दहीसे भरे हुए घडे बहुत हों ॥ ७ ॥

स्त्रियां इन घडोंको भर कर लावें और घीके घडेभी बहुत लावें और पीने वालोंको यह दूध, दही, घी आदि सब रस, भरपूर पिलावें। क्योंकि इनका दान ही घरकी रक्षा करता है ॥ ८ ॥

इमा आपः प्र भराम्ययक्ष्मा यक्ष्मनाशनीः ।
गृहानुप प्र सीदाम्यमृतेन सहाग्निना ॥ ९ ॥

अर्थ– (इमाः यक्ष्मनाशिनीः अयक्ष्माः आपः) ये रोगनाशक और स्वयं रोग रहित जल (प्र आभरामि) मैं भर लाता हूं। (अमृतेन अग्निना सह) अमृत अग्निके साथ (गृहान् उप प्र सीदामि) घरोंमें जाकर बैठता हूं॥९॥

भावार्थ– घरमें पीनेके लिये ऐसा जल लाया जावे कि जो रोग नाशक और आरोग्य वर्धक हो। घरमें अगटी भी हो जिसके पास जाकर लोग शीतका निवारण करके आनंद प्राप्त करें ॥ ९ ॥

घरकी बनावट ।

जो गृहस्थी हैं उसको घर बनाकर रहना आवश्यक है, फिर वह घर घाससे बनी हुई (तृणं वसाना । मं० ५) झोपडीके समान हो अथवा बडा सौध हो। घर किसी भी प्रकारका हो, परंतु गृहस्थीके लिये वह अवश्य चाहिये, नहीं तो गृहस्थका "गृह-स्थ-पन" ही नहीं सिद्ध होगा।

घर बनाने योग्य स्थान ।

घरके लिये स्थान भी योग्य होना चाहिये, रमणीय होना चाहिये और आरोग्य कारक होना चाहिये, इस विषयमें इस सूक्तमें निम्नलिखित निर्देश देखने योग्य हैं—

१ क्षेमे (मं० १)=सुरक्षित, शांति देनेवाला, सुख कारक, आरोग्य दायक, निर्भय, ऐसा स्थान घरके लिये हो।

२ ध्रुवा (मं० १,२)=स्थिर, सुदृढ, जहां बुनियाद स्थिर और दृढ हो सकती है।

इस प्रकारकी भूमिपर घर बनाना चाहिये और वह घर अपनी सामर्थ्यके अनुसार सुदृढ, (ध्रुवा) स्थिर और मजबूत बनाना चाहिये, ताकि वारंवार उसकी मरम्मत करनेका व्यय उठाना न पडे।

घर कैसा बनाया जावे ?

घरके कमरे जहांतक होसकें वहांतक विस्तीर्ण बनाये जावें। "बृहत्-छंदाः (मं० ३)" अर्थात् बडे बडे छतवाले कमरोंसे युक्त घर हो। घरमें संकुचित स्थान न हो क्योंकि

छोटे छोटे कमरोंमें रहनेवालोंके विचार भी संकुचित बनते जाते हैं। इसलिये अपनी आर्थिक शक्तिके अनुसार जहांतक विस्तीर्ण बनाना संभव हो वहांतक प्रशस्त घर बनाया जावे, जहां बहुत इष्टमित्र अतिथी आदि (शरणा। मं० ५) आजांय और (स्योना। मं० ५) विश्राम ले सकें।

संमान का स्थान।

घर गृहस्थीके लिये बडा संमानका (शाला मानस्य पत्नी। मं० ५) स्थान है, अपना निजका घर होनेसे वह एक प्रतिष्ठाका स्थान होजाता है। इष्टमित्रोंको सुख पहुंचानेका वह एक बडा स्थान होता है। इस लिये पूर्वोक्त प्रकार घर बनाना चाहिये। घर बनते ही घरमें अन्यान्य साधन इकठे करने चाहियें, इस विषयमें निम्न लिखित संकेत विचार करने योग्य हैं —

१ अश्वावती (मं० २) – घरमें घोडे हों, अर्थात् गृहस्थी के पास घोडे, घोडियां हों। यह शौर्यका साधन है।

२ गोमती (मं० २) – घरमें गौएँ हों। यह पुष्टिका साधन है, गौसे दूध मिलता है जिसको पीकर मनुष्य पुष्ट होते हैं। बैलोंसे खेती होती है।
धेनवः आस्पन्दमानाः सायं आ (मं० ३) – सायंकालके समय गौवें आनंदसे नाचती हुई आजावें।

३ पयस्वती (मं० २) – घरमें बहुत दूध हो।

४ घृतवती (मं० २) –घरमें विपुल घी हो।

५ घृतं उक्षमाणा (मं० १) – घी देनेवाला, अर्थात् अतिथि आदि के लिये विपुल घी देनेवाला घर हो। घरके लोग अन्नदान में कंजूसी न करें।

६ ऊर्जस्वती (मं० २) – घरमें बहुत अन्न हो, खानपान के पदार्थ विपुल हों।

७ धरुणी (मं० ३) = जिसमें धान्यादिका बडा भंडार हो, जिसमें संग्रहस्थान हो, और वहां सब प्रकारके पदार्थ उत्तम अवस्थामें मिलें।

८ पूतिधान्या (मं० ६) = घरमें पवित्र धान्य हो, जो रोगादि उत्पन्न करनेवाला न हो, उत्तम अवस्थामें हरएक प्रकारके पदार्थ हों, जो खानेसे शरीरकी पुष्टि और मनका समाधान हो। घरमें धान्य लानेके समय वह केवल सस्ता मिलता है इस लिये लाया न जाय, परंतु लानेके समय देखा जाय, कि यह पवित्र, शुद्ध, नीरोग और पोषक है वा नहीं।

९ परिस्रुतः कुम्भः (मं० ७) = मधुर शहदसे भरा हुआ घडा अथवा अनेक घडे घरमें सदा रहें ।

१० दध्नः कलशैः (मं० ७) = दहीसे परिपूर्ण भरेहुए कलश घरमें हों ।

११ घृतस्य कुम्भम् (मं० ८) = उत्तम घीसे भरे हुए घट घरमें हों ।

१२ अयक्ष्मा यक्ष्मनाशिनीः आपः (मं० ९) = नीरोग और रोग दूर करनेवाले शुद्ध जल घडोंमें भर कर घरमें रखा जावे ।

इत्यादि शब्दों द्वारा इस सूक्तमें घर का वर्णन किया है । इन शब्दोंके मनन से पाठक स्वयं जान सकते हैं कि घरमें कैसी व्यवस्था रखना चाहिये और घर कैसा धन धान्यसंपन्न बनाना चाहिये । तथा—

१ वत्सः आगमेत् (मं० ३,७) = घरमें बछडे खेलते रहें, घरके पास बछडे नाचते रहें ।

२ कुमारः आ गमेत् (मं० ३,७)=घरमें और बाहर बाल बच्चे, कुमार और कुमारिकाएं आनंदसे खेल कुद करते रहें ।

३ तरुणः आ गमेत् (मं० ७) = युवा, तरुण पुरुष और तरुणियां घरमें और बाहर भ्रमण करें ।

प्रसन्नताका स्थान ।

अर्थात् घर ऐसा हो कि जिसमें बाल बच्चे खेलते रहें और तरुण तथा अन्यान्य आयुवाले स्त्री पुरुष अपने अपने कार्यमें आनंदसे दत्त चित्त हों । सबके मुखपर आनंद दीखे और घरका प्रत्येक मनुष्य प्रसन्नताकी मूर्ति दिखाई देवे । हरएक मनुष्य ऐसा कहे कि—

गृहान् उप प्रसीदामि । (मं० ९)

"मैं अपनी पराकाष्ठा करके अपने घरको प्रसन्नताका रमणीय स्थान बनाऊंगा ।" यदि घरका प्रत्येक मनुष्य अपने घरको "प्रसन्नताका स्थान" बनानेका प्रयत्न करेगा तो सचमुच वह घर प्रसन्नताका केन्द्र अवश्यमेव बन जायगा ।

पाठक इस उपदेशका अधिक मनन करें क्योंकि इससे हरएक पाठक पर एक विशेष उत्तरदायित्व आता है । अपने प्रयत्नसे अपने घरको "प्रसन्नताका स्थान" बनाना है, यह कार्य दूसरेपर सोंपा नहीं जा सकता, यह तो हरएकको ही करना चाहिये । यह उपदेश देनेके पश्चात् हरएक पाठकसे वेद पूछेगा कि " क्या इस उपदेशानुसार अपना कर्तव्य तुमने किया ?" पाठक इसका योग्य उत्तर देनेकी तैयारी करें । घरको प्रसन्नताका

स्थान बनानेके लिये ऊपर लिखे हुए साधन इकठ्ठे तो करने ही चाहियें परंतु केवल इतनोंसे ही वह प्रसन्नता नहीं आवेगी कि जो वेदको अभीष्ट है, इस लिये वेदने और भी निर्देश दिये हैं, देखिये—

१ सूनृतावती (मं० २) – घरमें सभ्यताका सच्चा भाषण हो, प्रेमपूर्वक वार्तालाप होता हो, सच्ची उन्नतिका सत्य भाषण हो। छल कपट धोखा आदिके भाषण न हों।

२ सुमनाः (मं०५)– उत्तम मनसे उत्तम व्यवहार करनेवाले मनुष्य घरमें कार्य करें।

घरको मंगलमय बनानेके लिये जैसे खानपानके अच्छे पदार्थ घरमें बहुत चाहिये उसी प्रकार घरके स्त्रीपुरुषोंके अंतःकरण भी श्रेष्ठ विचारोंसे युक्त चाहिये। तभी तो घर प्रसन्नताका स्थान बन सकता है। घरमें धन दौलत तो बहुत रही, और घरवालोंके मन छली घौर कपटी हुए तो उस घर को घर कोई नहीं कहेगा वह तो एक दुःखका स्थान होगा। इस लिये पाठक—जो अपने घरको प्रसन्नताका स्थान बनाना चाहते हैं वे—इन शब्दोंसे उचित बोध प्राप्त करें। शीत कालमें तथा वृष्टिके दिनोंमें सर्दी बहुत होती है, इसलिये शीतके निवारणके लिये घरमें अगटी रखना चाहिये जिससे शीतसे त्रस्त मनुष्य सेक लेकर आनंद प्राप्त कर सकता है, दूसरी बात यह है कि "अमृत अग्नि" (मं० ९) जो परमेश्वर है उसकी उपासनाका एक स्थान घरमें बनना चाहिये, जहां अग्निहोत्र द्वारा अग्न्युपासनासे लेकर ध्यानधारणा द्वारा परमात्मोपासना तक सब प्रकारकी उपासना करके मनुष्य परम आनंदको प्राप्त करे। जिस घरमें ऐसी उपासना होती है वही घर सचमुच " प्रसन्नताका केन्द्र " हो सकता है। इसी प्रकारका घर–

महते सौभगाय उच्छ्रयस्व। (मं० २)

"बडे शुभमंगल की प्राप्ति के लिये यह घर उठकर खडा होवे।" अर्थात् यह घर इस प्रकारसे बडा सौभाग्य प्राप्त करे। जिस घरमें पूर्वोक्त प्रकार अंतर्बाह्य व्यवस्था रहेगी वहां बडा शुभमंगल निवास करेगा इसमें कोई संदेहही नहीं है।

वीरतासे युक्त धन।

सौभाग्य प्राप्तिके अंदर "भग" अर्थात् धन कमाना भी संमिलित है। परंतु धन कमानेके पश्चात् उसकी रक्षा करनेकी शक्ति चाहिये और उसके शत्रुओंको दूर करनेके लिये शौर्य धैर्य वीर्य आदि गुण भी चाहिये। अन्यथा कमाया हुआ धन दूसरे लोग लूट लेंगे। इस लिये इस सूक्तने सावधानी की सूचना दी है—

अस्मभ्यं सहवीरं रयिं दाः । (मं० ५)

"हमारे लिये वीरतासे युक्त धन दे ।" धन प्राप्त हो और साथ साथ उसके संभालनेके लिये आवश्यक वीरताभी प्राप्त हो । हमारा घर वीरताके वायु मंडलसे युक्त हो—

१ सर्ववीराः सुवीरा अरिष्टवीरा उप संचरेम ॥ (मं० १)

२ शतं जीवेम शरदः सर्ववीराः ॥ (मं० ६)

"हम सब प्रकारसे वीर, उत्तम वीर, नाशको न प्राप्त होने वाले वीर, सौ वर्ष जीवित रहकर धर्मकी रक्षा करनेके लिये तैयार रहनेवाले वीर हो कर अपने अपने घरोंमें संचार करेंगे।" ये मंत्र स्पष्ट शब्दोंद्वारा कह रहे हैं कि घरोंका वायुमंडल "वीरताका वायुमंडल" चाहिये । भीरुताका विचारतक वहां आना नहीं चाहिये । घरोंके पुरुष धर्मवीर हों और स्त्रियां वीरांगनाएं हों, ऐसे स्त्री पुरुषोंसे जो संतात होंगे वे "कुमार-वीर" ही होंगे इसमें क्या संदेह है ? इसी लिये वेदमें पुत्रका नाम "वीर" आता है। पाठक इसका विचार करें और अपने घरका वायु मंडल ऐसा बनावें ।

अतिथि सत्कार।

ऐसे मंगलमय वीरतासे युक्त घरोंमें रहनेवाले धर्मवीर पुरुष अतिथि सत्कार करेंगे ही । इस विषयमें कहा है —

पूर्णं नारि प्र भर कुम्भमेतं घृतस्य धारामसृतेन संभृताम् ।
इमां पातॄनमृतेना समङ्धीष्टापूर्तमभि रक्षात्येनाम् ॥
(मं० ८)

"गृहपत्नी अतिथियोंको परोसनेके लिये घीका घडा लावे, मधुररस से भरा घडा लावे और पीनेवालोंको जितना चाहिये उतना पिलावे, कंजूसी न करे । इस प्रकारका अन्न दान करना ही घरकी रक्षा करता है ।"

अतिथि सत्कारमें अन्नपान अथवा अन्यपदार्थोंका दान खुले हाथ से देना चाहिये, उसमें कंजूसी करना योग्य नहीं है । क्योंकि दानही घरका संरक्षण करता है । जिस घर-में अतिथियोंका सत्कार होता है उस घरका यश बढता जाता है ।

यहां अतिथियोंके लिये अन्न परोसनेका कार्य करना स्त्रियोंका कार्य लिखा है । यहां पर्दा नहीं है । पर्देवाले घरोंमें अतिथिको भोजन देनेका कार्य या तो नौकर करता है अथवा घरका मालिक करता है । यह अतिथि सत्कार की अवैदिक प्रथा है । अतिथिके लिये भोजन खान पान आदि गृहपत्नीको देना चाहिये यह वेद का आदेश यहां है, जिसकी ओर घरमें पर्देकी प्रथा रखनेवाले पाठकोंका मन आकर्षित होना आवश्यक है ।

देवोंद्वारा निर्मित घर ।

घर देवोंने प्रारंभमें बनाया इस विषयमें यह निम्न लिखित मंत्र देखना चाहिये—

शरणा स्योना देवी (शाला) देवेभिर्निमिताऽस्यग्रे ॥
तृणं वसाना सुमनाः ... ...॥ (मं० ५)

" अंदर आश्रय करने योग्य, सुखदायक, घासके छपर वाला, परंतु उत्तम विचारोंसे युक्त दिव्य घर प्रारंभमें देवोंने बनाया । " दिव्य वीर पुरुषोंके द्वारा जो पहला घर निर्माण हुआ वह ऐसा था । यद्यपि इसपर घांस का छपर था तथापि उसके अंदर उत्तम विचार होते थे, अंदर जानेसे आराम मिलता था और सुखभी होताथा । इसका तात्पर्य यही है कि घर छप्परका ही क्यों न हो परंतु वह दिव्य विचारोंका दिव्य घर होना चाहिये वह क्रूर विचारोंका " राक्षसभवन " नहीं होना चाहिये । " देवोंका घर " धनसे नहीं होता है प्रत्युत अंदर की शांति और प्रसन्नतासे होता है । पाठक प्रयत्न करके अपना घर ऐसा "देव भवन" ही बनावें और वैदिक धर्मको अपने घरमें प्रकाशित रूपमें प्रकट करें ।

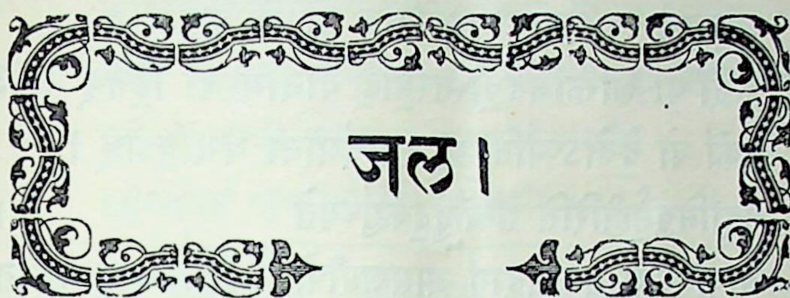
देवोंकी सहायता ।

घर ऐसे स्थान में बनाया जावे कि जहां सूर्य, चंद्र, वायु, इन्द्र, आदि देवोंसे सहायक शक्ति विपुल प्रमाणमें प्राप्त होती रहे-

इमां शालां सविता वायुरिन्द्रो बृहस्पतिर्नि मिनोतु प्रजानन् ।
उक्षन्तूद्ना मरुतो घृतेन भगो नो राजा नि कृषिं तनोतु ॥ (मं० ४)

" सूर्य वायु इन्द्र बृहस्पति जानते हुए इस घरकी सहायता करें । मरुत् नामक बर्साती वायु जलसे सहायता करें और भग राजा कृषि फैलानेमें सहायक हो । "

घरके लिये सूर्य प्रकाश विपुल मिले, शुद्ध वायु मिले, इन्द्र वृष्टि द्वारा सहायता करे, वृष्टि करनेवाले वायु योग्य वृष्टिसे सहायता करें और कृषिका देव भूमिसे कृषिकी योग्य उत्पत्ति करने द्वारा सहायक हो । घर ऐसे स्थानमें अथवा देशमें बनाना चाहिये कि जहां सूर्यादि देवताओं द्वारा योग्य शक्तियोंकी सहायता अच्छी प्रकार मिल जाय, भूमि उपजाऊ हो, वायु निर्दोष हो, जल आरोग्य दायक और पाचक हो, इस प्रकारके उत्तम देशमें गृहका निर्माण करना चाहिये ।



जल ।

[१३]

(ऋषिः-भृगुः । देवता- वरुणः, सिन्धुः)

यद॒दः सं॑प्रय॒तीरहा॒वन॑दता ह॒ते ।
तस्मा॒दा न॒द्यो॒ ३ नाम॑ स्थ॒ ता वो॒ नामा॑नि सिन्धवः ॥ १ ॥
यत्प्रेषि॑ता वरु॑णे॒नाच्छीभं॑ स॒मव॑ल्गत ।
तदा॑प्नो॒दिन्द्रो॑ वो य॒तीस्तस्मा॑दापो॒ अनु॑ ष्ठन ॥ २ ॥

अर्थ— हे (सिन्धवः) नदियो ! (सं-प्र-यतीः) उत्तम प्रकारसे सदा चलनेवाली तुम (अहौ हते) मेघके हनन होनेके पश्चात् (अदः यत् अनदत) यह जो बडा नाद कर रही हो, (तस्माद् आ नद्यः नाम स्थ) उस कारण तुम्हारा नाम "नदी" हुआ है (ताः वः नामानि) वह तुम्हारे ही योग्य नाम हैं ॥ १ ॥

(यत् आत् वरुणेन प्रेषिताः) जब दूसरे वरुण द्वारा प्रेरित हुए तुम (शीभं समवल्गत) शीघ्रही मिलकर चलने लगी, (तत् इन्द्रः यतीः वः आप्नोत्) तब इन्द्रने गमन शील ऐसे तुमको 'प्राप्त' किया, (तस्मात् अनु आपः स्थन) उसके पश्चात् तुम्हारा नाम " आपः" हुआ ॥ २ ॥

भावार्थ— मेघकी वृष्टिसे अथवा बर्फ पिघल जानेसे जब नदियोंको महापूर आजाता है तब जलका बडा नाद होता है, यह 'नाद' होता है इसी लिये जल प्रवाहोंको "नदी" (नाद करनेवाली) कहा जाता है ॥१॥

जब वरुणराजसे प्रेरित हुआ जल शीघ्र गतिसे चलने लगता है, तब इन्द्र उसे प्राप्त करता है, "प्राप्त" होनेके कारण ही जलका नाम "आपः" (प्राप्त होने योग्य) होता है ॥ २ ॥

अपकामं स्यन्दमाना अवीवरत वो हि कम् ।
इन्द्रो वः शक्तिभिर्देवीस्तस्माद् वार्नाम वो हितम् ॥ ३ ॥
एको वो देवोऽप्यतिष्ठत् स्यन्दमाना यथावशम् ।
उदानिषुर्महीरिति तस्मादुदकमुच्यते ॥ ४ ॥
आपो भद्रा घृतमिदाप आसन्नग्नीषोमौ बिभ्रत्याप इत् ताः ।
तीव्रो रसो मधुपृचामरंगम आ मा प्राणेन सह वर्चसा गमेत् ॥ ५ ॥

अर्थ-(स्यन्दमानाः वः) बहनेवाले तुम्हारी गतिका (इन्द्रः हि अप-कामं कं अवीवरत) इन्द्रने विशेष कार्यके लिये सुखपूर्वक नि'वारण' किया (तस्मात् देवीः वः वार् नाम हितं) तबसे देवी जैसे तुम्हारा नाम "वारि" रखा है ॥ ३ ॥

(एकः देवः यथावशं स्यन्दमानाः वः) अकेले एक देवने जैसे चाहे वैसे बहनेवाले तुमको (अपि अतिष्ठत्) अधिकारसे देखा और कहा कि (महीः उदानिषुः) बडी शक्तियां ऊपरको श्वास लेती हैं, (तस्मात् उदकं उच्यते) तबसे तुमको "उदक" [उत्-अक] नाम से बोला जाता है ॥४॥

(आपः भद्राः) जल कल्याण करनेवाला और (आपः इत् घृतं आसन्) जल निः संदेह तेज बढानेवाला है। (ताः इत् आपः अग्नीषोमौ बिभ्रतः) वह जल अग्नि और सोम धारण करते हैं। (मधुपृचां अरंगमः तीव्रः रसः) मधुरतासे परिपूर्ण तृप्ति करनेवाला तीव्र रस (प्राणेन वर्चसा सह) जीवन और तेज के साथ (मा आगमेत्) मुझे प्राप्त होवे ॥५॥

भावार्थ- जब वेगसे बहनेवाले जल प्रवाहोंके मार्गको इन्द्रने विशेष कारण के लिये सुखपूर्वक बहनेके हेतु विशिष्ट मार्गसे चलनेके लिये निवारित किया, तब उस कारण जलका नाम "वार्" (वारि=निवारित किया गया) हुआ ॥३॥

स्वेच्छासे बहते जानेवाले जल प्रवाहोंको जब एक देवने अधिकारमें लाया और उनको ऊर्ध्व गतिसे ऊपरकी ओर चलाया, तब इस जलका नाम "उदक" (उत् अक=ऊपरकी ओर प्राण गति करना) होगया ॥ ४ ॥

यह जल निःसंदेह कल्याण कारक है, यह निश्चय पूर्वक तेज और पुष्टिको बढानेवाला है। अग्नि और सोम इसका धारण करते हैं। यह जल नामक रस ऐसा मधुर रस है कि यह पान करनेसे तृप्ति करता है और जीवनके तेजसे युक्त करता है ॥ ५ ॥

आदित् पश्याम्युत वा शृणोम्या मा घोषो गच्छति वाङ् मासाम् ।
मन्ये भेजानो अमृतस्य तर्हि हिरण्यवर्णा अतृपं यदा वः ॥ ६ ॥
इदं व आपो हृदयमयं वत्स ऋतावरीः ।
इहेत्थमेत शक्करीर्यत्रेदं वेशयामि वः ॥ ७ ॥

अर्थ-(आत् इत पश्यामि) निश्चयसे मैं देखता हूं (उत वा शृणोमि) और सुनता हूं (आसां घोषः वाक् मा आगच्छति) इनका घोष और शब्द मेरे पास आता है । हे (हिरण्यवर्णाः) चमकने वाले वर्णवालो ! (यदा वः अतृपं) जब मैंने तुम्हारे सेवनसे तृप्ति प्राप्त की (तर्हि अमृतस्य भेजानः मन्ये) तब अमृतके भोजन करनेके समान मुझे प्रतीत हुआ ॥ ६ ॥

हे (आपः) जलो ! (इदं वः हृदयं) यह तुम्हारा हृदय है । हे (ऋतावरीः) जलधाराओ ! (अयं वत्सः) यह मैं तुम्हारा बच्चा हूं । हे (शक्करीः) शक्ति देनेवालो ! (इत्थं इह आ इत) इस प्रकार यहां आओ । (यत्र वः इदं वेशयामि) जहां तुम्हारे अंदर यह मैं प्रवेश करता हूं ॥ ७ ॥

भावार्थ- मनुष्य जलको आंखसे देखता है,और जलका शब्द दूरसे सुन भी सकता है । शुद्ध निर्मल जल स्फटिकके समान चमकता है । जब मनुष्य इसको पीता है तब उसको अमृतपान करनेके समान आनंद होता है ॥ ६ ॥

जलका यह आन्तरिक तत्त्व है, मनुष्य जलका ही पुत्र है जल मनुष्य पर आता है और मनुष्य भी जलमें गोता लगाता है ॥ ७ ॥

जलके प्रवाह ।

इस सूक्तमें जलके प्रवाहोंका वर्णन है । जलके अनेक नाम हैं, उनमेंसे कौनसा नाम किस प्रकारके जलका होता है यह बात इस सूक्तके मंत्रों द्वारा बतायी गई है ।

मेघोंसे वृष्टि होती है और नदियोंको महापूर आता है । नदियां भरनेका यह एक कारण है । नदियोंके महापूरका दूसरा भी एक कारण है, वह है बर्फका पिघलना । पत्थर वाचक ग्रावा आदि जो शब्द मेघवाचक करके माने जाते हैं वे वस्तुतः मेघवाचक नहीं हैं, परंतु पहाडोंपर या भूमिपर गिरनेवाले बर्फके तथा ओलोंके वाचक होते हैं । उसी प्रकारका अहिशब्द है । अतः इसका अर्थ पहाडी बर्फ मानना योग्य है और इसके पिघलनेसे नदियोंका भर जाना भी संभव है । इस प्रकार पूर्वोक्त दोनों कारणोंसे महापूर आनेसे जल प्रवाहोंका बडा नाद होता है, इस लिये नाद करनेके हेतु जल प्रवाहका नाम "नदी"

होता है,अर्थात् जिस जल प्रवाहका बडा शब्द न होता हो उसको नदी नहीं कहना चाहिये।

नदीका प्रवाह अत्यंत वेगसे चलता हो और उस वेगमेंसे जल किसी युक्तिसे ऊपर या अन्य स्थानमें खींच कर प्राप्त किया हो तो उस जलको "आप्" कह सकते हैं।

अपनी इच्छासे जैसे चाहे वैसे प्रवाहित होनेवाले जलको नहर आदि कृत्रिम मार्गोंके द्वारा अपनी खेती आदिके विशेष कार्योंको सिद्ध करनेके लिये जो अपनी इच्छानुसार चलाया जाता है उसको "वारि" (वार्, वारं) कहा जाता है।

जो जल-सूर्य किरणों द्वारा बनी भांपसे हो या अग्निद्वारा बनी हुई भांपसे हो-पहले भांप बन कर फिर उस भांपको शीतलता लगाने द्वारा जो फिर उसका जल बनता है उसको "उदक" कहते हैं। (उत्) भांप द्वारा ऊपर जाकर जो (आनिषुः) जो ऊपरले प्राणके साथ मिलकर वापस आता है उसका नाम उदक है। मेघोंकी वृष्टिसे प्राप्त होने वाले उदकका यह नाम मुख्यतया है। कृत्रिम रीतिसे शुंडायंत्र द्वारा बनाये जलको भी यह गौण वृत्तिसे दिया जा सकता है।

विविध प्रकारके जलोंके ये नाम हैं यह स्वयं इस सूक्तने ही कहा है, इस लिये इन शब्दोंके ये अर्थ लेना ही योग्य है। यद्यपि संस्कृत भाषामें ये सब उदक वाचक शब्द पर्याय शब्द माने जाते हैं और पर्याय समझ कर उपयोगमें भी लाये जाते हैं, तथापि संस्कृतभाषामें एक वस्तुके वाचक अनेक शब्द वस्तुतः उस वस्तुके अंतर्गत भेदोंके वाचक होते हैं, यह बात इस सूक्तके इस विवरणसे ज्ञात हो सकती है।

यह जल (भद्राः। मं० ५) कल्याण करनेवाला है, बल पुष्टि और तेज देनेवाला है, तथा जीवनका तेज बढानेवाला है। (मं० ५)

शुद्ध स्फटिक जैसा निर्मल जल पीनेसे ऐसी तृप्ति होती है कि जो तृप्ति अमृत भोजन से मिल सकती है।

प्राणिमात्र जलके कारण जीवित रहते हैं इसलिये जलसे ही इनकी उत्पत्ति मानना योग्य है, अतः ये जलके पुत्र होगये। जल इन सबकी माता है इसी लिये जलको " माता " वेदमें अन्यत्र कहा है। इस माताका आश्रय करनेसे मनुष्य नीरोग पुष्ट और बलवान हो सकते हैं।

मनुष्य जलमें प्रविष्ट होकर नित्य स्नान करें अथवा वैसी तैरने आदिकी संभावना न हो तो अन्यप्रकारसे जल प्राप्त करके स्नान अवश्य करें। यह जलस्नान बडा आरोग्य प्रद होता है। इत्यादि उपदेश पंचम और षष्ठ मंत्रोंके शब्दोंके मननसे प्राप्त हो सकते हैं।

गोशाला ।

[१४]

(ऋषिः-ब्रह्मा । देवता-नाना देवता, गोष्ठदेवता)

सं वो गोष्ठेन सुषदा सं रय्या सं सुभूत्या ।
अहर्जातस्य यन्नाम तेना वः सं सृजामसि ॥ १ ॥
सं वः सृजत्वर्यमा सं पूषा सं बृहस्पतिः ।
समिन्द्रो यो धनञ्जयो मयि पुष्यत यद् वसु ॥ २ ॥

अर्थ— हे गौओ ! (वः सुषदा गोष्ठेन सं) तुमको उत्तम बैठने योग्य गोशालासे युक्त करते हैं, (रय्या सं) उत्तम जलसे युक्त करते हैं और (सु-भूत्या सं) उत्तम रहने सहने से अथवा उत्तम प्रजननसे युक्त करते हैं। (यत् अहर्जातस्य नाम) जो दिनमें श्रेष्ठ वस्तु मिल जाय (तेन वः संसृजामसि) उससे तुमको युक्त करते हैं ॥ १ ॥

(अर्यमा वः संसृजतु) अर्यमा तुमको मिलावे, (पूषा सं, बृहस्पतिः सं) पूषा और बृहस्पति भी तुम्हें मिलावे। (यः धनंजयः इन्द्रः सं सृजतु) जो धन प्राप्त करने वाला इन्द्र है वह तुमको धनसे संयुक्त करे। (यत् वसु) जो धन आपके पास है वह (मयि पुष्यत) मुझमें तुम पुष्ट करो ॥ २ ॥

भावार्थ— गौओंके लिये उत्तम प्रशस्त और स्वच्छ गोशाला बनायी जाय। गौओंके लिये उत्तम जल पीनेको दिया जाय, तथा गौओंसे उत्तम गुणयुक्त संतान उत्पन्न करानेकी दक्षता सदा रखी जाय। गौओंसे इतना प्रेम किया जाय कि दिनके समय गौके योग्य उत्तमसे उत्तम पदार्थ प्राप्त कराकर वह उनको अर्पण किया जाय ॥ १ ॥

अर्यमा, पूषा, बृहस्पति तथा धन प्राप्त करनेवाला इन्द्र आदि सब देवतागण गौओंकी पुष्टि करें। तथा पुष्ट गौओंसे जो पोषक रस मिल सकता है वह दूध मेरी पुष्टिके लिये मुझे मिले ॥ २ ॥

संजग्माना अविभ्युषीरस्मिन् गोष्ठे करीषिणीः ।
बिभ्रतीः सोम्यं मध्वनमीवा उपेतन ॥ ३ ॥
इहैव गाव एतनेहो शकेव पुष्यत ।
इहैवोत प्र जायध्वं मयि संज्ञानमस्तु वः ॥ ४ ॥
शिवो वो गोष्ठो भवतु शारिशाकेव पुष्यत ।
इहैवोत प्र जायध्वं मया वः सं सृजामसि ॥ ५ ॥

अर्थ-(अस्मिन गोष्ठे संजग्मानाः अ-बिभ्युषीः) इस गोशालामें मिलकर रहती हुई और निर्भय होकर (करीषिणीः) गोबरका उत्तम खाद उत्पन्न करनेवाली तथा (सोम्यं मधु बिभ्रतीः) शांत मधुररस —दूध—का धारण करती हुई (अन — अमीवाः उपेतन) नीरोग अवस्थामें हमारे पास आओ ॥ ३ ॥

हे (गावः) गौओ! (इह एव एतन) यहां ही आओ। और (इहो शका इव पुष्यत) यहां साकके समान पुष्ट होओ। (उत इह एव प्रजायध्वं) और यहां ही बच्चे उत्पन्न करके बढो। (वः संज्ञानं मयि अस्तु) आपका लगन —प्रेम— मुझमें होवे ॥ ४ ॥

(वः गोष्ठः शिवः भवतु) तुम्हारी गोशाला तुम्हारे लिये हितकारी होवे। (शारि-शाका इव पुष्यत) शालिकी साकके समान पुष्ट होओ। (इह एव प्रजायध्वं) यहां ही प्रजा उत्पन्न करो और बढो। (मया वः संसृजामसि) मेरे साथ तुमको भ्रमणके लिये लेजाता हूं ॥ ५ ॥

भावार्थ— उत्तम खाद रूपी गोबर उत्पन्न करनेवाली, दूध जैसा मधुर रस देनेवाली, नीरोग और निर्भय स्थानपर विचरनेवाली गौवें इस उत्तम गोशालामें आकर निवास करें ॥ ३ ॥

गौवें इस गोशालामें आवें, यहां बहुत पुष्ट हों, और यहां बहुत उत्तम संतान उत्पन्न करें और गौओंके स्वामिके ऊपर प्रेम करती हुई आनंदसे रहें ॥ ४ ॥

गोशाला गौओंके लिये कल्याण कारिणी होवे। यहां गौवें पुष्ट होवें और संतान उत्पन्न करके बढें। गौओंका स्वामी स्वयं गौओंकी व्यवस्था देखे ॥ ५ ॥

मया॑ गावो॒ गोप॑तिना सचध्वम॒यं वो॑ गो॒ष्ठ इ॒ह पो॑षयि॒ष्णुः ।
रा॒यस्पोषे॑ण बहु॒ला भव॑न्तीर्जी॒वा जीव॑न्तीरु॒प वः सदेम ॥ ६ ॥

अर्थ— हे (गावः) गौओ ! (मया गोपतिना सचध्वं) मुझ गोपतिके साथ मिली रहो। (वः पोषयिष्णुः अयं गोष्ठः इह) तुमको पुष्ट करने वाली यह गोशाला यहां है। (रायः पोषेण बहुलाः भवन्तीः) शोभाकी वृद्धि के साथ बहुत बढती हुई और (जीवन्तीः वः जीवाः उपसदेम) जीवित रहनेवाली तुमको हम सब प्राप्त करते हैं।

भावार्थ—गौवें स्वामीके साथ आनन्दसे मिलजुलकर रहें। यह गोशाला अत्यन्त उत्तम है इसमें रहकर गौवें पुष्ट हों। अपनी शोभा और पुष्टि बढाती हुई यहां गौवें बहुत बढें। हम सब ऐसे उत्तम गौवोंको प्राप्त करेंगे और पालेंगे ॥ ६ ॥

गो संवर्धन ।

यह सूक्त अत्यंत सुगम है, इस लिये इसके अधिक विवरण करनेकी कोई आवश्यकता नहीं है। इसमें जो बातें कहीं हैं उनका सारांश यह है कि "गौओंके लिये उत्तम गोशाला बनाई जावे और वहां उनके रहने सहने, घास, दाना पानी आदिका सब उत्तम प्रबंध किया जावे। स्वामी गौवोंसे प्रेम करे और गौवें स्वामीसे प्रेम करें। गौवें निर्भयतासे रहें उनको अधिक भयभीत न किया जावे, क्योंकि भयभीत गौवोंके दूधपर बुरा परिणाम होता है। संतान उत्पन्न करानेके समय अधिक दूधवाली और अधिक नीरोग संतान उत्पन्न करानेके विषयमें दक्षता रखी जाय। गौवोंकी पुष्टि और नीरोगताके विषयमें विशेष दक्षता रखी जाय अर्थात् गौओंको पुष्ट किया जाय और उनसे नीरोग संतान उत्पन्न हो ऐसा सुप्रबंध किया जाय। गोपालन का उत्तमसे उत्तम प्रबंध हो, किसी प्रकारकी उनमें बीमारी उत्पन्न न हो। उनके गोवर आदिसे उत्तम खाद करके उस खादका उपयोग शाली अर्थात् चावल आदि धान्योंके लिये किया जावे।"

इत्यादि प्रकारका बोध इस सूक्तके पढनेसे मिल सकता है। यह सूक्त अति सुगम है इसलिये पाठक इसका मनन करें और उचित बोध प्राप्त करें।

वाणिज्यसे धनकी प्राप्ति ।

[१५]

(ऋषिः— अथर्वा । देवता—विश्वेदेवाः, इन्द्राग्नी)

इन्द्रमहं वणिजं चोदयामि स न ऐतु पुरएता नो अस्तु ।
नुदन्नरातिं परिपन्थिनं मृगं स ईशानो धनदा अस्तु मह्यम् ॥ १ ॥
ये पन्थानो बहवो देवयाना अन्तरा द्यावापृथिवी संचरन्ति ।
ते मा जुषन्तां पयसा घृतेन यथा क्रीत्वा धनमाहराणि ॥ २ ॥

अर्थ— (अहं वणिजं इन्द्रं चोदयामि) मैं वणिक् इन्द्र को प्रेरित करता हूं (सः नः ऐतु) वह हमारे प्रति आवे और (नः पुर-एता अस्तु) हमारा अगुवा होवे । (परिपन्थिनं मृगं अरातिं नुदन्) मार्गपर लूट करनेवाले पाशवीभावसे युक्त शत्रुको अलग करता हुआ (सः ईशानः मह्यं धनदाः अस्तु) वह समर्थ मुझे धन देनेवाला होवे ॥ १ ॥

(ये देवयानाः बहवः पन्थानः) जो देवोंके जाने योग्य बहुतसे मार्ग (द्यावापृथिवी अन्तरा सञ्चरन्ति) द्यावापृथिवीके बीचमें चलते रहते हैं, (ते पयसा घृतेन मा जुषन्तां) वे दूध और घीसे मुझे तृप्त करें (यथा क्रीत्वा धनं आ हरामि) जिससे क्रय विक्रय करके मैं धन प्राप्त करलूं॥२॥

भावार्थ—मैं वाणिज्य करनेवाले इन्द्रकी प्रार्थना करता हूं कि वह हमारे अन्दर आवे और हमारा अग्रगामी बने । वह प्रभु हमें धन देनेवाला होवे, और वह हमारे शत्रुओंको अर्थात् बटमार, लुटेरे और पाशवी शक्तिसे हमें सतानेवालोंको हमारे मार्गसे दूर करे ॥ १ ॥

द्युलोक और पृथ्वीके मध्यमें जाने आनेके जो दिव्यमार्ग हैं वे हमारे लिये दूध और घीसे भरपूर हों, जिन मार्गोंसे जाकर और व्यापार करके हम बहुत लाभ प्राप्त करसकें ॥ २ ॥

इ॒ध्मेना॑ग्न इ॒च्छमा॑नो घृ॒तेन॑ जुहोमि ह॒व्यं तर॑से॒ बला॑य ।
याव॒दीशे॒ ब्रह्म॑णा॒ वन्द॑मान इ॒मां धियं॑ शत॒सेया॑य दे॒वीम् ॥ ३ ॥
इ॒माम॑ग्ने श॒रणिं॑ मीमृषो नो॒ यमध्वा॑न॒मगा॑म दू॒रम् ।
शु॒नं नो॑ अस्तु प्रप॒णो वि॒क्रय॑श्च प्रतिप॒णः फ॒लिनं॑ मा कृणोतु ।
इ॒दं ह॒व्यं सं॑विदा॒नौ जु॑षेथां शु॒नं नो॑ अस्तु च॒रि॒तमुत्थि॑तं च ॥ ४ ॥

अर्थ-हे अग्ने ! (इच्छमानः इध्मेन घृतेन तरसे बलाय हव्यं जुहोमि) मैं लाभकी इच्छा करनेवाला इन्धन और घीसे संकटसे बचनेके लिये और बल प्राप्तिके लिये हवन करता हूं। (यावत् इमां देवीं धियं ब्रह्मणा वन्द-मानः शतसेयाय ईशे) जिससे इस बुद्धिका ज्ञान द्वारा सन्मान करता हुआ मैं सैंकडों सिद्धियोंको प्राप्त करनेके योग्य होऊं ॥ ३ ॥

हे (अग्ने) अग्ने ! (नः इमां शरणिं मीमृषः) इस हमारी अशुद्धिकी क्षमा कर। (यं दूरं अध्वानं अगाम) जिस दूरके मार्गतक हम आगये हैं। (नः प्रपणः विक्रयः च शुनं अस्तु) वहांका हमारा क्रय और विक्रय लाभ कारक हो। (प्रतिपणः फलिनं नः कृणोतु) प्रत्येक व्यवहार मुझको लाभदायक होवे। (इदं हव्यं संविदानौ जुषेथां) इस हविको जानकर सेवन करो। (नः चरितं उत्थितं च शुनं अस्तु) हमारा व्यवहार और हमारा उत्थान लाभदायक होवे ॥ ४ ॥

भावार्थ-मैं लाभ तथा बल प्राप्त करना और संकटको दूर करना चाहता हूं, इस लिये मैं घी और समिधा से हवन करता हूं। इससे मैं ज्ञान प्राप्ति पूर्वक उत्तम बुद्धिसे प्रशस्त कर्मको करता हुआ अनेक व्यापारोंमें सिद्धियां प्राप्त करके लाभ प्राप्त करूंगा ॥ ३ ॥

हम अपने घरसे बहुत दूर विदेशमें आगये हैं। हे प्रभो ! यहां कोई त्रुटि हमसे होगई तो क्षमा कर। यहां जो व्यापार हम कर रहे हैं उसमें हमें बहुत लाभ प्राप्त हो, हमें क्रयमें भी लाभ हो और विक्रयसे भी हमें धन बहुत मिले, प्रत्येक व्यवहारसे हमें लाभ होता जाय। हमारा आना जाना और हमारा अभ्युत्थान अर्थात् स्पर्धाकी चढाई करना भी हमें लाभकारी होवे। इसके लिये हम यह हवन करते हैं उसका सेवन कर ॥ ४ ॥

येन धनेन प्रपणं चरामि धनेन देवा धनमिच्छमानः ।
तन्मे भूयो भवतु मा कनीयोऽग्ने सातघ्नो देवान् हविषा नि षेध ॥ ५ ॥
येन धनेन प्रपणं चरामि धनेन देवा धनमिच्छमानः ।
तस्मिन् म इन्द्रो रुचिमा दधातु प्रजापतिः सविता सोमो अग्निः ॥ ६ ॥
उप त्वा नमसा वयं होतर्वैश्वानर स्तुमः ।
स नः प्रजास्वात्मसु गोषु प्राणेषु जागृहि ॥ ७ ॥

अर्थ- हे देवाः ! (धनेन धनं इच्छमानः) मूल धनसे लाभकी प्राप्ति की इच्छा करने वाला मैं (येन धनेन प्रपणं चरामि) जिस धनसे व्यापार करता हूं (तत् मे भूयः भवतु) वह मेरे लिये अधिक होवे और (मा कनीयः) थोडा न होवे। हे अग्ने ! (हविषा सातघ्नान् देवान् निषेध) हवनसे युक्त होकर लाभका नाश करनेवाले खिलाडियोंका तू निषेध कर ॥ ५ ॥

हे देवो ! (धनेन धनं इच्छमानः) धनसे धन कमाने की इच्छा करने वाला मैं (येन धनेन प्रपणं चरामि) जिस धनसे व्यापार करता हूं (तस्मिन् मे रुचिं) उसमें मेरी रुचिको (इन्द्रः प्रजापतिः सविता सोमः अग्निः) इन्द्र प्रजापति सविता सोम अग्नि देव (आदधातु) स्थिर कर देवे ॥ ६ ॥

हे (होतः वैश्वानर) याजक वैश्वानर ! (वयं नमसा त्वा उपस्तुमः) हम नमस्कारसे तेरा स्तवन करते हैं। (सः नः आत्मसु प्राणेषु प्रजासु गोषु जागृहि) वह तू हमारे आत्मा, प्राण, प्रजा और गौओंमें रक्षण के लिये जागता रह ॥ ७ ॥

भावार्थ-मैं मूलधनसे व्यापार करके बहुत लाभ प्राप्त करना चाहता हूं, इसलिये जितने धनसे मैं यह व्यवहार कर रहा हूं वह धन मेरे कार्यके लिये पर्याप्त होवे और कम न होवे। मैं जो यह हवन कर रहा हूं इससे संतुष्ट होकर, हे प्रभो ! तू मेरे व्यवहारमें लाभ का नाश करनेवाले जो कोई होंगे उनको दूर कर ॥ ५ ॥

अपने मूल धनसे व्योपार करके मैं बहुत धन कमाना चाहता हूं, इस के लिये धन लगाकर उससे जो व्यवहार मैं करना चाहता हूं उसमें प्रभु की कृपासे मेरी रुची लाभ प्राप्त होने तक स्थिर होवे ॥ ६ ॥

हे प्रभो ! मैं तुझे नमस्कार करता हूं और तेरी स्तुति करता हूं, तू संतुष्ट होकर हमारे आत्मा प्राण प्रजा और गौ आदि पशुओंकी रक्षा कर ॥ ७ ॥

विश्वाहा ते सदमिद्भरेमाश्वायेव तिष्ठते जातवेदः ।
रायस्पोषेण समिषा मदन्तो मा ते अग्ने प्रतिवेशा रिषाम ॥ ८ ॥
(इति तृतीयोऽनुवाकः)

अर्थ- हे (जातवेदः) जातवेद ! (विश्वाहा ते इत् सदं भरेम) प्रतिदिन तेरे ही स्थानको हम भरेंगे (तिष्ठते अश्वाय इव) जैसा स्थानपर बंधे हुए घोडेको अन्न देते हैं। (रायः पोषेण इषा सं मदन्तः) धन पुष्टि और अन्नसे आनंदित होते हुए (ते प्रतिवेशा मा रिषाम) तेरे उपासक हम कभी नष्ट न होवें ॥ ८ ॥

भावार्थ- हे प्रभो ! जिस प्रकार अश्वशालामें एकस्थानपर रखे हुए घोडे को खिलानेका प्रबंध प्रतिदिन किया करते हैं उसी प्रकार हम तेरे उद्देश्यसे प्रतिदिन हवन करते हैं। तेरी कृपासे हम बहुत धन पुष्टि और अन्न प्राप्त करेंगे, बहुत आनंदित होंगे और कभी दुःखसे त्रस्त न होंगे ॥ ८ ॥

वाणिज्य व्यवहार ।

बनिया जो क्रय विक्रयका व्यवहार करता है उसका नाम वाणिज्य व्यवहार है। व्यापारके पदार्थ किसी स्थानसे खरीदना और किसी स्थानपर उसको बेचना और इस क्रय विक्रयमें योग्य लाभ प्राप्त करना इस व्यापार व्यवहारसे होता है। कुशल बनिये इसमें अच्छा लाभ प्राप्त करते हैं।

पुराना बनिया !

इस सूक्तके पहले मंत्रमें सब जगत्के प्रभु (इन्द्र भगवान्) को " वणिजं इन्द्रं " (वणिक् इन्द्र) कहा है, यह बहुत ही काव्यमय वर्णन है और इसमें अद्भुत उपदेश भरा है। परमेश्वर सर्वत्र छिपा है और प्रयत्न करनेपर भी दिखाई नहीं देता, इसलिये उसको एक मंत्रमें (तायु । ऋ. १ । ६५ । १) चोर भी कहा है। जिस प्रकार यह अद्भुत अलंकार है उसी प्रकार प्रभुको बनिया कहना भी अलंकार है।

जिस प्रकार बनिया एक रु० लेकर उतने मूल्यका ही धान्य आदि देता है, न अधिक और न कम, इसी प्रकार यह " पुराना सबसे बडा बनिया " मनुष्योंको

सुखदुःख उसी प्रमाण से देता है कि जितना भला बुरा कर्म मनुष्य करते हैं अथवा जितना अर्पण वे परोपकारार्थ करते हैं उतनाही उनको पुण्य मिलता है । इस प्रकार इस इन्द्र बनियाने जगत् के प्रारंभ से यह अपना व्यापार चलाया है, न यह कभी पक्ष पात करता है और न कभी उधारका व्यवहार करता है । इस प्रकार यह सबसे पुराण पुरुष बनियाका व्यवहार करता है, उसको जितना दिया जाय उतना ही उससे वापस मिलेगा । इस लिये मनुष्यको यज्ञ आदि कर्म करने चाहिये जिनको देकर उससे पुण्य खरीदा जाय, वह उपदेश यहां मिलता है ।

व्यापारका व्यवहार बताते हुए भी वेदने उसमें परमात्माके सत्य व्यवहारका उपदेश देकर बताया है कि व्यापार भी सत्यस्वरूप परमेश्वरकी निष्ठासे ही होना चाहिये और छल कपट तथा धोखा उसमें कभी करना नहीं चाहिये ।

हवन का निर्देश मं० ३ और ५ इन दो मंत्रोंमें है । हवन का अर्थ है 'अपना समर्पण'। अपने पासके पदार्थ परमार्थके लिये अर्पण करना और स्वार्थका भाव कम करना यही यज्ञ है । ऐसे यज्ञोंसे ही जगत्का उपकार होता है, इसलिये ऐसे सत्कर्म परमात्माके पास पहुंचते हैं और उनका यश कर्ताको मिलता है । इसलिये व्यापार व्यवहारसे धन प्राप्त करनेपर उसका योग्य भाग परोपकारके लिये समर्पण करना चाहिये अर्थात् उसको यज्ञमें लगाना चाहिये । धन कमानेवाले इस आदेशका योग्य विचार करें । जो कमाया हुआ धन स्वयं उपभोग करता है वह पापी होता है । इसलिये कमाये धनमेंसे योग्य भाग परोपकारमें लगाना योग्य है ।

व्यापारका स्वरूप ।

इस सूक्तमें व्यापार विषयक जो शब्द आगये हैं वे अब देखिये—

१ धनं= मूल धन, सरमाया, जिस मूलधनसे व्यापार किया जाता है । (मं० ५,६)

२ धनं=लाभ, लाभसे प्राप्त होनेवाली रकम । (मं० ५,६)

३ वणिक्=व्योपारी क्रयविक्रय करनेवाला । (मं० १)

४ धनदा= व्यापारके लिये धन देनेवाला धनपति, जिससे धन लेकर अन्य छोटे व्यापारी अपना काम धंदा करते हैं । साहुकार । (मं० १)

५ प्रपणः=सौदा, खरीद फरोक्त । (मं० ५)

६ विक्रयः=खरीदा हुआ माल बेचना । (मं० ४)

७ प्रतिपणः=प्रत्येक सौदा । (मं० ४)

८ फली (फलिन्)= लाभ युक्त होना। (मं० ४)

९ शुनं=कल्याण कारी, लाभकरी, हितकर। (मं० ४)

१० चरितं=व्यवहार करनेके लिये हलचल करना। (मं० ४)

११ उत्थितं=उठाव, चढाई। प्रतिस्पर्धीके साथ स्पर्धाके लिये चढाई करना। (मं० ४)

१२ भूयः (धनं)=व्यापारके लिये पर्याप्त सरमाया होना। (मं० ५)

ये ग्यारह शब्द व्यापार विषयक नीतिकी सूचना देते हैं। इनके मननसे पाठकोंको पता लग सकता है कि बनियाके कार्यमें कौन कौनसे विभाग होते हैं और उन विभागोंमें क्या क्या कार्य करना चाहिये।

प्रथम मूल धन व्यापार व्यवहारमें लगाना चाहिये। यदि अपने पास न हो तो किसी साहुकार (धन-दा) के पाससे लेकर उस धनपरसे अपना व्यवहार चलाना चाहिये। जिस पदार्थका व्यापार करना हो उस पदार्थका "क्रय" कहां करना योग्य है और उसका "विक्रय" कहां करनेसे अधिकसे अधिक लाभ हो सकता है इसका विचार करना चाहिये। किन दिनोंमें किस देशमें खरेदी और किस स्थानपर विक्री (प्रतिपण) करनेसे अधिक लाभ होना संभव है इसका योग्य अनुसन्धान करनेसे निःसन्देह लाभ हो सकता है। इसीका नाम ऊपर लिखे शब्दोंमें "चरितं" कहा है।

इन सब शब्दोंमें " उत्थित " शब्द बडा महत्त्व रखता है। उठाव, उठना, चढाई करना इत्यादि अर्थ इसके प्रसिद्ध हैं। मालका उठाव करनेका तात्पर्य सब जानते ही हैं। इस उत्थानके दो भेद होते हैं, एक " वैयक्तिक उत्थान " और दूसरा " सामुदायिक संभूय समुत्थान " है। एक व्यक्ति चढाई की नीतिसे व्यापार करती है उसको वैयक्तिक उत्थान कहते हैं और जहां अनेक व्यापारी अपना संघ बनाकर उठाई करते हैं उसको " संभूय समुत्थान " कहते हैं। व्यापारमें केवल ऊपर लिखा " चरित " ही कार्य नहीं करता, परंतु यह दोनों प्रकारका उत्थान भी बडा कार्यकारी होता है। पाठक इसका उत्तम विचार करें।

व्यापारके विरोधी।

१ सातघ्नः- (सात) लाभका (घ्न) नाश करनेवाले। जिनके कारण व्यवहारमें हानि होती है। (मं० ५)

२ सातघ्नः देवः-लाभका नाश करनेवाला जूवेबाज, खिलाडी, (दिव्-'जुवा खेलना') इस धातुसे यह देव शब्द बना है। व्यवहारमें हानि होनेवाली आदतों वाला मनुष्य। (मं० ५)

३ परिपन्थिन् – बटमार, चोर, लुटेरे, मार्गपर ठहरकर आने जाने वालोंको जो लूटते हैं। (मं० १)

४ मृगः = पशु, पशुभाव वाला मनुष्य। (मं० १)

५ अ-रातिः = कंजूस, दान न देनेवाला। (मं० १)

६ कनीयः (धनं) =व्योपारके लिये जितना धन चाहिये उतना न होना, धनकी कमी। (मं० ५)

इनके कारण व्यापार व्यवहारमें हानि होती है, इसलिये इनसे बचनेका उपाय करना चाहिये।

व्यापार व्यवहार करनेमें जो विघ्न होते हैं उनका विचार इन शब्दोंद्वारा इस सूक्तमें किया है। पहले विघ्नकारी "सातघ्न देव" हैं। पाठक देवोंको यहां विघ्नकारी देखकर आश्चर्य चकित हो जांयगे। परंतु वैसा भय करनेकी कोई आवश्यकता नहीं है। "देव" शब्दके अर्थ "जुआडी, खेलमें समय बितानेवाला" ऐसा भी होता है। यह अर्थ "दिव्" धातुका "जूवा खेलना" अर्थ है उस धातुसे सिद्ध होता है। जो व्यापारी अपना समय ऐसे कुकर्मोंमें खर्च करेंगे वे अपना नुकसान करेंगे और अपने साथियों-को भी डुबा देंगे। यह उपलक्षण मानकर जो जो व्यवहार व्यापारमें हानि करनेवाले होंगे उन व्यवहारोंको करनेवाले "सातघ्न देव" समझना यहां उचित है। (सात) लाभका (घ्न) नाश करनेवाले (देव) व्यवहार करनेवाले लोग यह इसका शब्दार्थ है। 'देव' शब्द 'व्यवहार करनेवाले' इस अर्थमें प्रचलित है।

'परिपंथि' शब्द का प्रसिद्ध अर्थ ऊपर दिया ही है। इसका दूसरा अर्थ यह होता है कि "जो लोग कुमार्गसे जानेवाले हैं।" सीधे राजमार्गसे न जाते हुए अन्य कुमार्गसे जाना बहुत समय हानिकारक होता है। विशेष कर यह अर्थ यहां अभिप्रेत है ऐसा हमारा विचार है।

व्यापारका मूलधन अथवा सरमाया भी कम नहीं रहना चाहिये अन्यथा अन्य सब बातें ठीक होते हुएभी व्यापारमें लाभ नहीं हो सकता। इसलिये पंचम मंत्रकी सूचना कि (मा कनीयः। मं० ५) अत्यंत ध्यान देने योग्य है। बहुत व्यवहार लाभकारी होते हुए भी आवश्यक धनकी कमी होनेके कारण वे नुकसान करनेवाले होते हैं। जो नुकसान इस प्रकार होगा वह किसी अन्य युक्तिसे या बुद्धिकी कुशलतासे पूर्ण नहीं होता, क्यों कि यह कमी हरएक प्रसंगमें रुकावट उत्पन्न करनेवाली होती है। व्यापार करवाले पाठक इससे योग्य बोध प्राप्त करें।

दो मार्ग ।

व्यापार करनेके लिये देशदेशांतरमें जाना आवश्यक होता है। अन्यथा बडा व्यापार होना अशक्य है। देशदेशांतर और द्वीपद्वीपान्तरमें जानेके लिये उत्तम और सुरक्षित मार्ग चाहियें। देशान्तरमें जानेके कई मार्ग सुरक्षित होते हैं और कई भय दायक होते हैं। जो सुरक्षित मार्ग होते हैं उनको "देवयानाः पन्थानः" (मं० २) कहा है। देवयान मार्ग वे होते हैं कि जिनपर देवता सदृश लोग जाते आते हैं, इस कारण वे मार्ग रक्षित भी होते हैं ऐसे मार्गपर लूटमार नहीं होती, व्योपारी लोग अपना माल सुरक्षित रीतिसे ले जाते हैं और ले आते हैं। जहां आनेजानेके ऐसे सुरक्षित मार्ग हों वहां ही व्यापार करना लाभ दायक होता है।

दूसरे मार्ग राक्षसों, असुरों और पिशाचोंके होते हैं जिनपर इन निशाचरोंका आना जाना होता है। ये ही "परिपन्थी" अर्थात् बटमार, चोर लुटेरे बनकर सार्थवाहोंको लूट देते हैं। इन मार्गों परसे जानेसे व्यापार व्यवहार अच्छा लाभदायक नहीं हो सकता। इसलिये जहांके मार्ग सुरक्षित न हों वहांके मार्ग सुरक्षित करने के लिये प्रयत्न होना आवश्यक है। वाणिज्य की वृद्धि करनेके लिये यह अत्यंत आवश्यक कर्तव्य है।

व्यापार अच्छीप्रकार होनेके लिये दूसरी आवश्यकता इस बातकी है कि मार्गमें जहां जहां मुकाम करना आवश्यक हो वहां खान पान के पदार्थ मनके अनुकूल सुगमतासे मिलने चाहियें। रहने सहने और खान पान आदिका सब प्रबंध बनाबनाया रहना चाहिये। उचित धन देकर रहने सहनेका प्रबंध विना आयास होना चाहिये, इस विषय में द्वितीय मंत्र देखिये—

ते (पन्थानः) मा जुषन्तां पयसा घृतेन ।
तथा क्रीत्वा धनमाहरामि। (मं० २)

"वे देश देशांतरमें जाने आनेके मार्ग मुझे सुखपूर्वक दूध घी आदि उपभोगके पदार्थ देनेवाले हों, जिससे मैं क्रय आदि करके धन कमानेका व्यवहार कर सकूं।" बात तो साफ है कि यदि देशदेशांतरमें भ्रमण करनेवालेको भोजनादिका सब प्रबंध अपना स्वयंही करना पडे तो उसका समय उसीमें चला जायगा, अनेक कष्ट होंगे, विदेशमें स्थानका परिचय न होनेके कारण सब आवश्यक सामान इकट्ठे करनेमें ही व्यर्थ समय चला जायगा। इसलिये मंत्रके कथनानुसार "मार्गही उपभोगके पदार्थोंसे तैयार रहेंगे" तो अच्छा है। यह उपदेश बडा महत्त्व पूर्ण है और व्यापार वृद्धिके लिये सर्वत्र इस प्रबन्धके होनेकी अत्यंत आवश्यकता है।

ज्ञानयुक्त कर्म।

हरएक कार्य ज्ञान पूर्वक करना चाहिये। इस विषयमें तृतीय मंत्रका कथन अत्यंत विचारणीय है—

देवीं धियं ब्रह्मणा वन्दमानः शतसेयाय ईशे। (मं० ३)

" दिव्य बुद्धि और कर्मशक्तिका ज्ञानसे सत्कार करता हुआ मैं सेंकडों सिद्धियोंको प्राप्त करनेका अधिकारी बनता हूं।"

यहांका "धी" शब्द "प्रज्ञा बुद्धि और कर्म शक्ति" का वाचक है। ज्ञान पूर्वक हरएक कर्म करना चाहिये। जो काम करना हो, उस विषयमें जितना ज्ञान प्राप्त करना आवश्यक है उतना पहले करना और पश्चात् उस कार्यका आरंभ करना चाहिये। तभी सिद्धि प्राप्त हो सकती है। यह सिद्धिका सरलमार्ग है। दूसरी बात जो सिद्धिके लिये आवश्यक है वह यह है कि आरंभ किये कार्यमें रुची स्थिर होनी चाहिये,—

तस्मिन् रुचिं आदधातु। (मं० ६)

"उस कार्यमें रुची स्थिर होवे" यह बात अत्यंत आवश्यक है। नहीं तो कई लोगोंकी ऐसी चंचल वृत्ति होती है कि वे आज एक कार्य करते हैं, कल तीसरा हाथमें लेते हैं और परसुं पांचवेंका विचार करते हैं। ऐसे चंचल लोग कभी सिद्धिको प्राप्त नहीं कर सकते।

परमेश्वर भक्ति।

सब कार्योंकी सिद्धिके लिये परमेश्वरकी भक्ति करनी चाहिये। इसविषयमें सप्तम और अष्टम मंत्रोंका कथन बडा मननीय है। " ईश्वरकी नम्रता पूर्वक स्तुति प्रार्थना उपासना करना चाहिये।" क्योंकि वही शरण जाने योग्य है और उसीकी शक्तिद्वारा सबकी रक्षा होती है। प्रतिदिन नियत समयपर उसकी उपासना करनी चाहिये जिससे वह सब कामधन्देमें यश देगा, और धन पुष्टि सुख आदि प्राप्त होगे और कभी गिरावट नहीं होगी। ईश्वर उपासना तो सबकी उन्नतिके लिये अत्यंत आवश्यक है। संपूर्ण सिद्धियोंके लिये इसकी बहुत आवश्यकता है।

अथर्ववेदका स्वाध्याय

सुबोध भाष्य ।

प्रथम काण्ड (मूल्य २) डा. व्य ॥)

इन्द्रशक्तिका विकास । मूल्य ॥) डा. व्य ≡)

गोमेध मूल्य १) डा. व्य. ॥)

मंत्री स्वाध्यायमंडल औंध (जि सातारा.)

कुस्ती, लाठी, पटा, बार वगैरह के

सचित्र **व्यायाम** मासिक

हिन्दी, अंग्रेजी, मराठी और गुजराती इन चार भाषाओं में प्रत्येक का मूल्य २॥) रक्खा गया है । उत्तम लेखों और चित्रों से पूर्ण होने से देखनेलायक है । नमूने का अंक मुफ्त नहीं भेजा जाता । व्ही. पी. खर्च अलग लिया जाता है । ज्यादह हकीकत के लिये लिखो ।

मैनेजर — व्यायाम, रावपुरा, बडोदा

वैदिक उपदेश माला ।

जीवन शुद्ध और पवित्र करनेके लिये बारह उपदेश हैं । इस पुस्तकमें लिखे बारह उपदेश जो सज्जन अपनायेंगे उनकी उन्नति निःसंदेह होगी मूल्य ।।) आठ आने डाकव्यय ‍‍-) एक आना)

मंत्री- स्वाध्याय मंडल, औंध (.जि. सातारा)

For Youths, Parents & Teachers

Brahmacharya

An English Monthly Devoted to Religion, Education & Physical Culture.

Annual Subs. Rs. ONE Only.

The Managing Editor,
"BRAHMACHARYA."
Gurukula-Brahmachari Ashram
P. Kengeri, Bangalore City.

EMPLOYMENT FOR MILLIONS

Students' own magazine,

A Monthly English Teacher–
Careers for Young men a speciality.

ANNUAL SUBSCRIPTION WITH SUPPLEMENTS, Rs. 3.

CAPITAL INDUSTRIAL BUREAU,
RAMGALI, LAHORE. (Punjab)

मुद्रक तथा प्रकाशक— श्री० दा० सातवळेकर, भारतमुद्रणालय, औंध, (जि० सातारा)

REGISTERED No 1463

ॐ

वैदिक धर्म।

वैदिक तत्त्व ज्ञान प्रचारक मासिक पत्र।

संपादक— श्रीपाद दामोदर सातवळेकर.

वर्ष ९

अंक ९

क्रमांक १०५



भाद्रपद

संवत् १९८५

सितंबर

सन१९२८

वार्षिक मूल्य— म० आ० से ४) वी० पी० से ४॥) विदेशके लिये ५)

विषयसूची।

वर्ष ९

अंक ९

क्रमांक १०५

भाद्रपद संवत् १९८५

सितंबर सन १९२८

वैदिक धर्म.

वैदिक तत्त्वज्ञान प्रचारक मासिक पत्र।

संपादक—श्रीपाद दामोदर सातवळेकर।

स्वाध्यायमंडल, औंध (जि. सातारा)

ईश्वरकी अनंत शक्ति।

रूपं रूपं प्रतिरूपो बभूव तदस्य रूपं प्रतिचक्षणाय।
इन्द्रो मायाभिः पुरुरूप ईयते युक्ता ह्यस्य हरयः शतादश॥

ऋ० ६।४७।१८

(रूपं रूपं प्रतिरूपः) प्रत्येक रूप के लिये प्रतिरूप अर्थात आदर्श यही ईश्वर (बभूव) हुआ है। (अस्य तत् रूपं) इसका वह आदर्शरूपं (प्रतिचक्षणाय) प्रत्यक्ष करना चाहिये। (इन्द्रः) यह सर्व सामर्थ्यवान् प्रभु (मायाभिः पुरुरूपः ईयते) अपनी विविध शक्तियोंसे अनेक रूपवाला दिखाई देता है (हि अस्य हरयः) क्यों कि इसकी चालक शक्तियां जो (युक्ताः) चारों ओर नियुक्त हुई हैं (शतादश) हजारों अर्थात् अनंत हैं।

परमेश्वर प्रत्येक पदार्थ में विराजमान है, प्रत्येक पदार्थका रूप उसकी शक्ति और उसीकी कारीगरीका प्रभाव है। यह बात प्रयेक पदार्थ में देखकर उसकी अनंत शक्ति का अनुभव करना उपासक का कार्य है।



स्वाध्याय वृत्त ।

१ यजुर्वेद.

यजुर्वेद छपकर तैयार हुआ है, उसका मूल्य विनाजिल्द १॥);कागजी जिल्द २); कापडी जिल्द सुवर्णाक्षरों वाली २॥); और रेशमी जिल्द ३) हर एक का डाकव्यय ॥) है । इस में प्रत्येक मंत्र स्पष्ट, शुद्ध और योग्य पद विभागसे विभक्त करके मुद्रित किया है। प्रत्येक मंत्र अलग अलग, खुला और मोटे सुंदर अक्षरों में छापा है। जो वेदों के सुंदर पुस्तक अपने पास रखना चाहते हैं वेमूल्य म. आ. द्वारा भेजकर इस पुस्तक को शीघ्र मंगावे ।

२ यजुर्वेद पादानुक्रमाणिका ।

यजुर्वेद के मंत्रोंकी पादानुक्रमणिका छप रही है। जो पाठक इसकी शीघ्रतासें मांग कर रहे हैं उनसे निवेदन है कि यह पुस्तक अभी तक छपकर तैयार नहीं हुई है । तैयार होते ही सूचना दी जायगी। इस की शुद्ध छपाईका विशेष ख्याल किया जा रहा है, इस लिये इसकी छपाई में देरी लगती है । इसमें मंत्र के प्रत्येक चरण का पता दिया है इसलिये यह अन्य सूचियों के पांच गुणा बडा ग्रंथ हुआ है क्यों कि एक एक मंत्र के कमसे कम चार और अधिकसे अधिक दस बारह तक टुकडे लेने पडे हैं। इस के बनाने में भी मेहनत उसी प्रमाणसे अधिक हुई है।

३ यजुर्वेदका सर्वानुक्रम सूत्र ।

यह पुस्तक टिप्पणीके साथ छप रहा है। ऊपर सर्वानुक्रम सूत्र दिया है और उसके नीचे मंत्र, ऋषि देवता और छंद क्रमपूर्वक दिये हैं। संस्कृत न जानने वाले भी इस को देखकर किस मंत्र का कौन ऋषि और कौन देवता और कौन छंद है यह जान सकते हैं, इतना सुगम यह पुस्तक बनाया है । इस ग्रंथ का इस प्रकार का मुद्रण इस सयय तक किसी भी स्थानपर नहीं हुआ है ।

इस का मुद्रण आगामी दो मासोंमें समाप्त होगा। तब सूचना दी जायगी ।

४ अथर्ववेदका मुद्रण ।

पाठक अथर्ववेदका पुस्तक मांग रहे हैं। अभी तो हमनें मुद्रण शुरु ही किया है । यह ग्रंथ यजुर्वेद के तीन गुणा बडा है । यजुर्वेदके मुद्रणके लिये हमें एक वर्ष लगा, इस हिसाबसे इसका मुद्रण पूर्णहोने के लियेकमसे कम दो वर्ष लगेंगे । जो पाठक शीघ्रता कर रहे हैं उनसे निवेदन है कि वे शीघ्रता न करें। शीघ्रतासे जो इस समय तक ग्रंथ मुद्रित हुए हैं उन की अशुद्धियां अक्षम्य हुई हैं। हमारी इच्छा है कि यह मुद्रण विशेष सावधानीसे हो और जहांतक हमारा यत्न हो सकता है वहां तक प्रयत्न करके निर्दोष ग्रंथ मुद्रित हो जावे । इसलिये इस का वेग अधिक बढाना असंभव है ।

५ वैदिक धर्म

वैदिकधर्म के कई पाठक वारंवार सूचना करते हैं कि वैदिक धर्म में " अथर्ववेदका भाष्य " अधिक दिया जाय । इस विषयमें निवेदन है कि वैदिकधर्म इस समय ४८ पृष्ठोंका प्रकाशित होता है उनमें ३२ पृष्ठ अथर्व वेद स्वाध्याय के लिये दिये जाते हैं और १६ पृष्ठ अन्य लेखोंके लिये रखे जाते हैं । इस प्रकार क्रमपूर्वक यह कार्य चला तो प्रतिवर्ष दो तीन काण्डोंका भाष्य ग्राहकोंके पास पंहुंच जायगा । और पांच छः वर्षोंमें सब अथर्व वेदका सुबोध भाष्य समाप्त होगा ।

ग्राहक बढाइये ।

पाठक अनुभव करें की यह कितना सस्ता है। इसलिये पाठकोंसे सानुरोध प्रार्थना है कि वे वैदिक धर्मकी ग्राहक संख्या बढाकर इस कार्यकी उचित सहायता करें । यदि प्रत्येक ग्राहक दो नये ग्राहक बनायेंगे तो यह कार्य ठीक प्रकार चल सकता है।

" प्रबंध कर्ता "

मातृभूमिका वैदिक गीत

(द्वितीय लेख)

पहले लेख में मातृभूमि के वैदिक राष्ट्रगीत के संबंध में सामान्य परिचय होने के लिये जितनी बातें आवश्यक हैं उतनी दी हैं। उससे वाचकों को मालूम हो जायगा कि इस राष्ट्रगीतका विचार राष्ट्रपुष्टि की दृष्टि से कितना महत्वका है। अब हमें यह देखना है कि इस राष्ट्रगीत के मंत्र कौनकौन महत्व पूर्ण बातों का उपदेश करते हैं। इसलिये प्रथम पहला ही मंत्र देखना चाहिये।

सत्यं बृहदृतमुग्रं दीक्षा तपो ब्रह्म यज्ञः पृथिवीं धारयन्ति। सा नो भूतस्य भव्यस्य पत्न्युरुं लोकं पृथिवी नः कृणोतु ॥ १ ॥ अथर्व १२।१

'सत्य, सीधापन, उग्रता, उदारता, तप, ज्ञान, और यज्ञ आदि सात गुण मातृभूमि को धारण करते हैं। वह हमारे भूत, भविष्यत् और वर्तमान स्थिति का पालन करने वाली हमारी मातृभूमि हमें कार्य करने के लिये विस्तृत स्थान देवे!'

इस मंत्र के पहले आधे भाग में यह साफ तौर से बतलाया है कि मातृभूमि को कौन कौन से लोग धारण कर सकते हैं। वह सब लोगोंके याद रखने लायक बात है। सब मनुष्य अपने राष्ट्र को धारण नहीं कर सकते और न उसका पोषण ही कर सकते हैं। जो लोग विशेष गुणोंसे युक्त हैं वे ही राष्ट्र की उन्नति कर सकते हैं। दूसरे लोग सिर्फ संख्या बढाने के लिये कारण मात्र हैं। यह बात पहले मंत्र से स्पष्ट है और उसे वाचकों को देखना चाहिये।

सर्व प्रथम राष्ट्रीय गुण ' सत्य ' है। जिन मनुष्यों में सत्यप्रियता, सत्य-पालन में आत्मसर्वस्व अर्पण करने की तत्परता है, वे ही राष्ट्र का उद्धार कर सकते हैं। जिनमें सत्याग्रह है अर्थात् जो सत्य का आग्रहसे पालन करते हैं वे ही स्वराष्ट्र का उद्धार कर सकते हैं। सूक्त का आरंभ ही ' सत्य ' शब्दसे हुआ है। सूक्त के आरंभ का शब्द मंगलार्थक और सबसे अधिक महत्व का होता है। इस विचार से भी सिद्ध होता है कि वैदिक राष्ट्रीयता में ' सत्य ' अत्यंत महत्व का गुण है। अब यह बात सब पर प्रकट है कि सत्याग्रहरूपी शस्त्र को निःशस्त्र प्रजा शस्त्र-धारी राजा के विरुद्ध काम में ला सकती है और विजय भी पा सकती है। सत्य के व्यक्तिगत सत्य, सामाजिक सत्य, और राष्ट्रीय सत्य आदि भेद हो सकते हैं। हिंदवासी व्यक्तिगत सत्य का पालन करने में संसार के अन्य लोगों की तुलना में अधिक तत्पर एवं दक्ष हैं, किन्तु वे सामाजिक और राष्ट्रीय सत्य अर्थात् सामुदायिक सत्य का पालन नहीं कर सकते। सामुदायिक सत्यपालन के अभ्यास ही से सत्याग्रह का मार्ग सफल हो सकता है। यदि भारतवासी जान लें कि सामुदायिक सत्य क्या है और उसका पालन किस प्रकार हो सकता है, साथ ही उचित रीतिसे उसका पालन करें, तो केवल इसी एक गुण से ही उसका बृहत् कल्याण होगा।

उसके आगे का गुण ऋत अर्थात् सीधापन है। वह भी सत्य के समान महत्व पूर्ण है और उसका आचरण सत्य के बाद होता है। जो मनुष्य सत्य का पालन नहीं करते और जिनका आचरण सीधा नहीं है, उनकी सच्ची उन्नति होना असम्भव है। वे खुद अवनत होंगे इतनाही नहीं बल्कि उनसे जिनका संबंध है वे भी गढे में गिरेंगे।

उग्रता शूर वीरों का गुण है। इस गुण से मंडित जो क्षत्रिय हैं, वे सत्याग्रह के सीधे मार्ग से अपने राष्ट्रका धन बढा सकते हैं। दक्षता अगला गुण है और वह दाक्षिण्यको बतलाता है जो प्रत्येक कार्य में आवश्यक है। दक्षताके सिवा किसी भी कार्य में यश प्राप्त नहीं हो सकता। यह सब लोग जानते हैं। अतः उसके बारे में अधिक लिखने की कोई आवश्यकता नहीं है।

तप उसके आगेका गुण है। यह गुण राष्ट्रीय महत्व का है। करने के कार्य में शीत उष्ण, हानि लाभ, सुख दुःख आदि द्वन्द्व आने पर भी उन्हे सह-कर आगे पैर बढाना ही तप का अर्थ है। यदि

किसी को धूप में थोडी देर घूमने से गर्मी होगी, ठंड में काम करने से बधिरता आवे, तो ऐसे कोमल मनुष्य से राष्ट्र का कोई भी काम हो नहीं सकता। अतः यह बात निर्विवाद है कि ठंड और गर्मी सहना आदि तप राष्ट्रीय सद्गुणोंमें शामिल हैं। आजकल अपने देश में लोग तप के नामपर जिसका आचरण करते हैं वह वैयक्तिक महत्व का है। राष्ट्रीय महत्व का तप दूसरा ही है और उसे किये बिना राष्ट्रीय दृष्टि से अपनी उन्नति नहीं होगी।

अगला राष्ट्रीय गुण "ब्रह्म" अर्थात् "ज्ञान" है। "ज्ञानान्मोक्षः"। इस सूत्र को सब लोग जानते हैं। पर वह राष्ट्रीय दृष्टि से भी सत्य है यह बात बहुत थोडे लोग जानते हैं। ज्ञानसे जिस तरह किसी व्यक्ति की आत्मा बंधन से मुक्त हो जाती है और वह व्यक्ति भी मुक्त हो जाता है, उसी प्रकार ज्ञान से राष्ट्र भी दूसरों की आधीनता से मुक्त होता है और इस तरह राष्ट्र स्वतंत्र हो सकता है। आजकल की भरतखंडकी पराधीनता का कारण अधिकतर भौतिक विज्ञान शास्त्रों के ज्ञान का अभावहै। वह इस विज्ञान के प्राप्ति के बिना दूर नहीं हो सकती और यदि दूर हो गई तो भी स्वतंत्रता की रक्षा करना कठिन होगा। यह बात सूर्य प्रकाश के समान सिद्ध है। जागृत राष्ट्र को चाहिये कि वह अपना ज्ञान संसार के ज्ञान के बराबर रखे या संसार के आगे अपने राष्ट्र का ज्ञान जावे। इस के लिये प्रयत्न करना चाहिये। तभी राष्ट्रकी स्वतंत्रता की रक्षा हो सकती है। स्वाधीनतासे ज्ञान का संबंध अनादि सिद्ध है।

इसके आगेका गुण यज्ञ है। "यज्ञ" से आत्मसमर्पण का भाव प्रगट होता है। राष्ट्रोन्नति के लिये आत्मसमर्पण करने की तैयारी लोगोंमें होनी चाहिये तभी राष्ट्रोन्नति होना सम्भव है, उसके अभाव में कदापि नहीं हो सकती।

वैदिक राष्ट्रगीत के पहले मंत्र ने यह महत्वपूर्ण उपदेश दिया है। अपने राष्ट्रकी उन्नति किन गुणों के बढनेसे होगी और किन गुणों के अभाव से अपने राष्ट्र का अधःपात होगा यह सब इस मंत्र ने स्पष्ट रीतिसे बतलाया है। और उसका उपयोग आज भी होने लायक है।

राष्ट्रीय उन्नति करने वाले गुण "सत्याग्रह, सीधा वर्ताव, उग्रता या शौर्य, दक्षता या तत्परता, सत्कार्य करने के लिये लगने वाले परिश्रम करनेका सामर्थ्य या वह करते समय लगने वाले शीत और उष्णता को सहने का सामर्थ्य, ज्ञान और बडे कार्य के लिये आत्मसमर्पण करने की इच्छा।" यदि ये गुण जनतामें या जनता के मुखियों में हों तो उस राष्ट्र का उद्धार हो सकता है और यदि न हों तो नहीं।

अब उन अवगुणों को देखिए जो राष्ट्रकी अवनति करते हैं:—

"सत्याग्रह की तैयारी न रहना अथवा सत्य की पर्वाह न कर मनमाना आचरण कर येन केन प्रकारेण जीवन व्यतीत करने की प्रवृत्ति रहना, कपट का आचरण, कायरता या शौर्य का अभाव, दक्षता का अभाव, परिश्रम करने की शक्ति न रहना, अज्ञान, आत्मसमर्पण के लिये तैयार न रहना।" पाठक गण स्वयं ही विचार करें कि हम लोगों में उपरि उक्त राष्ट्रीय गुणोंकी अधिकता है या अवगुणों की। इस बात का विचार करने ही से उनपर प्रकट होगा कि आज हमें क्या करने की आवश्यकता है।

इस प्रकार मंत्र के प्रथम अर्ध में राष्ट्र को धारण करने के लिये आवश्यक गुणों की वृद्धि करने का उपदेश है। तत् पश्चात् उत्तर अर्ध में एक महत्वपूर्ण आकांक्षा जनता के सन्मुख रखी गई है। वह इस प्रकार है:- "हमारी मातृभूमि हमारे भूत-भविष्य-वर्तमान कालकी परिस्थिति की देवता है। वह हमें अपने देश में विस्तृत कार्य-क्षेत्र देवे।

राष्ट्रभक्त मातृभूमि के उपासक हैं। उनके सब काम मातृभूमि के ही अपने उद्देशों का केन्द्र समझकर हो सकते हैं। अतएव स्पष्ट ही है कि राष्ट्र भक्तों के भूत-भविष्य-वर्तमान काल की नियामक देवता मातृभूमि ही रहेगी। भूतकाल में उन्होंने मातृभूमि की जैसी सेवा की होगी वैसी ही उनकी वर्तमान कालकी स्थिति होगी। वर्तमान काल में वे जैसी उपासना करेंगे उसी के अनुसार भविष्यत् में उनकी स्थिति होगी। अतएव राष्ट्रभक्त सदैव मातृभूमि की उपासना उत्तम रीति से करें। वे कोई भी ऐसा घातक वर्ताव न करें जिस से उनकी अवनती होगी।

प्रत्येक मनुष्य को चाहिये कि वह ऐसी आकांक्षा करे कि 'मेरे राष्ट्र में मुझे विस्तृत कार्यक्षेत्र प्राप्त हो।' यदि अनुकूल परिस्थिति न हो, तो उसे प्राप्त करने में कठिन परिश्रम की आवश्यकता है। अपने जिन के घर में व्यवहार करने में जैसी पूर्ण स्वतंत्रता रहती है, उसी प्रकार स्वदेश में भी रुकावटें न होनी चाहिये। लोगों को अपने अपने देश में पूर्ण स्वतंत्रता होनी चाहिये। दूसरे हस्तक्षेप कदापि न करें और देश वासियों की उन्नति में विघ्न बाधाएं न डालें। अपने अपने घर में हर एक मुख्तियार हो। हमारे देश में हमें विस्तृत कार्यक्षेत्र मिलना ही चाहिये। दूसरों को हमारे देश में विस्तृत कार्यक्षेत्र मिले और हमारा कार्यक्षेत्र प्रतिदिन घटता जाय यह परिस्थिति जितने जल्द हो सके बदलनी चाहिये। उसे बदल देना ही हमारा प्रथम आवश्यक कर्तव्य है।

पाठक गण प्रथम मंत्र के इस आशय को विचारें और वैदिक राष्ट्रगीत के उच्च ध्येय का अनुभव करें।

यदि राष्ट्रकी उन्नति साधना है तो राष्ट्रभक्तों में आवश्यकता है एकता की। बिना ऐक्य के सामुदायिक कार्य का सिद्ध होना असंभव है। सब लोग इस बात को मानते हैं। किन्तु लोग यही नहीं समझते कि यह राष्ट्रीय एकता अपने देश में किस प्रकार साध्य होगी। लोगों का कथन है कि हमारे देश में भिन्न भिन्न धर्म के लोग हैं, अनेक भाषाएं और विविध जातियां हैं। रीति-रिवाजों में भी अनेक भेद हैं। ऐसी दशा में एकता हो ही कैसे सकती है? यह कहकर लोग निराश हो चुप बैठ जाते हैं। ऐक्य के लिये ज्यों ज्यों प्रयत्न करते हैं,त्यों त्यों फूट ही होती जाती है। एकता के लिए जो प्रयत्न या उपाय किया जाता है, वह अधिकाधिक फूट का ही फल देता है। इसी कारण राष्ट्रभक्त घबडा गये हैं। ऐसेही समय निम्न लिखित वैदिक राष्ट्रगीत का मंत्र बहुत ही विचारणीय एवं बोधप्रद होगा। देखिए:-

जनं बिभ्रती बहुधा विवाचसं नानाधर्माणं
पृथिवी यथौकसम्। सहस्रंधारा द्रविणस्य मे
दुहां ध्रुवेव धेनुरनपस्फुरन्ती ॥ अथर्व० १२।१।४५

"(वि- वाचसं) अनेक भाषा बोलनेवाली और (नाना धर्माणं) नाना धर्मों से युक्त जो जनता है उसे (यथा ओकसं) एकही घर के समान धारण करनेवाली मातृभूमि धन के हजारों प्रवाह मुझे दे जिस प्रकार उछलकूद न करनेवाली गाय दूध देती है, उसी प्रकार।"

राष्ट्र की प्रगति तभी हो सकती है जब कि विविध भाषा बोलनेवाले, विविध धर्मों को माननेवाले एवं विविध रीति रस्मों पर चलने वाले लोग एक ही कुटुंब के एकही घर में रहने वाले भाइयों के समान एकही देश में रह सकें। (वि-वाचसं जनं) अनेक भाषा--भाषी लोगों के रहते भी और (नाना धर्माणं जनं) विविध धर्म के अनुयायी होते हुए भी उन सब की एक माता-सब की आदि माता- यही मातृभूमि है, इससे सब को चाहिये कि आपसी भेदभाव भूलकर उसके सन्मुख खडे हों। मातृभूमि की उपासना करने में भाषा का भेद, प्रांत का भेद, धर्म का भेद या जाति का भेद आड न आना चाहिये। सब लोगों को चाहिये कि वे सब मिलकर यही समझें कि वे सब (यथा ओकसं) एकही घर में रहनेवाले एकही कुटुंब के लोग हैं। और सब लोग अन्य किसी भेद को प्रधानता न देकर अपनी अभेद्य एकता बतावें।

एकही घर के लोगों में कुछ बडे, कुछ छोटे, कुछ मध्यम, कुछ गोरे, कुछ सांवले, कुछ न गोरे न सांवले, कुछ बूढे, कुछ युवा, कुछ पुरुष और कुछ स्त्रियां रहती हैं। एकही घरके लोगों में इतने भेद रहते हैं!!! इन में से प्रत्येक यदि कहे कि मैं अन्य सब से भिन्न हूं, तथा अपनी भिन्नता के कारण उसने कुटुंब के हितकी ओर दृष्टि न दी तो उस घरका उस कुटुंब का नाश होने में देरही क्या? इसके विरुद्ध यदि उस घरके निवासी उस कुटुंब के घटक क्षुद्र भेदों को भूल जावें और अपने मन में यही मुख्य विचार रखें कि सारे कुटुंब का हित हो, तो वही घर नंदनवन के समान आनंद से भरा हुआ दिखेगा। जहां कहीं मनुष्य हैं वहां भेद अवश्य ही होंगे। किन्तु मनुष्य का धर्म यही है कि क्षुद्र भेदों को गौण समझकर सब मिलकर अपने घरका-अपने देशका-अपने राष्ट्रका हित साधन करें। राष्ट्-

गीत में यही बात बतलाई गई है। राष्ट्रके घटक जिस समय आपसी क्षुद्र भेदों को प्रधानता देकर आपस में लडते झगडते हैं, उस समय राष्ट्रकी शक्ति क्षीण होती है। परन्तु जब भेद भावों को मिटाकर वे सब मिलकर देशहित का कार्य करने में लग जाते हैं तब उनकी शक्ति बढती है और उनकी उन्नति होती है।

किसी भी देश को या किसी भी राष्ट्रको देखिए। भाषा, जाति, वंश, धंधे, आदि अनेक कारणों से उसमें अनेक भेद होते ही हैं। आज संसार में एक भी राष्ट्र ऐसा नहीं जिसमें उपर्युक्त भेदोंका नामनिशान न हो। परन्तु विचार शील राष्ट्रके समंजस लोग इन भेद भावों की ओर ध्यान नहीं देते। वे यही समझते हैं कि राष्ट्रहित ही उनका लक्ष्य है। बस अपने लक्ष्यपर दृष्टि रख वे एकता से उसी की प्राप्ति में लग जाते हैं। आपसमें लडाई-झगडा करने वाली जातियां भी जब देखती हैं कि सारे राष्ट्र पर आपत्ति आगई है; तो वे आपसी झगडे छोड देती हैं, आपस में मिल जाती हैं और राष्ट्रीय आपत्ति से मुठभेड करती हैं। परिणाम यही होता है कि उस आपत्ति से वे बच जाते हैं। परन्तु इस के विपरीत जो लोग अपने भेद भावों की ओर ही दृष्टी रखते हैं,जो राष्ट्रीय हित की ओर नहीं देखते, जिन्हें राष्ट्रकी अपेक्षा अपने भेद ही अधिक महत्व के मालूम होते हैं, वे क्षुद्र भेद भावों में ही फंसे रहते हैं और अपनी उन्नति कभी भी नहीं कर पाते। भेदों के रहते भी जो उसी में अभेद का अनुभव प्राप्त करने को तैयार रहते हैं वे ही कुछ राष्ट्रहित साधन कर सकते हैं।

हमारे हिंदुस्थान में ही सब मनुष्य भेद-भावों से विभक्त हैं यह नहीं। किन्तु अन्यान्य देशों का भी यही हाल है। तब क्या इस देश के निवासियों को उचित है कि वेही अपने भेदोंको सदा बढाते रहें और इससे अपने शत्रु को मदद दें? क्या भारतवासी इस महत्वकी बात का विचार न करेंगे? जो लोग सदैव यहीं चिल्लाते रहते हैं कि "प्रथम आपसी भेद भावों को मिटा दो" उन्हे स्मरण रखना चाहिये कि ऐसा समाज जिसमें भेद-भावोंका बिलकुल अभाव हो, न कभी इस पृथ्वीतल पर था न अब विद्यमान है और न भविष्यत् में भी होनेकी शंका है। किसी भी देश में किसी भी समय जो बात कभी भी न हुई वह इस देश में कैसे हो सकती है? सब देशों में एक बात साध्य हुई है और वह है आपसी भेदों को मर्यादा का उल्लंघन न करने देना। बस वही बात हमारे देश में भी साध्य हो सकती है। अतएव उचित यही है कि लोग असाध्य को साधने के प्रयत्न में न लग साध्य बातों को ही करें और अपनी उन्नति कर लें।

भारतवर्ष में तीन धर्म विद्यमान हैं;(आर्य)हिंदु,मुसलमानी और ईसाई। यह समझ कि जब तक ये तीन धर्म हैं, तब तक स्वराज्य के लिए प्रयत्न न करना, अथवा ये तीन भेद नष्ट होकर जब सबका मिलकर कोई नया धर्म बनेगा तभी स्वराज प्राप्ति का प्रयत्न करना निरा अज्ञान है। इन तीन भिन्न धर्मों के रहते भी सबको मिलकर मातृभूमि की उपासना के लिए तैयार होना चाहिए। यह तो असंभव है कि तीनों धर्म सदा के लिए नष्ट हो जांय। इन भिन्न धर्मों के रहते भी सब को चाहिए कि अपना 'अभिन्न राष्ट्र-धर्म' देखें। जातिभेद, भाषाभेद, वर्णभेद आदि अनेकानेक भेद अवश्य ही रहेंगे। इन भेदों का सदा के लिए नष्ट होना यदि संभव माना जाय; तो उसे इतना अधिक समय लगेगा कि उसके साध्य होते तक स्वराज को दूर रखनेसे हमारी बडी भारी हानि ही होगी। अतएव हरएक मनुष्य को, हरएक व्यक्ति को यही सीखना आवश्यक है कि अनेक भेदों के रहते भी उन्हे भूलकर एक घर के, एक कुटुंब के भाइयों के समान एकता से रहें। इस मंत्र का यही उपदेश है और हर एक राष्ट्रभक्त उसपर ध्यान दे। अब आगे का मंत्र देखिए:—

असंबाधं मध्यतो मानवानां यस्या उद्वतः
प्रवतः समं बहु। नानावीर्या औषधीर्या बि-
भर्त्ति पृथिवी नः प्रथतां राध्यतां नः ॥ २ ॥

अथर्व १२।१

'जिस मातृभूमि के मनुष्यों में उच्चता, नीचता और समता के संबंध में (बहु अ-संबाधं) बहुत ही निर्वैरता है अर्थात् झगडे नहीं हैं और जो नाना

गुणों से युक्त औषधी उत्पन्न करती है वह हमारी मातृभूमि हमारी (प्रथतां)कीर्ति वा ख्याति बढावे।"

यह मंत्र बताता है विषमता होते हुए भी राष्ट्रीय हित का साधन कैसे करना चाहिए। मनुष्य का भेद भाव पूर्णतया मिटाने की चेष्टा भले ही की जाय, पर शरीर, इंद्रिय, मन, बुद्धि आत्मा के न्यूनाधिक विकास के कारण तथा उनकी व्यवहार कुशलता की न्यूनाधिकता से उनमें ऊंच, नीच, मध्यम आदि भेद रहना स्वाभाविक है। अतएव संभव नहीं कि सब मनुष्य समान योग्यता के, बिलकुल एकसे बने। ऐसी असमानता रहने पर भी प्रयत्न यह होना चाहिए कि उनके अभेद की ओर ही ध्यान देकर सबका उत्कर्ष हो।

मंत्र में 'अ-सं-बाध' शब्द है। वह अतीव महत्व का है। गौण भेदों को प्रधानता दी जाय तो एक समाज के मनुष्यों का दूसरे समाज से विरोध होने लगेगा। एक समाज दूसरे को प्रतिबंध करने लगेगा। दूसरे को मिटाकर स्वयं ही जीवित रहने का प्रयत्न करने लगेगा। ऐसा होने से जातियों में 'संबाध' उत्पन्न होता है। जाति जातिके झगडे,विरोध आदि बातें इस शब्द से बतलाई जाती हैं। परस्पर बाधा करने ही का नाम 'संबाध' है। संबाध का अर्थ है आपसी युद्ध। जब युद्ध होने लगते हैं,तब राष्ट्रकी शक्ति क्षीण होती है। जब एक समाज दूसरे समाज को बाधा पहुंचाता है, एक जाति जब दूसरी जाति को कष्ट पहुंचाने लगती है, तब राष्ट्र क्षीण होता है। इसीलिए राष्ट्रहित की दृष्टि से जाति-जाति में,समाज समाजमें एकता का होना परम आवश्यक है। यही बात बतलाने के हेतु मंत्र में कहा हैः—

'यस्याः मानवानां मध्यतः बहु असंबाधम्।'

'जिस मातृभूमि के मनुष्यों में बहुत निर्वैर भाव रहता है,' वही मातृभूमि अपने सुपुत्रों को उत्तम धन दे सकती है। परंतु जिस भूमि के लोक आपस में वैरभाव रखते हैं, वहां की जनता आधा पेट रहती है। कोई ऊंचा हो, कोई नीचा हो, कोई ज्ञानी हो, कोई अज्ञानी पर शरीर से हृष्टपुष्ट हो, सब को चाहिए कि वे जो कुछ करेंगे मातृभूमि के लिए करें। अपने गुणाधिक्य के घमण्ड से उन्हे गुणहीनों को वा न्यून-गुणवालों को न दबाना चाहिए। कुछ लोग गूंगे हों और कुछ वाचाल हों,तो दोनों मिलकर, आपस में न लडकर अपनी शक्तियों का मेल करना चाहिए और 'उन्हे मातृभूमि की वेदी पर चढा देना चाहिए'। तभी राष्ट्र की उन्नति होगी। मनुष्य में जो(उद्वतः)उच्चता, (समं) समता, और(प्रवतः) नीचता रहती है, वह एकदूसरे का घात करने के लिए नहीं रहती है। एक मनुष्य यदि किसी एक बात में ऊंचा है,तो वह दूसरी बातों में नीचा होगा। बडा विद्वान ज्ञान में ऊंचा होगा, तो शक्ति में उसका दर्जा कम हो सकता है। कोई शक्तिशाली पहलवान हो, तो ज्ञान में उसका हलका होना संभव है। किन्तु मातृभूमिको दोनों प्रकार के मनुष्यों की आवश्यकता है। ज्ञानी मनुष्य ज्ञान के घमण्ड से और बलवान् शक्ति के घमण्ड से एकदूसरे के सिर न फोडें बल्कि दोनोंको चाहिए कि वे मिलकर देश के शत्रुओं को दूर करें और अपनी उन्नति करें।

मानवों का कर्तव्य यही है कि अनेक भेदों के रहते भी अभेद-भाव से अपना मार्ग निकाले। जो मनन करने में समर्थ हैं उसीको मानव कहते हैं। मनन करने वाला झगडे उत्पन्न नहीं करता वह सोच विचार कर झगडे कम करता है और उन्नति के मार्ग से आगे जाता है। जो अपनी परिस्थिति का विचार नहीं करते,अपनी उन्नति के लिए प्रयत्न नहीं करते, किन्तु आपस के झगडे ही बढाते हैं वे दो पैर वाले होने पर भी मानव या मनुष्य नहीं कहे जा सकते।

इस मंत्र का उपदेश हम लोगों की वर्तमान दशा में अच्छी तरह उपयोगी हो सकता है। उपर्युक्त मंत्रों के पढने से ज्ञात होगा कि इस वैदिक राष्ट्रगीत के द्वारा देशवासियों में एकता बढाने के लिए जो कुछ कहा जा सकता है कह दिया गया है। अब हम चाहें तो उसका उपयोग करें चाहें तो न करें। यदि हम उससे लाभ न उठावें तो उसमें धर्मग्रंथ का क्या दोष ? दोष है अनुयायियोंका। ऐक्य का उपदेश सुन लेनेपर प्रत्येक को जान लेना चाहिए कि हमारे देशके प्रति-हमारा पुत्रत्वका नाता किस प्रकार है। इस संबंध को जानकर उसे सदैव अपने मनमें जागृत भी रखना होगा। निम्न लिखित मंत्र को अब देखिएः—

त्वज्जातास्त्वयि चरन्ति मर्त्यास्त्वं बिभर्षि द्विपदस्त्वं चतुष्पदः। तवेमे पृथिवि पंच मानवा येभ्यो ज्योतिरमृतं मर्त्येभ्य उद्यत्सूर्यो रश्मिभिरातनोति ॥ १५ ॥

"हे मातृभूमि! तेरे से उत्पन्न हुए हम सब मनुष्य तुझपर ही घूम रहे हैं। तूही द्विपाद और चतुष्पाद का पोषण करती है। हम पांचों प्रकारके मनुष्य तेरे ही हैं। हम मानवों को प्रतिदिन ऊगनेवाला सूर्य अपने किरणों से तेज और अमृत देता है।'

इस मंत्र में सर्व प्रथम यही बतलाया गया है कि 'हम मनुष्य भूमाता से (त्वत्-जाताः) ही उत्पन्न हुए हैं और तुझपर ही घूमते फिरते हैं।' यह भाव स्पष्ट एवं असंदिग्ध है। प्रत्येक राष्ट्रभक्त अपने मनमें यही भाव रखता है, यदी नहीं रखता तो उसे अवश्य ही रखना चाहिए। तभी वह राष्ट्रकी उन्नति के योग्य कार्य कर सकेगा। मातृभूमि हमारी अलंकारिक वा काल्पनिक माता नहीं वास्तविक माता है। यह अनुभव जितना जीवित होगा, उतनी ही दृढ भावनासे वह मनुष्य मातृभूमि की सेवा करेगा।

यदि वाचक विचार करें तो वे जानेंगे कि हमारे देशमें जो जातीय झगडें होते हैं उनका कारण यह है कि इस देश के निवासी नहीं समझते कि सचमुच हम सब मातृभूमिके पुत्र हैं। लोग अपने अपने पंथ के हित की दृष्टि रखते हैं। सब का मिलकर जो राष्ट्रधर्म है उसका पालन कोई नहीं करता। इस से सब को एक राष्ट्रधर्म का बंधन नहीं रहता। प्रत्येक को अपना पंथ ही अधिक प्रिय होता है। सार्व-राष्ट्रीय धर्म के पालन की कोई फिकर ही नहीं करता। ऐसे घातक विचार किसी भी देश के निवासियों में से किसी भी जाति के लोग न रखें इसी मंत्र में स्पष्ट शब्दों में कहा गया है कि 'हम सब मातृभूमि के बालक हैं।' वाचक यदि इस अनुपम मंत्रपर विचार करें तो उन्हे विदित होगा की आपसी फूट की यह अक्सीर दवा है। मनुष्य किसी भी धर्म के या पंथके रहें, या उनमें जाति और वर्ण के कारण कैसी भी भिन्नता क्यों न आई हो; यदि वे एक राष्ट्रधर्म से बंध जायेंगे तो परस्पर वैरभाव उत्पन्न ही न होगा।

" हमारी मातृभूमि हम द्विपदों का और अन्य चतुष्पादों का उत्तम प्रकार से पोषण करती है। इस स्वार्थी दृष्टि से भी यदि देखें तबभी हरएक मनुष्य के लिए उत्तम बात यही होगी कि वह हृदय में मातृभूमि की भक्ति रखे और उसकी रक्षा के लिए सदैव तैयार रहे। हम अपने मकान की रक्षा करते हैं, अपनी जमीन की रक्षा करते हैं। यह सब हम इसी लिए करते हैं कि उससे हमारा हित होता है। हमारा हित मातृभूमि से भी होता है। क्यों कि वही मातृभूमि मनुष्यों को, पशुपक्षियों को अन्न-उदक आदि देती है और उनकी रक्षा करती है। यदि हम मातृभूमि की रक्षा न करेंगे तो वह किसी दूसरे के अधीन हो जावेगी और तब हमारी ही आफत होगी हमें भूखों मरने की नौबत आवेगी।

इस समय भारतियों का यही हाल है। उन्होंने योग्य समय मातृभूमि की रक्षा न की अतएव अब हमें कष्ट सहने पडते हैं। इस आपत्ति के समय भी हम आपसी झगडों को नहीं भूलते, और एकता से मातृभूमि की सेवा करने को तैयार नहीं होते! गत काल में हम लोगों ने जो गलतियां कीं सो तो हो चुकीं। उनके बारे में अब कोई कितनाही क्यों न कहे, वे बदल नहीं सकतीं। परंतु उन गलतियों का फल भोगते समय भी उनसे उचित शिक्षा न लेकर पुनः पुनः वेही भूलें करना और प्रतिदिन आपसी भेदभावों को बढाना भयंकर भावी आपत्ति का चिन्ह है। क्या भारतवासी इसपर विचार न करेंगे?

इस विचार को मन में न रख कि "हे मातृभूमि! हम तेरे बालक हैं" हम समझते हैं कि हम अपने भिन्न भिन्न पंथों के हैं। इसके समान दूसरी भयंकर भूल नहीं है। सर्व प्रथम हम अपने राष्ट्रके हैं तत्पश्चात अपने पंथ के हैं। यही बाना हरएक मनुष्यको रखना उचित है। यदि मनुष्य यह बाना न रखें तो राष्ट्रहानि होना टाल नहीं सकते। वाचक देख सकते हैं कि अथर्ववेद के इस वैदिक राष्ट्र-गीतके प्रत्येक मंत्र में कैसे महत्व का उपदेश करा है। हमारी वर्तमान गिरी दशामें ये अनमोल उपदेश-रत्नही हमारा उत्थान कर सकते हैं। इतनाही नहीं वे हमारा यश चारों दिशामें फैला सकते हैं। प्रिय वाचक! आप इसी दृष्टिसे इन मंत्रों का विचार करेंऔर उसके उपदेशों का कार्य में परिणत करें। (क्रमशः)

"हिंदू समाज समर्थ कैसा बनेगा।

प्रथम पुष्प –" कल्पनाओंकी जड "

(लेखक-श्री· पं. महादेवशास्त्री दिवेकर, वाई)

गत पांच सात सालकी भारत की स्थितीकी ओर दृष्टीफेरी जाय तो हमें ऐसाही नजर आयगा कि, हिंदूसमाज असहयोग, खिलाफतका प्रश्न, मुसलमानोंकी हलचल, हिंदूसंगठन वालों की धैर्य युक्त घोषणा इन सब आंदोलनोंसे आपादमस्तक कंपित होगया है, असह योगके आंदोलनमें महात्मा गांधीजीने अछूतोंको छूत बनानेकी अपूर्व कल्पनाओंको अमल में लानेकी चेष्टा प्रारंभ करनेके कारण हिंदूसमाज के संबंध में दारुण उदासीनता दिखलानेवाले बडे पंडित मान्यवर तथा कतिपय शास्त्री गहरी नींदमेंसे अकस्मात् जागृत होकर महात्माजीको कलंकी अवतारसा समझकर आकाशकी ओर देख दांत किचकिचाने लगे। दूसरी ओर संगठन वालोंने अछूतोंको छूत बनानेके परमपूज्य शुद्धिकार्य को इस प्रकारसे धैर्य से संभाला और उन्नत किया कि, इसी कारण से मुसलमान लोग जगह जगह दंगे करनेको उद्यत होते हैं ऐसा निराधार मत प्रस्थापित करनेको कतिपय डरपोक महाशय खडे हुयेऔर अपना मत निर्भयतासे कई सभाओंमें भाषण द्वारा प्रकाशित करने लगे।

मुसलमानोंके विशेष अत्याचारोंसे और आर्यसमाजके यशस्वी शुद्धीकार्यसे हिंदूसमाज के उपर दीर्घकालतक गूंजनेवाला परिणामकारक असर पहुंचा ऐसा कहने मे कोई संदेह नहीं।

परकीय राजसत्ता होनेके कारण अखिल विश्वसे आपहि आप होनेवाला संबंध, जीवन कलहकी स्पर्धा मेहगाई और लोकशाहीका तत्व इन कारणों से हिंदूसमाजकी पुनर्घटना होनेका रंग दिखने लगा है। हिंदूसमाज कमकूवत, असंगठिन व्यवस्थारहित होनेके कारणसे और उसकी प्रमाणसे अधिक लोक संख्या होनेके कारणसे उसे पुनश्च सुसंगठित करके सामर्थ्यशाली बनाना बिलकुल आवश्य होगया है।

हिंदूसमाजके घटकोंमें जो भिन्नता और विद्रूपता पायी जाती है वह किन उपायोंसे दूर होसकेगी यह सांप्रतमें एक बडाहि महत्वका और त्वरित हल करनेलायक प्रश्न उपस्थित है। हिंदूसमाज सामर्थ्यसंपन्न बलशाली तथा प्रभावशाली बनाने में प्रथमतः समाजकी भिन्नता और विषमता नष्ट करना चाहिये। और समाजरूपी यंत्रके अलग अलग प्रकार पडे हुवे जो घटक, अवयव अथवा पुर्जे हैं उन्हें एकदूसरे की ओर आकर्षित करके उपकारक बनावें इस प्रकारसे योजना और यत्न करना चाहिये।

हिंदूसमाज समर्थ कैसा बनेगा ? इस प्रश्नका हल करनेके प्रारंभ में कई बातें सिद्धहि समझना चाहिये अन्यथा उनका विचार करनाही कठन है। हिंदुस्थान यह एक खंड है और कई हजार बरसों से उसमें वास्तव्य करनेवाले हिंदूसमाज को हमें उन्नत दशामें लाना है। यह एक बात सिद्ध समझना चाहिये। भूगर्भशास्त्रदृष्टीसे अगर हिंदुस्थानकी ओर देखा जाय तो वह एक स्वतंत्र खंड है। ऐसाही दिखाई देवेगा।

भारतके भिन्न भिन्न विभागोंकी आबहवा और निपज की भिन्नतासे भारतभूमि एक खंडसी मालूम पडती है।

हिंदुस्थान के कोई भागमें बहुतही " शीत " है तो कई भागोंमे असह्य गर्मी है, कोई भागोंमें वर्षाऋतुही नहीं, तो कई भागोंमें गर्मीका अंशभी नहीं। ऐसी उसकी उष्णतामान की स्थिति है।

हवामानके सादृश्य हिंदुस्थानके भिन्न भिन्न विभागोंमें खानपानके व्यवहारमेंभी विषमता और विचित्रता पायी जाती है।

मद्रासप्रान्त तरफ लाल मिर्च को कूटकर गोला बनाकर खाये सिवाय रोटी कंठगत होतीहि नहीं। और इमलीके खटाईके सिवाय भोजन स्वादिष्टहि

लगता नही। तो उधर वऱ्हाडप्रान्तमें रात्रीके भोजन समय यदाकदाचित् दूसरे किसीने छांचके पानीका उपयोग किया तो देखनेवाले को जुखाम से उपद्रव होनेका बहुत धोका रहता है। ऐसाभी कोई विनोदसे तथा मजाकसे कहते हैं। तो कोई प्रान्तोंमें मिरची बीचमें टांगकर उसके तरफ देखकर रोटी खाने से हि अन्न कुछ तीखासा मालूम पडता है। इन वार्ताओंमें जोभी कुछ अतिशयोक्तीका अंश सरबसर नजर में आताहो ताहम् इस प्रकारके परस्पर विरोधी घृणा उत्पन्न करनेवाले तथा विचित्रतात्मक विविध प्रकार हमारे हिंदूभोजनमें पाये जाते हैं। तो विचार करनेकी बात है कि भारतवासियोंके विचार आचार पेहराव और कल्पना ओंमें तो भिन्नत्व और विचित्रता क्यों न होगी? जरूर करके होना चाहिये।

संयुक्तप्रान्त और पंजाब की ओर नजर फेरी जाय तो उन भागोंमें "गुडखाय घोडा और तेलखाय जोडा" ऐसी कहावत बरसोंसे प्रचलित है जोकि घी शक्कर रोटी खानेको उन्हें उत्तेजन देती है, और इसी कहावत के प्रचारसे उनको घी शक्कर के सिवाय रोटी का एक ग्रास भी कंठके नीचे छोडना मुष्किलसा मालूम पडता है।

अच्छा! इसके बिलकुल विरुद्ध स्थिती मध्यप्रान्तमें है। वहां सरबसर तेलके झर्राट बघार सिवाय-चांवल वडोंको मजाही आता नही।

तैलंगण प्रान्तमें भोजन पर विविध प्रकारके अचारके सिवाय बिलकुल व्यर्थ समझा जाता है। तो इधर महाराष्ट्रमें चटनी कुचंबर और सतरा प्रकार के शाकपत्तीयोंसे पत्तल को अलंकारित बनाये सिवाय सिर्फ दाल भातरोटी के भोजन सेहि पेटकी तुंबडीको खूब फुलाया तोभी तृप्तता नहीं प्राप्त होती। कोंकण प्रान्तमें चांवल यही सिर्फ उदरपोषणका पदार्थ ईश्वर निर्मित है ऐसी समझ है तो उधर पंजाब में वही पदार्थ केवल बीमारोंके लिये ही उत्पन्न किया है ऐसा समझते हैं।

कहीं तेल,मिरची रोटी, कहीं छाकका पानी और चांवल तथा कढीभात,कहीं घीशक्करपुरी, तो कहीं चांवल और मच्छी ऐसे भारत भोजनमें भिन्न भिन्न प्रकार दिखाई देते है।

तात्पर्य,जिन जिन विभागोंमे जो जो अनाज प्रायः प्राधान्यसे उत्पन्न होता है वही पदार्थ भोजनके पाक थालीमें अग्रस्थान मिलाता है और इसी कारणसे ऐसी विचित्रता नजरमें आरही है। यथार्थ में यह स्वाभाविक भी है इसी भिन्नताके कारण हिंदुस्थान एक देशही केवल नही तो वह एक बडा खंड है ऐसा भासमान होता है। हमारे भरत खंडमें प्राचीन समयसे-हजारों बरसोंसे भिन्न भिन्न मानववंश और भिन्न भिन्न मानवसमूह वसाहत कर बस रहे हैं।

पंजाब और संयुक्तप्रान्तमें शुद्ध आर्यवंश नजर आता है तो मद्रासके दख्खनमें शुद्ध द्रविड वंश है। बंगाली लोग आर्य और मांगोलियन इनका मिश्रण है तो महाराष्ट्रीय लोग आर्य और द्रविड इन्होंकी संतान मानी जाती है। वंशमें भिन्नता होनेके कारण उनकी संस्कृतीभी भिन्न भिन्न प्रकारकी है। पंजाब वासी लोगोंकी शुद्धाशुद्धता, पवित्रता,शिष्टाचार और बुजुर्गोंके आचार व्यवहार भी भिन्नता दर्शक है।

अच्छा! अब रिवाज और आचार देखे जाय तो म्हैसूर प्रांतमें कोई गृहस्थ किसीके यहां परग्रामसे मेहमान तौरपर आवे तो घरकी स्त्रियां उसका आदर आतिथ्य-मान सन्मान गायन वादनसे करनेमें आगे बढती हैं, तो इसके बिलकुल विरुद्ध महाराष्ट्रीयोंमें रिवाज है। महाराष्ट्रीय गृहस्थके यहां अगर कोई मेहमान आये तो उसको स्त्रियोंका बोलना चालना भी सहलाईसे नजरमें नहीं आता।

कोई प्रान्तोंमें आप्तस्वकीय लोगोंका घरपर आना आनंदसे मनाते हैं तो कोई स्थानोंमें आप्त और रिश्तेदारोंके दर्शनसे-नयनोंसे गंगाजमुना बहाते हुवे रुदन से दृष्टीभी जानेका धोका रहता है और रुदन कोलाहलसे मकान भी ढलक जानेका अधिक संभव रहता है।

महाराष्ट्रके सिवाय भारतके और सर्व विभागोंमें स्त्रियां कच्छविहीन साडियां पेहनतीं है। यदि कोई पुरुष, बाजारमेंसे कच्छविहीन धोती पेहनकर निकला तो उसे बाजारके बहुतेरे अबालवृद्ध निंदा व्यंजक बुरा भला कहते हुवे उसका पिच्छा पकडकर उसकी मजाक उडाते हैं। अच्छा! मद्रासकी ओर सिर्फ धोतीही लपेट कर फिर

नेका आम रिवाज है। महाराष्ट्रमें शिरस्त्राण सिवाय मनुष्य घरसे बाहर निकलना असभ्यतादर्शक और अपशकुन समझा जाता है तो मद्रास और बंगाल तरफ नंगेसिर घूमना यही एक रिवाज है। यह तो कुछभी नहीं लेकिन व्यंकट गिरीपर सौभाग्यवती स्त्रियोंका उनके पतीदेवता जीवित होनेपरभी केशवपन करना धर्मशास्त्रसंमत है तथा धर्माज्ञा है। और ऐसी स्थितीमें वे मर्द सरीखे शीर्ष अच्छादित किये सिवाय ही घूमना पसंत करती हैं। कहीं एकही पत्नीसे विवाह करना शास्त्रमान्य है तो कहीं स्थलोंमें अनेक विवाह करना आवश्यक मानते हैं। कहीं मामा भांजीको विवाह बद्ध होनेमें हरकत नही मानते तो कहीं इसके विरुद्ध है।

इस प्रकारकी आचार भिन्नता, कल्पना भिन्नता अहारभिन्नता दृष्ट होनेसे वंश भिन्नता और संस्कृति भिन्नता को पुष्टी मिलती है और इसीकारण "हिंदू" इस शब्दकी छोटीसी व्याख्या बनाना मुश्किलसा मालूम पडता है।

हिंदू यह एक वंशके नहीं। एक पंथके नहीं। एक मानवसमूह नहीं। एक देवता मानने वाले नहीं। एक तत्वज्ञान माननेवाला समाज नहीं। सब हिंदू मात्रकी एक देवता नहीं। और एक धर्मग्रंथभी नहीं। सब हिंदूओंका एक साधू गुरु नहीं। इन बातोंका कारण इतनाही है कि हजारों वर्षोंसे हिंदुस्थानके भारतवासी भिन्न भिन्न संस्कृतीके, रिवाजके, कल्पनाओंके, आचार व्यवहारोंके समाज उपस्थित किये बसते हैं। तथापि इतना भेद होते हुए वैदिक वङ्मय, रामायण, महाभारत, संस्कृत भाषा, पवित्र तीर्थस्थान इनके संबंधमें काशीसे लगाकर रामेश्वर तक देखा जाय तो एकही मत संमत् है।

भारतमें जोभी भिन्न भिन्न वंशके लोक हैं तोभी आर्य लोगोंने भिन्नता में इन बातोंकी अभिन्नता अभी भी कायम रख छोडी है यह बडी ही संतोषदायक और आनंददायक बात है।

वेद, संस्कृत भाषा, रामायण, भारत, गंगा, गाय, इत्यादिओं को जो पूज्य मानता है वही हिंदू ऐसी अभितक सर्वमान्य व्याख्या हिंदूओंकी की जाती है यह समझ धर्म विशिष्ट नही है।

❀

हिंदूसमाज समर्थ कैसा बनेगा ? इस प्रश्नका हल करनेके प्रारंभमें अब हमने हिंदुसमाजका समुदाय वाचक स्वभाव कैसा है यह भी देखना चाहिये।

भारतकी आबहवा बढिया और आरोग्यदायक सृष्टिसौंदर्य मनोहारी और अनाजकी पैदाश मनोगिनती होनेसे इन बातोंका भारतवासीयोंके स्वभावपर खूब गेहरा असर पहुंचता है ऐसा समाजशास्त्रज्ञ अकसर कहा करते हैं। कोईसा भी समाज उत्पात करता है सो केवल अन्नके ही कारण! खूब सुग्रास अन्न प्राप्त करनेके वास्ते धन प्राप्त करना पडता है! धन प्राप्तीके वास्ते उसे 'जयिष्णु' अथवा हमलेवाला बनना भाग होता है। और अनाजोत्पत्ती विपुल और मनमुराद हुयी याने पेटकी तुंबडी पुरेपूर भरी हुवी हो तो वह समाज स्वाभाविकही आलसी बनकर 'सहिष्णु' याने भविष्यत् कालमे आपत्तीयोंको सहनेवाला बन बैठता है। हिंदुसमाजका स्वभाव सहिष्णु बनानेमें भारतभूमीकी आबहवा, अनाजकी मनमुराद पैदाश और सृष्टी सौंदर्य इन बातोंका तिलमात्रभी वास्ता नही है' ऐसा कोई भी समझदार शक्स स्पष्ट नही कह सक्ता। हम आलस्य प्रिय अलाल बन गये हैं और उनकी जूटकी फूट न होनेसे हमारी और आलस्य की टूट होती नही किंतु हम आर्यपुत्रों की विदेशीओंसे सरबसर लूट हो रही है—क्योंकि पाश्चात्य प्रभाव का मदोन्मत्त घोडा हमारे पिछे निर्दयतासे बेछूट दौड लगा रहा है और वेदकालीन हरप्रकारकी उन्नति दमसे रुठ गयी है। उसे हमने उद्योग प्रियतासे मनाकर, संतोषित किये विना जलका एक घूंट भी न लेंगे ऐसी भीष्म प्रतिज्ञा किये सिवाय अब कार्य चल नहीं सकता।

हमारे आलस्यको जगत् का मिथ्यापन और अहिंसा परमोधर्मः यह बुद्ध धर्मीय वेदान्त अधिकांश उत्तेजन दे रहा है। यही केवल नहीं तो ऐसे सैंकडों 'अदनासी शानवाले क्षुल्लक कारण हमें पाये जा सके हैं कि जिनके प्रभावसे हमारी कल्पनाएं-नादान अपरिपक्व, तथा विचित्रतापूर्ण होगयीं हैं। और इसी कारण हम जयिष्णु के सहिष्णु बन चुके हैं। लेकिन ऐसी अवनत दशा के चक्कर में हमने पुनश्च पूर्व कालीन आर्यवंशीय स्थितीको प्राप्त करनेका बीडा

उठाना चाहिये याने हमने अब जयिष्णु बननेका जोशीला यत्न करना चाहिये ।

आर्योंका वेदकालीन इतिहासभी देखाजाय तो उसमें भी वे जयिष्णुही पायेजाते हैं। आर्योंका मूलस्थान उत्तर ध्रुवकी ओर था, ऐसा माना गया तो भी आर्यलोग अखिल पृथ्वीपर बिखरे हुवे हैं और उन्होंने आलम दुनियापर अपना साम्राज्य प्रस्थापित किया हुवा है ऐसा सिद्ध किया गया है। हिंदुस्थानके आर्य लोग जो उत्तर दिशाकी ओर हिंदुस्थानसे बाहर निकल चले वह खास करके कोई मुलूख काबीज करनेके उद्देशसेहि निकले थे ऐसा सिद्ध होता है ।

इतिहास संशोधनाचार्य श्रीयुत् ' राजवाडे ' साहेब कहते हैं कि 'पामीर' पठार परसेही आर्य लोगों ने आलम दुनियाका राज्य काबीज करनेके कारण आठों दिशाओंको अपना अपना रास्ता सिधारा ! इसपरसे सिद्ध होता है कि जो भी सांप्रत में हिंदू समाज सहिष्णु बना हुवा दिखाई देता है तोभी प्राचीन समय में वह जयिष्णु जरूरहि था ।

हिंदूसमाज समर्थ बनाने में अखिल भारतवासीयोंमें आर्यपुत्रोंका अनुकरण करना चाहिये और हिंदस्वभावरूपी मंदाग्नी पर जो रखोडी छागयी है उसे उद्यमरूपी जादूकी फूंकसे शीघ्र उडाकर भीतरी देशप्रेमरूपी असली अग्नीको चेतना देकर पूर्व स्थितीके नाई प्रज्वलित करना चाहिये ।

हिंदूसमाज के स्वभाव के ज्ञान के साथहि साथ उसके पडोसमें जो खिश्चन और मुसलमान समाज हैं उनकी संस्कृतीके स्वभाव का ज्ञान प्राप्त कर लेना आवश्यक बात है। मकान मोल लेनेके प्रारंभमें पडोसी कैसा है यह जैसा देखा जाता है वैसेही नीजी समाज समर्थ बनानेके प्रारंभमें हमारे समाज के जो पडोसी हैं उनका धर्म, स्वभाव, संस्कृतीयां इनका ज्ञान प्राप्त करना जरूर है ।

महंमद कासीमने सिंधदेशके दाहीर राजापर हमला किया उस दुर्दिनसे हिंदूमुसलमानों की परस्पर जान पिछान होना शुरू हुयी। इ. स. ७१० से लगाकर १९२७ सालतक उनका इतिहास देखा जाय तो ' मुसलमानोंका स्वभाव क्रूरता, विश्वासघात, बेईमानी इत्यादि अलंकारोंसे अलंकृत है ' ऐसा सिद्ध होता है । ये शब्द खास इतिहासकार श्री. सरदेसाईजी के हैं, याने एक प्रसिद्ध इतिहाससंशोधक केतेजस्वी कलम से निकले हुवे हैं । हिंदुओंको पलपलपर मुसलमानों के स्वभाव का, स्पष्ट ज्ञान होही रहा है और इसी कारण उसकी अधिक चर्चा करनेकी कोई आवश्यकता बाकी रही नहीं ।

मुसलमानी धर्म सब धर्मोंमें श्रेष्ठ है, अन्य धर्मीय लोग तो काफर अर्थात् मोक्षप्राप्ती के लिये काफरोंको उनके धर्मसे पददलित करना, उनकी स्त्रियोंकी इज्जत आबू जन्नतके प्राप्तीके लिये करना और दानधर्म खैरात के लिये उनकी जानमाल धनदौलत की लूट करना यह जिनका फर्ज समझा जाता है और यह जिनका तत्वज्ञान है और इसी तत्वज्ञानके नियमोंके अनुसार जिनका क्रूर आचरण जारी है उनके स्वभावका वर्णन करनेका अधिक पाप सुविचारी हिंदू कभी भी भूलकरभी न करेंगे ।

हिंदूसमाजका दूसरा पडोसी इसाई समाज है। वह जो भी दिखनेमें भोलाभाला हिंदूके सादृश दिखता हो तो भी वह हिंदूके समान सच्चा भोलाभाला न होकर ' उपरकी तो टाम्टीम अंदर की जाने राम ' इसी कहावत के अनुसार दिखने में तो भोलाभाला लेकिन स्वभावसे बडाहि काला ऐसा है। इस खिश्चन समाजरूपी वृक्षको सचेतन करनेवाली उसकी अदृश्य जड ऐसी मजबूत और गेहरी है कि उसको खोजके साथ खोदकर देखते ही हिंदू समाज को एकदम मूर्छा आनेका संभव है। यह शक्ति उसे पाश्चात्य संस्कृतीसे मिली है। पाश्चात्य संस्कृति यह अन्य संस्कृतिओंको हमेशा गुलाम बनाया करती है— (Enslaving Culture) याता निर्मूल नष्ट करती है ऐसा संशोधनाचार्य राजवाडे कहते हैं।

बंगाल हायकोर्टके माजी जज्ज जॉन वुड्रॉफ कहते हैं कि पाश्चात्य संस्कृति यह एक असुरी संस्कृति है, राक्षसी संस्कृति है, बडी भुक्कड संस्कृति है। अर्थात् उसका अवतार आलम् दुनिया को कंठगत् करके साफ निगल जानेके लिये ही केवल है। साहेब बहादूरके खास शब्द इंग्लिश भाषामें "Great Eater" ऐसे ही हैं ।

पेरुदेश, मेक्सिकोदेश, अमेरिकाके खास रेड-इंडियन्स, दक्षिण आफ्रिका और हिंदुस्थान इन सब राष्ट्रोंसे पाश्चात्य संस्कृतीका जो कुछ संबंध परिचय हुआ उसपर दृष्टी फेरी जाय तो किसी भी विचार-वान् मनुष्य को उपरी संबोधन सत्यतापूर्ण मालूम पडेगा ! इन बातोंका तात्पर्य केवल इतनाही ख्याल में लेना चाहिये कि, हमारे पडोसीओंके विचित्रता-पूर्ण स्वभाव अच्छी तौरसे समझकर हिंदूसमाजके सामर्थ्यका विचार अवश्य करना चाहिये ।

हिंदूसमाज यह बहुत पुराना समाज है और उस के घटक सब वृद्ध शरीरके समान ढिलेढस और गलित बन रहे हैं उसको हमने आज पुनरुज्जीवित करके बलशाली प्रभावशाली और सत्ताशाली बना-कर छोडना चाहिये । हिंदूसमाजको निजघरपर अधिकार नहीं। और घरके बाहर कोई दयालू त्राता, संरक्षक तथा-(Body guard) बॉडी गार्डभी नहीं।

अन्य अहिंदू समाज सुसंगठित हैं, वे सत्ताशाली बने हुवे हैं। दुनियामें उन समाजोंके चालक तथा पुरस्कर्ते उनके सौभाग्यसे तरवार बहादूर हैं और इसी मुख्य कारण से अखिल हिंदूसमाज पर एक भीषण आपत्ती आयी हुई है ऐसा कहना हमारे दुर्भा-ग्य से प्राप्त हुआ है। इस आपत्तीसे उसने सिर उंचा करनेका सामर्थ्य दिखाया तो एक अपूर्व कार्यसिद्धी हुई ऐसा समझना चाहिये ।

मनुष्य प्राणी जब मृत्यु शय्यापर मृत्युसे झगडता है तब जीवकी रक्षा कैसी होगी इसी मुख्य हेतू की ओर उसकी कोशिश चालू रहती है नकी उसके बंडी धोती तथा ओढनेके वस्त्र दुशाले तरफ। ऐसी हाल-तमें उसने " पीछे से चली आयी " इस हटीले हट योग को त्यजना चाहिये और इस समय प्राण की रक्षा कैसी होगी इसी मुख्य हेतूकी पूर्णताके तरफ उसको झटपट लगना चाहिये। वैसेही हिंदू समाजने करना चाहिये । दुनियाके जो परधर्मीय मानव समूह हैं उनकी संख्याबल और सत्ताबल विचारमें लेने लायक है । अगर हिंदूसमाजके पास इनमेंसे एकभी साधन न हुवा तो हिंदूसमाज मृत्युसे फजूल झगड रहा है ऐसा ही कहना योग्य है ।

७२ कोट सत्ताशाली ख्रिश्चन समाज, पचास कोट सत्ता सामर्थ्यवान् पूर्वदिशाका बुद्धसमाज, हिंदुस्थानके बाहरके स्वतंत्र सत्तावान् ६कोट मुसल-मान समाज, और इन्हींके उत्तेजनसे खास हिंदुस्थान में रहनेवाले ७ कोट समाज चाहे जिस समय, बेध-डक चाहे जिससे, चाहे जैसा व्यवहार करते हुवे देखकर हिंदूसमाजके गलेको किस प्रकार दारुण फाँसी लगी हुई है इसकी स्पष्ट कल्पना हरेक भारत-पुत्र को हो सक्ती है ।

हिंदूसमाज समर्थ बनाने में सांप्रतकी हिंदकी स्थिति के तरफ सूक्ष्मतासे गोर करनेकी खास आवश्यकता है ।

"हमारे बाप जादे करते आये इसलिये हम शहा-जादोंनेभी उन्हींका अन्धानुकरण करना चाहिये ।" ऐसी मूर्खतादर्शक विचारसागरों में डूब मरनेके दिनों का हमने सुदिनोंमें रूपांतर करना चाहिये । इन विचारोंको हिमालय पहाड में भगाये बिना हम हिंदुस्थान समर्थ बनाने में बिलकुल असमर्थ और नालायक सिद्ध होंगे इसमें कोई शंका नहीं ।

हिंदूसमाजरूपी पुराने मकानको अगर उन्नत करना हो तो पुराना मसालाभी इस्तेमालमें लाना आवश्य है । मकान का पाया अगर मजबूत हो वह कायम रखना चाहिये । सिर्फ मट्टी, इटें, पत्थर मुख्य खंबे इनकी रचना ही केवल नूतन पद्धतीके अनुसार कराना चाहिये । एकादी पुरानी मयाल सडगयी हो यातो पुराना मुख्य खंब जीर्ण होगया हो तो उनकी जगह दूसरे नये और मजबूत उपयोगमें लाना चा-हिये। मकान वास्तुशांतिके लिये जैसे पुराने मका-नका एकादा खण पुरानाही(कायम) मोजूद रखकर जैसे बाकीका सारा मकान नया बनाते, बिलकूल लगभग वैसीही स्थिति हिंदू समाजकी होते चलीहै।

हिंदूसमाज समर्थ बनानेका विचार करने वालों की इस पद्धतीकी मनोभूमि यथार्थ मे चाहिये, इतना दर्शित करके यह प्रथम पुष्प समाप्त करता हूं ।

———

अगस्ति ऋषि का प्रचण्ड आन्दोलन।

अगस्ति ऋषि काशी (बनारस) के निवासी थे। वे भारी विद्वान् और तपस्वी थे। एक बार उनके मनमें आया कि वैदिक-धर्म का प्रसार करें। अतएव उन्होंने दक्षिण की ओर प्रस्थान किया। उस समय विंध्याचल को लांघना बहुत कठिन था। कारण यह था कि वहां घना जंगल था। पर अगस्ति ऋषि ऐसी कठिनाइयों से काहेको डरते थे? उन्होंने सब अडचनों को दूर कर दक्षिण में प्रवेश किया। वहां के जंगल कटवाए और उस भूमि को रहने योग्य बनाया। वाल्मिकी रामायण में लिखा है कि जब अगस्ति ऋषि दण्डक अरण्य को मनुष्य—वसती के योग्य बना रहे थे, तब राक्षसों ने उन्हे बहुत कष्ट पहुंचाया। परंतु अगस्ति ऋषिने उन सब को हराया और वहां गांव तथा नगर बसाए। उस समय इराबल और वातापी नाम के दैत्य बहुत प्रबल थे। उन्हे भी अगस्ति ऋषि के सन्मुख हार माननी पडी। वर्तमान 'ऐपोल' और 'बदामी' नगर इन राक्षसों की स्मृति अब भी कराते हैं।

दक्षिण हिंदुस्थान में अगस्ति ऋषिने केवल मत-प्रसार ही नहीं किया वरन् लोगों को कला-कौशल की भी शिक्षा दी। आयुर्वेद का प्रचार कर रोग-निवारण की विद्या दक्षिण के लोगों को सर्व प्रथम अगस्ति ऋषि ने ही सिखलाई। कहा जाता है कि इन्ही ने तामील भाषा का सुधार किया तथा द्रविड देश की वर्णमाला का संशोधन किया। मूर्ति-निर्माण और गृह निर्माण की कलाके विषय में उनका लिखा 'अगस्ति—संहिता' नामका ग्रंथ प्रसिद्ध ही है। उन्होने कई राजाओं को वैदिक-धर्म की दीक्षा दी। सारांश, दक्षिण में निवास कर उन्होंने लोगों को धर्म, विद्या और कला की शिक्षा दी।

परंतु इतने पर भी उन्हे, संतोष न हुआ। धर्म के प्रचारके लिए उन्होंने समुद्र लांघकर दूर के देशों में यात्रा की। दक्षिण हिंदुस्थान के निकटस्थ पूर्वीय द्वीपों में भी वे गये थे। शिलालेखों से पता चलता है कि वे कंबोडिया में भी गये थे। कंबोडिया देश में अंकोखर नामका एक स्थान है। वहां एक शिला लेख है। उस शिला लेख में इस प्रकार लिखा है:-

'ब्राह्मण अगस्त्य आर्य देश के निवासी थे। वे शैव मत के अनुयायी थे। उनमें अलौकिक शक्ति थी। उसीके प्रभाव से वे इतने दूर पहुंचे।' वायुपुराण में लिखा है कि वे बर्हिद्विप (बोर्नियो), कुशद्वीप वराहद्वीप और शांख्यद्वीप तक गये थे। ये सब द्वीप संभवतः बोर्नियो के पास के ही द्वीप हैं। जावा और सुमात्रा में तो वे पहले ही गये थे। इस से स्पष्ट है कि अगस्ति ऋषिने समुद्री यात्रा की और आर्य धर्म तथा आर्यकला प्रसारित करने का प्रयत्न किया। अगस्ति ऋषि के गोत्रके आज भी कई लोग हैं। परंतु वे क्या कर रहे हैं?

'अगस्ति ऋषि के समुद्र—प्राशन का भेद अब खुलेगा। जिसे ऐसे भारी समुद्र का तनिक भी भय न हुआ, जिसने उसकी पर्वाह न की, जिसने अनेक सागरों और महासागरों से यात्रा की। उसके इन कामों का यदि अलंकारिक वर्णन यों किया जाय की उसने वह समुद्र एक आचमन में प्राशन किया, या अंजली में ले लिया, तो उसमें आश्चर्य ही क्या? आतापी वातापी आदि राक्षसों की कथाएं भी इसी प्रकार अलंकारिक हैं। ऊपर लिखे अनुसार उसमेंजो इतिहास है अर्थात् उन राक्षसों को हराने का इतिहास, वह सत्य है।

हमारे पुराण ग्रंथों में और प्राचीन काल के अन्य ग्रंथों में ऐसी अनेक अजीब कथाएं हैं। यदि कोई चिकित्सक उनकी गूढ बातों को स्पष्ट करने का प्रयत्न करेंगे तो लोगों का बडा भारी भ्रम दूर होगा।

'अगस्ति' का नाम 'कुंभज, कुंभयोनि' है। इन शब्दोंका संबंध 'कंबोज, कैंबोडिया' आदि ग्राम-नामोंके साथ स्पष्ट दिखाई देता है। इस नाम के द्वीप प्रदेश दक्षिण समुद्रमें हैं। इन शब्दोंका विचार किया जाय तो अगस्ति ऋषिके वैदिकधर्म प्रचार का बडा भारी इतिहास उपलब्ध हो सकता है। यदि कोई पुराणी कथाओंकी खोज करना चाहें तो इस रीतिसे करना चाहिये।

देश-हित का मूल मन्त्र ।

[ते शतं हि वयं पञ्च परस्परविवादने । परैस्तु विग्रहे प्राप्ते वयं पञ्चाऽधिकं शतम् ॥]

इस श्लोक के सम्बन्ध में एक किस्सा है। किसी समय एक मनुष्यने पाण्डवों के ज्येष्ठ भ्राता धर्मराज युधिष्ठिर से प्रश्न किया कि 'शत्रू से लडने का मौका आने पर कौरवों के प्रति आपका बर्ताव किस प्रकार का होगा?' तब धर्मराजने कहा 'जब कौरवों से लडने का प्रसंग हो तब वे सौ हैं और हम पांच, किन्तु जब किसी अन्य शत्रू से मुकाबला हो तो (हम और वे मिलकर) एकसौ पांच हैं।' इस छोटी सी कथा में धर्मराजजी ने जो सिद्धान्त बतलाया है, वह राजनैतिक क्षेत्र में तथा सामाजिक क्षेत्र में अत्यन्त उपयोगी प्रतीत होगा। यह सिद्धान्त अतीव महत्व का है। राजनैतिक क्षेत्र में इस सिद्धान्त की महत्ता ऐसी भारी है कि इसे यदि राजनीति शास्त्र का मूल सिद्धान्त कहें तो अतिशयोक्ति न होगी। भारतवर्ष की वर्तमान दशा का कारण है इस सिद्धान्त का विस्मरण। भारतवर्ष का इतिहास यही कहता है कि यदि भारतवासी इस सिद्धान्त को न भूलते तो वे अपनी स्वतन्त्रता कभी न खो बैठते। जयचन्द राठोर का शहाबुद्दीन गोरी को अपने सम्बन्धी पृथ्वीराज के विरुद्ध लडने को बुलाना क्या सिद्ध करता है?

भारतवर्ष का ही यह हाल है, संसार के अन्यान्य देशोंका हाल कुछ और ही है यह नहीं। संसार का इतिहास यही कहता है कि जो जो देश पराधीनता की बेडियों से जकडे हुए नजर आते हैं, वे सब इस सिद्धान्त को भूलकर ही ऐसी आफत में पडे हैं। यह एक रोग है। स्वतन्त्र राष्ट्र इस रोग से चार हात दूर ही रहने की कोशिश करते हैं। जो देश पराधीन हैं और स्वाधीन होना चाहते हैं वे इस रोगकी जड नष्ट करनेकी चेष्टा करते हैं। यही कारण है कि दूर-दृष्टि रखनेवाले विद्वान नेता कहते हैं, यदि असहयोग का आन्दोलन देशमें जारी रखना हो, तो आपसमें सहयोग करो। क्या हमारे भारतवासी भाई नेताओं के इस उपदेश की ओर ध्यान देवेंगे?

आदरणीय ग्रंथ—"मुस्लिम महात्माओ"

अमदाबाद के "सस्तुं साहित्य वर्धक कार्यालय" की ओरसे "मुस्लिम महात्माओ" नामक अत्यंत प्रशंसा योग्य पुस्तक गुजराती भाषामें प्रकाशित हुआ है, जिसकी विशेष प्रशंसा कियेविना हम रह नहीं सकते। इस संस्थाके संशोधक और प्रचारक श्री० भिक्षु अखंडानंदजी महाराज निःसंदेह ऐसे प्रशंसायोग्य कार्य करनेके लिये अभिनंदन करने योग्य हैं। "मुस्लिम महात्माओ" इस ग्रंथके अनुवादक श्री. पाठक जगजीवन कालिदासजी भी उक्त कारण सन्मानके योग्य हैं।

आज कल "मस्जिदके सामनेका बाजा" और "गौकी कुर्बानी" के विषयोंपर नयी रीतिसे मुसलमान चारों ओर अटक गये हैं और विशेष कारणके विनाही झगडा छेड बैठते हैं; इस लिये चारों ओर इनके विरुद्ध लोकमत प्रक्षुब्ध हुआ है। यह विचित्र सामयिक अवस्था मुसलमानोंने बनायी है, तथापि सनातन वैदिकधर्मकी दृष्टि ऐसी सामयिक अवस्थाओंसे दूषित नहीं हो सकती और सामयिक कारणों के कारण दूसरी जातीके महात्माओं और संतों का सन्मान करनेका भाव वैदिक धर्मीके अंतःकरण से दूर नहीं हो सकता। इसका प्रत्यक्ष प्रमाण पाठकइस ग्रंथमें देख सकते हैं। दूसरोंके उपासना मंदीर गिराना, दूसरोंके धर्मग्रंथ जलाना और दूसरोंके सन्तोंका निरादर करना ये घृणित कार्य इस समयतक सनातन वैदिक धर्मीयोंने किये नहीं हैं। इसका कारण वैदिकधर्मीयोंकी परम सहिष्णुता ही है। इस पुस्तकमें ९२ मुस्लिम महात्माओं के चरित्र और १३०० उनके वचनामृत संगृहित किये हैं। पुस्तक निःसंदेह उत्तम है और विवेचन पद्धति अत्यंत अनुकरणीय है। पृष्ठ संख्या ५५० और मूल्य १।।।) है।

हमारे धर्म के आधार ग्रन्थ।

जितने धर्म प्रचलित हैं, उन सबको अपने अपने आधार ग्रन्थ हैं। मुसलमानी धर्म का पवित्र ग्रन्थ 'कुरान' है, ईसाई धर्म का पवित्र ग्रन्थ 'बाइबिल' है और पारसी धर्म का आधार ग्रन्थ 'जेन्दावेस्ता' है। अन्य धर्मों के भी अलग अलग ग्रन्थ हैं। इसी तरह सनातन वैदिक धर्म का आधार ग्रन्थ 'वेद' है। इसी लिए इस धर्म को 'वैदिक' धर्म कहते हैं। वेदों में बताया हुआ यह धर्म है इसी लिए इसका नाम वैदिक धर्म है।

'वेद' ग्रन्थ के सम्बन्ध में नए और पुराने विद्वानों में बहुत मत भिन्नता है। इस लेख में क्रम से इसी का विचार कर्तव्य है।

पुराने लोग मानते हैं कि वेद परमेश्वर का बतलाया हुआ ज्ञान है। इसी लिए वे वेद का गौरव करते हैं, आधुनिक विद्वान उसे जंगली लोगों का गीत समझते हैं। विचार करने लायक बात है कि एक ही ग्रन्थ के सम्बन्ध में ऐसे विरोधी मत किस प्रकार बनते हैं। इन मतों में से सत्य कौन है और असत्य कौनहै इसका विचार इस छोटे से लेख में नहीं कर सकते। इस लिए इस विषय को किसी अन्य समय के लिए रख छोडें और यहाँ यह देखें कि वेद का रूप कैसा है—

एक एव पुरा वेदः प्रणवः सर्ववाङ्मयः ॥
देवो नारायणो नाऽन्य एकोऽग्निर्वर्ण एव च ॥
श्री० भागवत ९।१४।४८

भागवतकार का यह वचन कि 'प्रथम वेद एक ही था' विचार करने योग्य है। प्रथम वेद एकही था किन्तु अब तो चार वेद हैं। देखना होगा कि क्या यह विरोध है। साधारणतः यह विरोध स्पष्ट है। पहले के एक वेद के चार वेद बने हैं और हर एक को अपने अपने वेद का अभिमान है। किन्तु वर्तमान समय में हाल यह है कि चार वेदों से मिलकर जो 'एक वेद' है उसका किसी को पता भी नहीं है।

शास्त्रोंने त्रैवर्णिकों को वेद का अधिकार दिया है। किन्तु वर्तमान समय में थोडे से ब्राह्मणों के आधार से ही वेद जीवित है। इस स्थिति के लिए कारण कोई भी हुआ हो, इसमें संदेह नहीं कि वर्तमान स्थिति ऐसी है।

वर्तमान समय में जो वेदपाठ करनेवाले हैं उनसे पुछा जाय तो कोई कहते हैं हम ऋग्वेदी हैं इससे ऋग्वेद का अध्ययन करते हैं, दूसरे कहते हैं हम यजुर्वेदी हैं इस लिए यजुर्वेद रटते हैं। इसी तरह सामवेद तथा अथर्व वेद का हाल है। सम्पूर्ण वेद का अभिमान रखकर उसका अध्ययन कोई भी नहीं करता। हर एक अपने हिस्से में आये हुए वेद के भाग का अभिमान करते हैं।

उत्तरहिंदुस्थान में 'दुबे चौबे' आदि नाम हैं। चौबे शब्द 'चतुर्वेदी' शब्द का अपभ्रंश है जिनका नाम चौबे है उनके कुल में प्राचीन कालमें चार वेदों का अध्ययन होता था। इसी तरह 'तिवारी' के कुल में तीन वेदों का अध्ययन होता था। इसी लिए उन्हे उस समय 'त्रिवेदी' कहते थे। 'दुबे' के कुल में दो वेदों का अध्ययन होता था इससे वे 'द्विवेदी' कहलाते थे। किन्तु अब ऐसी हीन दशा आगई है कि वेदों की बात तो दूर ही रही 'चतुर्वेदी, त्रिवेदी, द्विवेदी' आदि नाम भी मिट गए हैं और उनके बदले 'चौबे, तिवे, दुबे' आदि नामों में ही उन्हें भूषण सा मालूम होता है।

सब मिलकर पहले एक वेद था। उसका अध्ययन करने वालों को 'वेदी' कहते थे। 'वेदी' नाम के कुटुम्ब युक्त प्रान्त और पंजाब में बहुत हैं। इस से स्पष्ट है कि उनके कुल में प्राचीन काल में पूर्ण वेद का अध्ययन होता था।

वेद के अध्ययन की हालत आज क्या है सो छिपी नहीं है, इससे इस संबंध में अधिक कहने की आवश्यकता नहीं है। कहना यही है कि पहले चारों वेदों का अध्ययन करनेवाले ब्राह्मण थे। वर्तमान समय के सदृश एक एक वेद पर अभिमान करने वाले न थे।

प्रातःकालमें भगवान्‌की प्रार्थना।

[१६]

(ऋषिः— अथर्वा । देवता—बृहस्पतिः, बहुदेवत्यम्)

प्रातरग्निं प्रातरिन्द्रं हवामहे प्रातर्मित्रावरुणा प्रातरश्विना ।
प्रातर्भगं पूषणं ब्रह्मणस्पतिं प्रातः सोममुत रुद्रं हवामहे ॥ १ ॥
प्रातर्जितं भगमुग्रं हवामहे वयं पुत्रमदितेर्यो विधर्ता ।
आध्रश्चिद् यं मन्यमानस्तुरश्चिद् राजा चिद् यं भगं भक्षीत्याह ॥२॥

अर्थ— (प्रातः अग्निं) प्रातः काल अग्निकी, (प्रातः इन्द्रं) प्रातः काल में इन्द्रकी, (प्रातः मित्रावरुणौ) प्रातः कालके समय मित्र और वरुणकी, तथा (प्रातः अश्विनौ) प्रातः काल अश्विनी देवोंकी (हवामहे) हम स्तुति करते हैं। (प्रातः पूषणं ब्रह्मणस्पतिं भगं) प्रातः काल पूषा और ब्रह्मणस्पति नामक भगवान् की (प्रातः सोमं उत रुद्रं हवामहे) प्रातः काल सोम और रुद्र की हम प्रार्थना करते हैं॥ १ ॥

(वयं प्रातर्जितं अदितेः उग्रं पुत्रं भगं हवामहे) हम प्रातः कालके समय अदितिके विजयी शूर पुत्र भग की प्रार्थना करते हैं, (यः विधर्ता) जो विशेष प्रकार धारण करनेवाला है। (आध्रः चित) अशक्त भी और (तुरः चित् यं) बलवान् भी जिसको तथा (राजा चित्) राजाभी (यं मन्यमानः) जिसका सन्मान करता हुआ ('भगं भक्षि' इति आह) 'धनका भाग मुझे दे' ऐसा कहता है॥ २ ॥

भावार्थ—प्रातः कालमें हम अग्नि, इन्द्र, मित्रावरुणौ, अश्विनौ, पूषा, ब्रह्मणस्पति, सोम और रुद्र नामक भगवान् की प्रार्थना करते हैं॥ १ ॥

हम इस प्रातःकालके समय अदीनताके वीर भगवान् की प्रार्थना करते हैं, जो भगवान् सबका विशेष प्रकारसे धारण करनेवाला है और जिसको अशक्त और सशक्त, रंक और राजा, सभी एक प्रकारसे परम पूज्य मानते हुए, 'अपनेको भाग्यवान्' करनेकी इच्छासे प्रार्थना करते हैं॥२॥

भग प्रणेतर्भग सत्यराधो भगेमां धियमुदवा ददन्नः ।
भग प्र णो जनय गोभिरश्वैर्भग प्र नृभिर्नृवन्तः स्याम ॥ ३ ॥
उतेदानीं भगवन्तः स्यामोत प्रपित्व उत मध्ये अह्नाम् ।
उतोदितौ मघवन्त्सूर्यस्य वयं देवानां सुमतौ स्याम ॥ ४ ॥
भग एव भगवाँ अस्तु देवस्तेना वयं भगवन्तः स्याम ।
तं त्वा भग सर्व इज्जोहवीमि स नो भग पुरएता भवेह ॥ ५ ॥

अर्थ- हे (भग) भगवन् ! हे (प्र-नेतः) बडे नेता ! हे (सत्यराधः भग) सत्य सिद्धिदेनेवाले प्रभो ! (इमां धियं ददत नः उत् अव) इस बुद्धिको देता हुआ तू हमारी रक्षा कर । हे (भग) भगवन् ! (गोभिः अश्वैः नः प्रजनय) गोओं और घोडोंके साथ संतानवृद्धि कर । हे (भग) भगवन् ! हम (नृभिः नृवन्तः स्याम) अच्छे मनुष्योंके साथ रहकर मनुष्योंसे युक्त होवें ॥ ३ ॥

(उत इदानीं भगवन्तः स्याम) हम इस समय भाग्यवान होवें (उत प्रपित्वे उत मध्ये अह्नाम्) और सायंकालमें भी और दोपहरमें भी । हे (मघवन्) भगवन् ! (उत सूर्यस्य उदितौ) और सूर्यके उदयके समय (वयं देवानां सुमतौ स्याम) हम देवोंकी सुमतिमें रहें ॥ ४ ॥

(भगवान् भगः देवः अस्तु) भगवान् भगदेव मेरे साथ होवे (तेन वयं भगवन्तः स्याम) उसकी सहायतासे हम भाग्यवान् होवें । (हे भग) भगवन् ! (तं त्वा सर्वः इत् जोहवीमि) उस तुझको मैं सब रीतिसे भजता हूं (भग) भगवन् ! (सः नः पुरएता इह भव) वह तू हमारा अगुवा यहां हो ॥ ५ ॥

भावार्थ—हे हम सबके बडे नेता ! हे सत्य सिद्धि देनेवाले प्रभो ! हे भगवन् ! हमारी इस शुद्ध बुद्धिकी वृद्धि करता हुआ तू हमारी रक्षा कर । गौओं और घोडोंकी वृद्धिके साथ साथ हमारी संतान वृद्धि होने दें । तथा हमारे साथ सदा श्रेष्ठ मनुष्य रहें, ऐसा कर ॥ ३ ॥

हम प्रातः काल, दोपहरके समय और सायंकालके समय ऐसे शुभकर्म करें कि जिससे हम भाग्य शाली बनते जांय । हम सूर्यके उदयके समय देवोंकी उत्तम मतिके साथ युक्त हों ॥ ४ ॥

भगवान् परमेश्वर हमें भाग्य देनेवाला होवे, उसकी कृपासे हम भाग्यशाली बनें । हे भगवन् ! हम सब तेरा भजन करते हैं, इससे तू प्रसन्न हो और हम सबको योग्य मार्गपर चलानेवाला हमारा मुखिया बन॥ ५ ॥

सम॑ध्व॒राये॒षसो॑ नमन्त दधि॒क्रावे॑व॒ शुच॑ये प॒दाय॑।
अ॒र्वा॒ची॒नं व॑सु॒विदं॒ भगं॑ मे॒ रथ॑मि॒वाश्वा॑ वा॒जिन॒ आ व॑हन्तु ॥ ६ ॥
अश्वा॑वती॒र्गोम॑तीर्न उ॒षासो॑ वी॒रव॑ती॒ः सद॑मुच्छन्तु भ॒द्राः।
घृ॒तं दुहा॑ना वि॒श्वत॒ः प्रपी॑ता यू॒यं पा॑त स्व॒स्तिभि॒ः सदा॑ नः ॥ ७ ॥

अर्थ —(उषसः अध्वराय संनमन्त) उषायें यज्ञके लिये उत्तम प्रकार झुकती रहें। (शुचये पदाय दधिक्रावा इव) जिसप्रकार शुद्ध स्थानपर पद रखनेके लिये घोडा चाहता है। (वाजिनः अर्वाचीनं वसुविदं भगं मे आ-वहन्तु) घोडे इस ओर धनवाले भगवानको मेरे पास ले आवें (अश्वाः रथं इव) जैसे घोडे रथको लाते हैं ॥ ६ ॥

(अश्वावतीः गोमतीः वीरवतीः भद्राः उषासः) घोडे गौएं और वीरों-से युक्त कल्याणमयी उषायें (नः सदं उच्छन्तु) हमारे घरोंको प्रकाशित करें। (घृतं दुहानाः) घीको प्राप्त करते हुए (विश्वतः प्रपीताः) सब प्रकार हृष्टपुष्ट होकर (यूयं स्वस्तिभिः सदा नः पात) तुम सब अनेक कल्याणोंके साथ सदा हमारी रक्षा कर ॥ ७ ॥

भावार्थ--उषःकालका समय अहिंसामय अकुटिल सत्कर्मकी दिशाकी ओर झुक जाय और उन कर्मोंसे धनवान् भगवान् हमारे अधिक सन्निध होते जांय ॥ ६ ॥

जिन उषाओंके समय घोडे गौएं और वीरपुरुष उत्साहसे कार्योंमें लगे होते हैं ऐसी उषाएं हमारे घरोंको प्रकाशित करें। और ऐसी ही उषायें घृतको प्राप्त करती हुई और सबको दुग्ध पान कराती हुई अनेक कल्या-णोंके साथ हम सबकी रक्षा करें ॥ ७ ॥

प्रातःकालमें भगवान्की प्रार्थना।

प्रातःकाल उठकर प्रभुकी प्रार्थना करना चाहिये। अपना मन शुद्ध और पवित्र बनाकर एकाग्रताके साथ यह प्रार्थना होनी चाहिये। इस समय मनमें कोई विरोधका विचार न उठे और परमेश्वर की भक्तिका विचार ही मनमें जागता रहे। ऐसे शुद्ध भावसे उषाके पवित्र समयमें की हुई प्रार्थना परमेश्वर देव सुनते हैं। इसी लिये —

सबका उपास्य देव।

आध्रश्चिद्यं मन्यमानस्तुरश्चिद्राजा चिद्यं भगं भक्षीत्याह ॥ (मं० २)

इस समय "निर्बल और बलवान्, प्रजाजन और राजा समान भावसे प्रभुका आदर करते हुए उसकी प्रार्थना करते हैं और उसके पास अपने भाग्यका भाग मांगते हैं।" क्योंकि निर्बल और बलवान्, शासित और शासक ये उसके सन्मुख समान भावसेही रहते हैं। इस मंत्रके शब्द अधिक विचारकी दृष्टिसे देखने योग्य हैं इस लिये उन शब्दोंके अर्थ अब देखिये—

१ आध्रः— आधार देने योग्य, जिसको दूसरेके सहारे की आवश्यकता होती है, निर्बल, अशक्त, निर्धन।

२ तुरः— त्वरायुक्त, शीघ्रतासे कार्य करनेवाला, वेगवान्, आगे बढनेवाला, बलवान्, सामर्थ्यवान्, धनवान्, अपनी शक्तिसे आगे बढनेवाला।

३ राजा— शासन करनेवाला, हुकुमत करनेवाला, दूसरोंपर अधिकार करनेवाला।

इस राजा शब्दके अनुसंधानसे यहां शासित होनेवाली प्रजाका भी बोध होता है। निर्बल, अशक्त, निर्धन, शासित, आदि लोग तथा बलशाली, समर्थ, धनी और शासन करने वाले लोग ये सब यद्यपि जगत्में साधारण दृष्टिसे नीच और उच्च समझे जाते हैं तथापि जगन्नियन्ता प्रभुके सन्मुख ये समान भावसे ही रहते हैं, उसके सामने न कोई उच्च है और न कोई नीच है, इसलिये उस प्रभुकी प्रार्थना जैसा दीन मनुष्य करता है उसी प्रकार राजा भी करता है, और दोनों उसकी कृपासे अपने भाग्यकी वृद्धि होगी ऐसाही समझते हैं। इस प्रकार यह भगवान् परमपिता सब का एक जैसा पालक है। यह—

यः विधर्ता। (मं० २)

"सबका विशेष रीतिसे धारण करनेवाला है" अन्य साधारण धारणकर्ता बहुत हैं, परंतु यह प्रभु तो धारकोंका भी आधार है, इसी लिये इसको विशेष धारक कहते हैं। यह—

प्रातर्जितं अदितेः पुत्रं भगं। (मं० २)

"(प्रातः जितं) प्रातःकालमें ही विजयी है, अर्थात् अन्य वीर तो युद्ध करेंगे और पश्चात् विजयी होंगे, इस कार्यके लिये उनको विजय कमानेके लिये कुछ समय अवश्य लगेगा, वैसा इसके लिये नहीं है। यह तो सदा विजयी ही है, काल शुरू होनेका प्रारंभ उषःकालसे होता है, उस उषःकालके प्रारंभ में ही यह विजयी होता है अर्थात् पश्चात् तो इसका विजय होगाही, परंतु इसका प्रारंभसेही विजय हुआ है, यह बात यहां बतायी है।

अदीनताका रक्षक।

" दिति " नाम पराधीनता या दीनताका है और " अ-दिति" का अर्थ है स्वतंत्रता, स्वाधीनता या अदीनता। इस स्वाधीनताका यह (पु-त्र=पुनाति च त्रायते च इति पुत्रः) पवित्रता युक्त तारण करनेवाला है। इसी लिये यह भाग्यवान् होनेसे "भग" कहलाता है। जो कोई इस पवित्रताके साथ स्वाधीनताकी रक्षा करेगा वह भी भाग्यवान् होगा और ऐश्वर्यवान् भी होगा। " अ-दितिका पुत्र " होना बडे पुरुषार्थका कार्य है, यह साधारण बात नहीं है। परमात्मा तो स्वयंसिद्ध स्वाधीनताका रक्षक है, इस लिये उसको यह सिद्धि स्वभावसे ही सिद्ध है अर्थात् विना प्रयत्न प्राप्त है। पुरुषार्थी मनुष्य अपने पुरुषार्थसे स्वाधीनताका रक्षक होता है, इसको यह सिद्धि परमात्मोपासनासे ही प्राप्त हो सकती है। इसकी उपासना कौन किस रूपमें करते हैं इसका वर्णन प्रथम मंत्रमें दिया है—

उपासनाकी रीति।

" अग्नि इन्द्र, मित्र, वरुण, अश्विनी, पूषा, ब्रह्मणस्पति, सोम, रुद्ररूप भग की हम उपासना करते हैं। (मं० १) " यह इस मंत्रका कथन है। एक ही परमात्म देवके ये गुण बोधक विशेषण हैं। इस सूक्तमें " भग " अर्थात् ऐश्वर्य की प्रधानता होनेसे इस सूक्तमें " भग " शब्द मुख्य और अन्य शब्द उसके विशेषण हैं। परंतु यदि किसीको अन्य गुणोंकी उपासना करनी हो तो उस गुणका वाचक शब्द मुख्य मान कर अन्य शब्दों को उसके विशेषण माना जा सकता है। जैसा- (१)भाग्यप्राप्ति की इच्छा करनेवाला " भग " नामको मुख्य मान कर उपासना करे। (२) ज्ञान प्राप्तिकी इच्छा करने-वाला " ब्रह्मणस्पति " नामको मुख्य मानकर उपासना करे। (३)प्रभुत्वका सामर्थ्य चाहनेवाला " इन्द्र " नामको मुख्य मान कर उसीकी उपासना करे। (४) पुष्टि चाहने वाला " पूषा " नामको मुख्य मान कर उसकी उपासना करे। (५) शांति चाहनेवाला " सोम " नामको मुख्य मान कर अन्य नामोंको उसके विशेषण माने और उपासना करे। (६) उग्रताकी इच्छा करनेवाला " रुद्र " नामको मुख्य मानकर उपासना करे, इसी प्रकार अन्यान्य नामोंको मुख्य या गौण अपनी कामना के अनुसार माने और उसी प्रभुकी उपासना कर अपनेमें उस गुणकी वृद्धि करे। उसी एक प्रभुके ये नाम हैं, क्यों कि "एक ही प्रभुके अग्नि आदि अनेक नाम होते हैं, एकही सद्वस्तुका कवि लोग भिन्न भिन्न नामोंसे वर्णन करते हैं" इस वैदिक शैलिके अनुसार इस प्रथम

मंत्रमें आये सब शब्द एकही परमात्माके वाचक हैं। इस कारण किसी गुणको प्रधान मान कर प्रभुकी उपासना की जाय तो उसीकी उपासना होती है और जिस गुणका चिन्तन किया जाय उसीकी वृद्धि होती जाती है। मन जिसका ध्यास लेता है वह गुण मनमें बढता है, इस नियमके अनुसार यह उपासना होती है। इन गुणोंका चिंतन करनेकी सुविधा होने के लिये यहां इन शब्दोंके विशेष अर्थ देते हैं—

१ अग्निः— तेज, प्रकाश, उष्णता, और गति करनेवाला।

२ इन्द्रः-- शत्रुओंको दूर करनेवाला, ऐश्वर्यवान्, नियामक, शासन करनेवाला, राजा।

३ मित्रः— मित्र दृष्टिसे सबोंपर प्रेम करनेवाला सबका हित करनेवाला।

४ वरुणः- श्रेष्ठ, निष्पक्षपाततासे सत्यासत्यका निरीक्षण करनेवाला, वरिष्ठ।

५ अश्विनौ-धन और ऋण शक्तिसे युक्त, वेगवान्। सर्व व्यापक, सर्वत्र उपस्थित।

६ भगः— भाग्यवान्, ऐश्वर्य युक्त, धनवान्।

७ पूषा— पोषक, पुष्टि करनेवाला।

८ ब्रह्मणस्पतिः—ज्ञानका स्वामी, ज्ञानी।

९ सोमः— शांत, आल्हाद दायक, कलानिधि, कलावान्, मधुर, प्रसन्नता करनेवाला।

१० रुद्रः-- उग्र, प्रचण्ड, भयानक, गर्जना करनेवाला, वीर, शूर, वीरभद्र, शत्रु-विध्वंसक वीर, शत्रुको रुलानेवाला।

प्रथम मंत्रोक्त दस शब्दोंके ये अर्थ हैं। पाठक इन शब्दों के मननसे प्रभुकी उपासना कर सकते हैं। जिस गुणको अपनेमें बढानेकी इच्छा हो उस गुण वाचक शब्दसे प्रभुका ध्यान करना और अन्य शब्द उसीके गुणबोधक विशेषण मानना यह उपासनाकी रीति है। इस प्रकार मनन और निदिध्यासन करनेसे मनका वायुमंडल ही उस प्रकारका बनता है और आवश्यक गुण मनमें विकसित होने लगता है। यहां पाठक स्मरण रखें कि,अपनी उन्नतिके लिये अपने मनके अंदरका वायु मंडल वैसा बनानेकी आवश्यकता है, इसी लिये तृतीय मंत्रमें कहा है—

धारणा।

इमां धियं ददन्नः उदव। (मं०३)

" इस बुद्धिको बढाते हुए हमारी उन्नत अवस्था करके हमारी रक्षा कर" यहां प्रार्थनामें धन नहीं मागा है, परंतु "बुद्धि" मांगी है, यह " धारणावती बुद्धि " जो

कर्म शक्तिसे युक्त रहती है वह है, यह बात विशेष रीतिसे ध्यानमें धरना आवश्यक है। भाग्य प्राप्त करना हो, धन ऐश्वर्य बढाना हो अथवा प्रभुत्व संपादन करना हो, तो इस सबके लिये पुरुषार्थ करनेमें समर्थ धारणावती बुद्धिकी आवश्यकता है, इसके विना उन्नति असंभव है। धी शब्दमें जैसा बुद्धिमत्ता का भाव है उसी प्रकार पुरुषार्थमयी कर्म शक्तिका भी भाव है यह भूलना नहीं चाहिये। यह धी जितनी बढेगी उतनी मनुष्यकी योग्यता बढ जाती है। जिस बुद्धिमें ज्ञान शक्ति पुरुषार्थ शक्तिके साथ संमिलित रहती है वह बुद्धि हमें चाहिये यह इच्छा "इमां धियं" शब्दोंमें है। प्रथम और द्वितीय मंत्रोंमें जो बुद्धि और कर्म शक्ति विकसित करनेका उपदेश किया गया है वह बुद्धि यहां तृतीम मंत्रमें (इमां धियं ददन्) 'इस बुद्धिको दो' इन शब्दोंमें मांगी है। यहां प्रश्न होता है कि कौनसी बुद्धि प्रथम द्वितीय मंत्रोंमें कही है? इसका उत्तर उक्त मंत्रोंके मनन से मिल सकता है। मनन करनेके लिये इससे पूर्व शब्दार्थ दिये ही हैं, परंतु विशेष स्पष्टता के लिये यहां थोडासा स्पष्टी करण करते हैं—

उपासना –(और उससे सिद्ध होनेवाली)– धारणा।

मंत्रका शब्दार्थ –(और उससे उद्दीपित होनेवाला)– बुद्धिका भाव।

प्रथम मंत्र।	(१)
(अग्निं) तेजस्वी, परंतु (सोमं) शांत मीठे स्वभाववाले (मित्रा–वरुणौ) मित्र दृष्टिसे सबको देखनेवाले और निष्पक्षपाती होकर सत्यासत्य देखनेवाले (पूषणं) पोषण कर्ता (ब्रह्मणस्पतिं) ब्रह्म ज्ञानी देव की प्रार्थना मैं प्रातःकाल में करता हूं।	(१) मैं तेजस्वी बनूंगा, परंतु (२) शांत और मीठा स्वभाव धारण करके(३) मित्र दृष्टिसे सब भुतमात्रको देखूंगा, (४) निष्पक्षतासे सत्यासत्यकी परीक्षा करूंगा, (५) अन्योंको यथाशक्ति सहायता देकर उनका पोषण करूंगा और (६) अपने अंदर ज्ञान बढाऊंगा।
(अश्विनौ) वेगवान् धनऋण शक्तिवाले और (रुद्रं) शत्रुको रुलानेवाले (भगं) भाग्य युक्त (इन्द्रं) शत्रुओंको दूर करनेवाले शासन कर्ता प्रभुकी मैं प्रातःकालके समय प्रार्थना करता हूं।	(१) मैं अपना वेग बढाकर (२) शत्रुको रुलाने योग्य पराक्रम युद्ध भूमिपर करूंगा और (३) भाग्यवान् बनकर अपने सब शत्रुओंको दूर करके उत्तम व्यवस्थासे शासन करूंगा।

द्वितीय मंत्र ।

(प्रातर्जितं) नित्य विजयी (उग्रं) उग्र शूरवीर प्रभुकी मैं प्रातःकाल प्रार्थना करता हूं । इसी प्रभुकी भक्ति अशक्त और सशक्त, रंक और राजा सभी करते हैं और अपने भाग्य का भाग उससे मांगते हैं, क्योंकि वह (विधर्ता) सबका धारक और (अदितेः) बंधन रहित अवस्थाका (पु-त्रः) पावन कर्ता और तारण कर्ता है ।

(२)

मैं प्रातः कालमें अपने विजय साधन का विचार करता हूं, उसके लिये आवश्यक उग्रता धारण करूंगा और परमेश्वर भक्ति पूर्वक अपनी अदीनता और स्वाधीनता की रक्षा के लिये अहर्निश यत्न करूंगा तथा अपने अंदर सब प्रकारकी पवित्रता बढाता हुआ अपने अंदर रक्षक शक्ति भी बढाऊंगा ।

उपासनाके मंत्रोंसे धारणा किस प्रकार होती है यह रीति यहां दी है । पुत्र पिताके समान बनता है, पिता करता है वह पुत्र करने लगता है, यही बात परम पिताके गुणगानके संबंधसे होती है । क्यों कि इस जीवात्मरूप "अमृत पुत्र" ने परमात्माके समान सच्चिदानन्द स्वरूपको प्राप्त करना ही है, उसी मार्गपर यह चल रहा है और इसी लिये वह उपासना करता है ।

(१) " परमेश्वर ज्ञानी है " इतना वाक्य कहतेही मनमें भावना उठती है कि " मैं भी ज्ञानी बनूंगा और अधिक ज्ञान प्राप्त करूंगा । " (२) " परमेश्वर शत्रुनिवारक है " इतना कहते ही मनमें भावना उठती है कि "मैं भी शत्रुओंका निवारण करके शत्रुरहित हो जारूं । ' (३) इसी प्रकार "परमेश्वर ऐश्वर्यमय है" इतना कहते ही मनमें भावना उठती है कि " मैं भी ऐश्वर्य कमानेका पुरुषार्थ करूं । " (४) इसी रीतिसे "परमेश्वर इस सब विश्वका कर्ता है " इतना कहते ही मनमें यह भावना खडी होती है कि " मैं भी कुछ हुनर बनाऊं । " इसी प्रकार अन्यान्य उपासनाका धारणासे संबंध है । यह जो बुद्धिमें स्थिररूपसे विशिष्ट विचार की भावना जम जाती है उसका नाम "धी" है। पाठक अब समझ गये होंगे कि प्रथम और द्वितीय मंत्रकी उपासनासे जो धारणावती बुद्धि बनती है वह कर्ममयी ज्ञान शक्ति कैसी है और वह मनुष्य मात्रका उद्धार करने के लिये किस प्रकार सहायक हो सकती है । (इमां धियं ददन् नः उत अव ॥मं० ३ ॥) "इस धारणावती बुद्धिको देकर हमारी उन्नती करते हुए हमारी रक्षा कर ' इस तृतीय मंत्रके उपदेशमें कितना महत्त्व पूर्ण भाग है, इसका विचार पाठक करें और

इस ढंगसे मंत्रोंकी उपासनामय वाणीसे अपने उद्धारका मार्ग जान कर पाठक अपने अभ्युदय और निःश्रेयसका साधन करें।

सत्यका मार्ग ।

तृतीय मंत्रमें " प्रणेतः " और " सत्यराधः " ये दो शब्द विशेष महत्त्व के हैं। " प्र-नेता " का अर्थ " उत्कर्ष की ओर ले जानेवाला नेता " तथा " सत्य-राधः " का अर्थ " सत्यके मार्गसे सिद्धि प्राप्त करनेवाला " है। ये दोनों शब्द परमात्माके गुण बता रहे हैं। परमात्मा सबको उन्नतिके मार्गकी ओर ले जा रहा है और सत्य मार्गसे ही सबको सिद्धि देता है, इसलिये ये दो शब्द परमात्मामें सार्थ होते हैं। ये दो शब्द मनुष्योंके वाचक भी होते हैं, उस समय इनका अर्थ बडा बोधप्रद है। मनुष्य तथा मनुष्योंके नेता इन शब्दोंको अपने आचरणसे अपनेमें चरितार्थ करें। मनुष्योंके नेता अपने अनुयायियोंको उत्कर्षके मार्गसे ले जावें और सिद्धिके लिये सत्यके सीधे मार्गसे ही अपना कार्य करें और यश प्राप्त करें। ऐसे सत्य मार्गसे सिद्धि प्राप्त करनेवाले मनुष्योंको ही " नृ अथवा नर " कहते हैं और ऐसे श्रेष्ठ सत्य नेताओंके साथ रहनेसे ही मनुष्यको मनुष्योंके साथ रहनेका सुख प्राप्त हो सकता है, इस लिये कहा है—

नृभिः नृवन्तः स्याम। (मं० ३)

" श्रेष्ठ मनुष्योंके साथ होनेसे हम मनुष्य युक्त बनेंगे। यहांका " नृवान् " शब्द " मातृमान्, पितृमान् " शब्दके समान अर्थवाला है, जैसा-(मातृमान्) प्रशंसनीय गुणवाली मातासे युक्त, (पितृमान्) प्रशंसनीय गुणवाले पितासे युक्त, इसी प्रकार (नृमान्, नृवान्) प्रशंसनीय श्रेष्ठ मनुष्योंसे युक्त। नहीं तो हरएक मनुष्यके साथ कैसे भी मनुष्य रहते ही हैं। चोरोंके साथ भी उनके साथी रहते ही हैं, तथापि उस चोर को " नृमान् " नहीं कहा जा सकता। अच्छे मनुष्योंके साथ रहनेसे ही मनुष्यका अभ्युदय होना संभव है, इसलिये " अपने साथ अच्छे मनुष्य रहें " ऐसी इच्छा यहां प्रकट की गई है। इस प्रकार अच्छे मनुष्यों की साथ मिलनेसे निःसंदेह मनुष्योंका कल्याण हो सकता है।

देवोंकी सुमति।

"हम प्रातःकाल, दोपहरके समय और सायंकाल ऐसे कर्म करें, कि जिससे हम (भगवन्तः) भाग्यवान बनते जांय। तथा हम देवोंकी उत्तम मतिमें रहें। (मं० ४)" यह चतुर्थ मंत्रका कथन है। यहां दिन भर पुरुषार्थ प्रयत्न करनेकी सूचना है। प्रातःकाल

क्या, दोपहरके समय क्या और सायंकालके समय क्या अपना ऐश्वर्य बढानेका पुरुषार्थ करना चाहिये। सत्य मार्गसे चलते हुए ऐसे कर्म करना चाहिये कि जिससे भाग्य प्राप्त हो।

जहां भाग्य प्राप्त होना है, वहां मनुष्यमें स्वार्थ उत्पन्न हो सकता है और सत्य तथा असत्य मार्गका विचार भाग्यकी धुंदसे रह नहीं सकता, इस लिये भाग्य प्राप्तिका उद्यम करनेका उपदेश करनेवाले इस मंत्रमें कहा है कि—

वयं देवानां सुमतौ स्याम। (मं० ४)

" हम देवोंकी सुमतिमें रहें। " अर्थात् भाग्य प्राप्त करनेके समय हमसे ऐसा आचरण हो कि जिससे देव असंतुष्ट न हों, हमारे ऊपर अप्रसन्न न हों, प्रत्युत हमारे विषयमें उत्तम भाव ही उनके मनमें सदा रहे। हमसे ऐसे कर्म हों कि जिनसे वे सदा संतुष्ट रहें। इस मंत्रमें यह सावधानीकी सूचना अत्यंत महत्त्व रखती है, क्योंकि भाग्य और ऐश्वर्य ऐसे पदार्थ हैं कि जो प्राप्त होनेसे अथवा जिनकी प्राप्तिकी इच्छासे मनुष्य सुमार्गपर रहना कठिन है। परंतु वेदको सुमार्ग परसे मनुष्योंको चलाते हुए ही उनको भाग्य देना अभीष्ट है, इस लिये जहां गिरनेकी संभावना होती है वहां ही इस प्रकार की सावधानीकी सूचना दी होती है। ताकि मनुष्य न गिरें और भाग्य भी प्राप्त करें।

पंचम मंत्रमें (स नो भगः पुरएता भवेह। मं० ५) 'वह भगवान् ही हमारा अगुवा बने ' यह उपदेश कहा है वह भी इसी उद्देश्य से है, कि मनुष्य परमात्माको ही अपना अग्रगामी समझें और अपने आपको उसके अनुयायी समझें और उसीके प्रकाशमें कार्य करते हुए अपनी उन्नतिके कार्य करें। गिरावटसे बचानेके हेतुसे यह उपदेश है। सर्वज्ञ परमेश्वर अपना निरीक्षक है यह विश्वास मनुष्योंको गिरावटसे बहुत प्रकारसे बचा सकता है।

अहिंसा का मार्ग।

षष्ठ मंत्रमें अध्वरके मार्गसे जानेका उपदेश है, यह अध्वरका मार्ग देखनेके लिये अध्वर शब्दका अर्थ ही देखना चाहिये—

अध्वर— (अ-ध्वरा) अकुटिलता, जहां तेढापन नहीं है, जहां सीधा भाव है, जहां हिंसा नहीं है, जहां दूसरोंका घात पात करनेका भाव नहीं है, जहां दूसरोंको कष्ट देकर अपना स्वार्थ साधन करनेका विचार नहीं है।

मार्गसे

ये " अ-ध्वर " शब्दके अर्थ इस मार्गका स्वरूप बता रहे हैं। इस अहिंसाके ... जाना और पंचम मंत्रका " परमेश्वरको अपना अगुवा बनाना "; चतुर्थ मंत्रोक्त " देवोंकी सुमतिमें रहना; " और तृतीय मंत्रोक्त " सत्य मार्गसे सिद्धि प्राप्त करना " एक ही बात है। इस दृष्टिसे ये चारों मंत्र भिन्न भिन्न उपदेशसे एक ही आशय बता रहे हैं पाठक यहां देखें कि इस सूक्तने यह एक ही बात कितने विविध प्रकारोंसे कही है, इससे स्पष्ट पता लग सकता है कि वेदका कटाक्ष अहिंसामय सत्यमार्गसे लोगोंको चलानेके विषयमें कितना अधिक है।

गौवें और घोडे।

इस सूक्तके तृतीय मंत्रमें " गौओं और घोडोंके साथ हमें युक्त कर " ऐसा कहा है। सप्तम मंत्रमें भी वही बात फिर दुहराई है। इससे घरमें गौवें और घोडे रहना वेदकी दृष्टिसे घरका भूषण है, यह बात सिद्ध होती है।

सप्तम मंत्रमें (घृतं दुहानाः) 'घीका दोहन करनेवाली' और (विश्वतः प्रपीताः) 'सब प्रकार दुग्धपान करानेवाली' यह उषा का वर्णन सवेरके समय दूधका दोहन करना, दोहन होते ही ताजा दूध पीना, मक्खनसे घी तैयार करना इत्यादि बातोंका सूचक है। घरमें गौवोंको इसी लिये रखना होता है कि उनका ताजा दूध पीनेके लिये मिले और कलके दूधके दहीसे आज निकाला हुआ मक्खन लेकर उसका आजही घी बनाकर सेवन किया जाय। ऐसे घी को " हैयंगवीन घृत" कहते हैं। यह घृत खाने या पीनेसे शरीरकी पुष्टि होती है और इसके हवनसे हवा नीरोग भी होती है।

भ्रमण।

इस प्रकार दुग्धपान करनेके पश्चात् घोडोंपर सवार होकर भ्रमण के लिये बाहर जाना चाहिये और घण्टा दो घण्टे घोडेकी सवारी करके पश्चात् घर आकर अपने कार्यको लगना चाहिये। बहुत थोडे पाठक ऐसे होंगे जिनको सवेरे घरकी गौका ताजा दूध पीनेके लिये मिलता हो और अपने उत्तम घोडेपर सवार होकर सवेरके प्राणप्रद वायुमें भ्रमण करनेका सौभाग्य प्राप्त होता हो। आजका समय विपरीत है। ऐसे समयमें ऐसी वैदिक रीतियां केवल स्मरणमें ही रखना चाहिये।

कृषिसे सुख प्राप्ति।

[१७]

(ऋषिः- विश्वामित्रः । देवता-सीता)

सीरा युञ्जन्ति कवयो युगा वि तन्वते पृथक् ।
धीरा देवेषु सुम्नयौ ॥ १ ॥
युनक्त सीरा वि युगा तनोत कृते योनौ वपतेह बीजम् ।
विराजः श्नुष्टिः सभरा असन्नो नेदीय इत् सृण्यः पक्कमा यवन् ॥ २ ॥

अर्थ— (देवेषु धीराः कवयः) देवोंमें बुद्धि रखनेवाले कवि लोग (सुम्नयौ सीरा युञ्जन्ति) सुख प्राप्त करनेके लिये हलोंको जोतते हैं और (युगा पृथक् वितन्वते) जुओंको अलग अलग करते हैं ॥ १ ॥

(सीराः युनक्त) हलोंको जोडो, (युगा वितनोत) जूओंको फैलाओ, (कृते योनौ इह बीजं वपत) बने हुए खेतमें यहांपर बीज बोओ । (विराजः श्नुष्टिः नः सभराः असत्) अन्नकी उपज हमारे लिये भरपूर होवे। (सृण्यः इत् पक्वं नेदीयः आयवन्) हंसुये भी परिपक्व धान्यको हमारे निकट लावें ॥ २ ॥

भावार्थ— पृथिव्यादि देवताओंकी शक्तियोंपर विश्वास रखनेवाले कवि लोग विशेष सुख प्राप्त करनेके लिये हलोंको जोतते हैं अर्थात् कृषि करते हैं और जुओंको यथा स्थानपर बांध देते हैं ॥ १ ॥

हे लोगो ! तुम हल जोतो, जूओंको फैलाओ, अच्छीप्रकार भूमि तैयार करनेके बाद उसमें बीज बोओ । इससे अन्नकी उत्तम उपज होगी, बहुत धान्य उपजेगा और परिपक्व होनेके बाद बहुत धान्य प्राप्त होगा ॥ २ ॥

लाङ्गलं पवीरवत् सुशीमं सोमसत्सरु ।
उदिद् वपतु गामविं प्रस्थावद् रथवाहनं पीवरीं च प्रफर्व्यम् ॥ ३ ॥
इन्द्रः सीतां नि गृह्णातु तां पूषाभि रक्षतु ।
सा नः पयस्वती दुहामुत्तरामुत्तरां समाम् ॥ ४ ॥
शुनं सुफाला वि तुदन्तु भूमिं शुनं कीनाशा अनु यन्तु वाहान् ।
शुनासीरा हविषा तोशमाना सुपिप्पला ओषधीः कर्तमस्मै ॥ ५ ॥

अर्थ-(पवीरवत् सुशीमं सोमसत्सरु लांगलं) वज्रके समान कठिन, चलाने के लिये सुख कारक, लकडीके मूठ वाला हल (गां अविं) गौ और बकरी, (प्रस्थावत् रथवाहनं) शीघ्रगामी रथके घोडे या बैल, (पीवरीं च प्रफर्व्यम्) पुष्ट स्त्री (इत् उद्वपतु) निश्चयसे देवे ॥ ३ ॥

(इन्द्रः सीतां निगृह्णातु) इन्द्र हलकी रेषाको पकडे, (पूषा तां अभिरक्षतु) पूषा उसकी रक्षा करे। (सा पयस्वती नः उत्तरां उत्तरां समां दुहां) वह हलकी रेषा रस युक्त होकर हमें आगे आनेवाले वर्षोंमें रसोंका प्रदान करे ॥ ४ ॥

(सु-फालाः भूमिं शुनं वितुदन्तु) सुन्दर हलके फाल भूमिको सुख पूर्वक खोदें। (कीनाशाः शुनं वाहान् अनुयन्तु) किसान सुखपूर्वक बैलों-के पीछे चलें । (शुनासीरौ) हे वायु और हे सूर्य ! तुम दोनों (हविषा तोशमानौ) हमारे हवनसे तुष्ट होकर (अस्मै सुपिप्पलाः ओषधीः कर्त-म्) इस किसान के लिये उत्तम फल युक्त धान्य उत्पन्न करो ॥ ५ ॥

भावार्थ-हलको लोहेका कठिन फार लगाया जावे और लकडीकी मूठ पकडनेके लिये कीजावे, यह हल चलानेके समय सुख देवे। यह हलही गौ बैल, भेड बकरी, घोडा घोडी, स्त्रीपुरुष आदिको उत्तम घास और धान्यादि देकर पुष्ट करता है ॥ ३ ॥

इन्द्र अपनी वृष्टिद्वारा हलसे खुदी हुई रेषाको पकडे और धान्य पोषक सूर्य उस की उत्तम रक्षा करे। यह भूमि हमें प्रतिवर्ष उत्तम रस युक्त धान्य देती रहे ॥ ४ ॥

हलके सुन्दर फार भूमिकी खुदाई करें, किसान बैलोंके पीछे चलें। हमारे हवनसे प्रसन्न हुए वायु और सूर्य इस कृषिसे उत्तम फलवाली रस युक्त औषधियां देवें ॥ ५ ॥

शुनं वाहाः शुनं नरः शुनं कृषतु लाङ्गलम्। शुनं वरत्रा बध्यन्तां शुनमष्ट्रामुदिङ्गय ॥ ६ ॥
शुनासीरेह स्म मे जुषेथाम्। यद्दिवि चक्रथुः पयस्तेनेमामुप सिञ्चतम् ॥ ७ ॥
सीते वन्दामहे त्वार्वाची सुभगे भव। यथा नः सुमना असो यथा नः सुफला भुवः ॥ ८ ॥
घृतेन सीता मधुना समक्ता विश्वैर्देवैरनुमता मरुद्भिः।
सा नः सीते पयसाभ्याववृत्स्वोर्जस्वती घृतवत् पिन्वमाना ॥ ९ ॥

अर्थ—(वाहाः शुनं) बैल सुखी हों, (नरः शुनं) मनुष्य सुखी हों (लांगलं शुनं कृषतु) हल सुखसे कृषि करे। (वरत्रा शुनं बध्यन्तां) रस्सियां सुखसे बांधी जांय, (अष्ट्रां शुनं उदिंगय) चाबूक सुखसे ऊपर चला ॥६॥

हे (शुनासीरौ) वायु और सूर्य ! (इह स्म मे जुषेथां) यहां मेरे हवनका स्वीकार करें। (यत् पयः दिवि चक्रथुः) जो जल आकाशमें तुमने बनाया है (तेन इमां भूमिं उप सिञ्चतं) उससे इस भूमिको सींचते रहो ॥ ७ ॥

हे (सीते) जुती हुई भूमि ! (त्वा वन्दामहे) तेरा वन्दन करते हैं। हे (सुभगे) ऐश्वर्यवाली भूमि ! (अर्वाची भव) हमारे सन्मुख हो। (यथा नः सुमनाः असः) जिससे तू हमारे लिये उत्तम मनवाली होवे और (यथा नः सुफला भुवः) जिससे हमें उत्तम फल देने वाली होवे ॥ ८ ॥

(घृतेन मधुना समक्ता सीता) घी और शहदसे उत्तम प्रकार सिंचित की हुई जुती भूमि (विश्वैः देवैः मरुद्भिः अनुमता) सब देवों और मरुतों द्वारा अनुमोदित हुई, हे (सीते) जुती भूमि ! (सा घृतवत् पिन्वमाना) वह घीसे सिंचित हुई तू(नः पयसा अभ्याववृत्स्व) हमें दूधसे चारों ओरसे युक्त कर॥९॥

भावार्थ-बैल सुखी रहें, सब मनुष्य आनंदित हों, उत्तम हल चलाकर आनंदसे कृषि की जाय। रस्सियां जहां जैसी बांधना चाहिये वैसी बांधी जांय और आवश्यकता होनेपर चाबूक ऊपर उठाया जाय॥ ६ ॥

वायु और सूर्य मेरे हवन का स्वीकार करें और जो जल आकाशमंडलमें है उसकी वृष्टिसे इस पृथ्वीको सिंचित करें ॥ ७ ॥

भूमि भाग्य देनेवाली है, इस लिये हम इसका आदर करते हैं। यह भूमि हमें उत्तम धान्य देती रहे ॥ ८ ॥

जब भूमि घी और शहदसे योग्य रीतिसे सिंचित होती है और जलवायु आदि देवोंकी अनुकूलता उसको मिलती है, तब वह हमें उत्तम मधुर रस युक्त धान्य और फल देती रहे ॥ ९ ॥

कृषिसे भाग्यकी वृद्धि।

कृषिसे भाग्यकी वृद्धि होती है। भूमिकी अवस्था, वायु और वृष्टिकी परिस्थिति, ऋतुमान की अनुकूलता जो जानते हैं, वे कृषि करके लाभ उठा सकते हैं और सुखी हो सकते हैं।

सबसे पहले किसान हल जोतें, हलसे भूमी अच्छी प्रकार उखाडी जाय, हलकी लकीरें ठीक की जांय और उन लकीरोंके अंदर बीज बोया जाय, ऐसा करनेसे उत्तम धान्य पैदा होसकता है।

जब हलसे उत्तम कृषि की जाती है तब धान्यभी उत्तम उत्पन्न होता है, घास भी विपुल मिलता है और सब पशु तथा मनुष्य बहुत पुष्ट हो जाते हैं।

हलसे खुदी हुई भूमिको (इन्द्रः सीतां निगृह्णातु) वृष्टि करनेवाला इन्द्र देव अपने जलसे पकडे, पश्चात् उसकी उत्तम रक्षा (पूषा) सूर्य अपनी किरणोंसे करे। इस प्रकार वृष्टि और सूर्य प्रकाश योग्य प्रमाणमें मिलते रहे तो उत्तम कृषि होगी और धान्यादि बहुत प्रमाणमें प्राप्त होगा।

धान्य बोनेके पूर्व हवन।

पञ्चम मंत्रमें उत्तम कृषि होनेके लिये प्रारंभमें खेतमें हवन करनेका उल्लेख है। जो धान्य बोना है उसका हवन करना चाहिये और हवन के लिये घृतादि अन्य पदार्थ तो अवश्य चाहिये ही। इस प्रकारके हवनसे जलवायु शुद्ध होता है और शुद्ध कृषिसे शुद्ध धान्य उत्पन्न होता है। इस हवनसे दूसरी एक बात स्वयं हो जाती है, वह यह है कि जिसका हवन करना होता है वही बोना होता है, इस नियमसे हवनमें निषिद्ध तमाकू आदि घातक पदार्थ बोनेकी संभावना ही कम हो जाती है। इससे स्पष्ट है, कि यदि बोनेके पूर्व हवन की वैदिक प्रथा जारी की जाय तो तमाकू जैसे हानिकारक पदार्थ जगत् में जनता का इतना घात करने के लिये उत्पन्न ही नहीं होंगे और उत्तम धान्यादि की विपुल उत्पत्ति होकर लोगोंका अधिक कल्याण होगा।

खादके लिये घी और शहद !!

नवम मंत्रमें (घृतेन मधुना पयसा समक्ता सीता) घी शहद और दूध का खाद वनस्पतीयोंको डालनेका उपदेश है। आजकल तो ये पदार्थ मनुष्योंको खानेके लिये

भी नहीं मिलते तो खाद के लिये, अल्प प्रमाणमें ही क्यों न सही, कहां मिलेंगे? परंतु शुद्ध पौष्टिक फल उत्पन्न करनेके लिये दूध घी और शहदका खाद अत्यंत आवश्यक है, यह बात सत्य है।

इतिहासिक उदाहरण।

पूनाके पेशवाओंके समयमें कई आम इस पंचामृत का खाद देकर तैयार किये थे, उनमेंसे एक आमका वृक्ष इस समय तक जीवित है और ऐसे मधुर और स्वादु फल दे रहा है कि उसका वर्णन शब्दोंसे हो नहीं सकता !!! पंचामृत (दूध, दही, घी, शहद और मिश्री) के खादसे जो आम पुष्ट होता हो उस के फल भी वैसे ही अद्भुत अमृत रूप अवश्य होंगे इस में संदेह ही क्या है, यह प्रत्यक्ष उदाहरण है, तथा वाईके एक पण्डितने आर्य कृषि शास्त्रके अनुसार दूधका खाद देकर एक वर्ष ज्वारीकी कृषि की थी, उससे इतना परिपुष्ट और स्वादु धान्य उत्पन्न हुआ कि उसकी साधारण धान्यसे तुलनाही नहीं हो सकती।

यह वैदिक कृषि शास्त्रका अत्यंत महत्त्वका विषय है, जो धनी पाठक इस के प्रयोग कर सकते हैं अवश्य करके देखें। साधारण जनोंके लिये ये प्रयोग करना अशक्य ही है क्यों कि जिन लोगों को पीनेके लिये दूध नहीं मिल सकता वे खादके लिये दूध दही घी शहद और मिश्री कहांसे ले आंयगे।

पाठक ये वर्णन पढें और वैदिक कालकी कृषिकी मनसेहि कल्पना करें और मनही मनमें उसका आस्वाद लेनेका यत्न करें !!

गौरक्षा का समय।

वैदिक काल गौकी रक्षा का काल था, इस लिये गौवें विपुल थीं और उस कारण खादके लिये भी दूध मिलता था। परंतु आज अनार्योंके भक्षण के लिये लाखोंकी संख्यामें गौवें कटती हैं, इस लिये पीनेके लिये भी दूध नहीं मिलता। यह कालका परिवर्तन है। यहां अब देखना है कि वैदिक धर्मीयोंके प्रयत्नसे भविष्य काल कैसा आता है।

वनस्पति ।

[१८]

(ऋषिः— अथर्वा । देवता-वनस्पतिः)

इमां खनाम्योषधिं वीरुधां बलवत्तमाम् ।
यया सपत्नीं बाधते यया संविन्दते पतिम् ॥ १ ॥
उत्तानपर्णे सुभगे देवजूते सहस्वति ।
सपत्नीं मे परा णुद पतिं मे केवलं कृधि ॥ २ ॥
नहि ते नाम जग्राह नो अस्मिन्रमसे पतौ ।
परामेव परावतं सपत्नीं गमयामसि ॥ ३ ॥
उत्तराहमुत्तर उत्तरेदुत्तराभ्यः ।
अधः सपत्नी या ममाधरा साधराभ्यः ॥ ४ ॥

अर्थ— (इमां बलवत्तमां वीरुधां औषधिं खनामि) इस बलवाली औषधि वनस्पतिको मैं खोदता हूं । (यया सपत्नीं बाधते) जिससे सपत्नी को हटाया जाता है और (यया पतिं विन्दते) जिससे पतिको प्राप्त किया जाता है ॥ १ ॥

हे (उत्तानपर्णे सुभगे देवजूते सहस्वति) विस्तृत पानवाली भाग्यवती देवों द्वारा सेवित बलवती औषधि ! (मे सपत्नीं पराणुद) मेरी सपत्नी को दूर कर और (मे केवलं पतिं कृधि) मुझे केवल पति कर दे ॥ २ ॥

हे सापत्न स्त्री ! (ते नाम नहि जग्राह) तेरा नाम भी मैंने लिया नहीं है अब तू (अस्मिन् पतौ नो रमसे) इस पतिमें रममाण नहीं होगी । अब मैं (परां सपत्नीं परावतं गमयामसि) अन्य सपत्नी को दूर करती हूं ॥३॥

हे (उत्तरे) श्रेष्ठ गुणवाली औषधि ! (अहं उत्तरा) मैं अधिक श्रेष्ठ हूं (उत्तराभ्यः इत् उत्तरा) श्रेष्ठोंमें भी श्रेष्ठ हूं । (मम या अधरा सपत्नी) मेरी जो नीच सपत्नी है (सा अधराभ्यः अधरा) वह नीचसे नीच है॥४॥

अहमस्मि सहमानाथो त्वमसि सासहिः ।
उभे सहस्वती भूत्वा सपत्नीं मे सहावहै ॥ ५ ॥
अभि तेऽधां सहमानामुप तेऽधां सहीयसीम् ।
मामनु प्र ते मनो वत्सं गौरिव धावतु पथा वारिव धावतु ॥ ६ ॥

(अहं सहमाना अस्मि) मैं विजयी हूं और हे औषधि (अथो त्वं सासहिः असि) तू भी विजयी है । (उभे सहस्वती भूत्वा) हम दोनों जयशाली बनकर (मे सपत्नीं सहावहै) मेरी सपत्नीको जीत लेवें ॥ ५ ॥

(ते अभि सहमानां अधां) तेरे चारों ओर मैंने इस विजयिनी वनस्पतिको रखा है (ते उप सहीयसीं अधां) तेरे नीचे इस जय शालिनी वनस्पति को रखा है । अब (ते मनः मां अनु प्रधावतु) तेरा मन मेरे पीछे दौडे । (गौः वत्सं इव धावतु) जैसी गौ बछडेकी ओर दौडती है और (वाः इव पथा) जैसा जल अपने मार्गसे दौडता है ॥ ६ ॥

सापत्नभाव का भयंकर परिणाम ।

इसका भावार्थ सुबोध है इसलिये देनेकी आवश्यकता नहीं है ।

अनेक स्त्रियां करनेसे घरमें कलह होते हैं, सापत्नभाव उत्पन्न होनेसे स्त्रियोंमें परस्पर द्वेष बढते हैं, संतानोंमें भी वही कलहाग्नि बढता है, इसलिये ऐसे परिवारमें सुख नहीं मिलता है । यह बात इस सूक्तमें कही है । इस सूक्तका मुख्य तात्पर्य यही है कि कोई पुरुष एकसे अधिक विवाह करके अपने घरमें सापत्न भाव का बीज न बोवे ।

जिस घरका पुरुष एकसे अधिक विवाह करता है वहां द्वेषाग्नि भडकने लगता है और उसको कोई बुझा नहीं सकता । वहां स्त्रियोंमें कलह, संतानोंमें कलह और अंतमें पुरुषों में भी कलह होते हैं और अंतमें उस कुटुंबका नाश होता है ।

सपत्नीका नाश करनेका यत्न स्त्रियां करती हैं और उससे अकीर्ति फैलती है । इस सब आपत्तिको मिटानेके लिये एकपत्नीव्रतका आचरण करना ही एकमात्र उपाय है।

ज्ञान और शौर्यकी तेजस्विता।

[१९]

(ऋषिः- वसिष्ठः । देवता—विश्वेदेवाः, चन्द्रमाः, इन्द्रः)

संशितं म इदं ब्रह्म संशितं वीर्यं१ बलम् ।
संशितं क्षत्रमजरमस्तु जिष्णुर्येषामस्मि पुरोहितः ॥ १ ॥
समहमेषां राष्ट्रं स्यामि समोजो वीर्यं१ बलम् ।
वृश्चामि शत्रूणां बाहूननेन हविषाहम् ॥ २ ॥

अर्थ— (मे इदं ब्रह्म संशितं) मेरा यह ज्ञान तेजस्वि हुआ है, और मेरा यह (वीर्यं बलं संशितं) वीर्य और बल तेजस्वी बना है। (संशितं क्षत्रं अजरं अस्तु) इनका तेजस्वी बना हुआ क्षात्रबल कभी क्षीण न होनेवाला होवे, (येषां जिष्णुः पुरोहितः अस्मि) जिनका मैं विजयी पुरोहित हूं ॥ १ ॥

(अहं एषां राष्ट्रं संस्यामि) मैं इनका राष्ट्र तेजस्वी करता हूं, इनका (ओजः वीर्यं बलं संस्यामि) बल, वीर्य और सैन्य तेजस्वी बनाता हूं। और (अनेन हविषा) इस हवनसे (शत्रूणां बाहून् वृश्चामि) शत्रुओंके बाहुओंको काटता हूं ॥ २ ॥

भावार्थ— मैं जिस राष्ट्रका पुरोहित हूं उस राष्ट्रका ज्ञान मैंने तेजस्वी किया है और शौर्य वीर्यभी अधिक तीक्ष्ण किया है, जिससे इस राष्ट्रका क्षात्रतेज कभी क्षीण नहीं होगा ॥ १ ॥

मैं इस राष्ट्रका तेज बढाता हूं और इसका शारीरिक बल, पराक्रम और उत्साह भी वृद्धिंगत करता हूं। इससे मैं शत्रुओंके बाहुओंको काटता हूं ॥ २ ॥

नीचैः पद्यन्तामधरे भवन्तु ये नः सूरिं मघवानं पृतन्यान् ।
क्षिणामि ब्रह्मणामित्रानुन्नयामि स्वानहम् ॥ ३ ॥
तीक्ष्णीयांसः परशोरग्नेस्तीक्ष्णतरा उत ।
इन्द्रस्य वज्रात् तीक्ष्णीयांसो येषामस्मि पुरोहितः ॥ ४ ॥
एषामहमायुधा सं स्याम्येषां राष्ट्रं सुवीरं वर्धयामि ।
एषां क्षत्रमजरमस्तु जिष्ण्वे३षां चित्तं विश्वेऽवन्तु देवाः ॥ ५ ॥

अर्थ- वे शत्रु (नीचैः पद्यन्ताम्) नीचे गिरें, (अधरे भवन्तु) अवनत हों, (ये नः मघवानं सूरिं पृतन्यात्) जो हमारे धनवान् और विद्वान् पर सेनासे चढाई करें। (अहं ब्रह्मणा अमित्रान् क्षिणामि) मैं ज्ञानसे शत्रुओंका क्षय करता हूं, और (स्वान् उन्नयामि) अपने लोगोंको उठाता हूं ॥ ३ ॥

(परशोः तीक्ष्णीयांसः) परशुसे अधिक तीक्ष्ण, (उत अग्नेः तीक्ष्णतराः) और अग्निसेभी अधिक तीक्ष्ण, (इन्द्रस्य वज्रात् तीक्ष्णीयांसः) इन्द्रके वज्रसे भी अधिक तीक्ष्ण इनके अस्त्र हों (येषां पुरोहितः अस्मि) जिनका पुरोहित मैं हूं ॥ ४ ॥

(अहं एषां आयुधा संस्यामि) मैं इनके आयुधोंको उत्तम तीक्ष्ण बनाता हूं, (एषां राष्ट्रं सुवीरं वर्धयामि) इनका राष्ट्र उत्तम वीरतासे युक्त करके बढाता हूं, (एषां क्षत्रं अजरं जिष्णु अस्तु) इनका क्षात्रतेज अक्षय तथा जयशाली होवे, (विश्वेदेवाः एषां चित्तं अवन्तु) सब देव इनके चित्तको उत्साहयुक्त करें ॥ ५ ॥

भावार्थ--जो शत्रु हमारे धनिकोंपर तथा हमारे ज्ञानियों पर सैन्यके साथ हमला करते हैं वे अधोगतिको प्राप्त होंगे। क्योंकि मैं अपने ज्ञानसे शत्रुओंका नाश करता हूं और उसीसे अपने लोगोंको उन्नत करता हूं ॥ ३ ॥

जिस राष्ट्रका मैं पुरोहित हूं उस राष्ट्रके शस्त्रास्त्र परशुसे अधिक तीक्ष्ण, अग्निसे भी अधिक दाहक, और इन्द्रके वज्रसे भी अधिक संहारक मैंने किये हैं ॥ ४ ॥

मैं इनके शस्त्रास्त्रोंको अधिक तीक्ष्ण बनाता हूं, इनके राष्ट्रको उसमें उत्तम वीर उत्पन्न करके, बढाता हूं, इनके शौर्यको कभी क्षीण न होनेवाला और सदा विजयी बनाता हूं। सब देवता इनके चित्तोंको उत्साह युक्त करें ॥ ५ ॥

उद्धर्षन्तां मघवन् वाजिनान्युद् वीराणां जयतामेतु घोषः ।
पृथग् घोषा उलुलयः केतुमन्त उदीरताम् ।
देवा इन्द्रज्येष्ठा मरुतो यन्तु सेनया ॥ ६ ॥
प्रेता जयता नर उग्रा वः सन्तु बाहवः ।
तीक्ष्णेषवोऽबलधन्वनो हतोग्रायुधा अबलानुग्रबाहवः ॥ ७ ॥

अर्थ- हे (मघवन्) धनवान् ! उनके (वाजिनानि उद्धर्षन्तां) बल उत्तेजित हों, (जयतां वीराणां घोषः उत् एतु) विजय करने वाले वीरोंका शब्द ऊपर उठे। (केतुमन्तः उलुलयः घोषाः) झंडे लेकर हमला करनेवाले वीरोंके संघशब्दका घोष (पृथक् उत् ईरताम्) अलग अलग ऊपर उठे। (इन्द्रज्येष्ठा मरुतः देवाः) इन्द्रकी प्रमुखतामें मरुत् देव (सेनया यन्तु) अपनी सेनाके साथ चलें ॥ ६ ॥

हे (नरः) लोगो ! (प्र इत) चलो, (जयत) जीतो, (वः बाहवः उग्राः सन्तु) तुम्हारे बाहु शौर्यसे युक्त हों। हे (तीक्ष्णेषवः) तीक्ष्ण बाणवाले वीरो ! हे (उग्रायुधाः उग्रबाहवः) उग्र आयुध वालो और बलयुक्त भुजावालो ! (अ-बल- धन्वनः अबलान् हत) निर्बल धनुष्य वाले निर्बल शत्रुओंको मारो ॥ ७ ॥

भावार्थ- हे प्रभो ! इनके बल उत्साहसे पूर्ण हों, इनके विजयी वीरोंका जयजयकार का शब्द आकाशमें भरजावे। झंडे उठाकर विजय पानेवाले इनके वीरोंके शब्द अलग अलग सुनाई दें। जिस प्रकार इन्द्रकी प्रमुखतामें मरुतों की सेना विजय प्राप्त करती है, उसी प्रकार इनकी सेनाभी विजय कमावे ॥ ६ ॥

हे वीरो ! आगे बढो, विजय प्राप्त करो, अपने बाहु प्रतापसे युक्त करो, तीक्ष्ण बाणों, प्रतापी शस्त्रास्त्रों और समर्थ बाहुओंको धारण करके अपने शत्रुओंको निर्बल बनाकर उनको काट डालो ॥ ७ ॥

अवसृष्टा परा पत शरव्ये ब्रह्मसंशिते ।
जयामित्रान् प्र पद्यस्व जह्येषां वरंवरं मामीषां मोचि कश्चन ॥८॥

अर्थ- हे (ब्रह्म- संशिते शरव्ये) ज्ञानद्वारा तेजस्वी बने शस्त्र ! तू (अवसृष्टा परापत) छोडा हुआ दूर जा और (अमित्रान् जय) शत्रुओंको जीतलो, (प्र पद्यस्व) आगे बढ, (एषां वरं वरं जहि) इन शत्रुओंके मुख्य मुख्य वीरोंको मार डाल, (अमीषां कश्चन मा मोचि) इनमेंसे कोईभी न बच जाय ॥ ८ ॥

भावार्थ-ज्ञानसे तेजस्वी बना हुआ शस्त्र जब वीरोंकी प्रेरणासे छोडा जाता है तब वह दूर जाकर शत्रुपर गिरता है और शत्रुका नाश करता है। हे वीरो ! शत्रुपर चढाई करो और शत्रुके मुख्य मुख्य वीरोंको चुन चुनकर मार डालो, उनकी ऐसी कतल करो कि उनमेंसे कोई न बचे ॥ ८॥

राष्ट्रीय उन्नतिमें पुरोहितका कर्तव्य।

राष्ट्रमें ब्राह्मण, क्षत्रिय, वैश्य, शूद्र और निषाद ये पांच वर्ग होते हैं। उनमें ब्राह्मणोंका कर्तव्य पुरोहित का कार्य करना होता है। पूर्णहित करनेका नाम पुरोहित का कार्य करना है। यजमान का पूर्णहित करनेवाला पुरोहित होना चाहिये। जब संपूर्ण राष्ट्रका विचार करना होता है उस समय सब राष्ट्रही यजमान है और सब ब्राह्मण जाती उस राष्ट्रके पुरोहित के स्थानपर होती है। इससे संपूर्ण राष्ट्रका पूर्णहित करनेका भार सब पुरोहित वर्गपर आ जाता है। ज्ञानकी ज्योति सब राष्ट्रमें प्रज्वलित करके उस ज्ञानके द्वारा राष्ट्रका अभ्युदय और निःश्रेयस सिद्ध करना पुरोहितका कर्तव्य है; यह कर्तव्य इस सूक्तमें स्पष्ट शब्दोंमें वर्णन किया है, राष्ट्रके ब्राह्मण इस सूक्तका मनन करें और अपना कर्तव्य जान कर उसको निभायें।

इस सूक्तका ऋषि वसिष्ठ है, और वसिष्ठ नाम ब्रह्मनिष्ठ ब्राह्मणका सुप्रसिद्ध है। इस दृष्टिसे भी इस सूक्त का मनन ब्राह्मणोंको करना चाहिये। अब सूक्तका आशय देखिये-

ब्राह्मतेजकी ज्योति।

राष्ट्रमें ब्राह्मतेजकी ज्योति बढाना और उस ज्योतिके द्वारा राष्ट्रकी उन्नति करनेका कार्य सबसे महत्त्वका और अत्यंत आवश्यक है। इस विषयमें इस सूक्तमें यह कथन है—

मे इदं ब्रह्म संशितम्। (मं० १)
ब्रह्मणा अमित्रान् क्षिणामि। (मं० ३)
उन्नयामि स्वान् अहम्। (मं० ३)
अवसृष्टा परा पत शरव्ये ब्रह्मसंशिते। (मं० ८)
जय अमित्रान्०॥ (मं० ८)

"मेरे प्रयत्नसे इस राष्ट्रका यह ज्ञानतेज चमकता है। ज्ञानके प्रतापसे शत्रुओंका नाश करता हूं। और उसी ज्ञानसे मैं अपने राष्ट्रके लोगोंकी उन्नति करता हूं। ज्ञानके द्वारा उत्तेजित हुआ शस्त्र दूरतक परिणाम करता है, उससे शत्रुको जीत लो॥"

ये मंत्र भाग राष्ट्रमें ब्राह्मतेजके कार्यका स्वरूप बताते हैं। ज्ञान राष्ट्रीय उन्नतिमें बडा भारी कार्य करता है। जगत्में अनेक राष्ट्र हैं उनमें वे ही राष्ट्र अग्रभागमें हैं कि जो ज्ञानसे विशेष संपन्न हैं। ज्ञान न होते हुए अभ्युदय होना अशक्य है। यदि उन्नतिका विरोधक कोई कारण होगा तो वह एकमात्र अज्ञान ही है। अज्ञानसे बंधन होता है और ज्ञानसे उस बंधन का नाश होता है। इसलिये राष्ट्रमें जो ब्राह्मण होंगे उनका कर्तव्य है कि वे स्वयं ज्ञानी बनें और अपने राष्ट्रके सब लोगोंको ज्ञान संपन्न करें। क्षत्रियों वैश्यों और शूद्रों को भी ज्ञान आवश्यक ही है। उनके व्यवसायोंको उत्तमतासे निभानेके लिये ज्ञानकी परम आवश्यकता है।

ज्ञानसे शत्रु कौन है और अपना हितकारी मित्र कौन है इस का निश्चय होता है। अपने ज्ञानसे राष्ट्रके शत्रुको जानना और उसको दूर करनेके लिये ज्ञानसे ही उपायकी योजना करना चाहिये। यह उपाय योजना का कार्य करना ब्राह्मणोंका परम कर्तव्य है। शत्रुपर हमला किस समय करना, शत्रुके शस्त्रास्त्र कैसे हैं, उनसे अपने शस्त्रास्त्र अधिक प्रभाव शाली किस रीतिसे करना, शत्रुके शस्त्रास्त्र जितनी दूरीपर प्रभाव कर सकते हैं उससे अधिक दूरीपर प्रभाव करनेवाले शस्त्रास्त्र कैसे निर्माण करना, इत्यादि बातें ज्ञानसे ही सिद्ध हो सकती हैं, अपने राष्ट्रमें इनकी सिद्धता करना ब्राह्मणोंका कर्तव्य है। अर्थात् ब्राह्मण अपने ज्ञानसे इसका विचार करें और अपने राष्ट्रमें ऐसी प्रेरणा करें कि जिससे राष्ट्रके अंदर उक्त परिवर्तन आ जावे। यही भाव निम्न लिखित मंत्रमें कहा है-

अवसृष्टा परा पत शरव्ये ब्रह्मसंशिते। (मं० ८)

"ज्ञानसे तीक्ष्ण बने शस्त्रास्त्र शत्रुपर गिरें।' इसमें ज्ञानसे उत्तेजित प्रेरित और तीक्ष्ण बने शस्त्र अधिक प्रभाव शाली होनेका वर्णन है। अन्य देशोंके शस्त्रास्त्र देखकर, उनका वेग जान कर, और उनका परिणाम अनुभव करके जब उनसे अधिक वेगवान्

और अधिक प्रभाव शाली शस्त्रास्त्र अपने देशके वीरोंके पास दिये जांयगे, तब अन्य परिस्थिति समान होनेपर अपना जय निश्चयसे होगा इसमें कुछ भी संदेह नहीं है।

पुरोहिकी प्रतिज्ञा।

"जिस राष्ट्रका मैं पुरोहित हूं उस राष्ट्रका ज्ञान, वीर्य, बल, पराक्रम, शौर्य, वीर्य, धैर्य, विजयी उत्साह कभी क्षीण न हो।" (मं० १)

"जिस राष्ट्रका मैं पुरोहित हूं उस राष्ट्रका पराक्रम, उत्साह, वीर्य और बल मैं बढाता हूं और शत्रुओंका बल घटाता हूं॥ (मं० २)

"जो शत्रु हमारे धनी वैश्यों और ज्ञानी ब्राह्मणोंके ऊपर, अर्थात् हमारे देशके युद्ध न करनेवाले लोगोंपर, सैन्यके साथ हमला करेगा उसका नाश मैं अपने ज्ञानसे करता हूं और अपने राष्ट्रके लोगोंको मैं अपने ज्ञानके बलसे उठाता हूं।" (मं० ३)

"जिनका मैं पुरोहित हूं उनके शस्त्रास्त्र मैं अधिक तेज बनाता हूं।" (मं० ४)

"इनके शस्त्रास्त्र मैं अधिक तीक्ष्ण करता हूं। उत्तम वीरोंकी संख्या इस राष्ट्रमें बढाकर इस राष्ट्रकी उन्नति करता हूं। और इनका शौर्य बढाता हूं।" (मं० ५)

ये मंत्र भाग पुरोहितके राष्ट्रीय कर्तव्य का ज्ञान असंदिग्ध शब्दों द्वारा दे रहे हैं। पुरोहितके ये कर्तव्य हैं। पुरोहित क्षत्रियोंको क्षात्रविद्या सिखावे, वैश्योंको व्यापार व्यवहार करनेका ज्ञान देवे और शूद्रादिकोंको कारीगरीकी शिक्षा देवे, और ब्राह्मणोंको इस प्रकारके विशेष ज्ञानसे युक्त करे। इस रीतिसे चारों वर्णोंको तेजस्वी बनाकर संपूर्ण राष्ट्रका उद्धार अपने ज्ञानकी शक्तिसे करे। जो पुरोहित ये कर्तव्य करेंगे वेही वेदकी दृष्टिसे सच्चे पुरोहित हैं। जो पंडित पुरोहितका कार्य कर रहे हैं वे इस सूक्तका विचार करें और अपने कर्तव्योंका ज्ञान प्राप्त करें।

युद्धकी नीति।

षष्ठ सप्तम और अष्टम इन तीन मंत्रोंमें युद्धनीतिका उपदेश इसप्रकार किया है—

"वीरोंके पथक अपने अपने झंडे उठाकर युद्धगीत गाते हुए और

आनंदसे विजय सूचक शब्दोंका घोष करते हुए शत्रुसेनापर हमला करें और विजय प्राप्त करें। जिस प्रकार इन्द्रकी प्रमुखतामें मरुतोंके गण शत्रुपर हमला करते और विजय प्राप्त करते हैं, इसी प्रकार अपने राजाके तथा अपने सेनापतिके आधिपत्यमें रहकर हमारे वीर शत्रुपर हमला करें और अपना विजय प्राप्त करें।" (मं० ६)

"वीरो! आगे बढो, तुम्हारे बाहू प्रभाव शाली हों, तुम्हारे शस्त्र शत्रुकी अपेक्षा अधिक तीक्ष्ण हों, तुम्हारी शक्ति शत्रुकी शक्तिसे अधिक पराक्रम प्रकाशित करनेवाली हो। इस प्रकार युद्ध करते हुए तुम अपने निर्बल शत्रुको मारडालो।" (मं० ७)

"ज्ञानसे उत्तेजित हुए तुम्हारे शस्त्र शत्रुका नाश करें, ऐसे तीक्ष्ण शस्त्रोंसे शत्रुका तू पराभव कर।" (मं० ८)

इन तीन मन्त्रोंमें इतना उपदेश देकर पश्चात् इस अष्टम मंत्रके अन्तमें अत्यंत महत्त्वकी युद्धनीति कही है वे शब्द देखने योग्य हैं—

(१) जह्येषां वरं वरं,
(२) माऽमीषां मोचि कश्चन ॥ (मं० ८)

"इन शत्रुओंके मुख्य मुख्य प्रमुख वीरोंको मार दो और इनमेंसे कोई भी न बचे।" ये दो उपदेश युद्धके संबंधमें अत्यंत महत्त्वके हैं। शत्रुसेनाके पथक के जो संचालक और प्रमुख वीर हों उनका वध करना चाहिये। प्रमुख संचालकोंमेंसे कोई भी न बचे। ऐसी अवस्था होनेके बाद शत्रुकी सेना बडी आसानीसे परास्त होगी। यह युद्ध नीति अत्यंत मनन करनेयोग्य है।

अपनी सेनामें ऐसे वीर रखने चाहिये कि जो शत्रुके वीरोंको चुन चुन कर मारनेमें तत्पर हों। जब इन वीरोंके वेधसे शत्रुसेनाके मुखिया वीरोंका वध हो जावे, तब अन्य सेनापर हमला करनेसे उस शत्रुसैन्यका पराभव होनेमें देरी नहीं लगेगी।

जो पाठक राष्ट्रहितकी दृष्टिसे अपने कर्तव्यका विचार करते हैं वे इस सूक्तका मनन अधिक करें और राष्ट्रविषयक अपने कर्तव्य जानें और उनका अनुष्ठान करके अपने राष्ट्रका अभ्युदय करें।

तेजस्विताके साथ अभ्युदय।

[२०]

(ऋषिः— वसिष्ठः । देवता-अग्निः, मन्त्रोक्तदेवताः)

अयं ते योनिर्ऋत्वियो यतो जातो अरोचथाः ।
तं जानन्नग्न आ रोहाधा नो वर्धया रयिम् ॥ १ ॥
अग्ने अच्छा वदेह नः प्रत्यङ् नः सुमना भव । प्र णो यच्छ विशां पते धनदा असि नस्त्वम् ॥२
प्र णो यच्छत्वर्यमा प्र भगः प्र बृहस्पतिः । प्र देवीः प्रोत सूनृता रयिं देवी दधातु मे॥३॥

अर्थ— हे अग्ने ! (अयं ते ऋत्वियः योनिः) यह तेरा ऋतु से संबंधित उत्पत्ति स्थान है (यतः जातः अरोचथाः) जिससे प्रकट होकर तू प्रकाशित हुआ है। (तं जानन् आरोह) उसको जानकर ऊपर चढ (अध नः रयिं वर्धय) और हमारे लिये धन बढा ॥ १ ॥

हे अग्ने ! (इह नः अच्छ वद) यहां हमसे अच्छे प्रकार बोल और (प्रत्यङ् नः सुमनाः भव) हमारे सन्मुख होकर हमारे लिये उत्तम मनवाला हो। हे (विशांपते) प्रजाओंके स्वामिन् ! (नः प्रयच्छ) हमें दान दे क्यों कि (त्वं नः धनदाः असि) तू हमारा धनदाता है ॥ २ ॥

(अर्यमा नः प्रयच्छतु) अर्यमा हमें देवे, (भगः बृहस्पतिः प्र प्रयच्छतु) भग और बृहस्पति भी हमें देवे। (देवीः प्र) देवियां हमें धन देवें। (उत सूनृता देवी मे रयिं प्र दधातु) और सरलस्वभाववाली देवी मुझे धन देवे ॥ ३ ॥

भावार्थ— हे अग्ने ! ऋतुओंसे संबंध रखनेवाला यह तेरा उत्पत्तिस्थान है, जिससे जन्मते ही तू प्रकाशित हो रहा है। अपने उत्पत्तिस्थान को जानता हुआ तू उन्नत हो और हमारे धनकी वृद्धि कर ॥ १ ॥

हे अग्ने ! यहां स्पष्ट वाणीसे बोल, हमारे सन्मुख उपस्थित होकर हमारे लिये उत्तम मन वाला हो। हे प्रजाओंके पालक ! तू हमें धन देनेवाला है, इस लिये तू हमें धन दे ॥ २ ॥

अर्यमा, भग, बृहस्पति, देवीयां तथा वाग्देवी ये सब हमें धन देवें ॥ ३ ॥

सोमं राजानमवसेऽग्निं गीर्भिर्हवामहे । आदित्यं विष्णुं सूर्यं ब्रह्माणं च बृहस्पतिम् ॥४॥
त्वं नो अग्ने अग्निभिर्ब्रह्म यज्ञं च वर्धय ।
त्वं नो देव दातवे रयिं दानाय चोदय ॥ ५ ॥
इन्द्रवायू उभाविह सुहवेह हवामहे ।
यथा नः सर्व इज्जनः संगत्यां सुमना असद् दानकामश्च नो भुवत् ॥६॥
अर्यमणं बृहस्पतिमिन्द्रं दानाय चोदय ।
वातं विष्णुं सरस्वतीं सवितारं च वाजिनम् ॥ ७ ॥

अर्थ-राजा सोम, अग्नि, आदित्य, विष्णु, सूर्य, ब्रह्मा और बृहस्पति को (अवसे गीर्भिः हवामहे) हमारी रक्षाके लिये बुलाते हैं ॥ ४ ॥

हे अग्ने! (त्वं अग्निभिः) तू अग्नियोंके साथ (नः ब्रह्म यज्ञं च वर्धय) हमारा ज्ञान और यज्ञ बढा । हे देव ! (त्वं नः दातवे दानाय रयिं चोदय) तू हमारे दानी पुरुषको दान देनेके लिये धन भेज ॥ ५ ॥

(उभौ इन्द्रवायू) दोनों इन्द्र और वायु(सु-हवौ) उत्तम बुलाने योग्य हैं इस लिये (इह हवामहे) यहां बुलाते हैं। (यथा नः सर्वः इत् जनः) जिस से हमारे संपूर्ण लोग (संगत्यां सुमनाः असत्) संगतिमें उत्तम मनवाले होवें (च नः) और हमारे लोग (दानकामः भुवत्) दान देनेकी इच्छा करनेवाले होवें ॥ ६ ॥

अर्यमा, बृहस्पति, इन्द्र, वायु, विष्णु, सरस्वती और (वाजिनं सवितारं) वेगवान् सविताको (दानाय चोदय) हमें दान देनेके लिये प्रेरित कर ॥ ७ ॥

भावार्थ-राजा सोम, अग्नि, आदित्य, विष्णु, सूर्य, ब्रह्मा और बृहस्पति की हम प्रार्थना करते हैं। कि वे हमारी योग्य रीतिसे रक्षा करें ॥ ४ ॥

हे अग्ने ! तू अनेक अग्नियोंके साथ हमारा ज्ञान और हमारी कर्मशक्ति बढाओ। हे देव ! दान देनेवाले मनुष्यको दान देने के लिये पर्याप्त धन दे ॥५॥

हम इन्द्र वायु इन दोनों की प्रार्थना करते हैं जिससे हमारे सब लोग संगठन से संगठित होते हुए उत्तम मनवाले बनें और दान देनेकी इच्छा वाले होवें ॥ ६ ॥

अर्यमा, बृहस्पति, इन्द्र, वायु, विष्णु, सरस्वती और बलवान् सविता ये सब हमें दान करनेके लिये ऐश्वर्य देवें ॥ ७ ॥

वाजस्य नु प्रसवे सं बभूविमेमा च विश्वा भुवनान्यन्तः।
उतादित्सन्तं दापयतु प्रजानन् रयिं च नः सर्ववीरं नि यच्छ ॥ ८ ॥
दुह्रां मे पञ्च प्रदिशो दुह्रामुर्वीर्यथाबलम्।
प्रापेयं सर्वा आकूतीर्मनसा हृदयेन च ॥ ९ ॥
गोसनिं वाचमुदेयं वर्चसा माभ्युदिहि।
आ रुन्धां सर्वतो वायुस्त्वष्टा पोषं दधातु मे ॥ १० ॥

अर्थ-(वाजस्य प्रसवे सं बभूविम) बलकी उत्पत्तिमें ही हम संगठित हुए हैं। (च इमा विश्वा भुवनानि अन्तः) और ये सब भुवन उसके बीचमें हैं।(प्रजानन्) जाननेवाला (अदित्सन्तं उत दापयतु) दान न देनेवाले को निश्चय पूर्वक दान देनेकेलिये प्रेरणा करे। (च नः सर्ववीरं रयिं नियच्छ) और हमें सब प्रकारके वीर भावसे युक्त धन देवे ॥ ८ ॥

(उर्वीः पञ्च प्रदिशः) ये बडी पांचों दिशाएं (यथाबलं मे दुह्रां) यथा शक्ति मुझे रस देवें। (मनसा हृदयेन च) मनसे और हृदयसे (सर्वाः आकूतीः प्रापयेयम्) सब संकल्पों को पूर्ण कर सकूं ॥ ९ ॥

(गोसनिं वाचं उदेयं) इन्द्रियोंको प्रसन्नता करनेवाली वाणी मैं बोलूं। (वर्चसा मां अभ्युदिहि) तेजके साथ मुझे प्रकाशित कर। (वायुः सर्वतः आ रुन्धाम्) प्राण मुझे सब ओरसे घेरे रहे। (त्वष्टा मे पोषं दधातु) त्वष्टा मेरी पुष्टिको देता रहे ॥ १० ॥

भावार्थ-बल उत्पन्न करनेके लिये हम संघ बनाते हैं,जैसे ये सब भुवन अंदरसे संघटित हुए हैं। यह जाननेवाला कंजूसको दान करनेकी प्रेरणा करे और हमें संपूर्ण वीर भावोंसे युक्त धन देवे ॥ ८ ॥

ये बडी विस्तीर्ण पांचही दिशाएं हमें यथाशक्ति पोषक रस देवें,जिससे हम मनसे और हृदयसे बलवान् बनते हुए अपने संपूर्ण संकल्पोंको पूर्ण करेंगे ॥ ९ ॥

प्रसन्नता को बढानेवाली वाणी मैं बोलूंगा। तेजके साथ मुझे अभ्युदयको प्राप्त कर। चारों ओरसे मुझे प्राण उत्साहित करे और जगद्रचयिता देव मुझे सब प्रकार पुष्ट करे ॥ १० ॥

अग्निका आदर्श ।

इस सूक्तमें अग्निके आदर्शसे मनुष्यके अभ्युदय साधन करनेके मार्गका उत्तम उपदेश किया है । इस सूक्त का ध्येय वाक्य यह है—

वर्चसा मा अभ्युदिहि । (मं० १०)

" तेजके साथ मेरा सब प्रकारसे उदय कर " यह हरएक मनुष्यकी इच्छा होनी चाहिये । यह साध्य सिद्ध होनेके लिये साधनके आवश्यक मार्ग इस सूक्तमें उत्तम प्रकार कहे हैं । उनका विचार करनेके पूर्व हम अग्निके आदर्शसे जो बात बताई है वह देखते हैं—

" यज्ञमें जो अग्नि लेते हैं, वह लकडियोंसे उत्पन्न करते हैं, लकडियां स्वयं प्रकाशित नहीं हैं परंतु उनसे उत्पन्न होने वाला अग्नि (जातः अरोचथाः । मं०१) उत्पन्न होते ही प्रकाशित होता है । पश्चात् वह हवन कुण्डमें रखते हैं, वहां वह (रोह । मं० १) स्वयं बढता है और दूसरोंको भी प्रकाशित करता है । इस समय उसके चारों ओर ऋत्विज लोग (गीर्भिः हवामहे । मं०४) मंत्र पाठ करते हैं और हवन करते हैं । इस समय इस अग्निके साथ (अग्निः अग्निभिः । मं०५) अनेक हवन कुण्डोंमें अनेक अग्नि प्रज्वलित होते हैं और इससे (ब्रह्म यज्ञं च वर्धय । मं०५) ज्ञान और यज्ञकी वृद्धि होती है । यज्ञमें सब लोग (जनः संगत्यां सुमनाः । मं०६) मिलकर उत्तम विचारसे कार्य करते हैं । तथा (प्रसवे संबभूविम । मं० ८) ऐश्वर्य प्राप्तिके लिये एक होकर कार्य करते हैं और इसप्रकारके यज्ञसे तेजस्वी होकर अपना अभ्युदय सिद्ध करते हैं । "

सारांशसे यह यज्ञ प्रक्रिया है, इसमें लकडियोंसे उत्पन्न हुई छोटीसी अग्निकी चिनगारीका कितना यश बढता है और यह अग्नि अनेक मनुष्योंकी उन्नति करनेमें कैसा समर्थ होता है, यह बात पाठक देखें । यदि अग्निकी छोटीसी चिनगारीके तेजके साथ बढ जानेसे इतना अभ्युदय हो सकता है, तो मनुष्यमें रहनेवाली चैतन्यकी चिनगारी इसी प्रकार प्रकाशके मार्गसे चलेगी तो कितना अभ्युदय प्राप्त करेगी, इसका विचार पाठक स्वयं जान सकते हैं, इसीका उपदेश पूर्वोक्त अग्निके दृष्टान्तसे इस सूक्तमें बताया है ।

उत्पत्तिस्थानका स्मरण ।

सबसे प्रथम अपने उत्पत्तिस्थान का स्मरण करनेका उपदेश प्रथम मंत्रमें दिया है । " यह तेरा उत्पत्तिस्थान है, जहां उत्पन्न होते ही तू प्रकाशता है, यह जानकर स्वयं

बढनेका यत्न कर और हमारी भी शोभा बढा।" (मं० १) यह उपदेश मनन करने योग्य है। उत्पत्ति स्थान कई प्रकारका होता है; अपना कुल, अपनी जाति, अपना देश यह तो स्थूल दृष्टिसे उत्पत्तिस्थान है। इस उत्पत्तिस्थानका स्मरण करके अपनी उन्नति करना चाहिये। दूसरा उत्पत्तिस्थान आध्यात्मिक है जो प्रकृतिमाता और परमपितासे संबंध रखता है, यह भी आध्यात्मिक उन्नति के लिये मनन करने योग्य है। उत्पत्तिस्थानका विचार करनेसे "मैं कहांसे आया हूं और मुझे कहां पहुंचना है" इसका विचार करना सुगम होजाता है। जहां कहां भी उत्पत्ति हुई हो वहांसे अपनी शक्तिसे प्रकाशना, बढना और दूसरोंको प्रकाशित करना चाहिये।

(इह अच्छा वद) यहां सबके साथ सरल भाषण कर, (प्रत्यङ् सुमनाः भव) प्रत्येकके साथ उत्तम मनोभावनासे वर्ताव कर, अपने पास जो हो, वह दूसरोंकी भलाईके लिये (प्रयच्छ) दानकर, यह द्वितीय मंत्रके तीन उपदेश वाक्शुद्धि, मनःशुद्धि और आत्मशुद्धिके लिये अत्यंत उत्तम हैं। इसी मार्गसे इनकी पवित्रता हो सकती है।

आगेके दो मंत्रोंमें हमें किन किन शक्तियोंसे सहायता मिलती है इसका उल्लेख है। सबसे प्रथम (देवीः) देवियों अथवा माताओंकी सहायता मिलती है, जिनकी कृपाके विना मनुष्यका उद्धार होना अशक्य है, तत्पश्चात् (सूनृता देवी) सरल वाणीसे सहायता प्राप्त होती हैं। मनुष्य के पास सीधे भावसे बोलनेकी शक्ति न हो तो उसकी उन्नति असंभव है। इसके नंतर (अर्य+मन्=आर्य+मन्) श्रेष्ठ मनके भावसे जो सहायता होती है वह अपूर्व ही है। इसके पश्चात् (बृहस्पतिः) ज्ञानी और (ब्रह्मा) ब्रह्मज्ञानी सहायता देते हैं, इनमें ब्रह्मा तो अंतिम मंजिल तक पहुंचा देता है। ये सब उन्नतिके उपाय योग्य (राजा अवसे) राजाकी रक्षामें ही सहायक हो सकते हैं, सुराज्य हो अर्थात् राज्यका सुप्रबंध हो, तो ही सब प्रकारकी उन्नति संभवनीय है अन्यथा अशक्य है। इसके साथ साथ (सोमः आदित्यः सूर्यः) वनस्पतियां, और सबका आदान करनेवाला सूर्य प्रकाश ये बल और आरोग्य वर्धक होनेसे सहायक हैं और अंतमें विशेष महत्त्वकी सहायता (विष्णुः) सर्व व्यापक देवताकी है, जो सर्वोपरि होनेसे सबका परिपालक और सबका चालक है और इसकी सहायता सभीके लिये अत्यंत आवश्यक है। जन्मसे लेकर मुक्तितक इस प्रकार सहायताएं मिलती हैं और इनकी सहायतायें लेता हुआ मनुष्य अपने परम उत्पत्तिस्थानसे यहां आकर फिर वहां ही पहुंचता है। इन शब्दोंसे सूचित होनेवाले अन्यान्य अर्थोंका विचार करके पाठक अधिक बोध प्राप्त कर सकते हैं।

सम्भूय समुत्थान ।

इस सूक्तमें एकताका पाठ स्पष्ट शब्दों द्वारा दिया है । (वाजस्य नु प्रसवे संबभूविम । मं० ८) "बलकी उत्पत्तिके लिये हम अपनी संघटना करते हैं ।" संभूय-समुत्थान के विना शक्ति नहीं होती इसलिये अपनी सहकारिता करके शक्ति बढानेका उपदेश यहां किया है । (सर्वः जनः संगत्यां सुमनाः असत् । मं० ६) "सब मनुष्य सहकारिता करने लगेंगे उस समय परस्पर उत्तम मनके साथ व्यवहार करें ।" ऐसा न करेंगे तो संघ शक्ति बढ नहीं सकती । यह उत्तम सौमनस्य का व्यवहार सिद्ध होने के लिये (ब्रह्म यज्ञं च वर्धय । मं ५) ज्ञान और आत्मसमर्पण का भाव बढाओ । संघशक्ति के लिये इनकी अत्यंत आवश्यकता है । मनुष्यकी उन्नति तो व्यक्तिशः और संघशः होनी है, इस लिये पहले वैयक्तिक उन्नति के उपदेश देकर पश्चात् सांघिक उन्नतिके निर्देश किये हैं । इस प्रकार दोनों मार्गोंसे उन्नति हुई तो ही पूर्ण उन्नति हो सकती है ।

" वाजस्य प्रसवे संबभूविम " (मं० ८) यह मन्त्र बहुत दृष्टिसे मनन करने योग्य है। यहां " वाजः " शब्दके अर्थ देखिये-" युद्धमें जय, अन्न, जल, शक्ति, बल, धन, गति, वाणीका बल " ये अर्थ ध्यानमें धारण करनेसे इस मन्त्रभाग का अर्थ इस प्रकार होता है- " हम युद्धमें विजय प्राप्त करनेके लिये संगटन करते हैं; अन्न जल खाद्य पेय और धनादि ऐश्वर्योपभोगके पदार्थ प्राप्त करनेके लिये आपसकी एकता करते हैं; अपनी वाणी का बल बढानेके लिये अर्थात् हमारे मतका प्रभाव बढानेके लिये अपनी संघटना करते हैं, हमारे एक मतसे जो शब्द हम बोलेंगे वे निःसन्देह अधिक प्रभावशाली बनेंगे; तथा हमारी प्रगति और उन्नतिका वेग बढाने के लिये भी हम अपनी सहकारिता बढाते हैं । " पाठक इस मन्त्रका विचार करनेके प्रसङ्ग में इस अर्थ का अवश्य मनन करें ।

उन्नतिके लिये कंजूसीका भाव घातक है इसलिये कहा है कि (अ-दित्सन्तं दापयतु । मं० ८) " कंजूस को भी, दान न देनेवालेको भी दान देनेकी ओर झुकाओ, " क्यों कि उदारतासे ही संघटना होती है और अनुदारतासे बिगडती है । अपने पास धन तो चाहिये परंतु वह (सर्ववीरं रयिं नियच्छ । मं०८) "संपूर्ण वीरत्वके गुणोंके साथ धन चाहिये ।" अन्यथा कमाया हुआ धन कोई उठाकर ले जायगा इस लिये वीरताके साथ रहनेवाला धन कमानेका उपदेश यहां किया है ।

इस रीतिसे उन्नत हुआ मनुष्यही कह सकता है कि "मुझे पांचों दिशाएं यथाशक्ति

बल प्रदान करें और मनसे तथा हृदयसे जो संकल्प मैं करूं वे पूर्ण होजांय। (मं० ९)" इसके ये संकल्प निःसंदेह पूर्ण होजाते हैं।

हरएकके मनमें अनेक संकल्प उठते हैं, परंतु किसके संकल्प सफल होते हैं? संकल्प तब सफल होंगे जब उन संकल्पोंके पीछे प्रबल शक्ति होगी, अन्यथा संकल्पोंकी सिद्धता होना असंभव है। इस सूक्तमें संकल्पोंके पीछे शक्ति उत्पन्न करनेके विषयका बडा आन्दोलन किया है इसका विचार पाठक अवश्य करें। सूक्तके प्रारंभसे यही विषय है-

"अपनी उत्पत्तिस्थानका विचार कर अपनी उन्नति करनेके लिये कमर कसके उठना, (मं०१); सीधा सरल भाषण करना, मनके भाव उत्तम करना। (मं. २); ज्ञान और त्याग भाव बढाना। (मं. ५); प्राप्त धन परोपकारमें लगाना (मं. ५); सब मनुष्योंको उत्तम विचार धारण करने, एकता बढाने और परोपकार करने की ओर प्रवृत्त करना। (मं. ६); सामर्थ्य बढानेके लिये अपनी आपसकी संघटना करना (मं.८); अपने अंदर जो संकुचित विचारके होंगे उनको भी उदार बनाना (मं. ८); इस पूर्व तैयारीके पश्चात् सब मानसिक संकल्पोंकी सफलता होनेका संभव है।" संकल्पोंके पूर्व इतनी सहायकशक्ति उत्पन्न होनी चाहिये। तब संकल्प सिद्ध होंगे। इसका विचार करके पाठक इस शक्तिको उत्पन्न करनेके कार्यमें लग जांय। इसके नंतर—"सब स्थानमें उसको प्राणशक्ति साक्षात् होती है, सब स्थानसे उसकी पुष्टि होती है, वह सदा प्रसन्नता बढानेवाली ही भाषा बोलता है इस लिये वह तेजस्विताके साथ अभ्युदयको प्राप्त होता है। (मं० १०)"

इस दशम मंत्रमें "गोसनिं वाचं उदेयं" यह वाक्य है। 'गो' का अर्थ है-"इंद्रिय, गौ, भूमि, प्रकाश, स्वर्गसुख, वाणी।" इस अर्थको लेकर-"इंद्रियोंकी प्रसन्नता, वाणीकी प्रसन्नता, प्रकाशका विस्तार, मातृभूमिका सुख आदिकी सिद्धता होने योग्य मैं भाषण बोलता हूं" यह अर्थ इससे व्यक्त होता है। आगे "तेजस्विताके साथ अभ्युदय" प्राप्त करनेका विषय कहा है, उसके साथ यह "प्रसन्नता बढाने वाली वाणीसे बोलना" कितना आवश्यक है, यह पाठक यहां अवश्य देखें। इस प्रकार इस सूक्तके वाक्योंका पूर्वापर संबंध देखकर यदि पाठक मनन करेंगे तो उनको विशेष बोध प्राप्त हो सकता है।

इस सूक्तका संक्षेपसे यह विवरण है। पाठक जितना अधिक विचार करेंगे उतना अधिक बोध वे प्राप्त कर सकते हैं। अधिक विचार करनेके लिये आवश्यक संकेत इस स्थानपर दिये ही हैं, इसलिये यहां अधिक लेख बढानेकी आवश्यकता नहीं है। अग्निका वर्णन करनेके मिषसे किये हुए सामान्य निर्देश मनुष्यकी उन्नतिके निदर्शक कैसे होते हैं, इसका अनुभव पाठक यहां करें। वेदकी यह एक अपूर्व शैली है।

वैदिक यज्ञ संस्था ।

प्रथम भाग । मूल्य १) रु. डा. व्य. ।)

इस पुस्तक में निम्न लिखित विषयों का विचार हुआ है ।

प्राचीन संस्कृत निबंध ।

१-३ पिष्ट-पशुमीमांसा । लघु-पुरोडाश-मीमांसा ।

भाषाके लेख (ले०-श्री० पं० बुद्धदेवजी)

४ दर्श और पौर्णमास, ५ अद्भुत कुमार संभव । (ले० -श्री० पं० चंद्रमणिजी) ६बुद्धके यज्ञ विषयक विचार। (संपादकीय) ७ यज्ञका महत्त्व, ८ यज्ञका क्षेत्र ९ यज्ञका गूढ तत्त्व, १० औषधियोंका महामख, (ले० श्री० पं० धर्मदेवजी) ११ वैदिक यज्ञ और पशु हिंसा। (ले० श्री० पं० पुरुषोत्तम लालजी) १२ क्या वेदोंमें यज्ञों में पशुओंका बलि करना लिखा है ?

वैदिक यज्ञ संस्था द्वितीय भाग । मूल्य १) रु. डा. व्य ।)

इस द्वितीय भागमें निम्न लिखित विषयोंका विचार हुआ है- (ले०-श्री. पं. देवशर्माजी विद्यालंकार)

भारतवर्षमें यज्ञकी कमी, यज्ञकी महिमा, यज्ञसे जो चाहे सो प्राप्त कर लो, यज्ञपुरुष का वर्णन, हवन प्रक्रिया, यज्ञशेष और उच्छेष, राजसूय, विश्वजित्, अश्वमेध, गोमेध, सर्वमेध, वाजपेय, पंचमहायज्ञ, यज्ञ संसारकी नाभि है ।

पं. बुद्धदेवजी लिखित-संज्ञपन और अवदान।

संपादकीय-नरमेध का वैदिक तात्पर्य ।

इतने विषयोंका विचार इस पुस्तक में हुआ है। प्रत्येक विषयके प्रतिपादनके लिये वेदके अनेक प्रमाण दिये हैं और विषयका प्रतिपादन अति सुगम है । मूल्य १) डा. व्य. ।)

वैदिक यज्ञ संस्था तृतीय भाग गोमेध ।

इस पुस्तकमें निम्न लिखित विषयोंका विचार हुआ है—

योगमें गोमांस, प्रकरणानुकूल अर्थ विचार, ऋषिपंचमी, वेदका महासिद्धान्त, यज्ञकी पूर्व और उत्तरवेदी, मधुपर्क, कलिवर्ज्यप्रकरण, बृहदारण्यक का वचन, गौका वैदिक नाम, गोमेधका विचार, चरक की साक्षी, विवाहमें गोमांस, अतिथिके लिये गौ, यज्ञमें मांस, अन्त्य यज्ञ, वेदमें अहिंसा, अवध्य गौ और बैल, यज्ञका तत्त्व, गौको खाना । गौ दान लेने का अधिकारी, रक्षक और पाचक गौका महत्त्व, राष्ट्ररक्षक गौ, गौके लिये सोमरस, सबकी माता गौ ।

इत्यादि अनेक विषय इसमें आगये हैं। हरएक विषयका प्रतिपादन करनेके लिये अनेक वेदमंत्रोंके प्रमाण दिये हैं। जो कहते हैं कि " वैदिक समयमें गोमांस भक्षण की प्रथा थी, " उनके लिये यह उत्तम उत्तर है । यह पुस्तक पढनेके पश्चात् उक्त विषयमें कोई शंका नहीं रहेगी ।

मूल्य१) रु. डा. व्य० ।)

मुद्रक तथा प्रकाशक— श्री० दा० सातवळेकर, भारतमुद्रणालय, औंध, (जि० सातारा)

REGISTERED No 1463

ॐ

वैदिक धर्म।

वैदिक तत्त्व ज्ञान प्रचारक मासिक पत्र।

संपादक— श्रीपाद दामोदर सातवळेकर

वर्ष ९

अंक १०

क्रमांक
१०६



आश्विन

संवत् १९८५

अक्तूबर

सन १९२८

छपकर तैयार हैं।

महाभारत की समालोचना

प्रथम भाग और द्वितीय भाग।

प्रति भागका मूल्य ॥) डाकव्यय =) वी. पी. से ॥।=)

मंत्री— स्वाध्याय मंडल, औंध (जि. सातारा)

वार्षिक मूल्य— म० आ० से ४) वी० पी० से ४॥) विदेशके लिये ५)

वैदिक धर्म ।

जब से " वैदिक धर्म " मासिक में अथर्ववेद का सुबोध भाष्य " मुद्रित होने लगा है, तब से ग्राहक पिछले अंक मंगवाने लगे हैं। परंतु अब गत वर्षके पिछले अंक जहांसे अथर्वभाष्य प्रारंभसे शुरू हुआ है, मिलना असंभव हैं, क्यों कि प्रायः सभी अंक समाप्त हो चुके हैं।

अथर्व-सुबोध-भाष्य ।

इसलिये अलग मुद्रित किये " अथर्ववेद सुबोध भाष्यके पहले दो काण्ड " ही पाठक मंगावें, और तृतीय काण्ड से वैदिक धर्म के अंक मंगावें। प्रत्येक काण्डका मूल्य २) और डा० व्य० ॥) है, अर्थात् प्रथम दो काण्डोंके लिये म० आ० द्वारा ५ रु.) भेज दें। म० आ० आते ही हम उक्त दो पुस्तक रजिस्ट्री द्वारा भेज देंगे। दोनों पुस्तक सजिल्द हैं। और जिल्द भी सुंदर बनाई है।

जो पाठक एक वार यह " सुबोध भाष्य " पढेंगे, उनको इस की सुबोधताका पता लगजायगा। यह इतना सुबोध है कि केवल भाषा जाननेवाले भी इस का पाठ करके लाभ उठा सकते हैं। जो पाठक पढते हैं वे इसकी सुबोधता का स्वयं अनुभव करते हैं।

आजकल वैदिक धर्म में ३२ पृष्ठ इस " सुबोध भाष्य " के दिये जाते हैं और १६ पृष्ठ अन्य लेखोंके होते हैं। पाठक इस की छपाई, कागज आदिकी सुंदरताभी देखेंगे और विचार करेंगे, तो उनको स्वयं पता लग जायगा कि केवल ४) रु० में यह, मासिक देना असंभव है। वार्षिक व्यय भुगतने के लिये या तो ग्राहक संख्या बढनी चाहिये अथवा मूल्य बढाना चाहिये। प्रतिवर्ष नुकसान सह कर ऐसा मासिक चलाना कठिन हो रहा है। इस लिये ग्राहकोंसे सानुरोध प्रार्थना है कि वे इस मासमें एक या दो नये ग्राहक बना कर हमारी सहायता करें।

वैदिक धर्म प्रचार ।

ग्राहक महाशयों! आपके जितने इष्ट मित्र हैं, उनके घर में इस अथर्ववेद के सुबोध भाष्य का पाठ होने लगा तो कितना वैदिक धर्म का प्रचार होगा, इसका आप विचार कीजिये। वैदिक धर्म का स्थिर प्रचार करनेका प्रयत्न आप करेंगे, तो निःसंदेह अल्प समयमें आपके सब इष्टमित्र वैदिक धर्म मासिक के ग्राहक बन जांयगे।

ग्राहक बढाइये ।

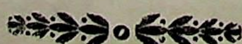
आप अपने इष्टमित्रों को इस वैदिक धर्मका एक अंक बतायेंगें और उनको ग्राहक होनेकी प्रेरणा करेंगे तो एक मासमें आप निःसन्देह चार पांच ग्राहक बढा सकते हैं। आपके इस थोडेसे प्रयत्नसे आपके इष्ट मित्रों के घरोंमें " अथर्व वेदका पाठ " होने लगेगा। देखिये इस विषयमें आप क्या कर सकते हैं।

क्या " वैदिक धर्म" मासिक को इतनी सहायता आप नहीं कर सकेंगे?

केवल " वेद " के धर्मका विचार और प्रचार करने वाला यह " वैदिक धर्म " एकमात्र मासिक पत्र है, दूसरे फालतू लेख इसमें मुद्रित नहीं होते। विज्ञापनोंसे इसके पृष्ठ भरे नहीं होते। वैदिक मंत्रों के विषय का प्रतिपादन करनेवाले ही लेख इसमें होते हैं, ऐसे मासिक का चलना प्रतिवर्षकी हानिके कारण मुष्किळ हो रहा है। तो क्या ऐसी अवस्थामें इस मासिक को उचित सहायता करना आप योग्य नहीं समझते हैं?

इस लिये आपसे निवेदन है आप इस मासमें अपने इष्ट मित्रों में प्रयत्न करके इस " वैदिक धर्म" मासिक की ग्राहक संख्या बढाकर हमारी सहायता कीजिये।

" प्रबंध कर्ता "



मातृभूमिका वैदिक गीत।

(३) तृतीय लेख

पिछले दो लेखों में बतलाया गया कि मातृभूमि के वैदिक गीत की साधारण बातें क्या हैं तथा यह भी दिखाया गया कि जनता में भिन्नता रहते हुए भी एकता का साधन कैसे करना चाहिए और मातृभूमि की सेवा के लिए सब मिलकर किस प्रकार तैयारी करें। पिछले लेखों से वाचकों को निश्चय हुआ होगा कि इस वैदिक राष्ट्रगीत में राष्ट्र की उन्नति के जैसे उच्च तत्त्वों का समावेश हुआ है वैसे तत्व अन्य किसी देश के राष्ट्रगीत में नहीं हैं। तथापि आवश्यक यह है कि इस राष्ट्रगीत पर और भी कई दृष्टि से विचार किया जाय।

जनता में मातृभूमि के लिए प्रेम उत्पन्न होना चाहिए। यह प्रेम तभी हो सकता है जब कि देश के नगरों, पहाडों एवं अन्यान्य स्थानों के प्रति आदर हो। आदर किसी विशेष महत्व के कारण से ही हो सकता है। यदि हम कहें कि इसका आदर करो, तो हमारे कहने से कोई आदर न करेगा। किसी स्थान के प्रति आदर तभी हो सकता है जब उसका किसी महत्व की पुण्यमयी घटना से संबंध हो, या उसका किसी महात्मा से संबंध हो या अन्य किसी विशेष घटना से उसका संबंध हो। अतएव हमे यद देखना है कि वैदिक राष्ट्रगीत इसकी सूचना किस प्रकार देता है।

देवों द्वारा बसाए हुए स्थान।

यस्याः पुरो देवकृतः क्षेत्रे यस्या विकुर्वते।
प्रजापतिः पृथिवीं विश्वगर्भामाशामाशां रण्यां नः कृणोतु॥ ४३॥ अथर्व. १२। १

"हमारी जिस मातृभूमि के नगर देवों द्वारा बनाए गए हैं और जिसके खेतों में सब मनुष्य विविध काम करते हैं, उन सब पदार्थों को अपने गर्भ में धारण करनेवाली मातृभूमि को परमेश्वर सब दिशाओं में हमारे लिए रमणीय बनावे।"

अब इसके (यस्याः देवकृतः पुरः) 'जिसके नगर देवों द्वारा बनाये गए हैं' वाला भाग देखिए। जनता को विश्वास होना चाहिए हमारी मातृभूमि के नगर देवों ने बसाए हैं, हमारे नगरों से देवों का संबंध है, देवों का देवत्व हमारे नगरों ने देखा है। इस प्रकार का जीवित विश्वास यदि जनता के मन में स्थान बना ले, तो निश्चय ही है कि अपने देशके बारेमें मनमें जागृति होगी।

इतिहास में उल्लेख है कि हमारी हिंद भूमि के विविध नगरों का संबंध देवों से हुआ है। भगवान् श्रीरामचंद्रजी का संबंध अयोध्यासे और रामेश्वर से है। श्रीकृष्णजी का संबंध गोकुल, वृंदावन, तथा द्वारका से है। इंद्र का संबंध इंद्रप्रस्थ से है। हमारे देश के आबालवृद्ध जानते हैं कि इस प्रकार अनेक नगरों से देवों का संबंध है। नदियां, तालाव, सरोवर, पर्वत-शृंग, गुफाएं आदि स्थानों से देवदेवताओंका वा पुण्य पुरुषों का संबंध रहा है। इसका हाल ग्रंथों में भी पाया जाता है और सब स्त्री पुरुषों को भी कथा पुराण आदि सुनने से मालूम हुआ है। गौरीशंकर और कैलास के पर्वत - शिखरों का संबंध साक्षात् भगवान् शंकर के साथ है। बद्रीकेदार के आश्रमका संबंध नर नारायण ऋषि मुनियों से है। मातृभूमि की दृढ भक्ति के लिए परम आवश्यक है कि यह संबंध देशके सब स्त्री पुरुषों को विदित होवे।

कुछ अधिक शिक्षित लोग कहेंगे कि यह अंधविश्वास किस लिए? बिलकुल व्यावहारिक हित की दृष्टि से भी मातृभूमि के प्रति भक्ति हो सकती है।

बात बिलकुल ठीक है। पर व्यावहारिक लाभ के साथ ही यदि लोगों के हृदय में ऊपर लिखे संबंधों का भी विचार आवे तो भी नुकसान कुछ न होगा। बालक अपनी माता पर प्रेम करता है। पर इस लिए नहीं कि माता सुंदर है या माता दूध देती है। वह प्रेम करता है क्यों कि 'मातृदेवो भव' के अनुसार माता एक देवता है। बालक का माता के प्रति प्रेम इसी दिव्य भावना के कारण रहता है। बालक का माता के प्रति और माताका बालक के प्रति अकृत्रिम प्रेम रहता है। बदले की आशा न कर जो प्रेम किया जाता है वही दिव्य प्रेम है। वही निरपेक्ष अकृत्रिम प्रेम है। इसी लिए मातृप्रेम व्यावहारिक प्रेम नहीं है। मातृभूमि का प्रेम भी इसी प्रकार अकृत्रिम निःसीम आत्यंतिक और दिव्य होना चाहिए। अकृत्रिम प्रेम उत्पन्न होने के हेतु उपर्युक्त मंत्र में लिखा है कि अपने देश नगरों का संबंध देवोंसे है यह बात सब लोगों को मालूम रहना चाहिए और सब लोग यही सोचें कि हमारे नगर देवों ने बसाए हैं।

जो ज्ञानी लोग आर्थिक वा व्यावहारिक हित की दृष्टि से मातृभूमि की भक्ति करते हों वे भले ही वैसा करें। उसमें किसी की रुकावट नहीं। परंतु सब जनता उस कोटि की ज्ञानी नहीं हो सकती। अतएव साधारण लोगों में विशेषप्रेम उत्पन्न होवे इसी गरज से सब को मालूम होना आवश्यक है कि हमारे देश के स्थानों का संबंध देवों से वा ऋषियों से है।

प्रतापगढ से तथा सिंहगढ से शिवाजी महाराज का संबंध, उदयपूर से महाराणा प्रतापसिंह का संबंध, झांसी से रानी लक्ष्मीबाई का संबंध, गढा मंडला से रानी दुर्गावती का संबंध, परली से स्वामी रामदास का संबंध और इसी प्रकार भिन्न भिन्न इतिहासप्रसिद्ध स्थानोंसे ऐतिहासिक व्यक्तियों का संबंध मालूम होना परम आवश्यक है। सिंहगडका या अन्य किसी स्थान के उस स्थान का जिससे शिवाजी महाराज का संबंध रहा है, यदि कोई भंग करे या अन्य इतिहास प्रसिद्ध व्यक्ति के स्थान का कोई अपमान करे तो उस दुष्ट कार्य से संपूर्ण भारत के हृदय में चोट पहुंचती है। संपूर्ण भारत उस दुष्कृत्य का जबाब पूंछने को तैयार हो जाता है। इसीमें राष्ट्रीय उन्नति का बीज है।

इसीलिए जब विदेशी सरकार दूसरे देशपर अपना अधिकार जमाती है, तब उस देश के ऐसे इतिहास प्रसिद्ध स्थानों को भुलाने में दक्ष रहती है। वह तत्पर रहती है कि ऐसे स्थानों का लोगों को पता भी न रहे। इसका भी मर्म यही है। मुसलमानोंने प्रयाग का नाम अलाहाबाद रखा, सहस्रतीर्थ का नाम इस्लामाबाद रखा, मार्तण्ड को मटन कहा, बाबा महर्षि का बापं मोहद्दिनसि कर डाला, श्री शंकराचार्य के स्थान को तख्त-इ-सुलेमान कहा और इसी प्रकार हजारों शहरों के और स्थानों के नाम बदल दिये। इसका रहस्य हम ऊपर बतला चुके हैं।

जब अंग्रेजों का राज हुआ तब उन्होंने धवलगिरी के गौरीशंकरशिखर का नाम मौंट एवरेस्ट, रख दिया। और सिमला, महाबलेश्वर आदि पर्वतराजों के शिकर के अंग्रेजी नाम बनादिये। इसी प्रकार अन्य कई स्थानों का अंग्रेजीकरण हुआ।

मुसलमानों ने मंदिरों और मुर्तियों का विध्वंस किया और बलात्कार से लोगों को अपने धर्म में मिलाया। अब ईसाई लोग धर्मांतर करा कहे हैं। वे प्रायः प्रत्येक देवस्थान और तीर्थस्थान में खडे रहकर उसकी निंदा करते हैं। इसका भी कारण यही है जिससे कि हमारा हमारे देश के स्थानों का अभिमान मिट जाय।

जेते मुसलमान रहें, अंग्रेज रहें या जापानी रहें, उनका सबका स्वभाव एक हीसा होता है। जित लोगों के हृदय से मातृभूमि की भक्ति नष्ट करने के लिए वे जो कुछ कर सकते हैं वह करने में चुकते नहीं। मातृभूमि के विषय में प्रेम और भक्ति उत्पन्न होने के लिए अपने देश के तीर्थस्थानों का प्रेमपूर्ण इतिहास जनता के हृदय में सदैव जागृत रहना चाहिये। जब तक जनता में मातृभूमि का प्रेम जागृत रहेगा तब तक विदेशी जेताओं के पैर जम नहीं सकते। यही सार्वत्रिक नियम होनेसे सब जेते जीती हुई पादाक्रांत जनता के मातृभूमि के प्रेम के सब चिन्ह जलदी मिटाने का प्रयत्न करते हैं। सं-

सार के इतिहास से वाचक इसकी पुष्टि के उदाहरण स्पष्टतया देख सकते हैं। पुष्टि देखनेपर ही उन्हे ऊपर के मंत्र के उपदेश का रहस्य विदित होगा।

यह तो स्वाभाविक ही है कि लोगों को मालूम हो कि हमारे देश के नगर देवोंके बनाए हैं, हमारे पूर्वजों का उनसे जो संबंध है वह स्मरण रहे, बडे बडे महात्माओं के चरणरज का स्पर्श होने से वे स्थान तारक हो गये हैं। वेद मंत्र ने ऊपर के राष्ट्रगीत के इन भावों का खासा परिचय करा दिया है। अतएव पाठक इस मंत्र का जितना अधिक विचार करेंगे उतनाही उनके लिए अच्छा होगा।

ऊपर के मंत्र में और दो बातें ध्यान देने योग्य हैं। (१) लोग अपने अपने क्षेत्र में ध्यान से काम करें। और (२) देश के निवासी को चारों दिशाएं रमणीय मालूम हों। अपने ही देश की चारों दिशाएं हमको रमणीय नहीं मालूम होती, इसका कारण हमारी पराधीनता है। स्वतंत्र लोगों को सब दिशाएं रमणीय मालूम होती हैं। यह कहना कि 'सब दिशाएं हमें रमणीय दिखें' 'हम स्वतंत्र रहें' कहने के बराबर है। वर्तमान पराधीनता के ही कारण यदि हम पश्चिम में आफ्रिका में, दक्षिण में आस्ट्रेलियामें, पूर्व में अमेरिकामें जाते हैं तो हमें रहने को भी स्थान नहीं मिलता। तब फिर वे देश हमारे लिए रमणीय कैसे हो सकते हैं। इसका कारण यही कि हम पराधीन हैं। स्वतंत्र देश के लोगों का यह हाल नहीं है। स्वतंत्र देश के लोग जहां जावेंगे वहीं उनके लिए रमणीय स्थान तैयार रहते हैं। स्वातंत्र्य और पारतंत्र्य का यह भेद ध्यान में रखना चाहिए।

देश के नगरों के प्रति अपनेपन का भाव मालूम होने का महत्व जो ऊपर के मंत्र में बतलाया गया है वह कैसे भारी महत्व का है सो अपने देश की जनस्थिति से सहज ही समझ सकते हैं। आज जो सात करोड भारतीय मुसलमान हैं वे नब्बे प्रतिशत हिंदू ही हैं। पर धर्मांतर के कारण वे हिंदुओं के बाहर हैं। इसी लिए बनारस रामेश्वर आदि पवित्र तीर्थ स्थानों के प्रति उनमें अपनेपनका भाव नहीं है और विदेश के मक्का, मदीना से उन्होने नाता जोड लिया है। इससे उन्हे भारत देश अपनी मातृभूमि नहीं मालूम होती। वाचक देख सकते हैं कि राष्ट्र की उन्नति की दृष्टि से इस देश का कैसा भारी नुकसान हुआ है। धर्मांतर के बारे में यदि प्राचीन आर्य हिंदुओंने अपनी नीति उचित रखी होती तो आज यह दशा न होती। हमारी इस वर्तमान दशा को ध्यान में रखें और उक्त मंत्र पर विचार करना चाहिए, तब उस मंत्र की महत्ता और उसके अमोल उपदेश का रहस्य मालूम होगा।

ऋषि ऋण।

यस्यां पूर्वे भूतकृत ऋषयो गा उदानृचुः।
सप्त सत्रेण वेधसो यज्ञेन तपसा सह ॥ ३९ ॥

" जिस मातृभूमि में पूर्वके ज्ञानी देश का भूतकाल बनाने वाले ऋषियों ने सत्र और यज्ञ कर के और तप करके सप्त (गाः) भूमियों का उद्धार किया " वह हमारी श्रेष्ठ मातृभूमि है।

(भूतकृतः ऋषयः) हमारे देश का भूतकाल का इतिहास बनानेवाले तपस्वी ऋषि थे। देशवासी यदि इस बात का विश्वास करें तो उन्हे प्राचीन काल के दिव्य समय का निश्चय होगा। पूर्वकाल के दिव्यत्व का एवं उत्तमता का निश्चय हो जाने पर उन्हे इच्छा होगी कि भविष्यकाल भी ऐसा ही उज्वल होवे। और इस इच्छा से प्रयत्न भी करेंगे। जिनका भूतकाल तेजस्वी है उनका भविष्य काल भी तेजस्वी होने का निश्चय जानो।

हमारे प्राचीन पूर्वज जिन्होने हमारे प्राचीन इतिहास में बडे बडे बृहत् कार्य किये, अत्यंत तपस्वी ओर बडे थे। हमारा इतिहास जंगली लोगों की कार्यवाही से मलिन नहीं है किंतु महान् तपस्वी ऋषिमुनियों के प्रशस्ततम कार्यों से उज्वल हुआ है। यह विचार कैसी भारी उत्तेजना देनेवाला है? हमारी राष्ट्रभूमि के सब लोगों का एक मत होकर वे सब राष्ट्रभूमि के प्रति प्रेम दर्साने लगें ऐसा होने के लिए आवश्यक है कि ऊपर की भावना मनमें स्थिर हो जावे। हमारे विचार से इस में दो मत हो नहीं सकते।

जिन्होने धर्मांतर किया वे लोग भी अपने ही हैं। वे उन्हो प्राचीन ऋषियों के वंशज होते हुए भी धर्मांतर के कारण उन्हे अपने प्राचीन दैदीप्यमान इतिहास के विषय का अभिमान नष्ट हो गया। इस से इनकी बात छोड दें तब ऊपर के सिद्धान्त का कोई इन्कार नहीं कर सकता।

ऊपर के विवेचन से विदित होता है कि यह मातृभूमि का वैदिक राष्ट्रगीत कितनी अनेकानेक दृष्टि से वाचकों के मन मेंअपनी मातृभूमि के प्रति आदर बढाता है। इस अति प्राचीन राष्ट्रगीत के प्रति वाचकों के मन में निःसंदेह आदर उत्पन्न होगा।

ऋषि लोग सत्र और यज्ञ से राष्ट्र की उन्नति और राष्ट्र की जागृति करते थे। वर्तमान संक्षिप्त यज्ञ पद्धति से कोईभी प्राचीन सत्र और यज्ञ की कल्पना नहीं कर सकता। इस पद्धति का स्वरूप हम स्वतंत्र लेख मालिका में दिखावेंगे अतएव यहां उसके बारे में विशेष न लिखेंगे। पहले के वैदिक काल के यज्ञ और सत्र आजकल के समान छोटे से मंडपों में नहीं हो सकते थे। उनके मंडपों का विस्तार कई कोसों तक रहा करता था। यह एक ही बात बतला देगी कि प्राचीन काल के यज्ञोंका स्वरूप बिलकुल भिन्न था। राष्ट्रीयता का विचार ऋषियों के अथक परिश्रम से जनता में जारी हुआ। इसी लिए ऊपर के मंत्रों में "भूतकाल बनाने वाले ऋषि" कहकर उनका सन्मान किया है। इसी के संबंध का निम्न लिखित अथर्ववेद का मंत्र देखिए-

भद्रमिच्छन्त ऋषयः स्वर्विदस्तपोदीक्षामुपसे-
दुरग्रे। ततो राष्ट्रं बलमोजश्च जातं तदस्मै
देवा उपसंनमन्तु ॥

अथर्ववेद १९। ४१। १॥

"लोगों का कल्याण करने की इच्छा करनेवाले आत्मज्ञानी ऋषियों ने प्रारंभ में तप किया उससे राष्ट्र बल और ओज हुआ। अतएव देवों को चाहिए इसे नमन करें।"

इसमें बतलाया है राष्ट्रीयता की कल्पना ऋषियों के प्रयत्न से कैसे उत्पन्न हुई। वाचक देख लें कि ऋषि 'भूतकाल बनाने वाले' किस प्रकार थे। राष्ट्रीय भाव ऋषि-ऋण है। उसे चुकाने का प्रयत्न हर एक को करना चाहिए। ऋषियों ने राष्ट्रनिर्माण में जैसे प्रयत्न किये वैसे ही अन्य पूर्वजों ने भी किये। उसका स्मरण करना भी आवश्यक है। आगे के मंत्र में उन पूर्वजों का स्मरण है:—

देव ऋण।

यस्यां पूर्वे पूर्वजना विचक्रिरे यस्यां देवा
असुरानभ्य वर्तयन्। गवामश्वानां वयसश्च
विष्ठा भगं वर्चः पृथिवी नो दधातु ॥५॥

"हमारी जिस मातृभूमि में हमारे प्राचीन पूर्वजों ने पराक्रम किया और जिसमें देवों ने असुरों को भगा दिया, जो गाय, घोडे, और पक्षियों को अच्छा स्थान देती है वह हमारी मातृभूमि हमे ऐश्वर्य और तेज देवे।"

हमारे प्राचीन काल के पूर्वजों ने इस भूमि में बडे बडे प्रयत्न किये, अनेक लडाइयां कीं, अनेक चढाइयां कीं, गनीमी नीति के युद्ध किये और खुले मैदान में लडाइयां कीं,इतना सब काम करके अपनी मातृभूमि का यश उज्वल किया। वह हमारी मातृभूमि आज हमने कैसी रखी है? हमारे पूर्वजों का प्राचीन इतिहास हमारी दृष्टि के सामने है। क्या हम लोगों का बर्ताव उस इतिहास के योग्य है? उन समरविजयी पूर्वजों के वंशज होने का हमें कुछ तो अभिमान चाहिए। उनकी कीर्ति को शोभा देने योग्य हमें कुछ भी तो काम करना चाहिए। पाठक गण, विचार करिये! हमारा वैदिक राष्ट्रगीत क्या कहता है जरा देखिये तो।

जिस देश में प्राचीन समय में देवोंने असुरों को युद्ध में पराजित कर भगा दिया और हमी लोगों के लिए यह देश स्वतंत्र रखा, उसी देश में हम लोगोंने पराधीनता की कालिमा लगादी। कैसे शोक की कथा है!! वाचक ही विचार करें कि राष्ट्रगीत हमे किन बातोंका स्मरण दिलाता है। प्राचीन पूर्वजोंने यों किया और त्यों किया। ये बातें केवल रुखे अभिमान और गर्व के लिए नहीं कही जाती। उनके कहने का उद्देश यह होता है कि उन पूर्वजों के उज्वल कार्यों से हमें स्फूर्ति मिले और हम भी कुछ

वैसा ही कार्य करें । हम लोगों को चाहिए कि उस उद्देश की पूर्ति हम लोगों से कहां तक हो सकी है और न्यूनता को पूरा करने का निश्चय करें।

हमारा यह वैदिक राष्ट्रगीत हमारे धर्मग्रंथोंमें लिखा हुआ है । इसके जैसा राष्ट्रगीत दूसरे देशों के धर्म-ग्रंथों में तो है ही नहीं, पर उन लोगों के अन्य किसी ग्रंथ में भी नहीं है । ऐसा होते हुए भी हमारे देश के लोग राष्ट्रकी उन्नति के विषय में लापरवाह हैं और अन्य बहुत से देशों के लोग राष्ट्रके हित के लिए तत्पर हैं । इस दशा को देख कर कैसा भारी आश्चर्य होता है!! हमारा राष्ट्रगीत इतना विस्तृत है, उसमें उदात्त विचारों के,अप्रतिम विचारों से लबा-लब भरे हुए दिव्य मंत्र हैं । ऐसा होते हुए भी हमारे साहित्य में राष्ट्रीयता का भाव ही नहीं और यह भाव हमारे लिए परकीय हैं इस प्रकार को समझ रखनेवाले हरी के लाल हम में हैं ! अस्तु, वस्तु-स्थिति जैसी है वैसी हमने जनता के सन्मुख रख दी है। जहां पजता है वहां बिकता नहीं और जहां बिकता है वहां पजता नहीं " की कहावत यहां चरितार्थ होती है। और देखिये---

यामश्विनावमिमातां विष्णुर्यस्यां विचक्रमे ।
इन्द्रो यां चक्र आत्मनेऽ नमित्रां शचीपतिः॥
सा नो भूमिर्विसृजतां माता पुत्राय मे पयः॥१०॥

" जिस भूमि की नाप अश्विनीकुमारों ने की, जिस भूमि में भगवान् विष्णुने पराक्रम किया, शक्तिशाली इन्द्रने जिसे अपने लिए शत्रु रहित किया वही हमारी मातृभूमि, जैसे अपने बालक का दूध देती है वैसे ही, मुझे उपभोग के पदार्थ देवे ।"

इस मंत्र में स्पष्ट शब्दों में बतला या है कि देवोंने इस मातृभूमि के लिए क्या क्या किया। अश्विनी कुमारों ने देश देशांतरों के क्षेत्रों की नाप की, देशों की सीमाएं निश्चित की, जमीन नापली और इस प्रकार मातृभूमि की सेवा की। भगवान् विष्णु ने जो पराक्रम किये वे सब को विदित ही हैं। इन्द्रने हजारों युद्ध किये और इस मातृभूमि को शत्रु के कष्टों से छुडाया । इस प्रकार अन्यान्य देवताओं ने भी इस मातृभूमि के लिए जो कुछ बन सकता है किया। उसमें कुछ कसर न रखी। देव और असुरों के युद्ध में हजारों देववीरों ने इस मातृभूमि के उद्धार के लिए युद्धक्षेत्र में अपना बलि-दान किया और इस भूमि को स्वतंत्रता का सौभाग्य प्रदान किया। वही देवों का व्रत हमें भी चलाना चाहिए। देवोंने निश्चित किए हुए मार्ग का ही निश्चय हम लोग भी करें। यह जानकर कि हम लोगों के लिए देवोंने तथा उस समय के पुरुषोंने क्या क्या किया, हमे उनके ऋण से छुटकार पाने का प्रयत्न करना चाहिए।

ऋषिऋण कौनसा है सो बतला दिया गया, देव-ऋण कौनसा है सो भी बतला दिया गया। इन ऋणों से मुक्त होने के लिए हमें प्रयत्नशील बनना चाहिए। प्रत्येक को सोचना चाहिए कि हम ऋण-मुक्त होने की चेष्टा कर रहे हैं या नहीं। इस देवऋण के बारे में एक और मंत्र देखने योग्य है-

यां रक्षन्त्यस्वप्ना विश्वदानीं देवा भूमिं पृथि-
वीमप्रमादम्। सा नो मधुप्रियं दुहामथो उक्षतु
वर्चसा॥७॥

" देव जिस मातृभूमिकी रक्षा गलती न करके और आलस न करके करते आए हैं वह मातृभूमि हमलोगों को तेज और मीठा शहद आदि खाने के पदार्थ देवे । "

(अ-स्वप्नाः देवाः) आलस न करते हुए देव इस भूमिकी रक्षा करते आए हैं। उन आलस न कर सदैव काम करने वाले देवों के सन्मुख खडे होने में आलसी लोगोंको शरम आनी चाहिए। न थकते हुए, विश्रांति न लेते हुए हमलोगों के लिए जिन देवों ने ऐसे भारी परिश्रम किए, उनके उस पवित्र कार्य के बदले में हमलोगों ने क्या किया? उनका स्वातंत्र्य रक्षा का कार्य क्या हम लोगोने चलाया है? और कुछ नहीं तो क्या हम लोगों ने राष्ट्रोन्नति का कार्य सदैव जारी रखने का भी निश्चय किया है? वाचक न भूलें कि इन बातोंपर विचार करने का समय आगया है।

ऊपर के मंत्र में यह भी कहा है कि (देवाः अप्रमादं रक्षन्ति) देव गलती न करके रक्षा करते हैं । गलती न करके रक्षण किया इसीसे तो देव बंधन से छुटकारा पा सके। असुरोंने

अनेक बार देवोंको चिरकाल की पराधीनताकी बेडी में जकड देना चाहा । रावण, बलि और इनके सदृश अन्य राक्षसों ने इस प्रयत्न में कुछ भी कसर न रखी। किंतु ऐसे सब अवसरों पर देवोंने पुरुषार्थ की पराकाष्ठा की, अपनी स्वाधीनता बनाए रखी और असुरों को भगा दिया। गलती न कर दक्षता से कर्तव्य करने की जो दीक्षा देवों ने हमे दी क्या हमें उसका अभ्यास सावधानी से न करना चाहिए ? स्वदेश के कार्य में हमलोगों की दक्षता क्या वैसी है जैसी होनी चाहिए? हम लोक निरे हठके कारण पग पग पर क्या भारी भूलें नहीं कर रहे ? वास्तव में राष्ट्रकार्य के लिए आत्मसमर्पण करने को हमे सदैव तैयार रहना चाहिए। किन्तु आत्मसमर्पण का समय आने पर उसकी ओर ध्यान न देनेवाले कितने ही लोग हममें हैं। यदि वाचक स्वयं ही इत बात को सोचेंगे तो उन्हे विदित हो जावेगा कि हमें क्या करने की आवश्यकता है।

विद्वानों का ऋण ।

ऋषियों का राष्ट्रकार्य हम देख चुके। देवों ने क्या किया सो भी देख लिया। हमें अब देखना है की जो ऋषि नहीं और देव भी नहीं उन मननशील बुद्धिमान् पुरुषों ने कौनसा कार्य करके राष्ट्र की सेवा की —

याऽर्णवेऽधि सलिलमग्र आसीद्यां मायाभि
रन्वचरन्मनीषिणः। सा नो भूमिस्त्विषिं बलं
राष्ट्रे दधातूत्तमे ॥ ८॥

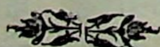
"हमारी जो मातृभूमि प्रथमारंभमें समुद्रके नीचे थी और जिसकी सेवा मननशील विद्वानोंने अनेक प्रकार के कौशल के काम करके की, वह हमारी मातृभूमि हमारे उत्तम राष्ट्र में तेज और बल धारण करे।"

इस मंत्र का ' यां मायाभिःअन्वचरन् मनीषिणः।' प्रस्तुत लेख के प्रतिपाद्य विषय की दृष्टि के अतिशय महत्व रखता है। इसका 'माया' शब्द अतीव महत्व का है। इस माया शब्दका अर्थ अद्वैत-मत का मायावाद नहीं है। माया शब्द के कई अर्थ हैं। "(१) कुशलता, काम की कुशलता, कौशल से किया हुआ कारीगरी का काम, चातुर्य (२) कपट, दांवपेंच जिनकी आवश्यकता राजनीति में है, शत्रुको चकमा देने की विद्या।" ये सब अर्थ माया शब्द के ही हैं। इन दोनों अर्थों से माया शब्द मंत्रमें आया है। (मनीषी) मननशील लोग समय को देखकर कुशलता से, चतुराई से, कपट से, वा राजनीति के नियमों से मातृभूमि की सेवा करते हैं। यही इस मंत्र का आशय है।

इस प्रकार देव, ऋषि, और अन्य विद्वानोंने हमारी मातृभूमि की सेवा की है। जो मार्ग ऋषि, देव और अन्य बडे बडे ज्ञानी लोगों ने दिखा दिया उसीसे हमें आक्रमण करना चाहिए, उसी रास्ते से हमें जाना चाहिए। तभी हमारी भलाई होगी। हम पर तीन ऋण हैं;ऋषि ऋण, देव ऋण और अन्य ज्ञानियोंका ऋण। हमें इन ऋणों को देखना चाहिये और उनसे मुक्त होनेकी चेष्टा करनी चाहिए।

इस लेख के वैदिक राष्ट्रगीतके मंत्र हमारे राष्ट्रीय कर्तव्योंका संबंध ऋषि-काल की बडी विभूतियों से भिडाते हैं। हमारा अखण्ड राष्ट्रीय कर्तव्य ऋषियोंने आरंभ किया, देवोंने उसकी पुष्टि की और अन्य विद्वानों ने उसे बडाया। इस त्रिवेणी संगम में से वह हमारे पास आया है। इसी से हमें उसे आगे चलाना चाहिए। उसे चलाना हमारा आवश्यक कर्तव्य ही है। यदि हम उस कार्य को नहीं चलाते तो ऋषि और देव हमें जबाब पूछेंगे। हर एक को यह बात अच्छी तरह स्मरण रखनी चाहिए।

वाचक विचार करें इस मंत्रके उपदेश पर अच्छी तरह ध्यान दें और देखें कि हमारा धर्म कैसे विलक्षण और उच्च राष्ट्रीय धर्म का उपदेश करता है; और वे उसके अनुसार आचरण के लिए तत्पर हों। हमारे राष्ट्र को संसारके राष्ट्रोंमें उच्चसे उच्च स्थान पर पहुंचाने की जबाबदेरी हमपर ही है। उसे निभानेके लिए हमें सदैव तैयार रहना चाहिए। (क्रमशः)



हिंदू समाज समर्थ कैसा बनेगा ?

(ले० श्री. पं. महादेव शास्त्री दिवेकर वाई जि. सातारा)

प्रकरण दूसरा.

शरीर बल विचार.

किसी भी समाज को समर्थ बनाने के लिये उसके शरीरबल, मनोबल, समाज बल व द्रव्य बल की आवश्यकता होती है। इस प्रकरणमें हम शरीर बल पर विचार करेंगे ।.

देश का लक्ष्य आजकल शरीर बल की तरफ से कम हो गया है । जब से स्वदेशी आंदोलन प्रारम्भ हुआ तभी से जनता का ध्यान अखाडों की ओर आकर्षित हुआ है। इस आंदोलन से प्रथम, व्यायाम संस्थाए बिलकुल शिथिल पड गई थीं परंतु हर्ष की बात है कि हिन्दू संगठनके कारण शनैः शनैः उनका पुनर्जन्म हो रहा है। मुसलमानों का प्रतिकार, प्रतिकारियों का सामना तथा स्वराज्य संचालन करने के लिये हिंदुसमाज को शरीरबल का ही मुख्य साधन प्राप्त करना चाहिये । इसको छोड कर दूसरा उपाय नहीं हो सकता। शरीर सब साधनों में मुख्य साधन है इसीलिये " शरीरमाद्यं खलु धर्मसाधनम् " ऐसा कहा जाता है । शरीर बल ही एक ऐसी वस्तु है जो धर्म, समाज, राजकारण अथवा इसके व्यतिरिक्त,अन्य कार्योंमें सफलीभूत बना सकती है। यदि शरीर सुदृढ, नीरोग व बलयुक्त न हो तो कोई भी कर्तव्य भली भांति पूर्ण नहीं हो सकता। सब संपत्तियों में शरीर संपत्ति ही मुख्य है । इस संपत्तिके नाश होने पर कोई भी समाज या राष्ट्र जीवित नहीं रह सकता । स्वराज्य प्राप्त होने पर राज्यकार्य सम्हालने के लिये तथा नवीन राज्यप्राप्ति के लिये शरीर बलको ही प्रधानता देनी पडती है । सेना में हृष्ट पुष्ट तथा पानीदार सैनिक ही रखे जाते हैं हिंदुसमाज का स्वराज्य चला गया और उसी के संग उसका शरीर बल भी नष्ट होगया। शरीर बल की गई हुई संपत्ति को पुनः प्राप्त कर लेना चाहिये । निर्बल अजागल तथा क्लीब समाज का आदर इस संसार में कहीं भी नहीं है। मनुष्य कितना ही चतुर, बुद्धिमान तथा नियमपालक क्यों न हो तो भी उसे किसी विशेष प्रसंगपर सामना करने को सन्मुख आना ही पडता है। किसी मनुष्य से मुठभेड हो जाने पर सब बल एकही ओर रह जाते हैं केवल शरीर बल ही एक ऐसा बल है जो उस समय काम देता है । श्री. समर्थ रामदासस्वामी जी का कहना है कि " शक्ति से ही राज्य की प्राप्ति होती है और युक्ति से यत्न होता है । " जहाँ शक्ति और युक्ति का सम्मिलन होता है वहीं राज्य की प्राप्ति होती है । शक्ति से राज्य की प्राप्ति और युक्ति से उसकी रक्षा होती है । बुद्धि, बल, शक्ति, युक्ति, शस्त्र, शास्त्र इन सबका एक ही प्रकार का महत्व है। इन सब बातों को सामने रखते हुए हिंदूसमाज को शरीर बल प्राप्त करने का उपाय करना चाहिये ।

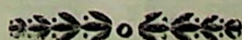
प्रत्येक हिंदूपालक को ऐसा प्रण करना चाहिये कि " मैं देवताओं, देश, तथा व्यायाम को कभी नहीं भूलूंगा । " केवल शपथ ही नहीं परन्तु उसे पूर्णरीति से पालन करने की प्रतिज्ञा करनी चाहिये। जिस प्रकार देवताओं के प्रति नित्यस्मरण, तथा देश के प्रति कर्तव्याचरण आवश्यक है उसी प्रकार व्यायाम की भी नित्य उपासना करनी चाहिये। प्रातःकाल में सूर्यनमस्कार, प्राणायाम, आसन,दौडना,घूमना तथा संध्यासमय में कुश्ती लडना, लाठी चलाना मलखम इत्यादि का व्यायाम प्रत्येक हिंदूकी शास्त्र पद्धतिके अनुसार करना अवश्यक है। शरीर में फुर्ती, मस्ती व मन में धैर्य का विकास हो इस प्रकार का

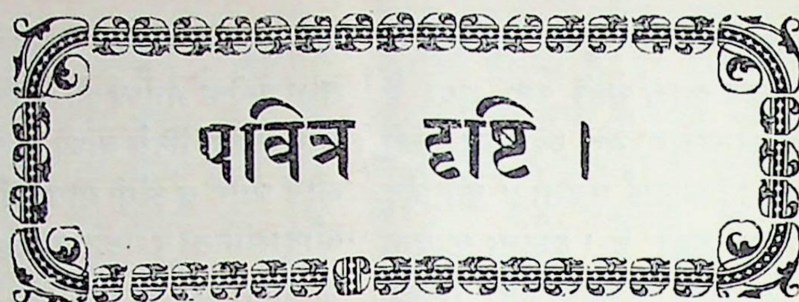
व्यायाम करके प्रत्येक व्यक्ति को प्रतिवादी तथा, आरोपी होने की तय्यारी करनी चाहिये ।. हिंदू पालक का कोई भी बालक यदि रोता हुआ आता है, किसी का उलहना लेकर आवे तो महान दुःख होने की बात है इसके विरुद्ध यदि वह किसी को मार कर. आरोपी तथा प्रतिवादी बनकर आवे तो महान आनंद होना चाहिये।

जब प्रत्येक हिंदू पालक प्रतिदिवस नियम से व्यायाम करेंगे तभी उनके बालबच्चे भी उनका अनुकरण करेंगे यदि अपने बालकों को बलिष्ट बनाना है तो प्रत्येक हिंदू पालक को स्वयं भी व्यायाम करना चाहिये । प्रायः ऐसा दृष्टिगोचर होता है कि हम लोग जितनी चिंता अपने बच्चों के परीक्षा में पास होने, उनके शीघ्र नोकरी मिलने की तथा उनके विवाह की करते हैं उतनी उनके बल व पुरुषार्थ की नहीं करते । जिस प्रकार माता पिता अपने बालकों के अध्ययन के विषय में सचेत रहते हैं उसी प्रकार यदि वे उनकी शक्ति तथा आरोग्यता के विषय में भी ध्यान रखें तो बालक अधिक चिरंजीवी हों। पिता अपने पुत्र को पत्र में 'चिरंजीव' इस शब्द से सम्बोधन करके आशीर्वाद देता है परंतु उसे चिरंजीवी बनाने के लिये जिन उपायों की आवश्यकता है उसपर कभी भी ध्यान नहीं देता । बच्चे की भलाई के लिये अनेक कष्टों को सहकर माँ बाप धन एकत्रित करते हैं परंतु बालक जो स्वयं ही राष्ट्र के धन हैं उनके विषय में जैसी चिंता उन्हें रखनी आवश्यक है नहीं रखते । " राष्ट्र की संपत्ति भविष्य की तरुण पीढी ही है तथा देश की तिजोरी उज्ज्वल रत्न देश के बालक और बालिकाएं ही हैं । " इनके खाने पीने आरोग्यता तथा व्यायाम की चिंता यदि हिंदू पालक यथाशास्त्र करेंगे तो समाज का बल बात की बात में बढ जायेगा । लडकों से प्रातः व सायं विविध प्रकार व्यायाम कराना, व " ऐसी व्यवस्था कर देना जिससे वे स्वेच्छासे व्यायाम करने लगें, बालकों का उसी प्रकार का स्वभाव निर्माण करने के लिये स्वयं भी व्यायाम करना यह सब माता पिता का मुख्य धर्म है । आजकल नाजुकीपन की तो हद होगई है । थोडी धूप लगने से ही गर्मी लगने लगती है और थोडा जाडा लगने से बहुत से लोग बीमार ही हो जाते हैं । इलायची से जाडा व लवंग से गर्मी अनुभव करने वाली प्रजा संसार के भयंकर धकाधकी के क्षेत्र में कैसे ठहर सकती है । द्रव्य, गृह, सम्मान, स्वाभिमान तथा स्त्री के रक्षणार्थ जनता को अपने लडकों को बलवान बनाना चाहिये । हिंदुओं की भावी तरुण संतान यदि मर्द बनगई तो संसार में कठिन कार्य संपादन करके अपना नाम उज्वल करेंगे । यदि नामर्द ही बनी रही तो वह समय दूर नहीं है जब कि संसार से उसका नाम उठ जायगा । नौ पीढी में जो दुर्बलता, भीरुता तथा कातरता आई हुई है उसे नष्ट करने को जनता को अब बद्धपरिकर होना चाहिये और स्वतः का उदाहरण अपने बालकों के सामने रखकर उनको बलिष्ठ बनाना चाहिये । "हमारे पीछे हमारे बाल बच्चों की क्या स्थिति होगी" इसका विचार करने की अपेक्षा माँबापको यह देखना उचित है कि " हमारे सामने ही वह किस प्रकार समर्थवान बन सकते हैं "। दूध घी, फल व पौष्टिक अन्न खिलाकर लडकों को बलवान तथा उत्तम वीर्यवान बनाना ही उनका धर्म है। पौष्टिक अन्न खाकर प्रत्येक हिंदूमात्र को यह समझ लेना अत्यावश्यक है कि व्यायाम कर लेना ही आधुनिक युगका धर्म कृत्य है । प्रत्येक हिंदू पालक को लडकों की भांति लडकियों की भी चिंता करनी चाहिये और उन्हे प्रतिकारक्षम बनाना चाहिये । स्त्रियों के व्यायाम की ओर हिन्दुसमाज का लक्ष बिलकुल ही नहीं है । इसी कारणदिन प्रति दिन स्त्रीजाति निःसत्व होती जा रही है । स्त्रियाँ पालतू जानवर के सदृश हैं अथवा वे देवियें हैं ऐसी परस्पर विरुद्ध दो प्रकार की कल्पनाएं हिंदुसमाज में उठ रही हैं । इन दोनों कल्पनाओंको पृथक रखकर स्त्रियें मनुष्य हैं, गृहिणियें हैं, माता हैं ऐसा विचार करके जनता को इनके शरीर बलके प्रति भी लडकों की अपेक्षा विशेष ही ध्यान रखने की जरुरत है । हिंदू संस्कृति दृष्टि से लडकियें दूसरे घर की धन है परंतु योग्य पद्धति से कन्यादान होनेपर्यंत पिता ही उसका ट्रस्टी है । इस कारण से उसे इस दूसरे की संपत्ति

को अत्यंत सुरक्षित रखना चाहिये। पूर्व परंपरा के अनुसार अब घर का काम काज नहीं रह गया है और अंग्रेजी पद्धति के अनुसार भी व्यायाम नहीं होता। इस कारण ऐसा दिखलाई पडता है की हिंदू स्त्रियों में कोई भी व्यायाम नहीं है। दलना काढना कपडे धोना, पानी भरना इत्यादि कार्य जहाँ स्त्रियों को स्वयं करने पडते हैं उस घरकी स्त्रियें सदैव आरोग्य रहती हैं। इसके विपरीत नवीन यांत्रिक सुधार के अनुसार जहाँ स्त्रियें यह सब कार्य नहीं करतीं वहाँ की स्त्रियें फैशनेबिल व दुर्बल ही बनी रहती हैं। लडकों की तरह लडकियों को भी अनेक प्रकार के खेला, व्यायाम, कवायत, तरवार तथा अन्य शस्त्रों की भी शिक्षा, देना आवश्यक है। लडकियों को इन विषयों का ज्ञान होने पर ही वे अपने युवावस्था में समय पडने पर उनका उपयोग कर सकेंगी। मनुष्यत्व का हक, सम्मान, स्वाभिमान इत्यादि बातों में स्त्रियों को प्रतिदिवस संशयास्पद स्थिति में रहना पडता है। इसी कारण बौद्धिक शिक्षण के साथ ही साथ उन्हें शरीर बल शिक्षण भी देना चाहिये। हिंदूसमाज के पडोसी जो अन्य समाज हैं और जबतक "दूसरों की स्त्रियों को भ्रष्ट करने में स्वर्ग की प्राप्ति होती है" ऐसी जिनकी भावनाए हैं तबतक उनके साथ कौनसा कैसा समय कब आजायेगा कह नहीं सकते। ऐसी स्थिति में स्त्रियों को पहले से ही सशस्त्र रखना उचित है। कभी घरके पुरुषवर्ग घर पर नहीं रहते। आपत्ति पहले से ही डंका बजाके नहीं आती। ऐसी अवस्था में स्त्रियों को असहाय न होना पडे ऐसा ही उपाय हिंदू समाज को करना उचित है। विशेष क्या। पुरुषों को सहायता देनेके लिये स्त्रियों को भी मर्द बनना चाहिये।

गांव गांव में छोटे बडे जितने भी अखाडे स्थापित होंगें उन सब की आज महान आवश्यकता है। बनेठी, लाठी, पटा के शिक्षण के साथ ही साथ मर्दाने खेलों स्पर्धा का भी प्रबन्ध होना चाहिये। पंद्रह वर्षसे बीस वर्ष तकके विद्यार्थियोंको प्रतिदिवस एकवार इन सबका अभ्यास अवश्य करना चाहिये तथा प्रत्येक मनुष्य को अपने बालकों को इन खेलों में भाग लेनेके लिये बाध्य करना चाहिये। बालकपन में लाड प्यार व अंधी माया, और प्रौढावस्थामें तरुणोंकी औदासीनता व गदहापचीसी की विशेषता से समाज के शरीरबल की हीन स्थिति होगई है। पाठशालाओं में अध्यापकों को घर में गृहपति व अन्य स्थानों में सदगृहस्थों को नवयुवकों पर लक्ष्य रखकर ऐसा कार्य कराना चाहिये जिससे वे मर्द व जवान बनें। प्रत्येक हिन्दू को "लडका पाठशाले जाता है कि नहीं, व्यायाम में भाग लेता है कि नहीं, मर्दपन का कुछ खेल खेलता है कि नहीं" इत्यादि बातों का ध्यान अवश्य रखना चाहिये। इतनाही नहीं कमसे कम घर पर ६०बार सूर्य को नमस्कार ही करवा लेना अत्यावश्यक है। यह एक घरेलू उत्तम व्यायाम है। इसको करने का प्रत्येक हिंदू को अधिकार है। क्यों कि सूर्य भगवान हिंदू मात्र के पूज्य देव हैं इसमें कुछ वाद विवाद नहीं है। किसी उपाय किसी साधन द्वारा भारतवर्षको भावी संतान का बल बढाना ही चाहिये। अनेक प्रकार के कष्टमय कार्य, बल बढाने की स्पर्धा विविध संस्थाए, अनेक स्वयंसेवकदल, कवायत की पलटनें व सेवासमितियों की स्थापना तथा उन के बढाने की योजना करके हिन्दूसमाज की भावी पीढी जितनी बलवान हो सकती है उतनी बलिष्ट बनानी चाहिये। "व्यायाम के लिये खूब भोजन तथा मांस भक्षण की ही अवश्यकता होती है" ऐसा कहना ठीक नहीं जान पडता। हिन्दूलोग जो तृणधान्य, द्विदल धान्य, शाक भाजी दूध दही, घी इत्यादि सब पुष्टिकारक पदार्थ खाते हैं, इस लिये इनमें बहुत पौष्टिक भाग है जोरदार बननेको मांसाहारकी आवश्यकता है ऐसा नहीं कह सकते। क्रूरता का भाव लाने के लिये मांस खानेकी आवश्यकता होती है इससे जो हिंदूजाति मांसाहारी है उन्हे मांसाहार करना जरूरी है। हिंदूसमाज शारीरिक बल की अपेक्षा मानसिक दुर्बलही में भी बढा चढा है इस कारण दूसरे प्रकरण में हम मानसिक दुर्बलता का विचार करेंगें।





पवित्र दृष्टि।

(ले० श्री. त्र्यं. ग. जावडेकर, धुळें)

स्त्रीणां प्रेक्षणालम्भम्।

ब्रह्मचारी का मतलब ही यह है वह स्त्रियों के प्रति आंख उठाकर भी न देखे। उसे अपनी दृष्टि पवित्र करनी चाहिए। इस पर आक्षेपक कहेंगे कि यह तो शास्त्रकारों का जुल्म है। हम मानते हैं कि यह बात दिखने में जुलुम जैसी दिखती है। परंतु यह दिखावट का जुलम अन्तर्याममें अत्यन्त कल्याण-कारी है। प्रत्येक आनेजानेवाली या पास ही काम करनेवाली स्त्री के मुख की ओर हमेशा देखने की आदत हो जाय तो ऐसी आदत का परिणाम क्या होगा सो क्या विशेष स्पष्ट रीति से बिना बतलाए नहीं समझ में आ सकता? यदि सदैव स्त्रीमुख की ओर टकटकी लगाकर देखने की आदत पडजाय तो उसका स्वाभाविक परिणाम यह होगा कि धीरे धीरे स्त्रीविषयक काम विचार मन में आने लगेंगे। यदि अनिष्ट विषय चिंतन आरंभ हो जाय तो उसी से अनर्थ की परंपरा शुरू हो जाती है। भगवान् श्रीकृष्ण ने अर्जुन को बहुत ही अच्छी तरह बतला दिया है कि यह अनर्थ-परंपरा कैसे होती है।

ध्यायतो विषयान्पुंसः संगस्तेषूपजायते।
संगात्संजायते कामः कामात्क्रोधोऽभिजायते॥
क्रोधाद्भवति संमोहः संमोहात्स्मृतिविभ्रमः।
स्मृतिभ्रंशाद् बुद्धिनाशो बुद्धिनाशात्प्रणश्यति॥

"विषयों का चिंतन करनेवाले पुरुषका उस विषय का परिचय बढते जाता है। इस संग से आगे चलकर काम अर्थात् उस विषय को प्राप्त करने की वासना उत्पन्न होती है। (यह काम तृप्त होने में अडचन होते ही) इस काम से क्रोध उत्पन्न होता है। क्रोध से संमोह अर्थात् अविवेक होता है। संमोह से स्मृतिभ्रम, स्मृतिभ्रंशसे बुद्धिनाश और बुद्धिनाश से पुरुष का सर्वस्व नष्ट हो जाता है।"

प्राचीन पद्धति के अनुसार अब विद्यार्थीयों का निवास अरण्य में गुरुगृह में नहीं होता परंतु वे शहरमें और कुटुंबमें रहते हैं। कोई कहेगा कि शहर में निवास है तो परस्त्री मुख अवश्य ही दिखेगा। पर शहरमें रहते भी जबतक हठात् स्त्री के मुख की ओर देखा न जाय उसका अवलोकन कैसे हो सकता है? प्रथम तो कारण न रहते अपन स्त्री की ओर देखना और फिर ऊपर जैसा आक्षेप करना। यह बात निरी धूर्तता है। आवश्यकता पडने पर यदि स्त्री के मुख की ओर देखा भी जाय तो उसी भावसे देखा जाय, जैसे अपन माता या बहन को देखते हैं। इस भाव से देखें तो देखने का दोष नहीं लगता। पर-स्त्री के प्रति विद्यार्थियों के भाव वैसे ही हों जैसे साधुवर्य तुकाराम के थे।

" परकिया नारी रखुमाई समान।
हें तों गेलें नेमून ठांईचेची॥ "

"अर्थात् परस्त्री केवल मा या बहन के समान ही नहीं है वह साक्षात् श्री बिष्णुकी पत्नी श्रीलक्ष्मी है।"

लोकमान्य तिलक गृहस्थ-धर्म का पालन करते हुए कई स्त्रियों की सहायता करते थे। उनका चाहे जो काम वे कर देते थे पर वे कभी भी उन स्त्रियों के मुख की ओर नहीं देखते थे। संकट के समय लोकमान्य तिलक से सलाह लेने के हेतु कई स्त्रियां उनके पास जाती थीं। वे घंटों तक उनसे बातचीत करते बैठती थीं। पर लोकमान्य एकबार भी सिर ऊंचा कर उन स्त्रियों के मुख की ओर न देखते थे। संपूर्ण श्रवण सिर झुकाए हुए करना, जो कुछ स-

ल्लाह देना है वह भी वैसे ही सिर झुकाए देना। इतना हीं चुकने पर अधोवदन से ही वे उनसे पूछ लेते कि काम हो गया या नहीं और काम की बातचीत खतम होने पर वे उन स्त्रियों को जाने को कहते। राजनैतिक विचारों के कारण लोकमान्य तिलक के कई शत्रु थे, किन्तु उनके चरित्र पर कोई दोष नहीं लगा सका। उन्होंने स्वयं अपना आचरण इतना शुद्ध और पवित्र रखा कि उसमें दोषों के लिए स्थान ही न था। ऐसा निष्कलंक आचरण रखकर श्रेष्ठ पदवी को प्राप्त करना चाहिए। नेता कई हैं परंतु उनकी नीति की रीड Moral Back-bone टूटी रहती है। जिसे नीति की रीड नहीं वह कितना भी भारी विद्वान क्यों न हो उसका भारी प्रभाव नहीं पड सकता। विचार करने योग्य बात है लोकमान्य तिलक और महात्मा गांधी की ही धाक उन्ही का प्रभाव सबसे अधिक रहा सो क्यों? लोकमान्य और महात्माजी दोनो का आचरण और नीतिमत्ता अत्यंत अशंक-नीय थी और है भी इसीसे वे अत्यंत प्रभावशाली हुए।

' बलशाली लक्ष्मण '

स्त्री की ओर देखने के बारे में श्रीरामचंद्रजी के भाई लक्ष्मण का नियम अत्यंत कडा था। जब रावण सीताजी को हरण कर ले गया तब राम और लक्ष्मण उसकी खोज करने चले। चलते चलते दोनो भाई सुग्रीव के पास पहुंचे। सुग्रीव कुछ गहने पाया था। वे उसने रामचंद्रजीको बतलाए और कहा कि देखिए क्या आप इन्हे पहचान सकते हैं? क्या ये गहने सीताजी के ही हैं? स्त्रीहरण हो जाने से रामचन्द्र-जी विमूढ से हो गये थे। अतएव उन्होनें लक्ष्मण से कहा कि इन गहनों को देखो और बतलाओ कि वे सीताजी के हैं वा नहीं। तब लक्ष्मण ने कहा—

भूषणे नैव जानामि नैव जानामि कुंडले।
नूपुराण्येव जानामि नित्यं पादाभिवंदनात् ॥

" भाई साहब! इनमें बाहु भूषण दिखते हैं उन्हे तो मैं नहीं पहिचान सकता, कर्ण कुंडल दिखते हैं उन्हे भी नहीं पहिचानता। परंतु नूपुरों को मैं अवश्य पहचानता हूं क्यों कि मैं प्रतिदिन माता सीताजी के पद वंदन करता था। इससे वे नूपुर मुझे रोज दिखाई देते थे। मैं यदि उनके मुखको ओर किसी भी समय देखता होता तभी तो मुझे अन्य आभूषण दिखाई देते। पर मै उनके मुख की ओर कभी भी नहीं देखता था। "

ऐसे कठिन व्रत से लक्ष्मण रहता था। इसीसे उसमें ब्रह्मचर्य का तेज झलकता था। रावण का पुत्र इंद्रजित् उर्फ मेघनाद भी बडा पराक्रमी था। उसने स्वर्ग में पहुंच कर साक्षात् इंद्र को कैद किया था। तब ब्रह्मदेव ने मेघनाद को समझा बुझाकर इंद्र को जैसेतैसे छुडाया था। रावण के पुत्र का सच्चा नाम मेघनाद था। पर इंद्र को जीत लेने के कारण उसे ' इंद्रजित् ' नाम मिला था। ऐसे पराक्रमी को कौन जीत सकता था? रामचंद्रजी से जब मेनघाद का हाल बतलाकर पूछा गया कि उसे कौन जीत सकेगा? तब उन्होंनें कहा " जिसनेबारा वर्ष तक कठिन ब्रह्मचर्य व्रत का पालन उचित रीति से किया है और इस समय जिसके मन में अपवित्र विचार तक नहीं आया वही इस काम को कर सकता है; अन्य कोई इसे नहीं कर सकता।" लक्ष्मण ऐसा ही था इसीसे वह मेघनाद से लड सका। तिसपर भी मेघनाद का वध करने में लक्ष्मण को भी एक नया उपाय ढूंडना पडा। विद्यार्थियों को इस कथा के पढने एवं मनन करने पर एक और बात पर ध्यान देना होगा। देव और दैत्यों की लडायां त्रिकाल से होती रहीं हैं। इनका बीज क्या है? इसका बीज यही है कि ब्रह्मचर्य का पालन करनेमें दैत्य देवों से भी बढकर थे। यही कारण है कि देवों की हारबार बार होती थी। और दैत्यों की जीत होती थी। तब देव दौड दौडकर शिवजी और श्रीविष्णुके पास जाते और रो रो कर अपना काम निकालते। उन्हे अपने पराक्रम से कोई भी कार्य में सफलता न हुई और न वे महान् संकटसे छुटकारा पा सके। जरा जरासी बात में भी दूसरों के मुंह की ओर दीनता से देखने की तथा दूसरों से सहायता की भिक्षांदेहि की नौबत देवों को ही क्यों आती थी? ऐसी दीन दशा दैत्यों की क्यों न होती थी? कारण यही था कि देव

जब देखो तब देवांगनाओं से क्रीडा करते रहते थे। उनका अधिकांश समय ऐष-आराम में बीतता था। तब उन में ब्रह्मचर्य का सच्चा तेज कहां से झलके? अब राक्षसों का हाल देखिए। उनका बर्ताव इसके विपरीत रहता था। वे ब्रह्मचर्य की महत्ता को पूर्णरीति से जानते थे। जब देखो तब रतिक्रीडा में लगे रह कर वे अपना वीर्यनाश न करते थे। वीर्यरक्षा से कैसा भारी लाभ है, दैत्योंने जैसे समझ लिया देवों ने वैसे न समझा था।

अब आलम्भ का विचार करें। शास्त्रकारों की केवल प्रेक्षण पर ही ऐसी कडी नजर है तब आलम्भ के बारे में क्या न होगा? आलम्भ का अर्थ है अंगस्पर्श। केवल बार बार देखने का परिणाम क्या होता है सो ऊपर बतलाया गया है। तब वारंवार स्त्रीहस्तस्पर्श अथवा अन्य-अंग-स्पर्श होता रहेगा तो वह मनमें कैसी भयानक खलबली मचा देगा? एकबार यदि मन में खलबली मचना आरंभ हो जाय तो भला कभी संभव हो सकता है कि विद्यार्थी का ब्रह्मचर्य यथार्थ रीति से निश्चल रहे? बिलकुल असंभव है। यः कश्चित वा क्षुद्र मालूम होने वाली बातों पर शास्त्रकारों की ऐसी कडी नजर क्यों रहती है और कैसी दूर तक का विचार करने से होती है अब पता चलेगा। हमारे शास्त्रकारोंने स्त्री विषयक ध्यान, स्पर्श, कथा, क्रीडा, दर्शन, आलिंगन, एकान्तवास और संग आदि सब मैथुन में शामिल किये हैं और उन्हे "अष्टांग मैथुन" नाम दिया है। जैसे भगवान् ने बतलाया है कि मेरी प्रकृति अष्टधा है उसी प्रकार शास्त्रकारोंने मैथुन भी अष्टधा बतलाया है।

उपघातं परस्य च।

अब केवल "परोपघात" का ही विचार करना बाकी है। 'परोपघात' का अर्थ है दूसरों को दी हुई किसी भी प्रकार की पीडा है। यदि कोई व्यक्ति अपने को पीडा दे, दुःख दे, या कष्ट पहुंचावे, तो क्या अपने को अच्छा लगेगा? कदापि नहीं। तो फिर हम दूसरों को क्यों पीडा दें? यह सिद्धान्त विद्यार्थी दशा में पूर्णरीति से मन में जमजाना चाहिए। जिस बातसे, दूसरे हमारे संबंध में करने से हमें क्रोध आता है, कष्ट होता है या दुःख होता है, वही बात हम दूसरों के लिए क्यों करें? इसी को अंग्रेजी में Realization by Parallelism कहते हैं इसी को संस्कृत भाषा में "आत्मौपम्य तत्त्व" कहते हैं—

आत्मौपम्येन सर्वत्र समं पश्यति योऽर्जुन।
सुखं वा यदि वा दुखं स योगी परमो मतः॥

"हे अर्जुन, जो मनुष्य सुख में वा दुःखमें सबको अपने समान समझता है वही बडा योगी है।"

आर्य चाणक्य ने अपने "राजनीति शास्त्र" में निम्न लिखित श्लोक दिया है, उस पर ध्यान देना आवश्यक है।

श्रूयतां धर्मसर्वस्वं श्रुत्वा चैवोपधारयेत्।
आत्मनः प्रतिकूलानि न परेषां समाचरेत्॥

"अपने लिये जो प्रतिकूल होता है वह दूसरे के लिये कभी करना नहीं चाहिये।"

आत्मौपम्य का उदात्त तत्त्व जितना बर्ताव में लाया जाय उतना कल्याण ही होगा। यह तत्त्व भिन्न भिन्न प्रकार से हृदय में जम जाय इस लिए निम्न लिखित वचन हम उधृत करते हैं: -

अष्टादश पुराणेषु व्यासस्य वचनद्वयम्।
परोपकारः पुण्याय पापाय परपीडनम्॥
यदन्यैर्विहितं नेच्छेदात्मनः कर्म पूरुषः।
न तत्परेषु कुर्वीत जानन्न प्रियमात्मनः॥
यदन्येषां हितं न स्यादात्मनः कर्म पौरुषम्।
अपत्रपेत वा येन न तत्कुर्यात् कथंचन॥
शांतिपर्व

"अठारह पुराणों का सार श्रीव्यासजी के दो वजन हैं, अर्थात् परोपकार ही पुण्य है और परपीडा ही पाप है।

दूसरे का किया हुआ जो काम हम पसंद नहीं करते वैसा ही काम हम दूसरे के लिए न करना चाहिए।

जिसके दूसरे की भलाई नहीं होती वह काम मत करो।

यद्यदात्मनि चेच्छेत तत्परस्यापि चिन्तयेत्॥
रसज्ञः सर्वदुःखस्य यथात्मनि तथा परे ॥
अतो यदात्मनोऽपथ्यं परेषां न तदाचरेत् ॥

(याज्ञवल्क्य स्मृति)

मनुष्य जैसा अपने लिए सोचता है वैसे ही दूसरे के लिए भी सोचे क्यों कि जैसे सब दुःखोंको जाननेवाला हमारे हृदय में है वैसा ही दूसरे के हृदय में भी है। अतएव जो अपने लिए अहितकारी है वह काम दूसरे के लिए न करना चाहिए।

स्वराज की योग्यता

निम्न लिखित मन्त्र बतलाता है कि स्वराज मिलानेके लिए योग्य कौन हैं और अयोग्य कौन हैं-

आ यद्वामीयचक्षसा मित्र वयं च सूरयः।
व्यचिष्ठे बहुपाय्ये यतेमहि स्वराज्ये ॥

ऋग्वेद ५ । ६६ । ६

[हे ईयचक्षसौ! हे मित्र! यत् वां च सूरयः (सर्वे) वयं (मिलित्वा) व्यचिष्ठे बहुपाय्ये स्वराज्ये आयतेमहि ।]

हे व्यापक दृष्टिसे युक्त, हे मित्र, आप और हम, जो कि विद्वान हैं, वे सब मिलकर विस्तृत एवं बहुतों ने मिलकर पालन किए हुए स्वराज्य में प्रयत्न करें।

इस मन्त्र में 'स्वराज' शब्द के दो विशेषण हैं (१) व्यचिष्ठ तथा (२) बहुपाय्य।

(१) व्यचिष्ठ— इस शब्द का अर्थ है विस्तृत, व्यापक, फैला हुआ, विस्तीर्ण, विशाल।

(२) बहुपाय्य— इस शब्द का अर्थ है बहुतों द्वारा पालन किया हुआ। अर्थात् जिस राज का पालन बहुत लोग मिलकर करते हैं, जिसमें एक के ही मत को प्रधानता नहीं है किन्तु जिसका शासन अनेकों की सम्मति से होता है वही बहुपाय्य स्वराज है।

उपरोक्त मन्त्र का भाव यह है कि 'जिस स्वराज का पालन अनेकों की सम्मति से होता है और जो विस्तृत है उस में (वयं आयतेमहि) हम लोग अपनी उन्नति के लिए प्रयत्नों की पराकाष्ठा करें।'

उपरोक्त मन्त्र के 'बहुपाय्य' शब्द से ही और भी एक प्रकारके राज का बोध होता है। वह है 'एक पाय्य' राज। यद्यपि चारों वेदों में कहीं भी 'एक पाय्य' शब्द नहीं है, तब भी 'बहु-पाय्य' शब्द से ही अर्थापत्तीसे एकपाय्य राज की कल्पना होती है। एकपाय्य राज वह है जिसमें एक की-अकेले राजा की ही-मर्जी के अनुसार राज काज हो और 'बहुपाय्य स्वराज' वह है जिसमें अनेकों की सम्मति से राज काज चलता हो।

वाचक एकपाय्य राज और बहुपाय्य स्वराजके अन्तर को समझ लें।

वेद में "राज्य' शब्द कई बार आया है। किन्तु उसे कहीं भी 'बहुपाय्य' विशेषण नहीं लगा। केवल'स्वराज्य' शब्द को ही उपरोक्त मन्त्र में 'बहु-पाय्य'विशेषण लगा है। इससे यह स्पष्ट है कि वेदमें "राज्य" और 'स्वराज्य' शब्दोंके अर्थ बिलकुल भिन्न हैं। यह भिन्न अर्थ दर्शाने के लिए ही विशेषण लगाकर" बहुपाय्य स्वराज्य " इस प्रकारका शब्द वेदमें आया है।

वेद की दृष्टी से शासन के दो प्रकार हैं-

(१) (एक-पाय्य) राज्य=जिसमें अकेलेके मत से राजकाज चले वह शासन।

(२) बहुपाय्य स्वराज्य = जिस में अनेकों की सम्मति से राजकाज चलता है वह शासन।

इन दो राज्यों का भेद पाठकों की समझ में आगए'

होगा अब इसका विवरण अधिक करना आवश्यक नहीं; अब देखें राजकाज करनेवाले लोगोंके गुण कौन से और अवगुण कौन हैं। उपरोक्त मन्त्र में शासकों के लिए तीन शब्द आए हैं- (१) ईय-चक्षस्, (२) मित्र और (३) सूरि। इन तीन शब्दों का अर्थ मालूम हो जाने से हमें बहूपाय्य स्वराज के शासकों के गुण विदित होंगे।

(१) ईय-चक्षस्—व्यापक दृष्टि वाले, जिनकी दृष्टि व्यापक, विस्तृत हो, संकुचित न हो।

(२) मित्र-जो मित्र के समान व्यवहार करते हैं;हित करने वाले;सब की भलाई करनेवाले।

(३) सूरि-विद्वान; ज्ञानी; सूज्ञ।

बहूपाय्य स्वराज्यमें उन्ही लोगोंको काम करना है जिनमें उपरोक्त तीन गुण हों। तब हम कह सकते हैं कि—

"व्यापक दृष्टिवाले, मित्रवत् लोगों की भलाई करने वाले तथा ज्ञानी लोगों को चाहिए कि वे अनेकों द्वारा पालन होनेवाले स्वराज्य में सम्पूर्ण जनता की उन्नति के लिए प्रयत्न करें।"

"हम लोगों को जो कि व्यापक दृष्टि से काम करनेवाले, सब लोगों से मित्रवत् बर्ताव करनेवाले तथा विद्वान हैं, बहुपाय्य स्वराज्य में उन्नति के लिए प्रयत्न करना चाहिए।"

उपरोक्त मन्त्र के इस भावार्थ से हम सहज ही में अनुमान कर सकते हैं कि—

"संकुचित दृष्टिवाले, आपस में लडनेवाले तथा अज्ञानी लोग बहुपाय्य स्वराज में काम करही नहीं सकते।"

विशालदृष्टि कौनसी और संकुचित दृष्टि कौनसी? किसे मित्रवृत्ति कहेंगे और किसे शत्रुवृत्ति कहेंगे? ज्ञानी कौन है और अज्ञानी कौन? इन बातों का भी विचार करना होगा।

केवल अपनी ही भलाई सोचना, अपने सुख के लिए दूसरेका नाश करना, इसे संकुचित दृष्टि कहेंगे। इसके विरुद्ध जो दृष्टि सब लोगों के हितकी है, वह व्यापक या विशाल दृष्टि है।

किसी का भी द्वेष न कर सब से समबुद्धिसे तथा स्नेह भाव से बर्ताव करना ही मित्रवृत्ति है। इसके विपरीत दूसरों का द्वेष करना, आपस में लडना शत्रुवृत्ति है।

जिन्हे अपनी उन्नति का सच्चा मार्ग दिखता है वह ज्ञानी है और जिसे नहीं दिखता वह अज्ञानी है।

इससे पता चलेगा कि कौन स्वराजके लिए लायक है, कौन उसे प्राप्त कर सकता है और कौन प्राप्त स्वराज की रक्षा कर सकता है। इसी तरह यह भी विदित हो सकता है कि किस वृत्ति के लोग स्वराज के लिए नालायक हैं, किन लोगों को वह न मिलेगा और मिलने पर भी कौन उसकी रक्षा न कर सकेंगे।

देखने योग्य है कि स्वराजके लिए सनातन वैदिक धर्म क्या शिक्षा देता है।

जो लोग स्वराज के लिए तडप रहे हैं उन्हे (१) अपनी दृष्टि व्यापक करनी चाहिए, (२) मित्रवृत्ति बढानी चाहिए, और (३) इतना ज्ञान प्राप्त करना चाहिए जिससे अपनी उन्नति के मार्ग निश्चय से मालूम हो सकें। इतना होने से वे स्वराज प्राप्त कर सकेंगे और मिले हुए स्वराज की रक्षा कर सकेंगे तथा उसकी वृद्धि कर सकेंगे।

जब तक अपनी दृष्टि स्वजाति से आगे नहीं जाती, हम आपस में शत्रु वृत्ति से रहते हैं, स्वावलम्बन के सच्चे मार्ग बतलाए जाने पर भी समझ में नहीं आते और स्वीकृत नहीं किए जाते, तब तक स्वराज प्राप्ति का दिन निःसंदेह दूरही रहेगा।

यदि सचमुच स्वराज प्राप्ति की आतुरता हो,तो उसके लिए जो गुण आवश्यक हैं उनकी वृद्धि करने का प्रयत्न जोर से होना चाहिए।

कामाग्नि का शमन।

[२१]

(ऋषिः- वसिष्ठः । देवता-अग्निः)

ये अग्नयो अप्स्व१न्तर्ये वृत्रे ये पुरुषे ये अश्मसु ।
य आविवेशोषधीर्यो वनस्पतींस्तेभ्यो अग्निभ्यो हुतमस्त्वेतत् ॥ १ ॥
यः सोमे अन्तर्यो गोष्वन्तर्य आविष्टो वयःसु यो मृगेषु ।
य आविवेश द्विपदो यश्चतुष्पदस्तेभ्यो अग्निभ्यो हुतमस्त्वेतत् ॥ २ ॥

अर्थ— (ये अग्नयः अप्सु अन्तः) जो अग्नियां जलके अन्दर हैं, (ये वृत्रे) जो मेघमें, और (ये पुरुषे) जो पुरुषमें हैं, तथा (ये अश्मसु) शिलाओंमें हैं, (यः ओषधीः यः च वनस्पतीन् आविवेश) जो औषधियोंमें और जो वनस्पतियोंमें प्रविष्ट हैं (तेभ्यः अग्निभ्यः एतत् हुतं अस्तु) उन अग्नियोंके लिये यह हवन होवे ॥ १ ॥

(यः सोमे अन्तः, यः गोषु अन्तः) जो सोमके अन्दर, जो गौओंके अंदर, (यः वयःसु, यः मृगेषु आविष्टः) जो पक्षियोंमें और जो मृगोंमे प्रविष्ट है, (यः द्विपदः यः चतुष्पदः आविवेश) जो द्विपाद और चतुष्पादोंमें प्रविष्ट हुआ है, (तेभ्यः अग्निभ्यः एतत् हुतं अस्तु) उन अग्नियोंके लिये यह हवन होवे ॥ २ ॥

भावार्थ— जो अग्नि जल, मेघ, प्राणियों अथवा मनुष्यों, शिलाओं और औषधिवनस्पतियोंमें हैं उनकी प्रसन्नताके लिये यह हवन है ॥ १ ॥

जो अग्नि सोम, गौवों, पक्षियों, मृगादि पशुओं तथा द्विपाद चतुष्पादोंमें प्रविष्ट हुआ है उसके लिये यह हवन है ॥ २ ॥

य इन्द्रेण सरथं याति देवो वैश्वानर उत विश्वदाव्यः ।
यं जोहवीमि पृतनासु सासहिं तेभ्यो अग्निभ्यो हुतमस्त्वेतत् ॥ ३ ॥
यो देवो विश्वाद् यमु काममाहुर्यं दातारं प्रतिगृह्णन्तमाहुः ।
यो धीरः शक्रः परिभूरदाभ्यस्तेभ्यो अग्निभ्यो हुतमस्त्वेतत् ॥ ४ ॥
यं त्वा होतारं मनसाभि संविदुस्त्रयोदश भौवनाः पञ्च मानवाः ।
वर्चोधसे यशसे सूनृतावते तेभ्यो अग्निभ्यो हुतमस्त्वेतत् ॥ ५ ॥

अर्थः—(विश्वदाव्यः उत वैश्वानरः) सबको जलानेवाला परंतु सबका चालक अथवा हितकारी (यः देवः इन्द्रेण सरथं याति) जो देव इन्द्रके साथ एक रथपर बैठकर चलता है (यं पृतनासु सासहिं जोहवीमि) जो युद्धमें विजय देनेवाला है इसलिये जिसकी मैं प्रार्थना करता हूं (तेभ्यः०) उन अग्नियोंके लिये यह हवन होवे ॥ ३ ॥

(यः विश्वाद् देवः) जो विश्वका भक्षक देव है, (यं उ कामं आहुः) जिसको " काम " नामसे पुकारते हैं, (यं दातारं प्रतिगृह्णन्तं आहुः) जिसको देनेवाला और लेनेवाला भी कहा जाता है, (यः धीरः शक्रः परिभूः अदाभ्यः) जो बुद्धिमान, शक्तिमान्, भ्रमण करनेवाला और न दबनेवाला कहते हैं (तेभ्यः०) उन अग्नियोंके लिये यह हवन होवे ॥ ४ ॥

(त्रयोदश भौवनाः पञ्च मानवाः) त्रयोदश भुवन और पांच मनुष्य-जातियां (यं त्वा मनसा होतारं अभि संविदुः) जिस तुझको मनसे होता अर्थात् दाता मानते हैं, (वर्चोधसे) तेजस्वी (सूनृतावते) सत्य भाषी और (यशसे) यशस्वी तुझे और (तेभ्यः०) उन अग्नियोंके लिये यह हवन होवे ॥५॥

भावार्थ— सबको जलाकर भस्म करनेवाला परंतु सबका संचालक जो यह देव इन्द्रके साथ रथपर बैठकर भ्रमण करता है, जो युद्धमें विजय प्राप्त करानेवाला है उस अग्निके लिये यह हवन है ॥ ३ ॥

जो अग्नि विश्वका भक्षक है और जिसको " काम " कहते हैं, जो देने-वाला और स्वीकारनेवाला है, और जो बुद्धिमान, समर्थ, सर्वत्र जानेवा-ला और न दबनेवाला है, उस अग्निके लिये यह हवन है ॥ ४ ॥

तेरह भुवनोंका प्रदेश और मनुष्यकी ब्राह्मण क्षत्रियादि पांच जातियां इसी अग्निको मनसे दाता मानती हैं, तेजस्वी, सत्यवाणीके प्रेरक, यश-स्वी उस अग्निके लिये यह अर्पण है ॥ ५ ॥

उक्षान्नाय वशान्नाय सोमपृष्ठाय वेधसे।
वैश्वानरज्येष्ठेभ्यस्तेभ्यो अग्निभ्यो हुतमस्त्वेतत् ॥ ६ ॥
दिवं पृथिवीमन्वन्तरिक्षं ये विद्युतमनुसंचरन्ति।
ये दिक्ष्व१न्तर्ये वाते अन्तस्तेभ्यो अग्निभ्यो हुतमस्त्वेतत् ॥ ७ ॥
हिरण्यपाणिं सवितारमिन्द्रं बृहस्पतिं वरुणं मित्रमग्निम्।
विश्वान् देवानङ्गिरसो हवामह इमं क्रव्यादं शमयन्त्वग्निम् ॥ ८ ॥

अर्थ—(उक्षान्नाय वशान्नाय) जो बैलके लिये और गौके लिये अन्न होता है और (सोमपृष्ठाय) औषधियोंको पीठपर लेता है उस (वेधसे) ज्ञानीके लिये और (वैश्वानरज्येष्ठेभ्यः तेभ्यः०) सब मनुष्योंके हितकारी श्रेष्ठ उन अग्नियोंके लिये यह हवन होवे ॥ ६ ॥

(ये दिवं अन्तरिक्षं अनु, विद्युतं अनु संचरन्ति) जो द्युलोक और अंतरिक्षके अन्दर और विद्युतके अंदरभी अनुकूलतासे संचार करते हैं, (ये दिक्षु अन्तः, ये वाते अन्तः) जो दिशाओंके अंदर और वायुके अंदर हैं तेभ्यः अग्निभ्यः) उन अग्नियोंके लिये यह हवन होवे ॥ ७ ॥

(हिरण्यपाणिं सवितारं) सुवर्णभूषण हाथमें धारण करनेवाले सविता, इन्द्र, बृहस्पति, वरुण, मित्र, अग्नि, विश्वेदेव और आंगिरसोंकी (हवामहे) प्रार्थना करते हैं कि वे (इमं क्रव्यादं अग्निं शमयन्तु) इस मांसभोजी अग्निको शान्त करें ॥ ८ ॥

भावार्थ-जो बैलको और गौको अन्न देता है, जो पीठकर औषधियोंको लेता है, जो सबका धारक या उत्पादक है, उस सब मानवोंमें श्रेष्ठरूप अग्निके लिये यह अर्पण है ॥ ६ ॥

द्युलोक, अन्तरिक्ष, विद्युत, दिशाएं, वायु आदिमें जो रहता है उस अग्निके लिये यह अर्पण है ॥ ७ ॥

सविता, इन्द्र, बृहस्पति, वरुण, मित्र, अग्नि, और आंगिरस आदि सब देवोंकी हम प्रार्थना करते हैं कि वे सब देव इस मांसभक्षक अग्निको शान्त करें ॥ ८ ॥

शान्तो अग्निः क्रव्याच्छान्तः पुरुषरेषणः ।
अथो यो विश्वदाव्य१स्तं क्रव्यादमशीशमम् ॥ ९ ॥
ये पर्वताः सोमपृष्ठा आप उत्तानशीवरीः ।
वातः पर्जन्य आदग्निस्ते क्रव्यादमशीशमन् ॥ १० ॥

अर्थ- (क्रव्याद् अग्निः शान्तः) मांसभक्षक अग्नि शान्त हुआ,(पुरुषरेषणः शान्तः) मनुष्य हिंसक अग्नि शान्त हुआ (अथ यः विश्वदाव्यः) और जो सबको जलानेवाला अग्नि है (तं क्रव्यादं अशीशमम्) उस मांसभक्षक अग्निको मैंने शान्त किया है ॥ ९ ॥

(ये सोमपृष्ठाः पर्वताः) जो वनस्पतियोंको पीठपर धारण करनेवाले पर्वत हैं, (उत्तानशीवरीः आपः) ऊपरको जानेवाले जो जल हैं, (वातः पर्जन्यः) वायु और पर्जन्य (आत् अग्निः) तथा जो अग्नि है (ते) वे सब (क्रव्यादं अशीशमम्) मांसभोजी अग्निको शान्त करते हैं ॥ १० ॥

भावार्थ-यह मांसभोजी पुरुषनाशक और सब जगत् को जलानेवाला अग्नि शान्त हुआ है, मैंने इसको शान्त किया है ॥ ९ ॥

जहां सोमादि वनस्पतियां हैं ऐसे पर्वत, ऊपरकी गतिसे चलनेवाले जल प्रवाह, वायु और पर्जन्य तथा अग्नि ये सब देव मांस भक्षक अग्निको शांत करनेमें सहायता देते हैं ॥ १० ॥

कामाग्निका स्वरूप ।

इस सूक्तमें कामाग्निको शान्त करनेका विधान है। कामको अग्निकी उपमा देकर अथवा अग्निके वर्णनके मिषसे कामको शान्त करनेका वर्णन इस सूक्तमें बडा ही मनोरंजक है । यह सूक्त "बृहच्छान्तिगण" में गिना है, सच मुच कामका शमन करना ही "बृहच्छान्ति" स्थापित करना है। यह सबसे बडा कठिन और कष्ट साध्य कार्य है। इस सूक्तमें जो अग्नि है वह 'क्रव्याद' अर्थात् कच्चा मांस खानेवाला है, साधारण लोग समझते हैं कि इस सूक्तमें मुर्दे जलानेवाले अग्निका वर्णन है, परंतु यह मत ठीक नहीं है । काम रूप अग्निका वर्णन इस सूक्तमें है और यही कामरूप अग्नि बडा मनुष्यभक्षक है । जितना अग्नि जलाता है उससे सहस्रगुणा यह काम जलाता है, यह बात पाठक विचारकी दृष्टिसे

देखेंगे तो जान सकते हैं। इसालिये इस सूक्तके अग्निका स्वरूप पहले हम निश्चित करते हैं। इसका स्वरूप बतानेवाले जो अनेक शब्द इस सूक्तमें हैं उनका विचार अब करते हैं-

१ यो देवो विश्वाद् यं उ काममाहुः। (मं० ४)=जो अग्निदेव सब जगत्को जलानेवाला है और जिसको 'काम' कहते हैं।

इस मंत्र भागमें स्पष्ट कहा है कि इस सूक्तमें जो अग्नि है वह "काम" ही है। नाम निर्देश करनेके कारण इस विषयमें किसीको शंका करना भी अब उचित नहीं है। तथापि निश्चय की दृढता के लिये इस सूक्तके अन्य मंत्र भाग अब देखिये—

२ क्रव्याद् अग्निः। (मं० ९)=मांस भक्षक अग्नि।

३ पुरुषरेषणः अग्निः। (मं० ९)=पुरुषका नाशक (काम) अग्नि।

कामकी प्रबलतासे मनुष्यका शरीर सूख जाता है और इस कामके प्रकोपसे कितने मनुष्य सह परिवार नष्ट भ्रष्ट होगये हैं यह पाठक यहां विचारकी दृष्टिसे मनन करें, तो इन मंत्र भागों का गंभीर अर्थ ध्यानमें आसकता है। इस दृष्टीसे—

४ विश्वाद् अग्निः। (मं ४, ९)=विश्वका भक्षक (काम) अग्नि।

यह बिलकुल सत्य है। भगवद्गीतामें कामको "काम एष क्रोध एष रजोगुणसमुद्भवः। महाशनो महापाप्मा विद्ध्येनमिह वैरिणम्॥" (भ० गी० ३। ३७) यह काम बडा (महाशनः) खानेवाला है। "महाशन (महा-अशनः) और विश्वाद (विश्व-अद्)" ये दोनों एक ही भाव बतानेवाले शब्द हैं। सच मुच काम बडा खानेवाला है, इसकी कभी तृप्ति होती ही नहीं, कितना ही खानेको मिले यह सदा अतृप्त ही रहता है, इसका पेट सब जगत्को खाजानेसे भी भरता नहीं, इसी अर्थको बतानेवाला यह शब्द है-

५ विश्व-दाव्यः (मं० ३, ९) = सबको जलानेवाला (काम अग्नि)

यह काम सचमुच सबको जलानेवाला है, जब यह काम मनमें प्रबल होता है, तब यह अंदरसे जलाने लगता है। ब्रह्मचर्य धारण करनेवाला मनुष्य अंदरसे बढने लगता है और कामाग्निको अपने अंदर बढानेवाला मनुष्य अंदरसे जलने लगता है!! जिसका अंतःकरण ही जलता रहता है, उसके लिये मानो सब जगत् ही जलने लगता है। जिसके मनमें कामाग्निकी ज्वालाएं भडक उठती हैं, उसको न जल शांति दे सकता है, न चंद्रमाकी अमृत पूर्ण किरणें शांति दे सकती हैं, वह तो सदा अशांत और संतप्त होता जाता है ऐसी इस कामाग्निकी दाहकता है!! इसके सामने यह अग्नि क्या जला सकता है? कामाग्निकी दाहकता इतनी अधिक है, कि उसके सामने यह भौतिक अग्नि मानो

शान्त ही है और इसीलिये मंत्र आठमें " इस अग्निको कामाग्निकी शान्ति करनेको कहा है ! " यदि यह अग्नि कामाग्निसे शान्त न हो तो कामाग्निको शान्त कैसे कर सकता है ?

इस प्रकार इसका गुणवर्णन करनेवाले जो विशेषण इस सूक्तमें आये हैं, वे इसका स्वरूप निश्चित करनेमें बडे सहायक हैं । इनके मननसे निश्चय होता है, कि इस सूक्तमें वर्णित हुआ अग्नि साधारण भौतिक अग्नि नहीं है, प्रत्युत यह कामाग्नि है । भौतिक अग्निका वाचक अग्नि शब्द स्वतंत्र रीतिसे अष्टम मन्त्रमें आया है, इसका विचार करनेसे भी इस सूक्तमें वर्णित अग्निका स्वरूप निश्चित होजाता है ।

काम और इच्छा ।

" काम " शब्द जैसा काम विकार का वाचक है उसीप्रकार इच्छा, कामनाका भी वाचक है । वस्तुतः देखा जाय तो ये काम, कामना और इच्छा मूलतः एक ही शक्तिके वाचक हैं । भिन्न भिन्न इन्द्रियोंके साथ सम्बन्ध हो जानेसे एकही इच्छा शक्तिका रूप जैसा कामविकारमें प्रगट होता है और वैसाही अन्य इंद्रियोंके साथ सम्बन्ध होनेसे कामना के रूपमेंभी प्रगट होता है । परन्तु इनके अन्दर घुसकर देखा जाय तो " मुझे चाहिये" इस एक इच्छाके सिवाय दूसरा इसमें कुछभी नहीं है, अपने अन्दर कुछ न्यूनता है, उसकी पूर्ती के लिये बाहरसे किसी पदार्थकी प्राप्ति करना चाहिये, वह बाह्य पदार्थ प्राप्त होनेसे मैं पूर्ण हो जाऊंगा । इत्यादि प्रकार की इच्छाही " काम अथवा कामना " है । यही इच्छा सबको चला रही है, इस लिये इसको विश्वकी चालक शक्ति कहा है देखिये—

वैश्वानरः (विश्व—नेता) । (मं० ६)

" यह (विश्व-नर) विश्वका नेता अर्थात् विश्वका चालक (काम) है। विश्वको चलानेवाली यह इच्छाशक्ति है । यह कामशक्ति न हो तो संसारका चलना असम्भव है। पदार्थ मात्रमें--कमसे कम चेतन और अर्ध चेतन जगत्में- यह स्पष्ट दिखाई देती है। इस विषयमें प्रथम और द्वितीय मंत्र का कथन स्पष्ट है ।

" इस कामरूप अग्निके अनेक रूप हैं और वे जल, मेघ, पत्थर, औषधि वनस्पति, सोम, गौ, पक्षी, पशु, द्विपाद चतुष्पाद, मनुष्य आदि सबमें हैं । " (मं. १, २) तथा " पृथिवी, अन्तरिक्ष, विद्युत्, द्युलोक, दिशा, वायु, आदिमें भी हैं ।" (मं. ७)

इस मंत्रसे स्पष्ट होजाता है कि यह कामाग्नि पत्थर जल औषधियोंसे लेकर मनुष्यों

तक सब सृष्टिमें विद्यमान है। औषधियां बढनेकी इच्छा करती हैं, वृक्ष फलना चाहते हैं, पक्षी उडना चाहते हैं, मनुष्य जगत् को जीतना चाहता है इस प्रकार हरएक पदार्थ अपनी शक्तिको और अपने अधिकार क्षेत्रको फैलाना चाहता है। यही इच्छा है और यही काम है। यही जब जननेन्द्रियके साथ अपना संबंध जोडता है तब उसको काम-विकार कहा जाता है, परंतु मूलतः यह शक्ति वही है, जो पहले इच्छाके नामसे प्रसिद्ध थी। यही स्वार्थकी कामना " गाय और बैलोंको पालती है और उनको खिलाती पिलाती है, औषधियोंकी पालना करती है।" (मं. ६)

कामकी दाहकता।

वस्तुतः भौतिक अग्नि जलाती है, ऐसा अनुभव हरएकको आता है, और काम या इच्छाकी वैसी दाहकता नहीं है ऐसा भी सब मानते हैं, परंतु साधारण इच्छा क्या, कामना क्या और कामविकार क्या इतने अधिक दाहक हैं, कि उनकी दाहकताके साथ अग्निकी दाहकता कुछभी नहीं है!!

राज्य बढानेकी इच्छा कई राज्यचालकोंमें बढ जानेके कारण पृथ्वीके ऊपरके कई राष्ट्रोंको पारतंत्र्यकी अग्नि जला रही है, इस स्वार्थकी इच्छाके कारण इतने भयंकर युद्ध हुए हैं और उनमें मनुष्य इतने अधिक मर चुके हैं कि उतने अग्निकी दाहकतासे निःसंदेह मरे नहीं हैं। इसीलिये इसको तृतीय मंत्रमें (पृतनासु सासहिं) अर्थात् युद्धमें विजयी कहा है। किसी भी पक्षकी जीत हुई तो इसीकी वह जीत होती है !!!

एक समाज दूसरी समाजको अपने स्वार्थके कारण दबा रहा है, ऊपर उठने नहीं देता है, दबी जातियोंसे जितना चाहे स्वार्थसाधन किया जा रहा है, यह एकही स्वार्थ की कामना का ही प्रताप है। धनी लोग निर्धनोंको दबा रहे हैं, अधिकारी वर्ग प्रजाको दबा रहा है, एक समर्थ राष्ट्र दूसरे निर्बल राष्ट्रको दबा देता है, इसी प्रकार एक भाई दूसरे भाईकी चीज छीनता है, ये सर्व कामके ही रूप हैं, जो मनुष्योंको अंदरही अंदरसे जला रहे हैं।

आंख सुंदर रूपकी कामना करता है, कान मधुरस्वर की अभिलाषा करता है, जिव्हा मधुर रसोंकी इच्छुक है, इसी प्रकार अन्यान्य इंद्रियां अन्यान्य विषयोंको चाहती हैं। इनके कारण जगत्में जो विध्वंस और नाश हो रहे हैं, वे किसीसे छिपे नहीं हैं। इतनी विनाशक शक्ति इस भौतिक अग्निमें कहां है ?

काम क्रोध लोभ मोह मद और मत्सर ये मनुष्यके छः शत्रु हैं, इन शत्रुओंमें सबसे

मुख्य शत्रु "काम" है, सबसे बढकर इसके अंदर विनाशकता है। यह प्रेमसे पास आता है, सुख देनेका प्रलोभन देता है और कुछ सुख पहुंचता भी है। परंतु अंदर अंदरसे ऐसा काटता है, कि कट जानेवाले को अपने कट जानेका पता तक नहीं लगता!!! इस कामविकाररूपी शत्रुकी विनाशकता सब शास्त्रोंमें प्रतिपादन की है। हरएक धर्म पुस्तक इससे बचनेका उपदेश कर रहा है।

जिस समय काम विकार की ज्वाला मनमें भडक उठती है, उस समय ऐसा प्रतीत होता है कि खून उबल रहा है। खूनके उबलनेका भान स्पष्ट होता है, शरीर गर्म होजाता है, मस्तिष्क तपता है, अवयव शिथिल होजाते हैं, मस्तककी विचार शक्ति हट जाती है और एक ही काम मनमें राज करने लगता है। खूनको पीसता है, शक्तीको नष्ट करता है, वीर्यका नाश करता है और आयुका क्षय करता है। ये सब लक्षण इसकी दाहकताके हैं। इसकी यह विध्वंसक शक्ति देखकर पाठक ही विचार कर सकते हैं कि इसकी विनाशकता की अग्निके साथ क्या तुलना हो सकती है। इस लिये मंत्रमें कहा हुआ विशेषण (विश्व-दाव्यः) जगत् को जलानेवाला इसके अंदर बिलकुल सार्थ होजाता है !!

इस सबका विचार करके पाठक "कामकी दाहकता" जानें और इसकी दाहकतासे अपने आपको बचानेका उपाय करें।

न दबनेवाला।

चतुर्थ मंत्रमें इसके विशेषण "विश्वाद्, दाता, प्रतिगृह्णन्, धीरः, शक्रः, परिभूः, अदाभ्यः" आये हैं और इसीमें इसका नाम (यं कामं आहुः) "काम" करके कहा है। अर्थात् इसी कामाग्निके ये गुणबोधक विशेषण हैं। इसलिये इनके अर्थ देखिये—

"यह काम (विश्वाद्) जगत्को खानेवाला, (दाता) दान देनेवाला, (प्रतिगृह्णन्) आयुष्यादि लेनेवाला, (धीरः) धैर्य देनेवाला, (शक्रः) शक्तिशाली, (परिभूः) सबसे बढकर होनेवाला, (अदाभ्यः) न दबनेवाला है। (मं० ४)"

विचार करनेपर ये विशेषण काम के विषयमें बडे सार्थ हैं ऐसाही प्रतीत होगा। जिस समय मनमें काम उत्पन्न होता है उस समय बुद्धीको मलिन करता है, अपनी इच्छा तृप्त करनेके लिये आवश्यक धैर्य अथवा साहस उत्पन्न करता है, अन्य समय भीरु दिखाई देनेवाला मनुष्य भी कामविकार की लहरमें बडे साहसके कर्म करने लगता है,

जब यह मनमें बढता है तब सब अन्य भावनाओं को दबाकर अपना अधिकार सबपर जमादेता है, दबानेका यत्न करनेपर भी यह उछल कर अपना प्रभाव दिखाई देता है ! इस प्रकार पूर्वोक्त विशेषणोंका आशय यहां विचार करनेसे स्पष्ट हो सकेगा। इसके दाता और प्रतिग्रहीता (अथर्व ३।२९।७ में भी " कामो दाता कामः प्रतिग्रहीता" कहा है) ये दो विशेषण भी विशेष मनन करने योग्य हैं। यह किंचित् सा सुख देता है और बहुत सा वीर्य हरण करता है, ये अर्थ पूर्वापर संगतिसे यहां अन्वर्थक दिखाई देते हैं। साधारण कामना के अर्थमें देने और लेनेवाला कामनासे ही प्रवृत्त होता है, इसलिये यह काम ही देनेवालेको दानमें और लेनेवालेको लेनेमें प्रवृत्त करता है, यह इस मंत्रका आशय भी स्पष्ट ही है।

पंचम मंत्रमें "त्रयोदश भुवनोंमें रहनेवाले पंचजन इसको मनसे मानते हैं, दाता करके पूजते हैं" ऐसा कहा है। संपूर्ण जनता काम की ही उपासना करती है यह बात इस मंत्रमें कही है। कई विरक्त संत महन्त इस कामको अपने आधीन करके परमात्मोपासक होते हैं, अन्य संसारी जन तो कामको ही अपने सर्वस्वका दाता मानते हैं। इस प्रकार इस काम ने ही सब जगत् पर अपना अधिकार जमाया है। जनता समझती है कि (वर्चः) तेज (यशः) यश और (सूनृतं) सत्य आदि सब कामके प्रभावसे ही सफल और सुफल होता है। सब लोग जो संसार में मग्न हैं, इसीकी प्रेरणासे चले हैं मानो इसीके वेगसे घूम रहे हैं। जो सत्पुरुष इसके वेगसे मुक्त होकर इस कामको जीत लेता है वही श्रेष्ठ होता हुआ मुक्तिका अधिकारी होता है, मानो इसके वेगसे छूट जाना ही मुक्ति है। परंतु कितने थोडे लोग इसके वेगसे अपने आपको मुक्त करते हैं? यही इस सूक्तके मननके समय विचार करने योग्य बात है।

इन्द्रका रथ।

तृतीय मंत्रमें कहा है कि "यह काम इन्द्रके रथपर बैठकर (इन्द्रेण सरथं याति) जाता है।" (मं.३) यह देखना चाहिये कि इन्द्रका रथ कौनसा है? "इन्द्र" नाम जीवात्माका है और उसका रथ यह शरीरही है। इस विषयमें उपनिषद्का वचन देखिये—

आत्मानं रथिनं विद्धि शरीरं रथमेव तु।
इन्द्रियाणि हयानाहुर्विषयांस्तेषु गोचरान्॥ कठ उ० ३।४

" आत्मा रथमें बैठनेवाला है, उसका रथ यह शरीर है और इंद्रियां उस रथके घोडे हैं, जो विषयोंमें घूमते हैं।" इस वर्णनसे इन्द्रके रथका पता लग सकता है। इस उपनिषद्वचनके " इन्द्रिय " पदका अर्थ " इन्द्रकी शक्ति " है। हमारे इन्द्रिय इन्द्रकी

शक्तियां ही हैं, यह देखनेसे आत्माही इन्द्र है इस विषयमें निश्चय हो सकता है।

इस इन्द्र अर्थात् आत्माके शरीर रूपी रथमें यह " काम " बैठता है यह विधान तृतीय मंत्रका है–

यः इन्द्रेण सरथं याति। (मं० ३)

" जो काम रूप अग्नि इन्द्रके रथपर बैठकर जाता है" इस वाक्यका अर्थ अब स्पष्ट हुआ ही होगा। पाठक जान सकते हैं कि इस शरीरमें जैसा जीवात्मा है अथवा इन्द्र है, उसी प्रकार काम भी है, दोनों इसको चलानेवाले हैं। स्थूल दृष्टिसे देखा जाय तो काम अर्थात् इच्छाही इसको चला रही है। इस प्रकार इस शरीरमें कामकी स्थिति है।

काम रूपी यह अग्नि प्राणियोंके शरीरमें जल रही है इसको अधिक प्रज्वलित करना उचित नहीं, प्रत्युत इसको जहांतक प्रयत्न हो सकता है, उतना प्रयत्न करके शांत करनेकाही उपाय करना चाहिये। इसको शांत करनेका उपाय अब देखिये–

काम शान्तिका उपाय।

नवम मंत्रमें इस कामाग्निके शान्त हो जानेका विधान है। देखिये वह मंत्र–

शान्तो अग्निः क्रव्याच्छान्तः पुरुषरेषणः।
अथो यो विश्वदाव्यस्तं क्रव्यादमशीशमम्॥ (मं० ९)

" यह मांस भक्षक कामरूपी अग्नि शान्त हुआ, यह मनुष्यका नाशक कामरूपी अग्नि शान्त हुआ, जो यह सबको जलानेवाला कामाग्नि है उसको मैंने शान्त किया है। " इस मन्त्रमें इस कामाग्निको मैंने शांत किया ऐसा कहा है, इस विधानसे शान्त करनेका कुछ उपाय है यह निःसन्देह सिद्ध होता है। यदि एक मनुष्य इसको शान्त कर सकता है तो अन्य मनुष्यभी उसी मार्गसे जाकर अपने शरीरमें जलते रहनेवाले इस कामाग्निको शान्त कर सकते हैं। हरएकके शरीरमें यह कामाग्नि जलता है इस लिये हरएकको चाहिये कि यह प्रयत्न करके इसको शान्त करनेका पुरुषार्थ करें और आत्मिक शान्ति प्राप्त करें। इसको शान्त करनेका उपाय शेष रहे अष्टम मंत्रके भागमें और नवम मन्त्रमें कहा है–

" हिरण्यपाणि सविता, इन्द्र, बृहस्पति, वरुण, मित्र, अग्नि, विश्वेदेव, आङ्गिरस, इनका हम यजन करते हैं, ये इस मांस भक्षक कामाग्निको शांत करें " ॥ (मं० ८)

" सोमवल्ली जिनपर उगती है वे पर्वत, ऊपर गमन करनेवाले जल, वायु, पर्जन्य और अग्नि ये इस मांस भक्षक कामाग्निको शान्त करें॥ (मं०१०)"

इन दो मंत्रोंमें जो मार्ग कहा है वह कामाग्नि शान्त करने वाला है। ये मन्त्र उपाय-कथन करनेके कारण अत्यन्त महत्त्वके हैं और इनका इसी कारण अधिक मनन करना चाहिये। इन दो मन्त्रोंमें जो उपाय कहे हैं, उनका क्रम पूर्वक चिन्तन अब कहते हैं-

१ सोमपृष्ठाः पर्वताः— जिन पर्वतोंपर सोमवल्ली अथवा अन्यान्य औषधियां उगती हैं वे पर्वत कामाग्नि शान्त करनेमें सहायक होते हैं। इसमें पहली बात तो उन पर्वतोंका शान्त जलवायु कामको भडकने नहीं देता है। शीत प्रदेशकी अपेक्षा उष्ण प्रदेशमें कामाग्निकी ज्वाला शीघ्र और अधिक भडक उठती है। उष्ण देशके लोग भी इसी कारण छोटी आयुमें कामाग्निसे उद्दीपित होते हैं। इस विषयमें दूसरी बात यह है कि सोम आदि शीतवीर्यवाली औषधियां सेवन करनेसे भी कामाग्निकी ज्वाला शान्त होती है। सोमवल्ली उगने वाले पर्वतशिखर हिमालयमें हैं, वहां ही दिव्य औषधियां होती हैं। योगी लोग उनका सेवन करके स्थिरवीर्य और दीर्घजीवी होते हैं। तीसरी बात इसमें यह है कि ऐसी पहाडियोंमें प्रलोभन कम होते हैं, शहरों जैसे अत्यधिक नहीं होते, इस लिये भी कामकी उत्तेजना शहरों जैसी यहां नहीं होती है। इत्यादि अनेक उपाय इन पहाडोंके साथ सम्बन्ध रखते हैं। (मं० १०)

२ उत्तानशीवरीः आपः— जल भी कामाग्निका शमन करनेवाला है। शीत जलका स्नान, जलाशयोंमें तैरनेसे शरीरमें समशीतोष्णता होती है जिससे कामकी उष्णता दूर होती है, शीत जलसे मध्य शरीरका स्नान करना, जिसको कटिस्नान कहते हैं, ब्रह्मचर्य साधनके लिये बडा लाभ दायक है। गुप्त इन्द्रियके आसपासका प्रदेश रात्रीके समय, या जिस समय कामका उद्रेक होजावे उस समय धो देनेसे ब्रह्मचर्य साधनमें बडी सहायता होती है। इस प्रकार विविध रीतिसे जलकी सहायता कामाग्निकी शान्ति करनेके कार्य में होती है। (मं० १०)

३ पर्जन्यः— मेघ अर्थात् वृष्टिका जल इस विषयमें लाभकारी है। वृष्टि होते समय उसमें खडा होकर उस आकाश गंगाके जलसे स्नान करनाभी बडा उत्तम है। इससे शरीरकी उष्णता सम होजाती है। इसके अतिरिक्त वृष्टिजल पीनेसे भी शरीरके अंदर के दोष हट जाते हैं। और कामकी शान्ति होनेमें सहायता होती है। (मं० १०)

४ अग्निः— आग, अग्नि यह वस्तुतः शरीरको अधिक उष्ण बनानेवाला है। जो कोमल प्रकृतिके मनुष्य होते हैं यदि उनको अग्निके साथ कार्य करनेका अवसर हुआ तो उनके शरीरकी उष्णता बढनेसे उनका शरीर अधिक गर्म होजाता है और उसके कारण उनको वीर्यदोषकी बाधा हो जाती है। इसलिये इस प्रकारकी अत्यधिक कोमलता

शरीरसे हटानी चाहिये। अग्नि प्रयोगसे ही यह हट सकती है। होम हवन करते समय शरीरको अग्निका उत्ताप लगता है, अन्य प्रकारसे भी शरीरको अग्निकी उष्णता से परिचित रखना चाहिये, जिससे किसी समय आगके साथ काम करना पडे, तो उस उष्णताको शरीर सह सकेगा। अग्निकी उष्णताका हानिकारक परिणाम शरीरपर न होनेके लिये इस प्रकार शरीरको सहनशक्तिसे युक्त बनाना चाहिये। (मं० १०)

५ वातः— वायु भी इस विषयमें लाभ दायक है। शुद्ध वायु सेवन, तथा शुद्ध वायुमें भ्रमण करनेसे बडे लाभ हैं। प्राणायाम करना भी वायुसेवनकी एक लाभप्रद रीति है। प्राणायाम करनेसे वीर्यदोष दूर होते हैं। प्राणायामके अभ्याससे मनुष्य स्थिर वीर्य हो जाता है। इसकारण वायुको कामाग्निका शान्त करनेवाला कहा है। जो जगत् में वायु है वही शरीरमें प्राण है। (मं० १०)

६ सविता- सूर्यभी इस विषयमें बडा सहायक है। जो बात अग्निके विषयमें कही है, वही सूर्यके विषयमें भी सत्य है। कोमल प्रकृतिवाले मनुष्य सूर्य प्रकाशमें घूमने फिरनेसे वीर्यदोषी होजाते हैं,यह इस कारण होता है कि सूर्य प्रकाश सहन करनेकी शक्ति उनमें नहीं होती। वस्तुतः सूर्यका प्रकाश शरीर स्वास्थ्यके लिये बडा लाभकारी है। सूर्य प्रकाशमें बडा जीवन है। थोडा थोडा सूर्य प्रकाशसे अपने शरीरको तपाते जानेसे शरीरकी सहन शक्ति बढती है और शरीरमें अद्भुत जीवन रस संचारने लगता है,आरोग्य बढ जाता है और थोडीसी उष्णतासे कामकी उत्तेजना शरीरमें होनेकी संभावना कम होती है। इस प्रकारकी सहनशक्ति बढानेका प्रयत्न करना हो तो प्रथम प्रातःकालके कोमल सूर्यप्रकाशमें भ्रमण करना चाहिये और पश्चात् कठोर प्रकाशमें करना चाहिये। यह सूर्यातपस्नान बडाही लाभदायक है। मंत्रमें "हिरण्यपाणिः सविता" ये शब्द नऊ बजेतकके सूर्यकेही वाचक हैं, सोनेके रंगके समान रंगवाले किरणोंवाला सूर्य प्रातः और सायंही होता है। (मं० ८)

७ वरुणः— वरुणका स्थान समुद्र है। इसलिये समुद्रस्नान इस विषयमें लाभ कारी है ऐसा हम यहां समझ सकते हैं। इस में जल प्रयोग भी आसकता है। (मं० ८)

८ मित्रः— सूर्य, इस विषयमें पूर्व स्थलमें कहा ही है। यदि " हिरण्यपाणि सविता " पूर्वाह्णका है तो उसके बादके सूर्यका नाम मित्र है। पूर्वोक्त प्रकार यह भी लाभ दायक है। मित्रकी प्रेम दृष्टिका उदय होनेसे भी अर्थात् जगत् की ओर प्रेम पूर्ण मित्र दृष्टिसे देखनेसे भी बडा लाभ होना संभव है। (मं० ८)

९ विश्वे देवाः- अन्यान्य देवताओंके विषयमें भी इसी प्रकार विचार करके जानना चाहिये और उनसे अपना लाभ करना चाहिये। इस विषयमें बडा विचार करना योग्य है।

१० बृहस्पतिः- यह ज्ञानकी देवता है। ज्ञानसे भी कामाग्निकी शांति साधन करनेमें सहायता हो सकती है। बृहस्पति नाम "गुरु" का है। गुरुसे ज्ञान प्राप्त करके उस ज्ञानके बलसे अपनेको बचाना चाहिये अर्थात् कामाग्निका संयम करना चाहिये। यहां जो ज्ञान आवश्यक है वह शरीर शास्त्र, मानस शास्त्र, अध्यात्म शास्त्र इत्यादिका ज्ञान है। साथ ही साथ भक्तिमार्ग ज्ञानमार्ग आदिका भी ज्ञान होना चाहिये। (मं० ८)

११ अङ्गिरसः- अंगरसकी विद्या जाननेवाले ऋषि। शरीरमें सर्वत्र संचार करनेवाला एक प्रकारका जीवन रस है, उसकी विद्या जो जानते हैं, उनसे यह विद्या प्राप्त करके उस विद्या द्वारा कामाग्निका शमन करना चाहिये। योग साधनमें इस विषयके अनेक उपाय कहे हैं, उनका भी यहां अनुसंधान करना चाहिये। (मं० ८)

१२ इन्द्रः—इन्द्र नाम जीवात्मा, राजा और परमात्माका है। इन तीनोंका कामाग्निकी शान्ति करनेमें बडा संबंध है। जीवात्माका आत्मिक बल बढाकर शुभसंकल्पोंके द्वारा अपने अंदरके काम विकार का संयम करना चाहिये। राजा को चाहिये कि वह अपने राज्यमें ब्रह्मचर्य और संयमका वायुमंडल बढाकर कामाग्निकी शान्ति करनेकी सबके लिये सुगमता करे। राष्ट्रमें अध्यापकवर्ग और संरक्षक अधिकारी वर्ग ब्रह्मचारी रखकर राज्य चलानेका उपदेश अथर्ववेदके ब्रह्मचर्य सूक्त [अथर्व १०५ (७) १६] में कहा है। वह यहां अवश्य देखने योग्य है। इससे राजाके कर्तव्यका पता लग सकता है। यदि राज्यमें अध्यापक गण पूर्ण ब्रह्मचारी हों और राज्य शासनके अन्य ओहदेदार भी उत्तम ब्रह्मचारी हों तो उस राज्यका वायुमंडल ही ब्रह्मचर्यके लिये अनुकूल होगा और ऐसे राज्यमें रहने वाले लोगोंका ब्रह्मचर्य रहना, संयम होना अथवा कामाग्निका शमन होना निःसन्देह सुसाध्य होगा। धन्य है ऐसे वैदिक राज्यकी कि जहां सब अधिकारी वर्ग और अध्यापक वर्ग ब्रह्मचारी होते हों॥ वैदिक धर्मियोंको ऐसा प्रयत्न करना चाहिये कि ऐसे राज्य इस भूमंडलपर स्थापित हों और सर्वत्र ब्रह्मचर्यका वायुमंडल फैले। इसके नंतर इन्द्र शब्दका तीसरा अर्थ परमात्मा है। यह परमात्मा तो पूर्णब्रह्मचर्यका परम आदर्श है, इसकी भक्ति और उपासनासे कामाग्निका शमन होता ही है। सब ऋषिमुनि और योगी इसी परमात्म भक्तिकी साधनासे मनः संयम द्वारा कामाग्निका शमन करके अमर होगये।

इस प्रकार उपायका वर्णन इस सूक्तमें किया है। यह सूक्त अत्यन्त महत्त्वका है। इसका पाठ "बृहच्छान्तिगण" में किया है। सच मुच यह सूक्त बृहती शांति करनेवाला ही है। जो पाठक इसके अनुष्ठानसे इस शांतिकी साधना करेंगे वेही धन्य होंगे।

वर्चःप्राप्ति सूक्त।

[२२]

(ऋषिः वसिष्ठः। देवता- -वर्चः, बृहस्पतिः, विश्वेदेवाः)

हस्तिवर्चसं प्रथतां बृहद् यशो अदित्या यत् तन्वः संबभूव।
तत् सर्वे समदुर्मह्यमेतद् विश्वे देवा अदितिः सजोषाः ॥ १ ॥
मित्रश्च वरुणश्चेन्द्रो रुद्रश्च चेततु। देवासो विश्वधायसस्ते माञ्जन्तु वर्चसा ॥२॥
येन हस्ती वर्चसा संबभूव येन राजा मनुष्येष्वप्स्वन्तः।
येन देवा देवतामग्र आयन् तेन मामद्य वर्चसाग्ने वर्चस्विनं कृणु ॥ ३ ॥

अर्थ— (यत् अदित्याः तन्वः) जो अदितिके शरीरसे (संबभूव) उत्पन्न हुआ है वह (हस्तिवर्चसं बृहत् यशः) हाथीके बलके समान बडा यश (प्रथतां) फैले। (तत् एतत्) वह यह यश (सर्वे सजोषाः विश्वे देवाः अदितिः) सब एक मनवाले देव और अदिति (मह्यं सं अदुः) मुझे देते हैं ॥ १ ॥

(मित्रः च वरुणः च इन्द्रः च रुद्रः च) मित्र, वरुण, इन्द्र और रुद्र (चेततु) उत्साह देवें। (ते विश्वधायसः देवाः) वे विश्वके धारक देव (वर्चसा मा अञ्जन्तु) तेजसे मुझे युक्त करें ॥ २ ॥

(येन वर्चसा हस्ती संबभूव) जिस तेजसे हाथी उत्पन्न हुआ है, और (येन मनुष्येषु अप्सु च अन्तः राजा सं बभूव) जिस तेजसे मनुष्योंमें और जलोंके अन्दर राजा हुआ है, और (येन देवाः अग्रे देवतां आयन्) जिस तेजसे, देवोंने पहले देवत्व प्राप्त किया, (तेन वर्चसा) उस तेजसे, हे अग्ने ! (मां अद्य वर्चस्विनं कृणु) मुझे आज तेजस्वी कर ॥ ३ ॥

भावार्थ— जो मूल प्रकृतिके अंदर बल है, जो हाथी आदि पशुओंमें आता है, वह बल मुझमें आवे, सब देव एक मतसे मुझे बल देवें ॥ १ ॥

मित्र वरुण इन्द्र और रुद्र ये विश्वके धारक देव मुझे उत्साह देवें, ज्ञान देवें और मुझे तेजसे युक्त करें ॥ २ ॥

जिस बलसे हाथी सब पशुओंमें बलवान् हुआ है, जिस बलसे मनुष्यों-के अंदर राजा बलवान् होता है और भूमि तथा जल पर भी अपना शासन करता है, जिस बलसे पहले देवोंने देवत्व प्राप्त कियाथा, हे तेजके देव ! वह बल आज मुझे प्राप्त होवे ॥ ३ ॥

यत् ते वर्चो जातवेदो बृहद् भवत्याहुतेः।
यावत् सूर्यस्य वर्च आसुरस्य च हस्तिनः।
तावन्मे अश्विना वर्च आ धत्तां पुष्करस्रजा ॥ ४ ॥
यावच्चतस्रः प्रदिशश्चक्षुर्यावत् समश्नुते।
तावत् समैत्विन्द्रियं मयि तद्धस्तिवर्चसम् ॥ ५ ॥
हस्ती मृगाणां सुषदामतिष्ठावान् बभूव हि।
तस्य भगेन वर्चसाभि षिञ्चामि मामहम् ॥ ६ ॥

अर्थ- हे (जातवेदः) जातवेद ! (ते यत् वर्चः आहुतेः बृहत् भवति) तेरा जो तेज आहुतियोंसे बडा होता है (यावत् सूर्यस्य, आसुरस्य हस्तिनः च वर्चः) और जितना सूर्यका और आसुरी हाथी[मेघ]का बल और तेज होता है, हे (पुष्करस्रजौ अश्विनौ) पुष्पमाला धारण करनेवाले अश्वि देवो ! (तावत् वर्चः मे आधत्तां) उतना तेज मेरे लिये धारण कीजिये ॥ ४ ॥

यावत्(चतस्रः प्रदिशः)जितनी दूर चारों दिशायें हैं,(यावत् चक्षुः समश्नुते) जितनी दूर दृष्टि फैलती है, (तावत् मयि तत् हस्तिवर्चसं इन्द्रियं) उतना मुझमें वह हाथीके समान इंद्रियोंका बल (सं ऐतु) इकट्ठा होकर मिले ॥ ५ ॥

(हि सुषदां मृगाणां) जैसा अच्छे बैठनेवाले पशुओंमें (हस्ती अतिष्ठावान् बभूव) हाथी बडा प्रतिष्ठावान् हुआ है, (तस्य भगेन वर्चसा) उसके ऐश्वर्य और तेजके साथ (अहं मां अभिषिञ्चामि) मैं अपने आपको अभिषिक्त करता हूं ॥ ६ ॥

भावार्थ- हे बने हुएको जाननेवाले देव! जो तेज अग्निमें आहुतियां देनेसे बढता है, जो तेज सूर्यमें है, जो असुरोंमें तथा हाथीमें या मेघोंमें है, हे अश्विदेवो ! वह तेज मुझे दीजिये ॥ ४ ॥

चार दिशाएं जितनी दूर फैली हैं, जितनी दूर मेरी दृष्टि जाती है, उतनी दूरतक मेरे सामर्थ्यका प्रभाव फैले ॥ ५ ॥

जैसा हाथी पशुओंमें बडा बलवान् है, वैसा बल और ऐश्वर्य मैं प्राप्त करता हूं ॥ ६ ॥

शाकभोजनसे बल बढाना।

शरीरका बल, तेज, आरोग्य, वीर्य आदि बढानेके संबंधका उपदेश करनेवाला यह सूक्त है। प्राणियोंमें हाथीका शरीर (हस्तिवर्चसं। मं० १) बडा मोटा और बलवान् भी होता है। हाथी शाकाहारी प्राणी है, इसीका आदर्श वेदने यहां लिया है; सिंह और व्याघ्रका आदर्श लिया नहीं। इससे सूचित होता है कि मनुष्य शाक भोजी रहता हुआ अपना बल बढावे और बलवान् बने। वेदकी शाकाहार करनेके विषयकी आज्ञा इस सूक्त द्वारा अप्रत्यक्षतासे व्यक्त हो रही है, यह बात पाठक यहां स्मरण रखें।

बल प्राप्तिकी रीति।

" अदिति " प्रकृतिका नाम है, उस मूल प्रकृतिमें बहुत बल है, इस बलके कारण ही प्रकृतिको " अदिति " अर्थात् " अ-दीन " कहते हैं। इस प्रकृतिके ही पुत्र सूर्य चंद्रादि देव हैं, इसी लिये इस प्रकृतिको देव माता, सूर्यादि देवोंकी माता, कहा जाता है। मूल प्रकृतिका ही बल विविध देवोंमें विविध रीतिसे प्रकट हुआ है, सूर्यमें तेज, वायुमें जीवन, जलमें शीतता आदि गुण इस देवोंकी अदिति मातासे इनमें आगये हैं। इस लिये प्रथम मंत्रमें कहा है कि " इन सब देवोंसे प्रकृतिका अमर्याद बल मुझे प्राप्त हो। (मं० १)" सच मुच मनुष्यको जो बल प्राप्त होता है वह पृथ्वी आप तेज वायु आदि देवोंकी सहायतासे ही प्राप्त होता है, किसी अन्य रीतिसे नहीं होता है। यह बल प्राप्त करनेकी रीति है। इन देवोंके साथ अपना संबंध करनेसे अपने शरीरका बल बढने लगता है। जलमें तैरने, वायुमें भ्रमण करने अथवा खेलकूद करने, धूपसे शरीरको तपाने अर्थात् शरीरकी चमडीके साथ इन देवोंका सम्बन्ध करनेसे शरीरका बल बढता है। इससे यह सिद्ध हुआ कि तंग मकान में अपने आपको बन्द रखनेसे बल घटता है।

द्वितीय मंत्र कहता है कि "(मित्र) सूर्य, (वरुणः) जलदेव (इन्द्रः) विद्युत् (रुद्रः) अग्नि अथवा वायु ये विश्वधारक देव मेरी शक्ति बढावें।" (मं० २) यादि इनके जीवन रसपूर्ण अमृत प्रवाहोंसे अपना संबंधही टूट गया तो ये देव हमारी शक्ति कैसी बढावेंगे? इस लिये बल बढानेवालोंको उचित है कि वे अपने शरीरकी चमडीका संबंध इन देवोंके अमृत प्रवाहोंके साथ योग्य प्रमाणसे होने दें। ऐसा करनेसे इनके अंदरका अमृत रस शरीरमें प्रविष्ट होगा और बल बढेगा।

अन्य मंत्रोंका आशय स्पष्टही है। मरियल और बलवान होनेका मुख्य कारण यहां इस सूक्तने स्पष्ट कर दिया है। जो पाठक इस सूक्तके उपदेशके अनुसार आचरण करेंगे वे निःसंदेह बल, वीर्य, दीर्घायु और आरोग्य प्राप्त करेंगे।

वीर पुत्रकी उत्पत्ति ।

[२३]

(ऋषिः— ब्रह्मा । देवता—चन्द्रमाः, योनिः)

येन वेहद् बभूविथ नाशयामसि तत्त्वत् ।
इदं तदन्यत्र त्वदप दूरे नि दध्मसि ॥ १ ॥
आ ते योनिं गर्भ एतु पुमान् बाण इवेषुधिम् ।
आ वीरोऽत्र जायतां पुत्रस्ते दशमास्यः ॥ २ ॥
पुमांसं पुत्रं जनय तं पुमाननु जायताम् ।
भवासि पुत्राणां माता जातानां जनयाश्च यान् ॥ ३ ॥

अर्थ- (येन वेहत् बभूविथ) जिस कारणसे तू वन्ध्या हुई है, (तत् त्वत् नाशयामासि) वह कारण तुझसे हम दूर करते हैं। (तत् इदं) वह यह वंध्यापन (अन्यत्र त्वत् दूरे) दूसरी जगह तेरेसे दूर (अप नि दध्मसि) हम लेजाते हैं ॥ १ ॥

(पुमान् गर्भः ते योनिं आ एतु) पुरुष गर्भ तेरे गर्भाशयमें आजावे, (बाणः इषुधिं इव) जैसा बाण तूणीरमें होता है। (अत्र ते) यहां तेरा (दशमास्यः वीरः पुत्रः आजायतां) दस महिने गर्भमें रहकर वीर पुत्र उत्पन्न हो ॥ २ ॥

(पुमांसं पुत्रं जनय) पुरुष संतान उत्पन्न कर, (तं अनु पुमान् जायतां) उसके पीछे भी पुत्रही उत्पन्न होवे। इस प्रकार तू (पुत्राणां माता भवासि) पुत्रोंकी माता हो, (जातानां यान् च जनयाः) जो पुत्र जनमे हैं और जिनको तू इसके बाद उत्पन्न करेगी ॥ ३ ॥

भावार्थ- हे स्त्री ! जिस दोषके कारण तुम्हारे गर्भायशमें गर्भधारणा नहीं होती है और तू वन्ध्या बनी है, वह दोष मैं तेरे गर्भसे दूर करता हूं और पूर्ण रीतिसे वह दोष तुझसे दूर करता हूं ॥ १ ॥

तेरे गर्भाशयमें पुरुष गर्भ उत्पन्न हो, वह गर्भ वहां दस मास तक अच्छी प्रकार पुष्ट होता हुआ उससे उत्तम वीर पुत्र तुझे उत्पन्न होवे॥२॥

पुरुष संतान उत्पन्न कर। उसके पीछे दूसरा भी पुत्र ही होवे। इस प्रकार तू अनेक पुत्रोंकी माता हो ॥ ३ ॥

यानि भद्राणि बीजान्यृषभा जनयन्ति च ।
तैस्त्वं पुत्रं विन्दस्व सा प्रसूर्धेनुका भव ॥ ४ ॥
कृणोमि ते प्राजापत्यमा योनिं गर्भ एतु ते ।
विन्दस्व त्वं पुत्रं नारि यस्तुभ्यं शमसच्छमु तस्मै त्वं भव ॥ ५ ॥
यासां द्यौः पिता पृथिवी माता समुद्रो मूलं वीरुधां बभूव ।
तास्त्वा पुत्रविद्याय दैवीः प्रावन्त्वोषधयः ॥ ६ ॥

अर्थ—(यानि च भद्राणि बीजानि) जो कल्याण कारक बीज हैं जिनको (ऋषभाः जनयन्ति) ऋषभक वनस्पतियां उत्पन्न करती हैं, (तैः त्वं पुत्रं विन्दस्व) उनसे तू पुत्रको प्राप्त कर। (सा प्रसूः) वैसी प्रसूत होनेवाली तू (धेनुका भव) गौके समान उत्तम माता हो ॥ ४ ॥

(ते प्राजापत्यं कृणोमि) तेरे लिये प्रजा होनेका संस्कार मैं करता हूं। (गर्भः ते योनिं एतु) गर्भ तेरी योनिमें आवे। हे (नारि) स्त्री! (त्वं पुत्रं विन्दस्व) तू पुत्रको प्राप्त कर। (यः तुभ्यं शं असत्) जो तेरे लिये कल्याण कारी होवे और (च त्वं उ तस्मै शं भव) तूं निश्चयसे उसके लिये कल्याणकारिणी हो ॥ ५ ॥

(यासां वीरुधां) जिन औषधियोंकी (द्यौः पिता) द्युलोक पिता है, (पृथिवी माता) पृथ्वी माता है, और (समुद्रः मूलं) समुद्र मूल (बभूव) हुआ है। (ताः दैवीः ओषधयः) वे दिव्य औषधियां (त्वा पुत्रविद्याय) तुझे पुत्र प्राप्त करनेके लिये (प्र अवन्तु) विशेष रक्षण करें ॥ ६ ॥

भावार्थ—ऋषभक आदि औषधियोंके जो उत्तम बीज होते हैं, उनका सेवन पुत्र प्राप्तिके लिये तू कर। और उत्तम वीर पुत्रोंको उत्पन्न कर ॥ ४ ॥

प्रजा उत्पन्न होनेका प्राजापत्य संस्कार मैं तुझपर करता हूं, उससे तेरे गर्भाशयमें पुरुष गर्भ उत्पन्न होवे और तू पुत्र संतानको उत्पन्न कर। वह पुत्र तेरा कल्याण करे और तू उसका कल्याण कर ॥ ५ ॥

जो औषधियां पृथ्वीपर उत्पन्न होती हैं, जिनका पालन दिव्य शक्तिसे होता है और जो समुद्रसे उत्पन्न हुई हैं, उन दिव्य औषधियोंका सेवन पुत्र प्राप्तिके लिये तू कर, उससे तुम्हारे गर्भाशयका दोष दूर होगा और तुझे उत्तम संतान उत्पन्न होगा ॥ ६ ॥

वीर पुत्रका प्रसव।

वंध्या स्त्रीका वंध्यात्व दूर करके उसको उत्तम वीर पुत्र उत्पन्न होने होग्य "जननी" बनाना इस सूक्तका साध्य है। पहले तीन मंत्रोंमें मंगल विचारोंकी सूचना द्वारा आंतरिक परिवर्तन करनेका उपाय कहा है। यदि किसी स्त्रीको यौवनमें मनसे पूरा पूरा निश्चय हो जायगा कि अपना वंध्यापन दूर हुआ है, तो अंदर वैसाही अनुकूल परिवर्तन हो जाना संभव है। यदि गात्र विषयक कोई वैसा बडा दोष न हो, तो इस मानसिक विचार परिवर्तनसे भी आवश्यक सिद्धि मिलना संभव है।

इस कार्यके लिये "प्राजापत्य इष्टि" का प्रयोग पंचम मंत्रमें कहा है। ऋषभक आदि दिव्य औषधियोंका हवन और उनके बीजोंका विधिपूर्वक भक्षण करनेका विधान चतुर्थ मंत्रमें है। ऋषभक औषधियोंका एक गण ही है, ये औषधियां वीर्य बढानेवाली, शरीरको पुष्ट करनेवाली और गर्भाशयके दोष दूर करके वहांका आरोग्य बढानेवाली हैं। इन औषधियोंका हवन करना, इनका सेवन करना और आरोग्य पूर्ण विचार मनमें धारण करना ये तीन उपाय वंध्यात्व दूर करनेके लिये इस सूक्तमें कहे हैं।

याजक धर्मभावसे यह प्राजापत्य यज्ञ करे, यज्ञशेष आहुतिरस स्त्रीको पिलावे और प्रथम तीन मंत्रोक्त आरोग्यके विचार आशीर्वाद रूपसे कहे— " हे स्त्री ! तेरे अंदर जो वंध्यात्वका दोष था, वह इस प्राजापत्य इष्टिसे दूर हो गया है; अब तुम्हारे गर्भाशयमें पुरुष गर्भ उत्पन्न होगा, वहां वह वीर बालक दस मासतक पुष्ट होता रहेगा और पश्चात योग्य समयमें उत्पन्न होगा। अब तू अनेक पुत्रोंकी माता बनेगी। (मं० १ — ३)"

इस प्रकारके मनःपूर्वक दिये हुए आशीर्वादसे तथा उस आशीर्वादको अचल निश्चय से स्वीकार करनेसे शरीरके अन्दर आवश्यक परिवर्तन हो जाता है। " शिव संकल्प से चिकित्सा " करनेकी रीति यह है। इस विषयके सूक्त अथर्ववेदमें अनेक हैं।

इस सूक्तमें " ओषधयः " शब्द बहुवचनान्त है, इससे अनुमान होता है कि इस सेवन विधिमें अनेक औषधियां आती हैं। सुविज्ञ वैद्योंको इस विषयकी खोज करना चाहिये।

समृद्धिकी प्राप्ति।

[२४]

(ऋषिः—भृगुः। देवता-वनस्पतिः, प्रजापतिः)

पर्यस्वतीरोषधयः पर्यस्वन्मामकं वचः।
अथो पर्यस्वतीनामा भरेऽहं सहस्रशः ॥ १ ॥
वेदाहं पर्यस्वन्तं चकार धान्यं बहु।
सम्भृत्वा नाम यो देवस्तं वयं हवामहे यो-यो अयज्वनो गृहे ॥ २ ॥
इमा याः पञ्च प्रदिशो मानवीः पञ्च कृष्टयः। वृष्टे शापं नदीरिवेह स्फातिं समावहान् ॥३॥

अर्थ— (ओषधयः पयस्वतीः) औषधियां रसवाली हैं, और (मामकं वचः पयस्वत्) मेरा वचन भी सारवाला है। (अथो) इसलिये (पयस्वतीनां सहस्रशः) रसवाली औषधीयोंका हजारहां प्रकारसे (अहं आभरे) मैं भरण पोषण करता हूं ॥ १ ॥

(पयस्वन्तं बहुधान्यं चकार) रसवाला बहुत धान्य उत्पन्न किया है उसकी रीति (अहं वेद) मैं जानता हूं। (यः यः अयज्वनः गृहे) जो कुछ अयाजक के घरमें है उसको (संभृत्वा नाम यः देवः) संग्रह करके लानेवाला इस नामका जो देव है, (तं वयं हवामहे) उसका हम यजन करते हैं ॥ २ ॥

(इमाः याः पञ्च प्रदिशः) ये जो पांचों दिशाओंमें रहनेवाली (मानवीः पञ्च कृष्टयः) मनुष्योंकी पांच जातियां हैं वे (इह स्फातिं समावहन्) यहां वृद्धिको प्राप्त करें (इव) जिस प्रकार वृष्टे नदीः शापं) वृष्टि होनेके कारण नदियां सब कुछ भर लातीं हैं ॥ ३ ॥

भावार्थ- मेरा भाषण मीठा होता है वैसी ही औषधियां उत्तम रसवाली होती हैं, इस लिये मैं विशेष प्रकारसे औषधियोंका पोषण करता हूं ॥ १ ॥

रसवाला उत्तम धान्य उत्पन्न करनेकी विधि मैं जानता हूं। इस लिये उस दयावान ईश्वर का मैं यजन करता हूं, जो अयाजक लोगोंके घरमें भी समृद्धि करता है ॥ २ ॥

ये पांचों दिशाओंमें रहनेवाली मानवोंकी पांच जातियां उत्तम समृद्धि प्राप्त करें जैसी नदियां वृष्टि होने पर भर जाती हैं ॥ ३ ॥

उदुत्सं शतधारं सहस्रधारमक्षितम् । एवास्माकेदं धान्यं सहस्रधारमक्षितम् ॥ ४ ॥
शतहस्त समाहर सहस्रहस्त सं किर । कृतस्य कार्यस्य चेह स्फातिं समावह ॥५॥
तिस्रो मात्रा गन्धर्वाणां चतस्रो गृहपत्न्याः ।
तासां या स्फातिमत्तमा तया त्वाभि मृशामसि ॥ ६ ॥
उपोहश्च समूहश्च क्षत्तारौ ते प्रजापते । ताविहा वहतां स्फातिं बहुं भूमानमक्षितम् ॥७॥

अर्थ—(शतधारं सहस्रधारं अक्षितं उत्सं उत) सेंकडों और हजारों धाराओं वाले अक्षय झरने या तडागादिक जैसे वृष्टिसे भर जाते हैं, (एव अस्माक इदं धान्यं) इसी प्रकार हमारा यह धान्य (सहस्रधारं अक्षितं) हजारों धाराओंको देता हुआ अक्षय होवे ॥ ४ ॥

हे (शत-हस्त) सौं हाथोंवाले मनुष्य ! (समाहर) इकट्ठा करके ले आओ । हे (सहस्र-हस्त) हजारों हाथों वाले मनुष्य ! (सं किर) उसको फैलादे, दान कर । और (कृतस्य कार्यस्य च) किये हुये कार्य की (इह स्फातिं समावह) यहां वृद्धि कर ॥ ५ ॥

(गंधर्वाणां तिस्रः मात्राः) भूमिका धारण करनेवालों की तीन मात्राएं और (गृहपत्न्याः चतस्रः) गृहपत्नियों की चार होती हैं । (तासां या स्फाति-मत्-तमा) उनमें जो अत्यंत समृद्धिवाली है (तया त्वा अभि मृशामसि) उससे तुझको हम संयुक्त करते हैं ॥ ६ ॥

हे (प्रजापते) प्रजाके पालक ! (उपोहः च) उठाकर लानेवाला और (समूहः च) इकट्ठा करनेवाला ये दोनों (ते क्षत्तारौ) तेरे सहकार्य करनेवाले हैं । (तौ इह स्फातिं) वे दोनों यहां वृद्धिको लावें और (बहु अक्षितं भूमानं आवहतां) बहुत अक्षय भरपूरताको लावें ॥ ७ ॥

भावार्थ—वृष्टि होनेसे तालाव आदि जलाशय जैसे भरपूर भर जाते हैं उसीप्रकार हमारे घरोंमें अनेक प्रकारके धान्य भरपूर और अक्षय होजावें ॥४॥

हे मनुष्य ! तू सौं हाथोंवाला होकर धन प्राप्त कर और हजार हाथोंवाला बनकर उसका दान कर । इस प्रकार अपने कर्तव्यकर्मकी उन्नति कर ॥५॥

ऐसा करनेसेही अधिकसे अधिक समृद्धि हम तुमको देते हैं ॥ ६ ॥

लानेवाला और संग्रहकर्ता ये दोनों प्रजापालन करनेवालेके सहकारी हैं । अतः ये दोनों इस स्थानपर समृद्ध हों और अक्षय समृद्धि प्राप्त करें ॥७॥

समृद्धिकी प्राप्तिके उपाय।

समृद्धि हरएक चाहता है परंतु उसकी प्राप्तिका उपाय बहुत थोडे जानते हैं। समृद्धिकी प्राप्तिके कुछ उपाय इस सूक्तमें कहे हैं। जो लोक समृद्धि प्राप्त करना चाहते हैं वे इस सूक्तका अच्छी प्रकार मनन करें। समृद्धि की प्राप्तिके लिये पहिला नियम " मीठी वाणी " है—

पयस्वान् मामकं वचः। (मं० १)

" दूध जैसा मधुर मेरा वचन हो, " भाषणमें मधुरता, रसमयता, मीठास, सुननेवालोंकी तृप्ति करनेका गुण रहे। समृद्धि प्राप्त करनेके लिये मीठे भाषण करनेके गुण की अत्यंत आवश्यकता है। आत्मशुद्धिका यह पहला और आवश्यक नियम है। इसके पश्चात् समृद्धि बढानेका दूसरा नियम है, " दक्षतासे कृषिकी वृद्धि करना "—

पयस्वतीनां आभरेऽहं सहस्रशः। (मं १)
वेदाहं पयस्वन्तं चकार धान्यं बहु॥ (मं० २)

" रसवाली औषधियोंका मैं हजारों प्रकारोंसे पोषण करता हूं, बहुत धान्य कैसा उत्पन्न किया करते हैं, यह विद्या मैं जानता हूं। " अर्थात् उत्तम कृषि करनेकी विद्या जानना और उसके अनुसार कृषि करके अपना धान्य संग्रह बढाना समृद्धि होनेके लिये अत्यन्त आवश्यक है। रसदार धान्य अपने पास न हुआ तो अन्य समृद्धि होनेसे कोई विशेष लाभ नहीं है। मीठा भाषण करनेवाला मनुष्य हुआ तो उसके पास बहुत मनुष्य इकट्ठे हो सकते हैं, और उसके पास रसवाला धान्य हुआ तो वे आनंदसे तृप्त हो सकते हैं। इसके पश्चात् "सामुदायिक उपासना करना" समृद्धिके लिये आवश्यक होता है-

सम्भृत्वा नाम यो देवस्तं वयं हवामहे
यो-यो अयज्वनो गृहे॥ (मं० २)

"जो यज्ञ न करनेवालोंके भी घरमें (उनके पोषणके सामान रखता है वह दयामय) संभारकर्ता नामक देव है उसकी उपासना हम करते हैं।" परमेश्वर सबका पालने हारा है, उसकी कृपा दृष्टि सबोंपर रहती है, ऐसा जो दयामय ईश्वर है, उसकी उपासना करनेसे समृद्धि बढ जाती है। जो देव अयाजकोंको भी पुष्टिके साधन देता है वह तो याजकोंका पोषण करेगा ही, इसलिये ईश्वर भक्ति करना समृद्धि प्राप्त करनेका मुख्य साधन है। इस मंत्रमें "हवामहे" यह बहुवचनमें पद है, इसलिये बहुतों द्वारा मिल कर उपासना करनेका-यज्ञ करनेका-भाव इससे स्पष्ट होता है।

मिलकर उपासना करनेसे और पूर्वोक्त दोनों नियमोंका पालन करनेसे 'पांचों मनुष्योंकी अर्थात् ब्राह्मण क्षत्रिय वैश्य शूद्र निषादोंकी मिलकर उन्नति हो सकती है।" (मं० ३) उन्नतिका यह नियम है। जिस प्रकार वृष्टि हुई तो नदी बढती है अन्यथा नहीं, इसी प्रकार पूर्वोक्त तीनों नियमोंका पालन हुआ तो मनुष्योंकी उन्नति निःसंदेह होगी। पाठक इन नियमोंका अवश्य स्मरण रखें।

समृद्धि होने के लिये रसदार धान्यकी विपुलता अपने पास अवश्य होनी चाहिये, यह भाव विशेष दृढ करनेके लिये चतुर्थ मंत्रमें "हजारों प्रकारकी मधुर रसधाराओंसे युक्त अक्षय धान्यका संग्रह" अपने पास रखनेका उपदेश किया है। यह विशेषही महत्त्वका उपदेश है। इस प्रकार धनधान्यकी विपुलता होनेपर स्वार्थ उत्पन्न होगा और उस स्वार्थके कारण आत्मोन्नति होना सर्वथा असंभव है। इस लिये पंचम मंत्रमें दान देनेके समय विशेष उदारता रखनेका भी उपदेश किया है—

शतहस्त समाहर, सहस्रहस्त सं किर। (मं० ५)

"सौ हाथोंवाला होकर कमाई करो, और हजार हाथोंवाला बनकर उसका दान करो।" यह उपदेश हरएक मनुष्य को अपने हृदयमें स्थिर करना अत्यंत आवश्यक है। इस उदार भावके विना मनुष्यकी उन्नति असंभव है। इसके पश्चात् वेद कहता है कि—

कृतस्य कार्यस्य चेह स्फातिं समावह। (मं० ५)

"इस प्रकार अपने कर्तव्य कर्मकी यहां उन्नति करो।" जो पूर्वोक्त स्थानमें उन्नतिके नियम कहे हैं, उन नियमोंका पालन करने द्वारा अपने कर्तव्यके क्षेत्रका विस्तार करो, यह उपदेश अत्यंत मनन करने योग्य है। "(कार्यस्य स्फातिं समावह)" ये शब्द हरएक मनुष्यके कार्य क्षेत्रके विषयमें कहे हैं, ब्राह्मण अपना ज्ञान विषयक कार्य क्षेत्र बढावे, क्षत्रिय अपना प्रजारक्षण रूप कार्य क्षेत्र बढावे, वैश्य कृषि गौरक्ष्य वाणिज्य आदि में अपने कार्य क्षेत्रकी वृद्धि करे, शूद्र अपने कारीगरी के कार्य बढावे और निषाद अपने जो वन रक्षा विषयक कर्तव्य हैं उनकी वृद्धि करे। इस प्रकार सबकी उन्नति हुई, तो संपूर्ण पंचजनोंका अर्थात् सब राष्ट्रका सुख बढ सकता है और सबकी सामुदायिक उन्नति हो सकती है। हरएक को अपनी (स्फाति) बढती, उन्नति, वृद्धि, समृद्धि करनेके लिये अवश्यही कटिबद्ध होना चाहिये। अपनी संपूर्ण शक्तियोंका विकास अवश्य करना चाहिये।

मुख्य दो साधन।

समृद्धि प्राप्त करनेके दो मुख्य साधन हैं। "उपोहः" और "समूहः" इनके विशेष अर्थ देखिये—

१ उपोहः-- (उप-ऊहः) इकट्ठा करना, संग्रह करना, एक स्थानपर लाकर रखना।

२ समूहः- समुदायोंमें बांटकर वर्गीकरण करना।

पहली बात है संग्रह करना और दूसरी बात है उन संगृहित द्रव्योंको वर्गीकरणद्वारा समुचित रीतिसे व्यवस्थित रखना। इसीसे शास्त्र बनता और बढता है। वृक्ष वनस्पतियोंका संग्रह करने और उनका वर्गीकरण करनेसे वनस्पतिशास्त्रकी उत्पत्ति हुई है। वस्तुसंग्रहालयमें देखिये, वहां पदार्थोंका संग्रह किया जाता है और उनको वर्गोंमें सुव्यवस्थित रखा जाता है। यदि ऐसा न किया जाय, तो वस्तुसंग्रहालयोंसे बिलकुल लाभ नहीं होगा। इसी प्रकार अपने घरमें वस्तुओंका संग्रह करना चाहिये और उनको वर्गोंमें अपने अपने सुयोग्य क्रमपूर्वक सुव्यवस्थासे रखना चाहिये। तभी उन्नति या समृद्धि हो सकती है।

सप्तम मंत्रमें "उपोहः (संग्रह) और समूहः (समूहोंमें वर्गीकरण करना)" ये दो बातें समृद्धिकी साधक करके कही हैं। यह बहुत ही महत्त्वका विषय है, इस लिये पाठक इसका मनन करें और अपने जीवन भर लाभ देनेवाला यह उत्तम उपदेश है यह जानकर इससे बहुत लाभ उठावें।

संग्रह और वर्गीकरण उन्नतिके साधक हैं इस विषयमें सप्तम मंत्रका कथन स्पष्ट ही है—

तौ इह स्फातिं आ वहताम्
आक्षितं बहुं भूमानम्॥ (मं० ७॥

"वे [अर्थात् संग्रह और वर्गीकरण ये) दोनों इस संसारमें (स्फातिं) समृद्धिको देते हैं और (भूमानं) विपुल धन अथवा विशेष महत्त्व देते हैं।"

जिसको समृद्धि और धन चाहिये वे इन गुणोंको अपनावें और इनसे अपना लाभ सिद्ध करें। जो लोग अभ्युदय प्राप्त करनेके इच्छुक हैं उनको इस सूक्तका बहुत मनन करना चाहिये। कमसे कम इस सूक्तमें कथित जो महत्त्वपूर्ण उपदेश हैं, उनको कभी भूलना उचित नहीं है। जो पाठक इस सूक्तका मनन करेंगे वे अपने अभ्युदयका मार्ग इस सूक्तके विचारसे निःसंदेह जान सकते हैं।

काम का बाण।

[२५]

(ऋषिः– भृगुः । देवता–मित्रावरुणौ, कामेषुदेवते)

उत्तुदस्त्वोत्तुदतु मा धृथाः शयने स्वे ।
इषुः कामस्य या भीमा तया विध्यामि त्वा हृदि ॥ १ ॥
आधीपर्णां कामशल्यामिषुं सङ्कल्पकुल्मलाम् ।
तां सुसंनतां कृत्वा कामो विध्यतु त्वा हृदि ॥ २ ॥

अर्थ—(उत्तुदः त्वा उत्तुदतु) हिलानेवाला काम तुझे हिला देवे। (स्वे शयने मा धृथाः) अपने शयनमें मत ठहर। (कामस्य या भीमा इषुः) कामका जो भयानक बाण है (तया त्वा हृदि विध्यामि) उससे तुझको हृदयमें वेधता हूं ॥ १ ॥

(आधी-पर्णां) जिसपर मानसिक पीडा रूपी पंख लगे हैं, (काम-शल्यां) कामेच्छा रूपी बाणका अग्र भाग जहां लगाया है, (संकल्प-कुल्मलां) संकल्प रूपी दण्डा जहां लगा है, (तां) उस (इषुं बाणको (सुसन्नतां कृत्वा) ठीक प्रकार लक्ष्यपर धरके (कामः हृदि त्वा विध्यतु) काम हृदयमें तुझको वेध करे ॥ २ ॥

भावार्थ — हे स्त्री ! सबको हिलानेवाला काम तेरे अन्तःकरण को भी हिला देवे। काम का बाण तेरे हृदयका वेध करे जिससे विद्ध हुई तू सुखसे निद्रा लेनेमें भी असमर्थ हो ॥ १ ॥

इस कामके बाणको मानसिक पीडारूपी पंख लगे हैं, इसके आगे कामविकार रूपी लोहेका तीक्ष्ण शल्य लगाया है, उसके पीछे मनका संकल्प रूपी दण्डा जोड दिया है, इस प्रकारके बाणको अति तीक्ष्ण बनाकर काम तेरे हृदयका वेध करे ॥ २ ॥

या प्लीहानं शोषयति कामस्येषुः सुसंन्नता ।
प्राचीनपक्षा व्योषा तया विध्यामि त्वा हृदि ॥ ३ ॥
शुचा विद्धा व्योषया शुष्कास्याभि सर्प मा ।
मृदुर्निर्मन्युः केवली प्रियवादिन्यनुव्रता ॥ ४ ॥
आजामि त्वाजन्या परि मातुरथो पितुः ।
यथा मम क्रतावसो मम चित्तमुपायसि ॥ ५ ॥

अर्थ-(कामस्य सुसन्नता) कामका ठीक लक्ष्यपर चलाया हुआ (प्राचीन-पक्षा वि-ओषा) सीधे पङ्खवाला और विशेष जलाने वाला (या इषुः प्लीहानं शोषयति) जो बाण तिल्लीको सुखा देता है, (तया त्वा हृदि विध्यामि) उससे तुझको हृदयमें वेधता हूं ॥ ३ ॥

(व्योषया) विशेष दाह करनेवाले (शुचा) शोक बढानेवाले बाणके द्वारा (विद्धा) विंधी हुई तू (शुष्कास्या) मुखको सुखानेवाली (मा अभिसर्प) मेरी ओर चली आ। और (मृदुः) कोमल, (निमन्युः) क्रोध रहित, (प्रियवादिनी) मीठा भाषण करनेवाली, (अनुव्रता) अनुकूल कर्म करने वाली, (केवली) केवल मेरी ही इच्छा करनेवाली हो ॥ ४ ॥

(त्वा आ-अजन्या) तुझको वेगसे (परि मातुः अथो पितुः) माता और पिताके पाससे (आ अजामि) लाता हूं। (यथा मम क्रतौ असः) जिससे मेरे अनुकूल कर्ममें तू रह और (मम चित्तं उपायसि) मेरे चित्तके अनुकूल चल ॥ ५ ॥

भावार्थ-यह कामका बाण अचूक लगता है, क्यों कि इसपर मानसिक व्यथाके पर लगे हैं,और साथही यह विशेष रीतिसे जलानेवालाभी है और यह तिल्लीको बिलकुल सुखा देता है, इससे मैं तुझे वेधता हूं ॥३॥

यह कामका बाण विशेष जलानेवाला, शोक बढानेवाला और मुखको सुखानेवाला है, हे स्त्री ! इससे विंधी हुई तू मेरे पास आ और कोमल, क्रोधरहित, मधुर भाषिणी, अनुकूल आचरण करनेवाली और केवल मुझमें ही अनुरक्त होकर मेरे साथ रह ॥ ४ ॥

हे स्त्री ! माता और पितासे अलग करके मैंने तुझे यहां लाया है, इसलिये तू मेरे अनुकूल कर्म करनेवाली और मेरे विचारोंके अनुकूल विचार करनेवाली बन कर यहां रह ॥ ५ ॥

व्य॑स्यै मित्रावरुणौ हृदश्चित्तान्य॑स्यतम् ।
अथै॑नामक्रतुं कृत्वा ममै॒व कृणुतं वशे ॥ ६ ॥
[इति पञ्चमोऽनुवाकः]

अर्थ—हे (मित्रावरुणौ) मित्र और वरुण ! (अस्यै) इसके लिये हृदः चित्तानि व्यस्यतं) हृदयके विचारोंको विशेष प्रकार प्रेरित करो। (अथ एनां अक्रतुं कृत्वा) और इसको कर्महीन बनाकर (मम एव वशे कृणुतं) मेरे ही वशमें करो ॥ ६ ॥

भावार्थ—हे मित्र और हे वरुण ! इस स्त्रीके हृदयके विचारोंमें विशेष प्रेरणा करो, जिससे यह मेरे अनुकूल कर्मके सिवाय दूसरे किसी कर्ममें इसको प्रेम न रहे, तथा यह धर्मपत्नी मेरे ही वशमें रहे। ॥ ६ ॥

विरुद्धपरिणामी अलंकार।

"विरुद्धपरिणामी अलंकार" का उत्तम उदाहरण यह सूक्त है। "विरुद्ध परिणाम" जिसका होता है, जो बोला जाता है उसके उलटा परिणाम जिससे निकलता है, बोले जानेवाले शब्दोंका स्पष्टार्थ जो हो उसके विरुद्ध आशयका भाव जिसके अंदर हो, उसको "विरुद्ध परिणामी अलंकार" कहते हैं। इसके एक दो उदाहरण देखिये—

(१) "हृदयको जलानेवाली, धनका नाश करनेवाली, कुटुंबमें कलह उत्पन्न करनेवाली और शरीरको सुखानेवाली शराब पिओ।" इस वाक्यमें यद्यपि शराब पिओ करके कहा है तथापि शराब का दुर्गुण वर्णन इतने स्पष्ट शब्दोंसे किया है कि उससे सुननेवालेकी प्रवृत्ति न पीनेकी ओर ही होती है।

(२) "जिससे शरीर पुष्ट होता है और ब्रह्मचर्य पालन होनेके कारण आरोग्य बल और दीर्घ जीवन निःसंदेह प्राप्त होता है, इस प्रकारका आसन प्राणायामादिका योगसाधन कभी भूलकरभी मत करो।" इसमें यद्यपि योगसाधन करनेका स्पष्ट निषेध है, तथापि सुनने वालेके मनपर योगसाधन अवश्य करना चाहिये यह भाव स्थिर हो जाता है।

ये भाषाके काव्यालंकार हैं, योग्य समयमें ये प्रयुक्त किये जांय तो इनका सुपरिणाम ही होता है। अब इस सूक्तका कथन देखिये—

"हे स्त्री ! कामके बाणसे मैं तेरे हृदयको वेधता हूं, इस कामके बाणको

"मानसिक व्यथा" के सुंदर पंख लगे हैं, इसमें जो लोहेका अग्रभाग है वह "मानसिक विकार" का शल्य ही है, मनके "कुसंकल्पों" की लकडीसे इस बाणको बनाया है, यह बडा "जलानेवाला" है, यह लगनेसे मुख सूख जाता है, प्लीहा सूख जाती है, हृदय जल जाता है, इस प्रकारके कामके विध्वंसक बाणसे मैं तेरा वेध करता हूं, इससे तू विद्ध होजाओ।"

इसमें यद्यपि "कामके बाणसे विद्ध हो जाओ" ऐसा कहा है, तथापि इस कामके बाणका स्वरूप इतना भयंकर वर्णन किया है, कि जिसका परिणाम सुननेवाले के ऊपर "इस कामके बाणसे अपना बचाव करने" की ओर ही होगा। इस सूक्तमें जो "कामके बाण" का वर्णन किया है वे शब्द देखिये—

कामका बाण।

१ उत्तुदः = व्यथा देनेवाला, शरीरको काट काट कर पीडा देनेवाला। (मं० १)

२ भीमा इषुः = जिसका भयंकर परिणाम होता है ऐसा भयानक बाण। (मं० १)

३ आधी-पर्णा = इस बाणको मानसिक व्यथा के पंख लगे हैं। (मं० २)

४ काम-शल्या = स्वार्थकी प्रबल इच्छा रूपी, अथवा कामविकार रूपी शल्य जिसमें लगा है। बाणका जो अग्रभागमें लोहेका शस्त्र होता है वह यहां कामविकार है। (मं० २)

५ सङ्कल्प-कुल्मला= मनके कामविषयक संकल्प रूपी लकडीसे यह बाण बनाया गया है। (मं० २)

६ प्राचीन-पक्षा= इसको जो मानसिक व्यथाके पंख लगे हैं वे ऐसे लगे हैं कि जिनके कारण यह बाण सीधी गतिसे और अतिवेगसे जाता है। (मं०३)

७ शुचा (शुक्) = शोक उत्पन्न करनेवाला। (मं० ४)

८ व्योषा (वि-ओषा) = विशेष रीतिसे जलानेवाला। (मं० ३,४)

९ शुष्कास्या (शुष्क-आस्या) = मुखको सुखानेवाला, मुखको म्लान करनेवाला। (मं ४)

१० प्लीहानं शोषयति = प्लीहाको सुखा देता है। शरीरमें प्लीहा रक्त की वृद्धि करने द्वारा शरीर स्वास्थ्य रखती है, ऐसे महत्त्व पूर्ण अवयव का नाश कामके बाणसे हो जाता है। इतनी मारकता इस मदनके बाणमें है। (मं०३)

११ हृदि विध्यति = इसका वेध हृदयमें होता है, इससे हृदय विदीर्ण होता जाता है, हृद्रोग की उत्पत्ति कामके बढनेसे होती है। (मं०१--३)

कामके बाणका यह भयंकर वर्णन इन शब्दोंद्वारा इस सूक्तमें किया है। "हे स्त्रि! ऐसे भयंकर बाणसे मैं तेरा वेध करता हूं।" ऐसा एक पुरुष अपनी धर्मपत्नीसे कहता है। पति भी जानता है कि जिस शरसे वेध करना है वह कामका शर इतना भयंकर विघातक है। इस बाणसे न केवल विद्ध होनेवाला ही कट जाता है अपि तु वेध करनेवाला भी कट जाता है, अर्थात् यदि पतिने यह कामका शर अपनी धर्मपत्नीपर चलाया तो वह जैसा धर्मपत्नीको काटता है उसी प्रकार पतिको भी काटता है और पूर्वोक्त ग्यारह दुष्परिणाम करता है। यह बात स्वयं पति जानता है तथापि पति कहता है कि "हे स्त्री! ऐसे बाणसे मैं तेरा वेध करता हूं।"

यह पतिका भाषण उसकी धर्मपत्नी सुनती है, अर्थात् धर्मपत्नी भी इस काम बाण की विध्वंसक शक्तिको अच्छी प्रकार जानती है, और यदि कोई स्त्री न जानती हो तो इन शब्दोंद्वारा जान जायगी कि यह काम व्यवहार कितना घातक है। इतना ज्ञान होनेके पश्चात् वह धर्मपत्नी स्वयं अपने पतिसे कहेगी, कि "हे प्राणनाथ! आप ऐसे घातक कर्ममें प्रवृत्त न हूजिये।" जो कर्म करना है उसकी भयानक घातकता का अनुभव करनेके पश्चात् वह कर्म अधिक नहीं हो सकता, जितना आवश्यक है उतनाही होगा, कभी अधिक नहीं होगा।

पतिपत्नीका एक मत।

इस सूक्तमें कही बात पति अपनी धर्मपत्नीसे कहता है। "यह धर्मपत्नी अपने माता पिताके घरको छोडकर पतिके घर पतिके साथ रहने आयी है।" (देखो मं. ५) धर्मपत्नी तरुणी है, इस आयुमें मनका संयम करना बडा कठिन कार्य होता है। तरुण भोग भोगनेके इच्छुक होते हैं, परिणामपर दृष्टि नहीं रख सकते। केवल भोग भोगनेके इच्छुक रहते हैं, परंतु यह काम ऐसा है कि—

समुद्र इव हि कामः। नैव हि कामस्यान्तोऽस्ति
न समुद्रस्य॥ तै ब्रा. २।२।५।६
कामः पशुः॥ प्राणाग्नि उ. ४

"समुद्रके समान काम है। क्यों कि जैसा समुद्रका अन्त नहीं होता है वैसाही कामका भी अन्त नहीं होता है।" तथा "काम ही पशु है।"

यह काम भोग भोगनेसे कम नहीं होता है, प्रत्युत बढता जाता है। यह पशु होनेसे इसके उपासक पशुरूप होते हैं, जो इस कामरूपी पशुको अपने अंदर बढाते हैं, वे मानो

पशुभावको अपने अन्दर बढाते हैं। जिनके अंदर यह पशुभाव बढा हो, उनको " मनुष्य" कहना कठिन हो जाता है। क्यों कि मनन करनेवालेका नाम मनुष्य होता है और मन की मनन शक्ति तो कामसे नष्ट हो जाती है। काम मनमेंही उत्पन्न हो जाता है और वहां बढता हुआ मननशक्तिको ही नष्ट कर देता है। इसी कारण तारुण्यमें यदि मनके अंदर काम बढ गया तो वह मनुष्य विवेकभ्रष्ट होजाता है।

अब अपने प्रस्तुत विषयकी ओर देखिये। धर्म पत्नी दूसरे घरसे लायी गई है। माताको और पिताको अपने भाइयों और जन्मके संबंधियोंको इस स्त्रीने छोड दिया है और पतिको अपने तन और मनका स्वामी माना है। इस प्रकार स्त्रीका पतिके पास आकर रहना एक प्रकारसे पतिके ऊपरकी जिम्मेवारी बढानेवाला है। पतिको यह अपना उत्तरदायित्व ध्यानमें रखना चाहिये।

अब देखिये, उक्त प्रकार अपने माता पिताओंको छोडकर स्त्री पतिके घर आगई, और यदि तारुण्यावस्थाके शरीर धर्मके अनुसार उसको योग्य सुख प्राप्ति न हुई, तो उसका दिल भडक जानेकी भी संभावना है। पति शमदम आदि संयम और ब्रह्मचर्य पालन करने लगेगा और गृहस्थ धर्म प्राप्त अपने स्त्रीविषयक कर्तव्यको न करेगा, तो स्त्रीके मनकी कितनी अधोगति होना संभव है, इसका विचार पाठक करें और पतिका उत्तरदायित्व जानें।

शमदम ब्रह्मचर्य आदि सब उत्तम है, मनुष्यत्वका विकास करनेवाला है, यह सब सत्य है; परंतु विवाहित हो जाने पर स्त्रीके मनोधर्मका भी विचार करना चाहिये। यह कर्तव्य ही है। इस कर्तव्यसे वीर्य हानिद्वारा थोडा पतन होता है, तथापि वह कर्तव्य करना ही चाहिये। स्त्रीने मातापिता छोडनेका बडा त्याग किया है। यह स्त्रीका यज्ञ है, पतिको भी अचल ब्रह्मचर्यको छोडकर गृहस्थी धर्मका चलब्रह्मचर्यका स्वीकार करके अपनी ओरका त्याग करना चाहिये। यही उसका यज्ञ है। ऐसा पतिने न किया तो वह स्त्रीको असन्मार्गमें प्रवृत्त करनेका भागी बनेगा।

इस सूक्त में जो पति अपनी धर्मपत्नीका हृदय कामके भयानक बाणसे विद्ध करना चाहता है, वह इसी हेतुसे चाहता है। इस लिये इस कामके बाणकी भयानक विध्वंसक शक्तिका वर्णन करता हुआ पति स्त्रीसे कहता है कि ऐसे भयानक बाणसे मैं तेरे चित्त को अपने कर्तव्य पालन करनेके हेतुसे ही वेध करता हूं। इस वर्णन को सुनकर स्त्री भी समझे कि यह जो कामोपभोगका विचार मनमें उत्पन्न हुआ है, यदि इस उपभोग के लिये मनको खुला छोड दिया जाय, तो कितनी भयानक अवस्था बन जायगी।

इस विचारसे उस स्त्रीके मनमें भी काम को शमन करने की ही लहर उठ सकती है और यदि पतिने इस सूक्तके बताये मार्गसे अपने स्त्रीके मनमें यह संयमकी लहर बढायी, तो अंतमें जाकर दोनों का कल्याण हो जाता है।

परंतु यदि पतिने जबरदस्तीसे स्त्रीको कामप्रवृत्तिसे रोक रखा, तो उस स्त्रीके अंदर के कामविषयक संकल्प बहुत बढ जांयगे, और अंतमें उसके अधःपातके विषयमें कोई संदेह ही नहीं रहेगा। ऐसा अधःपात न हो इस लिये ऋतुगामी होने आदि परिमित गृहस्थधर्म पालन करनेके नियमों की प्रवृत्ति हुई है। साथही साथ कामकी भयानक वि-घातकताकाही विचार होता रहेगा, तो उससे बचनेकी ओर हरएक स्त्रीपुरुषकी प्रवृत्ति होगी। इस लिये पति स्वयं संयम करना चाहता है और अपनी धर्म पत्नीको अपने अनुकूल धर्माचरण करनेवाली भी बनाना चाहता है। यह करनेके लिये पति स्वयं सुविचारोंकी जाग्रति करता है और देवोंकी प्रार्थना द्वाराभी दैवी शक्तिकी सहायता लेनेका इच्छुक है। इसी लिये षष्ठ मंत्रमें मित्रावरुण देवतोंकी प्रार्थना की गई है कि "हे देवो! इस धर्म-पत्नी को मेरे अनुकूल रहने और मेरे अनुकूल धर्माचरण करनेकी बुद्धि दीजिये। इस धर्मपत्नीके मनके विचारोंमें ऐसा परिवर्तन कीजिये कि यह दूसरा कोई विचार मनमें न लाकर मेरे अनुकूल ही धर्माचरण करती रहे, दूसरे किसी कर्ममें अपना मन न दौडे।" (मं० ६)

धर्मपतिको अपनी धर्मपत्नीके विषयमें यह दक्षता धारण करना आवश्यक ही है। पतिको उचित है कि वह अपनी धर्म पत्नीको सन्तुष्ट रखता हुआ उसको संयमके मार्गसे चलावे। धर्मपत्नीके गुण इसी सूक्तमें वर्णन किये हैं॥—

धर्मपत्नीके गुण।

१ मृदुः=नरम स्वभाव वाली, शांत स्वभाववाली। (मं० ४)

२ निर्मन्युः=क्रोध न करनेवाली, शान्तिसे कार्य करनेवाली। (मं० ४)

३ प्रियवादिनी=मधुर भाषण करनेवाली। (मं० ४)

४ अनुव्रता=पतिके अनुकूल कर्म करनेवाली (मं० ४)

५ (मम) वशः=पतिके वशमें रहनेवाली, पतिकी आज्ञामें रहनेवाली। (मं० ७)

६ केवली=केवल पतिकी ही बनकर रहनेवाली (मं० ४)

७ (मम) चित्तं उपायसि=पतिके चित्तके समान अपना चित्त बनानेवाली। (मं० ५)

८ अक्रतुः= पतिके विरुद्ध कोई कर्म न करनेवाली । (मं० ६)

९ (मम) क्रतौ असः=पतिके उद्योगमें सहायता देनेवाली । (मं० ५)

ये शब्द धर्मपत्नीके कर्तव्य बता रहे हैं। पाठक इन शब्दोंका विचार करें और आर्य-स्त्रियां इस अमूल्य उपदेशको अपनानेका यत्न करें ।

गृहस्थधर्म ।

इस प्रकारकी अनुकूल कर्म करनेवाली धर्मपत्नीको पति कहता है, कि " हे स्त्रि ! मैं तेरे हृदय को ऐसे भयंकर कामके बाणसे वेधता हूं । " पति जानता है कि यह कामका बाण बडा घातक है, ब्रह्मचर्यमें विघ्न होनेके कारण बडा हानिकारक है। धर्मपत्नी पतिके अनुकूल चलनेवाली होनेके कारण वह भी जानती है कि यह कामका बाण तपस्यामें विघ्न करनेवाला है । तथापि दोनों" गृहस्थी धर्म " से संबद्ध हैं इसलिये संतानोत्पत्ति करनेके लिये बाधित हैं । अतः दोनों गृहस्थ धर्मसे संबद्ध होती हैं । धर्मनियमानुकूल ऋतुगामी होकर घरमें वंशका बीजरूप वीर बालक उत्पन्न करती हैं और पश्चात् अपनी तपस्यामें लग जाती हैं ।

पाठक इस दृष्टिसे विचार करें और इस सूक्तका महत्त्वपूर्ण उपदेश जानें । इस पंचम अनुवाकमें पांच सूक्त हैं । २१ वें सूक्तमें " कामाग्निका शमन, " २२ वें सूक्तमें "वर्चस्की प्राप्ति," २३ वें सूक्तमें " वंध्यात्व दोष निवारण पूर्वक वीर बालक उत्पन्न करने की विद्या, " २४ वें सूक्तमें " समृद्धिको प्राप्त करना, " और इस २५ वें सूक्त में "गृहस्थधर्मके नियमानुकूल रहकर गृहस्थ धर्मका पालन करना " ये विषय हैं । इनका परस्पर संबंध स्पष्ट है ।

वैदिक यज्ञ संस्था।

प्रथम भाग मूल्य १) रु. डा. व्य. ।)

इस पुस्तक में निम्न लिखित विषयों का विचार हुआ है।

प्राचीन संस्कृत निबंध।

१-३ पिष्ट-पशुमीमांसा। लघु-पुरोडाश-मीमांसा।

भाषाके लेख (ले०-श्री० पं० बुद्धदेवजी) ४ दर्श और पौर्णमास, ५ अद्भुत कुमार संभव। (ले० -श्री० पं० चंद्रमणिजी) ६बुद्धके यज्ञ विषयक विचार। (संपादकीय) ७ यज्ञका महत्त्व, ८ यज्ञका क्षेत्र ९ यज्ञका गूढ तत्त्व, १० औषधियोंका महामख, (ले० श्री० पं० धर्मदेवजी) ११ वैदिक यज्ञ और पशु-हिंसा। (ले० श्री० पं० पुरुषोत्तम लालजी) १२ क्या वेदोंमें यज्ञों में पशुओंका बलि करना लिखा है ?

वैदिक यज्ञ संस्था द्वितीय भाग मूल्य १) रु. डा. व्य. ।)

इस द्वितीय भागमें निम्न लिखित विषयोंका विचार हुआ है- (ले०-श्री. पं. देवशर्माजी विद्यालंकार)

भारतवर्षमें यज्ञकी कमी, यज्ञकी महिमा, यज्ञसे जो चाहे सो प्राप्त कर लो, यज्ञपुरुष का वर्णन, हवन प्रक्रिया, यज्ञशेष और उच्छेष, राजसूय, विश्वजित्, अश्वमेध, गोमेध, सर्वमेध, वाजपेय, पंचमहायज्ञ, यज्ञ संसारकी नाभि है।

पं. बुद्धदेवजी लिखित-संज्ञपन और अवदान।

संपादकीय-नरमेध का वैदिक तात्पर्य।

इतने विषयोंका विचार इस पुस्तक में हुआ है। प्रत्येक विषयके प्रतिपादनके लिये वेदके अनेक प्रमाण दिये हैं और विषयका प्रतिपादन अति सुगम है। मूल्य १) डा. व्य. ।)

वैदिक यज्ञ संस्था तृतीय भाग गोमेध

इस पुस्तकमें निम्न लिखित विषयोंका विचार हुआ है—

योगमें गोमांस, प्रकरणानुकूल अर्थ विचार, ऋषिपंचमी, वेदका महासिद्धान्त, यज्ञकी पूर्व और उत्तरवेदी, मधुपर्क, कलिवर्ज्यप्रकरण, बृहदारण्यक का वचन, गौका वैदिक नाम, गोमेधका विचार, चरक की साक्षी, विवाहमें गोमांस, अतिथिके लिये गौ, यज्ञमें मांस, अन्त्य यज्ञ, वेदमें अहिंसा, अवध्य गौ और बैल, यज्ञका तत्त्व, गौको खाना। गौ दान लेने का अधिकारी, रक्षक और पाचक गौका महत्त्व, राष्ट्ररक्षक गौ, गौके लिये सोमरस, सबकी माता गौ।

इत्यादि अनेक विषय इसमें आगये हैं। हरएक विषयका प्रतिपादन करनेके लिये अनेक वेदमंत्रोंके प्रमाण दिये हैं। जो कहते हैं कि '' वैदिक समयमें गोमांस भक्षण की प्रथा थी, '' उनके लिये यह उत्तम उत्तर है। यह पुस्तक पढनेके पश्चात् उक्त विषयमें कोई शंका नहीं रहेगी।

मूल्य१) रु. डा व्य० ।)

मुद्रक तथा प्रकाशक— श्री० दा० सातवळेकर, भारतमुद्रणालय, औंध, (जि० सातारा)

ॐ

वैदिक धर्म।

वैदिक तत्त्व ज्ञान प्रचारक मासिक पत्र।

संपादक— श्रीपाद दामोदर सातवळेकर.

वर्ष ९

अंक ११

क्रमांक १०७



कार्तिक

संवत् १९८५

नवंबर

सन १९२८

वार्षिक मूल्य— म० आ० से ४) वी० पी० से ४॥) विदेशके लिये ५)

विषयसूची।



वर्ष ९
अंक ११
क्रमांक १०७

कार्तिक
संवत् १९८५
नवंबर
सन १९२८

वैदिक धर्म.

वैदिक तत्त्वज्ञान प्रचारक मासिक पत्र।
संपादक—श्रीपाद दामोदर सातवळेकर।
स्वाध्यायमंडल, औंध (जि. सातारा)

सच्चा अन्नभोग !

स इद्भोजो यो गृहवे ददात्यन्नकामाय चरते कृशाय ।
अरमस्मै भवति यामहूता उतापरीषु कृणुते सखायम् ॥

ऋग्वेद. १० । ११७ । ३

(यः) जो मनुष्य (अन्न कामाय चरते कृशाय) अन्नकी इच्छा करनेवाले दुर्बल और कृश तथा (गृहवे) घर घरमें जाकर भीख मांगनेवाले याचकको (ददाति) अन्न देता है। (सः इत् भोजः) वह ही सच्चा भोजन करनेवाला होता है। (अस्मै) इस दाताके लिये (याम हूतौ) समय समयपर दान देनेके लिये अन्न (अरं भवति) पर्याप्त होता है। (उत) और (अपरीषु) कठिन प्रसंग के लिये (सखायं कृणुते) उत्तम मित्र भी वह मनुष्य बना सकता है।

जो धनी मनुष्य निर्धन मनुष्योंको योग्य समयमें दान देता है, वही मनुष्य सच्चा भोजन करता है। परंतु जो धनी मनुष्य अपने पास धन रखता हुआ भी दुःखी बने हुए निर्धनों की सहायता करने के लिये अपने धन का भाग नहीं खर्च करता वह मानो पापही खाता है। ऐसे सत्पात्र में दान करनेवाले मनुष्यको मित्र भी मिलते हैं और उन मित्रोंसे उसको सुखभी प्राप्त होता है।

यजुर्वेदका सर्वानुक्रम सूत्र ।

यजुर्वेद का "सर्वानुक्रम सूत्र" ग्रंथ हमने मुद्रित किया है। इस सर्वानुक्रम सूत्रके देखनेसे किस मंत्रका कौनसा देवता है, तथा ऋषि और छंद कौनसा है, इसका ज्ञान हो सकता है । वेद का अध्ययन करनेवाले के लिये यह " सर्वानुक्रम सूत्र " अत्यंत उपयोगी है। इसके विना मंत्रोंके ऋषिदेवतादिकोंका यथावत् ज्ञान होना असंभव है ।

" सर्वानुक्रमसूत्र " की भाषा अत्यंत दुर्बोध है, अर्थात् सामान्य मनुष्य इसके पाठसे लाभ नहीं उठा सकते । इस की दुर्बोधता के कारण इस समय तक जितने सर्वानुक्रमसूत्र छपे हैं, वे सबके सब अत्यंत अशुद्ध छपे हैं । मुंबई में मुद्रित तीन सर्वानुक्रमसूत्र, कलकत्तेमें मुद्रित एक, और काशीमें मुद्रित सभाष्य सर्वानुक्रमसूत्र; इतने ग्रंथ इस समय मुद्रित हैं । इनमें काशीमुद्रित सभाष्य पुस्तक ही कम अशुद्धियोंसे युक्त है । मुंबईमें छपे सर्वानुक्रमके पदच्छेद और मंत्रोंकी अशुद्धियां अत्यंत अक्षम्य हैं । यजुर्वेद जैसे वेदकी शुद्ध छपी सर्वानुक्रम की पुस्तक न होना वेदधर्मियोंके लिये एक लज्जाकी ही बात है । इस लिये इसका शुद्ध पदच्छेद पूर्वक मुद्रण करने का कार्य हमने गत वर्ष शुरू किया जो इस समय प्रायः समाप्त हुआ है ।

इसका नमूना पृष्ट इसके सामने दिया है। जिसमें पृष्ठके शिरोभागमें " सर्वानुक्रमसूत्र " बडे अक्षरोंमें मुद्रित किया है। सर्वानुक्रम सूत्र के प्रत्येक खण्डके समाप्तिके पश्चात् यजुर्वेद के अध्याय के मंत्रांक दिये हैं, जिससे पता लग जायगा कि इस खण्डमें किन मंत्रोंका विचार हुआ है ।

"सर्वानुक्रमसूत्रके नीचे यजुर्वेदके क्रमपूर्वक मंत्र दिये हैं; प्रथम (१) मंत्र का क्रमांक, पश्चात् (२) मंत्रका प्रारंभका चरण, पश्चात् (३) उसका ऋषि, उसके पश्चात् (४) उसका देवता, और अन्त में (५) छन्द दिया है । सर्वानुक्रमसूत्रमें जो कहा है वह इस प्रकार अत्यंत सुबोध रीतिसे इस टिप्पणीमें दिया है । संस्कृत न जाननेवाला मनुष्य भी इस विस्तृत टीप्पणीको देखकर स्वयं, किसी दूसरे की सहायता के विना ही जान सकता है कि कौनसे मंत्रका ऋषि-देवता-छंद कौनसा है ।

ऋग्वेदमें क्या और अथर्ववेद में क्या प्रायः सूक्तके ऋषिदेवता निश्चित होते हैं अथवा एक पूर्ण मंत्रका एक ऋषि-देवता होता है । इस लिये इन वेदोंमें ऋषिदेवता के विषयमें कोई संदेह नहीं हो सकता । परंतु यजुर्वेदमें एक एक मंत्रमें दो दो, चार चार या अधिक विभाग होते हैं, और प्रत्येक के भिन्न भिन्न ऋषिदेवता होते हैं। किसी भी पुस्तक में यह सूक्ष्म भेद स्पष्टतासे नहीं दर्शाया है जो इस टिप्पणीमें हमने दर्शाया है। इसके अतिरिक्त यजुर्वेदमें एक या अनेक अध्यायोंका एक ऋषि होता है और उसके अंदर आये मंत्रोंके पुनः भिन्न भिन्न ऋषिदेवता होते हैं। यह बात भी अजमेर आदि स्थानोंमें मुद्रित यजुर्वेदके पुस्तकोंमें दर्शायी नहीं है । यह बात यज्ञप्रकरण का विचार करनेके प्रसंगमें अत्यंत उपयोगी है । इतनी उपयोगी होनेपर भी वह किसी पुस्तकमें नहीं दर्शायी है। ये सब बातें अतिसूक्ष्म विचार करके इस सर्वानुक्रमसूत्र की टिप्पणीमें दर्शायीं हैं ।

इसमें इतनी सुबोध व्यवस्था की है कि जो इस को पढेंगे वे इसकी सुबोधताका अवश्य अनुभव करेंगे ।

" संपादक "



आददेऽदित्यै रज्जुरिड एहि गौर्यस्ते त्रिष्टुभं दीर्घतमा, इन्द्राश्विना वैश्वदेवानि, समुद्राय त्वा वातनामानि, स्वाहा घर्माय घर्मदेवत्ये, विश्वा आशा आश्विन्यनुष्टुब्, दिवि धा घर्मदेवत्यमश्विना घर्मम्रुष्णिगपातां ककुबमेन्यस्मे खरः, स्वाहा पूष्णे सप्त लिङ्गोक्तदेवतानि, स्वाहा सं पयोदेवत्यं, मधु हुतं घर्मोऽभीमं गायत्रीबृहत्यावनवसाने अतिशक्वरी

अथ० संहितायां अष्टत्रिंशोऽध्यायः ।

[अ.१।१०] १ देवस्य त्वा सवितुः०	दध्यङ् आथर्वणः	सविता	
आददेऽदित्यै रास्नासि ।	,,	रज्जुः	
२ इडऽएह्यदितऽएहि०	,,	गौः	
३ अदित्यै रास्नासि०	,,	रज्जुः	
पूषासि०	,,	(वत्सः)	
४ अश्विभ्यां पिन्वस्व०	,,	(लिङ्गोक्ता)	
स्वाहेन्द्रवत्०	,,	(विप्रुषः)	
५ यस्ते स्तनः शशयो यो०	,, दीर्घतमाः	(वाक्)	त्रिष्टुप्
६ गायत्रं छन्दोऽसि त्रैष्टुभं०	,,	(परीशासौ)	
द्यावापृथिवीभ्यां त्वा	,,	(महावीरः)	
अन्तरिक्षेणोपयच्छामि ।	,,	(घर्मः)	
इन्द्राश्विना मधुनः सारघस्य०	,,	विश्वेदेवाः	
७ समुद्राय त्वा वाताय स्वाहा०	,,	वातनामानि	
८ इन्द्राय त्वा वसुमते०	,,	,,	
९ यमाय त्वाङ्गिरस्वते०	,,	,,	
स्वाहा घर्माय०	,,	घर्मः	
१० विश्वाऽआशा·दक्षिणसद्०	,,	अश्विनौ	अनुष्टुप्
११ दिवि धाऽइमं यज्ञ०	,,	घर्मः	
१२ अश्विना घर्मं पातं०	,,	(अश्विन्यादयः)	उष्णिक्
१३ अपातामश्विना घर्मं०	,,	(अश्विनौ)	ककुप्
१४ इषे पिन्वस्वोर्जे पिन्वस्व०	,,	(घर्मः)	
अमेन्यस्मे नृम्णानि धारय०	,,	खरः(घर्मः)	
१५ स्वाहा पूष्णे शरसे स्वाहा०	,,	लिङ्गोक्ता(पूषादयः)	
१६ स्वाहा रुद्राय रुद्रहूतये०	,,	लिङ्गोक्ता(रुद्रादयः)	
स्वाहा सं ज्योतिषा ज्योतिः	,,	पयः	
[अ. ३७।२१] अहः केतुना जुषताꣳ०	,,	घर्मः	
मधु हुतमिन्द्रतमे०	,,	,,	
१७ अभीमं महिमा दिवं०	,,	अग्निः	गायत्रीबृहत्यौ अनवसाने, त्र्यवसाना अतिशक्वरी वा

मातृभूमिका वैदिक गीत ।

(चतुर्थ लेख)

मातृभूमि के वैदिक राष्ट्रगीत के विशेष महत्व के मननीय एवं आदरणीय उपदेशके विषयमें आवश्यक हाल अबतक बतलाया गया । इससे वाचक समझ गए होंगे कि यह वैदिक राष्ट्रगीत राष्ट्रीय भावनाओं का भंडार है । राष्ट्रीय सुविचारों का पोषण करने वाले इस सूक्तका मनन हर एक वैदिक धर्माभिमानी को करना चाहिए । उससे राष्ट्र को अधोगति में ले जानेवाले समय में साहस बंधेगा, पुरुषार्थ की प्रवृत्ति होगी,उन्नति के समय अधिक तेजी से राष्ट्रीय उन्नति के साधन का मार्ग दिखेगा। ऐसा अत्युत्तम राष्ट्र गीत अन्य किसी राष्ट्र में नहीं है । वह वैदिक आर्यों के राष्ट्र में ही है । यह हमारे लिए गर्व की बात है । वेद जिनके धर्मग्रंथ हैं, उन्हे इस राष्ट्रगीतका मनन कर उसके उपदेशों के अनुसार चलना ही चाहिए । क्यों कि वह तो उनका धर्म ही है । परंतु वेद को धर्मग्रंथ माननेवाले द्विज इस वैदिक सूक्त के उपदेशों के अनुसार चलते हैं या नहीं सो वेही अपने तई देखलें । और तब उनकी पराधीनता की कारणमीमांसा उनकी समझमें आवेगी ।

इस उत्सववर्धक राष्ट्रगीत का जितना अधिक मनन करेंगे उतना कम ही है । प्रत्येक समय के मनन से उसमें से नवीन बोध मिलेगा । यह राष्ट्रगीत ' अथर्वा ' नामक ऋषिने प्रथम देखा और उसने उसका प्रसार कर आर्यों में राष्ट्रीयभाव उत्पन्न किये। इस से विदित होगा कि प्राचीन काल के ऋषि राष्ट्रीय दृष्टिसे कैसे महत्व का कार्य करते थे ।

ऐसे ऋषियों के ओज-भरे वचनों में कितना जीवित उपदेश मिलता है. यह इस लेख से विदित ही हुआ है । इससे पाठकों को निश्चय हुआ होगा कि अपने धर्म का ' सनातन धर्म ' नाम कितना अन्वर्थक है। जो धर्मनियम सदैव जीवित या सदैव नवीन रहते हैं वे ही सनातन नाम के योग्य होते हैं । अपना यह वैदिक राष्ट्रगीत कई शतकों के पहले जारी हुआ था । वह आज भी नवीन, ताजा, जोशीला और स्फूर्तीदायी है । प्रस्तुत लेख के पढने से यह विदित ही हो चुका है । इस लेख को पढने वालों को निश्चय होगा कि आज की गिरी दशा में भी इस राष्ट्रगीत का उपदेश हमे तारक होगा । वाचक इस सनातनत्व को देखें और उसका यहां अनुभव करें।

पिछले तीन लेखों में राष्ट्रगीत के विशेष महत्वके बोध वचनों का विचार हुआ; अब शेष बोधप्रद मंत्रभागों का विचार करेंगे । इन मंत्रों से कुछ बातें स्पष्ट होंगी। अतएव पाठक इन पर विशेष ध्यान दें।

बहुतेरे लोगों की समझ में अपने धर्म में व्यक्ति की अनियंत्रित बाढ को अवकाश नहीं है । अमेरिका का प्रत्येक नागरिक जैसे आशा कर सकता है कि 'मैं भी एक दिन अमेरिका का सभापति हो सकता हूं । ' वैसी आशा भारतीय सनातनी को नहीं हो सकती । क्यों कि उसकी उन्नति जाति तथा वर्ण की श्रेणी से बंधी हुई है । उस मर्यादा के बाहर वह नहीं जा सकता । जिन शिक्षित लोगों का यह मत है उनसे हमारा अनुरोध है कि वे वैदिक राष्ट्रगीत के निम्न लिखित मंत्र को ध्यानपूर्वक पढें ।

अजीतो ऽ हतो अक्षतो ऽ ध्यष्ठां पृथिवीमहम् ॥
अथर्व १२ । १। ११

' मै (शत्रुसे) जीता न जाकर ' (शत्रु के साथ लडते हुए) मारा न जाकर, अथवा घायल न हो कर अपनी मातृभूमि का अध्यक्ष होऊंगा । '

"अहं पृथिवीं अध्यष्ठां " यह मंत्रभाग बतलाता है कि ' मै पृथ्वीका अधिष्ठाता होऊंगा । ' अधिष्ठाता होनेका अर्थ है 'अध्यक्ष होना, राज्यशासन करना, देखभाल करना निरीक्षण करना'। इस अर्थ की ओर नजर डालने से सहज ही में ज्ञात होगा कि जो इस

मंत्रको कहता है उसका अपने राष्ट्रमें मुख्य अधिष्ठाता, मुख्य निरीक्षक, मुख्य शासक बनना संभवनीय है। इस मंत्र भाग पर जितना अधिक विचार करेंगे उतना ही निश्चय होने लगता है कि यह मंत्र उस समय का स्मरण दिलाता है जिस समय अनियंत्रित राजसत्ता स्थापन नहीं हुई थी, उस समय लोकसत्ता थी। इस प्रजासत्ता के काल में प्रत्येक मनुष्य को निश्चय होता होगा कि मैं अपनी कर्तृत के बलपर अपने राष्ट्र का मुख्य अधिष्ठाता बनूंगा। उसी परिस्थिति में "शत्रु से लडते समय मैं पराजित न हूंगा बलिक शत्रू को ही हराऊंगा, शत्रु से मारा न जाऊंगा किन्तु शत्रु को ही मारूंगा, मैं शत्रु के शस्त्रों से घायल न होऊंगा पर मेरे शस्त्रों से शस्त्रु को ही घायल करूंगा और इस प्रकार पूर्ण विजयी बनकर मैं अपने राष्ट्रमें अपनी मातृभूमि का अध्यक्ष बनूंगा" इस मंत्र की संगति लगती है।

प्रत्येक मनुष्य को समान अधिकार है कि वह अपने राष्ट्रकी भवितव्यताको मनचाहा बनादे। प्रत्येक मनुष्य को उसकी कर्तृत्व शक्ति के प्रमाणमें अधिकार है कि वह राज्यशासन के अधिक से अधिक अधिकार प्राप्त करे। वेद का सनातन धर्म समानता की शिक्षा है। सच है कि आगे चलकर रूप, रंग, जाति और कुल के कारण अधिकार के क्षेत्र मर्यादित हो गये। परंतु मूल धर्म के प्रवाह में वह मलिनता नहीं है। वह मालिन्य बाह्य कारणों से उत्पन्न हुआ है। अतएव वह सनातन धर्म का मुख्य भाग नहीं है। उक्त मंत्र ने जो समता दिखलाई है वह संपूर्ण मानवोंका बंधुत्व मानने पर ही आनेवाली है। इस बात को भूलना चाहिए, इसी विषयका निम्न लिखित श्लोक देखिए:—

तवेमे पृथिवि पंच मानवाः ॥

अथर्व. १२।१।१५

"हे मातृभूमि, हम पांच प्रकार के मनुष्य बिलकुल तेरे ही हैं।" तेरे ही संबंधी या तेरे ही पुत्र होने के कारण हम सब बंधु हैं। बंधु वा देशबांधव की दृष्टि से हम सब की एकता वा समानता है। मनुष्यों में रंग, रूप, वय, कुल आदि कारणों से जो भेद उत्पन्न होते हैं वे सब देशबंधुत्व की भावना में विलीन हो जाते हैं। और उन सब में एकता हो जाती है। ब्राह्मण, क्षत्रिय, वैश्य, शूद्र और निषाद ये पांच प्रकार के लोग परस्पर भिन्न नहीं हैं वे एक ही मातृभूमि के पुत्र हैं, अतएव एक दूसरे के बंधुही हैं यदि यह भाव जागृत है कि हम सब मिलकर मातृभूमि की सेवा करते हैं, तो भेदभाव अपना सिर नहीं उठा सकता।

एकमत से और ऐक्य से हिलमिलकर मातृभूमि की सेवा क्यों करनी चाहिए? ऐसी सेवा करने से राष्ट्र के सब लोगोंका कल्याण क्या हो सकता है? आदि प्रश्न अब उठते हैं। उनका उत्तर आगे के मंत्र में मिल सकता है:—

सा नो भूतस्य भव्यस्य पत्नी ॥

अथर्व. १२।१।१

"यह मातृभूमि हम सबके भूत, भविष्यत् और वर्तमान काल की परिस्थिति का नियमन करने वाली है।" भूतकाल में हमारी स्थिति कैसी थी, वर्तमान स्थिति कैसी है और भविष्यत् में वह कैसी होगी इन सब का नियमन मातृभूमि करती है। अर्थात् भूतकाल में मातृभूमि की उपासना हमने कैसी की, अब कैसी करते हैं और आगे कैसी करने वाले हैं इसी पर इन तीनों काल की हमारी दशा निर्भर है। अथवा जैसी उपासना हमने भूतकाल में की होगी उसके फल हमें वर्तमान काल में मिल रहे हैं और अब हम जैसी उपासना करते हैं उसी के अनुसार आगे चलकर हमारी दशा होगी। यदि यह संबंध सब लोगों के मन में जम जाय और यदि सब को निश्चय हो जावे कि मातृभूमि की उपासना योग्य रीतिसे और मिलजुल कर करने ही से हम लोगों को सुख मिलनेवाला है तभी सब में समता, बंधुता आदि एकता की पुष्टि के भाव निःसंशय निवास करेंगे। ब्राह्मण हो, क्षत्रिय हो या अन्य कोई भी हो उन सबको यदि निश्चय हो जाय कि मातृभूमि ही हमारे भवितव्य का नियंत्रण करने वाली देवता है तो वे एकमत से अपना अपना काम करके उसकी उपासना करेंगे और अपने अभ्युदय का साधन निःसंशय करेंगे। इसी उद्देश से आगे का मंत्र देखिए:—

पृथिवीं धर्मणा धृताम् । शिवां स्योनामनु
चरेम विश्व हा ॥
अथर्व. १२।१।१७

" चलो धर्म से धारण होनेवाली, कल्याण कारक और सुखवर्धक मातृभूमि की हम सर्वदा सेवा करें।" हम सब को मिलकर मातृभूमि की सेवा सदैव करनी चाहिए,क्यों कि ऐसा करने से हमारा कल्याण होगा और हमारा सुख बढेगा ।

यदि सब लोगों को विश्वास होजाय कि हमारा कल्याण और हमारा सुख होने का संबंध मातृभूमि की सेवा से है और यदि मातृभूमि की सेवा हिल-मिलकर न करें तो भलाई न होगी उलटे हम लोग निश्चय से दुःख में गिरेंगे, तो लोग आपसी मतभेद भूल जावेंगे, एकतासे, बंधुप्रेमसे अपने अपने काम करके मातृभूमि की सेवा करेंगे और अपनी स्वतः की उन्नति करेंगे । आजकल हिंदुस्थान में जो गडबडी मची है और हिंदु मुसलमान, ब्राह्मण-अब्राह्मण आदि जो व्यर्थ के झगडे बढ रहे हैं उसका कारण यही है कि उन्होने सच्चे राष्ट्रहित का ध्येय अपने सामने नहीं रखा । राष्ट्रहित बिलकुल जल्दी से साधना ही चाहिए ऐसी आतुरता उनके हृदयों में खलबली नहीं मचाती अथवा उन्हे आत्मविश्वास नहीं कि हम एकता से अपना उद्धार अवश्य ही करलेंगे वर्ना कोई भी स्याना मनुष्य सब का शत्रु घर में घुसा रहने पर आपस में लडते न रहेगा। इतना ही नहीं जो स्याने हैं वे आपस का भेदभाव भूलकर प्रथम शत्रू को दूर करेंगे और तत्पश्चात् आपसी झगडों का निपटारा करेंगे । जिस दिन लोगों को मालूम होगा कि अन्य सब काम छोडकर अपनी मातृभूमि के हित के लिए यत्न करना ही हमारा कर्तव्य है तो समझ लीजिए कि उसी दिनसे हमारे भाग्य खुलने का आरंभ हो गया ।

मनुष्य को दिनरात इसी बात की चिंता रहनी चाहिए कि मनुष्यों के जो भिन्न भिन्न कार्यक्षेत्र हैं उन कार्य क्षेत्रों के कार्य करते हुए अपनी मातृ-भूमि का हित कैसे होगा। इस संबंध में आगे का मंत्र सचमुच देखने योग्य है: —

ये ग्रामा यदरण्यं याः सभा अधिभूम्याम् ।
ये संग्रामाः समितयस्तेषु चारु वदामि ते ॥
अथर्व. १२। १। ५६

गांव, अरण्य, सभा, संग्राम, परिषदें आदि जो कोई इस भूमि पर मनुष्य के व्यवहार के केंद्र हैं उन सब में मातृभूमि के संबंध में जो कुछ भी हित का होगा वही मैं बोलूंगा"। कभी भी मातृभूमि के अहित का विचार मै अपने मस्तिष्क में न रखूंगा । जितने मनुष्य के कार्य क्षेत्र हैं, उन सब में सब मनुष्यों के सामने मातृभूमि के हितका ही ध्येय होना चाहिए, तभी मनुष्यों का अभ्युदय होगा । इससे स्पष्ट होता है कि सब मनुष्यों को इसी एक मात्र उद्देश से अहर्निश अपना प्रत्येक काम करना चाहिए सब के काम यदि केंद्रीभूत हुए तो कितना भारी देशहित होगा ?

मातृभूमि की सेवा ऐष आराम करते समय होने वाली नहीं उसके लिए आत्मसमर्पण करने की तैयारी हरएक को करनी चाहिए । शिर कमलों को चढाने के लिए, जितना आवश्यक हो उतना आत्मसमर्पण करने के लिए और आत्मसर्वस्व का बलिदान करने को जो मनुष्य तैयार हो सकते हैं वे ही मातृभूमि की सेवा कर सकते हैं। यही भाव आगे के मंत्रमें है-

प्रतिबुध्यमाना वयं तुभ्यं बलिहृतः स्याम ॥
अथर्व. १२।१।६२

" हम जागृत रह कर तेरे लिए आत्मसर्वस्व का बलिदान करते हैं । "

यह मंत्र भाग कई दृष्टियों से विचारणीय है। हम चारों ओर की परिस्थिति खुली आंखों से देखते हैं, हम जागृत रहकर देखते हैं कि चहुं ओर क्या हो रहा है । और प्राप्त हुई बिकट परिस्थिति को दूर करने के लिए आत्मसर्वस्व का बलिदान करने को भी तैयार हैं । इतनी तैयारी हो तभी मातृभूमि का उद्धार करने बनेगा। ऐष आरामी जीव घडीभर मन बहलाने के लिए जरा कुछ इधर उधर प्रयत्न करते हों तो उससे कुछ लाभ न होगा ।

जो लोग जागृत न होंगे, जो अपनी परिस्थिति का निरीक्षण करने में असमर्थ होंगे, जिन्हे वर्तमान परिस्थिति का ज्ञान न होगा, जो आवश्यक स्वार्थ

त्याग करने को तैयार न होंगे, जे अपने सिर मातृभूमि के चरणों पर अर्पण करने को तैयार न होंगे उनसे मातृभूमि की अधोगति ही होगी। अतएव प्रत्येक मनुष्य अपनी उन्नति इस मार्ग से करने का निश्चय कर अपना कर्तव्य करने में तैयार रहे। वर्तमान समय में आर्य जनता को वैदिकधर्म का यही संदेश है। यदि आर्य जनता इस संदेश को सुनेगी और उसके समान आचरण करेगी, तभी पहले के समान उनका यश चारों दिशाओं में फैलेगा। वाचक यहां पर विचार कर देखें कि सब में प्राचीन होते हुए भी हमारा वैदिकधर्म आज भी कैसा बिलकुल नवीन है। आजभी वह हमारा तारक हो सकता है। लोग उसकी आज्ञाओं का पालन अवश्य करें।

परंतु यह सब होने के लिए परमेश्वर का अधिष्ठान चाहिये अपने प्रयत्नों को परमेश्वर निश्चय से यश देगा, अपने प्रयत्नों में जो कुछ न्यूनता होगी वह परमेश्वर पूरी करेगा। अपनी मातृभूमि के उद्धार के कार्य में यदि कुछ कमी हुई तो निश्चय रखना चाहिए कि दैवी प्रेरणा से वह पूर्ण होगी, इस से यश अवश्य ही मिलता है।

त्वमस्यावपनी जनानामदितिः कामदुघा पप्रथना। यत्त ऊनं तत्त आपूरयाति प्रजापतिः प्रथमजा ऋतस्य॥

अथर्व०

"हे मातृभूमि तूं उत्तम उपजा है और लोगों को आवश्यक उपभोग के पदार्थ देनेवाली कामधेनू ही है। तुझ में जो कमी हो वह परमेश्वर पूरी करता है।" वह तुझे किसी बात की कमी नहीं होने देता।

हमारी मातृभूमि की उन्नति के मार्ग में परमेश्वर सहायक है, यह दृढ विश्वास विशेष उत्साहवर्धक है; अतएव वह राष्ट्रोन्नति साधनेवाला है। इस मंत्र के उपदेश का महत्व तुरंत ही ध्यान में आजावेगा जब कि हम लोग देख लेंगे कि नास्तिक लोगों के राष्ट्र की अपेक्षा आस्तिक लोगों का राष्ट्र ही अधिक सुख-संतोष से रहता है।

"वंदे मातरम्" मंत्र कैसा हृदयस्पर्शी है और उससे मातृभूमि के प्रति कैसा प्रेम व्यक्त होता है, इसका अनुभव आज सब भारतीयों को है। वही भाव—

पृथिव्या अकरं नमः।

अथर्व० १२।१।२६

में है। "मातृभूमि को मै वंदन करता हूं"। "मातृ देवो भव" की आज्ञा सब को विदित ही है। माता को देवता मान लेने पर उसे प्रेमपूर्वक नमस्कार करना उचित ही है। वह नमन कई मंत्रों में वेदों में आया हुआ है। सर्व प्रथम इसी मंत्र से "वंदे मातरम्" की कल्पना उत्पन्न हुई। तदनंतर वह बढी। इस बात को कोई न भूले। अस्तु।

मातृभूमि की उपासना की यह सब रीति और पद्धति निरंतर मनन करने योग्य है। परंतु यह उपासना करनेके लिए मनुष्य में कुछ योग्यता भी आनी चाहिए। उस योग्यता के विना मनुष्य इस मातृभूमि की यह उपासना कर ही नहीं सकता। देखिए इस तयारी के लिए राष्ट्रगीत में क्या कहा है।

अहमस्मि सहमान उत्तरो नाम भूम्याम्।
अभीषाडस्मि विश्वाषाडाशामाशां विषासहिः॥

अथर्व. १२। १। ५४

'मै अपनी मातृभूमि में उच्चतर हूं और शत्रु के हमले मुझे डगमगा नहीं सकते। मै प्रत्येक दिशामें विजयी उत्साहसे युद्ध करनेवाला और शत्रुको भगा देनेवाला हूं।'

इस मंत्र की शब्द योजना मनन करने योग्य है। अपनी तैयारी किस प्रकार करनी चाहिए इस विषय की वेदों में जो सैकडों सूचनाएं हैं उनका सारांश 'सह मान और असह्य' इन दो शब्दों में बताया जा सकता है। यह निःसंशय है कि मनुष्य 'सहमान और असह्य' बने जिससे कि अपनी ही विजय होगी। इन दो सांकेतिक शब्दोंका अर्थ देखिए:—

१ सहमान - शत्रु के हम्ले होनेपर स्वतः अपना स्थान न छोडकर उन्हे लौटाने वाला।

२ असह्य - शत्रुपर हम्ला करके उन्हे भागने को विवश करनेवाला।

जो मनुष्य ऐसा होता है उसकी विजय होती है।

शत्रुके कितने ही हमले हुए पर तिसपर भी न डिगनेवाला, अपना स्थान न छोडने वाला और शत्रु के हम्लों को लौटानेवाला यही तैयारी की एक बाजू है। इसी की दूसरी बाजू यह है कि यदि अपना शत्रुपर हमला करें तो शत्रु उसे सह न सके, उससे शत्रुका पैर पीछे को हटना ही चाहिये और अपना पैर आगे पडना चाहिए—

इन दो शब्दों ने स्पष्टतया बतला दिया है कि हमारी तैयारी दो प्रकार की होनी चाहिए संरक्षणात्मक और आक्रमणात्मक। वाचक इसको देखें जिससे उन्हे पता चलेगा कि वैदिक आदेश के अनुसार हमारी तैयारी कैसी होनी चाहिए। इसी के संबंध का आगे का मंत्र देखिए —

त्विषीमानस्मि जूतिमानवान्यान्हन्मि दोधतः॥
अथर्व० १२।१।५८

" मै तेजस्वी और वेगवान हूं। जो घातक शत्रु हैं उनका मैं नाश करता हूं। "

अपनी तेजस्विता और वेग शत्रू से अधिक होना चाहिए। अपने तेजसे शत्रु को चकाचौंध होनी चाहिए और अपने वेग से शत्रु पीछे पड जाने चाहिए। जिस किसी शस्त्र का उपयोग हमे करना है वह शत्रु के शस्त्र से प्रबल और तेजस्वी होना चाहिए। तभी अपनी विजय होगी ऐसा न होगा तो विजय की आशा ही छोडदेनी चाहिए।

यदि हम शांति का शस्त्र उठावें तो वह भी आखीर तक टिकनेवाला चाहिए। यदि हिंसक शस्त्र उठावें तो वह भी शत्रुके हिंसक शस्त्रकी अपेक्षा अधिक तेज होना चाहिए। पहला ब्राह्म शस्त्र है और दूसरा क्षात्र शस्त्र है। कोई भी शस्त्र क्यों न हो वह इतना तेजस्वी हो परिणाम कर सके और उसका जितने जल्द हो सके उतने जल्द और परिणामकारक रीति से उपयोग करना चाहिए। तभी यशप्राप्ति होगी।

राष्ट्रगीत की इस शिक्षा पर हर एक मनुष्य को विचार करना चाहिए। ये मंत्र अतीव महत्व के और प्रत्येक अवस्था में बोधप्रद हैं। इसीसे वाचकों को चाहिए इसपर योग्य विचार करें और इनके उपदेशों को जितने जल्द बन सके आचरण में लावें।

वाचक इस पूरे राष्ट्रगीत पर विचार करें और देखें कि वह कैसे गंभीर विचारों से भरा है। ऐसे अत्यंत राष्ट्रीय महत्व का राष्ट्रगीत हम लोगों को दिया इसके लिए वेदद्रष्टे ऋषियों के तथा वह आज दिनतक जीवित रखने वाले महानुभाव द्विजवरों के कितने ही धन्यवाद गावें तब भी पूरे न पडेंगे।

हिंदुसमाज समर्थ कैसा बनेगा?

[मूल लेखक -- श्री. पं. महादेव शास्त्री दिवेकर। अनुवादक—पं० भोलानाथजी राव]

प्रकरण तीसरा.

—मनोबल विचार—

(१) जिज्ञासा नाशक वेदान्त

हिंदुसमाज के मन का अभ्यास करने से स्पष्ट विदित होता है कि जिज्ञासा नाशक वेदांत उसके हाड मांस में अच्छे तरहसे मिल गया है। हिन्दुओं का वेदान्त प्रयत्नवाद को नष्ट करनेवाला और दैववाद को बढानेवाला है। संसार में सब कार्य प्रभुसत्ता ही से चलता है, इस कारण मानवी प्रयत्न द्रव्यसंग्रह तथा बालकों और स्त्रियों की चिंता करना व्यर्थ है, किसको स्त्री, किसके बाल बच्चे, हमें देशसे क्या करना है स्वराज्य की हमें आवश्यकता नहीं। इस प्रकार की पौरुषशून्य विचार सरणी हिन्दू समाज में ओतप्रोत भरी हुई है। समाज को वेदान्तका अजीर्ण होनेका तो यह परिणाम नहीं है? प्रायः ऐसा देखा जाता है कि जिनके मूछों की रेख भी नहीं फूटी है ऐसे नवयुवकों से लेकर अतिवृद्ध स्त्री पुरुष तक जो एक ही प्रकार की विचार सरणी देखी जाती है उसका नाश हुए बिना समाज कभी भी उन्नति नहीं कर सकता। इस विचार सरणी के फैलने का क्या कारण है, इस बात का शोध करना महान आवश्यक है। हिंदू समाजके स्वभाव, उसकी ऐसी दशा और उपनिषत काल से समाज में जो निवृत्ति परता दीख पडती है " इन सब का क्या कारण है इस बातका साधारण रूप में विचार करने के अनन्तर हम वेदांत की तरफ चलेंगे।

समाज की दो शाखाएं होतीं हैं। एक अंतर्मुख समाज और दूसरा बहिर्मुख समाज। अंतर्मुख समाज में तत्वज्ञान की वृद्धि होती है। तत्वज्ञान से पिंड ब्रह्माण्डका ज्ञान होता है। और भौतिक व व्यवहारिक ज्ञान का नाश होता है। बडे वृक्ष के नीचे छोटे वृक्ष कभी नहीं बढते। तीक्ष्णबुद्धि के सन्मुख अल्पबुद्धिका तेज मंद होता है उसी प्रकार तत्वज्ञानवृद्धि के साथ इतर व्यवहारिक ज्ञान की वृद्धि नहीं होती। किसी समाजमें तत्वज्ञान की वृद्धि कब होती है? यह जानना बडी कठिन समस्या है। सामान्यतः ऐसा देखा जाता है कि अन्नवैपुल्यता, जलवायु की अनुकूलता व सृष्टि सौंदर्य पर ही तत्वज्ञान की वृद्धि निर्भर होती है। " पहले आत्मा पिछे परमात्मा " इस लोकोक्ति के अनुसार किसी स्थिति में भी समाज को प्रथम अन्न की ही आवश्यकता होती है। यदि अन्न की कमी और पानी की अनुकूलता न हुई तो तत्वज्ञान बढने के लिये कोई भी साधन नहीं रहता। यदि हम यह कहें कि तत्वज्ञानकी वृद्धि ही अंतर्मुख का अनन्य सामान्य लक्षण है तो कुछ भी हानि नहीं होगी।

अब बहिर्मुख समाज की स्थिति पर भी विचार करना महान आवश्यक है। बहिर्मुख समाज जीवनकलह, स्पर्धा तथा एक दूसरे से उन्नति करने ही में तत्पर रहता है। इसका कारण सुख साधनों के वृद्धिकी उत्कट इच्छा व सुख की कल्पना ही है। बहिर्मुख समाज, अंतर्मुख समाजकी भांति सृष्टिसौंदर्य को देखकर केवल मुग्ध ही नहीं होता परन्तु उसे सुख वृद्धिके उपयोग में लाने की चेष्टा करता है। बहिर्मुख समाज की प्रवृत्ति अन्नमूलक होती है। वह अन्नार्थ सृष्टि पर प्रभुत्व जमाता है। अत्यन्त परिश्रम करके,

अन्न प्राप्त करना ही उसका सहज स्वभाव बन जाता है। थोडा भी अन्नस्वास्थ्य हुआ कि व्यक्ति और समाज सुख, देशोत्कर्ष और साम्राज्य वृद्धि के महत्वाकांक्षा की भूमिति श्रेणि से वृद्धि होती है। साधन स्वास्थ्य और सुलभता; इन्हीं कारणों से बहिर्मुख समाज में बुद्धिमत्ता पूर्वक उलट फेर होता रहता है। बहिर्मुख समाज हिसाबी दृष्टि का होने के कारण सदैव उसी कार्यको करता है जिससे उसे लाभ की आशा हो। अंतर्मुख समाज में वृत्ति व भावना से जो खलबली तत्वज्ञान के क्षेत्र में होती है वह बहिर्मुख समाज के व्यवहार क्षेत्रमें नहीं होती। कारण कि प्रत्यक्ष व्यवहार में वृत्ति व भावना की अपेक्षा व्यवहारिक बुद्धि का ही अनुभव विशेष होता है। सारांश यह है कि बहिर्मुख समाज, बुद्धि प्रधान व अंतर्मुख समाज वृत्ति भावना व बुद्धि प्रधान होता है।

जीवन पोषक बातों में बहिर्मुख समाज शीघ्र ही कूद पडता है क्योंकि उसमें तो उसे सुख प्रत्यक्ष ही दिखलाई देता है। परंतु अंतर्मुख समाज, जीवन पोषक तत्वों के अच्छे होने पर भी उन्हें शीघ्र ग्रहण नहीं करता। इसका कारण उसकी अंतर्मुखता ही है। जीवन पोषक अच्छी बातों को शीघ्र कार्य में ले आना और बुरी बातों को छोड देना बहिर्मुख समाज का प्रधान स्वभाव है। परंतु अंतर्मुख समाज के अनुयायियों में व्यवहारिक बुद्धि की अपेक्षा वृत्ति व भावना की प्रबलता होने के कारण यदि कोइ बात बुरी हुई तो भी वह उसको शीघ्र त्याग नहीं करता और यदि वह कितनी अछी हुई तो भी उसे शीघ्र ग्रहण नहीं करता।

उपर के विवेचन पर लक्ष रखते हुए यदि हम हिंदू समाज का विचार करने लगें तो हमें विदित होगा कि हिंदूसमाज अंतर्मुख समाज है। अंतर्मुख होने के कारण इसमें तत्वज्ञान की बाढ व तत्वज्ञान-जन्य अनेक धर्मपंथों की बाढ कितनी विशेष होगई है इसमें कुछ भी संदेह नहीं है। हिंदूसमाज के मानसिक विचारों पर तत्वज्ञान का सबसे बडा प्रभाव है परंतु वह तत्वज्ञान व्यवहारिक ज्ञान जिज्ञासा को नष्ट करने वाला बन रहा है। बहिर्मुख समाज प्रवृत्ति पर निर्भर है तो अंतर्मुख समाज निवृत्ति को ही मुख्य समझता है। हिंदूसमाज के निवृत्तिपर स्वभाव होने का मुख्य कारण वेदांत ही है। हिंदू लोग प्रायः तुटक वृत्ति व सन्यास वृत्ति के हैं। इन लोगों के एसे स्वभाव बनानेके अन्य कारणों से वेदान्त भी एक मुख्य कारण है। कुछ लोगों का कहना है कि महाराष्ट्रीय साधुसंतों ने ही निवृत्ति का उपदेश दिया, उनके भागवत धर्म ही के कारण समाज में पंगुता आगई। परन्तु यह विधान निराधार ही प्रतीत होते हैं। यदि हम यह मान लें कि महाराष्ट्र संतों ने महाराष्ट्र देश में निवृत्तिका उपदेश दिया पर महाराष्ट्र देश के बाहर भी तो सब जगह निवृत्ति ही दीख पडती है, उसका क्या कारण है? ऐसा कहा जाता है कि समर्थ रामदास ने प्रवृत्ति धर्म की शिक्षा दी पर उन्हों ने भी कितनी शिक्षा दी यह प्रश्न है। श्रीसमर्थ के (कवितासमुद्र) " लक्षग्रंथ " में चार पांच सौ कविताए प्रवृत्ति पर लिखी हुई हैं परन्तु उस लक्षग्रंथ के अथाह समुद्र में वे राई के सदृश ही प्रतीत होती हैं। इस प्रकार यदि हम प्रवृत्तिपर लिखी हुई कविताओं को देखते बैठें तो हमें तुकाराम, ज्ञानेश्वर, एकनाथ, नामदेव के बहुतसे ग्रंथ मिलेंगें जिनमें प्रवृत्तिपर कविताएं होंगी परंतु सब संतों ने जितनी कविताऐं प्रवृत्तिपर लिखी हैं उससे कहीं अधिक निवृत्ति पर ही लिखी हैं। यह दोष महाराष्ट्र संतों का नहीं है और न महाराष्ट्र देश के बाहरके साधुसंतों का है। हिन्दुस्तान के सब संतों ने अपने से पूर्व आद्य शंकराचार्य प्रभृति आचार्यों के तत्वज्ञानका अनुवाद किया है। यह " भाष्यकार से रास्ता पूछते हुए " ऐसा कहने वाले ज्ञानेश्वरके उद्गारसे सिद्ध होता है। वेदान्त तत्वज्ञान मूलक शाब्दिक कोटि व पिष्टपेषणके जो अद्वैत, विशिष्टाद्वैत, शुद्धाद्वैत व द्वैताद्वैत संस्कृत संप्रदाय निकले थे और जो वाङ्मय टीकोपटीका व प्रति टीका से बढे थे उनका भाषांतर काव्य साहित्य युक्त देशी भाषा में करने के सिवाय इन लोगोंने है? विशेष क्या किया? सारांश यह है कि सब लोग निवृत्ति के आविष्कारक नहीं थे परंतु पूर्व आचार्यों की लाई हुई निवृत्ति के उपदेशको फैलाने वाले थे।

संतों से पहले आचार्यों ही ने सर्व प्रथम निवृत्ति का उपदेश दिया; यह भी सिद्ध होना कठिन है। कारण कि इन सब आचार्यों से पहले ही गौतम बुद्धने निवृत्ति का प्रचार कर दिया था। बुद्ध व जैन धर्म ने समाज में प्रवृत्ति परता हटाकर जो संन्यास धर्म का प्रचार किया था उसी के अवैदिक स्वरूप को दूर करके वैदिक स्वरूप लाने में ही सब आचार्यों को परिश्रम करना पडा। गीतारहस्य के उपसंहार में रहस्यकार ने श्रीशंकराचार्य के समय कार्य व उनके समय का पर्यालोचन किया है। इस पर से ऊपर के अनुमान की पुष्टि होती है। गौतम बुद्ध के पूर्ण निवृत्ति परता के उपदेश का प्रभाव हिंदुधर्मसमाज पर इतना हो गया था कि पूर्ण प्रवृत्ति पर रहने वाले इस्लाम समाज से जब उनका सामना हुआ तब हिंदुसमाज को उनके सामने नमना पडा। यदि हम दूरदृष्टि से विचार करें तो हमें विदित होगा कि गौतम बुद्ध ही निवृत्ति व सन्यास के जनक, शंकराचार्य प्रभृति आचार्य उस तत्व के रूपांतरकार, और हिंदु साधुसंत उस तत्व के प्रचारक हुए।

गौतम बुद्ध का भी धर्म कहाँ से आया? उसने इस धर्म को कहीं से उत्पादन किया? क्या उसका जन्म हिंदुस्तान के बाहर हुआ था? क्या गौतम बुद्ध की निवृत्ति पहले और कहीं अवतीर्ण हुई थी? इस प्रकार के विचार यदि हमलोग शोधक बुद्धि से करने लगें तो " किं प्रजया करिष्यामः येषां नायमात्मा नायं लोकः " ऐसे गर्जनेवाले उपनिषत व सरितप्रवर का स्मरण होता है। और बौद्ध धर्म का उदय, विशेषतः उस धर्म के संन्यास व निवृत्ति का उदय उपनिषत के पैदा करने वाले से हुआ है। ऐसा करनेका साहस होता है। श्वेताश्वेतर उपनिषद में कपिल सांख्य का नाम आया है। निरिच्छ सांख्य मत और बौद्ध मत यह दोनों एक ही मत के जुडवाँ सन्तान समान प्रतीत होते हैं। दशों उपनिषदों में बहुत थोडा भाग कर्म योग का है। उपनिषद अरण्यक में से लीगई हैं। जंगलों में ही वे पढी जाती हैं। घर में व गांव में उपनिषदों को पढना नहीं चाहिये। प्रायः इस प्रकार की विचार सरणी देख पडती है। संहिता ब्राह्मण और अरण्यक के सम्मिश्रण से वेद की उत्पत्ति हुई है। वेद का आखिरी भाग उपनिषद है। इसी को वेदान्त कहते हैं। वेदान्त में पूर्ण निवृत्ति का ही उपदेश दिया है। कहीं कहीं निष्काम कर्मयोग का प्रवचन भी मिलता है। तात्पर्य यह है कि हिंदुस्तान के हिंदू लोगों की निवृत्ति परता का खोज करते करते हमें उपनिषद पर्यंत जाना पडता है।

वेद के अंत्य भाग में निवृत्ति क्यों और कहाँ से आई यह बात भी विचार करने लायक है। संहिताके ब्राह्मण भाग में घोडे, पशु, प्रजा इन्हीं की मांग है। वैदिक कर्मकाण्ड के भाग में सर्वत्र प्रवृत्तिपोषक विचार ही बाहुल्यता से मिलते हैं। सौ वर्ष उपभोग करो सौ वर्ष राज्य करो उत्तम गाय, घोडे, उपजाउ प्रदेश, स्वादिष्ट अन्न की पुर्णता और उत्साही तरुण प्रजा को ही मांग है। प्रजा से क्या करना है, राज्य की आवश्यकता नहीं, द्रव्य दुःखदायी है इस प्रकार की जो विचार सरणी फैल रही है उसका मुख्य कारण सुखोपभोग की परम सीमाके उपरान्त का वैराग्य ही है। इच्छित अन्न की प्राप्ति, सुखोपभोग और उत्तम हवा पानी की अनुकूलता होने पर तत्व ज्ञान की वृद्धि व निवृत्ति का उत्पन्न होना स्वाभाविक है। इस बात से यह सिद्ध होता है कि हिंदुस्थान की निवृत्ति परायणता ही मुख्य कारण अन्न की बाहुल्यता ही है। अब अन्न की कमी होगई है। जब हिदुस्थान में जहाँ तहाँ दरिद्रता आगई और कंगालपने का संचार होगया तब हिंदु समाज को जगाने के निमित्त अब प्रवृत्ति का विचार होना चाहिये। निवृत्ति को ध्येय समझकर जो व्यवहार चला है उसे रोककर प्रवृत्ति ही हमारा मुख्य ध्येय है ऐसा कुछ समय तक समझना श्रेष्ठ है। समाज को निवृत्ति का इतना अजीर्ण हो गया है कि अब प्रवृत्ति की औषधि दिये बिना वह बिष जा ही नहीं सकता। अब हम प्रवृत्ति मार्ग को रोकने वाले वेदांत का विचार करेंगे।

संसार में ज्ञान को अत्यंत पवित्र माना है। ज्ञान ही संसार का जीवन है। ज्ञान ही का संसार पर

राज्य है । अज्ञानी को ज्ञानी की दासता स्वीकार करनी पडती है । ज्ञान की ऐसी महिमा होते हुए भी हिंदुस्तान में ज्ञानजिज्ञासा की उत्कंठा नहीं दिखलाई पडती । इसका कारण ज्ञान के महत्व को न जानना ही है अथवा कोई बात ज्ञान जिज्ञासा की प्रतिबंधक है । पहले के कारणसे दूसरा कारण ही ठीक प्रतीत होता है । हिंदू जनताने ज्ञान के महत्व को थोडा बहुत अवश्य ही जाना है परंतु संसार के विविध ज्ञान शाखा में हिंदुसमाज की प्रगति नहीं दीख पडती । इसका कारण जिज्ञासा नाशक वेदान्त ही है ।

सर्व संसार में ब्रह्मज्ञान ही श्रेष्ठ है, उस ज्ञान के सन्मुख इतर सर्व ज्ञान तुच्छ हैं ऐसा समझने के कारण हिंदू समाज वेदान्त ज्ञानको छोडकर दूसरी ओर लक्ष ही नहीं करता । हिंदुस्तानमें नाना विद्या, कला, अनेक प्रकारके शास्त्रीय शोधों की बाहुल्यता किसी समय में अवश्य ही थी । इसमें कोई संदेह नहीं परंतु बीच ही में अवदशा की एक ऐसी घडी उपस्थित हुई कि विद्या, शास्त्र, व्युत्पत्ति तथा अन्य किसी वस्तु की आवश्यकता नहीं है । इस प्रकार की विचार सरणी प्रारम्भ हुई और इसी के साथ साथ यह भी प्रतिपादन प्रारम्भ हुआ कि ईश्वर प्राप्तिके निमित्त विद्या, कला, शास्त्र इनकी कुछ भी आवश्यकता नहीं है । मनुष्य शरीर का मुख्य ध्येय ईश्वर प्राप्ति है । ईश्वर प्राप्तिका साधन भक्तिभाव है । यदि केवल भक्ति भावही से ईश्वर की प्राप्ति होती है तो इतने प्रयत्न रचने की क्या आवश्यकता है ऐसी भावना स्वाभाविक ही है ।

समाज की ऐसी विचार सरणी होने के मुख्यतः पण्डित और संतलोग ही जबाबदार हैं । मध्य युग में पण्डितोंने ज्ञानको शास्त्रीय परिभाषा व टीका ग्रन्थ द्वारा इतना क्लिष्ट बना रखा है कि पण्डितों का भी उसमें प्रवेश होना कठिन हो गया । सब ज्ञान संस्कृत भाषा में और वह भी पण्डितों के चक्रव्यूह में दीख पडता है । ज्ञान के इतने उंचे अभेद्य किलेपर जा बैठने से उसकी प्राप्ति नहीं हो सकती ऐसा देखकर जनता उस ज्ञान का तिरस्कार करने लगी और पण्डितों ने उस ज्ञान द्राक्षको दूर हीसे बताया । इस लिये जनता में द्राक्ष खट्टे हैं" इस लिये नही चाहिये ऐसी प्रतिक्रिया प्रारंभ हुई । पण्डितो ! अपना ज्ञान अपने पास ही रखो ! अहन्ता गुण से ब्रह्मराक्षस करने वाले तुम्हारे ज्ञान की अपेक्षा शुद्ध भाव से ईश्वर प्राप्ति का ज्ञान होना बहुत अच्छा है इस प्रकार की घोषणा संतोंने शुरु की ।

जिस प्रकार से ज्ञान संस्कृत भाषा के कठिन ताले व अवच्छेदकावच्छिन्न की गुफा में बंद था उसी प्रकार वह कर्मठ आचार विचार के करीले जाल में भी फंसा हुआ था । मध्ययुगोत्तर निबंध ग्रंथ में सर्वत्र प्रायश्चित धर्म का ही उल्लेख है । प्रातःकाल से सायंकाल एक सब समय धर्म कर्म ही से बंधा हुआ है । किंचित मात्र भी उक्त पंथपर से हटने का समय नहीं मिलता । वर्षभर में जितने दिन होते हैं उससे दुगने तो व्रत और वैकल्य हैं । हेमाद्री का चतुर्वर्ग चिंतामणि तो व्रत और वैकल्य का कोषही है । उसके विरुद्ध थोडा भी कुछ किया तो प्रायश्चित्त । यदि हम उन प्रायश्चित्तों को करते ही रहें तो हमें संसार का ज्ञान प्राप्त करने के लिये समय ही नहीं मिल सकता । ऐसी विचार सरणी होने के कारण ही ज्ञान जिज्ञासा का नाश हुआ । 'यः क्रियावान् स पंडितः' क्रियाविहीन वाक्पटुता व्यर्थ है इस वाक्य का अर्थ "कर्मठ मनुष्य" इस प्रकार से होने लगा । जो कार्य को संपादन करके दिखलाता है वही मनुष्य बुद्धिमान है "सत्य में कर्ता पुरुष ही पुरुष है" इस तात्विक अर्थका नाश होकर इस प्रकार की मिथ्या कल्पना उत्पन्न हुई कि सब दिन तेली के बैल की तरह जो मनुष्य काम ही में लगा रहता है वही क्रियावान है । धर्मसिंधुकार की एक आख्यायिका कहना है वह ग्रंथ पढकर एक गृहस्थ ग्रंथकार के यहाँ उसका धर्माचरण देखने गया उस समय ग्रंथकार प्रातःकाल उठकर अंगीठी में आग सुलगाकर ताप रहा था । यह देखकर पृच्छक ने पूंछा कि आपके ग्रंथ से आप के व्यवहार कैसे मिलाये जाय? ग्रंथकारने ग्रंथ में लिखे हुएके अनुसार उत्तर दिया "कि मैं यदि कर्मठपने में बैठा रहा तो ग्रंथ लिखने को समय कहाँ है" इस बात से यह स्पष्ट विदित होता है कि उस समय में कर्मठपने

की कैसी छाप थी।

इसके अनन्तर कर्मठपन के करीले पाश में जकडे हुए और संस्कृत परिभाषा के गुफा में छिपे हुए ज्ञान को बाहर निकालने का कार्य प्रारम्भ हुआ। संतोंने अपने वाक्‌प्रहार द्वारा कर्मठपन के जाल को तोड डाला और संस्कृत भाषा में छिपे हुए ज्ञानका तत्वज्ञान अनेक शास्त्रोंसे लेकर उसे मराठी भाषा में बतलाने के लिये ग्रंथ संपत्तिका निर्माण किया। सब लोगों को देशी भाषामें ज्ञानोपदेश की दृष्टी से ज्ञानेश्वरादि संतोंका प्रयत्न इतना सफल हुआ कि वेदान्त के सिवा दूसरे एक भी ज्ञानविषयका संस्कृत से मराठी भाषा में अनुवाद नहीं हुआ। न्यायमूर्ति रानडे का संतों के विषय में कहना है कि "संतों ने भटभिक्षुकों के बंड (जमात को) कम कर दिया और देव व मनुष्य के मध्यस्थों की कल्पना समूल नष्ट कर दी।

वस्तु स्थिती का विचार करते हुए यह कहना पडता है कि न्यायमूर्ति का यह विधान अत्यन्त साहसिक है।कर्मठ भट्टोंकी भिक्षुकी संतों ने नष्ट की ही होगी परंतु संतों की मध्यस्थी की चाल उसी समय से विशेष हुई। देव व मनुष्य इनके मध्यस्थी संत होते हैं। वे संत ईश्वर से मिलाते हैं। अभिमान त्याग कर संतों की शरण जाना चाहिये। ऐसी विचारसरणी के कारण संतों के पीछे बहुजन समाज विशेष रीतिसे लगने लगा। ईश्वर प्राप्ति के लिये ही मनुष्य जन्म है और उस ईश्वर से मिलाने वाला मध्यस्थ संत है ऐसे साध्य साधन संबंध होने के कारण गुरूपदेशका व भोंदू गुरुओं का इतना प्रचार हुआ कि उस ढोंग के फंदे से हिंदुसमाज आज तक नहीं छूटा। आधुनिक विद्वानों को भी गुरुपदेश व साधू लोगों का इतना पागलपन सवार है कि, साधू के आशीर्वादसे संतान होती है और उनकी कृपा से बढती होती है। इसी प्रकार के विचारों की समझ देख पडती है। सारांश यह है कि संतों ने अपनी प्रभुत्व(आडम्बर) हद से ज्यादा बढा रखा था। देवभेट की कल्पना पर समाज को अपनी ओर आकर्षित कर लिया था, जगन्मिथ्यात्व का वेदान्त बतलाकर और ब्रह्म निरूपण का उपदेश देकर समाज की जिज्ञासा इतनी नष्ट कर दी थी कि संसारिक व्यवहार की ओर अर्थात् धर्मशास्त्र और अभ्युदय कीओर देखने की समाज की प्रवृत्ति भी नष्ट कर दी।

तत्वज्ञान का अधिकारी कौन है? उसकी क्या योग्यता है? उसकी बुद्धि की तीव्रता कितनी है? इन सब विचारों को एक तरफ छोडकर त्रिविधताप से तप्त व संसार की झंझटों से घिरा हुआ मनुष्य भी यदृच्छा से परमार्थ का अधिकारी बनने लगा। सिद्धान्त यह है कि ज्ञान से मोक्ष की प्राप्ति होती है। और यह भी सत्य है कि वह ज्ञान अत्यंत शुद्ध व कुशाग्र बुद्धि के मनुष्यों के सिवाय दूसरों में नहीं होता। ऐसी स्थिति होने के कारण उस ज्ञान की आवश्यकता ही नहीं इसलिये भक्ति भावके भक्तिसंप्रदाय की उत्पत्ति हुई। इस संप्रदाय का वर्चस्व प्रतीत हुए हजार वर्षों से इतना है कि उससे बाहर निकलना कठिन ही दीख पडता है।

ज्ञानेश्वरादि साधु संतों के समय में वैराग्य उत्पन्न होने की बहुत ही अनुकूल स्थिति थी। जहाँ तहाँ लूट,मार,दुष्काल व सुलतानी संकटों से समाज अत्यन्त दुःखित हो गया था। इस वैराग्य के समाधान के लिये क्रियाशून्य करने वाले वेदान्त की आवश्यकता थी, उसका प्रचार प्रारम्भ हुआ। प्रतिभासंपन्न कुशाग्रबुद्धिग्राह्य जो तत्वज्ञान है वह अचिंत्य है इस से उसका विचार करना ही व्यर्थ है और जो विचार करने लायक संसारिक विषय हैं वे सब मिथ्या हैं, संसार माया है इन सब कल्पनाओं से अभ्युदय के विचार की इति श्री होगई और वेदान्त तत्वज्ञान सबसे अच्छा है ऐसा कहकर जनताने उसी को ग्रहण किया।

हिन्दुसमाज को यदि भविष्य में जिवंत समाज बनकर रहना है तो इस जिज्ञासा मारक वेदान्तको नमस्कार करके हिमालय की गुफा में भेज देना ही उत्तम होगा। यदि नहीं तो ऐसे सुसंपन्न देशको मिथ्या कहकर इसे अन्य जाति के हाथ में सौंपकर हिन्दू जनता को शाश्वत सुख मार्ग को पकडना चाहिये। यह वेदान्त विदेशीयों को लाभदायक तथा उनका तारक है परंतु हम लोगों के लिये मारक

है। " सर्व माया " कहकर सर्वस्व त्याग कर यदि हिंदुस्तान के लोग संसार के बाहर चले जायेंगे तो इसे छोडकर विदेशीयों को और आनन्द की क्या बात हो सकती है? हिंदू समाज को जीवित रखने के लिये अब कर्तव्यपरायण वेदान्त की आवश्यकता है। जहाँ जहाँ ब्रह्ममाया का निरुपण, ब्रह्ममाया का गडबड और निवृत्ति प्रचारक संतोंने इतना शोर मचा रखा है कि समाज स्वास्थ्य चिंतन की इति श्री ही होगई है। ऐसा कहते हैं कि हिंदुस्थान में एक लाख निरुद्योगी साधु रहते हैं। इन एक लाख साधुओं का पालन पोसन करना हिंदूसमाज को शीघ्र ही मृत्यु मार्ग को पहुंचानेवाला है। साधू क्या करता है, क्या खाता है, क्या कहता है, इस और लोगोंका ख्याल विशेष रहता है कारण कि सिद्धोंके लक्षण साधकों में अवश्य होना चाहिये ऐसा सिद्धान्त है। जिस प्रकार सिद्ध करता है उसी प्रकार साधक को भी करना चाहिये। सिद्ध निवृत्ति ही बतलाता है निवृत्ति ही बोलता है और निवृत्त हो ऐसा हो उपदेश करता है। ऐसे निवृत्ति परायण एक लक्ष साधू जिस समाजके ध्येय हैं वह समाज भला आपत्ति के गर्त में से कैसे बाहर आ-सकता है? यह एक लाख साधू दुर्बल समाज के सिरपर व्यर्थ ही पेट पालते हैं और साथ साथ धर्म डूबा,धर्म डूबा इस प्रकार भी कहते जाते हैं इन साधुओं का धर्म बूडा यह कहनेका केवल यही अर्थ है कि इन लोगों का अब पहले की तरह पूरी खुराक नहीं मिलती। परंतु साधुओं को यह नहीं समझ पडता है कि खुराक न मिलने का कारण समाज की अन्नन्यूनता व दारिद्रता ही है। इन साधुओं को अ-न्य देश में अन्न जाते देखकर दुःख नहीं होता,अन्याय देखकर संताप नहीं होता विशेष क्या पतिव्रता स्त्री पर यदि किसी ने हाथ उठाया तब भी ये लोग चुपचाप देखते ही रहते हैं। हिंदू समाज को चाहि-ये कि इन साधुओं की एक शाला बनवादे अथवा इन्हें रुग्णालयों में रुग्णशूश्रूषाका काम दें या इनकी भरती सेना में करवा दें।

साधन चतुष्टय संपन्न मनुष्य वेदान्त का अधिकारी हैं ऐसा प्राचीन शास्त्रों में लिखा है। अर्वाचीन शास्त्र में भी उसी प्रकार की व्याख्या करनी चाहिये। हिंदुस्तान का नागरिक हिंदू समाज का अभिमानी, गृहस्थाश्रमी और भौतिक शास्त्र में से एक दो शाखाओं में निपुण ऐसे साठवर्ष के ऊपर के आयु के मनुष्यों को हिन्दू समाज को वेदान्त का अधिकारी समझना चाहिये। तीस वर्ष के भीतर लडके व लडकियें नहीं मिलते इससे ब्रह्मचारी, पैसा नहीं मिलता इससे वैराग्यशील और कुछ भी करने को नहीं आता इससे ब्रह्मज्ञानी ऐसे जो मनुष्य साधुओं की श्रेणी में चले जाते हैं उसे बंद करना चाहिये। " वैरागी ही वेदान्त का अधिकारी है " इस शास्त्र को कुछ दिनों के लिये बंद करके ढाले में डालदेना चाहिये। जग खोटा है यह भी वेदान्त पश्चिम की ओर भेजकर, संसार में ईश्वर है कर्तव्य कर्मरूपी कुसुम से ईश्वर संतुष्ट होता है इस तत्व का लोगों को शिक्षण देना चाहिये। ईश्वर प्राप्तिके लिये अभ्युदय, प्रवृत्ति, स्वराज्य, प्रजा, घर, दार, धन,दौलत इत्यादि सर्व वस्तुओं की आवश्यकता ईश्वर प्राप्ति के लिये ही है ऐसी प्रवृत्ति हिंदुसमाज के नस नस में भर देनी चाहिये। यदि प्रवृत्ति का अतिरेक होगया अर्थात् हिंदूसमाज में संसार पर साम्राज्य करने की इच्छा उत्पन्न होकर उसकी पूर्ति होने लगी तो निवृत्ति का सूक्ष्म उपदेश भी काम दे सकता है। आधुनिक इस शास्त्रीय जग में शास्त्र संपन्न ही की समृद्धिमें उत्पन्न हुई जोजो शास्त्रीय ज्ञान है उन्हे आत्मसात किये बिना हिंदू समाज के जीवित रहने की अशा नहीं की जा सकती। मोटर आगगाडी, तारायंत्र की आवश्यकता है और अन्य सुखों की आवश्यकता है तो उस ज्ञान को तीव्र जिज्ञासा बढानी चाहिये। बिना इच्छा हुए मार्ग की प्राप्ति नहीं होती। ज्ञान जिज्ञासा के बिना ज्ञान की प्राप्ति नहीं और बिना ज्ञान के अभ्युदय नहीं और अभ्युदय के समय यदि अन्न ही खानेको न हो तो "भूखे पेट परमार्थ कैसा ऐसी परंपरा है।

सारांश, दुर्बल वेदांत ज्ञानजिज्ञासा नाशक वेदांत की हमें जरूरत नहीं। हमें तो ज्ञानवृद्धिदायक वेदांत की जरुरत है। बीमारी से उठा हुआ मनुष्य जिस तरह खाना खाना करता है उसी प्रकार हिंदू-

समाज को ज्ञानक्षेत्र में करना उचित है । यह ज्ञान नहीं वह ज्ञान नहीं इस प्रकार कह कर जिस ज्ञान की निंदा की है उसी ज्ञान को आधुनिक प्रवृत्ति के अनुसार उपयुक्त समझकर उसे बढाने की चेष्टा करनी चाहिये। शिल्पकला खेती और अन्य उद्योगों को शास्त्रीय पद्धति द्वारा चलाने का ज्ञान हिंदुसमाज को संपादन करना चाहिये । छोटे छोटे बच्चों को जो वेदान्त का पाठ पढाया जाता है, उपनिषदका शिक्षण दिया जाता उससे उन्हें कुछ भी लाभ पहुंचता है क्या ? यदि कुछ होता भी है तो उलटा ही होता है। इसीसे गीता शास्त्र का शिक्षण अवश्य देना चाहिये जिससे उनमें सरल सरल प्रवृत्तिपरता का विकास हो । शालाओंमें भी उतनी हीं वेदांत की शिक्षा देना उचित है जिससे ईश्वरनिष्ठा वा पापभीरुत्व इन गुणों का समावेश हो। बालकों तथा स्त्रियों को वेदांतों के गाने और स्तोत्र नहीं सिखलाने चाहिये । उपदेशकों को निवृत्ति व जिज्ञासा मारक वेदांतका उपदेश देना बंद करना चाहिये जहाँ तक हो कठिन परिश्रम कर के सिद्धिदायक वेदांत ही समाज के नस नस में भरना चाहिये ।

कर्मका मर्म या कर्ममीमांसा ।

(लेखकः—श्री० पं० रामचंद्रजी हेडमास्तर; अंबाला)

प्रस्तावना.

किं कर्म किमकर्मेति कवयोऽप्यत्र मोहिताः ।
तत्ते कर्म प्रवक्ष्यामि यज्ज्ञात्वा मोक्ष्यसेऽशुभात्॥
गीता ४।१६

अर्थः—क्या कर्म है? और क्या अकर्म है? पंडित भी इस विषयमें मोहित हैं। सो मैं तुझे यह कर्म (मीमांसा) बतलाउंगा जिसको जानकर तू अशुभ (दुःखोंसे) छुटेगा.॥

आजकल जब हम अपनी चारों ओर दृष्टि डालते हैं तो दो विचित्र घटनाएं दिख पडती हैं। एक ओर तो बाह्य जगतमें पदार्थ विद्याके प्रचुर प्रचार से अतुल प्रकाश, और दूसरी ओर अन्तरीय जगत में मनोमय सूर्यके असह्य संकोचसे निपट अन्धकार। एक ओर तो मनुष्य साहस अर्थात् पदार्थविद्याके बलसे बली होकर मोटरकार दौडता है । हवाई-जहाज उडाता। है रेलें चलाता है। तारवर्क्स फैलाता है । विनातार के भी खबरें पहुंचाता है । अनेक आश्चर्य जनक दृश्य देखता और दिखाता है । दूसरी ओर वही महोदय सभ्य मनुष्य इन सब मायावी, जाज्वल्यमान विविध विभूतियों को रखता हुआ अति असंतुष्टि को प्रकट करता है । उसके शरीरके लिये अच्छेसे अच्छे वस्त्र, उत्तमसे उत्तम विशाल मन्दिर, उसके भोजनके लिये सुस्वादु, सुरस नाना प्रकारके भोजन हैं । उसके सैर के लिये सुंदर मनोहर सुगन्धियुक्त पत्र पुष्पोंसे भरे हुए उद्यान हैं, उसके खेलनेके लिये बडे, खुले, साफ सुथरे मैदान हैं। किंबहुना पदार्थ विद्याकी नान्दी ने उसको प्रसन्न कर में कोई कसर उठा नही रक्खी है। परन्तु हा! शोक, उसका मन अशान्त है। उसकी आत्मा विभ्रान्त है और उसकी खुशियों का चमन पादाक्रान्त है । शरीर सुखी है, पर मन दुःखी है । इस मानसिक सन्तुष्टि को उपलब्ध करनेके लिये वह बहुतेरे प्रयत्न करता है । कभी इधर देखता है कभी उधर । कभी अपने संबंधिपर नजर धरता है और कभी अपने पडौसीपर हाथ साफ करता है। कभी यहां जाता है, कभी वहां । कभी यह करता है

कभी वह। परन्तु —

" मर्ज बढता गया जूं जूं दवा को "

वाला मामला है। यह व्यष्टिगत अशान्तिकी अग्नि समष्टि रूपमें होकर बडे भयंकर रूप धारण करती है। कहीं पर घोर युद्धके रूपमें फूटती है। और कहीं पर हडताल की शकल में प्रकट होती है। कहीं पर भाई भाई में फूट डलवाती है और कहीं पर राजा प्रजामें वैमनस्यता दिखलाती है। इस असंतुष्टिकी अग्निसे न कोई घर बचा है न कोइ कुटुंब,न कोई व्यक्ति बची है और न कोई जाति। न कोई देश बचा है और न कोई खंड। न राजा बचा है न प्रजा। न कोई शिक्षित बचा है न अशिक्षित। न अमीर बचा है न गरीब। हा! देव। कैसा समय है कि यह अशान्तिकी अग्नि सर्व व्यापक हो कर प्राणिमात्रको भस्म किया चाहती है। इसअग्निका सबसे बडा कार्यक्षेत्र यह हमारा अभागी भारतवर्ष बना हुआ है। जहां इस समय ऐसी ऐसी अघटनीय घटनायें प्रतिदिन उपस्थित होती हैं कि जिनके सुननेसे मृत शरीर पर भी रोम खडे हो जाते हैं। पत्थर भी हिलजाते हैं और वज्रभी पिघल जाते हैं। कहांतक लिखूं इस घटना को देखकर हृदय कम्पता है। आंखोंसे अश्रु प्रवाह बह जाता है। हाथ डगमगाता है लेखनी कानोंपर हाथ धरती है। इस घटना के यथार्थ दृश्यको खींचनेके लिये तो कोइ वाल्मीकि सा कवी या विश्वकर्मा सा चित्रकार चाहिये। मुझ जैसे साधारण बुद्धि मनुष्य में यह सामर्थ्य कहां?

प्रिय पाठको! आइये जरा इस दृश्य को यहां ही छोडिये। हम आज आपको इस दृश्य को देख देख कर रुलानेके लिये नहीं बुलाते। और नहीं रोनेसे कुछ लाभ है। आओ तनिक विचार कर देखें, कि इस सारी दुर्घटना का कारण क्या है। विनाकारण कोइ कार्य प्रकट नहीं होता। इसका भी कोई न कोई कारण अवश्य होना चाहिये। जहांतक हमारी बुद्धि काम करती है और जहांतक हमने संसारके अर्वाचीन या प्राचीन विधानों और महात्माओंके विचारों ओर लेखोंको समझा है हमें तो यही प्रतीत होता है कि आधुनिक मनुष्य समुदाय में एक बडे परिवर्तन की आवश्यकता है। यह परिवर्तन न केवल मनुष्यों की सामाजिक या राजनैतिक प्रथा ओं में, न केवल द्रव्य (Capital) और परिश्रम (Labour) के सम्बन्धों में और न केवल शिक्षाप्रणालिमें ही आवश्यक है, अपितु यह परिवर्तन मनुष्यमात्रके हृदयमें, मनुष्यमात्रकी आत्मा में आना अधिक तर आवश्यक है। और जब तक ऐसा नहीं होगा यह अशान्ती एक रत्तीभर भी कम नहीं होगी।

आप शायद कहेंगे कि इतनी शिक्षा फैल चुकी। साइन्सकी उन्नति आकाश तक पहुंच चुकी, क्या अभीतक वह परिवर्तन नहीं आया। हां, मैं कहूंगा हां। यह परिवर्तन नहीं आया। बेशक सायन्स फैली। निःसंदेह शिक्षाका प्रचार हुआ पर यह सब कुछ केवल मस्तिष्कको विकाश देनेवाली (Brain Education or Head Learning) शिक्षा होती है। आत्माको विकाशित करनेवाली विद्या (Soul Wisdom) नहीं। और जबतक यह तत्व विद्या (Soul Wisdom) अच्छी तरहसे प्रचार नहीं पाएगी तबतक तनिक भी कल्याण की सम्भावना नही हो सकती।

इस मस्तिष्क विकाश (Brain Education) ने मनुष्यको अन्तिम सीमातक स्वार्थपरायण बना दिया है। वह स्वार्थके लिये पढता है। स्वार्थ के लिये ही पढाता है। वह स्वार्थ के लिये राज्य करता है और स्वार्थ के लिये ही राज्य भक्ति करता है। वह स्वार्थ के लिये ही खाता है, पीता है, जीता है, और यदि दान करता है तो वह भी स्वार्थ के लिये ही देता है। यदि परोपकार करता है तो वह भी स्वार्थ के लिये ही करता है। किं बहुना स्वार्थ वश होकर ही एक जाति मुखसे यह कहती हुई कि सब मनुष्य समुदाय भाई हैं क्योंकि वे एकही पिता (ईश्वर) के पुत्र हैं, अपनेसे कमजोर जातियोंको पांओं में दलना चाहती है और दलती है। एक मनुष्य दूसरे मनुष्य को सबूत ही निगलना चाहता है और वश चले तो निगल जाता है। एक देश दूसरे देशके सब धनधान्यको लपेट सपेट कर अपने देशको मालामाल और दूसरोंको कंगाल करना चाहता है।

परंतु तत्वविद्या या तत्व ज्ञान (Soul Wisdom) इस स्वार्थपरायणताके स्थानमें कर्तव्य पालन के जीवनको स्थापन करेगा। यह तत्वज्ञानही है जो मनुष्यको बताएगा कि केवल स्वार्थपरायणता मनुष्यका धर्म नहीं। उसके जीवनका कुछ उद्देश है। कुछ कर्तव्य है और वह कर्तव्य पालनही उसके जीवनका सार है, उसकी संसार यात्राकी अन्तिम गति है।

यहां शायद यह प्रश्न हो सकता है कि यदि स्वार्थ सर्वथाही प्रकृति विरुद्ध (Unnatural) है तो यह भाव मनुष्यके हृदय में विधाताने क्यो रक्खा है? इसका उत्तर यह है कि निस्सन्देह स्वार्थ (selfishness) विकाशपद्धति के आरम्भिक पदों में एक आवश्यकीय भाव है क्योंकि इसके विना जीव अपने हरएक शारीरिक और मानसिक भावों को उन्नत नहीं कर सकता। माता बच्चेको चलना नहीं सिखा सकती जबतक उसके मनको आकर्षण करनेके लिये उसके आगे कोई सुंदर खिलोना न रखे कि जिसको देखकर वह बालक रिंघडने या चलने की चेष्टा करता है। और मनुष्य से नीचे की पश्वादिक योनियोंमें तो इस स्वार्थता के विना निर्वाह ही नहीं हो सकता। यही कारण है आरम्भिक दशा में मनुष्यों में अनुराग (Self-Love) ऐसा ही स्वाभाविक भाव है जैसा पशुओं में, क्यों कि मनुष्य पशुयोनिसेही उन्नत होकर आया है। और हमें आरम्भिक अवस्थावाले मनुष्योंपर इस आत्मानुराग पर कोई दोष भी नहीं देना चाहिये। परंतु यह सब ही मानते हैं कि मनुष्य योनि का उद्देश्य यही है कि मनुष्य शनैः शनैः पशुत्व से ऊंचे उठता हुआ मनुष्यत्व तथा देवत्व को प्राप्त हो। इसीवास्ते साधारणावस्थामें आत्मानुराग के साथ साथ आत्म त्याग के भावको भी संचार करनेके वास्ते मनुजी कहते हैं:—

कामात्मता न प्रशस्ता न चैवेहास्त्यकामता।
काम्यो हि वेदाधिगमः कर्मयोगश्च वैदिकः॥
मनु. अ. २। २५

"कामात्मता (selfishness) अच्छी नहीं। और नहि (साधारण अवस्थामें) निरी अकामता (selflessness) ही सम्भव है। क्योंकि कामनाके विना वेदादिशास्त्रोंका पठन पाठन और कर्म काण्ड नहीं हो सकता। परंतु सभ्य मनुष्यके लिये और विशेषकर उस मनुष्यके लिये जो अपने आप को उच्च कोटिका शिक्षित मानता है यही उचित है कि कर्तव्य पालन को अपने स्वभाव में सबसे पहिले और सबसे उच्चतर स्थान दे।

कर्तव्य पालन क्या है और किस नियम पर स्थित है यह बात आगे विस्तार पूर्वक निर्णय की जावेगी। हां यहां इतनी बात अवश्य स्मरण रखनी चाहिये कि कर्तव्य पालन के भावको यथार्थता में समझने से ही मनुष्य यह निर्णय करने के समर्थ हो सकता है कि किस सीमातक आत्मानुराग (self-love) या आत्मरक्षा (self-preservation) धर्म है और कहां जाकर यह अधर्म है। इसलिये कर्तव्य पालन के भावको सबसे पहले समझना चाहिये।

परंतु यह समझने के लिये यह जरूरी है कि हम यह जाने कि कर्म क्या है किस तरह अपना व्यवहार करना है। इसका जीवात्मासे क्या संबंध है इत्यादि। इस विषय के निर्णय करनेके लिये यह छोटा सा पुस्तक रचनेके वास्ते यह सेवकजन लेखनी उठाता है। परंतु साथ ही यह भी अनुभव करना है कि विषय बडा गम्भीर है और अपनी बुद्धि तुच्छ और शक्ति अल्प। परन्तु सेवाभाव जो हृदयमें खरकता है वह बार बार यही कहता है कि मनुष्यमात्रके हितके लिये इस समय इसी सेवाकी सब से बडी आवश्यकता है। इसलिये यह सेवकजन इस काम को करने का साहस करता है। कहांतक यह इसमें कृतकृत्य हुआ है यह पाठक स्वयं ही विचार लेंगे। यदि इस पुस्तक को पढकर एक भी पुरुष के मनमें परिवर्तन आगया। या इस पुस्तककी त्रुटियों और दोषोंको देखकर किसी विद्वान् महात्माके चित्तमें इस विषय पर अधिक प्रकाश डालनेका विचार आगया तो वह लेखक अपने पुरुषार्थ को सफल समझेगा।

मैं यहां उन महानुभावोंका हार्दिक धन्यवाद करना भी अपना धर्म समजता हूं जिनके रचे हुए पुस्तकों से इस ग्रन्थके रचने में सहायता लीगई है। क्यों कि उनकी सहायताके विना ऐसे कठिन विषय में मुझ जैसे साधारण बुद्धि मनुष्यके लिये प्रवेश करना न केवल कठिन ही था अपितु असम्भव था।

महाभारत।

आर्योंके विजयका प्राचीन इतिहास।

इस समय तक छपकर तैयार पर्व।

पर्वका नाम	अंक	कुल अंक	पृष्ठसंख्या	मूल्य	डा. व्यय
१ आदिपर्व	[१ से ११]	११	११२५	६) छः	रु १)
२ सभापर्व	[१२ ,, १५]	४	३५६	२) दो	,, ।-)
३ वनपर्व	[१६ ,, ३०]	१५	१५३८	८) आठ	,, १।)
४ विराटपर्व	[३१ ,, ३३]	३	३०६	१॥) डेढ	,, ।-)
५ उद्योगपर्व	[३४ ,, ४२]	९	९५३	५) पांच	,, १)
६ भीष्मपर्व	[४३ ,, ५०]	८	८००	४) चार	,, ॥।)
७ द्रोणपर्व	[५१ ,, ६४]	१४	१३६४	७॥)साडेसात	१।=)
				कुल मूल्य ३४)	कुलडा.व्य.६)

८ कर्णपर्व छपरहा है। उसके ६ अंक होंगे।

सूचना— ये पर्व छप कर तैयार हैं। अतिशीघ्र मंगवाइये। मूल्य मनी आर्डर द्वारा भेज दीजिये तो आधा डाकव्यय माफ करेंगे; अन्यथा प्रत्येक रु० के मूल्यके ग्रंथको तीन आने डाकव्यय मूल्यके अलावा देना होगा।

मंत्री— स्वाध्याय मंडल, औंध (जि. सातारा)

उन्नति की दिशा।

[२६]

(ऋषिः— अथर्वा । देवता— अग्न्यादयः)

ये३ऽस्यां स्थ प्राच्यां दिशि हेतयो नाम देवास्तेषां वो अग्निरिषवः ।
ते नो मृडत ते नोऽधि ब्रूत तेभ्यो वो नमस्तेभ्यो वः स्वाहा ॥ १ ॥
ये३ऽस्यां स्थ दक्षिणायां दिश्यविष्यवो नाम देवास्तेषां वः काम इषवः ।
ते नो मृडत ते नोऽधि ब्रूत तेभ्यो वो नमस्तेभ्यो वः स्वाहा ॥ २ ॥
ये३ऽस्यां स्थ प्रतीच्यां दिशि वैराजा नाम देवास्तेषां व आप इषवः ।
ते नो मृडत ते नोऽधि ब्रूत तेभ्यो वो नमस्तेभ्यो वः स्वाहा ॥ ३ ॥

अर्थ- (ये अस्यां प्राच्यां दिशि) जो तुम इस पूर्व दिशामें (हेतयः नाम देवाः) वज्र नामवाले देव हो, (तेषां वः) उन तुम्हारा (अग्निः इषवः) अग्नि बाण है। (ते नः मृडत) वे तुम हमें सुखी करो, (ते नः अधिब्रूत) वे तुम हमें उपदेश करो। (तेभ्यः वः नमः) उन तुम्हारे लिये हमारा नमन होवे, (तेभ्यः स्वाहा) उन तुम्हारे लिये हम अपना समर्पण करते हैं ॥ १ ॥

जो तुम इस (दक्षिणायां दिशि) दक्षिण दिशामें (अविष्यवो नाम देवाः) रक्षा करनेकी इच्छा करनेवाले इस नामके जो देव हो (तेषां वः काम इषवः) उन तुम्हारा काम बाण है। वे तुम हमें सुखी करो और हमें उपदेश करो, उन तुम्हारे लिये हमारा नमन होवे और तुम्हारे लिये हम अपना अर्पण करते हैं ॥ २ ॥

जो तुम इस (प्रतीच्यां दिशि) पश्चिम दिशामें (वैराजा नाम देवाः) विराज नामक देव हो, उन तुम्हारा (आपः इषवः) जल ही बाण है। वे तुम हमें सुखी करो और उपदेश करो। तुम्हारे लिये हमारा नमन और समर्पण होवे ॥ ३ ॥

ये३॑स्यां स्थोदी॑च्यां दि॒शि प्र॒विध्य॑न्तो॒ नाम॑ दे॒वास्तेषां॑ वो॒ वात॒ इष॑वः ।
ते नो॑ मृडत॒ ते नो॑ऽधि ब्रूत॒ तेभ्यो॑ वो॒ नम॒स्तेभ्यो॑ वः॒ स्वाहा॑ ॥ ४ ॥
ये३॑स्यां स्थ ध्रु॒वायां॑ दि॒शि नि॑लि॒म्पा नाम॑ दे॒वास्तेषां॑ व॒ ओष॑धी॒रिष॑वः ।
ते नो॑ मृडत॒ ते नो॑ऽधि ब्रूत॒ तेभ्यो॑ वो॒ नम॒स्तेभ्यो॑ वः॒ स्वाहा॑ ॥ ५ ॥
ये३॑स्यां स्थोर्ध्वायां॑ दि॒श्यव॑स्वन्तो॒ नाम॑ दे॒वास्तेषां॑ वो॒ बृह॒स्पति॒रिष॑वः ।
ते नो॑ मृडत॒ ते नो॑ऽधि ब्रूत॒ तेभ्यो॑ वो॒ नम॒स्तेभ्यो॑ वः॒ स्वाहा॑ ॥ ६ ॥

अर्थ— जो तुम इस (उदीच्यां दिशि) उत्तर दिशामें (प्रविध्यन्तः नाम देवाः) वेध करने वाले इस नामके देव हो, उन तुम्हारा (वातः इषवः) वायु बाण है। वे तुम हमें सुखी करो और उपदेश करो। तुम्हारे लिये हमारा नमन और समर्पण होवे ॥ ४ ॥

जो तुम इस (ध्रुवायां दिशि) ध्रुव दिशामें (निलिम्पा नाम देवाः) निलिम्प नामक देव हो, उन तुम्हारा (ओषधीः इषवः) औषधी बाण है। वे तुम हमें सुखी करो और उपदेश करो। उन तुम्हारे लिये हमारा नमन और समर्पण होवे ॥ ५ ॥

जो तुम इस (ऊर्ध्वायां दिशि) ऊर्ध्व दिशामें (अवस्वन्तः नाम देवाः) रक्षक नाम वाले जो देव हो, उन तुम्हारा (बृहस्पतिः इषवः) ज्ञानी बाण है। वे तुम हमें सुखी करो और उपदेश करो। उन तुम्हारे लिये हमारा नमन और समर्पण होवे ॥ ६ ॥

भावार्थ-पूर्व, दक्षिण, पश्चिम, उत्तर, ध्रुवा (पृथिवी) और उर्ध्वा (आकाश) ये छः दिशाएं हैं, इन छः दिशाओंमें क्रमशः (हेति-शस्त्रास्त्र) वज्र; रक्षाकी इच्छा करनेवाले स्वयंसेवक; (वि-राज्) राजरहित अवस्था अर्थात् प्रजासत्ता; वेधकता; लेप करनेवाले वैद्य; और उपदेशक इनकी प्रधानता है। ये जनताको उपदेश करते हैं और उनकी रक्षा करते हैं, इस लिये जनताभी उनका सत्कार करती है और उनके लिये आत्मसमर्पण करती है ॥ १-६ ॥

इसी प्रकारका परंतु कुछ अन्य भाव व्यक्त करनेवाला आगे का सूक्त है और दोनोंका अत्यंत घनिष्ठ संबंध है, इस लिये उसका अर्थ पहले देखेंगे और पश्चात् दोनोंका इकट्ठा विचार करेंगे।

अभ्युदय की दिशा।

[२७]

(ऋषिः— अथर्वा। देवता-अग्न्यादयः)

प्राची दिगग्निरधिपतिरसितो रक्षितादित्या इषवः।
तेभ्यो नमोऽधिपतिभ्यो नमो रक्षितृभ्यो नम इषुभ्यो नम एभ्यो अस्तु।
यो३ऽस्मान्द्वेष्टि यं वयं द्विष्मस्तं वो जम्भे दध्मः॥ १॥

अर्थः- (प्राची दिक्) उदयकी दिशाका (अग्निः अधिपतिः) तेजस्वी स्वामी, (अ—सितः रक्षिता) बंधनरहित रक्षक और (आदित्याः इषवः) प्रकाशरूप शस्त्र हैं॥ (तेभ्यः) उन (अधिपतिभ्यः) तेजस्वी स्वामियोंकोही (नमः) मेरा नमन है। उन (रक्षितृभ्यः नमः) बंधनरहित संरक्षकोंके लियेही हमारा आदर है। उन (इषुभ्यः नमः)प्रकाशके शस्त्रोंके सामनेही हमारी नम्रता रहे।(यः) जो अकेला (अस्मान्) हम सब आस्तिकोंका (द्वेष्टि) द्वेष करता है और (यं) जिस अकेले दुष्टका (वयं) हम सब धार्मिक पुरुष (द्विष्मः) द्वेष करते हैं (तं) उस दुष्टको हम सब (वः) आप सब सज्जनोंके (जंभे) न्यायके जबडेमें (दध्मः) धर देते हैं॥ १॥

भावार्थ—प्राची दिशा अभ्युदय, उदय और उन्नतिकी सूचक है। सूर्य, चंद्र, नक्षत्र आदि सब दिव्य पदार्थोंका उदय और उन्नति इसी दिशासे होती है और उदयके पश्चात् उनको पूर्ण प्रकाशकी अवस्था प्राप्त होती है। इस लिये सचमुच यह प्रगतिकी दिशा है। जिस प्रकार इस उदयकी दिशासे सबका उदय और वर्धन हो रहा है उसीप्रकार हम सब मनुष्योंका अभ्युदय और संवर्धन होना चाहिए। यह पूर्व दिशा हम सब मनुष्योंको उदय प्राप्त करनेकी सूचना दे रही है। इस शिक्षाके अनुसार हम सबको मिलकर अभ्युदयकी तैयारी करनी चाहिए। इस सूचना और शिक्षाका ग्रहण करके मैं अपने और जनताके अभ्युदयके लिये अवश्य यत्न करूंगा। उदयकी दिशाका (अग्निः) अग्रणी, ज्ञानी और वक्ता अधिपति है। उदयका मार्ग ज्ञानी उपदेशकोंके द्वाराही ज्ञात हो सकता है,इसलिये

हम सब लोक ज्ञानी उपदेशकोंके पास जाकर जागृतिके साथ उनका उपदेश ग्रहण करेंगे। अब सोनेका समय नहीं है। उठिए, जागृतिका समय प्रारंभ हुआ है। चलिए, तेजस्वी ज्ञानसे युक्त गुरुके पास जायेंगे और उनसे ज्ञानका प्रकाश प्राप्त करेंगे। इस उदय की दिशाका (अ-सितः) बंधनोंसे दूर रहनेवाला, स्वतंत्रताके विचार धारण करनेवालाही रक्षक है। ज्ञानीके साथ रहकर ज्ञानकी प्राप्ति और स्वातंत्र्यके संरक्षकके साथ रहनेसे स्वातंत्र्यकी प्राप्ति होती है॥ स्वतन्त्रताके विना उन्नति नहीं होगी इसलिये स्वातंत्र्यका संरक्षण करना आवश्यक है। इस संरक्षणके शस्त्रास्त्र (आदित्याः) प्रकाशके किरण हैं। प्रकाशके साथही स्वातंत्र्य रहता है। विशेषतः ज्ञानके प्रकाशसे स्वातंत्र्यका संवर्धन होता है। प्रकाश जिस प्रकार अज्ञानका निवारण करता है ठीक उसीप्रकार ज्ञानका सूर्य अज्ञानके आवरक अंधकारमय प्रतिबंधोंको दूर करता है। अभ्युदय प्राप्त करनेके लिये स्वसंरक्षण होनेकी आवश्यकता है और प्रतिबंधोंको दूर करनेसेही स्वसंरक्षणकी शक्ति अपनेमें बढती है। तेजस्विता, ज्ञान, वक्तृत्व, आत्मसंमान आदि आग्नेय गुणोंके आधिपत्यसेही अभ्युदय होता है, इसीलिये तेजस्वी अधिपतियों, स्वतंत्रताके संरक्षकों और प्रतिबंधनिवारक प्रकाशमय शक्तियोंकाही हम आदर करते हैं। इसके विपरीत गुणोंका हम कभी आदर नहीं करेंगे। जो अकेला दुष्ट मनुष्य सब आस्तिक धार्मिक भद्र पुरुषोंको कष्ट देता है, उनकी प्रगति और उन्नतिमें विघ्न करता है, तथा जिसके दुष्ट होनेमें सब सदाचारी भद्र पुरुषोंकी पूर्ण संमति है, अर्थात् जो सचमुच दुष्ट है, उसको भी दंड देना हम अपने हाथमें नहीं लेना चाहते; परंतु हे तेजस्वी स्वामियो! और स्वतंत्रता देनेवाले संरक्षको! आपके न्यायके जबडेमें हम सब उसको रख देते हैं। जो दंड आपकी पूर्ण संमतिसे योग्य होगा आपही उसको दीजिए। समाजकी शांतिके लिये हरएक मनुष्यको उचित है कि वह सचे अपराधीको भी दंड देनेका अधिकार अपने हाथमें न लेवे, परंतु उस अपराधीको अधिपतियों और संरक्षकोंकी न्यायसभामें अर्पण करे तथा पूर्वोक्त प्रकारके अधिपति और संरक्षकोंका ही सदा आदर करे। अर्थात् हरएक मनुष्य सत्य और न्यायका विजय करनेके लिये सदा तत्पर रहे॥ १॥

दक्षिणा दिगिन्द्रोऽधिपतिस्तिरश्चिराजी रक्षिता पितर इषवः ।
तेभ्यो नमोऽधिपतिभ्यो नमो रक्षितृभ्यो नम इषुभ्यो नम एभ्यो अस्तु ।
यो३ स्मान् द्वेष्टि यं वयं द्विष्मस्तं वो जम्भे दध्मः ॥ २ ॥

अर्थ-(दक्षिणा दिक्) दक्षताकी दिशाका (इंद्रः अधिपतिः) शत्रु निवारक शूर स्वामी, (तिरश्चि-राजी रक्षिता) मर्यादाका अतिक्रमण न करनेवाला संरक्षक और (पितरः इषवः) पितृशक्तियां अर्थात् प्रजननकी शक्तियां शस्त्र हैं। हम सब उन शत्रुनिवारक शूर अधिपतियोंका, अपनी मर्यादाका कभी अतिक्रमण न करनेवाले संरक्षकोंका तथा सुप्रजानिर्माणके लिये समर्थ पितृशक्तियोंका ही आदर करते हैं। जो हम सब आस्तिकोंका विरोध करता है और जिसका हम सब आस्तिक विरोध करते हैं, उसको, हम सब आप स्वामी और संरक्षकोंके न्यायके जबडेमें धर देते हैं ॥ २ ॥

भावार्थ- दक्षिण दिशा दाक्षिण्यका मार्ग बता रही है। दक्षता, चातुर्य कौशल्य, कर्मकी प्रवीणता, शौर्य, धैर्य वीर्य आदि शुभ गुणोंकी सूचक यह दिशा है, इसीलिये सीधा अंग दक्षिणांग कहलाता है, और सीधा मार्ग अथवा दक्षिण मार्ग इसी दक्षिण दिशासे बताया जाता है । अर्थात् दक्षिण दिशासे सीधेपनके मार्गकी सूचना मिलती है। शत्रुका निवारण करने, अपने नियमोंकी मर्यादाका उल्लङ्घन न करने और उत्तम प्रजा निर्माण करनेकी शक्ति धारण करनेवाले क्रमशः इस मार्गके अधिपति, संरक्षक और सहायक हैं। इन्हींका आदर और सन्मान करना योग्य है। अपनी उन्नतिका साधन करनेके लिये (इन्-द्र) शत्रुओंका विदारण करनेकी आवश्यकता होती है। शत्रुका पराजय करनेपरही अपना मार्ग निष्कंटक हो सकता है। शत्रुओंके साथ युद्ध करनेसे अपना बल बढता है और शत्रुदमन करनेके पुरुषार्थसे अपनेमें उत्साह स्थिर रहता है। इस लिये मेरे तथा समाजके शत्रुओंका शमन करनेके उपायका अवलंबन करना मेरेलिये आवश्यक है। समाजकी शांतिके लिये अपनी मर्यादाका उल्लङ्घन न करनेवाले संरक्षकोंकी आवश्यकता है। कोई संरक्षक अपनी मर्यादा उल्लंघन करके अत्याचार न करे। मैंभी कभी अपने नियमोंका और मर्यादाका अतिक्रमण नहीं करूंगा। समाजकी सुस्थितिके लिये उत्तम

प्रतीची दिग् वरुणोऽधिपतिः पृदाकू रक्षितान्नमिषवः ।
तेभ्यो नमोऽधिपतिभ्यो नमो रक्षितृभ्यो नम इषुभ्यो नम एभ्यो अस्तु ।
योऽ३स्मान् द्वेष्टि यं वयं द्विष्मस्तं वो जम्भे दध्मः ॥ ३ ॥

अर्थ- (प्रतीची दिक्) पश्चिम दिशा का (वरुणः अधिपतिः) वर अर्थात श्रेष्ठ अधिपति, (पृत्-आ-कुः रक्षिता) स्पर्धामें उत्साह धारण करनेवाला संरक्षक और (अन्नं इषवः) अन्न इषु हैं। उन श्रेष्ठ अधिपतियोंके लिये, उन उत्साही संरक्षकोंके लिये, तथा उस अभीष्ट अन्नके लिये हमारा आदर है। जो सबके साथ कलह करता है इस लिये सब भद्र पुरुष जिसको नहीं चाहते हैं उसको उक्त अधिपतियों और संरक्षकोंके न्यायके जबडेमें धर देते हैं ॥ ३ ॥

पितृशक्ति अर्थात् सुप्रजा निर्माण करनेकी शक्तिकी अत्यंत आवश्यकता है। सुप्रजानिर्माणसे समाज अमर रह सकता है। इस लिये हरएक पुरुषको अपने अंदर उत्तम पुरुषत्व तथा हरएक स्त्रीको अपने अंदर उत्तम स्त्रीत्व विकसित करना चाहिए। तात्पर्य उक्त प्रकारके शत्रुनिवारक अधिपति, नियमानुकूल व्यवहार करनेवाले संरक्षक और उत्तम पितर जहां होते हैं वहांही दाक्षिण्यका व्यवहार होता है। इसी प्रकारकी व्यवस्था स्थिर करनेका यत्न मैं अवश्य करूंगा। जो सबको हानि पहुंचाता है और जिसको सब समाज बुरा कहता है उसको उक्त अधिकारी, संरक्षक और पितरोंके न्यायालयमें हम सब पहुंचाते हैं। वेही उसके दोषका यथायोग्य विचार करें। हरएक मनुष्यको उचित है, कि वह सीधे मार्गसे चले और समाज की उन्नतिके साथ अपनी उन्नतिका उत्तम प्रकारसे साधन करे ॥ २ ॥

भावार्थ— पश्चिम दिशा विश्रामकी दिशा है; क्योंकि सूर्य, चंद्र, आदि सब दिव्य ज्योतियां इसी पश्चिम दिशामें जाकर गुप्त होती हैं और जगत् को अपना दैनिक कार्य समाप्त करनेके पश्चात् विश्राम लेनेकी सूचना देती हैं। पूर्व दिशाद्वारा प्रवृत्तिरूप पुरुषार्थकी सूचना होगई थी, अब पश्चिम दिशासे गुप्त स्थानमें प्रविष्ट होने, वहां विश्रांति और शांति प्राप्त करने, अर्थात निवृत्तिरूप पुरुषार्थ साध्य करनेकी सूचना मिली है। श्रेष्ठ उत्साही महात्मा पुरुष इस मार्गके क्रमशः अधिपति और संरक्षक हैं । विश्राम

उदींची दिक् सोमोऽधिपतिः स्वजो रक्षिताशनिरिषवः।
तेभ्यो नमोऽधिपतिभ्यो नमो रक्षितृभ्यो नम इषुभ्यो नम एभ्यो अस्तु।
योऽस्मान् द्वेष्टि यं वयं द्विष्मस्तं वो जम्भे दध्मः ॥ ४ ॥

अर्थ— (उदीची दिक्) उत्तर दिशाका (सोमः अधिपतिः) शांत अधिपति, (स्व-जः रक्षिता) स्वयं सिद्ध रक्षक और (अशनिः इषवः) विद्युत्तेज इषु हैं। उन शांत अधिपतियों, स्वयंसिद्ध संरक्षकों और तेजस्वी इषुओंके लिये हमारा नमन है। जो सबका द्वेष करता है और जिसका सब द्वेष करते हैं उसको उक्त अधिपतियों और संरक्षकोंके न्यायके जबडेमें हम धर देते हैं ॥ ४ ॥

और आरामका मुख्य साधन यहां अन्न है। श्रेष्ठ और उत्साही अधिपति और संरक्षकोंके लिये सबको सत्कार करना उचित है। तथा अन्नकी ओर सन्मानकी दृष्टिसे देखना योग्य है। जो सबके मार्गोंमें विघ्न करता है इस लिये जिसको कोई पास करना नहीं चाहते उसको अधिपतियों और संरक्षकोंकी न्यायसभाके आधीन करना योग्य है। समाजके हितके लिये सबको उचित है, कि वे न्यायानुसारही अपना सब बर्ताव करें और किसीको उपद्रव न दें ॥ ३ ॥

भावार्थ—उत्तर दिशा उच्चतर अवस्थाकी सूचना देती है। हरएक मनुष्यको अपनी अवस्था उच्चतर बनाने का प्रयत्न हर समय करना चाहिये। इस उच्चतर मार्गमें शांत स्वभावका आधिपत्य है, आलस्य छोड कर सदा सिद्ध और उद्यत रहने के धर्मसे इस पथपर चलने वालोंका संरक्षण होता है। व्यापक उदार तेजस्वी स्वभावके द्वारा इस मार्गपरकी सब आपत्तियां दूर होती हैं। इस लिये मैं इन गुणोंका धारण करूंगा और समाजके साथ अपनी अवस्था उच्चतर बनानेका पुरुषार्थ अवश्य करूंगा। शांत स्वभाव धारण करनेवाले अधिपति, सदा उद्यत और सिद्ध संरक्षकही सदा सन्मान करने योग्य हैं। साथही सर्वोपयोगी व्यापक तेजस्विताका आदर करना योग्य है। जो सबकी हानि करता है इसलिये जिसका सब सज्जन निरादर करते हैं उसको उक्त अधिपतियों और संरक्षकोंके सन्मुख खडा किया जावे। लोगही स्वयं उसको दंड न

ध्रुवा दिग् विष्णुरधिपतिः कल्माषग्रीवो रक्षिता वीरुध इषवः ।
तेभ्यो नमोऽधिपतिभ्यो नमो रक्षितृभ्यो नम इषुभ्यो नम एभ्यो अस्तु ।
योऽस्मान् द्वेष्टि यं वयं द्विष्मस्तं वो जम्भे दध्मः ॥ ५ ॥

ऊर्ध्वा दिग् बृहस्पतिरधिपतिः श्वित्रो रक्षिता वर्षमिषवः ।
तेभ्यो नमोऽधिपतिभ्यो नमो रक्षितृभ्यो नम इषुभ्यो नम एभ्यो अस्तु ।
यो ऽस्मान्द्वेष्टि यं वयं द्विष्मस्तं वो जम्भे दध्मः ॥ ६ ॥

अर्थ- (ध्रुवा दिक्) स्थिर दिशाका (विष्णुः अधिपतिः) प्रवेशकर्ता अधिपति, (कल्माष-कर्मास-ग्रीवः रक्षिता) कर्म कर्ता संरक्षक और (वीरुधः इषवः) वनस्पतियां इषु हैं । इन सब अधिपतियों और रक्षकोंके लियेही हमारा आदर है । इ० ॥ ५ ॥

(ऊर्ध्वा-दिक्) ऊर्ध्व दिशाका (बृहस्पतिः अधिपतिः) आत्मज्ञानी स्वामी है, (श्वित्रः रक्षिता) पवित्र संरक्षक है और (वर्ष इषवः) अमृत जल इषु हैं । आत्मज्ञानी स्वामियोंका तथा पवित्र संरक्षकोंकाही सबको सन्मान करना योग्य है । शुद्ध अमृत जलकाही सबको आदर करना चाहिए । इ० ॥ ६ ॥

देवें । तथा अधिपति निष्पक्षपातकी दृष्टिसे उसको योग्य न्याय देवें । समाजकी उच्चतर अवस्था बनानेके लिये उक्त प्रकारके स्वभाव धारण करना अत्यंत आवश्यक है ॥ ४ ॥

भावार्थ- ध्रुव दिशा स्थिरता, दृढता, आधार आदि शुभ गुणोंकी सूचक है । चंचलता दूर करने और स्थिरता करनेके लियेही सब धर्मके नियम हैं । उद्यमी और पुरुषार्थी पुरुष यहां अधिपति और संरक्षक हैं । क्योंकि कर्मसेही जगत्की स्थिति है, इसलिये कर्मके विना किसीकी स्थिरता और दृढता हो नहीं सकती । यही कारण है कि इस दृढताके मार्गके उद्यमी और पुरुषार्थी संचालक हैं । यहां औषधि वनस्पतियां दोष निवारणद्वारा सहाय्य करती हैं । जो जो दोषोंको दूर करनेवाले हैं वे सब इस मार्गके सहायक हैं । उद्यमी और पुरुषार्थी अधिपति और संरक्षकोंका सन्मान सबको करना चाहिए । इ० ॥ ५ ॥

भावार्थ— ऊर्ध्व दिशा आत्मिक उच्चताका मार्ग सूचित करती है। सच्चा आत्मज्ञानी आप्त पुरुषही इस मार्गका अधिपति और मार्गदर्शक है। जो अंतर्बाह्य पवित्र होगा वहही यहां संरक्षक हो सकता है। आत्माके अनुभव और पवित्रत्वका यहां स्वामित्व है। आत्मिक उच्चताके मार्गका अवलंबन करनेके समय आत्मज्ञानी आप्त पुरुषके आधिपत्यमें तथा पवित्र सदाचारी सत्पुरुषके संरक्षणमें रहते हुएही इस मार्गका आक्रमण करनेसे इष्ट सिद्धियोंकी वृष्टि होती है। आत्मिक अमृत जलका रसास्वाद लेनेका यही योगमार्ग है। मैं इस मार्गका आक्रमण अवश्यही करूंगा और दूसरोंका मार्गभी यथाशक्ति सुगम करूंगा। मैं सदाही उक्त प्रकारके आत्मज्ञानी और शुद्ध सदाचारी सत्पुरुषोंका सन्मान करूंगा। इ०॥६॥

दिशाओंके वर्णनसे मानवी उन्नतिका तत्त्वज्ञान।

उन्नतिके छः केन्द्र।

इस "सूक्तके" छः मंत्रोंमें मानवी उन्नतिके छः केंद्र छः दिशाओंके द्वारा सूचित किये हैं। (१) प्राची, (२) दक्षिणा, (३) प्रतीची, (४) उदीची, (५) ध्रुवा और (६) ऊर्ध्वा ये छः दिशाएं क्रमशः (१) प्रगति, (२) दक्षता, (३) विश्राम, (४) उच्चता, (५) स्थिरता और (६) आत्मिक उन्नतिके भाव बता रहीं हैं, ऐसा जो उक्त छः मंत्रोंद्वारा सूचित किया है, विशेष विचार करने योग्य है। उपासक इन दिशाओंमें होनेवाली नैसर्गिक घटनाओंको विचारकी दृष्टिसे देखें। इस सृष्टिके विविध घटनाओंके द्वारा सर्वव्यापक परमात्मा प्रत्यक्ष उपदेश दे रहा है, ऐसी भावना मनमें स्थिर करके उपासकोंको सृष्टिकी ओर देखना आवश्यक है। जड भावको छोडकर परमात्माके चैतन्यसे यह सृष्टि ओतप्रोत व्याप्त है, ऐसी भावना मनमें स्थिर करनी चाहिए। क्योंकि "यह पूर्णसृष्टि उस पूर्ण परमेश्वरके द्वाराही उदयको प्राप्त होती है। और उस पूर्ण ईश्वरकी शक्तिही इस सृष्टिद्वारा दिखाई दे रही रही है।" इस प्रकार विचार स्थिर करके यदि उपासक उक्त प्रकार छः दिशाओंद्वारा अपनी उन्नतिके छः केंद्रोंके संबंधमें

उपदेश लेंगे तो व्यक्ति और समाजकी उन्नतिके स्थिर और निश्चित मार्गोंका ज्ञान उनको हो सकता है।

इन केन्द्रोंका ज्ञान उत्तम रीतिसे होनेके लिये पूर्वोक्त वैदिक सूक्तोंमें कथित दिशाओंके ज्ञान के कोष्टक यहां देते हैं और उनका स्पष्टीकरण भी काव्यकी दृष्टिसे संक्षेपसे ही करते हैं—

दिशा कोष्टक ॥ १ ॥ [अथर्व० ३।२७। १—६]

दिशः	अधिपतिः	रक्षिता	इषवः
प्राची	अग्निः	असितः	आदित्याः
दक्षिणा	इन्द्रः	तिरश्चिराजी	पितरः
प्रतीची	वरुणः	पृदाकुः	अन्नम्
उदीची	सोमः	स्वजः	अशनिः
ध्रुवा	विष्णुः	कल्माषग्रीवः	वीरुधः
उर्ध्वा	बृहस्पतिः	श्वित्रः	वर्षम्

इस सूक्तके मंत्रोंको देखनेसे इस कोष्टककी सिद्धि हो सकती है। अब वेदमें अन्य स्थानोंमें आये हुए दिशा विषयक उल्लेखोंका विचार करना है। इस विषयमें निम्न मंत्र देखिए—

येऽस्यां स्थ प्राच्यां दिशि हेतयो नाम देवास्तेषां वो अग्निरिषवः।
ते नो मृडत ते नोऽधिब्रूत तेभ्यो वो नमस्तेभ्यो वः स्वाहा ॥ १ ॥
येऽस्यां स्थ दक्षिणायां दिश्यविष्यवो नाम देवास्तेषां वः काम इषवः।
ते नो० ॥ २ ॥ येऽस्यां स्थ प्रतीच्यां दिशि वैराजा नाम देवास्तेषां
व आप इषवः। ते नो० ॥ ३ ॥ येऽस्यां स्थोदीच्यां दिशि प्रविध्यन्तो
नाम देवास्तेषां वो वात इषवः। ते नो० ॥ ४ ॥ येऽस्यां स्थ ध्रुवायां दिशि
निलिम्पा नाम देवास्तेषां व ओषधीरिषवः। ते नो० ॥ ५ ॥ येऽस्यां स्थो-
र्ध्वायां दिश्यवस्वन्तो नाम देवास्तेषां वो बृहस्पतिरिषवः। ते नो० ॥ ६ ॥

अथर्व. ३ । २६ । १-६

'प्राची आदि दिशाओंमें हेति आदि देव हैं और अग्नि आदि इषु हैं। ये सब (नः) हम सबको (मृडत) सुखी करें, वे हम सबको (अधिब्रूत) उपदेश करें, उन सबको हमारा नमस्कार है, उनके लिये हमारा समर्पण है।' यह इन मंत्रोंका भावार्थ हैं। अब इनका निम्न लिखित कोष्टक बनता है—

दिशा कोष्टक ॥ २ ॥ [अथर्व० ३।२६। १—६]

दिशः	देवाः	इषवः
प्राची	हेतयः	अग्निः
दक्षिणा	अविष्यवः	कामः
प्रतीची	वैराजाः	आपः
उदीची	प्रविध्यन्तः	वातः
ध्रुवा	निलिंपाः	ओषधीः
उर्ध्वा	अवस्वन्तः	बृहस्पतिः

पहिले कोष्टककी इस द्वितीय कोष्टकके साथ तुलना कीजिए। पहिले कोष्टकमें 'प्राची और ऊर्ध्वा' के 'अग्नि और बृहस्पति' अधिपति हैं, वेही यहां 'इषु' बने हैं। 'ध्रुवा' दिशाके इषु पहिले कोष्टकमें 'वीरुधः' हैं और यहां 'ओषधि' हैं। इन दोनों शब्दोंका अर्थ एक ही है। 'प्रतीची' दिशाका इषु दोनों कोष्टकोंमें 'अन्न और आपः' है। खान पानका परस्पर निकट संबंध है। 'दक्षिण' दिशाके इषु दोनों कोष्टकोंमें 'पितरः और कामः' हैं। काम के उपभोगसेही पितृत्व प्राप्त हो सकता है। 'उदीची' दिशाके इषु 'वात और अशनि' हैं। अशनिका अर्थ विद्युत् है और उसका स्थान मध्यस्थान अर्थात् वायुका स्थान माना गया है। इससे पाठकोंको पता लग जायगा, कि केवल 'प्राची और ऊर्ध्वा' दिशाओंके इषु बदले हैं, इतनाही नहीं परन्तु पहिले कोष्टकमें जो अधिपति थे वे ही दूसरेमें इषु बने हैं। अन्य दिशाओंके इषु समान अथवा परस्पर संबंध रखनेवाले हैं। अथर्व वेदके तीसरे कांडके २६ और २७ सूक्तोंके कथनमें इतना भेद है। इस भेदसे स्पष्ट होता है कि इषु, अधिपति आदि शब्द वास्तविक नहीं हैं परंतु आलंकारिक हैं। अब निम्न मंत्र देखिए—

प्राचीमारोह गायत्री त्वावतु रथंतरं साम
त्रिवृत्स्तोमो वसन्त ऋतुर्ब्रह्म द्रविणम् ॥ १० ॥
दक्षिणामारोह त्रिष्टुप्त्वावतु बृहत्साम
पञ्चदश स्तोमो ग्रीष्म ऋतुः क्षत्रं द्रविणम् ॥ ११ ॥
प्रतीचीमारोह जगती त्वावतु वैरूपं साम
सप्तदश स्तोमो वर्षा ऋतुर्विड् द्रविणम् ॥ १२ ॥
उदीचीमारोहानुष्टुप्त्वावतु वैराजं
सामैकविंश स्तोमः शरदृतुः फलं द्रविणम् ॥ १३ ॥

ऊर्ध्वामारोह पंक्तिस्त्वावतु शाक्वररैवते सामनी
त्रिणवत्रयस्त्रिंशौ स्तोमौ हेमन्तशिशिरावृतू
वर्चो द्रविणम् ॥ १४ ॥ यजु. अ. १०

'प्राची आदि दिशाओंमें (ब्रह्म द्रविणं) ज्ञान आदि धन है। इन मंत्रोंका स्पष्टीकरण निम्न कोष्टकसे हो सकता है—

दिशा कोष्टक ॥ ३ ॥ [यजु० १०।१०-१४]

दिशः	रक्षक छंदः	साम	स्तोमः	ऋतुः	द्रविणं धनं
प्राची	गायत्री	रथंतरं	त्रिवृत्	वसन्तः	ब्रह्म
दक्षिणा	त्रिष्टुप्	बृहत्	पंचदशः	ग्रीष्मः	क्षत्रं
प्रतीची	जगती	वैरूपं	सप्तदशः	वर्षा	विट्
उदीची	अनुष्टुप्	वैराजं	एकविंशः	शरद्	फलं
ध्रुवा ऊर्ध्वा	पंक्तिः	शाकररैवतं	त्रिणवत्रयस्त्रिंशौ	हेमन्तःशिशिरः	वर्चः

इस कोष्टकमें दिशाओंके धनोंका पाठक अवश्य अवलोकन करें (१) प्राची दिशाका धन (ब्रह्म) ज्ञान है। (२) दक्षिण दिशाका धन (क्षत्र) शौर्य है। (३) प्रतीची दिशाका धन (विश्) उत्साहसे पुरुषार्थ करनेकी वैश्य शक्ति है। (४) उदीची दिशाका धन फल परिणाम लाभ आदि है। (५) ध्रुवा और ऊर्ध्व दिशाका धन शक्ति, बल आदि है। ज्ञान, शौर्य, पुरुषार्थ प्रयत्न, लाभ और वीर्य तेज ये उक्त दिआओंके धन हैं। उसकी तुलना प्रथम कोष्टकके साथ करनेसे अर्थका बहुत गौरव प्रतीत होगा। पाठकोंने यहां जान लिया होगा कि उक्त गुण विशेष वर्णोंके होनेसे उक्त दिशाओंका संबंध उक्त वर्णोंके साथ भी है। ब्राह्मणोंका ज्ञान, क्षत्रियोंका शौर्य, वैश्योंका पुरुषार्थ, शूद्रोंके हुनरका लाभ और जनताका वीर्यतेज सब राष्ट्रके उद्धारका हेतु है। तथा प्रत्येक व्यक्ति में ज्ञान, शौर्य, पुरुषार्थ, फलप्राप्ति तक प्रयत्न करनेका गुण और वीर्यतेज चाहिए। इस प्रकार व्यक्तिमें और राष्ट्रमें उक्त गुणोंका संबंध है। इस संबंधको स्मरण रखते हुए पाठक निम्न मंत्र देखें—

प्राच्यां दिशि शिरो अजस्य धेहि
दक्षिणायां दिशि दक्षिणं धेहि पार्श्वम् ॥ ७ ॥
प्रतीच्यां दिशि भसदमस्य धेहि
उत्तरस्यां दिश्युत्तरं धेहि पार्श्वम्। ऊर्ध्वायां दिश्यजस्यानूक्यं धेहि
दिशि ध्रुवायां धेहि पाजस्यम्० ॥ ८ ॥ अथर्व. ४। १४।

'प्राची दिशामें (अजस्य) अजन्मा जीवका सिर रखो तथा अन्य दिशाओंमें अन्य अवयव रखो।' इन मंत्रोंमें अवयवोंका दिशाओंके साथ संबंध बताया है। निम्न कोष्टकसे इसका भेद स्पष्ट होगा—

दिशा कोष्टक ॥ ४ ॥ (अथर्व. (४ । १४ । ७-८)

प्राची	शिरः	मस्तक
दक्षिणा	दक्षिणं पार्श्वं	दहनी बगल
प्रतीची	भसदं	गुप्त भाग
उदीची	उत्तरं पार्श्वं	बायीं बगल
ध्रुवा	पाजस्यं	पेट
ऊर्ध्वा	आनूक्यं	पीठकी हड्डी

इस कोष्टकके साथ पूर्वोक्त तीसरे कोष्टककी तुलना कीजिए। ज्ञान, शौर्य, पुरुषार्थ, और फलका संबंध सिर, बाहू, मध्यभाग और निम्न भागके साथ यहां लिखा है। ज्ञान, शौर्य पुरुषार्थका संबंध गुणरूपसे प्रत्येक व्यक्तिमें है और वर्ण रूपसे ब्राह्मण, क्षत्रिय, वैश्योंमें अर्थात् राष्ट्र-पुरुषके अवयवोंमें है। इस प्रकार वर्णोंका संबंध दिशाओंके साथ स्पष्ट है। यह संबंध ध्यानमें धर कर विचार करते हुए आप निम्न मंत्र देखिए—

प्राचीं प्राचीं प्रदिशमारभेथामेतं लोकं श्रद्दधानाः सचन्ते ॥
यद्वां पक्वं परिविष्टमग्नौ तस्य गुप्तये दंपती संश्रयेथाम् ॥ ७ ॥
दक्षिणां दिशमभि नक्षमाणौ पर्यावर्तेथामभि पात्रमेतत ॥
तस्मिन्वां यमः पितृभिः संविदानः पक्वाय शर्म बहुलं नियच्छात्॥८॥
प्रतीचीं दिशामियमिद्वरं यस्यां सोमो अधिपा मृडिता च ॥
तस्यां श्रयेथां सुकृतः सचेथामधा पक्वान् मिथुना संभवाथः ॥ ९ ॥
उत्तरं राष्ट्रं प्रजयोत्तरावद्दिशामुदीचीं कृणवन् नो अग्रम् ।
पांक्तं छंदः पुरुषो बभूव विश्वैर्विश्वांगैः सह संभवेम ॥ १० ॥
ध्रुवेयं विराण्नमो अस्त्वस्यै शिवा पुत्रेभ्य उत मह्यमस्तु ।
सा नो देव्यदिते विश्ववार इर्य इव गोपा अभि रक्ष पक्वम् ॥ ११ ॥

अथर्व. १२ । ३.

(१) (प्राचीं) पूर्व दिशा प्रगतिकी दिशा है, इसमें (आरभेथां) उत्साहके साथ पुरुषार्थका आरंभ कीजिए, (एतं लोकं) इस उन्नतिके लोकमें (श्रद्दधानाः) श्रद्धा धारण करनेवाले ही पहुंचते हैं। जो (वां) आप दोनोंका अग्निमें प्रविष्ट होकर (पक्वं)

पका हुआ अन्न होगा, (तस्य गुप्तये) उसकी रक्षाके लिये (दंपती) स्त्रीपुरुष (संश्रयेथां) प्रयत्न करें ॥ (२) इस दक्षिण दिशामें जब आप (अभि नक्षमाणौ) सब प्रकारसे प्रगति करते हुए इस (पा-त्रं) योग्य अथवा संरक्षक कर्मका (अभि पर्यावर्तेथां) सब प्रकारसे वारंवार अनुष्ठान करेंगे, तब आपकी (पक्वाय) परिपक्वताके लिये (पितृभिः) रक्षकोंके साथ (संविदानः यमः) ज्ञानी नियामक (बहुलं शर्म) बहुत सुख देगा ॥ (३) (प्रतीचीं) पश्चिम दिशा यह सचमुच (वरं) श्रेष्ठ दिशा है, जिसमें (सोमः) विद्वान और शांत अधिपति और (मृडिता) सुख देनेवाला है । इस दिशाका आश्रय कीजिए, सुकृत करके परिपक्वताको (सचेथां) प्राप्त कीजिए । और (मिथुना) स्त्रीपुरुष मिलकर (सं भवाथः) सुसंतान उत्पन्न कीजिए ॥ (४) उत्तर दिशा (प्र- जया) विजयशाली राष्ट्रीय दिशा है, इस लिये हम सबको यह उत्तर दिशा (अग्रं) अग्र भागमें ले जावे । (पांक्तं) पांच वर्णों-राष्ट्रके विभागों-का (छंदः) छंद ही यह पुरुष होता है । इन सब अंगोंके साथ हम सब (सं भवेम) मिलकर रहेंगे ॥ (५) यह ध्रुव दिशा (विराट्) बडी भारी है । इसके लिये नमन हैं । यह मेरे लिये तथा बालबच्चोंके लिये (शिवा) कल्याणकारी होवे । हे (अ-दिते देवि) हे स्वतंत्रता देवि ! (विश्व-वारे) सब आपत्तियोंका निवारण करनेवाली देवी ! तूं (गोपा) हम सबका संरक्षण करती हुई, हमारी परिपक्वताको सुरक्षित रखो ॥

इन मंत्रोंमें दिशाओंकी कई विशेष बातें बताई हैं । इनके सूचक मुख्य शब्दोंका निम्न कोष्टक बनता है ।

दिशा कोष्टक ॥ ५ ॥ (अथर्व १२ । ३ । ७-११)

दिशाः	कर्म	साधन	साधक	क्रिया
प्राची	आरंभः	श्रद्धानः	दंपती	संश्रयेथां
दक्षिणा	पर्यावर्तनं	नक्षमाणः	यमःसंविदानः	नियच्छात्
प्रतीची	आश्रयः	सुकृतः	मिथुनः	संभवाथः
उदीची	प्र-जयः	पांक्तं छंदः	पुरुषः	सह संभवेम
ध्रुवा	वि-राट्	शिवा	विश्ववारा अदितिः	रक्ष

इस कोष्टकसे साधारणरूपमें पता लग जायगा कि दिशाओंके उक्त नाम किस बातके सूचक हैं । और इन सूचक नामोंमें कैसा उत्तम तत्त्वज्ञान भरा है । इन मंत्रोंको देखनेसे निम्न बातोंका पता लगता है --

(१) प्रची दिषा--(प्र+अंच्=आगे बढना, उन्नति करना, अग्रभागमें हो जाना,)

यह मूल अर्थ ' प्रांच् ' धातुका है, जिससे ' प्राची ' शब्द बनता है। ' प्राची दिशा ' का अर्थ बढती अथवा उन्नतिकी दिशा, वृद्धिका मार्ग।

उन्नतिके लिये विविध कर्म प्रारंभ करनेकी अत्यंत आवश्यकता होती है। पुरुषार्थोंका प्रारंभ करनेके विना उन्नतिकी आशा करना व्यर्थ है। उत्साहसे पुरुषार्थ करनेके लिये श्रद्धा चाहिए। श्रद्धाके विना उत्साह प्राप्त नहीं हो सकता। जगत्‌में स्त्रीपुरुष मिलकर ही विविध पुरुषार्थोंका साधन करते हैं। उनके परस्पर मिलकर रहनेसे ही संसारमें सब भोगोंकी परिपक्वता और (गुप्ति) संरक्षण हो सकता है। इस प्रकार प्राची दिशासे बोध मिलता है।

(२) दक्षिण दिशा-' दक्षिण' शब्दका अर्थ दक्ष, ठीक, योग्य, प्रबुद्ध, सीधा, सच्चा है। ' दक्षिण दिशा ' शब्दोंका मूल अर्थ सीधा मार्ग, सच्चा मार्ग ऐसा ही है। पश्चात् इसका अर्थ ' सीधे तरफ् की दिशा ' हो गया है।

उन्नतिके लिये सीधे और सच्चे मार्गसे चलना चाहिए। और (नक्षमाण) गति अथवा हलचल किंवा प्रयत्न करना चाहिए अन्यथा सिद्धि होना असंभव है। एक वार प्रयत्न करनेसे सिद्धि न हुई तो वारंवार पुरुषार्थ करना आवश्यक है, इसी की सूचना '(पर्यावर्तेथां, परि-आ- वर्तेथां) वारंवार प्रयत्न कीजिए ' इन शब्दों द्वारा मंत्रमें दी है। ' यम ' शब्द नियमोंका सूचक, ' पितृ ' शब्द जननशक्ति और संरक्षणका सूचक, तथा ' संविदान ' शब्द ज्ञानका सूचक है। नियम, स्वसंरक्षण और ज्ञानसेही शर्म अर्थात् सुख होता है। यह दक्षिण दिशाके मंत्रसे बोध मिलता है।

(३) प्रतीची दिशा-प्रत्यंच् अंदर आना, अंतर्मुख होना। प्रतीची दिक् शांतिकी दिशा, अंदर मूल स्थानपर आनेकी दिशा, स्वस्थानपर आनेका मार्ग, अंतर्मुख होनेका मार्ग, यह इस शब्दका मूल अर्थ है। ' पूर्व दिशा ' को आगे बढनेका मार्ग कहा है और पश्चिम दिशाको फिर वापस होकर अपने मूल स्थानपर आकर विश्राम लेनेकी दिशा कहा है-

प्रतीची	प्राची
(प्रति-अंच्)	(प्र-अंच्)
प्रति-गति	प्र-गति
प्रति-गमन	प्र-गमन
नि-वृत्ति	प्र-वृत्ति

दिशाओंके नामोंसे जो भाव व्यक्त होते हैं, उनका पता इस कोष्टकसे लग सकता

है। वैदिक शब्दोंका इस प्रकार महत्त्व देखना चाहिए।

निवृत्ति, विश्रांति अथवा स्व-स्थताका स्थान ही श्रेष्ठ (वरं) होता है। शांतिसे भिन्न और श्रेष्ठता क्या होगी? सोम ही शांतताकी देवता है। सूर्यके प्रखरतर प्रचंड किरणोंके तापसे संतप्त मनुष्य चंद्र (सोम) के शीत प्रकाशसे शांत, संतुष्ट और आनंदित होता है। सुकृत अर्थात् धार्मिक पुण्य कर्मोंका मार्ग ही इस शांतिको प्राप्त कर सकता है, इत्यादि भाव इस मंत्रमें ज्ञात होते हैं।

(४) उत्तर दिशा-(उत्-तर) अधिक उच्च तर, अधिक श्रेष्ठ अवस्था प्राप्त करनेका मार्ग ऐसा इसका मूल अर्थ है। मनुष्योंकी उच्च तर अवस्था प्राप्त होनेके लिये राष्ट्रकी भक्ति कारण होती है, क्योंकी—

भद्रमिच्छन्त ऋषयः स्वर्विदस्तपो दीक्षामुपसेदुरग्रे ॥
ततो राष्ट्रं बलमोजश्च जातं तदस्मै देवा उपसंनमन्तु ॥
अथर्व. १९।४१।१.

सब का कल्याण करनेकी इच्छा करनेवाले ज्ञानी ऋषिमुनियोंने तप किया और दक्षतासे व्रत किया। उससे राष्ट्र, बल और ओज उत्पन्न हुआ, इस लिये सब देव उस राष्ट्रीयताके सन्मुख नम्रता धारण करें।' राष्ट्रीयताके साथ लोककल्याणका भाव इस प्रकार वेदने वर्णन किया है। लोककल्याण ही लोगोंकी उच्चतर अवस्था है। राष्ट्रीय भावनाके अंदर (नः अग्रं कृण्वन्) 'हम सबको अग्र भागमें होनेके लिये प्रयत्न' करना आवश्यक है। राष्ट्र (पांक्त) पांच विभागोंमें विभक्त है, ब्राह्मण, क्षत्रिय, वैश्य, शूद्र और निषाद, अथवा ज्ञानी, शूर, व्योपारी, कारीगर और साधारण जन मिल कर राष्ट्रके पांच अवयव होते हैं, इन पांच प्रकारके जनोंका कल्याण करनेकी (छंद) प्रबल इच्छा जिसमें होती है वही सच्चा 'पुरुष' कहा जा सकता है। पुरुष उसको कहते हैं कि जो (पुरि) नगरीमें (वसति) निवास करता है। नागरिक जन जो 'लोककल्याण' करता है, वही सचा पुरुष है। सब अंगोंसे उसकी पूर्णता होती है और उन्नतिके लिये (सं भवेम) सब मिल कर एकत्रित होनेकी आवश्यकता है। यह बोध उत्तर दिशाके मंत्रके शब्दोंसे टपकता है।

(५) ध्रुवा दिक्-स्थिरता का धर्म यहां बताना है। मनुष्यके व्यवहारोंमें चंचलता ठीक नहीं है। स्थिरता, दृढता, निश्चितता, उन्नतिकी साधक है। सबका (शिवा) कल्याण इस गुणसे होता है। स्थिरताका मार्ग योग मार्ग है,जिसमें चंचलताको दूर करके स्थिरताकी प्राप्ति की जाती है। इससे सबका हित होता है। यही (अ-दिति) अविनाशकी देवता अथवा स्वतंत्रताकी देवता है। स्थिरताके विना स्वतंत्रता की प्राप्ति नहीं हो

सकती। (गो-पा) इंद्रियोंका संरक्षण अर्थात् संयम इस मार्गमें अत्यंत आवश्यक है । इस प्रकार ध्रुव दिशाके मंत्रोंसे बोध प्राप्त होता है ।

मंत्रोंकी शब्दयोजना कितनी अर्थ पूर्ण है, इसका विचार पाठक यहां कर सकते हैं । अस्तु । दिशा विषयक उल्लेख ऋग्वेदमें नहीं है । इस लिये अब इस सब विवरणका एकीकरण करना चाहिए । उसके पूर्व निम्न मंत्र देखिए ।

प्राच्यै त्वा दिशेऽग्नयेऽधिपतयेऽसिताय रक्षित्र आदित्यायेषुमते ।
एतं परिदद्मस्तं नो गोपायतामस्माकमैतोः । दिष्टं नो अत्र जरसे नि
नेषज्जरा मृत्यवे परि णो ददात्वथ पक्वेन सह सं भवेम ॥ ५५ ॥ दक्षि
णायै त्वा दिश इन्द्रायाधिपतये तिरश्चिराजये रक्षित्रे यमायेषुमते ॥
एतं० ॥ ५६ ॥ प्रतीच्यै त्वा दिशे वरुणायाधिपतये पृदाकवे रक्षित्रेऽ
न्नायेषुमते । एतं० ॥ ५७ ॥ उदीच्यै त्वा दिशे सोमायाधिपतये स्वजाय
रक्षित्रेऽशन्या इषुमत्यै ॥ एतं० ॥ ५८ ॥ ध्रुवायै त्वा दिशे विष्णवेऽ
धिपतये कल्माषग्रीवाय रक्षित्र ओषधीभ्य इषुमतीभ्यः ॥ एतं० ॥ ५९ ॥
ऊर्ध्वायै त्वा दिशे बृहस्पतयेऽधिपतये श्वित्राय रक्षित्रे वर्षायेषुमते ॥
एतं० ॥ ६० ॥ अथर्व. १२ । ३.

" प्राची दिशा, अग्नि अधिपति, असित रक्षित और इषुमान् आदित्यके लिये (एतं) यह दान (परि दद्मः) देते हैं । अस्माकं (आ-एतोः) हमारे दुष्ट भावोंसे हम सबका (नः गोपायतां) संरक्षण करें । (अत्र) यहां (नः) हम सब को (दिष्टं) अच्छी धर्मकी प्रेरणा (जरसे) वृद्ध अवस्था तक (नि नेषत्) ले जावे । (जरा) वृद्ध अवस्था मृत्युको (नः मृत्यवे परि ददातु) हम सबको मृत्युके प्रति देवे । (अथ) और (पक्वेन) परिपक्वताके साथ (सं भवेम) संभूति अर्थात् उन्नतिको प्राप्त हो जावें । यह प्रथम मंत्रका अर्थ है। शेष मन्त्रोंका भाव ऐसाही सुगम है ।

इन मंत्रोंमें (१) दान, (२) स्वसंरक्षण, (३) दुष्टभावका दूर करना, (४) धर्मकी प्रेरणाके साथ पूर्ण वृद्ध अवस्थाका अनुभव लेनेके पश्चात् अर्थात् दीर्घ आयुकी समाप्तिके पश्चात् मरनेकी कल्पना, और (५) परिपक्व (बुद्धिके सज्जनों) के साथ अर्थात् सत्संगमें रहनेका उपदेश है ।

प्रारंभसे यहां तक दिशा विषयक जो कोष्टक और मंत्र दिये हैं उन सबका एकीकरण पूर्वक विचार करनेसे इन मंत्रोंका अधिक बोध होना संभव है ।

प्राची दिगग्निरधिपतिरसितो रक्षिताऽऽदित्या इषवः ॥

तेभ्यो नमोऽधिपतिभ्यो नमो रक्षितृभ्यो नम इषुभ्यो नम एभ्यो अस्तु ॥
योऽस्मान् द्वेष्टि यं वयं द्विष्मस्तं वो जम्भे दध्मः ॥ अथर्व० ३। २७। १

इस मंत्रका अब विचार करना है। इसका विचार होनेसे अन्य सब मंत्रोंका विचार हो सकता है। पूर्व स्थलमें, जहां दिशाओंका द्वितीय कोष्टक दिया है, वहां बताया है कि अधिपति, इषु, रक्षिता आदि शब्द आलंकारिक हैं, इस लिये इनका अर्थ काव्य कल्पनाके अनुसार लेना चाहिए।

(१) अधिपति, रक्षिता, इषवः आदि शब्द आलंकारिक हैं क्यों कि वर्षा, वीरुधः आदिकोंको भी बाण कहा है। वस्तुतः ये बाण नहीं हैं। इस कारण कविकी आलंकारिक दृष्टिसे इनका अर्थ लेना उचित है।

(२) मंत्रके प्रथम पादमें अधिपति, रक्षिता ये शब्द एक वचनमें हैं, परंतु द्वितीय चरणमें इन ही शब्दोंका बहुवचन लिखा है। एक वचनका शब्द परमेश्वर पर माना जा सकता है परंतु 'अधिपतिभ्यः, रक्षितृभ्यः' शब्द बहुवचन होनेके कारण परमेश्वर पर नहीं माने जा सकते। आदरार्थक बहुवचन माननेके पक्षमें पूर्वचरणमें एक वचन आया है उसकी निरर्थकता होती है। वेदमें किसी स्थान पर एक मंत्रमें परमेश्वर वाचक शब्दोंका एक वचन और बहुवचन आया नहीं है। इस लिये यहां इन शब्दोंके अर्थ केवल परमेश्वर पर होनेमें शंका है।

(३) प्रत्येक दिशाका अधिपति रक्षिता और इषु भिन्न हैं। यदि ये परमेश्वर पर शब्द हैं तो भिन्नताका कोई तात्पर्य नहीं निकल सकता।

(४) तृतीय चरणमें ' जो हम सबका द्वेष करता है और जिसका हम सब द्वेष करते हैं उसको (वः जम्भे) आप सबके एक जबडेमें हम सब धर देते हैं। ' इस आशयके शब्द आगये हैं। यह मंत्रका भाग केवल सामाजिक स्वरूप पर कहा है ऐसा स्पष्ट प्रतीत होता है। दुष्टको दण्ड देनेका इसमें विषय है और दण्ड देनेवाला अकेला नहीं है, परंतु (वः) अनेक हैं। (वः जम्भे) 'आप अनेकोंके एक जबडेमें हम सब मिलकर उस दुष्टको देते हैं ' आप जो चाहें उसको दंड दीजिए। दंड देनेका अधिकार हम अपने हाथोंमें नहीं लेते, आप सबकोही दंड देनेका अधिकार है। यह आशय उक्त मंत्र भागमें स्पष्ट है। इसमें न्याय व्यवस्थाकी बातें स्पष्टतासे लिखीं हैं—

(अ) अनेक सज्जनोंको मिलकर न्याय करना चाहिए।

(आ) किसीको उचित नहीं कि वह स्वयंही दुष्टको मनमाना दंड देवे। वह अधिकार न्यायसभाका ही है।

(इ) बहुपक्षसे द्वेष नहीं करना चाहिये। द्वेष करना बुरा है। स्वसंमति प्रगट करना द्वेष नहीं है।

(ई) बहुपक्षको भी उचित नहीं कि वे अपनी संमतिसे किसीको दंड देवें। बहुपक्ष और अल्प पक्षके मतभेद होने पर न्यायसभा द्वारा योग्यायोग्यका निश्चय करना चाहिए। और न्यायसभाका निश्चय सबको मानना चाहिए।

इत्यादि बातें उक्त मंत्रभागसे स्पष्ट सिद्ध होती हैं। यहां परमेश्वरके जबडेमें देनेकी कल्पना नहीं प्रतीत होती। अब यहां 'जंभ' शब्दका अर्थ देखना उचित है—

'जंभ' शब्दका अर्थ दांत, हाथीका दांत, मुख, जबडा, वज्र, दंड होता है। मंत्रमें 'वः जंभे' अर्थात् 'अनेकोंका एक जबडा' कहा है; प्रत्येक प्राणीके लिये एक जबडा हुआ करता है। परंतु यहां अनेक मनुष्योंका मिलकर एक जबडा कहा है। वास्तविक रीतिसे अनेक मनुष्योंका एक जबडा नहीं हो सकता, परंतु यहां कहा है, इस लिये यह जबडा वास्तविक नहीं है, केवल काल्पनिक है। निम्न कोष्टकसे व्यक्तिगत और सामाजिक जबडेकी कल्पना आ सकती है—

व्यक्तिका जबडा	समाजका जबडा
जंभ	न्यायालय
मुख	मुख्य
ज्ञानेंद्रिय-पंचक	ज्ञानीजन-पंच
दांत-द्विज	त्रैवर्णिक-द्विज
दंतपंक्ति	द्विज-सभा
चर्वण, चर्वितचर्वण	विषय-चर्चा
अन्न-चर्वण	प्रमाण-विचार

सिंह व्याघ्र आदि हिंस्र पशु अपने शत्रुको अपने जबडेमें रखकर खाते हैं। शत्रुको अपने जबडेमें रखनेकी कल्पना नीच प्राणियोंमें है। क्रोधी मनुष्य पागल बनकर अपने शत्रुको काटने दौडता है। परंतु विचारी मनुष्य इस पशुवृत्तिको दबाकर अपने आपको समाजका एक अवयव समझकर, अपने शत्रुको भी समाजका एक अवयव मानता है; इस कारण वह शत्रुको दंड देनेके लिये स्वयं प्रवृत्त न होता हुआ, न्यायसभाकी शरण लेता है, क्यों कि वही 'समाजका जबडा' है। इस न्यायालयमें द्विजोंकी सभा लगती है और वह अनुकूल प्रतिकूल बातोंका मनन वारंवार करके दुष्टको दंड देती है और सज्जनको स्वातंत्र्य अर्पण करती है। इस समाजके जबडेका-अर्थात् न्यायसभाका-भाव 'जंभ' शब्दसे

लेना यहां उचित है । यही अनेक मनुष्योंका मिलकर एक जबडा होसकता है ।

तं वो जंभे दध्मः ।

(तं) उस दुष्टको हम सब (वः) आप अनेकोंके (जंभे) एक जबडेमें–अर्थात् न्यायसभामें– (दध्मः) धारण करते हैं । अर्थात् आपके आधीन करते हैं । न्यायसभाकी शिरोधार्यता यहां बताई गई है ।

यहांका 'वः' शब्द पूर्वोक्त 'अधिपतिभ्यः, रक्षितृभ्यः' इन शब्दोंको सूचित करता है । समाजके अथवा राष्ट्रके अधिपति और रक्षक 'वः' शब्दसे जाने जाते हैं । सबका द्वेष करनेवाले दुष्टको इन पंचोंके आधीन करना चाहिए, यह मंत्रका स्पष्ट आशय है । इसीलिये 'अधिपति' आदि शब्दोंका बहुवचन मंत्रमें आगया है और इसी कारण वह बहुवचन योग्य और अर्थके अनुकूल है ।

शत्रुको पंचोंके आधीन करनेके भावसे शत्रुको स्वयं दंड देनेकी और न्यायको अपने हाथमें लेनेके घमंडकी वृत्ति कम होती है, और पंचोंकी ओरसे न्याय प्राप्त करनेकी सात्विक प्रवृत्ति बढती है । इस प्रकारकी प्रवृत्ति समाजके हितके लिये आवश्यक है ।

इस उपदेशसे अपने आपको समाजका अवयव समझनेका सात्त्विक भाव बढाया जाता है । मैं जनताका एक अंश हूं, जनताका और मेरा अटूट संबंध है, यह भावना अत्यंत श्रेष्ठ है, और इस उच्च भावनाका बीज कितनी उत्तमतासे अंतःकरणमें रखा गया है । यह वैदिक धर्मका ही महत्त्व है ।

' तेभ्यो नमो० ' आदि दो पाद प्रत्येक मंत्रमें हैं । ये दो पाद छे मंत्रोंमें बार बार कहे हैं । बार बार मंत्रोंका जो अनुवाद किया जाता है उसको ' अभ्यास ' कहते हैं । विशेष महत्वपूर्ण मंत्रोंका ही इस प्रकार वारंवार अनुवाद वेदमें किया गया है । इससे सिद्ध है, कि इन मंत्रोंका भाव मुख्य है, और इनके अनुकूल शेष मंत्रभागका अर्थ करना चाहिए । अर्थात् इस सूक्तका अर्थ सार्वजनिक है ।

(१)

(१ प्राची दिक्) प्रगतिकी दिशा,(२ अग्निः अधिपतिः) तेजस्वी स्वामी,(३ असितः रक्षिता) स्वतंत्र संरक्षक और (४ आदित्याः इषवः) स्वतंत्रता पूर्ण वक्तृत्व ये चार बातें हैं ।

प्रत्येक दिशा विशेष मार्गकी सूचक समझी जाती है और उस विशेष मार्गके साधक तीन गुण हैं । प्रत्येक दिशाके साथ ये गुण निश्चित हैं । इस पूर्व दिशाके अनुसंधानसे प्रगतिके मार्गका उपदेश किया है । तेजस्विता स्वतंत्रता और वक्तृत्व ये तीन गुण

उन्नतिके साधक हैं। अर्थापत्तिसे स्पष्ट सिद्ध होता है कि निस्तेज निर्वीर्य राजा, पराधीन रक्षक और अस्वतंत्र वक्ता किसी प्रकार भी उन्नतिका साधन नहीं कर सकते। इसी प्रकार अन्य दिशाओंका विचार करके बोध जानना उचित है।

(१) प्रगतिका निश्चित मार्ग, (२) तेजस्वी स्वामी, (३) स्वाधीनता का धारण करनेवाला रक्षक, और (४) स्वतंत्रतापूर्ण वक्तृत्व, ये चार बातें मानवी उन्नतिके लिये आवश्यक हैं। इसी प्रकारके स्वामी, संरक्षक, और वक्ताओंका सत्कार होना उचित है। जो हमारा द्वेष करता है और जिसका हम द्वेष करते हैं उसको आप अधिपतियोंकी सभाके आधीन हम सब करते हैं। यह मंत्रका सीधा आशय है। मनुष्यकी भलाईके उपदेश यहां हैं। इस प्रकार अर्थका मनन करना उचित है। अब मुख्य शब्दोंके मूल अर्थोंका मनन करते हैं—

(१) 'अग्नि' शब्द वैदिक वाङ्मयमें ब्राह्मण और वक्तृत्वका प्रतिनिधि है। दिशा कोष्टक सं० ३ देखिए, उसमें प्राची दिशाका 'ब्रह्म' अर्थात् ज्ञान ही धन कहा है।

(२) 'अ-सित' शब्दका अर्थ बंधन रहित, स्वतंत्र, स्वाधीन ऐसा है। 'सि-बंधने' इस धातुसे 'सित' शब्द बनता है, जिसका अर्थ 'पर-स्वाधीन' है। 'अ-सित' अबद्ध, स्वतंत्र।

(३) 'आदित्य' शब्द 'अ-खंडनीय' अर्थमें प्रयुक्त होता है। 'दो-अवखंडने' धातुसे 'दिति' शब्द बनता है जिसका अर्थ 'खंडित' है। 'अ-दिति' का अर्थ 'अ-खंडित' है। अदितिका भाव आदित्य है। अखंडनीय, अमर्याद, बंधन रहित, स्वतंत्रताके भाव, जहां अज्ञानका बंधन नहीं है।

(४) 'इषु'-'इष्-गतौ' धातुसे यह शब्द बनता है। इस लिये 'गति, हल-चल' यह भाव इस शब्दमें मुख्य है। पश्चात् इसके अर्थ हलचलका यत्न करना, वक्तृत्व करना, घोषणा देना, उन्नति करना; ये हो गये। इस धात्वर्थका भाव 'इषवः' शब्दमें है। अस्तु इस प्रकार प्रथम मंत्रका आशय है। अब द्वितीय मंत्र देखिए—

(२)

(१ दक्षिणा दिक्) दक्षताकी दिशा (२ इन्द्रः अधिपतिः) शत्रुनिवारक स्वामी (४ तिरश्चिराजी रक्षिता) पंक्तिमें चलनेवाला संरक्षक और (४ पितरः इषवः) वीर्यवान् हलचल करनेवाले, ये चार बातें उन्नतिकी साधक हैं। इसी प्रकारके स्वामी रक्षक और पालकोंका सत्कार हो। जो आस्तिकोंसे द्वेष करता है और जिसका आस्तिक द्वेष करते हैं उसको हम सब आप अधिपतियोंकी सभाके आधीन करते हैं।

(५) 'इन्द्र' — (इन् शत्रून् द्रावयिता ॥ १०।८) शत्रुका निवारण करनेवाला विजयी।

(६) 'तिरश्चिराजी'-(तिरः) बीचमेंसे, (अंच्-)जाना, (राजी-) लकीर, मर्यादा। अपनी मर्यादाका उल्लंघन न करनेवाला।

(७) 'पिता' (पातीति पिता)- संरक्षक पिता है। वीर्य धारण करके उत्तम सन्तान उत्पन्न करनेवाला वीर्यवान् पुरुष पिता होता है।

(३)

यह भाव द्वितीय मन्त्रका है। अब तीसरा मंत्र देखिये – (१ प्रतीची दिग्) अंत मुख होनेकी दिशा (२ वरुणः आधिपतिः) सर्व सम्मत स्वामी (३ पृदाकुः रक्षिता) स्पर्धामें उत्साही रक्षक और (४ अन्नं इषवः) अन्नकी वृद्धि ये चार बातें अभ्युदयकी साधक हैं।

(४)

(१ उदीची दिग्) उत्तर दिशा, उच्च तर होनेकी दिशा, (२ सोमः अधिपतिः) शांत स्वामी (३ स्व-जः रक्षिता) स्वयं सिद्ध संरक्षक और (४ अशनिः इषवः) तेजस्वी प्रगति ये चार बातें उन्नति की हैं।

(५)

(१ ध्रुवा दिक्) स्थिर दिशा (२ विष्णुः अधिपतिः) कार्यक्षम स्वामी (३ कल्माषग्री-वः रक्षिता) कर्मकर्ता संरक्षक और (४ वीरुधः इषवः) औषधियोंकी वृद्धि ये चार बातें उत्कर्षके लिये हैं।

(६)

१ (ऊर्ध्वा दिक्) उच्च दिशा (२ बृहस्पतिः अधिपतिः) ज्ञानी स्वामी (३ श्वित्रः रक्षि-ता) शुद्ध संरक्षक (४ वर्ष इषवः) वृष्टिकी गति ये चार बातें उन्नति करनेवाली हैं।

अब इन शब्दार्थोंका मनन करेंगे। शब्दोंके मूल धात्वर्थ नीचे दिये हैं—

(१) 'वरुणः'—वर-वृ-वरणे। पसंद करना। जो पसंद किया जाता है वह वरुण होता है। सर्व संमत सर्व श्रेष्ठ।

(२) 'पृदाकुः'— (पृत्-आ-कुः) – पृत का अर्थ युद्ध, संग्राम, स्पर्धा, स्पर्धाके समय उत्साहके शब्द बोलने वाला 'पृदाकु' होता है। कु=शब्द।

(३) 'सोमः'—शांतिका सूचक चंद्र अथवा सोम है। इसका दूसरा अर्थ 'स+उमा' अर्थात् विद्याके साथ रहनेवाला अर्थात् ज्ञानी है। 'सु-प्रसवऐश्वर्ययोः' इस धातुसे 'सोम'

शब्द बनता है जिसका अर्थ 'उत्पादक, प्रेरक और ऐश्वर्यवान्' ऐसा होता है।

(४) 'स्वजः' (स्व+जः) अपनी शक्तिसे रहनेवाला, जिसे दूसरेकी शक्तिका अवलंबन करनेकी आवश्यकता नहीं है। स्वावलंबन-शील। स्वयं जिसका यश चारों ओर फैलता है।

(५) 'अशनिः'—यह विद्युत्का नाम है। तेजस्विताका बोध इस शब्दसे होता है। 'अश्' धातुका अर्थ 'व्यापना' है। व्यापक शक्तिका नाम अशनि है।

(६) 'विष्णुः' सर्व 'व्यापक' कर्ता उद्यमी।

(७) 'कल्माष-ग्रीवः'—'कल्मन्' का अर्थ 'कर्मन्' अर्थात् कर्म, कार्य, उद्योग है। 'कल्माष'=(कल्म-स)=कर्मके द्वारा अनिष्ट बुराईका नाश करनेवाला। (कर्मणा अनिष्टं स्यति इति कर्माषः। कर्माष एव कल्माषः।)' पुरुषार्थसे दुष्टताको दूर करके सुष्टुताको पास करनेवाला और इस प्रकारके पुरुषार्थके भाव गलेमें सदा धारण करलेवाला 'कल्माष-ग्रीव' किंवा 'कर्मा-स-ग्रीव' कहलाता है।

(८) 'बृहस्पतिः'—महान् ज्ञानका स्वामी, ज्ञानी। स्तुति अथवा भक्तिका अधिष्ठान।

(९) 'श्वित्रः'—शुद्ध, पवित्र, श्वेत।

अस्तु, इस प्रकार मुख्य शब्दोंके अर्थ हैं। पाठक इनका अधिक विचार करके लाभ उठावें।

पूर्व, दक्षिण, पश्चिम, उत्तर, ध्रुव और ऊर्ध्व ये छः दिशायें क्रमशः प्रगति, चातुर्य, शांति, उन्नति, स्थैर्य और श्रेष्ठता इन छः गुणोंकी सूचक हैं। इन छः गुणोंका साधक 'गुण-चतुष्टय' पूर्वोक्त मंत्रोंमें वर्णन किया है। (१) दिशा, (२) अधिपति (३) रक्षक और (४) इषु ये चार शब्द विशेष संकेत के हैं, और इन शब्दोंमें यहां असाधारण विशेष गूढ अर्थ है, इस बातका प्रकाश पाठकोंके मनमें पूर्ण रीतिसे पडा ही होगा। वारंवार मनन करके इनके गूढ तत्त्वका ज्ञान प्राप्त करना हम सबका कर्तव्य है।

इन मंत्रोंमें 'इषु' शब्द विलक्षण अर्थके साथ प्रयुक्त हुआ है। इसका किसी अन्य-भाषामें भाषांतर करना अत्यंत कठिन कार्य है। किसी एक प्रतिशब्दसे इसका भाव प्रकट होता ही नहीं। इसलिये इन मंत्रोंको विशेष विचारसे सोचना चाहिए।

उत्तम अधिपति और श्रेष्ठ संरक्षकोंका सन्मान होनेसे जनसमाजकी स्थिति ठीक रहती है, और राज्यशासन ठीक चल सकता है। अधिपति मुख्य होते हैं और संरक्षक उनके आधीन रहकर कार्य करनेवाले होते हैं। अधिपति और संरक्षकोंके विषयमें जनतामें निरादर नहीं होना चाहिए। अधिपति और संरक्षकोंके गुण, जो इन मंत्रोंमें वर्णन किये गए हैं, जहां होंगे वहां सब जनताका पूज्यभाव अवश्य रहेगा। दुष्टको दंड

देनेका अधिकार इनहीको है। किसी मनुष्यको उचित नहीं कि वह अपने हाथमें न्याय करनेका अधिकार स्वयंही लेकर किसीको दंड देवे। इससे अशांति और अराजकता होती है। इसलिये प्रत्येक मंत्रमें कहा है कि 'हम श्रेष्ठ और योग्य अधिपतियोंका आदर करते हैं और दुष्टका शासन होनेके लिये उसको उनहींके स्वाधीन करते हैं।' सब लोगोंपर इस भावके संस्कार होनेकी बडी भारी आवश्यकता है।

मनसे सार्वजनिक अवस्थाका निरीक्षण करना और मानवी हितसाधन करनेका विचार करना, इन मंत्रोंका मुख्य उद्देश्य है। इन मंत्रोंमें जनताकी उन्नतिके विचारकी सूचना मिली है। वैदिक धर्ममें व्यक्ति और समाजका मिलकर सुधार लिखा है। केवल व्यक्तिका सुधार नहीं होगा, और केवल समाजका भी नहीं होगा। दोनोंका मिलकर होगा। व्यष्टि समष्टिकी मिलकर उन्नति होती है। प्रत्येक मंत्रकी प्रथम पंक्तिमें सामान्य सिद्धांत कहे हैं और शेष मंत्रमें उन सिद्धांतोंको जनतामें घटाकर बताया है। इस दृष्टिसे पाठक इन मंत्रोंका अधिक विचार करें।

दिशाओंका तत्त्वज्ञान।

वैदिक दृष्टि।

वैदिक तत्त्वज्ञान इतना विस्तृत, व्यापक और सर्वगामी है, कि उसका उपदेश न केवल वेदके प्रत्येक सूक्त द्वारा हो रहा है, परंतु वेदके सूक्त पाठकोंमें वह दिव्य दृष्टि उत्पन्न कर रहे हैं, कि जिस दृष्टिसे जगत्के पदार्थमात्रकी ओर विशेष भावनासे देखनेका गुण वैदिक धर्मियोंके अन्दर उत्पन्न हो सकता है। विशेष प्रकारका दृष्टिकोन उत्पन्न करना वेदको अभीष्ट है। यदि पाठकोंमें यह दृष्टिकोन न उत्पन्न हुआ, तो वैदिक मंत्रोंका अर्थ समझना ही अशक्य है। वेद मंत्रोंकी रचना, तथा उनको समझनेकी रीति, वैदिक उपदेशकी पद्धति तथा वैदिक दृष्टि, इतनी विलक्षण और आजकलकी अवस्थासे भिन्न है कि, वह दृष्टि अपनेमें उत्पन्न करना ही एक बडे प्रयासका कार्य, आजकलकी सभ्यताके कारण हो गया है। आजकलकी जड सभ्यताकी रीति अवलंबन करनेके कारण वह परिशुद्ध मानसिक अवस्था और वह दिव्य दृष्टि हमारेमें नहीं रही, कि जो प्राचीन आर्योंमें वैदिक धर्मके कारण थी।

किसी काव्यकी भाषा नीरस और शुष्क हृदयमें कोई प्रभाव उत्पन्न नहीं कर सकती। काव्यका रस जाननेके लिये पाठकोंका तथा श्रोताओंका हृदय विशेष संस्कृतिसे संपन्न

ही चाहिए । कविकी दृष्टिसे ही काव्यका रस ग्रहण करना चाहिए, अन्यथा कविकी दृष्टि के विना कोई काव्य पाठकोंके हृदयपर प्रेमका भाव उत्पन्न कर ही नहीं सकता । उच्च कविता जंगली मनुष्योंके हृदयोंपर कोई इष्ट परिणाम नहीं कर सकती, इसका यही हेतु है । वीणाकी एक तार बजानेसे उसके स्वरके साथ मिली हुई दूसरी तार आप ही आप आवाज देती रहती है, परंतु जो तार उसके स्वरके साथ मिली नहीं होती, वह नहीं बजती । यही नियम काव्यके आस्वाद लेनेके विषयमेंभी है । जो हृदय कवीके हृदयके समान उच्च होते हैं वेही उस काव्यसे हिल जाते हैं, परंतु जो हृदय भिन्न प्रकार की अवस्थामें होते हैं, वे नहीं हिल सकते । वेद ' देवका काव्य ' होनेसे उसको समझने और उसका वास्तविक आनंद लेनेके लिये भी विशेष उच्च कोटीके हृदय चाहिए ।

यहां प्रश्न उत्पन्न हो सकता है, कि यदि ऐसा है तो सामान्य मनुष्यके लिये वेद निकम्मा सिद्ध होगा ! परंतु वास्तविक बात वैसी नहीं है ! परमेश्वरकी सृष्टि जैसी सब मनुष्योंके लिये है, उसी प्रकार ईश्वरके वेद भी सब मनुष्योंके लिये ही हैं । परंतु अपनी योग्यता और अवस्थानुसार हरएक मनुष्य वेदसे लाभ उठा सकता है ।

जिस प्रकार साधारण मनुष्य जलसे तृषा शांत करने और अग्निसे शीत निवारण करनेका काम लेकर इन पदार्थोंका उपयोग करता है, और समझता है, कि सृष्टिका मैंने उपभोग लिया; तद्वत् साधारण मनुष्य वेदका स्थूल अर्थ लेता है और समझता है कि मैंने वेदका अर्थ जान लिया । जैसा- " अग्निं ईडे " का अर्थ " मैं आगकी प्रशंसा करता हूं " इतना ही समझना है ।

जिस प्रकार उच्च कोटीके वैज्ञानिक यंत्रकलानिपुण महाजन उसी जल और अग्निको यंत्रोंमें रखकर उनके योगसे बडे बडे यंत्र चला लेते हैं, और समझते हैं कि हमने सृष्टिका उपभोग लिया; तद्वत् ही बडे योगी और आत्मज्ञानी पुरुष उसी वेद मंत्रका काव्य दृष्टिसे अवलोकन करके परमात्म तत्त्वके सिद्धान्तोंको जानते हैं । जैसा—" अग्निं ईडे "। का अर्थ ये लोग समझते हैं कि " मैं उस तेजस्वी आत्माकी प्रशंसा करता हूं । "

जैसा सृष्टिका उपभोग दोनों ले रहे हैं, वैसा ही वेदका अर्थ दोनों समझ रहे हैं । परंतु एककी साधारण दृष्टि अथवा जड दृष्टि है और दूसरेकी असाधारण अथवा काव्यदृष्टि है । वेद दिव्य काव्य होनेसे इस प्रकारकी असाधारण काव्य दृष्टिसे ही उसका आशय देखना उचित है । यद्यपि सबको यह दृष्टि साध्य नहीं है, तथापि जिनको साध्य हो गई है उनकी सहायतासे अन्योंको उचित है कि वे अपनी गति इस भूमिकामें करें । आचार्यके बताये मार्गसे चलनेका यही तात्पर्य है ।

वेदका अर्थ समझनेके लिये न केवल वेद मंत्रोंका विशेष दृष्टिसे और विशेष पद्धतिसे अर्थ जाननेकी आवश्यकता है; परंतु सृष्टिकी ओर भी विशेष आत्मिक भावनासे देखनेकी अत्यंत आवश्यकता है। सर्व साधारण लोकोंको सृष्टिकी तरफ जड दृष्टिसे देखनेका अभ्यास आजकल हो गया है। यही अभ्यास अत्यंत घातक है। जबतक जनतामें जड दृष्टि रहेगी, तबतक उनमें वैदिक दृष्टिका अभाव ही रहेगा। "जिस अवस्थामें सब भूतमात्र आत्मरूप होगये, उस अवस्थामें एक-त्व-का सर्वत्र दर्शन होनेके कारण शोक मोह नहीं होता।" (य. ४०। ७) यह दृष्टि है कि जिस दृष्टिसे सृष्टिकी ओर देखना चाहिए। परमात्म शक्तिका जो विकास इस प्रकृतिमें होगया है, वह ही सृष्टि है। इस दृष्टिको 'आत्मरूप दृष्टि' कहते हैं।

जड दृष्टिके लोग अपने शरीरकी ओर भी जडत्वके भावसे देखते हैं और केवल अस्थि, मज्जा, मांस आदिकोंको ही देखते हैं; उनको इन जड पदार्थोंसे भिन्न कोई श्रेष्ठ पदार्थ इस शरीरमें दिखाई नहीं देता; परंतु दूसरे सुविज्ञ लोग ऐसे हैं, कि जो इस शरीरकी ओर चेतन दृष्टिसे देखते हैं, और हरएक शरीरके भागमें आत्माकी शक्तिका विकास और आभास देखते हैं। यह दूसरी दृष्टि वेदको अभीष्ट है। इसी दृष्टिसे सृष्टिका निरीक्षण करनेका तथा वेदका अभ्यास करनेका यत्न करना चाहिए। इस विचारका विशेष स्पष्टीकरण करनेके लिये इस लेखमें दिशाओंका विषय लिया है, आशा है कि पाठक इस लेखको उक्त भावनाके साथ पढेंगे—

"प्राची दिशा" पूर्व दिशाकी विभूति।

पूर्व दिशाके लिये वेदमें विशेष कर "प्राची दिक्" शब्द आता है। इसका मूल अर्थ निम्न प्रकार है—

(१) प्राची=(प्र+अंच्)='प्र' का अर्थ 'आधिक्य, प्रकर्ष, आगे, सन्मुख' है। 'अंच्' का अर्थ 'गति पूजन' अर्थात् जाना, बढना, चलना, हलचल करना, सत्कार और पूजा करना' है। तात्पर्य 'प्राची' शब्दका अर्थ आगे बढना, उन्नति करना, अग्रभागमें हो जाना, प्रगतिका साधन करना, उदयको प्राप्त होना, अभ्युदय संपादन करना, ऊपर चढना, इत्यादि प्रकार होता है।

(२) दिक्=दिशा=का अर्थ तर्फ, सीध, ताक, हिदायत, आज्ञा, निशाना, सीधा रास्ता, सरल मार्ग, इत्यादि होता है।

उक्त दोनों अर्थोंको एकत्रित करनेसे " प्राची दिक् " का अर्थ- (१) आगे बढनेकी दिशा, (२) उदयका मार्ग (३) अभ्युदय प्राप्त करनेका रास्ता, (४) सत्कार

और पूजाका पंथ, (५) उन्नतिकी हलचल, (६) उच्च गतिका सीधा मार्ग, इत्यादि प्रकार होता है। प्राची दिशाका मूल अर्थ बढती अथवा उन्नतिकी दिशा, अभ्युदयका मार्ग, वृद्धिका रास्ता है।

इस अर्थको मनमें धारण करके पाठक पूर्वदिशाकी ओर सवेरे देखें। विचार पूर्वक देखनेके पश्चात् पाठकोंको पता लग जायगा कि पूर्वदिशाका नाम " प्राची दिक्" वेदने क्यों रखा है। विचारकी दृष्टिसे रात्रीके समयमें भी पूर्वदिशाकी ओर पाठक देखते जांय। पूर्व दिशाकी अपूर्वता सवेरे और रात्रीके समय ही ज्ञात हो सकती है। दिनके समय सूर्यके प्रचण्ड प्रकाशके कारण इस दिशाका महत्त्व ध्यानमें नहीं आ सकता। इस लिये सवेरे और रात्रीको ही पूर्व दिशाके महत्त्वका चिन्तन करना चाहिये।

तार्किक लोग दिशाओंको जड कहते हैं, उनको वैसाही कहने दें, क्योंकि उनकी दृष्टि भिन्न है। वेद पढनेके समय आपको सर्वत्र पूर्ण चैतन्यकी दृष्टिसे देखना चाहिए। जैसा पूर्व दिशामें उसी प्रकार अन्य सब दिशाओंमें चैतन्यका विकास हो रहा है, ऐसी शुद्ध कल्पना कीजिये। और प्रत्येक दिशा जीवित और जाग्रत है, तथा विशेष प्रकारकी शक्तिका प्रकाश कर रही है, ऐसी कल्पना कर लीजिए। यदि आप इसको क्षणमात्र देवता मान सकेंगे तो भी हमारे प्रस्तुतके कार्यके लिये बहुत अच्छा है।

आप प्रभात कालमें पूर्व दिशाकी ओर मुख कर लीजिए। कई तारागणोंका उदय हो रहा है और कइयोंका उदय हो गया है, ऐसा आप देखेंगे। अनंत तारागणोंको जन्म देनेवाली, उनका उदय करनेवाली यह पूर्वदिशा है। तेजस्विताका प्रकाश इस दिशासे हो रहा है। प्रतिक्षण इस दिशाकी प्रतिभा बढ रही है, क्योंकि तेजोरूप सूर्यनारायणका अब जन्मका समय है। देखिये। थोडे ही समयमें सहस्ररश्मी सूर्य भगवान् उदयको प्राप्त होंगे और संपूर्ण जगत्को नवजीवनसे संचारित करेंगे। तमोगुणी अंधकारका नाश होगा और सत्वगुणी प्राणमय प्रकाश चारों ओर चमकने लगेगा। देखिए अब सूर्यका उदय हो गया है, यह सूर्यबिंब कैसा मनोरम, रमणीय, स्फुरण देनेवाला, आनंदको बढानेवाला, तेजका अर्पण करनेवाला, तथा सहस्रों शुभ गुणोंसे युक्त है !! आप इसको केवल जड न समझिए। यह हमारे प्राणोंका प्राण है, यह स्थावर जंगमका जीवनदाता है, इसके होनेसे हम जीवित रह सकते हैं और इसके न होनेसे हमारा मृत्यु है, ऐसा यह सूर्यनारायण हमारे जीवनका आधार, परमेश्वरके अद्वितीय तेजका यह सूर्य निःसंदेह व्यक्त पुंज है। इसकी कल्पनासे आप परमात्माकी अद्वितीय तेजस्विताकी कल्पना कर सकते हैं। इस उच्च दृष्टिसे आप इसका निरीक्षण कीजिए। उदय होते ही

इसका तेज बढने लगा है। तात्पर्य यह पूर्व दिशा हरएकको उदयके मार्गकी सूचना दे रही है, अभ्युदयका रास्ता बता रही है, अपनी तेजस्विता बढानेका उपदेश कर रही है। वेद कहता है कि यह " उदयकी दिशा " है। सबका उदय यहांसे हो रहा है। हे मनुष्य ! तुम प्रतिदिन इसका ध्यान और अपने उदयका मार्ग सोचो।

सूर्य चंद्रका और सब तारागणोंका उदय देखते हुए आप अपने उदयके मार्गकी सूचना निःसंदेह ले सकते हैं। यदि एक समय अस्तको पहुंचा हुआ सूर्य पुरुषार्थसे फिर अपनी परिपूर्ण तेजस्विताके साथ उदयको प्राप्त हो सकता है, यदि क्षयरोगके कारण अत्यंत क्षीणताको पहुंचा हुआ चंद्रमा प्रतिदिन शनैः शनैः प्रयत्न करता हुआ फिर पूर्णिमाके दिन अपने परिपूर्ण वैभवको इसी पूर्व दिशासे प्राप्त हो सकता है, इसी प्रकार यदि सब तारागण एकवार अस्तंगत होनेपर भी पुनः पूर्ववत् उदयको प्राप्त कर सकते हैं; तो क्या मनुष्य, किसी कारण अवनतिमें पहुंच गये होंगे, तो भी उन्नत नहीं हो सकेंगे ? जिस मनुष्यके हृदयमें प्रत्यक्ष आत्मा बैठा है, जिस मनुष्यके शरीरमें सब सूर्य चंद्रादि देवताओंने प्रत्यक्ष जन्म लिया है, ऐसा मनुष्य कि जो ३३ कोटी देवताओंका सत्वरूप है, वह पुरुषार्थ करनेपर नीच अवस्थामें क्यों कर रह सकता है ? न केवल अभ्युदयपर इसका परिपूर्ण अधिकार है, परंतु यह अपना जैसा चाहे वैसा अभ्युदय अपने ही स्वावलंबनसे और अपने ही पुरुषार्थसे निःसंदेह प्राप्त कर सकता है। व्यक्तिशः और संघशः, अर्थात् अपना और जातीका, निजका और राष्ट्रका इसी दृढ भावनासे उदय हो सकता है। पूर्वदिशाके अवलोकन से मनमें ये विचार उत्पन्न हो सकते हैं।

पश्चिम दिशाकी विभूति।

दिशाओंकी विभूतियोंका वर्णन करते हुए पूर्व स्थलमें पूर्वदिशाकी वैदिक कल्पना बताई है, अब इस लेखमें पश्चिम दिशाकी कल्पना बताना है। वैदिक क्रम देखा जाय तो पूर्व दिशाके पश्चात् दक्षिण दिशाका वर्णन आना योग्य है, और यह वैदिक दृष्टिसे ठीक भी है; क्योंकि उदयके मार्गके साथ साथ दाक्षिण्यका मार्ग चलना चाहिए। अभ्युदय और दक्षताका साहचर्य सनातन ही है। उदयकी इच्छाके साथ दाक्षिण्यका अवलंबन करनेकी आवश्यकता है, इसमें कोई संदेह ही नहीं है। तथापि पूर्व और पश्चिम दिशाओंकी विभूतियां परस्पर सापेक्षताका संबंध रखतीं हैं, इस लिये वैदिक कल्पनाकी स्पष्टता होनेकी इच्छासे पूर्व दिशाका वर्णन होनेके पश्चात् पश्चिम दिशाका वर्णन करनेका संकल्प किया है। यह सापेक्षताका संबंध देखिए—

पूर्व	पश्चिम
उदय	अस्त (अस्तं गृहं)
जन्म	मृत्यु (स्व-रूप प्राप्ति)
प्रकाशका प्रारंभ	अंधकारका प्रारंभ
प्र-वृत्ति	नि-वृत्ति
पुरुषार्थ	विश्रांति
प्राची	प्रतीची
प्र+अंच्	प्रति+अंच्
हलचल	शांति
जाग्रति	सुषुप्ति
दिन	रात्री

इन दो दिशाओंका परस्पर सापेक्ष संबंध देखनेसे वैदिक कल्पनाकी अधिक स्पष्टता हो जायगी। इस लिये क्रमप्राप्त दक्षिण दिशाका विचार न करते हुए पश्चिम दिशाका ही विचार यहां प्रथमतः करना है। देखिए—

पश्चिम शांतिकी दिशा है। इस शांतिकी दिशाका जलाधिपति वरुण स्वामी है, क्योंकि जलका ही गुण शांति है और वह वरुणके आधीन है। इसीलिये इसको वर अर्थात् श्रेष्ठ कहते हैं। अथवा 'वर' शब्द गौणवृत्तिसे उदकवाचक भी है, जिसके पास 'वर' अर्थात् उदक है, वह वरुण कहलाता है। जलाधिपतिका संबंध अन्नके साथ होना स्वाभाविक ही है, जलके विना अन्नकी उत्पत्ति हो नहीं सकती। अन्नका भोजन करनेसे क्षुधाशांति और जलका पान करनेसे तृषाशांति होती है, अर्थात् खानपानके कारण प्राणियोंके अंदर परिपूर्ण शांति होनेके कारण उत्साह बढता है। इस प्रकार इस दिशासे जनताकी शांतिका संबंध है।

अब पश्चिम दिशाकी विभूति देखिए-व्यक्तिके देहमें गुह्य भाग, आयुमें तारुण्यकी अवस्था, दिनमें सायंकालका समय, दिनको पुरुष मानीए और वह दिन अपनी स्त्री रात्रीके साथ मिलने जाता है, यही दिन और रात्रिका मिथुन है, इसी प्रकार स्त्री पुरुषका मिथुन होता है, इस लिये तारुण्यावस्था पश्चिम दिशा है, चोवीस घंटेका अहोरात्र अथवा पूर्ण दिवस होता है, उसमें १२ घंटे व्यतीत होते हैं, वह आयुकी मध्यम अथवा तारुण्यावस्था है, इस समय सूर्य विश्रामके लिये पश्चिम दिशामें जाता है। ऋतुओंमें वर्षा ऋतु, महिनोंमें श्रावण भाद्रपद, कालोंमें पर्जन्य काल, वर्णोंमें वैश्य वर्ण, आश्रमोंमें

गृहस्थाश्रम, पुरुषार्थोंमें काम, युगोंमें द्वापर युग, अवस्थाओंमें सुषुप्ति इत्यादि पश्चिम दिशाकी विभूति है। इसका विचार और आंदोलन करके इस गणनामें न्यूनाधिक करना उचित है। साधारणतया थोडासा रूप यहां वर्णन किया है।

पश्चिम दिशाको इस प्रकार आप अमूर्त और व्यापक मानिए। एक विशेषभाव इस शब्दसे ध्यानमें लाना है। साधारण लोक पश्चिम दिशासे सूर्यास्त होनेकी दिशा समझते हैं, परंतु इससे कई गुणा उच्च और व्यापक अमूर्त भाव वेदमें है, जिसका ज्ञान होनेके विना दिशा बोधक वैदिक मंत्रोंके शब्दोंका आशय समझ में ही नहीं आवेगा।

'प्रति+अंच्' धातुसे 'प्रतीची' शब्द बनता है। इसका धात्वर्थ पीछे हटना, निवृत्त होना, अंतर्मुख होना, विश्रामकी तैयारी करना इत्यादि प्रकार होता है। सूर्य दिन भर प्रवृत्ति रूप कार्य करनेके पश्चात् विश्रामकी तैयारी करके पश्चिम दिशाका आश्रय करता है। मानो कि सब जगत्को दिनभर प्रकाश देनेके पश्चात् विश्रांतिके लिये अपने घर आता है, और रात्रीके साथ संलग्न होता है। इसी हेतुसे रात्रीको 'रमयित्री' अर्थात् रमण करनेवाली कहा जाता है। पुरुष भी इसी प्रकार दिनभर अपने सब व्यवहार करता हुआ जब थक जाता है तब घर आकर अपनी पत्नीके साथ रहता हुआ शांति पाता है। सूर्य तपता है इसलिये तपस्वी है, यह तप उसका ब्रह्मचर्य है, इस ब्रह्मचर्य व्रतके पश्चात् वह रात्रीके साथ रममाण होनेसे गृहस्थी बनता है, यही उसका पश्चिम दिशाका कार्य है। इधर ब्रह्मचर्याश्रममें नियमों और व्रतोंके कारण, तपनेवाला ब्रह्मचारी भी गृहस्थाश्रममें प्रविष्ट होकर शांत होता है, यही व्यक्तिका पश्चिम दिशाका कार्य है। वर्णोंमें ब्राह्मण वर्ण यमनियमोंसे तप करता है, यह ब्राह्मण वर्ण तपस्याके लिये ही है। परंतु वैश्य वर्ण शांतिसे घरमें रहता, पैसे कमाता और आनंद पाता है। न तो इस वर्णको ब्राह्मणके समान तपस्याके कष्ट हैं और न क्षत्रियके समान युद्धके दुःख हैं। शांतिके साथ गृहसौख्य भोगनेके कारण यह वैश्य वर्ण चातुर्वर्ण्यमें शांति और विश्रामका अतएव पश्चिम दिशाका स्थान है। ऋतुओंमें वसंत और ग्रीष्म उष्णतासे तपनेवाले हैं, परंतु वर्षाऋतुमें सर्वत्र शीत जलकी वृष्टि होनेसे नदी नद तालाब और कूए जलसे परिपूर्ण होनेके कारण सर्वत्र कृषिका प्रारंभ होनेसे सब भूमि हरियावलसे सुंदर और शांत दिखाई देती है, इसलिये ऋतुओंमें वर्षा ऋतु पश्चिम दिशाकी विभूति मानी है। इसी दृष्टिसे अन्यत्र देखिए और सर्वत्र पश्चिम दिशाकी विभूति जाननेका यत्न कीजिए। इस प्रकारकी भावना पश्चिम दिशाके वैदिक मंत्रोंमें है, इसलिये इसकी यथावत् कल्पना होनेसे ही मंत्रोंका आशय हृदयमें विकसित हो सकता है।

उत्तर दिशाकी विभूति।

पूर्व दो लेखोंमें ' पूर्व और पश्चिम ' दिशाओंकी विभूतियोंका वर्णन किया गया है, उसी क्रमानुसार इस लेखमें उत्तर दिशाका विचार करना और उस दिशाकी विभूतियोंका स्वरूप अवलोकन करना है। पश्चिम दिशाके पश्चात् क्रमप्राप्त ' उत्तर ' दिशा है। उत्तर दिशाका भाव निम्न प्रकार देखा जा सकता है—

उत्तर	उदीची
उत्-तर	उत-अंच्
उच्च-तर	उच्च-गति

(उत्) उच्चतासे (तर) अधिक जो भाव होता है, वह उत्तर किंवा उच्च-तर शब्दसे बताया जा सकता है। उच्चताकी दिशा, अधिक उच्चताके भावकी दिशा यह इस शब्दका आशय है। जिस प्रकार पूर्व दो लेखोंमें बताया गया है कि ' प्राची और प्रतीची ' दिशा क्रमशः ' प्रगति और विश्राम ' की सूचक दिशा है, उसी प्रकार समझिये कि यह ' उदीची दिशा उच्चगतिकी सूचक है, व्यक्तिके शरीरमें यह उत्तर दिशा ' बायी बगल ' के साथ सम्बन्ध रखती है।

शरीरमें बायी बगल उत्तर दिशा है, इसमें भी हृदय मुख्य है इसका आत्मा अधिपति है। अंगुष्ठ मात्र पुरुष हृदयमें रहता है, यह उपनिषदोंका वर्णन यहां देखने योग्य है। इसका ' स्वजः ' रक्षिता है। ' स्व-ज ' शब्द स्वत्वसे उत्पन्न होनेवाली शक्तिका बोधक है। आत्मत्वकी स्वकीय शक्तिसे यहांका रक्षण होता है। बाहेरकी शक्तिसे यहांका कार्य होना ही नहीं है। आत्माकी निज शक्तिका ही प्रभाव यहां होना आवश्यक है। आत्माके प्रेमसे तथा परमात्माकी भक्तिसे हृदयके शुभमंगलमय होनेकी संभावना यहां स्पष्ट हो रही है।

उत्तरं राष्ट्रं प्रजयोत्तराविद्दिशामुदीचीं कृणवन्नो अग्रम् ॥
पांक्तं छंदः पुरुषो बभूव विश्वैर्विश्वांगैः सह संभवेम ॥ १० ॥

अथर्व. १२ । ३.

“ (उत्तरं राष्ट्रं प्रजया उत्तरावित्) उत्तर दिशा सदाही विजयकी राष्ट्रीय दिशा है। इस लिये (नः) हम सबको (अग्रं) अग्र भागमें बढनेकी इच्छा धारण करते हुए इसी उच्चतर दिशासे प्रयत्न करना चाहिए। (पांक्तं) पांच वर्णोंमें विभक्त (पुरुषः) नागरिक जनही इसका छंद है। इसलिये सब अंगोंके साथ हम सब (सहसंभवेम) मिलकर

रहें, अर्थात् एकतासे पुरुषार्थ करें। "

राष्ट्रमें उच्च होनेकी भावनाही उत्तर अर्थात् उच्चतर दिशा है। इस दिशाके प्रगतिका साधन और अभ्युदयके मार्गका अवलंबन करनेवाले राष्ट्रके प्रत्येक मनुष्यके अंदर यह भावना चाहिये, कि मैं (अग्रं) अग्रभागमें पुरुषार्थ करता हुआ पहुंच जाऊंगा। मैं कभी पीछे नहीं रहूंगा। राष्ट्रमें पांच वर्ण होते हैं, ज्ञानके कारण ब्राह्मणोंका श्वेतवर्ण, क्षात्रके कारण रजोगुण प्रधान क्षत्रियोंका रक्त वर्ण, बैठकर कार्य करनेवाले धनसंग्रह करनेवाले वैश्योंका पीतवर्ण, कारीगरोंका अर्थात् सच्छूद्रोंका नीलवर्ण और असच्छूद्र जंगलियोंका कृष्ण वर्ण होता है। सब जनता इन पांच वर्णोंमें विभक्त है, इसलिये पंचजनोंके राष्ट्रका वैदिक नाम 'पांचजन्य' है। 'पांच-जन्यका महानाद' ही जनताका सार्वजनिक मत हुआ करता है। जो पुरि अर्थात् नगरीमें वसते हैं उनका नाम पुरुष अर्थात् नागरिक होता है। (पुरि-वस, पुर्-वस, पुर्-उष, पुरुष) ये पुरुष अर्थात् नागरिक पहिले चार वर्ण हैं, और पांचवा निषाद वर्ण नागरिकोंसे भिन्न है, इसलिये कि वह जंगलमें रहता है। जंगल निवासी भी राष्ट्रके अवयव हैं, जैसे नागरिक होते हैं। इस लिये 'पांच-जन्य' राष्ट्रमें सब लोक आते हैं जिस प्रकार वैदिक राष्ट्रीय पांचजन्यकी कल्पनामें सब पांचों प्रकारके जनोंका अन्तर्भाव होता है, उस प्रकार का 'पांचजन्य राष्ट्र' का अर्थ और आशय बतानेवाला शब्द किसी अन्य भाषामें नहीं है। इससे पता लगता है, कि वैदिक राष्ट्रीयताकी कल्पना कितनी उच्च और कैसी व्यापक है। सब अवयवों और अंगोंके साथ जब प्रेमरूप एकताका भाव होता है तभी राष्ट्रीय एकताकी अद्भुत शक्ति निर्माण होती है, जिससे राष्ट्रको उच्च तर दिशाके अभ्युदयके मार्गसे जाना सुगम होता है। इस प्रकार उत्तर दिशाकी विभूति है।

जगत्में जो उत्तर दिशा है वह सब जानते ही हैं, यही उत्तर दिशा व्यक्तिके शरीरमें बायी बगल है, राष्ट्रमें उत्तर दिशा धनोत्पादक कारीगर वर्ग है, ऋतुओंमें उत्तर दिशा शरदृतु है, महिनोंमें आश्विन कार्तिक मास हैं, वर्णोंमें सच्छूद्रोंका कारीगर वर्ग है, छंदोंमें अनुष्टुप् छंद, भावनाओंमें उच्च-तर होनेकी महत्वाकांक्षा है, इत्यादि प्रकार इस उत्तर दिशाकी विभूति है। इस दृष्टिसे सर्वत्र उत्तर दिशाकी विभूति देखकर पाठक बोध ले सकते हैं।

पाठक अन्य दिशाओंके विषयमें इस प्रकार विचार करके जानें और इस ढंगसे इन दो सूक्तोंका मनन करके बोध प्राप्त करें।

R. NO. B. 1463

वैदिक यज्ञ संस्था।

प्रथम भाग मूल्य १) रु. डा. व्य. ।)

इस पुस्तक में निम्न लिखित विषयों का विचार हुआ है।

प्राचीन संस्कृत निबंध।

१-३ विष्ट-पशुमीमांसा। लघु-पुरोडाश-मीमांसा।

भाषाके लेख (ले०-श्री० पं० बुद्धदेवजी)

४ दर्श और पौर्णमास, ५ अद्भुत कुमार संभव। (ले० -श्री० पं० चंद्रमणिजी) ६ बुद्धके यज्ञ विषयक विचार। (संपादकीय) ७ यज्ञका महत्त्व, ८ यज्ञका क्षेत्र ९ यज्ञका गूढ तत्त्व, १० औषधियोंका महामख, (ले० श्री० पं० धर्मदेवजी) ११ वैदिक यज्ञ और पशु-हिंसा। (ले० श्री० पं० पुरुषोत्तम लालजी) १२ क्या वेदोंमें यज्ञों में पशुओंका बलि करना लिखा है?

वैदिक यज्ञ संस्था द्वितीय भाग मूल्य १) रु. डा. व्य. ।)

इस द्वितीय भागमें निम्न लिखित विषयोंका विचार हुआ है- (ले०-श्री. पं. देवशर्माजी विद्यालंकार) भारतवर्षमें यज्ञकी कमी, यज्ञकी महिमा, यज्ञसे जो चाहे सो प्राप्त कर लो, यज्ञपुरुष का वर्णन, हवन प्रक्रिया, यज्ञशेष और उच्छेष, राजसूय, विश्वजित, अश्वमेध, गोमेध, सर्वमेध, वाजपेय, पंचमहायज्ञ, यज्ञ संसारकी नाभि है।

पं. बुद्धदेवजी लिखित-संज्ञपन और अवदान।

संपादकीय-नरमेध का वैदिक तात्पर्य।

इतने विषयोंका विचार इस पुस्तक में हुआ है।

प्रत्येक विषयके प्रतिपादनके लिये वेदके अनेक प्रमाण दिये हैं और विषयका प्रतिपादन अति सुगम है। मूल्य १) डा. व्य. ।)

वैदिक यज्ञ संस्था तृतीय भाग, गोमेध

इस पुस्तकमें निम्न लिखित विषयोंका विचार हुआ है—

योगमें गोमांस, प्रकरणानुकूल अर्थ विचार, ऋषिपंचमी, वेदका महासिद्धान्त, यज्ञकी पूर्व और उत्तरवेदी, मधुपर्क, कलिवर्ज्यप्रकरण, बृहदारण्यक का वचन, गौका वैदिक नाम, गोमेधका विचार, चरक की साक्षी, विवाहमें गोमांस, अतिथिके लिये गौ, यज्ञमें मांस, अन्त्य यज्ञ, वेदमें अहिंसा, अवध्य गौ और बैल, यज्ञका तत्त्व, गौको खाना। गौ दान लेने का अधिकारी, रक्षक और पाचक गौका महत्त्व, राष्ट्ररक्षक गौ, गौके लिये सोमरस, सबकी माता गौ।

इत्यादि अनेक विषय इसमें आगये हैं। हरएक विषयका प्रतिपादन करनेके लिये अनेक वेदमंत्रोंके प्रमाण दिये हैं। जो कहते हैं कि 'वैदिक समयमें गोमांस भक्षण की प्रथा थी,' उनके लिये यह उत्तम उत्तर है। यह पुस्तक पढनेके पश्चात् उक्त विषयमें कोई शंका नहीं रहेगी।

मूल्य१) रु. डा. व्य०।)

मुद्रक तथा प्रकाशक— श्री० दा० सातवळेकर, भारतमुद्रणालय, औंध, (जि० सातारा)

ॐ

वैदिक धर्म ।

वैदिक तत्त्व ज्ञान प्रचारक मासिक पत्र ।

संपादक— श्रीपाद दामोदर सातवळेकर.

वर्ष ९

अंक १२

क्रमांक १०८

मार्गशीर्ष

संवत् १९८५

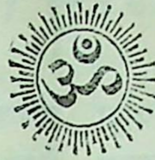
दिसंबर

सन१९२८



वार्षिक मूल्य— म० आ० से ४) वी० पी० से ४॥) विदेशके लिये ५)

विषयसूची।



वर्ष ९
अंक १२
क्रमांक १०८

वैदिक धर्म.

मार्गशीर्ष
संवत् १९८५
दिसंबर
सन १९२८

वैदिक तत्त्वज्ञान प्रचारक मासिक पत्र।
संपादक—श्रीपाद दामोदर सातवळेकर।
स्वाध्यायमंडल, औंध (जि. सातारा)

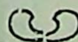
सत्संग !

देवानां भद्रा सुमतिर्ऋजूयतां देवानां रातिरभि नो निवर्तताम्॥
देवानां सख्यमुपसेदिमा वयं देवा न आयुः प्र तिरन्तु जीवसे॥

ऋ० १।८९।२

(देवानां) ज्ञानियों की (भद्रा सुमतिः) कल्याणकारक उत्तम बुद्धि (ऋजूयतां) सीधी होकर हमारे पास आ जाए। (देवानां रातिः) श्रेष्ठोंका ज्ञान (नः अभिवर्ततां) हमारे पास आजावे। (देवानां सख्यं) श्रेष्ठोंके साथ मित्रता (वयं उपसेदिम) हम सब करें तथा (जीवसे) दीर्घायु के लिये (देवाः नः आयुः प्रतिरन्तु) श्रेष्ठ सत्पुरुष हमें आयुष्यका उपाय बताऐं।

श्रेष्ठ सत्पुरुषोंके साथ रहते हुए हम अपना आयुष्य बढावें, हम अन्य सब उन्नति प्राप्त करें और अभ्युदय के साथ निश्रेयस कमा कर अपनी आयु की सार्थकता सिद्ध करें॥



स्व० लाला लाजपत राय जी !

श्री० ला०लाजपतरायजीका अकस्मात् स्वर्गवास हुआ, यह सुन कर संपूर्ण भारत वर्षका हृदय दुःखसे दग्ध हुआ है। मृत्यु आने योग्य लालाजी की अवस्था नहीं हुई थी। वे देश सेवा के लिये कटिबद्ध होकर सायमन कमिशन के बहिष्कार के लिये अगुवा होते हुए लोगोंको अपनी स्वातंत्र्य प्राप्तिका मार्ग बता रहे थे, ऐसे समयमें उनकी छाती पर पंजाब की पुलिसने दो तीन लाठीके प्रहार किये। इसकारण उनकी छातीपर सूजन आगई और इसी दुःखमें उनका देहान्त हुआ। यह बात अब सबको विदित ही है।

लालाजी अपने देशकी स्वतंत्रताके लिये कार्य कर रहेथे और पंजाब की सरकार भारतवर्षकी पराधीनता स्थिर करनेके यत्नमें थी। स्वतंत्रता और परतंत्रता का यह झगडा था। इस प्रकारके युद्धमें पंजाब के सिंहका शरीर राष्ट्र कार्य में समर्पित हुआ है। तरुण भारतको यह "लालाजीका स्वातंत्र्य युद्धमें आत्मसमर्पण" अपने हृदयमें स्थिर रखना चाहिये।

पंजाब पुलिसकी लाठीके जो आघात लालाजी की छातीपर हुए वे केवल उनकी ही छातीपर नहीं थे, प्रत्युत वे आघात हरएक भारतीय हृदयपर हुए हैं और लालाजी की मृत्युसे तो वह दुःख अब असह्य हो हुआ है। जब तक भारत को "स्वराज्य" नहीं मिलेगा, तब तक यह दुःख दूर नहीं हो सकता और तरुण भारत को अब अन्य सब कार्य छोडकर केवल स्वराज्य प्राप्तिके प्रयत्नके लिये ही अपने आपको पूर्णतया समार्पित होना चाहिये। क्योंकि स्वराज्य के विना ऐसे अत्याचार अब कम नहीं होंगे।

स्वराज्यका मार्ग " अहिंसामय सत्याग्रह " है और भारतकी निःशस्त्र अवस्थामें यही एक हमारा सच्चा सहायक है। यह बात अब प्रयोग के साथ बारडोलीमें सिद्ध हुई है। तरुण भारत अब इस मार्गका अवलंबन करें। प्राचीन कालमें ध्रुव, प्रल्हाद, वसिष्ठ आदिकों द्वारा इसी अहिंसापूर्ण सत्याग्रहका अवलंबन हुआ था। इस मार्गसे जैसी सत्याग्रही की उन्नति होती है वैसी ही अत्याचारी की भी उन्नति होती है। यदि भारतवर्ष इस मार्गसे अपना स्वातंत्र्य शीघ्र प्राप्त करेगा तो वह न केवल भारत वर्षका ही उद्धार करेगा, परंतु वह अन्य देशोंका मार्ग दर्शक नेता बनेगा और साथ ही साथ अपने स्वातंत्र्य के प्राचीन आदर्श से गिर जाने वाले इंग्लीस्तान को भी गिरावट से बचायेगा। साम्राज्यमद से ही सब राष्ट्र गिरते हैं, साम्राज्य बढनेसे इंग्लिस्तान में अब वह स्वातंत्र्य प्रीति नहीं रही जो सौ डेडसौ वर्ष पूर्व थी। भारत वर्ष का भविष्यमें यही महत्वपूर्ण कार्य है कि वह अपना बचाव करता हुआ अपने गिरानेवालेका भी बचाव करे। यदि तरुण भारत ने यह कार्य किया तो भारतके यशकी कोई सीमा नहीं रहेगी।

आसुरी उपायोंसे अन्य देशोंने स्वराज्य प्राप्त किया है, परंतु यह भारत वर्ष द्वारा ही सिद्ध होना है कि दैवी उपायोंसे भी स्वराज्य प्राप्त हो सकता है और उस से जगत् में अधिक कल्याण हो सकता है।

स्व० लालाजीने अपना देह इसी पवित्र कार्य के लिये समर्पित किया है, देह समर्पण के पश्चात् भी स्व० लालाजी वही भारतकी स्वातंत्र्यप्राप्तिका कार्य करना चाहते हैं। उनकी आत्मा सुयोग्य तरुणोंके हृदय ढूंढ रही है कि जिनके आश्रयसे लालाजी की आत्मा कार्य कर सके। इस लिये तरुण भारत को चाहिये कि वह अब अपने आत्माको ऐसा पवित्र, निःस्वार्थ और उच्च बनावे कि जिसके आश्रय से लालाजी की आत्मा अपना उद्दिष्ट कार्य पूर्ण कर सके।

यही एक मार्ग है जिससे भारतवर्ष स्व०लालाजी का योग्य श्राद्ध कर सकता है।

अथर्व वेदमें 'मणि' का अभिप्राय।

(लेखक—श्री. पं० सत्यकेतु जी विद्यालंकार)

यमबध्नाद् बृहस्पतिर्देवेभ्यो असुरक्षितिम् ।
स मायं मणिरागमत् तेजसा त्विष्या सह
यशसा कीर्त्या सह ॥ २७ ॥
यमबध्नाद् बृहस्पतिर्देवेभ्यो असुरक्षितिम् ।
स मायं मणिरागमत्सर्वाभिर्भूतिभिः सह ॥२८॥
अथर्व० १०।३

वेदोंमें बहुतसे स्थल इस प्रकारके हैं, जिनका वास्तविक अभिप्राय अभीतक समझा नहीं जा सका है। अथर्व वेद के मणि संबंधी सूक्त इसी प्रकार के हैं। भारतीय और विदेशी वैदिक विद्वानोंने इनके अर्थ किये अवश्य हैं, परन्तु वे सन्तोष जनक नहीं हैं। " मणि " शब्द का क्या अर्थ है, यह रहस्य अभीतक स्पष्ट नहीं हुआ है। भाष्यकर्ता सायणाचार्य ने " मणि " से ताबीज व कवच का अभिप्राय लिया है। वे ताबीजों की अलौकिक व असाधारण शक्ति पर विश्वास करते हैं, और " मणि " से उनको ही ग्रहण करते हुए नानाविध मणियों की अपरिमित शक्तियों का वर्णन करते हैं। अभीवर्त मणि का अभिप्राय समझते हुए वे लिखते हैं--

" अथ आद्याभिश्चतसृभिर्ऋग्भिः शत्रुमर्दित--
राष्ट्राभिवृद्धये रथचक्रनेमिमणिं सूत्रोक्त--
लक्षणं कृत्वा संपात्य अभिमन्त्र्य ' उदसौ
सूर्यः ' इति उत्तमाभ्यां बध्नीयात्। "
अथर्व० १।२९

इसी प्रकार पर्णमणि, जङ्गिडमणि आदिके सम्बन्धमें सायणाचार्यने " मणि " के निर्माण व धारण विधिका वर्णन करके उन के फल को भी दर्शाया है। जङ्गिडमणिके सम्बन्धमें वे लिखते हैं—

" दीर्घायुत्वाय " इति सूक्तेन कृत्यादूषणार्थं
आत्मरक्षणार्थं विघ्नशमनार्थं च जङ्गिडा-
ख्यवृक्षविशेषमणिं शणसूत्रप्रोतं कृत्वा संपा-
त्य अभिमन्त्र्य बध्नीयात्। "
अथर्व २।४

जङ्गिड कौनसा वृक्ष है, यह वर्तमान संस्कृत कोषों से प्रतीत नहीं होता, परन्तु भाष्यकार के समयमें यह वाराणशी वा काशी में सर्व विदित था और उत्तरीय भारत में लोग इस से साधारणतया परिचित थे। ' प्रतिसर मणि ' के सम्बन्ध में सायण ने इस प्रकार लिखा है-

" अयं प्रतिसरः " इति सूक्तद्वयं अर्थसूक्तम्
अभिलषितार्थसिद्ध्यर्थम् । अनेनार्थसूक्तेन
दधिन मधुनि च त्रिरात्रं वासितं तिलकमणिं
संपात्य अभिमन्त्र्य बध्नीयात्। " इत्यादि ॥
अथर्व० ८।५

अन्य मणियों के सम्बन्ध में भी इसी प्रकारसे व्यवस्था की गई है। यह विश्वास केवल सायणाचार्य का ही नहीं था, उन के विश्वास के लिये कुछ प्राचीन प्रमाण भी विद्यमान हैं। सायण ने अपनी स्थापना के लिये प्राचीन ग्रंथों से प्रमाण भी पेश किये हैं। उन्होंने जगह जगह पर " शान्तिकल्पः " ' कौशिक सूत्र ' नक्षत्रकल्पः ' 'अथर्वपरिशिष्टम्' आदि प्राचीन ग्रन्थों के प्रमाण भी दिये हैं। इसमें कोई सन्देह नहीं कि इन ग्रन्थों के निर्माता मणि शब्दसे ' ताबीज व कवच ' का ही ग्रहण करते थे, और सायण ने प्राचीन परिपाटी को ही सम्मुख रखकर अपना भाष्य लिखा था। भारतीय इतिहास

के मध्ययुगमें निस्सन्देह तावीज और कवच आदि पर विश्वास किया जाता था और विद्वान् लोग यही समझते थे कि वेदों में इनका विधान है। अब भी जो लोग कवच व तावीज पर विश्वास रखते हैं इन्हें वेदानुकूल ही मानते हैं और अपने पक्षकी पुष्टिके लिये अथर्व वेद के मणि संबंधी सूक्तों को प्रमाणरूपसे पेश करते हैं। अभिप्राय यह है यह विश्वास प्राचीन और परम्परागत है, अतः प्राचीन पुस्तकों में भाष्य का यह अर्थ देख कर आश्चर्य न करना चाहिये।

वर्तमान पाश्चात्य विद्वानोंने भी " मणि " शब्दसे इसी अर्थ का ग्रहण किया है। प्रसिद्ध विद्वान् मैकडोनल और कीथने अपनी Vedic Index में लिखा है—

"Mani is the name in the Rigveda and later of a 'Jewel' used as an amulet against all kinds of evil. That either 'pearl' or 'diamond' is denoted is not clear. It is evident that the Mani could be strung on a thread (sutra), which is referred, in the Panchavinsha Brahman ".

इसी प्रकार Bloomfield, Lanman आदि सभी विद्वानोंने मणि शब्दका यही अभिप्राय लिया है। ब्लूम फील्ड अथर्व वेदके बहुतसे सूक्तों में जादू टोना की सत्ता मानते हैं और बहुतसे मन्त्रों की व्याख्या इसी दृष्टिसे करते हैं। जङ्गिडमणि के सूक्त पर वह निम्न लिखित शीर्षक देते हैं— 'Charm with an amulet derived from the जङ्गिड tree, against diseases and demons' वरणमणि को उन्होंने इन शब्दोंमें बताया है-'Exorcism of disease by means of an amulet from the Varan tree' इसी तरह अन्यत्र भी मणिशब्दसे यही अभिप्राय लिया गया है। लैन्मन, ग्रीफिथ, बीवर, गेल्डनर, ल्युड्विग् आदि अंग्रेजी भाष्यकारों ने इसी पक्षकी पुष्टि की है। पाश्चात्य विद्वानों की यह संमति किसी स्वतन्त्र आधार पर आश्रित नहीं, उन्होंने भारतीय भाष्यकारों को ही दृष्टिमें रखकर युरोपियन भाषाओं में वेदोंका भाषान्तर किया है। मणिका अर्थ करते हुए उन्हों भारतीय ग्रन्थोंका विस्तार के साथ उल्लेख किया है। वर्तमान समयमें पं० क्षेमकरण दासजी त्रिवेदीने अथर्व वेदका भाष्य किया है। त्रिवेदीजी ऋषि दयानन्द के अनुयायी हैं और आर्यसमाजी हैं। भाष्य करते हुए वे तावीज और कवच को स्वीकार नहीं कर सकते थे, क्यों कि ये बातें आर्य सिद्धान्तोंके विरुद्ध हैं। अतः उन्होंने 'मणि' शब्द के प्रसंगानुसार बल, सामर्थ्य, ऐश्वर्य, ईश्वर आदि अर्थ किये हैं। हम यह भी नहीं कहते कि पण्डितजीके अर्थ अशुद्ध हैं, परन्तु इतना अवश्य है कि वेदके विद्यार्थी को उनसे सन्तोष नहीं हो सकता। त्रिवेदीजी के भाष्यसे मणि संबंधी सूक्तोंका असली अभिप्राय स्पष्ट नहीं होता। वस्तुतः "मणि" का ठीक मतलब समझ सकना बहुत कठिन है, मणि का अर्थ न निरुक्तमें किया गया है और न वैदिक कोष निघण्टुमें इस शब्दका जिक्र है। ब्राह्मण ग्रन्थोंमें भी इस पर कोई प्रकाश नहीं डाला गया। अथर्ववेदका ब्राह्मण गोपथ है। गोपथ में कुछ अन्य सूक्तों की तो व्याख्या की गई है, परन्तु मणि सम्बन्धि सूक्तों का इसमें भी कोई उल्लेख नहीं। अन्य वैदिक साहित्य की भी यही हालत है। इस अवस्थामें यह बहुत कठिन है कि "मणि" के असली अभिप्रायको ठीक प्रकार समझा जा सके। परन्तु वैदिक साहित्य के अध्ययनसे कुछ ऐसे निर्देश अवश्य उपलब्ध होते हैं, जिनसे मणि सबंधी सूक्तों और "मणिशब्द" का अभिप्राय समझमें आ जाता है। ये निर्देश परोक्षरूपमें हैं। असली अर्थको समझनेके लिये हमें यह देखना होगा कि मणि शब्दके विशेषण कौनसे हैं और उनका अर्थ वैदिक साहित्यमें क्या किया गया है। इसके सिवाय इन सूक्तों की आन्तरिक साक्षी तथा प्रकरण का भी अवलोकन करना होगा। इन्हीं आधारोंपर हम "मणि" के अभिप्रायको समझनेका प्रयत्न प्रारंभ करते हैं।

अथर्व वेदमें मणि के विशेषण रूपसे जो शब्द मुख्य रूपसे पाये जाते हैं, वे निम्न लिखित हैं- वरणमणिः, औदुम्बरमणिः, पर्णमणि, दर्भमणिः, अभीवर्तमणिः, सर्वकाममणिः, प्रतिसरोमणिः, शङ्खमणिः,

और जङ्गिडोमणिः। हम इन विशेषणोंके अर्थपर ब्राह्मण ग्रन्थोंके अनुसार विचार करेंगे।

पहले 'वरण' शब्दको लीजिये-गोपथ ब्राह्मणमें 'वरण' शब्दके अर्थको इस प्रकार स्पष्ट किया है-

" ता भीता अब्रुवन् भगवन्तमेव वयं राजानं वृणीमहे इति। यच्च वृत्वाऽतिष्ठंस्तद्वरणोऽभवत् तं वा एतं वरणं सन्तं वरुण इत्याचक्षते परोक्षेण। परोक्षप्रिया इव हि देवा भवन्ति प्रत्यक्षद्विषः॥ गो ब्रा.१।७

इस गोपथ वाक्यके अनुसार 'वरण' और 'वरुण' एक ही हैं। और वरण या वरुण उसे कहते हैं, जो भीत प्रजाद्वारा राजा चुना जाता है। क्यों कि उसे वरण किया जाता है, इसी लिये उसे 'वरण' कहते हैं। राजाके चुने जाने की बात प्राचीन साहित्यमें अनेक बार आई है। राजाविहीन अवस्थामें प्रजा भीत होगई और उन्होंने राजाको चुना। मनुने इसी सिद्धान्तको इन शब्दोंमें लिखा है-

अराजके हि लोकेऽस्मिन्सर्वतो विद्रुते भयात्।
रक्षार्थमस्य सर्वस्य राजानमसृजत्प्रभुः॥
मनु० ३।७।३

वेदमें भी संभवतः-

'विराड् वा इदमग्र आसीत्। तस्या जातायाः सर्व मबिभेत्।'

इत्यादि सूक्तमें यही प्रतिपादन किया गया है। 'वरण' या 'वरुण' राजाको कहते हैं, अथवा राजसम्बन्धमें यह प्रयुक्त होता है, इसके लिये ये प्रमाण पर्याप्त होंगे-

'वरुणः सम्राट् सम्राट्पतिः। साम्राज्यमस्मिन्यज्ञे मयि दधातु।' श० ब्रा० ११।४।३।१०
'क्षत्रस्य राजा वरुणोऽधिराजः। तै० ३।१।२।७
'क्षत्रं वै वरुणो, विशो मरुतः।' शत० २।५।२।६
'वरुणो वै देवानां राजा।' शत० १२।८।३।१०
'यदादित्यो वरुणं राजानं वरुणप्राघासैरजयत।'
तै० १।४।१०।६

'एतेन वै वरुणो राज्यमाधिपत्यमगच्छद्राज्यमाधिपत्यं गच्छति.... ...। ताण्ड्य० १३।९।२३

वेदमें भी राजाप्रकरणमें वरुण को राजा कहा गया है-

सोमस्य राज्ञो वरुणस्य धर्मणि बृहस्पतेरनुमत्या उ शर्मणि। ऋ०१०।१६७।३

इस तरह स्पष्ट है कि वरण या वरुण का राज्यके साथ अत्यन्त सम्बन्ध है और वैदिक साहित्य के अनुसार इसका अर्थ राजा भी है। अब 'वरणमणि' के सूक्तको लीजिये-

अयं मे वरणो मणिः सपत्नक्षयणो वृषा।
तेना रभस्व त्वं शत्रून् प्रमृणीहि दुरस्यतः॥
अथर्व० १०।३।१

परन्तु इस सूक्तका अर्थ करनेसे पूर्व हम अन्य मणियों पर भी विचार करेंगे। अब 'औदुंबर मणि' को लीजिये। सायण तथा पाश्चात्य विद्वानोंने 'वरण' को एक वृक्षविशेष बताया था और इसकी लकडीसे निर्मित मणि को वरण मणि कहा था, परन्तु वैदिक साहित्यमें हमने सर्वथा भिन्न अभिप्राय जाना। इसी तरह अब 'औदुम्बर' पर विचार कीजिये। उदुंबर प्रसिद्ध वृक्ष है, जिसे गूलर कहते हैं। परन्तु वैदिक साहित्यमें इसका अर्थ कुछ और ही है। क्यों कि—

'परोक्षप्रिया इव हि देवाः प्रत्यक्षद्विषः।'

शतपथ ब्राह्मणमें लिखा है—

" सोऽब्रवीत्। अयं वाव मा सर्वस्मात्पाप्मन उदभार्षीदिति यदब्रवीदुदभार्षीन्मेति तस्मादुदुम्भर उदुम्भरो ह वै तमुदुम्बर इत्याचक्षते परोक्षेण परोक्षकामा हि देवाः।
शत० ७।५।१।२२

'क्यों कि इसने मुझको सब पापों से ऊपर उठाया है, अतः यह 'उदुम्भर' है। इसी 'उदुम्भर' को 'उदुम्बर' कहते हैं, क्यों कि देवतालोग सीधी बात पसन्द नहीं करते, वे टेढी बात कहते हैं।'

एक अन्य स्थान पर शतपथमें कहा है-

'अथास्य इन्द्र ओज आदाय उदङ् अक्रामत् स उदुम्बरोऽभवत्।'
श. ७।४।१।३९

इस प्रजापति के ओज को लेकर इन्द्र ऊपरको चला गया, इन्द्रने उन्नति की, इन्द्रने विजय प्राप्त की इसी लिये यह ओज उदुम्बर कहते हैं। शतपथ

तथा ताण्ड्य महा ब्राह्मण (६ । ४ । १) में उदुम्बर को-

प्राजापत्यो वा उदुम्बरः ।

कहा गया है, इसका कारण यह है, कि शतपथके पूर्व वचन के अनुसार प्रजापति के ओजका नाम ही उदुम्बर है । यह ओज अथवा 'ऊर्ग्' देवों ने प्रजापति से प्राप्त किया था । देवों के राजा का ही नाम इन्द्र है । इसी ओज वा ऊर्ग् को प्राप्त कर देव लोग असुरोंपर विजय प्राप्त कर सके ।

ते ह सर्वे एव वनस्पतयोऽसुरानभ्युपेयुः
उदुम्बरो हैव देवान्न जहौ ते देवा असुरान्
जित्वा तेषां वनस्पतीनतृञ्जत । श० ६ । ६ ।३।२

सब साधन बेकाम रह गये । केवल उदुम्बर या ऊर्ग् के द्वारा ही देव विजयी हुए । अत एव कहा है—

' प्रजापतिर्देवेभ्य ऊर्जं व्यभजत् तत उदुम्बरः
समभवत् । ' ताण्ड्य० ६ । ४ । १

' देवा वा ऊर्जं व्यभजन्त । तत उदुम्बर उद-
तिष्ठत् । ' तैत्तिरीय ब्राह्मण १ । १ । ३ । १

इस वैदिक साहित्य के अनुसार उदुम्बर उस ओज वा ऊर्ग् का नाम है, जिसको प्रजापतिने देवों के लिये दिया था और जिस ही के कारण वे असुरोंपर विजय पासके थे । इस ओज को और अधिक स्पष्टतासे समझने के लिये निम्न लिखित वाक्यों पर विचार करना आवश्यक है । तैत्तिरीय संहिता में लिखा है-

' देवासुराः संयत्ता आसन् ते देवा बिभ्यतोऽग्निं
प्राविशन्, तस्मादाहुरग्निः सर्वा देवता इति ।'
तै० सं० ६ । २ । २

' देव और असुर दोनों संग्राम में जुटे हुवे थे । युद्ध में देव डर गये । डर कर वे अग्नि में घुस गये, इसी कारण अग्निको सब का देवता कहा जाता है । ' उपर्युक्त ब्राह्मण वाक्य का यह शब्दार्थ है । देव लोग परोक्ष बात कहना पसन्द करते हैं, अतः यहां क्या परोक्ष बात कही गयी है, यही विचारणीय है । निरुक्त के अनुसार अग्निका अर्थ निम्न लिखित है-

'अग्निः कस्मादग्रणीर्भवति। अग्रं यज्ञेषु प्रणीयते।'

अग्रणी या नेता को अग्नि कहते हैं । अतः 'अग्निं प्राविशन्' का अर्थ हुवा अग्रणी वा नेता को प्राप्त हुवे । पहिले वे नेतृ विहीन थे,अब उन्होंने नेता को प्राप्त कर लिया । नेता या राजा प्राप्त करके—राजा के रूप में संगठित होकर फिर उन्होंने असुरों के साथ युद्ध किया और विजयी हुवे । ब्राह्मणग्रन्थोंमें इसी भावको अनेक प्रकारसे प्रकट किया है । ऐतरेय ब्राह्मणके निम्न शब्दोंमें यह भाव बहुत स्पष्ट है।

" देवासुरा वा एषु लोकेषु समयतन्त त एत-
स्यां प्राच्यां दिश्ययतन्त तांस्ततोऽसुरा अ-
जयंस्ते दक्षिणस्यां दिश्ययतन्त तांस्ततोऽसु-
रा अजयंस्ते प्रतीच्यां दिश्ययतन्त तांस्त-
तोऽसुरा अजयंस्त उदीच्यां दिश्ययतन्त
तांस्ततोऽसुरा अजयंस्त उदीच्यां प्राच्यां
दिश्ययतन्त ते ततो न पराजयन्त सैषा
दिगपराजिता तस्मादेतस्यां दिशि यतेत
वा यातयेद्वेश्वरो हानृणा कर्तोस्ते देवा अब्रु-
वन्नराजतया वै नो जयन्ति राजानं करवा-
महा इति तथेति ते सोमं राजानमकुर्वस्ते
सोमेन राज्ञा सर्वा दिशोऽजयन्नेष वै सो-
मो राजा यो यजते प्राचि तिष्ठति ...... ।
ऐतरेय ब्राह्मण १ । १४

वह प्राजापत्य ओज जिसे उदुम्बर कहा गया है, राज्यत्व के सिवाय अन्य कुछ नहीं है । इसी भाव को परोक्षरूपसे ' अग्निं प्राविशन् ' और स्पष्टरूपसे ' राजानं करवामहै ' इत्यादि सन्दर्भ से बताया गया है। पहले पहल यह राज्यत्व 'गृहपति' के रूपमें प्रगट हुआ, यह बात ' विराड्वा इदमग्र आसीत् ' आदि उत्क्रान्ती सूक्त में स्पष्ट है । वहां कहा गया है, कि राज्य विहीन अवस्थाके बाद उत्क्रान्ति होकर पहले ' गार्हपत्य अग्नि 'या' गृहपति' अवस्था प्राप्त हुई। इसी लिये राज्यत्व की प्रथमावस्था में स्थित गृहपति के लिये आवश्यक है कि वह ' औदुम्बर ' वा प्राजापत्य ओज को धारण करे । ताण्ड्य महा ब्राह्मणमें लिखा है—

' गृहपतिरौदुम्बरीं धारयति गृहपतिर्वा ऊर्जो
यन्तोर्जमेवैभ्यो यच्छति ।' तां ० ब्रा ० ४।९।१५

हम समझते हैं कि इस विवेचन से उदुम्बर का अर्थ स्पष्ट होगया होगा। जो भाव ' वरण मणि ' का है वही ' औदुम्बरमणि ' का भी है। जिस प्रकार वरण से राज्यत्व सूचित होता है उसी तरह औदुम्बर से। यही कारण है, कि शतपथ के राज्याभिषेक प्रकरण में तथा ऐतरेय के ऐन्द्रीय महाभिषेक प्रकरण में राजाका अभिषेक करने के लिये जो सामान उपस्थित किया गया है, उस में उदुम्बर का बहुत भाग है। भाव यह है, कि राजसिंहासन, चमस आदि सब उपकरणोंके उदुम्बर काष्ठ द्वारा निर्मित होने से वास्तविक उदुम्बर या प्राजापत्य ओज का स्मरण हो सके। ब्राह्मणग्रन्थों के यज्ञ प्रकरण का अध्ययन करते हुए इस बात को खूब अच्छी तरह ध्यानमें रखना चाहिये कि बाह्य साधारण यज्ञों की रचना, विधि, उपकरण आदि सब के विशेष अभिप्राय हैं। ब्राह्मण ग्रन्थों के अनुसार जीवन यज्ञमय है। जीवन के प्रत्येक पहलूपर यज्ञ की दृष्टिसे विचार किया जा सकता है। इसी लिये बाह्य यज्ञ को इस प्रकार बनाया गया है कि वास्तविक यज्ञ का सदा स्मरण होता रहे। उदुम्बर के परोक्ष भाव को स्मरण कराने के लिये राज्याभिषेक की अनेक वस्तुओं को उदुम्बर निर्मित होने की विधान किया गया है—

> 'तस्यैते पुरस्तादेव सम्भारा उपक्लृप्ता भवन्ति। औदुम्बर्यासन्दी तस्यै प्रादेशमात्राः पादाः स्युः। अरत्निमात्राणि शीर्षण्यानूच्यानि मौंजं विवयनं व्याघ्रचर्मास्तरणं। औदुम्बरश्चमस उदुम्बरशाखा तस्मिन्नेतस्मिंश्चमसेऽष्टातयानि निषुतानि भवन्ति। ऐ० ब्रा० ८।५

इस तरह औदुम्बर आसन्दी, चमस, शाखा आदि रखनेका अभिप्राय यही है, कि राज्यके मूलभूत ' उदुम्बर " या ' प्राजापत्य ऊर्ग् ' का सदा ख्याल रहे। अतः ' औदुम्बर मणि ' के संबन्ध में इतना तो निश्चित समझना चाहिये कि इसका संबंध राज्याभिषेक के साथ है। यद्यपि अभिषेक के समय औदुंबर चमस और उदुम्बर शाखासे औदुम्बर आसन्दीपर तिलक किया जाता है, परन्तु वास्तविक अभिषेक के सम्बन्धमें तैत्तिरीय ब्राह्मणका कथन है, कि—

> ' औदुम्बरेण राजन्यः (अभिषिञ्चति)।
> ऊर्जमेवास्मिन्नन्नाद्यं दधाति। ' तै० ब्रा० १।७।८।७

अर्थात् राजन्य का अभिषेक औदुम्बर से होता है,परन्तु वह औदुम्बर क्या है? वह है, जिसके द्वारा उसमें ऊर्ग् व प्राजापत्य ओजका आधान होता है। इस तरह—

> औदुम्बरो वृषा मणिः स मा सृजतु पुष्ट्या।
> अथर्व० १९। ३१। २

मन्त्रमें औदुम्बर मणि का अर्थ बहुत कुछ स्पष्ट होजाता है, परन्तु इन सूक्तों का अर्थ करने से पूर्व अभी हम अन्य मणियों पर विचार करते हैं।

अब ' पर्णमणि' को लीजिये। पर्णका क्या अभिप्राय है, इस पर भी ब्राह्मण ग्रन्थोंसे कुछ प्रकाश पडता है। परन्तु वेदकी आन्तरिक साक्षी इसे और भी अधिक स्पष्ट करती है। पर्ण के सम्बन्धमें वेद लिखता है-

> सोमस्य पर्णः सह उग्रमागन्निन्द्रेण दत्तो वरुणेन शिष्टः। तं प्रियासं बहु रोचमानो दीर्घायुत्वाय शतशारदाय॥　　अथर्व० ३।५।४

इस मन्त्रमें ' पर्णमणि' को सोमसंबंधी कहा गया है, इस भाव को तैत्तिरीयब्राह्मणका निम्न लिखित सन्दर्भ स्पष्ट कर सकेगा-

> तृतीयस्यामितो दिवि सोम आसीत्।
> तं गायत्र्याहरत्। तस्य पर्णमच्छिद्यत।
> तत्पर्णोऽभवत्। तत्पर्णस्य पर्णत्वम्॥
> तै० ब्रा० १।१।३।१०

इसका शब्दार्थ यह है- सोम पहले तृतीय लोक अर्थात् द्युलोकमें था, उसे गयत्रीने अपहरण किया। इससे उसका पर्ण टूट गया। वही पर्ण बन गया, इसी लिये उसे पर्ण कहते हैं। इस ब्राह्मण वाक्यके अनुसार पहले सोम पृथ्वीपर नहीं था, वह द्युलोकमें था, गायत्री उसे पृथ्वी पर लाई। अभी भाव स्पष्ट नहीं हुआ, और अधिक स्पष्टताके लिये ऐतरेय ब्राह्मण को देखिये —

> सोमो वै राजा गन्धर्वेष्वासीत्तं देवाश्च ऋषयश्चाभ्यध्यायन् कथमयमस्मान्त्सोमो राजा गच्छेदिति ? सा वागब्रवीत् स्त्रीकामा वै गन्ध-

र्वा, मयैव स्त्रिया भूतया पणध्वमिति । नेति देवा अब्रुवन्, कथं वयं त्वदृते स्यामेति ? साब्रवीत् क्रीणीतैव, यर्हि वाव वो मयार्थो भविता तर्ह्येव वोऽहं पुनरागन्तास्मीति तथेति । तया महानग्न्या भूतया सोमं राजानमक्रीणंस्तामनुकृतिमस्कन्नां वत्सतरीमाजंति सोमक्रयणीं तया सोमं राजानं क्रीणन्ति । तां पुनर्निष्क्रीणीयात्पुनर्हि सा तानागच्छत्तदुपांशु वाचा चरितव्यं । सोमे राजनि क्रीते गन्धर्वेषु हि तर्हि वाग्भवति साग्नावेव प्रणीयमाने पुनरागच्छति । ऐतरेय ब्रा० १।२७

पहले सोमराजा गन्धर्वों के पास था, देवों और ऋषियोंने सोचा, कि हम सोम को प्राप्त करें । वे सोचने लगे, कि किस प्रकार राजा सोम हमें प्राप्त हो। इस पर 'वाग्' बोली-गंधर्व लोग स्त्रीकामी हैं, मैं स्त्री बनकर उनके पास जाती हूं । उन्हें मुझको देकर सोमराजा को खरीद लो । देवोंने कहा-नहीं, तेरे विना हमारा कर्म कैसे चल सकता है ? वाग् ने कहा-सन्देह मत करो। मुझे देकर सोमको खरीद लो । ज्यों ही तुम्हारा काम बन जायगा, मैं वापीस चली आऊंगी और फिर तुम्हारे पास आजाऊंगा । देवोंने इस बातको स्वीकृत कर लिया। उन्होंने वाग् देकर सोमको खरीद लिया । .... ज्यों ही सोमराजा आता है और 'अग्नि' बनाई जाती है, त्यों ही 'वाग्' फिर वापिस हो जाती है ।

सोम का अर्थ राजा वा राज्यत्व है, यह पहले ऐतरेय ब्राह्मण द्वारा स्पष्ट किया जा चुका है। इस सम्बन्धमें कुछ अन्य प्रमाणों का आगेभी उल्लेख किया जायगा । इस सन्दर्भ में अलङ्कार रूपसे 'राज्यत्व' की उत्पत्तीका वर्णन है । देवोंने राज्यत्व को 'वाग्' बेच कर प्राप्त किया । राज्य की उत्पत्ति से पूर्व 'विराड्' अवस्था में सब पूर्णतया स्वतंत्र थे, जो जो कुछ चाहता था, बोलता था व करता था । कोई नियम व व्यवस्था न थी। इस व्यवस्थाकी स्थापनाके लिये सोमराजा का आवाहन किया गया । पर सोमराजा वा राज्यत्व की प्राप्ति के लिये 'वाग्' को बेचना आवश्यक था । हर व्यक्तिको नियम आदि की पूर्ण स्वतंत्रताके होते हुए सोम कैसे आसकता था । अतः वाग् स्वतन्त्रता को बेचकर सोमराजाको प्राप्त किया गया, पर सोमके आते ही जब 'अग्नि' बनी, जब अग्रणी वा नेता की योजना हुई, त्यों ही 'वाग्' भी फिर लौट कर होगयी । राज्य उत्पन्न हो जानेपर फिर वाणीकी स्वतन्त्रता बन जाती है, पर उसके निर्माण के समयमें अपनी वैयक्तिक संमतियोंको दबाना पडता है । इसी लिये ऐतरेयका कहना है, कि—

'उपांशु वाचा चरितव्यं सोमे राजनि आगते ।'

सोमराजा के आने पर वाग् को मन्द कर देना चाहिये, वैयक्तिक वाक् स्वतंत्रताको पीछे छोड देना चाहिये ।

इसी बातका वर्णन तैत्तिरीय ब्राह्मणमें और भी अधिक मनोरंजक अलंकार द्वारा किया गया है। हम यहां पर कुछ ही पंक्तियां उद्धृत करते हैं—

'सा रोहिद्रूपं कृत्वा गन्धर्वेभ्योऽपक्रम्य अतिष्ठत् तद्रोहितो जन्म, ते देवा अब्रुवन्नपयुष्मदक्रमीन्नास्मानुपावर्तते विह्वयामहा इति; ब्रह्म गंधर्वा अवदन्नगायन्देवाः, सा देवान् गायत उपावर्तत, तस्माद्गायन्तं स्त्रियं कामयन्ते ।'

तै० ब्रा० ६।१।६।५-६

इसकी व्याख्या करनेकी आवश्यकता नहीं । इन सन्दर्भों को इसलिये दिखाया गया है कि गायत्री द्वारा सोमके पर्णको अपहरण करनेका अलंकार स्पष्ट हो सके ।

तृतीयस्यां दिवि सोम आसीत् । तं गायत्र्याहरत् तस्य पर्णमच्छिद्यत ।'

इत्यादि वाक्यमें गायत्रीसे अभिप्राय वाणीका ही है, और उपरिलिखित कथा की तरफ ही यहां निर्देश है । पहले सोम तृतीय लोक यानी द्युलोकमें था, गायत्री या वाक्ने उसका अपहरण किया । सोम एक लता भी होती है, जिसके अनेक 'पर्ण' होते हैं । ब्राह्मण ग्रन्थोंमें आलङ्कारिक भाषाका प्रयोग होनेके कारण सोमराजाके आहरण होनेपर भी उसके 'पर्ण' का निर्देश कर दिया गया है । वस्तुतः सोमहीका नाम पर्ण है, यह शतपथके 'सोमो वै पर्णः' (६।५।१।१) इस वाक्यसे स्पष्ट है । इस प्रकार पर्णक

अर्थ हुआ सोमराजा या राज्यत्व । शतपथमें ऐतरेय और तैत्तिरीयके अलंकारको इस प्रकार लिखा है-

'यत्र वै गायत्री सोममच्छापतत्तदस्याऽआहरन्त्याऽअपादस्ताभ्यायत्य पर्णं प्रचिच्छेद गायत्र्यै वा सोमस्य वा राज्ञस्तत्पतित्वा पर्णोऽभवत्तस्मात्पर्णो नाम ।' शत० ब्रा० १।७।१।१

गायत्री या वाग् द्वारा सोम लाया गया, लाते हुवे उसका पर्ण अलग होगया अतः उसका नाम पर्ण पडा । इन सब सब संदर्भोंसे 'पर्ण' का वास्तविक अर्थ क्या है, यह अच्छी प्रकार स्पष्ट होगया होगा। 'वरण मणि' और ' औदुंबर मणि' की तरह 'पर्ण मणि' भी राज्यत्व को ही सूचित करती है ।

अब 'दर्भमणि' को लीजिये । दर्भके अर्थके सम्बन्धमें कोई विशेष निर्देश ब्राह्मण ग्रंथोंमें नहीं मिलते। परन्तु ' दूर्वा ' जो कि दर्भका पर्याय वाची है, इस दर्भके अर्थको भी स्पष्ट करता है । दूर्वाके संबंधमें ऐतरेय ब्राह्मणमें लिखा है-

'अथ यद्दूर्वा भवति क्षत्रं वा एतदोषधीनां यद् दूर्वा।'
ऐ० ब्रा० ८।८

दूर्वा औषधियों में क्षत्रिय है। परन्तु केवल औषधियों में ही क्षत्रिय का नाम दूर्वा नहीं है, क्षत्र का ही नाम दूर्वा है । शतपथ कहता है-

'अयं वाव माऽधूर्वीदिति यदब्रवीत् अधूर्वीन्मेति, तस्मात् धूर्वाः, धूर्वा ह वै तां दूर्वा इत्याचक्षते, परोक्षकामा हि देवाः। तदेतत्क्षत्रम्। श० ब्रा० ७।४।२।१२

क्यों कि इसकी हिंसा नहीं होती और यह किसी की हिंसा नहीं करता, इस लिये ' धूर्वा ' कहते हैं। यद्यपि वस्तुतः तो इसका नाम ' धूर्वा ' है, परन्तु इसे ' दूर्वा ' कहते हैं, क्यों कि देवलोग परोक्ष बात को पसन्द करते हैं । यह दूर्वा ' क्षत्र ' ही है ।

इसी तरह शतपथमें अन्यत्र कहा है-

तदेतत्क्षत्रं प्राणो ह्येष रसो (यद् दूर्वा) लोमान्यन्या ओषधयः, एतां (दूर्वा) उपदधत्सर्वा ओषधीरुपदधाति ।
शत० ब्रा० ७।४।२।१२

इसमें भी दूर्वा को क्षत्र ही कहा गया है, यह दूर्वा वा क्षत्र ओषधि अन्य सब ओषधियों में अत्यन्त उत्कृष्ट है ।

इस तरह दूर्वा या दर्भ का भी अभिप्राय क्षत्र या राज्यत्व ही है । ' अभीवर्त मणि ' का भी वर्णन अथर्ववेदमें आया है । ' अभीवर्तेन मणिना येनेन्द्रो' आदि सूक्त ऋग्वेद में भी आता है । केवल इतना भेद है कि वहां पर ' मणिना ' के स्थानपर ' हविषा ' शब्द आया है ।

' अभीवर्तेन हविषा येनेन्द्रो अभिवावृधे । '

आदि सूक्त स्पष्टरूपसे राज्य प्रकरण का है और भाष्यकारोंने उसका अर्थ भी इसी प्रकार किया है । केवल हविषा के स्थान पर ही ' मणिना ' शब्द होनेसे यह संभावना होती है कि अथर्ववेदका अभीवर्तसूक्त भी राजप्रकरण का है । परन्तु इस संबंध में केवल यही एक साक्षी नहीं है । ताण्ड्य महाब्राह्मणमें ' अभीवर्त ' का अर्थ इस प्रकार-किया है-

' अभीवर्तेन वै देवा असुरानभ्यवर्तन्त यदभीवर्तो ब्रह्मसाम भवति भ्रातृव्यस्य अभिवृत्यै । तां० म० ब्रा० ८।२।८

इस सूत्रके अनुसार देवोंने ' अभीवर्त ' के द्वारा असुरों को पराभूत किया। यह अभीवर्त क्या है?यह है- ' ब्रह्मसाम ' यहां ब्रह्मसाम का अभिप्राय क्या है ? इसे ताण्ड्य महाब्राह्मण स्वयं स्पष्ट करता है-

' देवाश्च वा असुराश्चैषु लोकेष्वस्पर्धन्त ते देवाः प्रजापतिमुपधावँऽस्तेभ्य एतत्साम प्रायच्छत् एतेनैनान्कालयिष्यथमिति । '
तां० महा० ८।३।१

' देवों और असुरोंने इस लोकमें संग्राम किया । देव लोग प्रजापति के पास भागे भागे गये। प्रजापति ने उन्हें विजय के लिये ' साम ' दे दिया । यह साम क्या है ? ' साम ' वही राज्यत्व या ' सोमराजा ' है । जिसके द्वारा देवों ने असुरोंको पराजित किया। इस अद्भुत शक्तिका वर्णन वैदिक साहित्य में अनेक स्थलों पर पाया जाता है ।

देवासुर संग्राम में जिस ' अभीवर्त ' के द्वारा देवोंने असुरों को पराजित किया, वह यही सोम या

राजत्व है । इस प्रसंगमें गोपथ के—

'ता भीता अब्रुवन् भगवन्तमेव वयं राजानं वृणीमहे ।' इति

और ऐतरेय के-

देवासुरा वा एषु लोकेषु समयतन्त ... ते सोमं राजानं चक्रिरे ।'

सन्दर्भोंका भी ख्याल करलेना चाहिये । इनको दृष्टिमें रखकर इस स्थापना में कोई सन्देह न रहेगा कि अभीवर्त,सोम या राज्यत्व का ही अभिद्योतक है।

अब प्रतिसर मणिको लीजिये । प्रतिसर का क्या अर्थ है । इसको स्पष्ट करनेके लिये शतपथब्राह्मणका निम्न लिखित सन्दर्भ पर्याप्त होगा-

एतद्वै देवा एतमात्मानमुपधायाबिभयुर्य द्वैन इममिह रक्षांसि नाष्ट्रा न हन्युरिति तऽएतान्रक्षोघ्नान्प्रतिसरानपश्यन्कृणुष्व पाजः प्रसितिं न पृथ्वीमिति राक्षोघ्ना वै प्रतिसरास्त ऽ एतैः प्रतिसरैः सर्वाभ्यो दिग्भ्यो रक्षाँसि नाष्ट्रा अपहत्याऽभयेऽनाष्ट्रऽएतमात्मानं समस्कुर्वत तथैवैतद्यजमान एतैः प्रतिसरैः सर्वाभ्यो दिग्भ्यो रक्षाँसि नाष्ट्रा अपहत्याऽभयेऽनाष्ट्र एतमात्मानं संस्कुरुते । श ० ब्रा ० ७ । ४ । १ । ३३

'इसका अभिप्राय यह है, कि देवों और असुरोंके संग्राम में देवोंने सोचा कि राक्षस लोग हमें न मारें, इसका कुछ उपाय करना चाहिये । इस पर उन्होंने राक्षसों के मारनेमें समर्थ प्रतिसरों को समझा। इन प्रतिसरोंका वर्णन यजुर्वेदके ' कृणुष्व पाजः प्रसितिं न पृथ्वीम् ' इत्यादि (यजु ० १३ । ८—१३) मन्त्रों में है । वे मन्त्र स्पष्ट रूपसे राज्य प्रकरण में हैं। और वस्तुतः उनमें राक्षसों के घातमें समर्थ ' प्रतिसर ' का वर्णन है। शतपथ के अनुसार ' राक्षोघ्नाः प्रतिसराः ' जिससे राक्षसों व असुरोंका घात होता हो, वह प्रतिसर है। आगे फिर ' एतैः प्रतिसरैः ' इत्यादि। इस प्रतिसरसे सब दिशाओं में राक्षसों और नाष्ट्रों को मार कर सर्वत्र अभय की स्थापना देवोंने की। इसी तरह अबभी यजमान प्रतिसरसे राक्षसों व नाष्ट्रों का नाश कर अपने को भयसे रहित करता है। राक्षस और नाष्ट्र समानार्थक शब्द हैं ।

शतपथ ब्राह्मणसे यह स्पष्ट है, कि 'प्रतिसर ' भी वही वस्तु है, जिसके द्वारा देव असुरों को पराजित करते हैं, जिससे वे अभयका सर्वत्र सञ्चार करते हैं । यह इस शक्तिसे विशिष्ट प्रतिसर 'सोम राजा' के सिवाय कुछ नहीं है, इसकी व्याख्या करनेकी आवश्यकता अब नहीं रही है ।

इस तरह मणिशब्दके साथ जो विशेषण मुख्यरूपसे अथर्व वेद में आये हैं, उनपर हमने विचार कर लिया है । वरण, औदुम्बर आदिके सिवाय दो अन्य विशेषण इस प्रकारके हैं, जिनपर विचार करनेकी आवश्यकता है । ये हैं- जङ्गिड और शंख । अथर्व वेदके द्वितीय काण्डके चतुर्थ सूक्तमें जंगिड मणिका और चतुर्थ काण्ड के १० वें सूक्तमें शङ्ख मणिका वर्णन है । ये दोनों मणियां आयुर्वेद शास्त्रके साथ सम्बन्ध रखती हैं, ऐसा प्रतीत होता है । ' जंगिड ' किस औषधिका नाम है, यह इस समय तो नहीं मालूम, पर सायण के समयमें इस नामका वृक्ष उत्तरीय भारतमें प्रसिद्ध था । जंगिड औषधि ही है, ऐसा परिज्ञान इस सूक्तके निम्न लिखित मन्त्रसे होता है—

शणश्च मा जङ्गिडश्च विष्कन्धादभिरक्षताम् ।
अरण्यादन्य आभृतः कृष्या अन्यो रसेभ्यः ।

अथ० २।४।५

औषधिके सिवाय अन्यभी कुछ ' जंगिडमणि ' का अभिप्राय है वा नहीं, इस सम्बन्धमें कुछ बोध हमें वैदिक साहित्यके अध्ययनसे नहीं हुवा । शंख सूक्तमें मणिशब्द एक बार आया है। शंखका अभिप्राय है, यह एक रहस्यमय विषय अब तक बना हुवा है । यदि इससे साधारण शंख का अभिप्राय लें, तो इन मन्त्रों का क्या अभिप्राय होगा—

' यो अस्मान्त्सर्वतः पातु हेत्या देवासुरेभ्यः ।'

अ० ४।१०।५

'देवानामस्थि कृशनं बभूव तदात्मन्वच्चरत्यप्स्वन्तः । तत्ते बध्नाम्यायुषे वर्चसे बलाय दीर्घायुत्वाय शतशारदाय कार्शनस्त्वाभिरक्षतु।'

अथर्व० ४।१०।७

साधारण शङ्खमें इन असाधारण शक्तियों को मानना असंगत प्रतीत होता है । यह केवल इस अवस्थामें माना जा सकता है, जब ' तावीज ' ष

कवचमें अलौकिक शक्तियों को स्वीकृत कर लिया जाय। वस्तुतः शंख व जंगिड मणियोंके वास्तविक अभिप्रायको समझ सकना अभी बहुत कठिन प्रतीत होता है। इनके जिन गुणों या कार्यों आदिका इसमें वर्णन है, उन्हें संमुख रखते हुए इन्हें साधारण औषध भी नहीं समझा जा सकता। स्पष्ट न होनेके कारण जंगिड और शंख मणिके सम्बन्धमें हम यहां विचार नहीं करेंगे।

उपर्युक्त विवेचना द्वारा हमने यह समझनेका प्रयत्न किया है कि 'मणि' के मुख्य मुख्य विशेषणोंका वैदिक साहित्य के अनुसार क्या अभिप्राय है। अब हम मणि संबंधी सूक्तोंके आन्तरिक निर्देशों पर विचार करेंगे। इन सूक्तोंमें कुछ मंत्र खण्ड इस तरह के आते हैं, जो अथर्व वेदके मणि शब्दके अभिप्राय को बहुत कुछ स्पष्ट कर देते हैं।

यह पहले बताया जा चुका है, कि देवों और असुरोंके संग्राममें, राज्यत्व को प्राप्त करके, राजा और प्रजाके रूपमें संगठित होकर देवोंने असुरोंपर विजय प्राप्त की। देवोंके नेता का नाम 'इन्द्र' था। इन्द्रने अपनी राज्यशक्तिद्वारा ही असुरों को परास्त किया। राज्य एक यज्ञ है। देवलोग यज्ञ करने वाले थे और असुर यज्ञ नहीं करते थे। यज्ञ करने के कारण देव विजयी हुवे और यज्ञके अभाव से असुर परास्त हुवे। यह यज्ञ राज्यरूपी यज्ञके सिवाय अन्य कुछ नहीं है। शतपथ ब्राह्मण के पञ्चम काण्डमें, जो कि मुख्यतः राज्यधर्म संबंधी है और जिसमें विस्तारके साथ राज्याभिषेकका वर्णन किया है, प्रारंभ में ही इस राष्ट्र यज्ञ की व्याख्या की गई है। उसका भाव संक्षेप में हम इस प्रकार लिख सकते हैं-

देव और असुर दोनों प्राजापत्य हैं, दोनों प्रजापतिकी सन्तान हैं। इन दोनों में परस्पर प्रतिस्पर्धा उत्पन्न हुई। असुर सोचने लगे कि हम किसमें यज्ञ करें। वे अभिमान के कारण अपने अपने में ही आहुति देने लगे। यज्ञके वास्तविक अभिप्राय त्याग और अन्योन्याश्रयिताको उन्होंने नहीं समझा। वे उस आहुति को, जो अन्यों के लिये थी, अपने काम में लाने लगे। परिणाम यह हुवा कि वे पराभूत होगये। इसके विपरीत देवोंने एक दूसरे में हवन किया। आहुति अपने में न देकर एक दूसरे में दी। इस कारण देव लोगों का यज्ञ प्रारंभ हुआ। परन्तु यज्ञके प्रारंभ होनेपर यह झगडा हुआ, कि सब लोग किस एक में आहुति दे, क्यों कि यज्ञकी पूर्णता के लिये किसी एक का केन्द्रित रूप से विद्यमान होना अनिवार्य था। अन्तमें यह निश्चित हुआ, कि जो सबसे अधिक योग्य और शक्तिशाली हो, उसी में सब आहुति दें। इस प्रकार 'इन्द्र' या राजाकी उत्पत्ति हुई। इसी इन्द्रने देवोंका नेतृत्व स्वीकृत किया और इसी कारण असुर पराभूत हुवे।

शतपथ की भाषा इतनी आसान नहीं है। पर इसका भाव यही ही है। वस्तुतः यहां राष्ट्ररूपी यज्ञका वर्णन है। राष्ट्रयज्ञमें सबको अपना अपना भाग छोडकर अन्यों का ख्याल करना पडता है। सबकी भलाई के लिये स्वयं आहुति देनी होती है, स्वयं त्याग करना पडता है। यह यज्ञकी हवि,बलि या कर एक इन्द्र या राजाके पास जाता है, जिसके कारण सब संगठित रहते हैं।

इसी सचाईका अथर्ववेदके इन मणिसूक्तोंमें अनेक निर्देशों द्वारा वर्णन किया गया है। उदाहरण के लिये कुछ निर्देश यहां पर लीजिये-

'अभीवर्तेन मणिना येनेन्द्रो अभिवावृधे।

अ० १।२९।१

जिस अभीवर्त मणिसे इन्द्रने वृद्धिको प्राप्त किया। अब इसका अर्थ समझनेमें कोई कठिनाई नहीं हैं। अभीवर्त मणिका भी अभिप्राय हमें मालूम है और इन्द्र किस चीजसे तथा किस प्रकार वृद्धिको प्राप्त करता है, यह भी हम जान गये हैं। और लीजिये-

अवारयन्त वरणेन देवा अभ्याचारमसुराणां श्वःश्वः।

अ० १०।३।२

इसी सूक्तमें फिर एक स्थान पर--

इन्द्रो दस्यूनिवासुरान्।

अ० १०।३।११

इसी एक सचाई की तरफ बार बार निर्देश किया

जा रहा है । फिर लिखा है-

यमबध्नाद्बृहस्पतिर्देवेभ्यो असुरक्षितिम् ।

अ० १०।६।२२

देवों को असुर विनाशक यह शक्ति बृहस्पतिने दी है, इस रहस्य को समझने के लिये दूर जानेकी आवश्यकता नहीं । शतपथके पञ्चम काण्डके प्रारंभमें ही लिख दिया गया है—

'ते होचुः । कस्य न इदं भविष्यतीति ते मम ममेत्येव न सम्पादयाञ्चक्रुस्ते हासंपाद्योचुरा जिमेवास्मिन्नजामहै स यो न उज्जैष्यति तस्य न इदं भविष्यति इति तथेति तस्मिन्नाजिमाजन्त ॥ ३ ॥ स बृहस्पतिः । सवितारमेव प्रसवायोपाधावत्सविता वै देवानां प्रसविता । "

श० ब्रा० ५ । १ । १ । ३-४

यहां बृहस्पति द्वारा इस मणिका देवोंको प्रदान करना बिलकुल स्पष्ट है। अब प्रतिसर मणिके सम्बन्धमें देखिये-

'अनेनेन्द्रो मणिना वृत्रमहन् । अथर्व० ८।५।३

फिर-

'अबिभस्त्वेन्द्रो मानुषे ।' अथर्व० ८।५।१४

दर्भमणिके सम्बन्धमें लिखा है-

'हृदः सपत्नानां भिन्धीन्द्र इव विरुजं बलम् ।'

अथर्व० १९ । २८ ।३

फिर-

'त्वामाहुर्देववर्म त्वां दर्भ ब्रह्मणस्पतिम् ।
त्वामिन्द्रस्याहुर्वर्म त्वं राष्ट्राणि रक्षसि ।'

अ० १९ । ३० । ३

अब औदुम्बर मणि के विषयमें देखिये-

'इन्द्रेण जिन्वितो मणिरा मागन्त्सह वर्चसा ।'

अथर्व० १९ । ३१ । ७

ये सब मणि संबंधी सूक्तों के आन्तरिक निर्देश हैं, जो कि स्पष्ट रूपसे हमारी स्थापना को पुष्ट कर रहे हैं । इन मन्त्रभागोंमें शतपथके ही राष्ट्रयज्ञमें देवोंकी विजयके प्रधान साधन राज्यशक्ति की ओर निर्देश है ।

अब हम मणि संबंधी इन सूक्तों की अन्य आन्तरिक साक्षियों पर विचार करेंगे । पहले औदुम्बर सूक्तको लीजिये--इस सूक्तका दूसरा मन्त्र है--

यो नो अग्निर्गार्हपत्यः पशूनामधिपा असत् ।
औदुम्बरो वृषा मणिः स मा सृजतु पुष्ट्या ॥

अथ० १९ । ३१ । २

(यः) जो (गार्हपत्यः अग्निः) गार्हपत्य अग्नि (नः) हमारे (पशूनाम्) पशु आदि संपत्तिका (अधिपा) रक्षक (असत्) भवतु--होवे (सः) उस गार्हपत्य अग्नि को (वृषा) श्रेष्ठ या अभिमत फल की वर्षा करने वाली (औदुम्बरो मणिः) औदुम्बर मणि (पुष्ट्या) पुष्टिके लिये (मा सृजतु) मेरे लिये उत्पन्न करे । इस मन्त्रमें ध्यान देने योग्य बात यह है कि औदुम्बर मणिने ' गार्हपत्य अग्नि ' को उत्पन्न करना है । औदुम्बर मणि का अर्थ हमें मालूम है, ' गार्हपत्य अग्नि ' का अर्थ है-- गृहपति नेता राजकीय विकास की प्रथम गृहपति दशाका नेता । विकास की इस स्वाभाविक प्रथम सीढी का प्रतिपादन इस सूक्त का स्पष्टरूप से किया गया है·

(१) ' विराड् वा इदमग्र आसीत् तस्या जातायाः सर्वमबिभेदियमेवेदं भविष्यतीति ॥१॥
सोदक्रामत् सा गार्हपत्ये न्यक्रामत् ॥ २ ॥
गृहमेधी गृहपतिर्भवति य एवं वेद ॥ ३ ॥

अथर्व० ८ । १० । १।३

यहां 'गार्हपत्यसे अभिप्राय इसी गृहपति अवस्था का है । 'यो नो अग्नि' इत्यादि मन्त्रमें इस 'औदुम्बर मणि ' या राज्यशक्ति द्वारा गृहपति अवस्था की उत्पत्ति प्रतिपादित की गई है । इससे औदुम्बर मणि के अभिप्राय पर अच्छा प्रकाश पडता है ।

(२) इस सूक्तका १२ वां मन्त्र है-

ग्रामणीरसि ग्रामणीरुत्थायाभिषिक्तोभि मा सिञ्च वर्चसा । तेजोऽसि तेजो मयि धारयाधि रयिरसि रयिं मे धेहि । अथर्व० १९ । ३१ । १२

हे औदुम्बर ! तू (ग्रामणीः) ' ग्रामं नयतीति ग्रामणीः ' ग्रामस्वामी (असि) है, तू (अभिषिक्तः) अभिषिक्त (असि) है, इत्यादि ।

इस मंत्रमें तो स्पष्ट रूपसें औदुम्बर मणि को ग्रामणी और अभिषिक्त कहा है । हमारे पक्ष की पुष्टिके लिये इससे अधिक स्पष्ट प्रमाण क्या हो सकता है ?

(३) दर्भसंबन्धी सूक्तों में ये निर्देश भी मनन

योग्य है—

त्वामिन्द्रस्याहुर्वर्म त्वं राष्ट्राणि रक्षसि।

अथर्व १९।३०।३

हे दर्भमणि! तुझे इन्द्रका 'वर्म' कहा जाता है, इन्द्रका वर्म क्या है इसपर टिपणी की अब आवश्यकता नहीं। तू राष्ट्रों या देशों की रक्षा करने वाली है।

(४) सपत्नक्षयणं दर्भ द्विषतस्तपनं हृदः।
मणिं क्षत्रस्य वर्धनं तनूपानं कृणोमि ते।

अथ० १९।३०।४

दर्भ शत्रुओंका नाश करनेवाली है, द्वेषियों के हृदय को तपानेवाली है। यह क्षत्रशक्तिको बढाने वाली है।

(५) वरण सूक्त में आता है--

स मे राष्ट्रं च क्षत्रं च पशूनोजश्च मे दधत्।

अ० १०।३।१२

(६) मणि के अभिप्राय को समझनेके लिये यह मंत्र बहुत महत्वपूर्ण है--

तस्मै घृतं सुरां मध्वन्नमन्नं क्षदामहे।
स नः पितेव पुत्रेभ्यः श्रेयः श्रेयश्चिकित्सतु
भूयो भूयः श्वः श्वो देवेभ्यो मणिरेत्य।

अ० १०।६।५

(तस्मै) उस मणिके लिये हम (घृतं) घृत (सुरा) सुरां (मध्वन्नं) मिष्टान्न (अन्नं) अन्न आदिसे उपलक्षित सम्पत्ति को (क्षदामहे) समर्पित करते हैं इस के बदले में (सः) वह (नः) हमें (पुत्रेभ्यः) पुत्रों के लिये (पितेव) पिताकी तरह (श्रेयः श्रेयः) जो कुछ श्रेय हो वह (चिकित्सतु) प्राप्त करावे हमें श्रेय मार्ग की तरफ ले जावे यह कार्य (भूयो भूयः) पुनः पुनः बार बार (श्वः श्वः) हमेशा भविष्यमें (मणिः एत्य) मणि हमें प्राप्त हो कर हम देवों के लिये करें।

इस मन्त्रमें राज्यकार्यका बडी सुन्दर रीतिसे वर्णन किया है। यह कहा है, कि हम सम्पत्तिमें से कुछ भाग कर के रूपमें मणिरूप राज्यशक्ति को समर्पित करें और वह राज्य हमारे लिये श्रेयस्कर हो, पिताकी तरह प्रजाका पालन करे और भविष्य में सर्वदा राज्य हमारे लिये हितकर हो।

(७) यस्मै त्वा यज्ञवर्धन मणे प्रत्यमुचं शिवम्।
तं त्वं शतदक्षिण मणे श्रेष्ठ्याय जिन्वताम्।

अथ० १०।६।३४

यहां मणिका विशेषण 'यज्ञवर्धन' रखा गया है, यह विशेषण महत्त्वपूर्ण है। मणिकी वृद्धि यज्ञ द्वारा होती है, यह बात शतपथ ब्राह्मणमें विस्तारके साथ प्रतिपादन की गई है।

इस तरह मणिसंबंधी सूक्तोंकी आन्तरिक साक्षी से भी हमने अपनी स्थापना को स्पष्ट करनेका प्रयत्न किया है। इस सम्बन्धमें अन्यभी बहुतसे मंत्र व मन्त्रों के टुकडे पेश किये जा सकते हैं। पर विस्तार भयसे इतने ही पर्याप्त हैं। यदि मणि का अर्थ 'तावीज' या अन्य कुछ समझा जाय, तो इनका स्पष्टीकरण असंभव है।

अब हम एक अत्यन्त महत्वपूर्ण व आवश्यक विषय पर आते हैं, जिस पर सम्यक् विचार करने से 'मणि' शब्दके अभिप्राय को समझनेमें बहुत सहायता मिल सकेगी। शतपथ और तैत्तिरीय ब्राह्मणोंमें 'रत्नियों' का वर्णन किया गया है- राज्याभिषेक के समय वह व्यक्ति, जिसका अभिषेक होता था, इन 'रत्नियों' को 'रत्नहवि' प्रदान करता था। इनकी संख्या ११ होती थी। राजा इनके घर जाता है और इन्हें 'रत्नहवि' प्रदान करता है। इसके लिये तैत्तिरीय ब्राह्मणके इन वाक्योंपर दृष्टि डालिये—

'रत्निना एतानि हवीँषि भवन्ति। एते वै राष्ट्रस्य प्रदातारः। एते ' पादातारः। य एव राष्ट्रस्य प्रदातारः, ये पादातारः,त एव अस्मै राष्ट्रं प्रयच्छन्ति। राष्ट्रमेव भवति, यत्समाहात्य निर्वपेत्। अरत्निनः स्युः। यथायथं निर्वपति रत्नित्वाय।' तैत्तिरीय ब्रा० १।७।३।१

ये हवियां रत्नियों की ही हैं। ये रत्नी राष्ट्र के प्रदाता हैं, ये ही राष्ट्रके गृहीता रक्षक हैं, ये ही राजाके लिये राष्ट्रको प्रदान करते हैं। क्यों कि ये ही राष्ट्र के प्रदाता हैं, और राष्ट्रके गृहीता है, अतः वे ही राजा के लिये राष्ट्र को देते हैं। राष्ट्र ही है, जिसे वे देते हैं, अन्यथा वे 'अरत्नी' हो जावें।

इन रत्नियों के नाम निम्न लिखित हैं-

१ सेनानी २ पुरोहित ३ महिषी ४राजा ५ सूत ६ ग्रामणी ७ क्षत्तृ ८ संगृहीता ९ भागदुघ१०अक्षावाप ११ गोविकर्त् १२ पालागल। क्यों कि ' रत्नहवि ' राजाको अपने आप भी दी जाती है, अतः उस की भी परिगणति इस सूचि में की गई है, पर वह स्वयं रत्नी नहीं है । यह प्रतिपादित करने की आवश्यकता नहीं। ये दसों ' रत्निन् ' राष्ट्रके उच्च राजकर्मचारी है। ये उन राज्यपदाधिकारियों के नाम हैं, जिन पर राज्यका सम्पूर्ण भार निहित था। ये राज्य के प्रदाता या ' राज्यकृतः ' कहलाते थे। शतपथ और तैत्तिरीयकी विधिके अनुसार राज्याभिषेक के अवसर पर राजा प्रतिदिन क्रमशः इन में से एक एक के घर जाता था और वहां ' रत्नहवि ' इन्हें देता था। ये सेनानी पुरोहित आदि ' रत्निन् ' राजाको राष्ट्रका प्रदान करते थे और उसकी सत्ता को स्वीकृत करते थे।

इस वर्णन में ध्यान देने योग्य बात यह है कि 'रत्निन्' और 'मणि' का सम्बन्ध बहुत घनिष्ठ प्रतीत होता है । ' रत्न' और 'मणि' एकही अर्थ के बोधक हैं। कोई आश्चर्य नहीं कि वेदमें जिस भावके लिये मणि शब्द का प्रयोग है,इसीको ब्राह्मण ग्रंथोंने 'रत्न' शब्दसे अधिक स्पष्ट करने का प्रयत्न किया हो। इस तरह का प्रयत्न हम अनेक स्थलों पर देखते हैं। परन्तु इस बातका आधार केवल यह कल्पना ही नहीं है। इसके लिये हमारे पास अधिक दृढ आधार विद्यमान हैं। पर्ण मणि सम्बन्धी सूक्तमें निम्न लिखित दो मन्त्र उपलब्ध होते हैं-

ये धीवानो रथकाराः कर्मारा ये मनीषिणः। उपस्तीन् पर्ण मह्यं त्वं सर्वान् कृण्वभितो जनान् ॥ ६ ॥ ये राजानो राजकृतः सूता ग्रामण्यश्च ये। उपस्तीन् पर्ण मह्यं त्वं सर्वान् कृण्वभितो जनान् ॥ ७ ॥ अ० ३।५

इसमें पर्णमणिसे प्रार्थना की गई है, कि हे मणि! तू धीवान, रथकार, कर्मार, राजकृत राजा, सूत, ग्रामणी आदि राज कर्ताओंको मेरे अनुकूल सेवाके लिये मेरे समीप कर। यह ठीक वही भाव है, जो 'रत्नहवि' के आदान और प्रदान में पाया जाता है। ब्राह्मणग्रन्थोंके 'रत्निन् ' राजकर्त्तारः या राजकृतः हैं, वे राजा को 'रत्न' प्रदान कर अपने को उसके अनुकूल कर देते हैं। वहां राजा इसी ' रत्न' वा मणिसे इन मणिके धारण करने वाले ' राजकृतः' को अपने अनुकूल करनेकी प्रार्थना करता है। दोनों का भाव एक ही है और दोनोंमें परस्पर घनिष्ठ सम्बन्ध वा एकत्व सूचित होता है। इस सम्बन्धको पाश्चात्य वैदिक विद्वान् ब्लूमफील्डने भी अनुभव किया है। वह लिखता है-

" The two stanzas prove conclusively that the hymn belongs to the sphere of practices connected with the consecration of a king, and the firm establishment of his royalty. The four classes of persons whose aid is regarded as desirable for the king belong to the so-called Ratna, 'jewels, of the court, i. e they are honoured and in-dispensible members of his household. Their number altogether is about a dozen and according toTait Br 1, 7,3, 1 ff, they are the givers and takers of royalty (Rashtrarya pradatarah, rashtrarya pradatarah) As a preliminary to the consecration of a king they must be consiliated, and an oblation is offered in the house of each "

वीबर आदि अन्य विद्वानों को भी इन मन्त्रोंका यही सम्बन्ध मालूम हुआ उनपर जो विवेचना की गई है, उससे 'मणि' का अभिप्राय बहुत स्पष्ट हो जाता है। 'मणि' का अभिप्राय वही है, जो ब्राह्मण ग्रन्थोंमें ' रत्न' का है। 'रत्न' राज्य शक्तिको सूचित करता है और मणिभी इसी अर्थका द्योतक है। शतपथमें जिस 'रत्नहवि'का विधान है, वही अथर्व वेद की परिभाषामें 'मणि' है। शतपथमें राजाके लिये रत्नको प्रदान करनेवाले सेनानी, पुरोहित, सूत,ग्रामणी आदि हैं, जिन्हें 'रत्निन्' कहा गया है। अथर्व वेदमें भी 'मणि' का प्रदान करनेवालों की संख्या गिनाई गई है। मणिके प्रदाता इस तरह बढाये गये हैं-

तदग्निराह तदु सोम आह बृहस्पतिः सविता तदिन्द्रः। ते मे देवाः पुरोहिताः प्रतीचीः कृत्याः प्रतिसरैरजन्तु ॥ अथर्व०८।३।५

अग्नि, सोम, बृहस्पति, सविता, इन्द्र और अन्य पुरोहित देवोंने इस मणिको कहा है।

इसी प्रकार—

' तमग्निः प्रत्यमुञ्चत सो अस्मै दुह आज्यम्।
' तमिन्द्रः ,, ,, ,, ,, ,,
' तं सोमः ,, ,, ,, ,, ,,

आदि दशम काण्डके ६वें सूक्तके मन्त्रोंसे भी यही निर्देश मालूम पडता है। वैदिक राज्य पदाधिकारियों के नाम ब्राह्मण कालके नामों से भिन्न हैं, इस पर आश्चर्य नहीं करना चाहिये। शनैः शनैः नामों में भेद आते रहते हैं, यह स्वाभाविक है। ब्राह्मण कालमें जो नाम थे, कौटिल्य के समय वे नहीं रहे। यह बात अत्यन्त साधारण है।

उपसंहार।

वैदिक साहित्यमें मणि सम्बन्धी सूक्तोंके वास्तविक अभिप्रायको स्पष्ट करने वाले जो निर्देश पाये जाते हैं उन्हें मैं ने इस निबन्धमें संगृहीत किया है। जिस परिणाम पर हम पहुंच गये हैं, वह नवीन होनेसे कुछ विचित्र प्रतीत होगा। परन्तु उस अर्थ को समझ कर यदि इन सूक्तोंका अध्ययन किया जाय तो कुछ विशेष ही आनन्द आ जायगा। तब न तो इन सूक्तों में जादू टोनेकी गन्ध आयगी और नही ये कुछ रहस्य मय अद्भुत बात प्रतीत होंगी। ये राजधर्मशास्त्रकी सचाइयोंका वर्णन करने वाले मन्त्र मालूम पडने लगेंगे।

मैं नहीं समझता कि मेरी यह कल्पना विद्वानों को मान्य होगी। परन्तु इतना अवश्य है कि इस से उन्हें सोचने के लिये अवसर मिलेगा। यदि इस निबन्ध द्वारा वैदिक पण्डितों को मणि संबंधी सूक्तों के अध्ययन करने में कुछ भी सहायता मिली, तो मैं अपने इस परिश्रम साध्य प्रयत्नको सफल समझूंगा। अन्तमें इस प्रार्थनाके साथ इस निबन्धको समाप्त करता हूं—

यमबध्नाद्बृहस्पतिर्देवेभ्यो असुरक्षितिम्।
स मायं मणिरागमत्तेजसा त्विष्या सह यशसा कीर्त्या सह।
यमबध्नाद्बृहस्पतिर्देवेभ्यो असुरक्षितिम्।
स मायं मणिरागमत्सर्वाभिर्भूतिभिः सह ॥

महाभारत।

महाभारत का कर्णपर्व करीब करीब संपूर्ण छपकर तैयार है, केवल अंतिम अंक तैयार हो रहा है वह तैयार होते ही ग्राहकोंके पास भेजा जायगा। पूर्वके समान दो दो अंक ग्राहकोंके पास न भेजनेका कारण डाक खानेके नवीन नियम हैं। डाक खानेवालों का नवीन नियम यह है कि मासिकोंके अंक खुले पैक करना चाहिये। चारों ओर से बंद पूर्वके समान पैक किये तो तीन गुणा महसूल देना होगा। इस समय तक प्रति अंक के लिये आधा आना महसूल लगता था। परंतु अब वैसा अंक भेजा तो प्रति अंक के लिये डेढ आना लगेगा। यदि डा० व्य० न्यून करनेके लिये खुला पैकिंग किया तो अंक फट कर ग्राहकोंको मिलेंगे और ग्राहकोंका नुकसान होगा, तथा यदि बंद पैकिंग किया तो डा० व्य० का हमारा बहुत नुकसान होगा। इस प्रकार दोनों तरफ हानि होगी। इस लिये इस विषयमें डाक खानेवालोंसे लिखा पढी चल रही है। उनका उत्तर आनेके बाद अंक भेजे जायंगे॥

प्रबंधकर्ता— स्वाध्याय मंडल, औंध
(जि. सातारा.)

हिंदू समाज समर्थ कैसा बनेगा ?

(ले० श्री० पं० महादेव शास्त्री दिवेकर । अनुवा० श्री ० पं ० भोलानाथजी राव)

प्रकरण चौथा ।.

मनोबल विचार (आधुनिक कर्तव्यपरायण वेदान्त)

वर्तमान समय में हिंदुसमाज को कर्तव्यपरायण वेदान्त की शिक्षा देने की महान आवश्यकता है । कर्तव्यपरायण वेदान्त का तात्पर्य यह है कि आत्मा अमर व देह नश्वर । " नैनं छिन्दन्ति शस्त्राणि नैनं दहति पावकः " आत्मा का ऐसा स्वरूप है । देह क्षणभंगुर है । ईश्वर ने देह की रचना कर्तव्य करने के लिये ही की है । आत्मा अमर है ऐसा ध्यान रखते हुए शरीर का ध्यान रखकर स्वधर्म पर मारने व मरने को तय्यार रहना ही हमारा मुख्य कर्तव्य है । इस प्रकार की भावना प्रत्येक हिंदमात्र के मन में होनी चाहिये । हिंदुस्तान में मूर्ख पनका वेदान्त ही विशेषतया दिखलाई पडता है । हर एक मनुष्य कर्तव्यहीन होकर वेदान्त की चर्चा करना ही अपना प्रधान कर्म समझता है । "जग नश्वर है" इस प्रकार कहकर वेदान्त जहाँ तहाँ पेट भरने का साधनही हो रहा है । हिंदुस्तान के पास आत्मा की अमरत्वता व पुनर्जन्म का कोहेनूर हीरा रहते हुए भी वह उसकी उपयोगिता को भूला हुआ है। इतर धर्मावलंबियोंमें जो धर्माभिमान नश्वर शरीर के प्रति उदासीनता और शत्रुओं के ऊपर टूट पडने की जो वृत्ति दिखलाई देती है उस वृत्ति का हिंदुओं में अभाव होने का क्या कारण है । न्याय, स्त्री, स्वधर्म, स्वसम्मानके निमित्त हिंदू समाज मारने मरने को तय्यार क्यों नहीं होता ? वेदान्त तो तीव्र है, तीक्ष्ण है, तरवार के धारसदृश कठिन है, वह वैराग्य की प्रज्वलित अग्नि के सदृश है । उसमें शरीर के चटकमटक पन के लिये बिलकुल अवसर नहीं है । फिर इस कर्तव्यपरायण वेदान्त को दुर्बल' कर्तव्यहीन, पंगु, तथा जयिष्णु वेदान्त को सहिष्णु वृत्ति का किसने बनाया ? यदि इस बात पर दूर दृष्टि से विचार किया जाय तो सिद्ध होता है कि कुछ प्राचीन व अर्वाचीन उपदेशक लोग ही वेदान्त की हीन अवस्था के कारण हैं ।

आधुनिक समयमें शास्त्री, पंडित, हरिदास, पुराणिक और सन्तलोग ही वेदान्त के उपदेशक हैं। यह सब लोग पेट भरने के लिये ही इधर उधर उपदेश करते फिरते हैं । अर्थात इनका वेदान्तोपदेश केवल पेट पूर्ति के लिये ही है ! ऐसे पेटू वेदान्त से भला राष्ट्र की जागृति कैसे हो सकती है । ब्रह्म सत्य व जग मिथ्या कहकर प्रतिदिवस एकही नियमित उपदेश व भाषण के द्वारा किसी प्रकार जनता पर अपना प्रभाव जमा कर धनोपार्जन कर अपने को धन्य समझने वाले पेटू वेदान्तियों द्वारा मारने मरने के वेदांत की शिक्षा समाज को कभी भी नहीं मिल सकती । कीर्तन प्रभावशाली हो, पाद्यपूजा अच्छी मिले, स्वयं यदि दक्षिण के बारे में न भी कहें तो भी एजेंटों द्वारा उसकी योजना हो जाय, यह पौराणिक बहुत अच्छे हैं इस प्रकार जनता का विचार हो, इन्हीं कारण में से वेदान्त सिखा व सिखाया जाता है । वेदान्त के अधिकारी कौन? तो हरिदास पुराणिक और प्रवचनकार, कारण कि अपने व्यर्थ की बातों में उत्तेजना लाने के लिये उन्हें पंगु वेदान्त की आवश्यकता होती है वेदान्तरहस्य, मर्म, देहनश्वरत्व का ज्ञान उन्हें कहाँतक है इसकी परीक्षा उनकी वृत्ति ही से प्रतीत होती है। देवताओं की निन्दा सुनते हुए भी इन्हें क्रोध नहीं आता, स्त्रियोंको भ्रष्ट करते हुये देखकर भी उन्हें घृणा नहीं होती, देवताओं की सवारी पर अन्यधर्मावलम्बियोंके धावा करने पर जो सत्याग्रह के लिये तयार नहीं होते । मुसलमान लोग यदि भजनमंडलीयोंमे झगडा करेंगे

तो इनको मारने मरनेकी इच्छा नहीं होती। मुसलमान लोग देवमंदिरों पर कितनाही अत्याचार करें पर इन्हें क्या मतलब। कारण कि इनके मस्तिष्क में तो "सर्वं खल्विदं ब्रह्म" की कल्पना भरी हुई है और इसी भावके अनुसार अपर भाव कहाँ? वंदे मातरम् के घोषणा की क्या आवश्यकता? राष्ट्र की कैसी चिन्ता? मुसलमानों से द्वेष करनेकी क्या आवश्यकता? ऐसे कहने वाले चाटुकार साधुओं की मंडली आजकल बहुत दिखाई देती है। ऐसे कर्तव्यहीन साधुओंके पीछे समाज चल रहा है और समाज पीछे दुर्बल कर्तव्यपराङ्मुख वेदान्त की वृद्धि हो रही है। कृपा करके ऐसे कर्तव्यहीन वेदान्त को तिलांजलि देकर इन स्वार्थसाधक साधुओं को सेना में भरती करके इन्हें मारने व मरने के वेदान्त की शिक्षा देनी चाहिये।

बहुत से अजागल मनुष्य ऐसे दीख पडते हैं जिन्हें संन्यास निवृत्ति व ब्रह्मचर्य यह शब्द बडे मोहक प्रतीत होते हैं परंतु वह इनके पीछे पडकर अपना सर्वनाश कर देते हैं। आजकल संन्यास अर्थात् निवृत्ति ध्येयके मनुष्य संसारमें बहुत दिखलाई देते हैं। संसार के व्यवहार में लिपटे रहना; संस्थाओं में कार्य करना दूसरों पर निर्भर रहना, पर भाषामात्र सन्यास व निवृत्ति की, यही इन लोगों की असली दशा है! ऐसे सन्यास को क्या कहा जाय? ऐसे अधूरे मनुष्य सन्यास व व्यवहार दोनों को बिगाडते हैं। सन्यास ही ध्येय होने के कारण किसी भी कार्य को वे उत्साहपूर्वक नहीं करते। यदि संन्यास लेते तो भी बडापन और अधिकार की इच्छा परस्ती नहीं है। ऐसे बहुत से मनुष्य देखने में आते हैं जो कितने ही वर्षों से सन्यास सन्यास कहते हैं पर उत्कट वृत्ति के वैराग्य के अभाव होने के कारण यह लोग संसारिक मोह में फंस ही जाते हैं और स्वतःके परमार्थका और जगका व्यवहार बिगाड कर इहपरशून्य स्थिति में मृत्युके मुखमें जाते हैं ऐसे ही अघोर संन्यासियोंने वेदान्त और समाज दोनों को निःसत्व कर रक्खा है।

जिस संस्थामें कर्तव्यशाली महानुभवों और त्यागी पुरुषों का महत्व बढकर जमाखर्च रखने वाले और उनके जाचने वालों का महत्व बढता है वह जिस प्रकारसे शीघ्र मृतप्राय हो जाती है उसी प्रकार से अघूरे संन्याँसियों का जो समाज अनुगामी होता है वहभी शीघ्र ही नष्ट हो जाता है। कारण कि "अंधेनेव नीयमानाः यथांधाः" की लोकोक्ति चरितार्थ होती है। वेदान्तके तेजस्वी, कर्तव्यपरायण, उत्साही तथा पौरुषयुक्त होते हुए भी यदि उसे आज निस्तेज, दुर्बल, निष्क्रियावान नैराश्यवादी व पौरुष विहीन किसी ने बनाया है तो वे आधुनिक अघोर सन्यासी ही हैं। आधुनिक वेदान्तोपदेशकों के चरित्र में त्याग, कारागृह, कष्ट दुःख, अपमानकी क्या थोडी भी झलक देख पडती है? एवं च जिज्ञासा नाशक, पुरुषत्व निर्मूलक, सर्व ब्रह्ममय कहकर समाज व देशसेवा से रोकने वाला व विश्वबंधुत्वके नाम के बहाने स्वसमाजपर अन्यधर्मावलम्बियों के अत्याचार सहन करनेवाला समाज मारक वेदान्त व उसके एकनिष्ठ उपदेशकों को कुछ समय हवा खाने के लिये हिमालय के उन्नत शिखरों पर भेज देना चाहिये तभी हिंदूसमाज की जागृति होगी।

जगन्मिथ्यात्व के वेदान्त की अब हिन्दुस्तान में जरुरत नहीं है। जगसत्य है उसमें परब्रह्म व चैतन्य का विकास है ऐसा समझ कर जगके कल्याणार्थ बहुतसे कर्तव्यपरायण मनुष्य राष्ट्रमें उत्पन्न होने चाहिये। बहुत समय से जग मिथ्या, स्त्री मिथ्या, द्रव्य मिथ्या इस प्रकार की जो विचार सरणि फैल रही है उसे बंद करके जगही परब्रह्म है "सर्वं जगदिदं ब्रह्म" इस तत्वज्ञान को जनता में फैलाना की व आश्यकता हैं वास्तविक संसार को छोडकर ईश्वर को इधर उधर खोजना कितनी मूर्खता है यह नीचे चलकर स्पष्ट हो जायेगा।

श्री समर्थ का कहना है कि "जहाँ जग वहीं जगन्नायक॥" जगन्नायक की प्राप्ति जगही में हो सकती है। निर्जन स्थान में हम क्या देख सकते हैं और समाज को छोडकर हम कहाँ रह सकते हैं। संसार में जिसे कुछ भी करना है तो उसे जग की अवश्य ही जरूरत होती है। रजोगुणी जगको छोडकर कर्तृत्व दिखलाने के लिये दूसरा स्थान ही नहीं है। विशेष क्या ईश्वर को अपना साक्षात्कार भी इसी जगमें

दिखलाना पडता है। जगतमें अनेक चमत्कार दिखला कर ईश्वर अपनी सिद्धताका प्रमाण देता है। जग में नाम रूप ही से ईश्वर की लीला कैवल्य भासमान होती है। यही कारण है कि जग के सिवाय अन्य कहीं ईश्वर का भासमान होना भी अशक्य है। गुड में जैसे सब मीठा ही होता है, पुष्पमें जैसे सब जगह सुगन्धि ही होती है, करेले में सब कडुआपन ही रहता है, कपूरमें जैसे सर्व सुगंधि ही है उसी प्रकार इस संसार में जितने वृक्ष, नग,नगर, आराम, चैत्य, वन, उपवन व सैकडों अन्य पदार्थ हैं वे सब चैतन्य के विकास रूप में परिणत हैं उसमें किंचित मात्र संदेह नहीं है। श्री तुकाराम जी का कहना है कि "मीठेपन से जैसा गुड है उसी प्रकारसे ईश्वर सब जगह व्यापक है" इन सब उदाहरणों से यही सिद्ध होता है कि जगही ईश्वर का दृश्य व सगुण स्वरूप है। ज्ञानेश्वर ने इस कल्पना को अनेक दृष्टान्तों द्वारा भली भांति समझाया है। उसका रूपांतर का सारांश आगे लिखे हुए के अनुसार है।

"संसार का पिता मैं हूं व माता माया है। शरीर में जैसे अनेक अवयव, वृक्ष में अनेक शाखाएं उसी प्रकार जग में यदि वैविध्य दिखलाई दिया तो भी वह सब मेरा ही रूप है मही का पुत्र घर और सूत का पुत्र वस्त्र, कल्लोल परंपरा यह जैसी सागर की संतति उसी प्रकार यह चराचर विश्व परमेश्वर की संतति है।"जग मेरा है, मुझसे भी निराला है तो भी वह मद्रूप है। वन्हि व ज्वाला, रत्न व तेज, कमल व पाकली, सोना व अलंकार इनका संबंध जिस प्रकार से साधारण रीति से है उसी प्रकार संसार का और मेरा संबंध है। द्रव माने पानी, तेज माने रत्न, मीठा माने शक्कर, ज्वाला माने अग्नि, सुगंधि माने फुल, शाखें अर्थात् वृक्ष, अलंकार अर्थात् सोना, जमाया हुआ दूध अर्थात् दही, घर अर्थात् मृत्तिका पट अर्थात् सूत इत्यादि का बोध होता है उसी प्रकार विश्वका नाम लेनेही से मेरा संबोधन होता है। अर्थात् विश्व इस नाम से जो कुछ है वह सब मैं ही हूं।" इस प्रकार से ज्ञानेश्वर महाराज ने चौदहवे अध्याय में बतलाया है। ईश्वर व जग में जो भेद मानता है वह व्यभिचारी भक्त और जो अभेद मानता है वह अव्यभिचारी भक्त है। ऐसा ज्ञानेश्वर का मत है। सोने का अलंकार बन जाने पर भी जिस प्रकार सोने का सोनापन नहीं जाता,कमल के फूलने पर भी कमलत्व नष्ट नहीं होता उसी प्रकार यदि चैतन्य का विकास विश्वरूप में होता है तो भी उसमें कुछ कमी नहीं होती। यदि जगत ईश्वर के अस्तित्वको अपने में छिपा रखता है तो क्या ज्वाला अग्नि को, तेज रत्न को और अलंकार सुवर्ण को अपने भीतर छिपाके नहीं रखता? परंतु व्यवहार में वैसा नहीं दीख पडता इससे अन्त में यही सिद्धान्त निकलता है। संसार को एक ओर रखकर तो मैं ईश्वर विद्यमान नहीं है। तो मै कैसे दिखलाई देता? सारांश यह है कि, जगतस्वरूप ही से ईश्वर का ग्रहण करना चाहिये। कई स्थानों पर तुकाराम महाराज ने कहा है कि "विष्णुमय जग" ही वैष्णवों का धर्म है। "विश्वही में विश्वंभर" यही वेदांत का सार है। "जगमें जगदीश" यही शास्त्र की घोषणा है। "नारायण व्यापक है" ऐसा ही पुराण में लिखा है। ऐसाहोते हुए भी "जगन्मिथ्या" इस घातक व मारक कल्पना को क्या नहीं छोड देना चाहिये? जग यह चैतन्यका विकास है, जग ही ईश्वर का स्वरूप है इन विषयों को जानने के लिये जिज्ञासुओं को ज्ञानेश्वरके चौदहवें अध्याय को अवश्य ही देखना चाहिये।

सर्व प्रथम हिंदुसमाज को यह बात बतला देनी अत्यावश्यक है कि जगत परब्रह्म स्वरूप है तदनन्तर उसे देशसेवा की शिक्षा देनी चाहिये। देह और देव के मध्य में देश है और समाज है ऐसा बतला कर स्वसमाजोपकारक कार्य जनता से कराना चाहिये। हिंदु समाज की यह बडी भूल है कि वह ईश्वर ईश्वर करके संसार, देश, समाज की ओर बिलकुल ध्यान नहीं देता। स्वसमाज सेवा और देशसेवा ही कर्तव्यपरायण वेदान्त की पहली सीढी है।" स्वार्थ से निकल कर परमार्थ में लगना ही वेदान्त की पहली सीढी है।

ऐ हिंदुस्तान के वेदांतियो, भविष्य में तुम लोग समाज के सन्मुख कर्तव्यपराङ्मुख वेदान्त के उप

देश देना बन्द कर दो; यदि तुम्हें उपदेश देना ही है तो यही उपदेश दो कि संसार ही साक्षात परब्रह्म का स्वरूप है। प्राणियों का पालन करना ही देवपूजा है। रुग्ण सेवा ही ईश्वर का भजन है, निरक्षर को साक्षर,साक्षरको सुविचारी, अस्पृश्यको स्पृश्य, धर्मभ्रष्ट को शुद्ध, हिंदुओं को द्विज, पुरुषों को मर्द बनाना यही साक्षात ईशसेवा है। भविष्य में जनता को यही शिक्षा देनी चाहिये कि वह हिंदूसमाज की उन्नति की चेष्टा करें। तारक वेदान्तका उपदेश दो। तत्वहीन मारक वेदान्त के उपदेशकी आवश्यकता नहीं। ईशसेवा व जनसेवा के वेदान्त की ही शिक्षा दो। परब्रह्म का पूर्णज्ञानी करोडो मनुष्यों में से एक आध ही मिलकर और उसे तुम्हारे उपदेश की आवश्यकता नहीं। परंतु जिनको विषय सेवन इन्द्रियदमन करने की कभी बुद्धि नहीं है उन्हें व्यर्थ ही वैराग्य का उपदेश मत दो। बहुतसे मनुष्य ऐसे होते हैं जो वैरागी होते हुए भी वेदान्ती बनने का दावा रखते हुए भी मोह पाशमें फंस जाते हैं, यशोपार्जन की कांक्षा जिनके सदैव बनी रहती है, स्त्रियों धन प्रतिष्ठा के कटाक्ष में फंसकर प्राण दे देते हैं। ऐसे लोगों को यही शिक्षा देनी चाहिये कि तुम लोग सदाचारी गृहस्थ बनो अच्छे नागरिक बनकर देश सेवा करो और स्त्रियोंको यह शिक्षादो। कि वे वीरमाताएँ बनें। निवृत्ति और संन्यास ध्येय का उपदेश हिन्दू समाजको इतना मिल चुका है कि हिन्दूसमाज को निवृत्ति होगई है, इतनाही नहीं परन्तु इस उपदेश की दुर्गन्धि हिन्दू समाजमें सब ओर दिखाई देती है। इस अजीर्ण को शांत करने के लिये वीर, कर्तव्यशाली व प्रवृत्ति वंश पुरुषोंको उत्पन्न करने की ही आवश्यकता है। ऐ संतों, तुम्हें समाज को यही शिक्षा देना चाहिये। क्योंकि हिंदूसमाज की शिथिलता का कारण मारक वेदान्त ही है। हमारा यही कहना है कि ऐसे शिथिल समाज को जगानेके लिये भविष्य में जनता को तारक वेदांत की शिक्षा दो।

वैदिक-गृह-निर्माण।

(ले०—श्री० पं० गणेशदत्त शर्मा गौड "इन्द्र" आगर)

पहिले किसी समय में गृहस्थाश्रमी ही घरों में रहा करते थे। घर में रहने वाले मनुष्य गृहस्थ कहाते थे। शेष तीन आश्रम ब्रह्मचर्य, वानप्रस्थ और संन्यास घरों में नहीं बिताते थे। वनों में वृक्षों के नीचे झोंपडों में अपने जीवनके तीन भाग व्यतीत करते थे। केवल एक भाग आयुही घरोंमें बितानी पडती थी। इस कारण उनका स्वास्थ्य,बल, तेज, सौन्दर्य, विद्या, आयु सब तरहसे पूर्णताको पहुंची हुई थी। परन्तु आज कालचक्र के कारण सभी आश्रम घरों में रहकर बिताये जाते हैं। पैदा भी घरही में होते हैं और मरते भी घरही में हैं। ब्रह्मचारी को भी घरों में रहकर ब्रह्मचर्यव्रत रखने को विवश किया जाता है। आजकल के ब्रह्मचर्याश्रमों के भवन राजप्रासादों के समान गगन चुम्बी बने हुए हैं। वानप्रस्थाश्रम के लिये भी मठ मन्दिर बन चुके हैं और संन्यासी भी घरों से बाहिर रहना पसन्द नहीं करते। इस घरघुस्सूपने से हमें विविध हानियाँ सहनी पडती है। यह आयुर्वेदिक सिद्धान्त है कि घरों में रहने वालों की अपेक्षा वनों में वृक्षों के नीचे या पर्णकुटी में रहने वाले अधिक स्वस्थ, दृढ, बली और दीर्घायु होते हैं। प्राचीन काल के ऋषिमुनि, इसीलिये अपना जीवन जंगलों में व्यतीत करते थे। प्राचीन ब्रह्मचर्याश्रम (गुरुकुल) इन्हीं तेजःपुञ्ज तपस्वियों के आश्रम होते थे। जहाँ चक्रवर्ती साम्राट्पुत्र से लेकर गरीब निर्धन विद्यार्थी तक वृक्षों के नीचे या पत्तों तथा घासकी बनी झोपडियों में अपनी ब्रह्मचर्यावधि आनन्दपूर्वक समाप्त करते थे। वह भारत का ज्ञानयुग था-सुख सम्प-

त्ति का जमाना था। आज वह बात नहीं है।

वर्तमान समय गृह-युग कहा जा सकता है। इसमें राजा से रंक तक को गृहकी जरूरत है। स्त्री पुरुष, बालक बूढे, भुक्त, मुक्त, साधू संन्यासी, किसीका भी काम घरके बिना नहीं चलता। प्रत्येक मनुष्य अपने लिये घर बनाने की चेष्टा करता रहता है। खानेपीनेसे बचाकर, जेवरगहना गिरवी रखकर, कर्जपर रुपये लेकर हम लोगों को घर बनाते देखते हैं। घर बनाकर उसमें रहना आज कल, इज्जत आबरू समझी जाती है। कहनेका तात्पर्य यह है कि यह युग घरों का युग है।

घर इतना जरूरी होनेपर भी हम देखते हैं कि उसके बनाने का ढंग निकम्मा होता है। आजकल के घरों को "मौतका पिंजरा" अथवा "यमालय" कह दिया जाय तो अत्युक्ति न होगी। सिर घुसेडकर उसमें बैठे रहने, तथा सो रहने के लिये जो कुछ भी आड बना ली जाती है उसेही घर कहते हैं। परन्तु वास्तव इन्हें घर नहीं कहा जा सकता। इस विषयको अब हम अधिक न बढाकर यहाँ यह बतलाने की कोशिश करेंगे कि वेदमें गृह निर्माण के लिये कितने अच्छे ढंग बताये गये हैं।

सब से घर बनाने के लिये उत्तम भूमि देखनी चाहिये—

" अक्षुमोपशं विततं सहस्राक्षं विषूवति । "

अथर्व ९ । ३ । ८

(विषूवति) ऊँचे (विततम्) फैले हुए स्थानपर ही मकान बनाना चाहिये। गढ्ढों में झीलमें विषम भूमि पर, पहाडियों के बीचमें मकान नहीं बनाना चाहिये। और देखिये–

"ऊर्जस्वती पयस्वती,पृथिव्यां निमिता मिता।
विश्वान्नं बिभ्रती शाले मा हिंसीः प्रति गृह्णतः॥

अथर्व ९ । ३ । १६

(पृथिव्याम्) उत्तम भूमिपर,(मिता) परिमाणयुक्त (निमिता) निर्मित (ऊर्जस्वती) बलपराक्रम देनेवाली (पयस्वती)जल आदिसे पूर्ण स्थानपर मकान बनवाना चाहिये। अर्थात्-स्थान देखनेके अतिरिक्त वहां का जल वायुभी देख लेना चाहिये। कहीं ऐसा न हो कि बायु और जलका टोटाही रहे। इस प्रकार मनुष्यजीवनके लिये आवश्यकीय वस्तुओंका ध्यान रखकर उचित भूमिपर ही मकान बनवाना चाहिये। मकानकी नींव किसी मूर्ख शिल्पीद्वारा न रखी जाये। देखिये—

"ब्रह्मणा शालां निमितां कविभिर्निमितां मिताम्।
इन्द्राग्नी रक्षतां शालाममृतौ सोम्यं सदः॥ "

अथर्व ९।३।१९

(अमृतौ) सुखदायक - मृत्युआदि कारणोंसे रहित (ब्रह्मणा) ज्ञानी पुरुष द्वारा (निमिताम्) नींवडाली गई (शालाम्) (कविभिः) विद्वानों द्वारा (मिताम्) मापी हुई (निमिताम्) दृढ बनाई हुई (शालाम्) घर (सोम्यम्) ऐश्वर्य युक्त (सदः) घर की (रक्षताम्) रक्षा करें। मकान की नींव खुदवाने और नीवँ भरवानेमें विद्वानों की जरूरत है। यह काम मूर्ख शिल्पियोंके हाथ में नहीं देना चाहिये। क्योंकि नींव ही अच्छी न होगी तो घर कहाँ से सुदृढ और उत्तम बन सकता है। मकान कैसे बनाये जावें और उसमें कमरे कैसे और कितने रखे जावें इस विषयमें देखिये।

" या द्विपक्षा चतुष्पक्षा षट्पक्षा या निमीयते।
अष्टापक्षां दशपक्षां शालां मानस्य पत्निमग्निर्गर्भ इवाशये। "

अथर्व० ९।३।२१

एक, दो, चार, छः, आठ, दस कमरों वाली या मंजिलों वाली इमारत इतनी उत्तमतासे बनानी चाहिये जिसमें (मानस्य) मानकी (पत्नीम्) रक्षा करनेवाली (शालाम्) शालामें (अग्नि) जठराग्नि और (गर्भः इव) गर्भस्थ बालकके समान (आशये) ठहरूं।

यहां " गर्भस्थ बालक " की उपमा घरमें रहने वाले के लिये और गर्भकी उपमा " घर " के लिये बिलकुल उचित है। जिस प्रकारमें गर्भ में बच्चा प्राणवायु और भोजन प्राप्त कर बढता है, उसी तरह मकान में भी शुद्ध भोजन और शुद्ध वायुके द्वारा मनुष्य अपनी वृद्धि करे। गर्भ में यदि बालकको प्राण वायु अथवा भोजन न पहुंचे तो वह मर जाता है। इसी तरह यदि इसी उदररूपी मकान में हवा वगैरे का अभाव रहा तो वह मौतका पिंजरा बन जाता है।

जिस मकानमें हवा और प्रकाश नहीं पहुंचता उसके अन्दर रहने वाला मनुष्य, रोगी, अस्वस्थ, निर्बल, अल्पायु हो जाता है। क्योंकि ये दोनों पदार्थ उचित परिणाम में प्रत्येक प्राणी के लिये अत्यंत आवश्यक हैं। यदि इनमें किसीभी प्रकारकी न्यूनता हुई तो फिर हानि अनिवार्य हो जाती है। इसलिये मकानमें हवा और प्रकाश आने के लिये पर्याप्त दरवाजे और खिडकियां रखनी चाहिये ताकि रोगोत्पादक कीटाणुओं को वहां रहने की जगह ही न मिले। वेद कहता है-

" इटस्य ते विचृताम्यपिनद्धमपोर्णुवन्। वरुणेन समुब्जितां मित्रः प्रातर्व्युब्जतु॥ " अथर्व ९।३।१८

(इटस्य) द्वारके (अपिनद्धम्) बन्धन, चटखनी सांकळ, कुन्दी वगैरेको (अपोर्णुवन्) खोलता हुआ मैं (विचृतामि) अच्छी तरह ग्रंथित करता हूं (वरुणेन) अंधःकारसे (समुब्जिताम्) दबाये हुए घरको (मित्रः) सूर्य (प्रातः) सुबहके समय (विउब्जतु) खोल दे। अर्थात् घर इस ढंगसे बनवाया जाय कि सूर्योदयके समय सूर्य किरणें सीधी मकानके अन्दर पहुंचकर उसे प्रकाशित कर दें। जिन घरों में इस तरह नित्य प्रकाश आता रहेगा, उसमें रहने वाले मनुष्य कदापि दुःखीत न होकर सर्वदा आनन्दमें रहेंगे। हम देखते हैं कि आजकल मकानोंमें लोग हवा आनेके लिये द्वार या खिडकियाँ वगैरे नहीं रखते। आने जाने के लिये छोटे छोटे जिनमें सिर फूटा करता है एकाधा द्वार रखते हैं। उसे बन्द कर देनेपर मकान एक डिब्बी हो जाता है। उस सन्दूक के समान मकानमें फिर हवाके आने को बिलकूल जगह नहीं रहती। इसी लिये वेद कहता है—

" उपमितां प्रतिमितामथो परिमितामुत।
शालायाविश्ववाराया नद्धानि विचृतामसि॥ "
अथर्व० ९।३।१

(विश्ववाराया) खूब दरवाजोंवाली (शालाया) मकानकी (उपमिताम्) उपमा (प्रतिमिताम्) प्रतिमान युक्त (अथो) और भी (परिमिताम्) परिमाणयुक्त (उत) और (नद्धानि) ईंटचूने मिट्टी आदि के मेल को (विचृतामि) अच्छी तरह करते हैं। अर्थात् मकानकी सुडौल सुन्दर नाप तोल कर बनाई हुई दीवारों में चारों ओर खूब द्वार रखने चाहियें ताकि मकानमें वायु और प्रकाशका अभाव न रहने पावे। हवाकेलिये मकानों के द्वार और छत दीवारें वगैर ऊंची ऊंची बनवानी चाहिये। जिससे शुद्ध हवा उसमें रहने वालोंको काफी मिल सके। आजकल प्रायः नीची छतों के मकान बनते हैं जिनमें सिर फूटाकरते हैं और न अच्छी प्रकार हवा ही प्रवेश करने पाती है। इस विषयमें देखिये, वेद कहता है—

" उद्धितातन्त्रे भव। " अथर्व ९।३।६

(शाला) मकान (उद्धिता) ऊंची उठी हुई (भव) हों। नीची न हो। दीवारें ऊंची ऊंची हो, नीची न हों। सिरफोड छत न हो। बल्कि यथेष्ट ऊंची हो। मकान पर छत किस चीजकी डाली जावे इस विषय में वेद कहता है-

" तृणैरावृता। "

घासफूस पत्तों आदिसे अच्छादित हों। घासफूस से मकानों को छाना जंगली पन नहीं है। परन्तु अत्यंत उपयोगी है। घास से छाया हुआ मकान प्रत्येक ऋतुमें उपयोगी होता है, सर्दी, गर्मी, वर्षा से अच्छी प्रकार रक्षा होती है। घास फूस द्वारा छाया हुआ मकान यदि खूब सूरती से छाया जावे तो बडाही अच्छा दिखाई देता है। वेद कहता है कि मकान को छाने वाले लोग विज्ञ ही हों।

"अनवद्धमभिहितं ब्रह्मणा विचृतामासि" (अनवद्धम्) अच्छी तरह छाये हुए (ब्रह्मणा) विद्वानद्वारा (अभिहितम्) बताये गये (अक्षुम्) व्याप्तिवाले को (विचृतामसि) हम बनाते हैं।

मकान साफ पाक सुथरा और सजा हुआ रखना चाहिये। वेद कहता है।

" अमुत्रैनमा गच्छताद् दृढा नद्धा परिष्कृता।
अथर्व ९।३।१०

(दृढा) मजबूत (नद्धा) छायी हुई (परिष्कृता) सुसज्जित वहां इसे प्राप्त हो। अर्थात् मकान को लीपपोतकर झाडफूंककर चित्रादि से सुसज्जित बनाये रखना चाहिये। मकान में उत्तम सामग्री रखनी चाहिये। घरों की हवा शुद्ध रखने के

लिये जल अग्नि आदि रखनेके स्थान ठीक जगह पर बनवाने चाहिये।

"इमा आपः प्रभराम्ययक्ष्मा यक्ष्मनाशनीः।
गृहानुपप्रसीदाम्यमृतेन सहाग्निना।"
अथर्व ९।३।२३

(इमाः) इस (अयक्ष्माः) रोगरहित (यक्ष्मनाशिनीः) रोगनाशक (अपः) जल को अच्छी तरह (आभरामि) मैं लाता हूं (अमृतेन) अमृततुल्य पदार्थों तथा (अग्निना) अग्निके साथ (गृहान्) घरोंमें (उप) आकर (प्र) अच्छी तरह (सीदामि) बैठता हूं। पानी और आग रखनेका स्थान अर्थात् इन्धनशाला ऐसी जगह बनवाई जहां परकि उठने बैठने वालों को कीचड से या अग्निकी धुआं वगैरः से कष्ट न हो। मकान बनवाते समय प्रत्येक कार्य का घर अलग अलग बनवाना चाहिये। भोजनालय, स्नानागार, स्त्रियों के रहने के मकान, ईश्वरोपासना गृह, शयनागार, शस्त्रागार, वस्त्रागार, शोकभवन, सभाभवन इत्यादि। वेदभी कहता है कि

"हविर्धानमग्निशालं पत्नीनां सदनं सदः।
सदो देवानामसि देवि शाले।" अथर्व ९।३।७

(देवि शाले!) हे दिव्यभवन! तू (हविर्धानम्) अन्न घृत आदिका भण्डार (अग्निशालम्) अग्निविद्युत आदिका स्थान (पत्नीनाम्) स्त्रियोंका घर और (सदः) सभास्थान (देवानाम्) विद्वान पुरुषों का (सदः) सभाभवन (असि) है। अर्थात् मकान बनवाते समय प्रत्येक कार्य के लिये पृथक पृथक घर कोठरियां बनवानी चाहिये। यह वेदकी आज्ञा है। पशुशाला निर्माण के विषयमें भी वेद के निम्न मंत्र विचारणीय हैं।—

"गोभ्यो अश्वेभ्यो नमो यच्छालायां विजायते।
अथर्व ९।३।१३
अग्निमन्तश्छादयसि पुरुषान् पशुभिः सह।"
अथर्व ९।३।१४

हे शाले! तू (अग्निम्) अग्निको और (पुरुषान्) मनुष्यों को (पशुभिः सह) पशुओं सहित (अन्तः) अपने अन्दर (छादयसि) ढांक लेती है। अर्थात् जिस प्रकार मकान मनुष्यों के लिये ध्यानपूर्वक बनवाये जावें उसी तरहके पशुओंके लिये भी वायु और प्रकाश का ध्यान रख कर बनवाये जाने चाहिये। कहीं ऐसा न हो कि उन्हें पशु समझकर चाहे जैसे मकान में बांध दिया जावे। नहीं उनका भी वैसा ही ध्यान रखा जावे जैसा कि मनुष्योंका। क्यों कि गौ, घोडे आदि प्राणि मनुष्यों के साथी हैं। इसीलिये वेदने "पशुभिः सह" वाक्य प्रयोग किया है। आशा है मूक प्राणियों के सुखदुःख का विचार रखकर मनुष्य उनके लिये गृहनिर्माण करावेंगे।

गृह निर्माण सम्बन्धी, वेदमें सैकडों मंत्र हैं, परंतु हमने यहां अथर्व वेदके नवें काण्डमें तृतीय सूक्त वर्णित मंत्रोंपरही विचार किया है। आशा है पाठकों को लाभप्रद होगा।

चार पुरुषार्थ।

धर्म, अर्थ, काम और मोक्ष ये चार पुरुषार्थ हैं। इनमें से 'अर्थ और काम' जो कि विषयों के उपभोग के लिए अर्थात् इंद्रियों की तृप्ति के लिए प्राप्त किए गए हैं, 'इंद्रियार्थ' सिद्ध होते हैं 'पुरुषार्थ' नहीं। क्यों कि वे पुरुष के लिए प्राप्त ही नहीं किए गए। केवल इंद्रिय के सुख के लिए जो अर्थ और काम प्राप्त किए जाते हैं वे ही धर्म और मोक्ष के मार्ग में रोडे बिछाते हैं। व्यवहार में अर्थ और काम प्राप्त करते समय मनुष्य की दृष्टि इंद्रियों के सुख की ओर रहती ही है। यही कारण है कि व्यवहार में अर्थ और काम की धर्म और मोक्ष से नहीं पटती।

अर्थ और काम के द्वारा इंद्रियों की इच्छा पूर्ण करना उतना ही सरल है जितना हवाकी मोट बांधना। चाहे कितना भी अर्थ क्यों न प्राप्त करो और उसका उपभोग लो, पर इच्छा तृप्त नहीं होती।

'उपभोग'
सुखेच्छा

यह एक भिन्न है। इसका छेद प्रति दिन बढता ही जाता है। अतएव वह अपूर्णांक अधिकाधिक अपू—

र्ण ही होता जाता है। वह कभी भी पूर्ण नहीं होता। यह शोपेन हौएर का मत है। और वह लोकमान्य तिलक ने 'गीतारहस्य' के 'सुखदुःख विवेक' नामक अध्याय में उद्धृत किया है और इससे भगवान मनू के—

"हविषा कृष्णवर्त्मेव भूय एवाभिवर्धते।"

"अग्नि में घी डालने से वह अधिकाधिक बढता ही है" मत को पुष्टि दी है। तब फिर प्रश्न होता है कि अर्थ और काम मिलाना किस लिए? सुखोपभोग को छोड अर्थ और काम का अन्य उपयोग ही क्या है? पैसा तो इसीलिए कमाया जाता है कि चैन करने मिले और चैन करना अर्थ प्राप्ति का फल ही नहीं है। वाः क्या खूब उपदेश है! अरे भाई तब फिर पैसा कमाने में जो झञ्झटें उठानी पडती हैं वे किस लिए? जिन मनुष्यों की दृष्टि देह और इन्द्रियों के परे नहीं गई उन्हे अर्थ और काम का दूसरा उपयोग दिखनाही असम्भव है। परन्तु अर्थ के उपभोग से इंद्रियों की तृप्ति नहीं हो सकती। एक समय सुखद मालूम होनेवाला अर्थ अन्य किसी समय दुःखद होता है। इस बातपर जब दृष्टि डाली जाती है, तब विचारी लोगों को यही कहना पडता है कि अर्थ और काम का फल देह और इंद्रिय की तृप्ति कदापि नहीं है।

अर्थ और काम का सच्चा उपयोग है मनुष्य की सर्वांगीण उन्नति करना। स्थूल-सूक्ष्म शरीर, मन और आत्मा इस त्रयी का ही मतलब मनुष्य है। मानवी जीवित का ध्येय यही है कि इन तीनों का पूर्ण विकास करना। और इस विकास के साधन हैं "धर्म, अर्थ, काम और मोक्ष" ये चार पुरुषार्थ इसी दृष्टि से, सुभाषितकारों का कथन है कि इस चौकडी में से यदि एक भी प्राप्त कर लिया तो सार्थक हुआ।

स्थूलसूक्ष्म शरीर और मन के विकास में अर्थ और काम को सहायता होती है। यही बात तैत्तरीय के "अन्न के स्थूल भाग से मल, मध्यम भाग से मांस, सूक्ष्म भाग से मन होता है" आदि वचनोंसे सिद्ध होती है। परंतु अर्थ और काम का उपयोग इंद्रियोंके चोचले पूरे करनेमें जब होने लगता है तब जीभ का अत्याचार पेट को सहना पडता है; आंखों को नाटक और सीनेमा देखने का अत्याचार शेष शरीरको सहना पडता है। इस प्रकार विकास तो दूर ही रहता है पर शरीर और मन का ऱ्हास अवश्यही होता है।

उपभोग के अतिरेक से कुछ लोग सत्वहीन और मुर्झाए हुए नजर आते हैं और कुछ काफी उपभोग न मिलने से इंद्रियलालसा की आंच से सूखे हुए मालूम होते हैं। एक दशा पानी के आधिक्य से फीके पडे पौधोंके सदृश है तो दूसरी पानी की कमी से और धूप से मुरझाए हुए पौधों के समान है। इस का कारण यही है वे अर्थ और काम के प्राप्त करने का उद्देश ठीक ठीक नहीं समझे।

सारांश यही है कि अर्थ और काम देह तथा इंद्रियोंकी चैन के लिए प्राप्त करना नहीं वे व्यष्टि-समष्टि में क्षराक्षर रूप से विद्यमान उत्तम 'पुरुष' के लिए प्राप्त करना हैं। इस उद्देश्य से प्राप्त किए अन्न और काम धर्म-मोक्ष के आड न आवेंगे। जिस उत्तम पुरुष के लिए अर्थ-काम प्राप्त करना हैं वह पिण्ड-ब्रह्माण्ड में एकही भरा हुआ है। अतः उसके लिए अर्थ काम प्राप्त करनेवाला देहेंद्रियों की लालसाओं का शिकार बनेगा। उसे विश्वास हो जाता है कि सब अर्थ "ईशावास्यमिदं सर्वं" है। अतएव वह कामोपभोग में यही लक्ष्य रखेगा कि "तेन त्यक्तेन भुंजीथाः" तब उसके अर्थ-काम धर्म-वर्जित न रहेंगे। और इसी लिए वे पुरुषार्थ कहलाने योग्य होंगे।

अब धर्म और मोक्ष पर कुछ विचार करेंगे। धर्म का मतलब यही लेना उचित होगा कि "Ethical conduct, and the law of the individual and social life." अर्थात् 'नैतिक चारित्र्य और व्यक्तिगत एवं सामाजिक जीवन के योग्य नियम'। स्वर्गीय लोकमान्य भी इसी अर्थ को मानते थे। वे कहते थे, "चतुर्विध पुरुषार्थ की गणना करते समय 'धर्म, अर्थ काम, मोक्ष' कहा जाता है............ (यहाँ) 'धर्म' शब्द से शास्त्रकारों का अभिप्राय इसी मतलबसे है कि जगत् के वा संसार के सैकडों नीतिधर्म। सामान्य जन धर्म शब्द से कुछ विशेष आचार ही समझ लेते हैं। प्रायः घर के लोग

इस प्रकार कहते हैं, " कैसी धर्म भ्रष्टता हो रही है! स्नान-संध्या का तो नाम ही लोग भूल रहे हैं। खानपान आदि का विधिनिषेध ही लोग भूल रहे हैं। " परंतु आचार धर्म का केवल एक अंग है। केवल उतने ही से ' धर्म ' पुरुषार्थ पूर्णतया नहीं सधता । आजकल जनता में ' धर्म ' पुरुषार्थ प्राप्ति की आकांक्षा का दिखना तो दूर ही रहा पर उसमें ' धर्म ' पुरुषार्थ की यथार्थ कल्पना भी नहीं दिख पडती । जो लोग धार्मिक समझे जाते हैं वे केवल कुछ विशिष्ट आचारों का पालन करने वाले, जप करने वाले और भजन-पूजन में मग्न रहने वाले हैं इनमें से थोड़े ऐसे हैं जो आचार-विशेषों का नियम से पालन इस लिए करते हैं कि वे यथार्थ में उसी को धर्म समझते हैं पर अधिकांश लोग ऐसे हैं। जो विशिष्ट आचारों का पालन इस लिए करते हैं कि जिसमें लोग उन्हे धार्मिक कहें। पर यथार्थ बात तो यह है कि ये आचार व्यक्तिगत चारित्र्य का कुछ थोडासा भाग हैं।

चार वर्ण और चार आश्रमों के कर्तव्यों पर यदि हम विचार करें तो हम ' धर्म ' पुरुषार्थ की पूर्णता की कल्पना कर सकेंगे। इन कर्तव्यों के पालन ही से ' धर्म ' पुरुषार्थ की प्राप्ति होगी। व्यष्टि-समष्टि रूप परमात्मा की सेवा ' स्वकर्मणा तमभ्यर्च ' इस गीतावचन के अनुसार करने ही से ' धर्म ' पुरुषार्थ की सिद्धि प्राप्त हो सकती है। ' धारणात् धर्ममित्याहुः ' यह धर्म की परिभाषा है। पुरुषार्थ की दृष्टि से इस परिभाषाका अर्थ वही है जो देशभक्त बाबू अरविंद घोषने वा स्व० लोकमान्य तिलक ने किया है। अतएव यही सिद्ध हुआ कि समाज-धारणा के उपयोगी नियमों के पालन से ' धर्म ' पुरुषार्थ सिद्ध होता है और समाज के विकास के हेतु तन, मन, धन अर्पण करने की बुद्धि से यदि अर्थ और काम प्राप्त करें तो वे ' अर्थ और काम ' पुरुषार्थ को सिद्ध करते हैं।

'मोक्ष' क्या है? मानव जीवन का उच्चातिउच्च साध्य ' मोक्ष ' है। मानवी जीवन की पूर्ण अवस्था, जीवन की संचालक शक्ति की पहिचान होना ही मोक्ष है। ' मोक्ष ' पुरुषार्थ तभी सिद्ध होता है जब व्यक्ताव्यक्त स्वरूप उत्तम पुरुषसे तादात्म्य हो जाय। देहेंद्रियां, भौतिक पदार्थ और अखिल जगत् में भरी हुई ईश्वरी शक्ति की उपासना धर्म, अर्थ काम के द्वारा करते करते जब उस शक्ति से समरस हो जाँय, संकुचित भाव नष्ट हो जाय, तभी ' मोक्ष ' पुरुषार्थ प्राप्त होता है।

योगाभ्यास के साधन से व्यक्ति की ही मुक्ति होती है। पर व्यक्ति की मुक्ति के लिए योगाभ्यास करने वाले तापसी तब तक मुक्त नहीं होते जब तक उन का व्यक्तिभाव नष्ट नहीं होता। व्यक्तिभाव तभी नष्ट होता है जब व्यक्तिको समष्टि के परमात्मभाव का अनुभव होता है। मनुष्य को इच्छा होती है कि मुझे अमुक वस्तु की आवश्यकता है, मुझ में अमुक की कमी है, मुझे अमुक वस्तु प्राप्त करनी है आदि। इस इच्छा का मूल बीज मूल के पूर्ण स्वरूप की प्राप्ति की प्रबल इच्छा ही है। मनुष्य केवल भ्रमसे मान लेता है कि वह बैचैनी इन्द्रिय की तृप्ति से शान्त होगी। परन्तु वास्तवमें शान्ति होती ही नहीं। ' मोक्ष ' पुरुषार्थ तभी सिद्ध होता है जब पूर्णता का सच्चा स्वरूप मालूम हो जाय। यह पूर्णता ही व्यक्त और अव्यक्त उत्तम पुरुष परमात्मा है। उसकी प्राप्ति होने से मनुष्य स्वयं ही पुरुष बन जाता है। सम्पूर्ण विश्व ही पुरुष के लिए है। अतएव मोक्ष जिसने प्राप्त कर लिया उसने सभी पुरुषार्थ प्राप्त कर लिए। उपनिषत् में एक दृष्टान्त है कि जिसने ' कृत ' नाम का पांसा जीता उसने उसके नीचे के सब पांसे जीत लिए। यह उपनिषत् का दृष्टान्त भी उपरोक्त बात को सिद्ध करता है।

अस्तु। अर्थ-काम हों चाहे धर्म-मोक्ष हों वे तो विश्वव्यापी पुरुष के लिए प्राप्त करने हैं, व्यक्तिगत और इंद्रियजन्य क्षणिक सुख के लिए नहीं हैं। यह भावना जब उत्पन्न हो जाती है तब अर्थ, काम, धर्म, मोक्ष के विरोधी नहीं होते। इसके विपरीत परमात्मा की इच्छा से प्रवर्तित हुए इस संसार चक्र में अर्थ-काम मिला दिए जाने चाहिए। और वे इस प्रकार प्राप्त करने चाहिए जिससे ' धर्म ' पुरुषार्थ में रुकावट न हो बल्कि वह उत्तम रीतिसे साध्य हो।

पशुओंकी स्वास्थ्यरक्षा ।

२८

(ऋषिः—ब्रह्मा । देवता—यमिनी)

एकैकयैषा सृष्ट्या सं बभूव यत्र गा असृजन्त भूतकृतो विश्वरूपाः ।
यत्र विजायते यमिन्यपर्तुः सा पशून् क्षिणाति रिफती रुशती ॥ १ ॥
एषा पशून्त्सं क्षिणाति क्रव्याद् भूत्वा व्यद्वरी ।
उतैनां ब्रह्मणे दद्यात् तथा स्योना शिवा स्यात् ॥ २ ॥

अर्थ—(यत्र भूतकृतः विश्वरूपाः गाः असृजन्त) जहां भूतोंको बनानेवालोंने अनेक रंग रूपवाली गौवें बनाईं, वहां (एषा) यह गौ (एक-एकया सृष्ट्या संबभूव) एक एकके क्रमसे बच्चा उत्पन्न करनेके लिये उत्पन्न हुई है । (यत्र अप-ऋतुः यमिनी विजायते) जहां ऋतुकालसे भिन्न समयमें जुडे बच्चोंको उत्पन्न करनेवाली गौ होती है वहां (सा रुशती रिफती) वह गौ पीडा देती हुई और कष्ट उत्पन्न करती हुई (पशून् क्षिणाति) पशुओंको नष्ट करती है ॥ १ ॥

(एषा क्रव्याद् व्यद्वरी भूत्वा) यह गौ मांस खानेवाले कृमीके समान होकर (पशून् सं क्षिणोति) पशुओंका नाश करती है । (उत एनां ब्रह्मणे दद्यात्) इसलिये इस गौको ब्राह्मणके पास भेजनी चाहिये (तथा स्योना शिवा स्यात्) जिससे वह सुखदायी और कल्याण कारिणी हो जावे ॥२॥

भावार्थ—सृष्टि उत्पन्न करनेवालेने अनेक रंगरूप और विविध गुणधर्मवाली गौवें बनायी हैं । ये सब गौवें एकवार एक ही बच्चा उत्पन्न करनेके लिये बनाई हैं । जब यह गौ ऋतुको छोड कर अन्य समयमें इकट्ठे दो बच्चे उत्पन्न करती है उस समय वह घातक और नाशक होती है, जिससे अन्य पशुभी नष्ट होते हैं ॥ १ ॥

जैसे मांस खानेवाले पशु नाशक होते हैं उस प्रकार यह रोगी गौ नाशक होती है । इसलिये ऐसा होते ही इसको योग्य उपायज्ञ वैद्य ब्राह्मणके पास भेजनी चाहिये, जहां योग्य उपचारोंसे वह गौ सुखदायिनी बन जावे ॥ २ ॥

शिवा भव पुरुषेभ्यो गोभ्यो अश्वेभ्यः शिवा।
शिवास्मै सर्वस्मै क्षेत्राय शिवा न इहैधि ॥ ३ ॥
इह पुष्टिरिह रस इह सहस्रसातमा भव।
पशून् यमिनि पोषय ॥ ४ ॥
यत्रा सुहार्दः सुकृतो मदन्ति विहाय रोगं तन्वः स्वायाः।
तं लोकं यमिन्यभिसंबभूव सा नो मा हिंसीत् पुरुषान् पशूंश्च ॥ ५ ॥

अर्थ- (पुरुषेभ्यः शिवा भव) पुरुषोंके लिये कल्याण करनेवाली हो, (गोभ्यः अश्वेभ्यः शिवा) गौओं और घोडोंके लिये कल्याण करनेवाली हो, (अस्मै सर्वस्मै क्षेत्राय शिवा) इस सब भूमिके लिये कल्याण करनेवाली होकर (नः शिवा ऐधि) हमारे लिये सुख देनेवाली हो ॥ ३ ॥

(इह पुष्टिः, इह रसः) यहां पुष्टि और यहां रस है। (इह सहस्र-सातमा भव) यहां हजारों लाभ देनेवाली हो और हे (यमिनी) जुडे सन्तान उत्पन्न करनेवाली गौ ! (इह पशून् पोषय) यहां पशुओंको पुष्ट कर ॥ ४ ॥

(यत्र) जिस देशमें (स्वायाः तन्वः रोगं विहाय) अपने शरीरका रोग त्यागकर (सुहार्दः सुकृतः मदन्ति) उत्तम हृदयवाले और उत्तम कर्म-वाले होकर आनन्दित होते हैं, हे (यमिनी) गौ ! (तं लोकं अभि-संबभूव) उस देशमें सब प्रकार मिलकर हो जाओ, (सा नः पुरुषान् पशून् मा हिंसीत्) वह हमारे पुरुषों और पशुओंकी हिंसा न करे ॥ ५ ॥

भावार्थ- यह गौ मनुष्योंके लिये तथा घोडे बैल गौएं आदि पशुओंके लिये, इस भूमिके लिये और हम सबके लिये सुख देनेवाली बने ॥ ३ ॥

इस गौमें पोषणकारक गुण है, इसमें उत्तम रस है, यह गौ हजारों रीतियोंसे मनुष्योंको लाभदायक होती है, इस प्रकारकी गौ सब पशु-ओंको यहां पुष्ट करे ॥ ४ ॥

जिस प्रदेशमें जाकर रहनेसे शरीरके रोग दूर होते हैं और शरीर स्वस्थ होता है, तथा जिस प्रदेशमें उत्तम हृदयवाले और उत्तम कर्म करनेवाले लोग आनंदसे रहते हैं, उस देशमें यह गौ जाय, वहां रहे; यहां रोगी अवस्थामें रह कर हमारे मनुष्यों और पशुओंको कष्ट न पहुंचावे ॥ ५ ॥

यत्रा सुहार्दां सुकृतामग्निहोत्रहुतां यत्र लोकः ।
तं लोकं यमिन्यभिसंबभूव सा नो मा हिंसीत् पुरुषान् पशूंश्च ॥ ६ ॥

अर्थ-(यत्र यत्र सुहार्दां सुकृतां अग्निहोत्रहुतां लोकः) जहां जहां शुभ हृदयवाले, उत्तम कर्म करनेवाले और अग्नि होत्रमें हवन करनेवालोंका देश होता है, हे (यमिनी) गौ (तं लोकं अभिसंबभूव) उस लोकमें मिलकर रह और (सा नः पुरुषान् पशून् च मा हिंसीत्) वह हमारे पुरुषों और पशुओंकी हिंसा न करे ॥ ६ ॥

भावार्थ— जिस प्रदेशमें उत्तम हृदयवाले, शुभकर्म करनेवाले और अग्निहोत्र करनेवाले सज्जन रहते हैं, उस देशमें यह गौ जाय और नीरोग बने । रोगी होती हुई हमारे पुरुषों और अन्य पशुओंको अपना रोग फैलाकर कष्ट न पंहुचावे ॥ ६ ॥

पशुओंका स्वास्थ्य ।

पशुओंका उत्तम स्वास्थ्य रहना चाहिये, अन्यथा एक भी पशु रोगी हुआ तो वह अन्य पशुओंका तथा मनुष्योंका भी स्वास्थ्य बिगाड सकता है । एक पशुका रोग दूसरे पशुको लग सकता है और इस कारण सब पशु रोगी हो सकते हैं । तथा गौ आदि पशु रोगी हुए, तो उनका रोगयुक्त दूध पीकर मनुष्य भी रोगी हो सकते हैं । इस अनर्थ परंपराको दूर करनेके लिये पशुओंका उत्तम स्वास्थ्य रखनेका प्रबंध करना चाहिये ।

पशुरोगकी उत्पत्ति ।

पशुओंमें रोग उत्पन्न होनेके तीन कारण इस सूक्तमें दिये हैं, वे कारण देखिये—

१ अप+ऋतुः =ऋतुके विरुद्ध आचरण करनेसे रोग उत्पन्न होते हैं । पशुओंके लिये जिस समयमें जो खानेपीने आदिका प्रबंध होना चाहिये वह यथा योग्य होना ही चाहिये । उसमें अयोग्य रीतिसे परिवर्तन होनेसे पशु रोगी होते हैं । पूर्ण समयके पूर्व बच्चा उत्पन्न होनेसे भी गौ रोगी होती है।

२ यमिनी विजायते=जुडे बच्चेको उत्पन्न करना । इससे प्रसूतिकी रीतिमें बिगाड होकर विविध रोग होते हैं ।

३ क्रव्याद् व्यद्धरी भूत्वा=मांस खानेवाली विशेष भक्षक होकर रोगी होती है ।

गौ जिस समय प्रसूत होती है उसके बाद गर्भस्थानसे कुछ भाग गिरते हैं। कदाचित वह ग़ौ उक्त भागोंको खाजाती है और रोगी होती है। अथवा योनी आदि स्थानमें जुडे

बच्चेके उत्पन्न होनेके कारण कुछ व्रणादि होते हैं और वहां प्रसूतिस्थान का विष लगनेसे गौ रोगी होती है। इस प्रकार इस संबंधसे गौके रोगी होनेकी संभावना बहुत है। इसलिये गौके स्वामीको उचित है कि वह ऐसे समयमें योग्य सावधानता रखे और किसी प्रकार भी असावधानी होने न दें।

ये सब रोग बडे घातक होते हैं और यदि एक पशुको हुए तो उसके संसर्गमें रहनेवाले अन्यान्य पशुओंका भी नाश उक्त रोगोंके कारण हो सकता है। इस लिये जिसके घरमें बहुत पशु हैं उसको उचित है कि वह ऐसी अवस्थाओंमें बडी सावधानता रखें और अपने पशुओंके स्वास्थ्यरक्षाका उत्तम प्रबंध करें।

रोगी पशु।

पशुके स्वास्थ्य के विषयमें आवश्यक योग्य प्रबंध करनेपर भी गौ आदि पशु पूर्वोक्त कारणोंसे अथवा अन्यान्य कारणोंसे रोगी होते हैं। वैसे रोगी होने पर उनको उत्तम वैद्यके पास भेजना चाहिये, इस विषयमें कहा है—

उत एनां ब्रह्मणे दद्यात् तथा स्योना शिवा स्यात्॥ (मं० २)

" उस रोगी गौको ब्राह्मणके पास देना चाहिये, जिससे वह शुभ और कल्याण करनेवाली बने " अर्थात् उस रोगी गौको ऐसे सुयोग्य ज्ञानी वैद्यके पास भेजना चाहिये कि जिसके पास कुछ दिन रहनेसे वह नीरोग स्वस्थ और शुभ बन जावे। यहां "ब्रह्मन्" शब्द है; यह आयुर्वेद शास्त्र, और आथर्वणी चिकित्सा जाननेवाला ज्ञानी वैद्य है। ब्राह्मण ही वैद्यक्रिया करते हैं, इस विषयमें वेदमें अन्यत्र कहा है—

यत्रौषधीः समग्मत राजानः समिताविव।
विप्रः स उच्यते भिषग्रक्षोहामीवचातनः।
ऋ. १०।९७।६; वा. य. १२।८०

" जिस विप्रके पास बहुत औषधियां होती हैं उस विप्रको वैद्य कहा जाता है, वही रोगके कृमियोंका नाश करता है और वही रोगभी दूर करता है।"

इस प्रकारके जो वैद्य होते हैं उनके सुपुर्द वैसी रोगी गौको तत्काल करना चाहिये। जिनके पास रहती हुई वह गौ योग्य उपचार द्वारा आरोग्यको प्राप्त हो सके। जहां इस गौको भेजना चाहिये वह स्थान कैसा हो, इसका वर्णन भी देखिये—

यत्रा सुहार्दः सुकृतो मदन्ति विहाय रोगं तन्वः स्वायाः। (मं० ५)
यत्रा सुहार्दां सुकृतां अग्निहोत्रहुतां यत्र लोकः। (मं० ६)
तं लोकं यमिन्यभि संबभूव॥ (मं० ५-६)

" जहां प्रतिदिन अग्निहोत्रमें हवन करनेवाले लोग रहते हैं, और जहां उत्तम हृदय-वाले और श्रेष्ठ कर्मकर्ता लोग रहते हैं, और जहां अपने शरीरका रोग दूर होकर मन आनन्द प्रसन्न हो सकता है, उस स्थानपर उस गौको भेजना चाहिये, जहां रहनेसे सब प्रकारसे कल्याण होगा । "

रुग्णालयके सब लोग अग्निहोत्रमें प्रतिदिन हवन करनेवाले हों, क्योंकि रुग्णालय में विविध प्रकारके रोगी आते हैं और उनके संस्पर्शसे विविध रोग फैलना संभव है, इस कारण वायु शुद्धिके लिये प्रतिदिन हवन होना योग्य है,इस प्रातः सायं किये अग्नि-होत्रके हवनसे वायु निर्दोष होगा और रोगबीज नष्ट होंगे, और ऐसे वायुसे रोगी भी शीघ्र नीरोग हो सकता है । यह रुग्णालय की वायुशुद्धिके विषयमें कहा है । इसके अतिरिक्त रुग्णालयके कर्मचारी प्रतिदिन नियम पूर्वक हवन करनेवाले हों, जिससे उनका भी आरोग्य सिद्ध होगा और उस स्थानकी भी शुद्धता होगी ।

साथही साथ रुग्णालयके कर्मचारी (सु-कृतः) उत्तम शुभ कर्म करनेवाले पवित्र आत्मा होने चाहिये ॥ इनकी पवित्रतासे ही रोगीका आधा रोग दूर हो सकता है । जो वैद्य पवित्र हृदयवाला और शुभ कर्म करनेवाला होगा,उसका औषध भी अधिक प्रभावशाली होगा, क्योंकि औषधके साथ उसके दिलके शुभविचार भी बडे सहायक होंगे ॥

ऐसे सदाचारी सद्भावनावाले धार्मिक वैद्यके पास जो भी रोगी जाय, वह उस आश्र-मके पवित्र वायुमंडलसे —

स्वायाः तन्वः रोगं विहाय । (मं. ५)

"अपने शरीरसे रोग दूर करके" पूर्ण नीरोग होगा, इसमें कोई संदेह नहीं । इसी लिये कहा है कि ऐसे सुविज्ञ आचारसंपन्न ब्राह्मण वैद्यके पास उस प्रकारके रोगी गौको सत्वर भेजना चाहिये।वहां जाकर वह गौ नीरोग बने और वहांसे वापस आकर " घरके मनुष्यों, गौओं, घोडों और घरकी सब भूमिको पवित्र बनावे । (मं. ३)" नीरोग गौका मूत्र, गोबर, तथा गोरस अत्यंत पवित्र होता है, परंतु रोगी गौके ये सब पदार्थ अत्यंत अनिष्ट होते हैं । इसलिये उक्त आश्रममें पंहुंचकर, वहां रहकर, पूर्ण नीरोगताको प्राप्त होकर जब यह गौ वापस आवेगी, तब वह मंगल कारिणी बनेगी; ऐसा जो तृतीय मंत्रमें कहा है; वह सर्वथा योग्य है। " गौ के अन्दर पोषक पदार्थ और अमृतरस होते हैं । यह गौ अनंत प्रकारसे लाभकारी होती है, (मं. ४) " इसलिये उसके आरोग्यके लिये दक्षता से योग्य प्रबंध करना उचित है ।

संरक्षक कर।

[२९]

(ऋषिः—उद्दालकः । देवता-शितिपाद् अविः)

यद् राजा॑नो वि॒भज॑न्त इष्टापू॒र्तस्य॑ षोड॒शं य॒मस्या॒मी स॑भा॒सदः॑ ।
अवि॒स्तस्मा॒त् प्र मु॑ञ्चति द॒त्तः शि॑ति॒पात् स्व॒धा ॥ १ ॥
सर्वा॒न् कामा॑न् पूरयत्या॒भव॑न् प्र॒भव॒न् भव॑न् । आ॒कूति॒प्रोऽवि॑र्द॒त्तः शि॑ति॒पान्नोप॑ दस्यति ॥२॥

अर्थ—(यत्) जिस प्रकार (यमस्य अमी राजानः सभासदः) नियम से चलनेवाले राजाके ये राज्य करनेवाले सभासद (इष्टापूर्तस्य षोडशं विभजन्ते) अन्नादि का सोलहवां भाग विभक्त करते हैं। यह (दत्तः) दिया हुआ भाग (अविः) रक्षक बनकर (शिति-पात) हिंसकोंको गिरानेवाला (स्व-धा) और अपना धारण करनेवाला होता हुआ (तस्मात् प्रमुञ्चति) उस भयसे छुडाता है ॥ १ ॥

यह (दत्तः) दिया हुआ भाग (आकूति-प्रः) संकल्पोंको पूर्ण करनेवाला, (शिति-पात्) हिंसकोंको दबानेवाला, (अविः)संरक्षण करनेवाला, (आ-भवन्) फैलानेवाला, (प्रभवन्) प्रभावशाली, (भवन्) अस्तित्त्वका हेतु होता हुआ (सर्वान् कामान् पूरयति) सब कामनाओंको पूर्ण करता है और (न उपदस्यति) विनाश नहीं करता ॥ २ ॥

भावार्थ—नियमसे प्रजाका पालन करनेवाले राजाके ये राजसभाके सभासद वस्तुतः सचे राजाही हैं। ये प्रजाके अन्न आदि प्राप्तिका सोलहवां भाग कर रूपसे लेते हैं। राजाको दिया हुआ यह सोलहवां भाग सब राष्ट्रका संरक्षण करता है, प्रजाको दुःख देनेवाले जो होते हैं उनको दण्ड देकर दबाता है, प्रजाकी धारक शक्ति बढाता है और उनकी भयसे मुक्तता करता है ॥ १ ॥

यह दिया हुआ कर प्रजाके सब अभ्युदयके संकल्पोंको पूर्ण करता है, दुष्टोंका दमन करता है, सुष्टोंका पालन करता है, राष्ट्रका विस्तार करता है, वीरोंका प्रभाव बढाता है और जातीका अस्तित्व स्थिर रखता है, साथ साथ सब जनताके मनोरथ पूर्ण करता है और कीसीभी प्रकार प्रजाका नाश नहीं करता ॥ २ ॥

यो ददा॑ति शितिपा॒दमविं॑ लो॒केन॒ संमि॑तम् ।
स नाक॑म॒भ्यारो॑हति॒ यत्र॑ शु॒ल्को न क्रि॒यते॑ अब॒लेन॒ बलीयसे ॥ ३॥
पञ्चा॑पूपं शिति॒पाद॒मविं॑ लो॒केन॒ संमि॑तम् । प्र॒दा॒तोप॑ जीवति पि॒तॄणां॑ लो॒केऽक्षि॑तम् ॥४॥
पञ्चा॑पूपं शिति॒पाद॒मविं॑ लो॒केन॒ संमि॑तम् । प्र॒दा॒तोप॑ जीवति सूर्यामा॒सयो॒रक्षि॑तम् ॥५॥

अर्थ-(यः लोकेन संमितं) जो सब लोगों द्वारा संमानित (शिति-पादं अविं ददाति) हिंसकोंके नाश करनेवाले संरक्षक भागको देता है (सः नाकं अभ्येति) वह दुःखरहित स्थानको प्राप्त करता है, (यत्र अबलेन बलीयसे शुल्कः न क्रियते) जहां निर्बल मनुष्यको बलवानके लिये धन देना नहीं पडता है॥३॥

(पञ्च-अ-पूपं) पांचोंको न सडानेवाले अत एव (लोकेन संमितं) जनता द्वारा संमत (शिति-पादं अविं) हिंसकोंको दबानेवाले संरक्षक कर भागको (प्रदाता) देनेवाला (पितॄणां लोके अक्षितं उपजीवति) पितृदेशमें अक्षयतासे जीवित रहता है ॥ ४ ॥

(पञ्च-अ-पूपं) पांचोंको न सडानेवाले (लोकेन संमितं) जनताद्वारा संमानित (शिति-पादं अविं) हिंसकोंको गिरानेवाले संरक्षक कर भागको (प्रदाता) देनेवाला (सूर्या-मासयोः अक्षितं उपजीवति) सूर्य और चन्द्र के सान्निध्यमें अक्षयताके साथ जीवित रहता है ॥ ५ ॥

भावार्थ- इसलिये सब लोग राजाको यह कर देना पसंद करते हैं। जो लोग दुष्टोंको दबाकर सज्जनोंका प्रतिपाल करनेवाला यह कर राजाको देते हैं, वे मानो, सुख पूर्ण स्थानको प्राप्त करते हैं, फिर उस स्थानमें कोई बलवान मनुष्य निर्बलसे जबरदस्तीसे धन लेनेवाला नहीं रहता और न कोई निर्बल मनुष्य अपनी शक्ति हीनताके कारण बलवान केलिये धन अर्पण करता है ॥३॥

यह कर पञ्चजनोंको न गिरानेवाला, दुष्टोंको दबानेवाला और सत्पुरुषोंका पालन करनेवाला है, इसलिये सब जनता इसको राजाके पास समर्पण करती है। जो लोग यह कर देते हैं वे संरक्षकों की रक्षामें सदा सुरक्षित रहते हैं ॥ ४ ॥

यह कर पञ्चजनोंको न गिरानेवाला, दुष्टोंका दमन करनेवाला, सज्जनोंका पालन करनेवाला है, इसलिये सब लोग आनंदसे राजाको यह देते हैं। जो कर देते हैं वे सूर्य और चन्द्रमाके प्रकाशमें सुखसे रहते हैं ॥ ५ ॥

इरे॑व॒ नोप॑ दस्यति समु॒द्र इ॑व॒ पयो॑ म॒हत् । दे॒वौ स॑वा॒सिना॑विव शितिपा॒न्नोप॑ दस्यति ॥ ६ ॥
क इ॒दं कस्मा॑ अदा॒त् काम॒ः कामा॑यादात् ।
कामो॑ दा॒ता काम॑ः प्रतिग्र॒हीता काम॑ः समु॒द्रमा वि॑वेश ॥
कामे॑न त्वा॒ प्रति॑ गृह्णा॒मि कामै॒तत्ते॑ ॥ ७ ॥
भूमि॑ष्ट्वा॒ प्रति॑ गृह्णात्व॒न्तरि॑क्षमि॒दं म॒हत् ।
माहं प्रा॒णेन॒ मात्मना॒ मा प्र॒जया॑ प्रति॒गृह्य॒ वि रा॑धिषि ॥ ८ ॥

अर्थ-(इरा इव) भूमिके समान तथा (महत् पयः समुद्र इव) बडे जलनिधि महासागरके समान और (स-वासिनौ देवौ इव) साथ साथ निवास करनेवाले प्राणरूप दो देवोंके समान (शितिपात् न उपदस्यति) हिंसकको दबानेवाला यह भाग विनाश नहीं करता है ॥ ६ ॥

(कः इदं कस्मै अदात्) किसने यह किसको दिया है ? (कामः कामाय अदात) मनोरथने मनोरथको दिया है । (कामः दाता) कामही दाता है, (कामः प्रतिग्रहीता) कामही लेनेवाला है, (कामः समुद्रं आविवेश) काम ही समुद्रमें प्रविष्ट होता है । (कामेन त्वा प्रतिगृह्णामि) इच्छासे ही तेरा स्वीकार करता हूं । हे काम ! (एतत् ते) यह सब तेराही है ॥ ७ ॥

(भूमिः) पृथ्वी और (इदं महत् अन्तरिक्षं) यह बडा अन्तरिक्ष (त्वा प्रतिगृह्णातु) तेरा स्वीकार करे । (अहं प्रतिगृह्य) मैं प्राप्त करके (प्राणेन, आत्मना, प्रजया) प्राणसे आत्मासे और प्रजासे (मा मा मा विराधिषि) न अलग होजाऊं ॥ ८ ॥

भावार्थ — दुष्टोंको दबानेके लिये दिया हुआ यह कर भूमिके समान आधार देनेवाला, समुद्रके जलके समान शांति देनेवाला और प्राणोंके समान सबका रक्षक होता है और किसीका विनाश होने नहीं देता ॥ ६ ॥

भला, यह कर कौन किसको देता है ? काम ही कामको देता है । इस जगत्में मनकी इच्छा ही देने और लेनेवाली है । यही कामना मनुष्यको समुद्रपर भ्रमण कराती है । इस कामसे ही मनुष्य बडी आपत्तियां स्वयं सिर पर लेता है । यह सब जगत्का व्यवहार कामकी महिमाही है ॥ ७ ॥

इस पृथ्वीपर और आकाशमें कामनाका ही संचार हो रहा है । इस कामनाका विस्तार करता हुआ मैं प्राण आत्मा और प्रजासे दूर न होऊं ॥ ८ ॥

राज्य शासन चलानेके लिये कर।

राजा राज्यका शासन करता है। इस महत्त्व पूर्ण कार्यके लिये प्रजा उसको "कर" समर्पण करती है। इस करका प्रमाण कितना होना चाहिये, अर्थात् प्रजा अपनी प्राप्तिका कितवाँ भाग राजाको समर्पित करे, और राजा उस धनका किन कार्योंमें उपयोग करे, इस विषयका उपदेश इस सूक्त में किया है। अतः राज्यशासन का विचार करनेवालोंको यह सूक्त बडा बोधप्रद है।

प्राप्तिका सोलहवाँ भाग।

प्रजाकी जो आमदनी होती है, उसका सोलहवाँ भाग राजा को देनेके लिये राज-सभाके सभासद अलग करते हैं यह वर्णन पहले ही मंत्रमें है—

अमी सभासदः इष्टापूर्तस्य षोडशं विभजन्ते ॥ (मं० १)

"राजसभाके ये सभासद प्रजाकी प्राप्तिसे सोलहवां भाग अलग करते हैं।" और यह सोलहवां भाग राजाको प्रजासे मिलता है। यह कर है जो राजाको राज्य चलानेके लिये देना चाहिये। खेतसे जो धान्य उत्पन्न होगा उसका सोलहवां भाग राजाकी ग्राम-सभाके सभासद लेकर उसका संग्रह करें। जो उत्पन्न होगा उसका सोलहवां भाग लेना है। अर्थात् साधारण खेती करनेवालोंसे हरएक धान्यके रूपमें ही यह कर लिया जायगा। धान्य उत्पन्न करनेवालोंसे धनके रूपमें नहीं लेना है, प्रत्युत जो पदार्थ उत्पन्न होगा उस पदार्थका सोलहवां भाग लेना है। जिस पदार्थका भाग हो नहीं सकता उसके मूल्यका सोलहवां भाग लिया जायगा तथा जो वैश्य धन कमाते होंगे, उनसे उनकी कमाईका वह भाग धनके रूपमें लिया जागया। कर देनेके विषयमें यह वेदकी आज्ञा सुस्पष्ट दिखाई देती है और यह कर प्रजाके लिये कभी असह्य नहीं हो सकता।

उत्पन्नका सोलहवां हिस्सा लेनेके लिये वेदकी आज्ञा है परंतु स्मृतिग्रंथोंमें छठां भाग लेनेतक करकी वृद्धि हुई है और आज कल तो कई गुणा वृद्धि हुई है। इस मंत्रमें "विभ-जन्ते" क्रिया वर्तमान कालकी है। राजसभाके सभासद स्वयं उत्पन्न देख कर उसका सोलहवां भाग अलग करते हैं, अर्थात् वे खेतमें धान्य तैयार होनेपर धान्यकी राशीके पास जाते हैं और उसके सोलह भाग करके एक भाग राजप्रबंधके लिये ले लेते हैं। केवल अंदाजासे नहीं लेते, परंतु प्रत्यक्ष प्राप्ति देखकर उसमेंसे उक्त भाग लेते हैं, यह बोध वर्तमान कालवाचक "अमी सभासदः विभजन्ते" इस वाक्यसे प्राप्त होता

है। अकालके दिनोंमें धान्य कम उत्पन्न हुआ तो कर कम लेते हैं, और सुकालमें अधिक उत्पत्ति हुई तो अधिक लेते हैं। आज कलके समान सुकाल और अकालमें एक जैसे प्रमाणसे नहीं लेते। पाठक यह वैदिक रीति देखें और इसकी विशेषताका अनुभव करें।

प्राप्तिके दो साधन।

आमदनीके दो मार्ग होते हैं, एक "इष्ट" और दूसरा "पूर्त"। मनुष्य जो अपनी इच्छानुसार अभीष्ट व्यवहार करते हैं और उससे कमाई करते हैं, उसको "इष्ट" कहते हैं, इसमें उद्योग धंदे शिल्प आदिका समावेश होता है, इसमें कर्ताकी इच्छापर व्यवहार की सत्ता निर्भर है। दूसरा है "पूर्त"। इसमें स्वामीकी इच्छा हो या न हो, आमदनी होती रहती है, जैसे बागसे फलादिकोंका उत्पन्न होना, कृषिसे धान्य मिलना, पहिलेसे बढे हुए वृक्षोंसे फल प्राप्त होना इ०। चली हुई पूर्व व्यवस्थासे जो प्राप्ति होती है उसका नाम पूर्त है, जमींदारोंको जो उत्पन्न होता है वह "पूर्त" है क्योंकि जमींदारके प्रयत्न न करनेपर भी वह इसके कोशकी पूर्तता करता रहता है। इष्ट व्यवहारका वैसा नहीं है; वह इच्छापूर्वक काम धंदा करके सफलता होनेपर प्राप्ति होती है, यह प्रयत्नसाध्य है। इष्ट और पूर्तमें यह भेद है। मनुष्योंके व्यवहारोंके ये मुख्य दो भेद हैं।

आजकल "इष्ट" का अर्थ "यज्ञयाग" और "पूर्त" का अर्थ सर्वजनोपयोगी कूप तालाव धर्मशाला आदि करना समझते हैं, इन शब्दोंमें यह अर्थ है, परंतु यह केवल एकही भाग है। इन शब्दोंके संपूर्ण अर्थ केवल येही नहीं हैं। इस समय विचार करनेके सूक्तमें "प्रजाकी आमदनीसे सोलहवां भाग कर रूपसे लिया जाता है" ऐसा कहा है। उस प्रसंगमें "यज्ञ और कूवे" का सोलहवां भाग राजा लेता है ऐसा मानना अयोग्य है, इसीलिये चारों वर्णोंके व्यवहारकी दृष्टिसे होनेवाला और जिससे राजाको सोलहवां भाग कर रूपसे प्राप्त हो सकता है वैसा अर्थ ऊपर लिया है। यज्ञादि अर्थ लेनेके प्रसंग में प्रजाके सुकृतका जो पुण्य होगा उसका कुछ भाग राजाके यश संवर्धनके लिये उसको प्राप्त हो सकता होगा। परंतु इससे संपूर्ण राज्यशासन नहीं चल सकता; अतः आमदनी के विषयका अर्थ ही यहां लेना योग्य है।

उक्त प्रकारकी रीतिसे दो प्रकारके व्यवहारोंसे होनेवाली प्राप्ति का सोलहवां भाग राजाके सभासद राज्यशासन चलानेके लिये प्रजासे कर रूपमें लेते हैं, यह प्रथम मंत्रार्धका कथन है। यहां राजाका भी लक्षण देखना चाहिये —

राजा कैसा हो।

इस सूक्तमें राजाका नाम "यम" आगया है। यम का अर्थ "स्वाधीन रखनेवाला, नियमसे चलनेवाला, धर्मका पालन करनेवाला" है। "यम-धर्म" इस शब्दसे भी यम से धर्मका संबंध स्पष्ट होता है। राज्य चलानेके जो धर्म नियम होते हैं उनके अनुसार राज्यशासन करनेवाला राजा यहां इस शब्दसे बोधित होता है। इससे स्पष्ट है कि यहां का राजा मनमानी बातें करनेवाला नहीं है, प्रत्युत राजधर्मके नियमोंके अनुसार तथा जनताके प्रतिनिधियोंकी संमतिके अनुसार राज्य चलानेवाला है। यह राजा राजसभाके सदस्योंके मतसे और धर्मनियमोंसे बद्ध है, स्वेच्छाचारी नहीं है। वस्तुतः इसके राज्यमें —

अमी सभासदः राजानः। (मं० १)

"राजसभाके ये सभासद ही राज्यशासन करनेवाले राजा हैं।" राजा तो नाम मात्र अधिकारी रहकर, उन सभासदोंकी संमतिसे जो नीति निश्चित होती है, उसके अनुसार राज्य शासन चलाता रहता है। वेदकी यह नियमबद्ध राजसत्ता यहां देखने योग्य है। इस राजाकी राजसभाके सदस्य प्रजाकी आमदनीका सोलहवां भाग राज्य शासनके व्यय के लिये प्रजासे करके रूप में लेते हैं॥ इसका उपयोग कैसा किया जाता है, यह अब देखिये। यह प्रजासे प्राप्त होनेवाला कर क्या क्या करता है इस विषयमें इस सूक्तका वर्णन बडा मनोरंजक है। इसका विचार करनेसे हमें पता लग सकता है कि प्रजाके दिये हुए करका राजा कैसा उपयोग करता है। देखिये—

करका उपयोग।

राजा जो कर जनतासे लेता है, उसका व्यय किन बातोंके लिये किया जावे, इसका वर्णन निम्न लिखित शब्दोंसे इस सूक्तमें किया है। "यह कर निम्न लिखित बातें करता है," ऐसा वर्णन इस सूक्तमें आया है, इस सूक्तका कथन है कि प्रजाद्वारा दिया हुआ कर निम्नलिखित बातें करता है—

(१) अविः= (अवति इति अविः)=रक्षा करता है, जनताकी अथवा राष्ट्रकी रक्षा करता है। प्रजासे लिया हुआ करही प्रजाकी रक्षा करता है। (मं० १, ३—५)

(२) स्वधा= (स्वस्य धारणा)=अपनी अर्थात् प्रजाकी धारणा करता है। राष्ट्रकी धारणा शक्ति करसे बढती है। कर लेकर राजा ऐसे प्रबंध करता है कि जिससे प्रजाकी समर्थता बढ जाती है। (मं० १)

(३) पञ्चापूपः= (पञ्च+अ+पूपः-पूयते विशीर्यते इति पूपः । न पूपः अपूपः । पञ्चानां अपूपः पञ्चापूपः)-जो अलग अलग होता है अर्थात् जिसके भाग बिखरे पडते हैं उसका नाम 'पूप' है । तथा जिसके भाग संघटित एक दूसरेके साथ अच्छी प्रकार मिले जुले होते हैं उसको 'अ-पूप' कहते हैं । पञ्चजनोंको संघटित-संघटनायुक्त-करता है अर्थात् परस्पर मिलाकर रखता है, जिससे पांचों प्रकारके ब्राह्मण क्षत्रिय वैश्य शूद्र निषादोंका अभेद्य संघ होता है उसका यह नाम है । राजा प्रजासे कर लेता है और प्रजाकी संघशक्ति बढाता है । (मं० ४, ५)

(४) भवन्- होना, अस्तित्व रखना । प्रजासे कर ले कर राजा ऐसे कार्योंमें विनियोग करता है कि जिनसे प्रजाका अस्तित्व चिरकाल रहता है । (मं. २)

(५) आभवन्=धन ऐश्वर्य संपन्न होना । राजा करका ऐसा उपयोग करता है कि जिससे प्रजा प्रतिदिन अधिकाधिक संपत्तिमान होती जाय । (मं. २)

(६) प्रभवन्=प्रभाव शाली । प्रजासे कर प्राप्त करके राजा उसका विनियोग ऐसे कार्योंमें करता है कि प्रजा प्रतिदिन प्रभावशालिनी बनती जावे । सत्ववान, पराक्रमी और प्रभावशाली प्रजा बने । (मं० २)

(७) आकूतिप्रः= (आकूतिः) संकल्पोंको (प्र) पूर्ण करनेवाला कर है । अर्थात् प्रजासे कर लेकर राजा ऐसे कार्य करता है कि जिनसे प्रजाके मनकी श्रेष्ठ कामनाएं परिपूर्ण होती हैं और प्रजाकी अखंडित उन्नति होती रहती है । (मं. २)

(८) सर्वान् कामान् पूरयाति=प्रजाकी संपूर्ण उन्नतिकी कामनाएं सफल और सुफल होती हैं । किसीप्रकार भी प्रजाकी श्रेष्ठ आकांक्षाएं निष्फल नहीं होती । कर लेकर राजा ऐसा प्रबंध करता है कि प्रजाकी श्रेष्ठ कामनाएं पूर्ण रीतिसे सिद्धिको प्राप्त हों । (मं० २)

(९) यो... ददाति स नाकं अभ्येति=जो (कर) देता है वह (न+अ+कं) सुखपूर्ण स्थानको प्राप्त करता है अर्थात् राजाको कर देनेवाले लोक अपने देशमें सुखी रहते हैं । प्रजासे कर लेकर राजा ऐसे उत्तम प्रबंधसे राज्य चलाता है, कि सब प्रजा सुखी होती है । (मं० ३)

(१०) प्रदाता पितृणां लोके अक्षितं उपजीवति=कर देनेवाले लोग संरक्षकों

द्वारा सुरक्षित हुए प्रदेशमें चिरकाल आनंदसे रहते हैं। राजा प्रजासे कर लेवे और उनको अत्यंत सुरक्षित रखे, सुराज्य प्रबंधसे लोग सुरक्षित होकर आनंदसे रहें। (मं० ४)

(११) प्रदाता सूर्या-मासयोः अक्षितं उपजीवति=कर देनेवाले लोग जैसे (सूर्य) दिनमें वैसे (मास=चंद्रमाः) रात्रीके समय भी सुरक्षित होकर आनंदसे रहते हैं। कर लेकर राजा राज्य शासनका ऐसा योग्य प्रबंध करे कि जिससे प्रजा दिनके समय भी सुरक्षित होवे और रात्रीके समयमें भी सुरक्षित होवे। (मं० ५)

(१२) इरा इव न उपदस्यति = कर देनेवाली प्रजा पृथ्वीके समान ध्रुव रहती है अर्थात् उस प्रजाका नाश कोई नहीं कर सकता। (मं० ६)

(१३) महत् पयः समुद्र इव न उपदस्यति=कर देनेवाली प्रजा बडे जलसे भरे गहरे महासागरके समान सदा गंभीर और प्रशांत रहती है। छोटे जलाशयके समान शुष्क होकर नाशको नहीं प्राप्त होती। (मं० ६)

(१४) सवासिनौ देवौ इव न उपदस्यति-साथ साथ रहनेवाले दो देव, श्वास और उच्छ्वासके समान यह कर सब प्रजाकी रक्षा करता है अर्थात् जिस प्रकार प्राणके व्यापारसे सब शरीर सुरक्षित रहता है उसी प्रकार प्रजासे मिलनेवाला कर राष्ट्रको सुरक्षित रख सकता है। (मं० ६)

(१५) तस्मात् प्रमुञ्चति-उस महाभयसे मुक्त करता है। यह दिया हुआ कर प्रजाको महाभयसे बचाता है। (मं० १)

(१६) शिति-पात्-(शीयते इति शितिः हिंसनं, शितिं पातयति) ' शिति ' का अर्थ है नाश, उस नाशका पतन जो करता है अर्थात् नाशसे जो बचाता है, उसको ' शिति-पात्' कहते हैं। यह कर प्रजाका विनाशसे बचाव करता है। (मं० १-६)

(१७) अबलेन बलीयसे शुल्कः न क्रियते-निर्बल मनुष्य अपनी निर्बलताके कारण प्रबलको धन नहीं देता। अर्थात् यह कर निर्बल मनुष्योंका बलवानोंके अत्याचारसे पूर्ण बचाव कर सकता है। (मं० ३)।

प्रजासे कर लेकर राजाको इतनी बातें करना चाहिये। यहां ऊपर दिये हुए ये सतरह वाक्य इस सूक्तमें विशेष महत्त्वपूर्ण स्थान रखते हैं। इनका विचार इसी दृष्टिसे पाठक अधिक करें और राज्यशासनके संबंधमें योग्य बोध जान लें। साधारण सूचना

करनेके लिये पूर्वोक्त वाक्योंसे प्राप्त होनेवाला बोध पुनः संक्षेपसे यहां देते हैं—

(१) राजा अपनी प्रजासे कर लेवे और उसका उपयोग प्रजाकी योग्य प्रकारकी रक्षा करनेमें, (२) प्रजाकी सब प्रकारकी धारणाशक्ति और समर्थता बढानेमें, (३) ज्ञानी, शूर, व्योपारी, कारीगर और अन्य लोगोंकी संघशक्ति बढानेमें, इन सबको संघटित करनेमें, (४) इनका राष्ट्रीय और जातीय आस्तित्व सुरक्षित रखनेमें, (५) प्रजाको ऐश्वर्यसंपन्न करनेके कार्योंमें, (६) प्रजाजनोंको प्रभावशाली बनानेमें, (७) संपूर्ण राष्ट्रके सब लोगोंकी सब श्रेष्ठ आकांक्षाओंकी सफलता करनेके साधन निर्माण करनेमें, (८) सब जनोंकी श्रेष्ठ कामनाओंकी तृप्ति करनेके साधन संग्रहित करनेमें, (९) राष्ट्रके दुःख दूर करनेमें, (१०) राष्ट्रकी रक्षा करनेके लिये संरक्षकगण नियुक्त करनेमें, (११) जैसे दिनमें वैसे रात्रीमें भी निर्भय होकर लोग सर्वत्र संचार कर सकें ऐसी निर्भयता संपूर्ण राष्ट्रमें सदा स्थिर रखनेके कार्यमें, (१२–१४) जनताको भूमिके समान ध्रुव, जलनिधि समुद्रके समान गंभीर और प्राणोंके समान जीवन युक्त करनेके कार्योंमें, (१५–१६) भय और विनाशसे प्रजाको बचानेके प्रयत्नोंमें, तथा (१७) बलवान मनुष्य निर्बलोंके ऊपर अत्याचार न करें, ऐसा सुप्रबंध संपूर्ण राज्यभरमें करनेके कार्यमें करें।"

प्रजासे लिये हुए करका उपयोग इन कार्योंमें करना राजाका कर्तव्य है। पूर्वोक्त वाक्योंसे यही भाव प्रकट हो सकता है। पाठक विचार करके इन वाक्योंसे और इन शब्दोंसे अधिक बोध प्राप्त करें। जो राजा प्रजासे कर लेता हुआ इसका उपयोग इन कर्तव्योंसे भिन्न केवल अपनेही स्वार्थसाधनके कार्योंमें करेगा वह राज्य चलानेके लिये अयोग्य होगा। यह इस सूक्तद्वारा वेदकी घोषणा समझना चाहिये।

स्वर्ग सदृश राज्य।

जिस राज्यमें राजा प्रजासे कर लेकर पूर्वोक्त रीतिसे प्रजाकी उत्तम रक्षा करता है, वह स्वर्गके सदृश ही राज्य है और जहां करसे प्राप्त हुए धनका उपयोग प्रजाके बंधन बढानेमें होता है, वह नरकके सदृश राज्य है। स्वर्गराज्यके लक्षण इसी सूक्तमें कहे हैं, उनको अब यहां देखिये—

१ स नाकं अभ्येति

२ यत्र शुल्को न क्रियते अबलेन बलीयसे। (मं० ३)

"(१) कर देनेवाले मनुष्य स्वर्गधाममें पंहुचते हैं;(२)जहां निर्बल मनुष्यको बलवान मनुष्यके लिये धन देना नहीं पडता।" यह स्वर्ग सदृश राज्यका लक्षण है। जहां जिस राज्यमें निर्बल मनुष्यको केवल निर्बल होनेके कारण ही बलवान मनुष्यके सामने सिर झुकाते हुए अपने पासका धन उपहारके रूपमें देना नहीं पडता, वह स्वर्गधाम है। और जिस राज्यमें बलवान मनुष्य निर्बलोंपर जो चाहे सो अत्याचार करते हैं और इन अत्याचारोंके कारण कोई उनको पूंछता तक नहीं और जहां निर्बल मनुष्य केवल बलहीन होनेके कारणही पीसे जाते हैं, वह नरक है। "नर-क" का अर्थ "हीन मनुष्य, छोटा मनुष्य, नीचली श्रेणीका मनुष्य" है। जिस राज्यमें हीन भावना वाले मनुष्य होते हैं वह नरकराज्य है और जहां श्रेष्ठ भावनावाले मनुष्य होते हैं उसको स्वर्गराज्य कहते हैं।

ब्राह्मणोंका ज्ञानका बल, क्षत्रियोंका अधिकारका बल, वैश्योंका धनका बल, शूद्रोंका कारीगरीका बल, और निषादोंका केवल शारीरिक बल होता है। ये लोग यदि स्वार्थी हुए तो इन बलोंसे मदोन्मत्त होकर अन्योंपर अत्याचार करते हैं। ऐसा अत्याचार कोई किसीपर न करे और सबको धर्मके आश्रयसे मनुष्यत्व विषयक समानताका दर्जा हो, ऐसा राज्य व्यवस्थाका प्रबंध रखना राजाका परम कर्तव्य है। जहां ऐसा उत्तम प्रबंध होता है और जिस राज्यमें शासनव्यवस्थाके आश्रयसे निर्बल मनुष्यभी बलवान मनुष्यके अत्याचारके सामने अपनी रक्षाके लिये खडा रह सकता है, और केवल निर्बलताके कारण पीसा नहीं जाता, वही राज्यशासन पद्धति वेदकी दृष्टिसे अत्यंत उत्तम है। वही "वैदिक राज्य" है।

कामना का प्रभाव।

पूर्वोक्त प्रकार राज्यव्यवस्था करना या अन्यान्य वैदिक आज्ञाओंके अनुसार मनुष्योंका सुधार करनेके यत्न करना या न करना, यह सब मनुष्यकी कामना-इच्छा-संकल्प-आकांक्षा आदिके खेल हैं। मनुष्यमें जो इच्छा होती है वैसा मनुष्य चलता है और वैसा ही मनुष्य व्यवहार करता है। यह बतानेके लिये ७ वें और ८ वें मंत्रका उपदेश है। इसका पहलाही प्रश्नोत्तर देखिये—

प्रश्न— इदं कः कस्मै अदात्? = यह कौन किसको देता है?

उत्तर—कामः कामाय अदात् = काम ही कामके लिये देता है।

कामः दाता, कामः प्रतिग्रहीता = कामही देने और लेनेवाला है।

ये मंत्रभाग बडे महत्त्वपूर्ण उपदेशको देनेवाले हैं। मनुष्यके मनके अंदर जो इच्छा

है, जो महत्वाकांक्षा है, जो कामना है वही मनुष्यको दाता बनाती है और उसीसे दूसरा मनुष्य दान लेनेवाला बनता है। राजा राज्य करता है, सैनिक युद्ध करते हैं, नौकर नौकरी करते हैं, कोई किसीको कुछ देता है और दूसरा लेता है,यह सब व्यवहार मनके अंदरकी इच्छाके कारण होते हैं। मानो, यह कामही सबसे ये व्यवहार करा रहा है यहां तक की—

काम: समुद्रं आविवेश। (मं० ७)

" कामही समुद्रमें घुसा है। " अर्थात् समुद्रपर भी इसी कामकाही राज्य है। पृथ्वीको छोडकर जो मनुष्य समुद्रमें जहाजोंमें बैठकर भ्रमण करने जाते हैं वे भी कामकीही प्रेरणासे ही जाते हैं। और कोई विमान द्वारा आकाशमें उडते हैं वे भी कामकी प्रेरणासे ही उड रहे हैं। इस प्रकार इस जगत् का सब व्यवहार कामनाकी प्रेरणासे हो रहा है। " भूमि और अंतरिक्ष में भी सर्वत्र कामही काम अर्थात् कामना का राज्य है। (मं० ८) " सब इसीकी आज्ञाके अनुसार फिर रहे हैं। देखिये-

काम ! एतत् ते। (मं० ७)

" हे काम ! यह तेरा ही महाराज्य है " तेरा ही शासन सब पर है। कौन तेरे शासनसे बाहर है। कामका स्वीकार करने वाले कामी लोग जैसे अपने मनकी कामनासे प्रेरित होते हैं, उसी प्रकार कामका त्याग करनेवाले विरक्त लोग भी उसी कामनासे ही प्रवृत्त होते हैं, तात्पर्य कामका सर्वतोपरी शासन है।

काम की मर्यादा।

कामना बुरी है ऐसा कहते हैं। यदि काम उक्त प्रकार सब पर शासनाधिकार चलाता है और भोगी और त्यागी दोनों उसीके आधीन रहते हैं तो फिर कामका संयम कैसे हो सकता है ? इस प्रश्नका उत्तर अष्टम मंत्रके उत्तरार्धने दिया है। इस मंत्र भागमें कहां तकके कामका स्वीकार करना और कहांसे आगेके कामको त्यागना इस महत्त्वपूर्ण विषयका विवेचन किया है। वह विषय अब देखिये—

प्रतिगृह्य अहं आत्मना मा विराधिषि,
अहं प्राणेन मा विराधिषि,
अहं प्रजया मा विराधिषि। (मं० ८)

"काम ! तेरा स्वीकार करके,मैं अपनी आत्मशक्तिको न खो बैठूं,मैं अपनी प्राणशक्तिको न क्षीण करूं, और मैं अपने प्रजननको भी न हीन बनादूं। " यहां तक जितना काम स्वीकारा जा सकता है, उतना मनुष्यके लिये लाभदायी हो सकता है।

काम विषयका अत्याचार हरएक इंद्रियके कार्य क्षेत्रमें हो सकता है, परंतु इसका विशेष कार्यक्षेत्र जननेन्द्रियके साथ संबंध रखता है। इस इंद्रियेसे विशेष अत्याचार करनेसे आत्माका बल कम होता है, जीवनकी मर्यादा तथा प्राणकी शक्ति क्षीण होती है और सन्तान उत्पन्न करनेकी शक्ति भी न्यून होती है और ऐसे कामी पुरुषको जो भी सन्तान उत्पन्न होते हैं वे भी क्षीण, बलहीन और दीन होते हैं। इस प्रकारका घात-पात न हो इस लिये कामका संयम करना आवश्यक है। संयम की मर्यादा यह है कि " उस मर्यादा तक काम का उपभोग लिया जावे कि जहां तक लेनेसे अपनी आत्माकी शक्ति, प्राणकी शक्ति और प्रजनन शक्ति क्षीण न हो सके, इससे अधिक कामका भोग करनेसे हानि है। "

इस मंत्रमें सभी इंद्रियोंके संबंधमें कामका उपभोग लेनेकी मर्यादा कही है, यद्यपि ऊपर के उदाहरणमें हमने एक इंद्रियको लक्ष्य करके लिखा है, तथापि पाठक उसी मर्यादाको संपूर्ण इंद्रियोंके कार्यक्षेत्रमें घटाकर योग्य बोध प्राप्त करें।

काम का यह साम्राज्य संपूर्ण जगत्में है। विशेषकर मानवी प्राणियोंमें हमें विचार करना है। इस राज्यव्यवस्थाका उपदेश देने वाले इस सूक्तमें इस काम विषयके ये मंत्र रखे हैं और कामकी धर्ममर्यादा और अधर्ममर्यादा भी बता दी है; इसका हेतु यह है कि राजा अपने राज्यमें ऐसा राज्यप्रबंध करें कि जिससे प्रजाजन काम विषयक धर्ममर्यादा का उल्लंघन न करें और अपने आत्मा, प्राण और प्रजननकी शक्तिसे युक्त हों और सब उत्तम शांतिसे स्वर्गतुल्य राज्यका आनंद प्राप्त करें। प्रजासे लिये हुए कर का इस व्यवस्थाके लिये व्यय करना राजाका आवश्यक कर्तव्य है। करसे ये कार्य होते हैं और प्रजा सुखी होती है, इसी लिये (लोकेन संमितं। मं० ४, ५) 'प्रजाद्वारा स्वीकृत और संमानित कर ' ऐसा इसका विशेषण दिया है।

जहां प्रजासे प्राप्त करका इन कार्योंके लिये उपयोग होता है, वहां की प्रजा सुखी और अभ्युदय तथा निःश्रेयस को प्राप्त करने वाली होती है। वैदिकधर्मी ऐसा प्रबंध करें कि जिससे अपने देशमें, तथा अन्यान्य देशोंमें, इसी प्रकारके वैदिक आदर्शसे चलनेवाले और चलाये जानेवाले राज्य हों और कोई राष्ट्र स्वराज्य के वैदिक आदर्शसे दूर न रहे।

एकता ।

[३०]

(ऋषिः— अथर्वा । देवता-चन्द्रमाः)

सहृदयं सांमनस्यमविद्वेषं कृणोमि वः ।
अन्यो अन्यमभि हर्यत वत्सं जातमिवाघ्न्या ॥ १ ॥
अनुव्रतः पितुः पुत्रो मात्रा भवतु संमनाः ।
जाया पत्ये मधुमतीं वाचं वदतु शन्तिवाम् ॥ २ ॥

अर्थ— (स-हृदयं) सहृदयता अर्थात प्रेमपूर्ण हृदय, (सां-मनस्यं) सांमनस्य अर्थात् मन शुभ विचारोंसे पूर्ण होना और (अ-विद्वेषं) परस्पर निर्वैरता (वः कृणोमि) तुम्हारे लिये मैं करता हूं। तुम्हारे में से (अन्यः अन्यं अभि हर्यत) हरएक परस्परके ऊपर प्रीति करे (अघ्न्या जातं वत्सं इव) जैसे गौ उत्पन्न हुए बछडेको प्यार करती है ॥ १ ॥

(पुत्रः पितुः अनुव्रतः) पुत्र पिताके अनुकूल कर्म करनेवाला और (मात्रा संमनाः भवतु) माताके साथ उत्तम मनसे रहनेवाला होवे। (जाया पत्ये) पत्नी पतिसे (मधुमतीं शन्तिवां वाचं वदतु) मधुर और शांतिसे युक्त भाषण करे ॥ २ ॥

भावार्थ—प्रेमपूर्ण हृदयके भाव, मनके शुभ विचार और आपसकी निर्वैरता आप अपने घरमें स्थिर कीजिये। तुम्हारे में से हरएक मनुष्य दूसरे मनुष्यके साथ ऐसा प्रेमपूर्ण बर्ताव करे कि जिस प्रकार नये उत्पन्न हुए बछडेसे उसकी गौ माता प्यार करती है ॥ १ ॥

पुत्र पिताके अनुकूल कर्म करे, और माताके साथ मनके शुभ भावसे व्यवहार करे। पत्नी पतिके साथ सदा मधुर भाषण करती रहे ॥ २ ॥

मा भ्राता भ्रातरं द्विक्षन्मा स्वसारमुत स्वसा । सम्यञ्चः सव्रता भूत्वा वाचं वदत भद्रया ॥ ३
येन देवा न वियन्ति नो च विद्विषते मिथः । तत्कृण्मो ब्रह्म वो गृहे संज्ञानं पुरुषेभ्यः ॥४॥
ज्यायस्वन्तश्चित्तिनो मा वि यौष्ट संराधयन्तः सधुराश्चरन्तः ।
अन्यो अन्यस्मै वल्गु वदन्त एत सध्रीचीनान्वः संमनसस्कृणोमि ॥ ५ ॥

अर्थ—(भ्राता भ्रातरं मा द्विक्षत) भाई भाईसे द्वेष न करे, (उत स्वसा स्वसारं मा) और बहिन बहिनसे द्वेष न करे । (सम्यञ्चः सव्रताः भूत्वा) एक मतवाले और एक कर्म करनेवाले होकर (भद्रया वाचं वदत) उत्तम रीतिसे भाषण करो ॥ ३ ॥

(येन देवाः न वियन्ति) जिससे व्यवहार चलानेवालोंमें विरोध नहीं होता है, (च नो मिथः विद्विषते) और न कभी परस्पर द्वेष बढता है, (तत् संज्ञानं ब्रह्म) वह एकता बढानेवाला परम उत्तम ज्ञान (वः गृहे पुरुषेभ्यः कृण्मः) तुम्हारे घरके मनुष्योंके लिये हम करते हैं ॥ ४ ॥

(ज्यायस्वन्तः) वृद्धोंका सन्मान करनेवाले, (चित्तिनः) उत्तम चित्तवाले, (संराधयन्तः) उत्तम सिद्धितक प्रयत्न करनेवाले, (स-धुराः चरन्तः) एक धुराके नीचे कार्य करनेवाले और आगे बढनेवाले होकर (मा वि यौष्ट) तुम मत् अलग होओ, मत विरोध करो । (अन्यः अन्यस्मै वल्गु वदन्तः एत) एक दूसरेसे प्रेम पूर्वक भाषण करते हुए आगे बढो । (वः सध्रीचीनान्) तुमको साथ पुरुषार्थ करनेवाले और (संमनसः कृणोमि) उत्तम एक विचारसे युक्त मनवाले करता हूं ॥ ५ ॥

भावार्थ— भाई भाईसे द्वेष न करे, बहिन बहिनके साथ न लडे । एक मतसे एक कर्म करनेवाले होकर परस्पर निष्कपटतासे भाषण करो ॥ ३ ॥

जिससे कार्य व्यवहार चलानेवालोंमें कभी विरोध नहीं हो सकता और कभी आपसमें लढाई झगडा नहीं हो सकता, वैसा उत्तम ज्ञान तुम अपने घरोंमें बढाओ ॥ ४ ॥

वृद्धोंका संमान करो, चित्तमें शुभ सङ्कल्प धारण करो, उत्तम सिद्धितक प्रयत्न करो, आगे बढ कर अपने सिरपर कार्यका भार लो और आपसमें विद्वेष न बढाओ । परस्पर प्रेमपूर्वक भाषण करो, मिलजुल कर पुरुषार्थ करनेवाले बनो । इसी लिये तुम्हें उत्तम मन से युक्त बनाया है ॥ ५ ॥

*

समानी प्रपा सह वोऽन्नभागः समाने योक्त्रे सह वो युनज्मि ।
सम्यञ्चोऽग्निं सपर्यतारा नाभिमिवाभितः ॥ ६ ॥
सध्रीचीनान्वः संमनसस्कृणोम्येकश्नुष्टीन्त्संवननेन सर्वान् ।
देवा इवामृतं रक्षमाणाः सायंप्रातः सौमनसो वो अस्तु ॥ ७ ॥

अर्थ— (प्रपा समानी) तुम्हारा जल पीनेका स्थान एक हो, और (वः अन्नभागः सह) तुम्हारा अन्नका भाग भी साथ साथ हो । (समाने योक्त्रे वः सह युनज्मि) एकही जोतमें तुमको साथ साथ मैं जोडता हूं । (सम्यञ्चः अग्निं सपर्यत) मिलजुलकर ईश्वरकी पूजा करो, (अभितः नाभिं अराः इव) चारों ओरसे नाभीमें जैसे चक्रके आरे जुडे होते हैं ॥ ६ ॥

(संवननेन वः सर्वान्) परस्पर सेवा करनेके भावसे तुम सबको (सध्रीचीनान् संमनसः एकश्नुष्टीन् कृणोमि) साथ मिलकर पुरुषार्थ करनेवाले, उत्तम मनवाले और समान नेताकी आज्ञामें कार्य करनेवाले बनाता हूं । (अमृतं रक्षमाणाः देवाः इव) अमृतकी रक्षा करनेवाले देवोंके समान (सायं प्रातः वः सौमनसः अस्तु) सायं काल और प्रातः काल तुम्हारे प्रसन्न चित्त रहें ॥ ७ ॥

भावार्थ— तुम्हारा जल पीनेका स्थान सबके लिये समान हो, अन्नका भोग भी सबके लिये एक हो, समान कार्यकी एक धुराके नीचे रह कर कार्य करने वाले तुम हो, उपासना भी सब मिलजुलकर एक स्थानमें करो, जैसे चक्रके आरे नाभिमें जुडे होते हैं, वैसे ही तुम अपने समाजमें एक दूसरेके साथ मिले रहो ॥ ६ ॥

परस्परकी सहायता करनेके लिये परस्परकी सेवा करो, उत्तम ज्ञान प्राप्त करो, मन के भाव शुद्ध करके एक विचारसे एक कार्यमें दत्त चित्त हो, सबके लिये समान अन्नादि भोग मिलें । जिस प्रकार देव अमृतकी रक्षा करते हैं, इसी प्रकार सायं प्रातः तुम अपने मनके शुभसङ्कल्पोंकी रक्षा करो ॥ ७ ॥

संज्ञानसे एकता।

इस सूक्तमें "संज्ञान" प्राप्त करके आपसकी एकता करनेका उपदेश है। मनुष्य प्राणी संघ बनाकर रहनेवाला होनेके कारण उसको आपसकी एकता रखना अत्यंत आवश्यक है। जातीय एकता न रही, तो मनुष्यका नाश होगा। जो जाती अपने अंदर संघशक्ति बढाती है वही इस जगत् में विजयी हो रही है, तथा जिस जातीमें आपसकी फूट अधिक होती है, वह पराजित होती रहती है। अतः आपसमें संघशक्ति बढाकर अपनी उन्नति करना हरएक जातीके लिये अत्यंत आवश्यक है। संघशक्ति बढानेके जो उपाय इस सूक्तमें वर्णन किये हैं, वे अब देखिये—

अंदरका सुधार।

सबसे प्रथम व्यक्तिके अंदरका सुधार होना चाहिये। वैदिक धर्ममें यदि कोई विशेष महत्व पूर्ण बात कही होगी तो यही कही है कि संपूर्ण सुधार का प्रारंभ मनुष्यके हृदयके सुधारसे होना चाहिये। हृदय सुधर जानेपर अन्य सब सुधार मनुष्यको लाभ पहुंचा सकते हैं, परंतु हृदयमें दोष रहे तो बाह्य सुधारसे कुछ भी लाभ नहीं हो सकता। इस लिये इस सूक्तमें हृदयके सुधार करनेकी सूचना सबसे प्रथम कही है—

१ सहृदयं- (स-हृदयं)-हृदयके भाव की समानता। अर्थात् दूसरेके दुःखसे दुःखी और दूसरेके सुखसे सुखी होना। (मं० १)

जिनके हृदय ऐसे होते हैं वे ही जनतामें एकता करने और एकता बढानेके कार्य करनेके अधिकारी होते हैं। जो दूसरेको दुखी देखकर दुखी नहीं होता वह जनताको किसी प्रकार भी उठा नहीं सकता। हृदयका सुधार सबसे मुख्य है। इसके बाद वेद कहता है—

२ सांमनस्यं—(सं-मनः)-मनका उत्तम शुभ संस्कारोंसे पूर्ण होना। मन शुद्ध और पवित्र भावनाओं और श्रेष्ठ विचारोंसे युक्त होना। (मं. १)

मनके आधीन संपूर्ण इंद्रियां होती हैं। इसलिये जैसे मनके विचार होते हैं वैसी ही अन्य सब इंद्रियोंकी प्रवृत्ति होती है। इसलिये अन्य इंद्रियोंसे उत्तम प्रशस्ततम कार्य होनेके लिये मनके शुभ संकल्पमय होनेकी अत्यंत आवश्यकता है। पूर्वोक्त प्रकार सहृदयता और सांमनस्यता सिद्ध होनेके पश्चात् मनुष्यका बाह्य व्यवहार कैसा होना चाहिये यह भी इसी मंत्रने तीसरे शब्द द्वारा कहा है—

बाहरका सुधार ।

३ अ- विद्वेषं= द्वेष न करना। एक दूसरेके साथ परस्पर द्वेष न करना । आपसमें झगडा न करना । (मं० १)

यह शब्द बाह्य व्यवहारका सुधार करनेकी सूचना देता है। मनुष्यका व्यवहार कैसा हो ? इस प्रश्नका उत्तर यह है कि " मनुष्यका व्यवहार ऐसा हो कि जिसमें कोई किसीका द्वेष न करे। " यह मनुष्यके व्यवहारका आदर्श है। द्वेष न हो। झगडा न हो। दो मनुष्य इकट्ठे आगये तो किसी न किसी की निन्दा करनेकी बात शुरू होती है, नीच मनुष्योंका यह स्वभाव ही बना है। परंतु सज्जनोंको ऐसा करना योग्य नहीं है। वे अपना आचरण निर्वैरताके भावसे परिपूर्ण रखें।

निर्वैरता का व्यवहार करनेका तात्पर्य क्या है ? दो पत्थर या दो वृक्ष साथ रहते हैं और निर्वैरता के साथ रहते हैं। क्या इस प्रकारकी जड निर्वैरता वहां अभीष्ट है ? नहीं नहीं, यहां का ' अ-विद्वेष ' शब्द परस्परके प्रेम पूर्ण व्यवहारका सूचक है। सबसे प्रथम सहृदयता और सांमनस्यता कही है, इनसे क्रमशः हृदय और मन की शुद्धि हुई। ये परिशुद्ध हृदय और मन जो अविद्वेषका व्यवहार करेंगे वह दो पत्थरोंके आपसके व्यवहार जैसा जड नहीं हो सकता। इस अविद्वेषके व्यवहारका उदाहरणही इस प्रथम मंत्रके उत्तरार्धमें दिया है—

अन्यो अन्यमभि हर्यत, वत्सं जातमिवाघ्न्या। (मं० १)

' एक दूसरेके साथ ऐसा प्रेम कर कि जैसा गौ अपने नये जन्मे बछडेके साथ प्रेम करती है। '' निर्वैरताका यह उदाहरण है। अंहिसाके व्यवहारका दृश्य रूप गौ माताका अपने नवजात बछडेसे व्यवहार है। गौका प्रेम अपने बछडेसे जैसा होता है वैसा अन्योंसे तुम प्रेम करो। ' अ-विद्वेष '' का अर्थ केवल " वैरका अभाव " नहीं है, केवल निषेध करनेसे किसीका बोध नहीं होता है। वैर न करना, हिंसा न करना यह तो उत्तम है परंतु इसका विधायक स्वरूप है " प्रेम करना "। अर्थात् अविद्वेष का अर्थ है दूसरे पर प्रेम करना। पहिले मंत्र में जो तीन शब्दों द्वारा मानवी धर्मका उपदेश किया उसका ही उदाहरण उत्तर मंत्र भागमें गौके उदाहरणसे दिया और दिखलाया कि दूसरोंके साथ प्रेमका व्यवहर करना चाहिये। इस प्रकार करनेसे जातीय एकता सिद्ध होगी। इस उपदेशका आचरण करनेका क्रम अगले मंत्रोंमें कहा है, सब से प्रथम घरमें इस उपदेशके अनुसार व्यवहार करने की रीति अगले तीन मंत्रोंमें कही है, वह गृहस्थियोंको अवश्य मनन करना चाहिये।

"(१) पुत्र पिताके अनुकूल कर्म करे, और माताके साथ उत्तम भावनाओंसे व्यवहार करे। धर्मपत्नी पतिके साथ मीठा और शांतिसे युक्त भाषण करे ॥२॥ भाई भाईसे द्वेष न करे और बहिन बहिनके साथ झगडा न करे, सब मिल कर आपसमें मधुर भाषण करते हुए अपने कल्याणके लिये एक कार्यमें दत्तचित्त हो जाओ ॥ ३ ॥ जिससे विरोध और विद्वेष नहीं होता है ऐसा संज्ञान तुम्हारे घरके लोगोंके लिये मैं देता हूं ॥ ४ ॥

आदर्श कुटुंबका वर्णन कर रहे हैं। जो कुटुंब ऐसा होगा वह निःसंदेह आदर्श रूपही होगा। पाठक इन मंत्रोंके उपदेशको अपने परिवारमें ढालनेका यत्न करें।

इन मंत्रोंका अर्थ करनेके समय ये सामान्य निर्देश हैं यह बात भूलना नहीं चाहिये। अर्थात् "पुत्र पिताके अनुकूल कार्य करे" इस वाक्यका अर्थ 'कन्या भी मातापिताके अनुकूल कर्म करे' ऐसा है। तथा "भाई भाईसे द्वेष न करे" इसका अर्थ 'भाई बहिनसे और बहिन भाईसे द्वेष न करे' ऐसा है। 'पत्नी पतिसे मीठा भाषण करे' इसमें 'पति भी पत्नीसे मीठा भाषण करे' यह अर्थ है और (वः गृहे पुरुषेभ्यः संज्ञानं ब्रह्म कृण्मः। मं० ४) "तुम्हारे घरके पुरुषोंको यह संज्ञान ब्रह्म देते हैं," इस का अर्थ 'तुम्हारे घरके स्त्रियोंको भी यह संज्ञान देते हैं' ऐसा है। इसको सामान्य निर्देश कहते हैं। यदि पाठक इन निर्देशोंकी यह सामान्यता न देखेंगे, तो अर्थका अनर्थ हो जायगा। इसलिये कृपया पाठक इसका अवश्य अनुसंधान करके बोध प्राप्त करें।

संघमें कर्म।

पञ्चम मंत्रमें जातीके लोगोंके साथ कैसा व्यवहार करना चाहिये, इस विषयका उत्तम उपदेश है, इसका सारांश यह है—

१ ज्यायस्वन्तः=बडोंका सन्मान करनेवाले बनो। वृद्धोंका सन्मान करो। (मं. ५)

२ मा वि यौष्ट=विभक्त मत बनो। अपनेमें विभेद न बढाओ। (मं० ५)

३ सधुराः चरन्तः= एक धुराके नीचे रहकर आगे बढो। यहां धुरा का अर्थ धुरीण, नेता, समझना योग्य है। अपने नेताके शासनमें रहकर अपनी उन्नतिके मार्गपर से कटिबद्ध होकर चलो। (मं० ५)

अपने नेताकी आज्ञामें रहकर उन्नतिका साधन करनेवाले ही अभ्युदय और निःश्रेयस प्राप्त कर सकते हैं।

४ सध्रीचीनाः=एकही कर्मके लिये मिलकर पुरुषार्थ करनेवाले बनो। अर्थात् जो करना हो वह तुम सब मिलकर करते रहो। (मं० ५)

५ संराधयन्तः = मिलकर सिद्धिके लिये यत्न करनेवाले बनो । (मं० ५)

६ अन्यो अन्यस्मै वल्गु वदन्त एत = परस्पर प्रेम पूर्वक शुभ भाषण करते हुए आगे बढो । (मं० ६)

जब कभी दूसरेसे भाषण करना हो तो प्रेम पूर्वक तोलकर मीठा भाषण करो, जिससे आपसमें फिसाद न बढे और आपसकी फूट बढकर अपनी शक्ति क्षीण न हो ।

इस मंत्रके "चित्तिनः और संमनसः" ये शब्द वही भाव बताते हैं कि जो प्रथम मंत्रके "सांमनस्य" शब्दने बताया है । उत्तम चित्तवाले और शुभ मनवाले बनो यही इसका आशय है ।

वृद्धोंका सन्मान करना और पुरुषार्थ साधक कर्ममें दत्तचित्त होना ये दो उपदेश यहां मुख्यतः हैं । पाठक विचार करके जान सकते हैं कि मनुष्यकी परीक्षा कर्मसे ही होती है । इसलिये इस मंत्रमें अनेक शब्दों द्वारा कहा कि किसी एक कर्ममें अपने आपको समर्पित करो और वहां यदि अन्य मनुष्योंका संबंध हो तो उनके साथ अविरोधसे कर्म करो । इस कर्मसे ही मनुष्य श्रेष्ठ है वा कनिष्ठ है, इसका निश्चय हो सकता है।

खानपानका प्रश्न ।

जब संघ में रहना और कर्म करना होता है तब ही खानपान का प्रश्न आता है। घरमें तो सबका एकही खानपान होता है, क्योंकि माता पिता भाई बाल बच्चे प्रायः एकही भोजन करते और एकही पानी पीते हैं । जो खानपानका प्रश्न उत्पन्न होता है वह जातीय संघट्टना के समय ही उत्पन्न होता है, इस विषयमें षष्ठ मंत्रने उत्तम नियम बताया है-

" तुम्हारा जलपान का स्थान एक हो और अन्न भाग भी एक हो, तुम सबको मैं एक धुराके नीचे रखता हूं । तुम मिलकर एक ईश्वरकी उपासना करो । " (मं० ६)

इस मंत्रमें सबका खान पान और उपासना एक हो इस विषयका उपदेश स्पष्ट शब्दोंसे कहा है । जातीय और राष्ट्रीय कार्य करनेवाले इस उपदेशका अधिक मनन करें । मंत्र कहता है, कि ' जाती चक्रके समान है, ' जिस प्रकार चक्रके आरे चारों ओर से नाभी में अच्छी प्रकार जुडे होते हैं, उसी प्रकार चारों वर्ण राष्ट्रकी नाभीमें जुडे हैं। यदि वे अपने स्थानसे थोडे भी अलग हो जांयगे तो चक्र का नाश होगा । जनता में सब लोगोंकी एकता ऐसी होनी चाहिये जिस प्रकार चक्रमें लकडियां एकत्र हुई होती हैं ।

सेवाभावसे उन्नति।

सप्तम मंत्रमें " सं-वनन " शब्द है। इसका अर्थ " उत्तम प्रकार की प्रेम पूर्वक सहायता करना " है। ' वन् ' धातुका अर्थ 'प्रेम पूर्वक दूसरेकी सहायता करना' है। ' सं+वन् ' का भी यही अर्थ है। इससे संवनन का अर्थ स्पष्ट होगा। प्रेम पूर्वक दूसरोंकी सहायता करना ही सेवा—समिती का कार्य होता है। वही भाव इस शब्दमें है। अपनेको कुछ पारितोषिक प्राप्त हो ऐसी इच्छा न करते हुए जनताकी सेवा केवल प्रेमसे करना और यही परमेश्वरकी श्रेष्ठ भक्ति है, ऐसा भाव मनमें धारण करना श्रेष्ठ मनुष्यका लक्षण है। इस गुणसे अन्य मनुष्योंपर बडा प्रभाव पडता है और बहुत लोग अनुकूल होते हैं। इस विषयमें मंत्र कहता है-

संवननेन सर्वान् एकश्नुष्टीन् कृणोमि। (मं० ७)

" प्रेम पूर्वक सेवासे सबकी सहायता करता हुआ मैं सबको एक ध्येयके नीचे काम करनेवाले बनाता हूं। " जनताका सबसे बडा नेता वही है कि जो जनताका सबसे बडा निःस्वार्थ सेवक है। सच्चा राष्ट्रकार्य, सच्ची जनसेवा, करना ही मनुष्यका बडा भारी यज्ञकर्म है। जो जितना और जैसा करेगा वह उतना श्रेष्ठ नेता बन सकता है। निःस्वार्थसेवासे ही जनताके नेता होते हैं। परमेश्वर सबसे बडा इसी लिये है क्योंकि वह सबसे अधिक गुप्त रहता हुआ, अज्ञात रीतिसे जनताकी अधिक से अधिक सहायता करता है, वह उसका बडा भारी यज्ञ है, इसी लिये उसका अधिकसे अधिक सन्मान सब आस्तिक लोग करते हैं। यही आदर्श अपने सामने सत्पुरुष रखते हैं और जनताकी सेवा करते जाते हैं, इस कारण वे भी सन्मानके भागी होते हैं।

कर्मसे मनुष्यत्वका विकास।

वेदका सिद्धान्त है कि "क्रतुमयोऽयं पुरुषः।" अर्थात् "यह मनुष्य कर्ममय है।" इसका तात्पर्य यह है कि मनुष्य जैसा कर्म करता है, वैसी उसकी स्थिति होती है। मनुष्यकी उन्नति कर्मके वशमें है इसीलिये प्रशस्ततम कर्म करना मनुष्यको आवश्यक है। ये कर्म ऐसे हों कि जिनसे एकता बढे और परस्पर विघात न हो यह उपदेश इस सूक्तके "सव्रताः, संराधयन्तः, सधुराश्चरन्तः, सध्रीचीनान्, एकश्नुष्टीन्" आदि शब्दोंद्वारा मिलता है। पाठक इस महत्त्व पूर्ण उपदेशकी ओर अवश्य ध्यान दें।

इस प्रकार इस सूक्तने अत्यंत महत्त्वका उपदेश किया है पाठक इन उपदेशोंका जितना अधिक मनन करेंगे उतना अधिक बोध प्राप्त कर सकते हैं।

पाप की निवृत्ति।

[३१]

[ऋषिः– ब्रह्मा। देवता-पाप्महा]

वि देवा जरसावृतन् वि त्वमग्ने अरात्या।
व्य १ हं सर्वेण पाप्मना वि यक्ष्मेण समायुषा ॥ १ ॥
व्यार्त्या पवमानो वि शक्रः पापकृत्यया।
व्य १ हं सर्वेण पाप्मना वि यक्ष्मेण समायुषा ॥ २ ॥

अर्थ— (देवाः जरसा वि अवृतन्) देव वृद्धावस्था से दूर रहते हैं। (अग्ने! त्वं अरात्या वि) हे अग्ने! तू कंजूसीसे तथा शत्रुसे दूर रह। (अहं सर्वेण पाप्मना वि) मैं सब पापोंसे दूर रहूं। तथा (यक्ष्मेण वि) रोगसे भी दूर रहूं। और (आयुषा सं) दीर्घ आयुसे संयुक्त होऊं ॥ १ ॥

(पवमानः आर्त्या वि) शुद्धता करनेवाला पुरुष पीडासे दूर रहता है, (शक्रः पापकृत्यया वि) समर्थ मनुष्य पापकर्मसे दूर रहता है, उसी प्रकार सब पापोंसे और सब रोगोंसे मैं दूर रहूं और दीर्घायुसे संपन्न होऊं ॥ २ ॥

भावार्थ— देव वृद्धावस्थाको दूर करके सदा तरुण जैसे रहते हैं, अग्नि देव अदानी पुरुषोंको दूर करके दानी पुरुषोंको पास करता है। इसी प्रकार मैं सब पापोंको और रोगोंको दूर करके पुरुषार्थ से दीर्घ आयुष्य प्राप्त करूं ॥ १ ॥

अपनी शुद्धता रखनेवाला मनुष्य रोगादि पीडाओंसे दूर रहता है और पुरुषार्थी समर्थ मनुष्य पापोंसे दूर रहता है, उसी रीतिसे मैं पापों और रोगोंसे दूर रहकर दीर्घायुष्य प्राप्त करूं ॥ २ ॥

वि ग्राम्याः पशव आरण्यैर्व्यापस्तृष्णयासरन् ।
व्य१हं सर्वेण पाप्मना वि यक्ष्मेण समायुषा ॥ ३ ॥
वी३मे द्यावापृथिवी इतो वि पन्थानो दिशंदिशम् ।
व्य१हं सर्वेण पाप्मना वि यक्ष्मेण समायुषा ॥ ४ ॥
त्वष्टा दुहित्रे वहतुं युनक्तीतीदं विश्वं भुवनं वि याति
व्य१हं सर्वेण पाप्मना वि यक्ष्मेण समायुषा ॥ ५ ॥

अर्थ-जैसे (ग्राम्याः पशवः आरण्यैः वि) ग्रामके पशु जंगली पशुओंसे दूर रहते हैं, और (आपः तृष्णया वि असरन्) जल प्याससे दूर रहता है, उसी प्रकार मैं सब पापों और सब रोगोंसे दूर रह कर दीर्घायुसे युक्त होऊं ॥ ३ ॥

जिसप्रकार (इमे द्यावापृथिवी वि इतः) ये द्युलोक और पृथ्वी अलग हैं और (पन्थानः दिशं दिशं वि) ये सब मार्ग प्रत्येक दिशामें अलग अलग होकर जाते हैं, इसी प्रकार मैं सब पापोंसे और रोगोंसे दूर रहता हुआ दीर्घायुसे युक्त होऊं ॥ ४ ॥

जैसा (त्वष्टा दुहित्रे वहतुं युनक्ति) पिता अपनी कन्याको दहेज-स्त्री धन- देनेके लिये अलग करता है और जैसा (इदं विश्वं भुवनं वि याति) यह सब भुवन अलग अलग चलता है इसी प्रकार मैं सब पापोंसे और रोगोंसे दूर रहता हुआ दीर्घ आयुसे युक्त होऊं ॥ ५ ॥

भावार्थ- जैसे गौ आदि गांवके पशु सिंह व्याघ्र आदि जंगलके पशुओंसे दूर रहते हैं और जैसे जलके पास तृष्णा नहीं आती, उसी प्रकार मैं पापों और रोगोंसे दूर रहकर दीर्घायुष्य प्राप्त करूं ॥ ३ ॥

जैसे आकाश भूमिसे दूर है और प्रत्येक दिशाको जानेवाला मार्ग जैसा एक दूसरेसे पृथक् होता है, ऐसेही मैं पापों और रोगोंसे दूर रह कर दीर्घायुष्य प्राप्त करूं ॥ ४ ॥

पुत्रीका पिता जैसा पुत्रीके विवाहके समय दामादको देनेके लिये दहेज अपने पाससे अलग करके दूर करता है और जिस प्रकार ये ग्रह नक्षत्रादि गोल अपनी गतिसे चलकर परस्पर अलग रहते हैं उसी प्रकार मैं पापों और रोगोंसे दूर रहकर दीर्घायु प्राप्त करूंगा ॥ ५ ॥

अ॒ग्निः प्रा॒णान्त्सं द॑धाति च॒न्द्रः प्रा॒णेन॒ संहि॑तः। व्य१॒॑हं सर्वे॑ण पा॒प्मना॒ वि यक्ष्मे॑ण॒ समायु॑षा ६
प्रा॒णेन॑ वि॒श्वतो॑वीर्यं दे॒वाः सूर्यं॒ समै॑रयन्। व्य१॒॑हं सर्वे॑ण पा॒प्मना॒ वि यक्ष्मे॑ण॒ समायु॑षा ७
आयु॑ष्मतामायु॒ष्कृतां॑ प्रा॒णेन॑ जीव॒ मा मृ॑थाः। व्य१॒॑हं सर्वे॑ण पा॒प्मना॒ वि यक्ष्मे॑ण॒ समायु॑षा ८
प्रा॒णेन॑ प्राण॒तां प्राणे॒हैव भ॑व॒ मा मृ॑थाः। व्य१॒॑हं सर्वे॑ण पा॒प्मना॒ वि यक्ष्मे॑ण॒ समायु॑षा ९

अर्थ-जिस रीतिसे (अग्निः प्राणान् सन्दधाति) जाठर अग्नि प्राणोंको धारण करता है और (चन्द्रः प्राणेन संहितः) चन्द्रमा-मन-प्राणके साथ रहता है, उसी रीतिसे मैं सब पापों और रोगोंसे बच कर दीर्घायुसे युक्त होऊं ॥ ६॥

जिस ढंगसे (देवाः विश्वतो-वीर्यं सूर्यं) देव सब सामर्थ्यसे युक्त सूर्य को (प्राणेन समैरयन्) अपने प्राणके साथ सम्बन्धित करते हैं उसी ढंग से मैं सब पापों और रोगोंसे दूर रहके दीर्घजीवनसे युक्त होऊं ॥ ७ ॥

(आयुष्मतां आयुष्कृतां प्राणेन जीव) दीर्घायुवाले और आयुष्यबढाने वाले जो होते हैं उनके प्राणके साथ जीता रह। (मा मृथाः) मत मरजा। उसी प्रकार मैं भी सब पापों और रोगोंको दूर करके दीर्घायु बनूं ॥ ८ ॥

(प्राणतां प्राणेन प्राण) जीवित रहने वालोंके प्राणसे जीवित रह, (इह एव भव) यहां ही प्रभावशाली हो और (मा मृथाः) मत मरजा। उसी प्रकार मैं सब पापों और रोगोंको दूर करके दीर्घायु बनूंगा ॥ ९ ॥

भावार्थ-जैसा शरीरमें जाठर अग्नि अन्नादिका पाचन करता हुआ प्राणोंको बलवान करता है और मन अपनी शक्तिसे प्राणके साथ रहकर शरीर चलाता है, इसी प्रकार मैं पापों और रोगोंको दूर करके दीर्घायु प्राप्त करूं॥६॥

जैसे सबको बल देनेवाले सूर्यकोभी अन्य देव प्राणशक्तिसे युक्त करते हैं, उसी ढंगसे मैं पापों और रोगोंको दूर करके दीर्घायु बनूं ॥ ७ ॥

स्वभावतः दीर्घायु लोगोंकी जैसी प्राणशक्ति होती है और अनेक साधनोंसे अपनी दीर्घ आयु करनेवालोंकी जैसी प्राणशक्ति होती है, वैसी अपनी प्राणशक्ति बल युक्त करके मनुष्य जीवे और शीघ्र न मरे। मैं भी इसी रीतिसे पापों और रोगोंको दूर करके दीर्घायु बनूं ॥ ८ ॥

प्राणधारण करनेवालोंके अंदर जो प्राणशक्ति है उसको बलवान करके तूं यहां बढ, छोटी आयुमें ही मत मर जा। मैं भी पापों और रोगोंको दूर करके दीर्घायु बनूंगा ॥ ९ ॥

उदायुषा समायुषोदोषधीनां रसेन ।
व्यं १ हं सर्वेण पाप्मना वि यक्ष्मेण समायुषा ॥ १० ॥
आ पर्जन्यस्य वृष्ट्योदस्थामामृता वयम् ।
व्यं १ हं सर्वेण पाप्मना वि यक्ष्मेण समायुषा ॥ ११ ॥

अर्थ-(आयुषा उत्) आयुष्यसे उत्कर्ष प्राप्त कर, (आयुषा सं) दीर्घायुसे युक्त हो, (ओषधीनां रसेन उत्)औषधियोंके रससे उन्नति प्राप्त कर। इसी रीतिसे मैं भी सब पापों और रोगोंसे दूर होकर दीर्घायु बनूं ॥१०॥

(वयं पर्जन्यस्य वृष्ट्या) हम पर्जन्यकी वृष्टिसे (आ उत् अस्थाम) उन्नतिको प्राप्त करें और (अमृताः) अमर हो जांय। इसी लिये मैं सब पापों और रोगोंको दूर करके दीर्घ आयुसे युक्त होऊं ॥ ११ ॥

भावार्थ— अपनी आयुसे उत्कर्षका साधन कर और उससेभी दीर्घायु बन, औषधियोंका रस पीकर नीरोग पुष्ट और बलवान् बन। इसी प्रकार मैं भी पापों और रोगोंको दूर करके दीर्घायु बनूं ॥ १० ॥

पर्जन्यकी वृष्टिसे जैसे वृक्षादि बढकर उन्नत होते हैं, उसी प्रकार हम उन्नतिको प्राप्त करेंगे और अमरत्व भी प्राप्त करेंगे। मैं भी पापों और रोगोंको दूर करके दीर्घायु बनूंगा ॥ ११ ॥

पापनिवृत्तिसे नीरोगता और दीर्घायु ।

इस सूक्तमें कहा है कि पापोंको दूर करनेसे आरोग्य और दीर्घ आयु प्राप्त होती है और यह अनुष्ठान किस रीतिसे करना चाहिये इसके उपाय भी यहां बताये हैं।

पाप और पुण्य ।

पाप और पुण्य क्या है, इसका यहां विचार करना आवश्यक है। पाप और पुण्य ये धर्मशास्त्रकी संज्ञाएं हैं। और धर्मशास्त्र अन्यान्य शास्त्रोंका साररूप शास्त्र है। अन्यान्य शास्त्रोंसे भिन्न धर्मशास्त्र नहीं है। अन्यान्य शास्त्र एक एक विषयके संबंधमें ज्ञान देते हैं और धर्म शास्त्र संपूर्ण शास्त्रोंका निचोड लेकर मानवी उन्नतिके सिद्धांत बनाता है, इसलिये धर्मशास्त्रके विधिनिषेध सर्वसामान्य होते हैं और अन्यान्य शास्त्रोंके विधिनिषेध उक्त शास्त्रके विषयके साथ संबंध होनेके कारण विशेष होते हैं।

पाप पुण्यका विषय इसी प्रकार है । पुण्य शब्दका अर्थ है 'पवित्र बनना' और पाप शब्दका अर्थ है ' पतनका हेतु ' । अन्यान्य शास्त्रोंमें जिससे हानि होती है ऐसा लिखा है वे सब बातें धर्म शास्त्रमें 'पाप' शब्दसे बतायी जाती हैं और जो बातें उन्नति कारक समझी जाती हैं उनको पुण्यकारक धर्मशास्त्रमें कहा है । यह बात अधिक स्पष्ट करनेके लिये एक दो उदाहरण लेकर इसी विषयको विशद करते हैं—

वैद्यशास्त्र ।	धर्म शास्त्र ।
१ मद्यपीनेसे यकृत् और पेट बिगडता है, खूनकी कमजोरी होती है इस कारण अनेक रोग होते हैं । इ०	१ मद्य पीना पाप है ।
२ व्यभिचार करनेसे वीर्यनाश होनेके कारण मस्तिष्क कमजोर होता है और अनेक बीमारियां होती हैं । इ०	२ व्यभिचार पाप है ।
आरोग्य शास्त्र ।	
३ स्नान करके स्वच्छता करना, घरमें तथा बाहर स्वच्छता करनेसे रोग नहीं होते, और आरोग्य बढता है । इ०	३ स्नान करना पुण्यकारक है । स्वच्छता करना पुण्य है ।
४ जल छाननेसे उसमेंसे रोगजंतु या अन्य रोगबीज दूर होते हैं, और इस कारण छाना हुआ जल पीना आरोग्य कारक है	४ जल छानकर पीना पुण्यकारक है ।
समाज शास्त्र ।	
५ सत्य बोलनेसे मनुष्यके व्यवहार उत्तम चलते हैं । इ०	५ सत्य पुण्यकारक है ।
राजशासन शास्त्र ।	
६ चोरी, खून आदि करनेसे राजशासनके नियमके अनुसार फलाना दण्ड होता है ।	६ चोरी खून आदि करना पाप है ।

इस प्रकार हरएक शास्त्रके विषयमें पाठक देखें। अन्यान्य शास्त्रोंमें प्रत्येक कृत्यके बुरे या भले परिणाम कारणके साथ बताये होते हैं, परंतु उन सबका समीकरण करके धर्म शास्त्रमें "पाप और पुण्य" इन दो शब्दोंद्वारा वही भाव कारण न देते हुए और परिणाम न बताते हुए कहा होता है। इससे धर्म शास्त्रके पाप पुण्य भी किस प्रकार शास्त्रसिद्ध हैं इसका पता पाठकोंको लग सकता है।

ये सब पाप ही रोग और अल्पायुताके कारण हैं और पुण्य कर्म करनेसे ही नीरोगता और दीर्घायु मिलती है। यह बात मुख्यतया इस सूक्तमें ध्वनित की गई है। इस सूक्तमें प्रत्येक मंत्रका उत्तरार्ध यह है--

व्यहं सर्वेण पाप्मना, वि यक्ष्मेण, समायुषा ॥ (मं. १-११)

"मैं सब पापोंको दूर करता हूं, उससे रोगोंको दूर करता हूं जिससे दीर्घायुसे युक्त होता हूं।" इस मंत्रका अर्थापत्तिसे भाव यह है कि--"मैं पुण्य कर्म करनेसे नीरोग होता हुआ दीर्घजीवी बनता हूं।" अर्थात् दीर्घायु प्राप्त करनेका मूल उपाय पापोंको दूर करके पुण्य करना ही है, इससे स्वयं रोग दूर होंगे, नीरोगता प्राप्त होगी और दीर्घायु भी मिलेगी। इस सूक्तको यही संदेश पाठकोंको देना है। यह आधा मंत्र ग्यारह वार कह कर यह संदेश पाठकोंके मनपर स्थिर करनेका यत्न इस सूक्तमें किया है। पाठक भी इसी दृष्टिसे इस मंत्र भाग का महत्त्व देखें और इससे प्राप्त होनेवाला उपदेश आत्मसात् करें।

पापको दूर करना।

सबसे पहले सब पाप दूर करनेका उपदेश कहा है (अहं सर्वेण पाप्मना वि। मं.१-११)। सब पाप का अर्थ कायिक, वाचिक, मानसिक, सामाजिक और राष्ट्रीय पाप हैं। ये सब दूर करना चाहिये। अपने मनके पाप विचार दूर हटाने चाहियें, वाचाको शुद्ध और पवित्र बनाना चाहिये, शरीरसे कोई पापकर्म करना नहीं चाहिये, इंद्रियोंको पाप प्रवृत्तिसे रोकना और उनको ऐसी शिक्षा देना चाहिये कि उनकी प्रवृत्ति उस पाप की ओर कभी न होवे। इसी प्रकार कुटुंब, जाती, समाज, राष्ट्रके व्यवहारोंमें अनेक पाप होते रहते हैं। उनको भी दूर करना चाहिये। यदि कोई कहे कि जाती और राष्ट्रके पापोंको हम दूर नहीं कर सकते तो उनको उचित है कि वे अपना- निजका- तो सुधार करें। अपनी निष्पापता सिद्ध हुई तो उसका योग्य परिणाम जातीपर भी होगा और न भी हुआ, तो भी उस व्यक्तिको तो पापसे बचनेके कारण उन्नतिका भाग

अवश्यही मिलेगा, जितना पुण्यकर्म होगा उतना फल अवश्य मिलेगा। इसमें कोई संदेह नहीं हैं। हरएक शास्त्रके अनुसार जो पतन का हेतु है उसे दूर करके अभ्युदयके हेतुको पास करना चाहिये। ऐसा करनेसे पाप और रोग दूर होकर दीर्घजीवन प्राप्त होगा। अब पापों और रोगोंको दूर करनेका अनुष्ठान करनेकी रीति देखिये-

देवोंका उदाहरण।

देवोंका नाम " निर्जराः " है, इसका अर्थ " जरा, वृद्धावस्था और बुढापा आदि को दूर रखनेवाले " है। देवोंने इस प्रकारके अनुष्ठान करके बुढापेको दूर किया था, और वे बडी आयु होनेपर भी तरुण जैसे दीखते थे। यह आदर्श मनुष्योंको अपने सन्मुख रखना चाहिये। और जिस अनुष्ठानसे देवोंको यह सिद्धि प्राप्त हुई थी वह अनुष्ठान करके मनुष्योंको भी यह सिद्धि प्राप्त करना चाहिये। यह बताने के लिये प्रथम मंत्रमें-

देवाः जरसा वि अवृतन्। (मं० १)

" देवोंने बुढापेको दूर रखा था " यह बात कही है। अब आगे देखिये-

अग्निका आदर्श।

अग्निभी (अग्ने ! त्वं अराव्या वि। मं० १) कंजूसोंको दूर करता है। उदार मनुष्यही जो अपने धन आदि द्वारा यज्ञ करना चाहते हैं वे ही अग्निहोत्रादि करनेके लिये तथा अन्यान्य बडे यज्ञ करनेके लिये अग्निके पास इकट्ठे होते हैं और जो कंजूस होते हैं, वे अग्निसे दूर हो जाते हैं, क्योंकि वे अपना धन यज्ञमें लगाना नहीं चाहते। इसका अर्थ यही है कि अग्नि कंजूस मनुष्योंको दूर करता है और उदार मनुष्योंको इकट्ठा करके उनका संघ बनाकर उनका अभ्युदय करके उन्नति कराता है। जिस प्रकार यह अग्नि कंजूसोंको दूर करता है, उसी प्रकार पापों और रोगोंको दूर करना मनुष्यको उचित है। इसका अर्थ यह है कि मनुष्य पापियों और रोगियोंको दूर अलग रखे और पुण्यात्मा और नीरोग मनुष्योंका संघ बनाकर अपना आरोग्य बढावे।

जो पापी मनुष्य होता है उसके संगतिमें जो जो मनुष्य आवेंगे वे भी पापी बनेंगे, इस लिये पापीको समाजसे बाहर निकाल देना चाहिये; इसी प्रकार जो रोगी मनुष्य होते हैं उनके संसर्गसे भी अन्य मनुष्य रोगी होनेकी संभावना होती है, इस कारण रोगियोंके लिये विशेष प्रबंध करके उनको अलग करना चाहिये जिससे उनके रोग अधिक न फैलें। इस प्रकार युक्तिसे पापियों और रोगियोंको अलग रखनेका

प्रबंध करनेसे शेष समाज निष्पाप और नीरोग रहना संभव है, और यह प्रबंध जितनी पूर्णतासे किया जाय उतना अधिक लाभ होगा।

पवित्रता का महत्त्व।

द्वितीय मंत्रमें पवित्रता और शुद्धताका महत्त्व वर्णन किया है। पवित्रतासे पाप और रोग दूर होते हैं—

(१) पवमानः आर्त्या वि। (२) शक्रः पापकृत्या वि। (मं० २)

"(१) पवित्रता करनेवाला रोगादिकोंके कष्टोंसे दूर होता है, और (२) मनोबलसे समर्थ मनुष्य पापसे दूर रहता है।"

ये दोनों अर्थपूर्ण मंत्रभाग हैं। स्वच्छता, पवित्रता और निर्मलता करनेवाले जो होते हैं उनके पास प्रायः रोग आते ही नहीं, अथवा वे अपनी शुद्धतासे रोगोंको दूर रखते हैं। शुद्धताका अर्थ यह है कि जल आदिसे शरीर निर्मल करना, सत्यसे मनकी पवित्रता करना, विद्या और तपसे अपनी अन्य शुद्धी करना, शुद्ध विचारों और प्रेमपूर्ण आचरणोंसे परिवारकी शुद्धता करना, घरकी पवित्रता लेपनादिसे करना, अग्निमें हवन करके वायुकी शुद्धता करना, छान कर जलको शुद्ध बनाना, मलस्थानोंको शुद्ध करके नगरकी स्वच्छता करना, इसी प्रकार अन्यान्य क्षेत्रोंकी शुद्धता करनेसे रोगबीज हट जाते हैं। और मनुष्य रोगसे पीडित नहीं होता है।

इसी प्रकार सत्य, परमेश्वरनिष्ठा, तप, धर्माचरण आदि द्वारा मनका बल बढानेसे जो सामर्थ्य मनुष्यके अंदर उत्पन्न होता है वह मनुष्यको पापोंसे बचाता है। ऐसा समर्थ मनुष्य पापाचरण नहीं करता और वह पवित्रात्मा बनता हुआ जनताके लिये आदर्श बनता है। यह मनुष्य न केवल स्वयं पापों और रोगोंसे दूर रहता है प्रत्युत अन्योंको भी दूर रखता है।

ग्राम नगर और राष्ट्रोंकी पंचायतों द्वारा ग्राम नगर और राष्ट्रमें उक्त प्रकार पूर्ण स्वच्छता और पवित्रता बढानेसे भी उक्त क्षेत्रोंकी जनता पापों और रोगोंसे बची रहती है। यह द्वितीय मंत्रका उपदेश प्रत्यक्ष फल देनेवाला होनेके कारण इसका अनुष्ठान सर्वत्र होना आवश्यक है।

स्थानत्यागसे बचाव।

पापी मनुष्योंका और रोगोंका स्थान छोड देना इसको स्थान त्यागसे बचाव करना कहते हैं। इसका वर्णन तृतीय और चतुर्थ मंत्रों द्वारा हुआ है, देखिये-

१ ग्राम्याः पशवः आरण्यैः वि। (मं० ३)
२ इमे द्यावापृथिवी वि इतः। (मं० ४)

"(१) ग्रामके गौ आदि पशु व्याघ्रादि आरण्यक पशुओंसे दूर रह कर बचाव करते हैं, (२) तथा द्युलोक पृथ्वीसे जैसा दूर रहता है।" ये स्थानत्याग करके बचाव करनेके उदारण हैं। व्याघ्र, सिंह, भेडिया आदि जिस स्थानमें रहते हैं उस स्थानका त्याग करके गौ आदि ग्रामीण पशु अपना बचाव करते हैं। भूलोककी अशुद्धिसे बचने के लिये और अपनी प्रकाशमयता स्थिर रखनेके लिये द्युलोक भूलोकसे बहुत दूरीपर रहा है। इस प्रकार पापी लोगोंसे दूर रहकर पापसे बचना और रोग स्थानसे दूर रह कर रोगोंसे बचना योग्य है।

स्वभावसे बचाव।

जिनकी स्वभावसे ही पापसे बचनेकी प्रवृत्ति होती है और जिनमें स्वभासे ही रोग प्रतिबंधक शक्ति होती है वे पापों और रोगोंसे बचे रहते हैं, इस विषयमें सूक्तके कथन देखिये—

१ अपः तृष्णया वि असरन्। (मं० ३)
२ पन्थानः दिशं दिशं वि। (मं० ४)

"(१) जल अपने स्वभावसे ही प्याससे दूर रहता है और (२) विविध दिशाओंसे जानेवाले मार्ग स्वभावसे एक दूसरेसे दूर रहते हैं।" जलको स्वभावसे ही प्यास नहीं लगती। इस प्रकार जो लोग स्वभावतः पापमें प्रवृत्त नहीं होते वे पाप रहित होते हुए पापके फलभोगसे बचते हैं। इसी प्रकार जिनके शरीरमें रोग प्रतिबंधक शक्ति पर्याप्त रहती है वे रोगस्थानमें रहते हुए भी रोगोंसे बचे रहते हैं। यह स्वभावका नियम देखकर हरएकको उचित है कि वह अपना स्वभाव उक्त प्रकार बनावे और पापों और रोगोंसे अपना बचाव करके दीर्घायु नीरोग और बलवान् तथा सच्छील बने।

दान।

जनताको निष्पाप और नीरोग करनेके लिये धनी मनुष्य अपने धनका कुछ भाग अलग करके दान देवें जिस प्रकार—

त्वष्टा दुहित्रे वहतुं युनक्ति। (मं० ५)

" पिता पुत्रीके लिये दहेजके लिये धन योजनापूर्वक देता है।" यह धन दामादके

घरमें रहता हुआ स्त्रीधनके रूपसे इष्ट कार्य करता है, इसी प्रकार धनी मनुष्य अपने धनका कुछ भाग जनताको रोगमुक्त और पापमुक्त करनेके लिये अर्पण करें और इस इकट्ठे हुए धनसे ऐसी संस्थाएं योजना पूर्वक चलायी जावें कि जो जनता की पाप-प्रवृत्तिसे और रोगसे रक्षा करें। इस प्रयत्नसे संपूर्ण राष्ट्र प्रतिदिन अधिकाधिक निष्पाप, नीरोग, दीर्घ जीवी, संपन्न, स्वस्थ और सुखी बने।

अपनी गतिमें रहना।

लोग एक दूसरेसे स्पर्धा करते हैं और अपना दुःख बढाते हैं। यदि वे अपनी गति-से चलते रहेंगे और दूसरेकी गतिके साथ व्यर्थ स्पर्धा न करेंगे तो भी पापसे और रोगोंसे बच सकते हैं, इस विषयमें एक उदाहरण है—

इदं विश्वं भुवनं वियाति। (मं० ५)

" ये सब पृथिवी, सूर्य, चन्द्र, आदि गोल अपनी अपनी विविध गतिसे चलते हैं।" सूर्यकी उष्णतासे चंद्र स्पर्धा करके स्वयं उष्ण बनना नहीं चाहता और चंद्रकी स्पर्धा करता हुआ सूर्य स्वयं शीत बननेका इच्छुक नहीं है। इसी प्रकार ये सब ग्रह अपनी अपनी गतिसे अपना अपना कार्य करते हैं। विविध भुवनोंकी विविधता उपदेश देती है कि। विविधतासे युक्त ये सब भुवन जिस प्रकार संपूर्ण जगत्के अंश बनकर अविरोध-से रहे हैं। उसी प्रकार मनुष्यभी विविध गुण धर्मोंसे युक्त होते हुए संपूर्ण राष्ट्रके अव-यव बनकर राष्ट्रहित और संपूर्ण जनताका हित करनेकी बुद्धिसे आपसमें अविरोधी भावसे रहें। इस प्रकार रहनेसे पूर्वोक्त प्रकारवे उपायोंका अवलंबन करके अपने आपको पापों और रोगोंसे बचा सकते हैं। अन्यथा आपसमें लडते हुए रोगोंसे मरने के पूर्वही एक दूसरेके सिर तोडकर स्वयं मर जांयगे। ऐसा नाश न हो, इस लिये वेद कहता है कि अपनी गतिसे चलो और परस्पर सहायक बनकर अपनी उन्नतिका साधन करो।

पेटकी पाचक शक्ति।

मनुष्यके शरीरमें रोग बीजोंका प्रवेश तब होता है जब उसकी पाचन शक्ति बिगडी होती है। इसकी सूचना देने के लिये षष्ठ मंत्रमें कहा है—

अग्निः प्राणान् संदधाति। (मं० ६)

" जाठर अग्नि-अन्नका पाचन करनेवाला उदर स्थानका अग्नि ही-प्राणोंका सम्य-क्तया धारण करता है।" अन्य कोई साधन नहीं है जिससे प्राणोंका धारण अच्छी प्रकार हो जावे। इस लिये जो लोग दीर्घ जीवनके इच्छुक हैं वे व्यायाम तथा अन्यान्य

योग साधनादिद्वारा अपनी पाचन शक्ति अच्छी प्रदीप्त करें। ऐसा करनेसे शरीरमें जो समर्थता आवेगी वही रोगोंको दूर रखेगी और पास आने न देगी।

दूसरी बात यह है कि जाठर अग्निके बिगाडसे यकृत हृदय और मस्तिष्क का बिगाड होता है। मस्तिष्कके बिगाडसे विचारोंमें परिवर्तन होता है अर्थात् मनुष्य पाप कर्ममें प्रवृत्त होता है। यदि पाचक शक्ति ठीक रही, तो रोग आदि वैसे प्रबल नहीं होते। इस लिये पापों और रोगोंसे बचनेके लिये तथा दीर्घायुष्यकी प्राप्तिके लिये मनुष्य अपनी पाचन शक्ति उत्तम प्रदीप्त करे। इसी मंत्रमें और कहा है—

चन्द्रः प्राणेन संहितः। (मं० ६)

" चन्द्र प्राणसे मिला है। " यहां " चन्द्र " शब्दके तीन अर्थ हैं, (१) वनस्पतिसे उत्पन्न हुआ अन्न, (२) वनस्पतियोंके फलादिकोंका रस, (३) और मन। प्राणसे इन तीनोंका घनिष्ट संबंध है। यहां वनस्पतिसे प्राप्त होनेवाला शाकभोजन प्राण स्थिरी करणके लिये आवश्यक बतानेसे मांसादि सेवन दीर्घजीवन के लिये अनिष्ट होनेका उपदेश स्वयं ही प्राप्त होता है। पाठक इसका अवश्य विचार करें।

सूर्य का वीर्य।

सूर्यमें बडी भारी जीवन विद्युत् है, उसको अपने अंदर संगृहित करनेसे नीरोगता और दीर्घजीवन प्राप्त हो सकता है। इस विषयमें सप्तम मंत्रका कथन यह है—

देवाः विश्वतोवीर्यं प्राणेन समैरयन्। (मं० ७)

" देव सब प्रकारके वीर्योंसे युक्त सूर्यको प्राणके साथ संबंधित करते हैं। " इसी अनुष्ठानसे देव (निर्जराः) जरारहित और (अ-मराः) मरणरहित हुए हैं। इसलिये जो लोग अपने प्राणके अंदर सूर्यकी जीवन विद्युत् का धारण करेंगे, वे भी उक्त सिद्धि प्राप्त कर सकते हैं। सूर्य प्रकाशमें खडे होकर या बैठकर दीर्घश्वसन द्वारा सूर्यकी विद्युत् प्राणके अंदर लेनेसे अपने अंदर सूर्यका वीर्य आजाता है; इसी प्रकार नंगे शरीर सूर्यातपस्नान करनेसे भी चमडीके अंदर सौरविद्युत्का प्रवेश होजाता है। इसी प्रकार विविध योजनाओं द्वारा सौरविद्युत् से लाभ उठाया जा सकता है। पाठक इसका विचार करके लाभ उठावें।

दीर्घायु प्राप्त करनेवाले।

जो (आयुष्मन्) दीर्घ आयु वाले मनुष्य हैं, अर्थात् विना प्रयत्न जो दीर्घआयुवाले हुए हैं, तथा जो (आयुष्कृत) प्रयत्नसे दीर्घ आयु प्राप्त करनेवाले हैं, अर्थात् योगादि

अनुष्ठान द्वारा जिन्होंने दीर्घ आयु प्राप्त की है, (प्राणतां प्राणेन) प्राणकी प्रबल शक्तिसे युक्त पुरुषोंका प्राण कैसा चलता है इस सबका विचार करके मनुष्य दीर्घ आयु प्राप्त करनेके उपाय जान सकता है। ये ऊपर कहे मनुष्य अपना दैनिक व्यवहार कैसा करते हैं, किस ढंगके व्यवहारसे इन्होंने दीर्घ आयु कमाई, इसका ज्ञान प्राप्त करके,उनके उदाहरण अपने सन्मुख रखकर, तदनुसार अपना व्यवहार करना चाहिये। (इह एव भव) इस प्रकार इस भूलोकमें दीर्घ काल तक रहना चाहिये और (मा मृथाः) शीघ्र मरना उचित नहीं। यह उपदेश मं० ८ और ९ में है।

अपने राष्ट्रमें तथा अन्य देशोंमें जहां जहां दीर्घायु, नीरोग, बलवान्, निष्पाप और सच्छील लोग होंगे, उनके जीवन चरित्र देखकर उनके जीवनसे उचित बोध प्राप्त करना चाहिये। और उससे लाभ उठाना चाहिये।

औषधिरस।

दशम मंत्रमें औषधियोंके रसका सेवन करके दीर्घायुष्य की प्राप्ति करनेका उपदेश है—

ओषधीनां रसेन आयुषा सं उत। (मं० १०)

"औषधियोंके रससे हम दीर्घायुष्यसे संयुक्त होंगे।" इसमें दीर्घायुष्य प्राप्तिका संबंध औषधियोंके रस प्राशन करनेके साथ बताया है। इसी सूक्तमें छठे मंत्रके विधानके साथ इसकी तुलना कीजिये।

अंतिम मंत्रमें कहा है, कि जिस प्रकार "वृष्टि होनेसे वृक्षवनस्पति आदिक उगते हैं और उन्नतिको प्राप्त करते हैं उसी प्रकार हम पूर्वोक्त साधनसे (वयं अमृताः उदस्थाम) हम अमर होकर सब प्रकारकी उन्नति प्राप्त करेंगे।" (मं० ११)

यह सत्य है कि जो इस सूक्तमें लिखा अनुष्ठान करेंगे वे इस प्रकारकी सिद्धि प्राप्त करेंगे। इसमें कोई संदेह ही नहीं है। वेदमें क्रमपूर्वक अनुष्ठान कहा है ऐसे जो अनेक सूक्त हैं उनमेंसे यह एक है। इसके मननसे वेदकी उपदेश करनेकी शैलीका भी ज्ञान हो सकता है। पाठक इसका मनन करें और अनुष्ठान करके लाभ उठावें।

षष्ठ अनुवाक समाप्त।

तृतीय काण्ड समाप्त।

अथर्ववेद का स्वाध्याय ।

तृतीय काण्ड की विषयसूची ।

R. NO. B. 1463

वैदिक यज्ञ संस्था।

प्रथम भाग मूल्य १) रु. डा. व्य ।)

इस पुस्तक में निम्न लिखित विषयों का विचार हुआ है।

प्राचीन संस्कृत निबंध।

१-३ पिष्ट-पशुमीमांसा। लघु-पुरोडाश-मीमांसा।

भाषाके लेख (ले०-श्री० पं० बुद्धदेवजी) ४ दर्श और पौर्णमास, ५ अद्भुत कुमार संभव। (ले० -श्री० पं० चंद्रमणिजी) ६बुद्धके यज्ञ विषयक विचार। (संपादकीय) ७ यज्ञका महत्त्व, ८ यज्ञका क्षेत्र ९ यज्ञका गूढ तत्त्व, १० औषधियोंका महामख, (ले० श्री० पं० धर्मदेवजी) ११ वैदिक यज्ञ और पशुहिंसा। (ले० श्री० पं० पुरुषोत्तम लालजी) १२ क्या वेदोंमें यज्ञों में पशुओंका बलि करना लिखा है?

वैदिक यज्ञ संस्था द्वितीय भाग मूल्य १) रु. डा. व्य ।)

इस द्वितीय भागमें निम्न लिखित विषयोंका विचार हुआ है- (ले०-श्री. पं. देवशर्माजी विद्यालंकार)

भारतवर्षमें यज्ञकी कमी, यज्ञकी महिमा, यज्ञसे जो चाहे सो प्राप्त कर लो, यज्ञपुरुष का वर्णन, हवन प्रक्रिया, यज्ञशेष और उच्छेष, राजसूय, विश्वजित्, अश्वमेध, गोमेध, सर्वमेध, वाजपेय, पंचमहायज्ञ, यज्ञ संसारकी नाभि है।

पं. बुद्धदेवजी लिखित-संज्ञपन और अवदान।

संपादकीय-नरमेध का वैदिक तात्पर्य।

इतने विषयोंका विचार इस पुस्तक में हुआ है। प्रत्येक विषयके प्रतिपादनके लिये वेदके अनेक प्रमाण दिये हैं और विषयका प्रतिपादन अति सुगम है। मूल्य १) डा. व्य. ।)

वैदिक यज्ञ संस्था तृतीयभाग, गोमेध

इस पुस्तकमें निम्न लिखित विषयोंका विचार हुआ है—

योगमें गोमांस, प्रकरणानुकूल अर्थ विचार, ऋषिपंचमी, वेदका महासिद्धान्त, यज्ञकी पूर्व और उत्तरवेदी, मधुपर्क, कलिवर्ज्यप्रकरण, बृहदारण्यक का वचन, गौका वैदिक नाम, गोमेधका विचार, चरक की साक्षी, विवाहमें गोमांस, अतिथिके लिये गौ, यज्ञमें मांस, अन्त्य यज्ञ, वेदमें अहिंसा, अवध्य गौ और बैल, यज्ञका तत्त्व, गौको खाना। गौ दान लेने का अधिकारी, रक्षक और पाचक गौका महत्त्व, राष्ट्ररक्षक गौ, गौके लिये सोमरस, सबकी माता गौ।

इत्यादि अनेक विषय इसमें आगये हैं। हरएक विषयका प्रतिपादन करनेके लिये अनेक वेदमंत्रोंके प्रमाण दिये हैं। जो कहते हैं कि 'वैदिक समयमें गोमांस भक्षण की प्रथा थी," उनके लिये यह उत्तम उत्तर है। यह पुस्तक पढनेके पश्चात् उक्त विषयमें कोई शंका नहीं रहेगी।

मूल्य१) रु. डा. व्य० ।)

मुद्रक तथा प्रकाशक— श्री० दा० सातवळेकर, भारतमुद्रणालय, औंध, (जि० सातारा)

